श्रीः

चरकसंहिता

(हिन्दी टीका सहित)

भाग : १

खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन, बम्बई

श्रीमन्महर्षिप्रवरचरकप्रणीता

चरकसंहिता

आयुर्वेदोद्धारकवैद्यपञ्चाननवैद्यरत्नराजवैद्यपण्डितरामप्रसाद-
वैद्योपाध्यायविरचिता एवं आयुर्वेदाचार्य
पं० शिवशर्मणा संशोधिता

प्रसादनी

भाषाटीकासहिता

प्रथमो भागः १

खेमराज श्रीकृष्णदास बम्बई प्रकाशन

संस्करण : सितंबर २०१९, संवत् २०७६

मूल्य दोनों भाग सम्पूर्ण १३०० रुपये मात्र।

मुद्रक एवं प्रकाशक:
खेमराज श्रीकृष्णदास,™
अध्यक्ष : श्रीवेंकटेश्वर प्रेस,
खेमराज श्रीकृष्णदास मार्ग,
मुंबई - ४०० ००४.

Printers & Publishers :
Khemraj Shrikrishnadass Prop: Shri Venkateshwar Press, Khemraj Shrikrishnadass Marg, 7th Khetwadi, Mumbai - 400 004.

Web Site : http://www.Khe-shri.com
Email : khemraj@vsnl.com

Printed by Sanjay Bajaj For M/s.Khemraj Shrikrishnadass Proprietors Shri Venkateshwar Press, Mumbai-400 004, at their Shri Venkateshwar Press, 66 Hadapsar Industrial Estate, Pune 411 013



पटियालाराज्यान्तर्गतटकसालनिवासिपण्डितद्वारकादासा-
त्मजाऽऽयुर्वेदोद्धारकवैद्यपञ्चाननवैद्यरत्नराजवैद्य-
पण्डितरामप्रसादवैद्योपाध्यायः ।



PT. SHIV SHARMA, AYURVEDACHARYA.
who presided at the Essay-Reading Section of the All India Ayurvedic Conference Mysore.

पं. शिव शर्म्मा, आयुर्वेदाचार्य्य

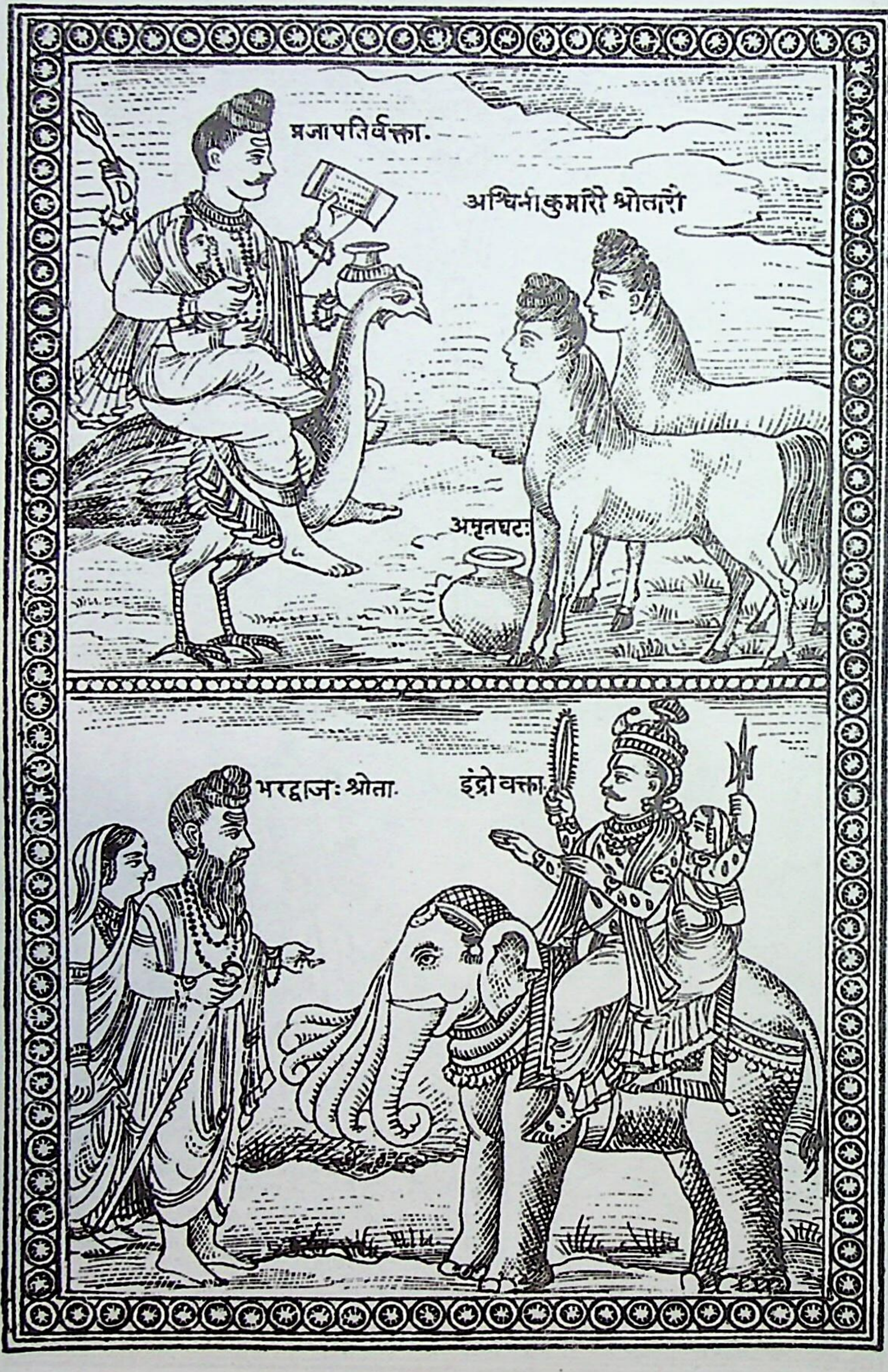
जो नि. भा. आयुर्वेद महासम्मेलन, मैसूर में निबन्ध पठन विभाग के प्रधान थे।



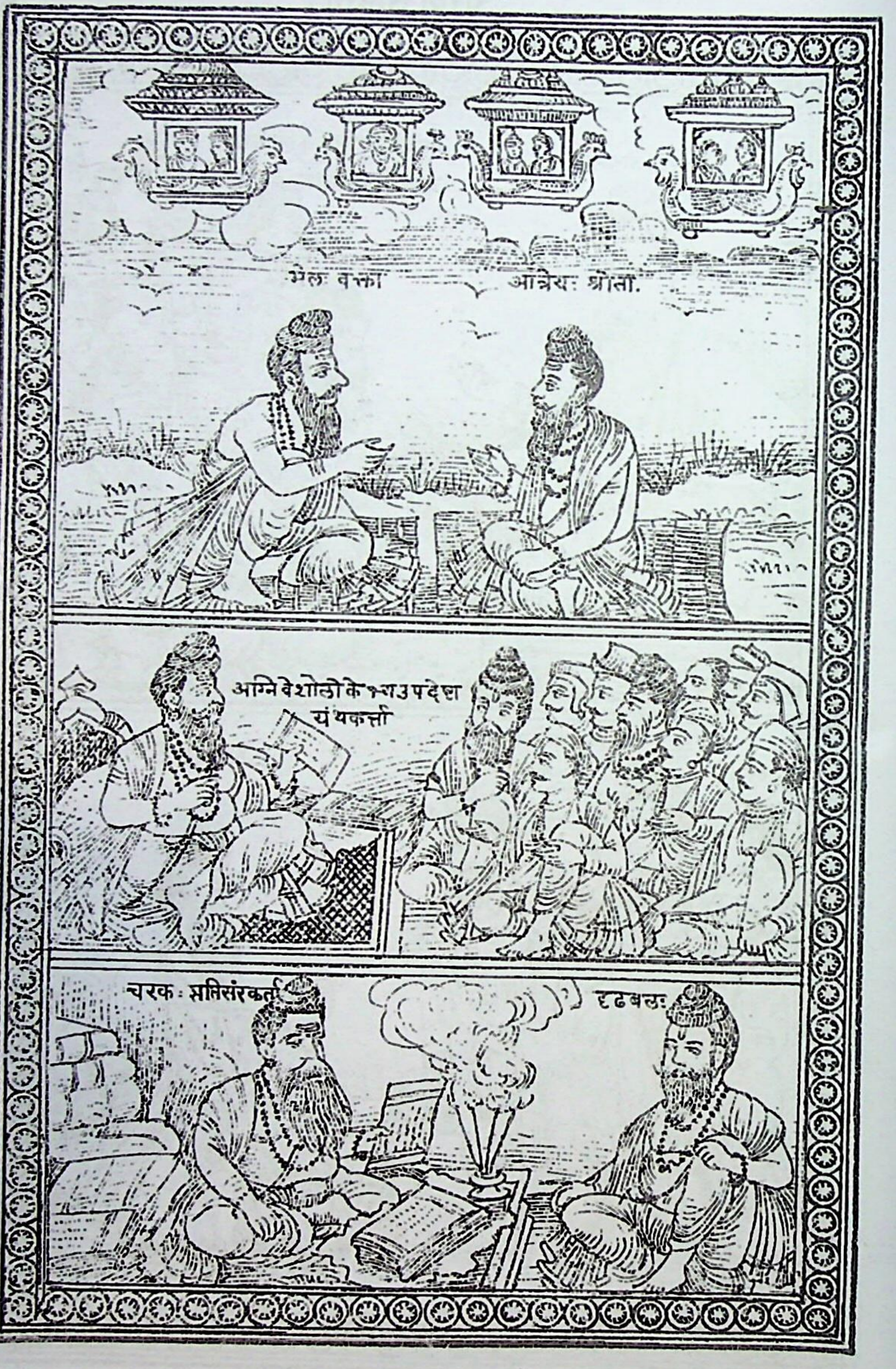
धन्वंतरी वैद्यराजकी मूर्ति




आयुर्वेदस्वरूपम्
आयुर्वेदाभिमानी
धन्वंतरिस्वरूपम्
प्रजापतिश्श्रोता
ब्रह्मा वक्ता

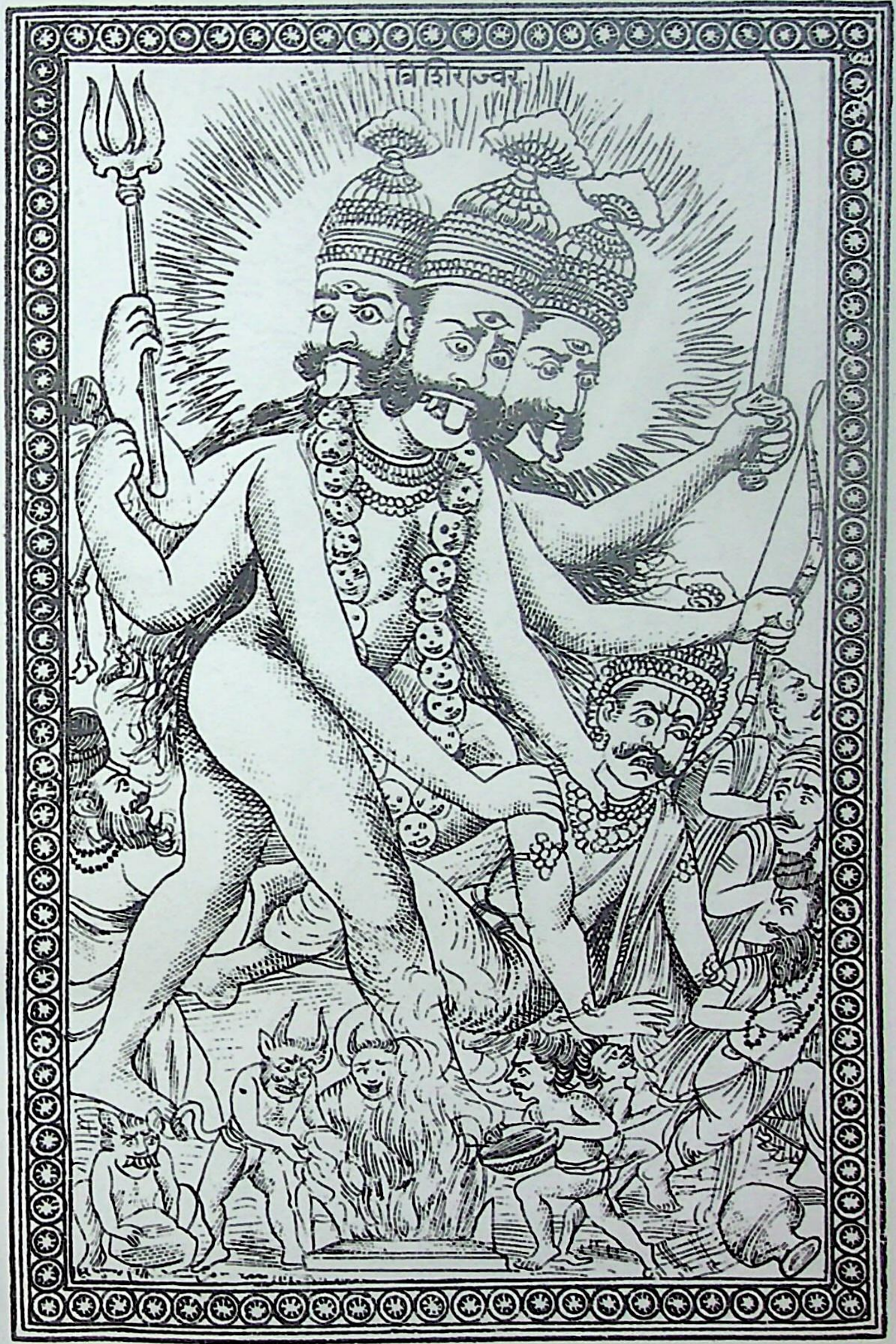

प्रजापतिर्वक्ता.
अश्विनौ कुमारौ श्रोतारौ
अमृतघटः
भरद्वाजः श्रोता.
इंद्रो वक्ता.

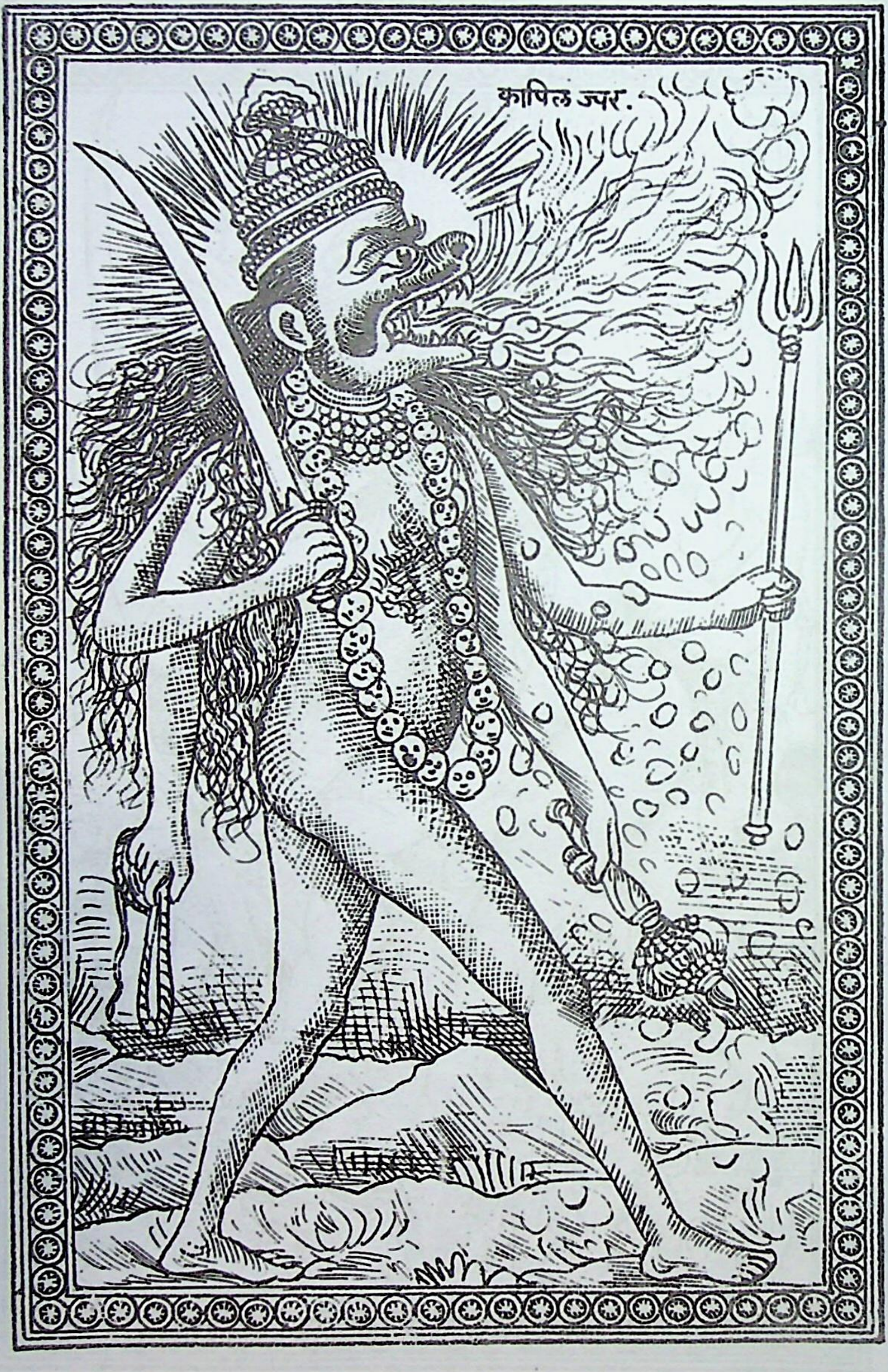

भरद्वाजोवक्ता.
जमदग्निवशिष्टकश्यपाद्य
ऋषयः श्रोतारः
पराशरः
भेलः
शिष्याश्श्रोतारः
जतुकर्णः
अग्निवेशः
पुनर्वसुः गुरुःवक्ता.
हारीत
क्षारपाणि


भेलः वक्ता
आत्रेयः श्रोता.
अग्निवेशोलोके उपदेश
यंथकर्त्ता
चरकः प्रतिसंरकर्ता
दृढबलः

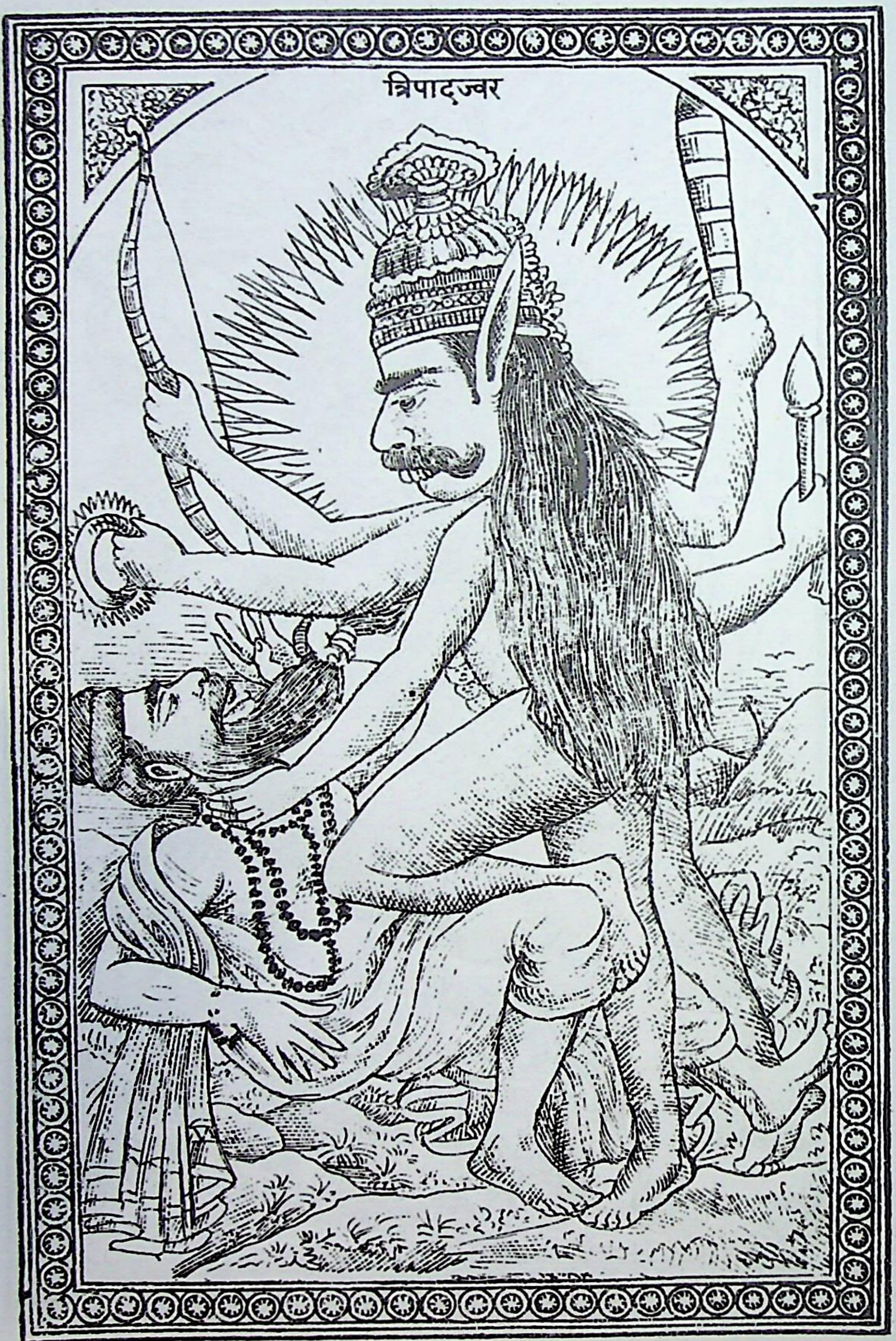

ज्वर १ ला


बीभत्सज्वर.


त्रिशिराज्वर


कापिल ज्वर.


मस्मविक्षेपज्वर

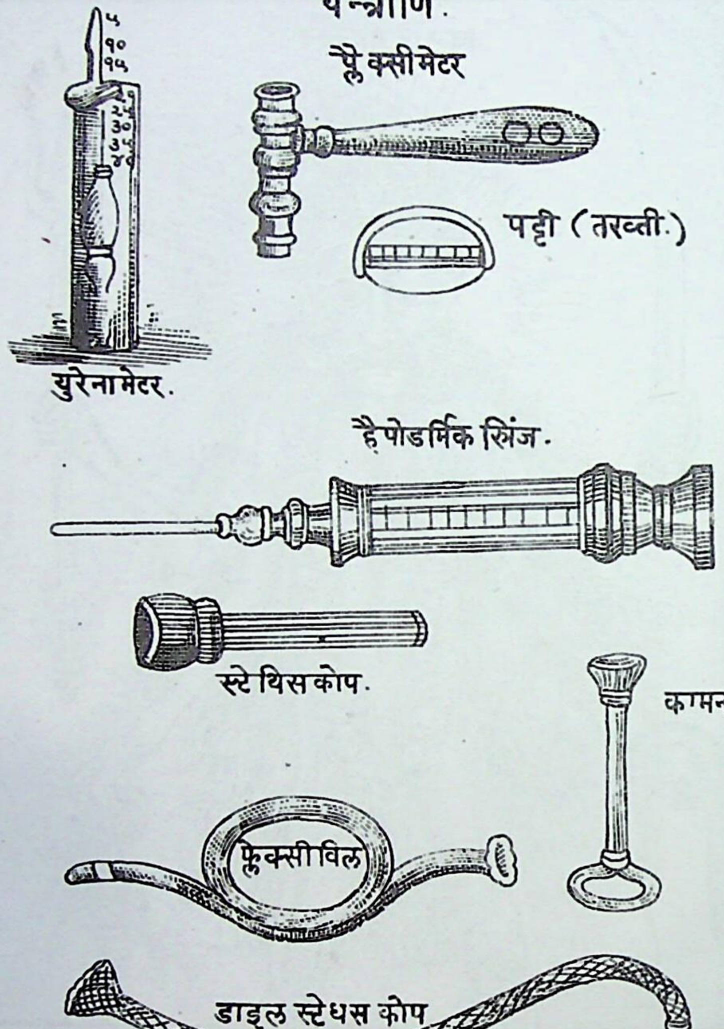

त्रिपादज्वर

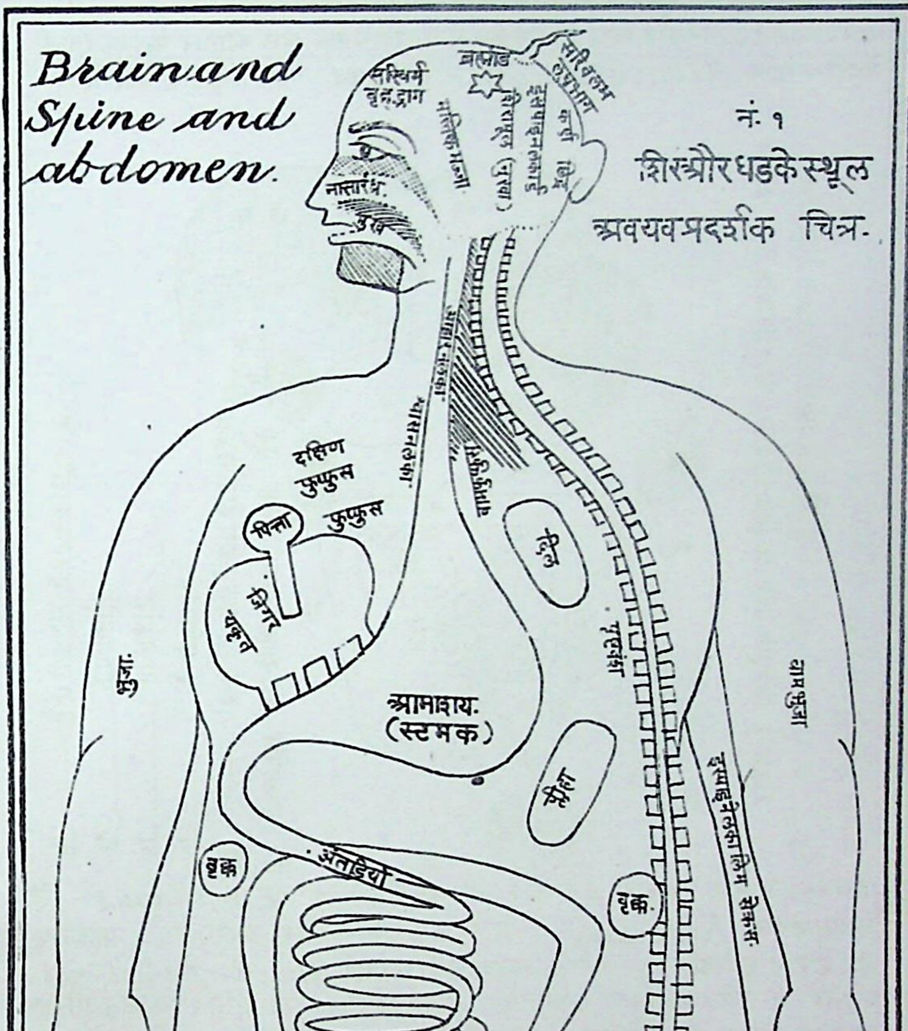

उत्कटास्यज्वर.


महोदरज्वर

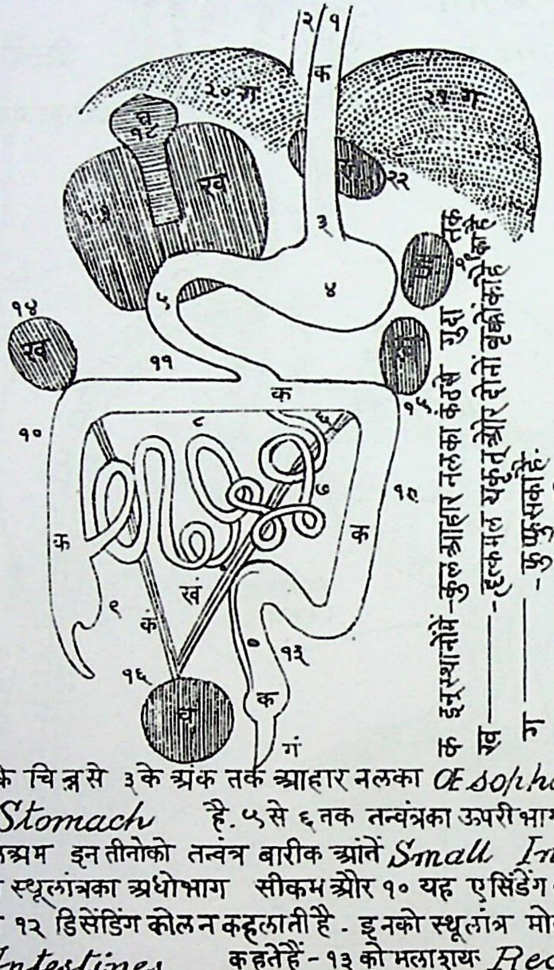

ज्वलद्विग्रहज्वर

यन्त्राणि.


प्लैक्सीमेटर
पट्टी (तख्ती.)
युरेनामेटर.
हैपोडर्मिक सिंज.
स्टेथिसकोप.
कामन
फ्लैक्सीविल
डाइल स्टेथस कोप


Brain and Spine and abdomen.
नं. १
शिरश्रौर धडके स्थूल
श्रवयवप्रदर्शक चित्र.
नासारंध्र.
दक्षिण
फुफ्फुस
फुफ्फुस
आमाशय:
(स्टमक)
भुजा.
वामभुजा
वृक्क
वृक्क.
मलाशय
गुदा.

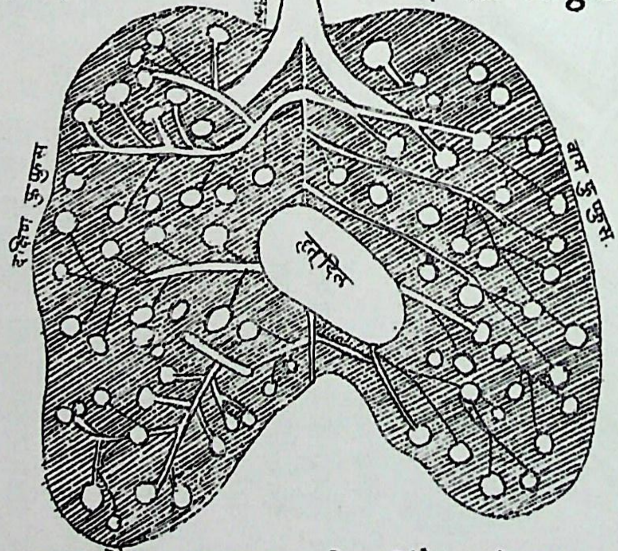
अंत्र (आंतडे) प्रदर्शक चित्र जिसमें कंठ से मलाशय तक कुल आहार नलका (एलीमेंटरीक नाल *Alimentary Canal* का स्फुट आकार है.



इस चित्रमें १ के चिन्हसे ३ के अंक तक आहार नलका *Oesophagus* है ४ आमाशय *Stomach* है. ५ से ६ तक तन्वंत्रका ऊपरी भाग ७ यह जिज्यूनम और ८ एलिअम इन तीनोको तन्वंत्र बारीक आंतें *Small Intestines* कहते हैं. ९ इसे स्थूलांत्रका अधोभाग सीकम और १० यह एसिंडिंग कोलन और ११ ट्रांसवर्स कोलन १२ डिसेंडिंग कोलन कहलाती है - इनको स्थूलांत्र मोटी आंतें *Large Intestines* कहते हैं - १३ को मलाशय *Rectum* कहते हैं - १४-१५ ये दोनो वृक्क *Kidney* हैं १६ वस्ति मूत्राशय *Bladder* है १७ यकृत् *Liver* है १८ पित्ता *Gall-bladder* है. १९ प्लीहा *Spleen* है तथा जहां २ का अंक है वह कंठकी दूसरी श्वासनलका *Trachea* है. २० और २१ ये दोनो फुफ्फुस *Lungs* हैं. और २२ यह हृत्कमल *Heart* है तथा कं और खं दोनो मुख्य मूत्रनली है. और "गं" गुदा तथा मलद्वार है.

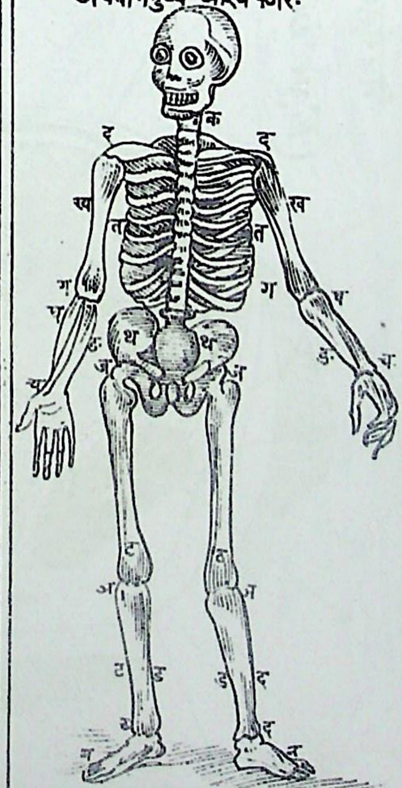
फुफ्फुस-फेंफडोंकाचित्र.

अँगरेजीमें फेफडोंको लंगूस कहते हैं और अरबीमें रीया कहते हैं- बाहरका वायुश्वासद्वारा इसीमें प्रवेश करताहै. (*Lungs.*)



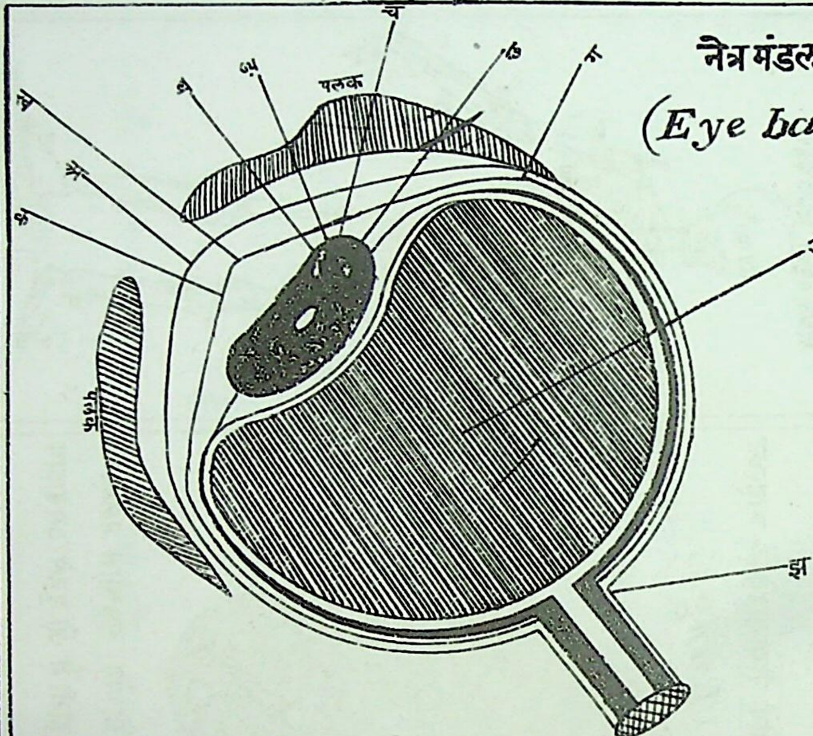
इसमें जो श्वास नलका है यह आहार नलकासे जुदी है अर्थात् यहश्वास नलका आगाडी होती है. और इससे पीछे आहारनलका दूसरी होती है जो मुहसे आमाशय को जाती है

नरकङ्काल. *Skeleton*
अथवामनुष्य अस्थिपंजर.



नेत्र मंडल.

(Eye ball)



इसमे "अ" नेत्रका प्रथमपटल अर्थात् सुपेद परदा.

"क" स्वच्छ भाग.

"ख" नेत्रभित्तिका द्वितीय पटल अर्थात् स्याह परदा

"ग" इसके नीचेका स्वच्छभाग.

"घ" वहस्थान जहा सदैव जल भरा रहताहै,

"ङ" तृतीय पटल अर्थात् पुतलीवाला परदा.

"च" पुतली अर्थात् कृष्ण भाग

"छ" काचपटल चतुर्थ अर्थात् आखकाशीशा.

"ज" नेत्रगत द्रव पदार्थ अर्थात् लेशदारशेकी जगह

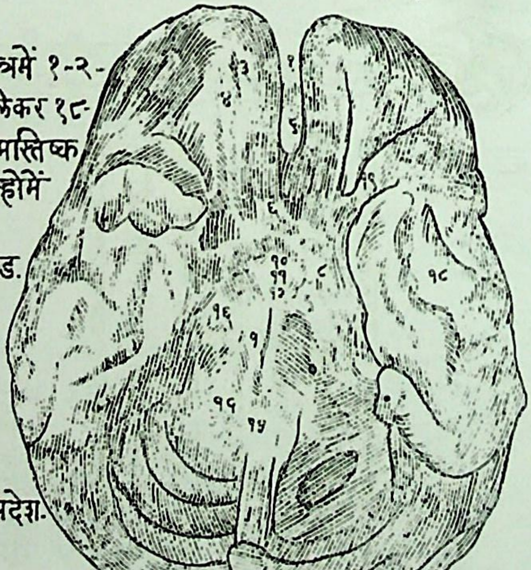
"झ" दृष्टिशिरा अर्थात् वीनाईकी रग.

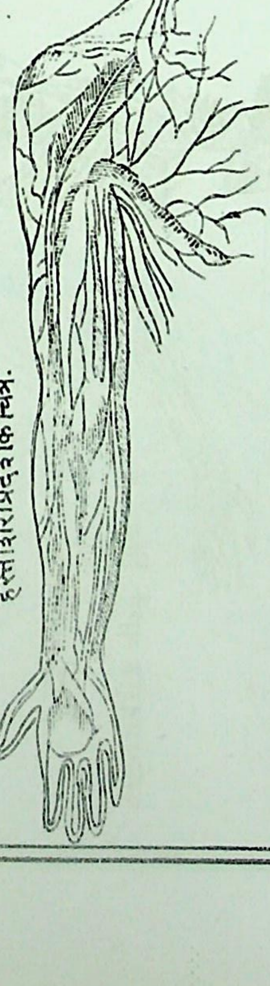
आयुर्वेदज्ञ वैद्य नेत्रोंमें चार पटल (परदे) मानते हैं और यूनानी हकीम सात तबके मानते है और डाक्टर तीनही परदे मानते हैं.

मस्तिष्क संबन्धि चित्र (*Brain*)

इस मस्तिष्क संबधी चित्रमें १-२-
३-४ चिन्ह इत्यादिसें लेकर १८-
१९-२० चिन्ह पर्यंत मस्तिष्क
का नीचेका प्रतिरूप तिन्होमें

१ क्षुद्रमस्तिष्क.
३ मस्तिष्कका अग्रखंड.
५ प्राणस्नायु.
७ दर्शनस्नायु.
८ दर्शनस्नायु प्रदेश.
९ नेत्रस्पंदक स्नायु
१० दृष्टिसन्धि.
१२ पश्चाच्छिद्रान्वितप्रदेश.

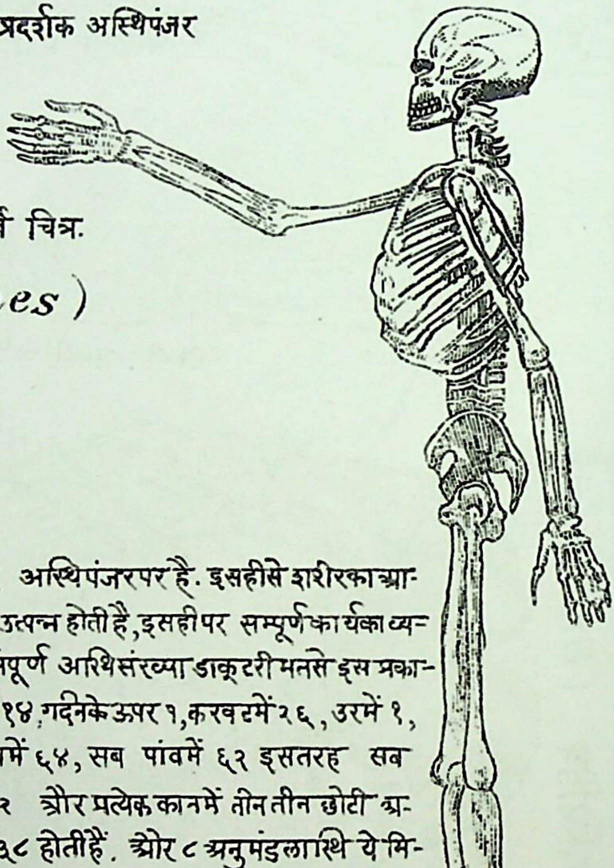




हस्तशिराप्रदर्शक चित्र.



चरणशिराप्रदर्शकचित्र.



पार्श्वप्रदर्शक अस्थिपंजर

अस्थिप्रदर्शक पार्श्व चित्र.

(Bones)

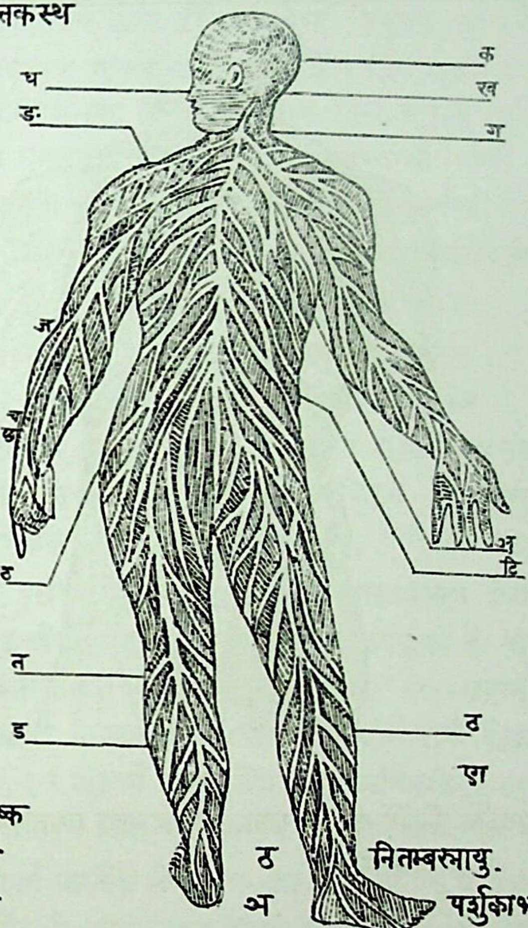
शरीरका मुख्य आधार अस्थिपंजरपर है. इसहीसे शरीरका आकार, दृढता, गमनशक्ति उत्पन्न होती है, इसहीपर सम्पूर्ण कार्यका व्यवहार निर्भर है. शरीरमें संपूर्ण अस्थिसंख्या डाकूटरी मतसे इस प्रकार है. खोपडीमें ८, चहरामें १४, गर्दनके ऊपर १, करवटमें २६, उरमें १, पांसूमें २४. सम्पूर्ण हाथमें ६४, सब पांवमें ६२ इसतरह सब मिलकर २०० हैं. दांत ३२ और प्रत्येक कानमें तीन तीन छोटी अस्थि हैं सब मिलकर २३८ होती हैं. और ८ अनुमंडलास्थि ये मिलकर २४६ हैं.

और वैद्यक मतसे.

चारों हाथ पावोंमें १२० हड्डिया औरधडमें ११७ तथा ग्रीवासे ऊपर ६३ हड्डियां हैं. ऐसे सब मिलकर ३०० होती हैं. देखो शारीरक स्थान अध्याय ५ पांचवा.

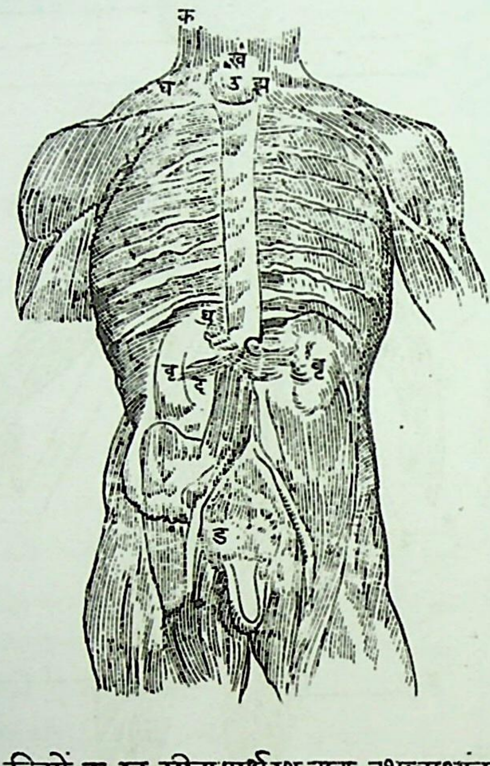
स्नायुप्रदर्शक चित्र. (*Nerve*)

इस चित्रमें क मस्तकस्थ बृहत् मस्तिष्क



ख	क्षुद्रमस्तिष्क		
ग	ग्रीवास्नायु	ठ	नितम्बस्नायु.
घ	वदनस्नायु	ञ	पर्शुकाभ्यंतरस्नायु
ङ	प्रगंडसन्धिस्नायु	ड	जानुपश्चात्स्नायु.
ज	प्रगंडस्नायु	ट	जान्वभिमुखस्नायु
च	प्रकोष्ठस्नायु	ण	पदतलस्नायु.
छ	प्रकोष्ठनिम्नस्नायु	टि	कटिस्नायु
झ	करतलस्नायु	त	ऊरूस्नायु.

शिराप्रदर्शक चित्र.



इस शिराप्रदर्शक चित्रमें क ख ग्रीवापार्श्वस्थ बाह्य तथाअभ्यंतर कंठशिरा.

ग अनाख्यातशिरा.

घ जत्रुनिम्नशिरा.

वृ वृक्कद्वय.

द वृंक्कशिंरा.

ध ऊर्ध्ववृंक्कग्रंथिशिरा.

ड रेतीरज्जूशिरा.

घ बाह्यंवस्तिशिरा.

जत्रुकेनीचे ऊर्ध्वस्थ महाशिरा तथाबस्तीसे अधस्थ महाशिरा.

धन्यवाद !

हमारे आयुर्वेदिक शास्त्रमें चरक ही एक ऐसा अनुपम ग्रन्थ है कि, जिसकी प्रशंसा आयुर्वेदके तत्त्वज्ञाता मुक्तकण्ठ हो करते हैं । जिस महर्षि पतञ्जलिके व्याकरणमहाभाष्य तथा योगदर्शनको विचारते समय कुशाग्रबुद्धि प्रतिभासम्पन्न भी विद्वान् उन्हें वश्यवाक् समझते हैं जिनकी कृपासे मनुष्योंकी वाणी संस्कृत होकर अपशब्दोंके दोषोंसे बचती है. उन्ही महर्षि पतञ्जलिने मनुष्योंकी नीरोगताके लिये आयुर्वेदशास्त्रकी शिरोमणि यह चरकसंहिता बनाई है. चरकसंहिताके उद्धार करनेवाले वही (पतञ्जलि ही) चरक हैं । इसमें यही प्रसिद्ध श्लोक–

" योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।
अपाकरोद्यः प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥ "

प्रमाण है । जो कुछभी हो इस ग्रन्थमें वह उत्तान गम्भीर आशय और चिकित्सामें वैद्यकी बुद्धि यदि उत्तम हो तो एक योगसे कितने ही योग नवीन कल्पित करलेना इत्यादि अलौकिक बात लिखीहुई हैं ।

समयानुकूल अब इसकी हिन्दी टीकाकी बडी आवश्यकता होगई. एक आवृत्ति यह पण्डित मिहिरचन्द्रजीकी बनाई हुई टीकासहित छपचुकी है. अबकी बार पटियालाराज्यान्तर्गत टकसालग्रामनिवासी आयुर्वेदोद्धारक वैद्यपञ्चानन पण्डित्त रामप्रसादजी वैद्योपाध्यायद्वारा प्रसादनीनामक सरल हिन्दीभाषामें टीका बनवाई है । आनन्दकी बात है कि, इस टीकामें उक्त वैद्यजीने अतिकठिन स्थलोंपर भी ऐसी सरलटीका बनाई है कि लोग विना परिश्रम इस ग्रन्थका अभिप्राय समझ जायँगे ।

इस सर्वोपकारक कार्य करनेके लिये हम वैद्यजीको अनेक धन्यवाद देते हैं और आशा करते हैं कि और भी उत्तम उत्तम ग्रन्थोंकी भाषाटीका बना आयुर्वेदके प्रचार करनेमें आप भाग लियाकरेंगे ।

खेमराज श्रीकृष्णदास,

" श्रीवेङ्कटेश्वर " स्टीम् यन्त्रालयाध्यक्ष–बम्बई.

प्रस्तावना ।

(प्रथमावृत्तिकी)

" आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः "

आयुर्वेदके उपदेशोंको परम आदरसे धारण करना चाहिये । यह क्यों ? इसलिये कि, यह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंकी आधारभूत मनुष्यकी आरोग्यताकी प्राप्ति और आयुकी रक्षाके लिये है ।

और–"हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम् ।
मानश्च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते ॥ "

अर्थात् जिस शास्त्रमें आयुसंबन्धी हित अवस्था, आहित अवस्था, सुखी अवस्था, दुःखी अवस्था, आयु, आयुका हित और आहित तथा आयुका परिमाण यथार्थरूपसे कहे हों उसे आयुर्वेद कहते हैं । महात्मा धन्वन्तरिजीने सुश्रुतमें कहा है कि–

" एकोत्तरं मृत्युशतमथर्वाणः प्रचक्षते ।
तत्रैकः कालसंज्ञस्तु शेषास्त्वागन्तवः स्मृताः ॥ "

अर्थात्–अथर्ववेदके जाननेवाले ' १०१ मृत्युएँ होती हैं ' ऐसा कहते हैं, उनमेंसे जो अवश्यम्भावी समयोचित एक मृत्यु है उसको कालमृत्यु कहते हैं शेष सौ मृत्युओंको आगन्तुक (अकालमृत्यु) कहते हैं । उन १०० मृत्युओंसे बचनेके लिये ही आयुर्वेदके उपदेशोंको परम आदरसे धारण करना चाहिये. क्योंकि, यह आयुर्वेदही धर्मादि चतुर्विध पुरुषार्थका साधनभूत आयुका रक्षक है ।

यह आयुर्वेद प्रथम ब्रह्माके हृदयमें आविर्भूत हुआ, ब्रह्माने दक्ष प्रजापतिको पढाया, दक्षसे अश्विनीकुमारोंने पढा, अश्विनीकुमारोंने इन्द्रको पढाया, इन्द्रके यहांसे भरद्वाज (आयुर्वेदको) लाये और सांगोपांग ऋषियोंको सुनाया । और इसी आयुर्वेदको महात्मा आत्रेयजीने आत्रेयसंहितानामक पचास हजार श्लोकोंमें एक संहिता बनाकर अग्निवेश आदि अपने छः शिष्योंको पढाया । फिर इन छःओं शिष्योंने भगवान् आत्रेयजीसे आयुर्वेदको पढकर अपने २ नामसे छः संहितायें बनाई उन सबोंमें अग्निवेशकृत संहिता अत्युत्तम मानी गयी, इस संहिताकी ऋषि और देवताओंने भी प्रशंसा की । यह संपूर्ण संहितायें आज कल लुप्तप्राय सी होगयीं हैं ।

इनके सिवाय शल्यशालाक्यतंत्रमें भगवान् धन्वंतरिजीकी संहिता अत्युत्तम मानीगयी । भगवान् धन्वतरिजीने सुश्रुत आदि अपने शिष्योंको शल्यशालाक्यप्रधान जो आयुर्वेदका उपदेश किया उसको महात्मा नागार्जुनने संग्रह किया, वह ग्रन्थ " सुश्रुतसंहिता " नामसे प्रख्यात और अति उत्तम तथा शल्यशालाक्य चिकित्सामें अति श्रेष्ठतम मानागया । और वृद्धवाग्भट्ट वाग्भट्टआदि और संहितायें भी चरक और सुश्रुतसे पीछे बनीं ।

भगवान् चरकको शेष भगवान्का अवतार कहाजाता है, इन्होंने आत्मिक मल दूर करनेके लिये " योगदर्शन " वाणीका मल दूर करनेके लिये व्याकरण "अष्टाध्यायी " पर " महाभाष्य " और शारीरिक मलोंको दूर करनेके लिये यह " चरकसंहिता " बनायी ।

अग्निवेशकृत संहिताको ही महर्षि चरकजीने विधिवत् संस्कारकर जो विषय अत्यंत बढेहुए थे उनको संक्षिप्त और जो अत्यंत सूक्ष्म थे उनको किंचित् बढाकर और विना कथन किये विषयोंको सम्मीलित कर यह अद्वितीय, अनुपम " चरकसंहिता" ग्रंथ बनाया । चिकित्सामें इसके समान अन्य कोई ग्रंथ आयुर्वेदके ज्ञाताओंकी दृष्टिमें माननीय न हुआ । इस ग्रन्थमें १७ अध्याय चिकित्सास्थानके, कल्प और सिद्धिस्थान महात्मा दृढबलने अग्निवेश आदि संहिताओंमेंसे संग्रहकर मिलाये हैं इसलिये कोई ऐसी शंका भी करते हैं कि, यह संपूर्ण संहिता महर्षि चरकप्रणीत नहीं है । परन्तु कुछ भी हो यह चरकसंहिता चिकित्सा शास्त्रमें अद्वितीय है इसीलिये कहा है कि "यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्कचित् " । अर्थात् जो विषय इस संहितामें लिखा है वही और तन्त्रोंमें भी मिलसकता है परन्तु जो इसमें नहीं है वह कहीं भी नहीं । यद्यपि भावमिश्र आदिकोंने फिरंग आदि एक आध विषयको विशेषरूपसे लिखकर यह माना है कि, यह नवीन रोग हमने ही अपने ग्रन्थमें लिखा है और फिरंगियोंके संसर्गसे यह फिरंगरोग उत्पन्न हुआ परन्तु चरकसंहितामें ऐसे अनेक विषय सूक्ष्मरूपसे कहेगये हैं जिनको देश व कालके भेदसे विभक्तकर स्थूलरूपसे यदि लिखाजाय तो " भावप्रकाश " जैसे पचासों ग्रन्थ तैयार करनेपर भी संपूर्ण विषय नहीं लिखे जा सकते । इसलिये कहा है कि–

" एकस्मिन्नापि यस्येह शास्त्रे लब्धास्पदा मतिः ।
स शास्त्रमन्यदप्याशु युक्तिज्ञत्वात्प्रबुध्यते ॥ "

अर्थात् जिसकी मति इस एकही शास्त्रको यथोचित रीतिसे जानगयी है वह इस तन्त्रकी युक्तियोंको जानलेनेसे अन्य शास्त्रोंकोभी शीघ्र जानसकता है, तात्पर्य यह कि, जिसको यह चरकसंहिता यथोचितरीतिसे आती है वह अन्य शास्त्रोंको इस चरककी युक्तियोंद्वारा शीघ्र जानलेता है ।

" इदमखिलमधीत्य सम्यगर्थान्विमृशति यो विमलः प्रयोगनित्यः ।
स मनुजसुखजीवितप्रदानाद्भवति धृतिस्मृतिबुद्धिधर्मवृद्धः ॥ "

अर्थात् जो मनुष्य इस संपूर्ण संहिताको यथोचित पढकर इसके विषयोंको भलें प्रकार समझ चिकित्साका प्रयोग करता है वह मनुष्योंको सुख और जीवनको देनेवाला होनेसे धृति, स्मृति, बुद्धि और धर्ममें सबसे बडा मानाजाता है ।

" यस्य द्वादशसाहस्री हृदि तिष्ठति संहिता ।
सोऽर्थज्ञः स विचारज्ञश्चिकित्साकुशलश्च सः ।
रोगांस्तेषां चिकित्साश्च स किमर्थं न बुध्यते ॥"

अर्थात्-यह बारह हजार श्लोकात्मक संहिता जिसके हृदयमें स्थित है वह अर्थका जाननेवाला, संपूर्ण वैद्यकीय विषयोंको समझनेवाला, विचारवान् और चिकित्सामें कुशल होताहै ऐसे कौन रोग और उनकी चिकित्सायें हैं जिनको इस संहिताका जाननेवाला वैद्य न समझताहो । परन्तु शोक है कि, आज इस चरकसंहिताके पढने पढानेवाले और आयुर्वेदीय ज्ञानके समझने तथा समझानेवालोंका प्रायः अभाव ही सा होगयाहै जिससे इस समय आयुर्वेदकी अत्यंत अवनत दशा है ।

यद्यपि आजकल सुननेमें आताहै कि आयुर्वेदकी उन्नति होने लगीहै । कहीं आयुर्वेदविद्यापीठ, कहीं वैद्य महासभा, कहीं नये ढंगकी शिक्षा, कहीं आरोग्यभवन और कहीं आयुर्वेदीय महौषधालय खोलेगये हैं । कोई २ महाशय तो खास धन्वन्तरिसे ही गुप्तप्रयोग सीखआये हैं. किसी किसीने वनस्पतियोंका अद्वितीय उद्धार ही करमारा है परन्तु क्या इन सब बातोंसे आयुर्वेदकी उन्नति होनेका कोई ढंग दिखाई पडताहै ? विचारसे देखिये तो उन्नतिबाजोंने इस जीर्ण शीर्ण आयुर्वेदको सर्वथा नष्ट करनेकाही सूत्रपात करदियाहै । अब संम्भव है कि, आयुर्वेदके जाननेवालोंको भी किसी आईनके अन्दर बन्द होना पडेगा । यह सब अदूरदर्शी उन्नतिबाजोंके झूठे चटकीले विज्ञापनोंका फल नहीं तो और क्या है ? अब आप विचारसे देखिये कि, औषधालयों और विज्ञापनोंद्वारा आयुर्वेदकी कितनी उन्नति हुई । यद्यपि औषधालय भी आयुर्वेदके अंग हैं, आयुर्वेद विद्यापीठसे भी बहुत कुछ लाभ पहुंच सकताहै और वैद्य महासभायें भी आयुर्वेदको उन्नत अवस्थामें ला सकती हैं परन्तु कब ? जबकि आयुर्वेदके प्रेमसे आकर्षित हों, जब आयुर्वेदके पुनरुद्धारार्थ स्वार्थको त्याग दें, जब आयुर्वेदके महत्त्वको जान, आयुर्वेदके गौरवको समझ, भूतपूर्व आयुर्वेदकी उन्नत अवस्थाको यादकर और पूर्वज महर्षियोंकी परोपकारितापर ध्यान दे, प्रेमभरेहृदयसे ऐहलौकिक और पारलौकिक उन्नतिका आधार आयुर्वेदकोही मानने लगें।

इसमें कोई संदेह नहीं कि, अब आयुर्वेदकी उन्नतिके लिये ऋषियोंके समान हिमालय और देवलोकमें जानेकी आवश्यकता नहीं । क्योंकि यह आयुर्वेद भण्डार इस जीर्ण शीर्ण दशामें भी किसी अंगमें अपूर्ण नहीं है । निरूहण, अनुवासन, (गुदाद्वारा पिचकारियोंका करना) आदि वस्तिकर्म, उत्तरवस्ति (मूत्रमार्गसे कैथीटर-आदि प्रवेशकर मूत्राशय और उसके मार्गको दोषरहित करना) शिरावस्ति (शरीरकी नसोंमें सूक्ष्म पिचकारीद्वारा औषध पहुंचाना) अर्शके मस्से काटना, पथरी

निकालना और क्षारकर्म आदि यह सब आयुर्वेदके चिकित्साका अनुकरण करके ही आज उन्नतशील शुभ राज्यमें डाक्टरी विद्याकी उन्नति हो रही है।इस इतनी उन्नत अवस्थामें भी बहुतसी शल्यचिकित्सा इण्डियन सर्जेरी कहीजाती है । आंख बनाना भारतके सामान्य वैद्योंका अनुकरण है । आयुर्वेदके शल्यशालाक्य जाननेवालोंने जो जो कार्य किये हैं उनको अभी उन्नतशील चिकित्सकोंने स्वप्नमें भी नहीं देखा होगा । जैसे अश्विनीकुमारोंका दक्षका कटाहुआ शिर लगादेना, ब्रह्माका मस्तक जोडना, भोजका मस्तक चीरकर कपालके भीतरसे जीवोंका निकालना आदि अनेक प्रकारकी क्रियायें कैसी विचित्र थीं । परन्तु समय भगवान्के हेरफेरसे आज वह सब कहानी मात्र रहगई । जिसको अनुकरण मानते हैं वह डाक्टरीविद्या अब शल्य-क्रियामें इतनी उन्नत होतीजाती है बिचारे आयुर्वेदाभिमानी उनकी बाततक नहीं समझ सकते । हाँ ! समय भगवान् क्या नहीं कर सकते ? परिवर्त्तनशील जगत्में ऐसी कौनसी वस्तु है जिसको समय भगवान्ने अपने झपटेमें न लिया हो ? आज जिसको राजा महाराजा ऋषि और देवता भी महान् सत्कारसे देखते हों कल उसीकी ओर देखकर तुच्छ प्राणी भी बडी घृणासे नाक चढाने लगते हैं । आज जिसका झण्डा आकाशमें फहराताहै कालचक्रसे कल वह मटियामेट होकर मानो कभी था ही नहीं ऐसा प्रतीत होनेलगताहै । काल भगवान्की विचित्र महिमा है । जिस आयु-र्वेदको ऋषिगण देवलोकसे लायेथे,-जिस आयुर्वेदको ब्रह्मासे प्राप्त न होनेके रोषमें भैरव जलकर मरनेलगे थे, जिस आयुर्वेदको ऋषियोंने हिमालयकी चोटियोंपर पहुँच अनेक प्रयासोंसे प्राप्तकर निःस्वार्थभावसे जगत्के हितके लिये प्रचार कियाथा आज उन्हीं ऋषियोंकी संतान झूठे विज्ञापनों द्वारा ठगीकर उस आयुर्वेदको लाञ्छित करना मुख्य उन्नति माननेलगी ।

यह कभी नहीं कहा जासकता कि, सब संसार ही एकसा होता है अब भी बहु-तेरे योग्य पुरुष परोपकारी सद्वैद्य और आयुर्वेदकी महिमाको जाननेवालेहैं जिनकी कृपासे औरंगजेबी जमानेके महा आघातसे बचेहुए ग्रंथ इस उन्नतशील श्रीभारत-सरकारके शुभ राज्यमें बडी आसानीसे छपछपकर प्राप्त होनेलगे हैं ।

परन्तु खेदका विषय है कि, और सब विद्याओंकी उन्नति होतेहुए भी आयुर्वेदकी रक्षा व जीर्णोद्धारका कोई प्रबंध अभी तक नहीं दीखता । उचित प्रबंध नहीं होनेके अनेक कारणोंमें सबसे बडे चार कारण हैं, जिनके बिना आयुर्वेद अपने चमत्कारकी गर्जना नहीं करसकता । वह चार कारण यह हैं-राजाओंकी ओरसे आयुर्वेदीय सर्वांग शिक्षाका कोई प्रबन्ध न होना १। आयुर्वेदके जिस अंगके जो ज्ञाता हैं उनका स्वच्छ हृदयसे आयुर्वेदको प्रचार न करना २ । आयुर्वेदीय शिक्षाके योग्य मनुष्योंका सीखनेमें यत्न न करना ३ । आयुर्वेदीय औषधिसंग्रह आदि नियम

न रखकर दुकानोंकी पुरानी गली, सडी औषधियोंसे चिकित्सा करना ४। यदि आयुर्वेदीय शिक्षाका यथोचित प्रबन्ध होजाय तो फिर भी आयुर्वेद उसी उन्नत अवस्थामें पहुंच सकता है। उन्नतिके लिये कुछ बाहरसे लानेकी आवश्यकता नहीं। उन्हीं पुराने ऋषिप्रणीतसंहिताओंकी सर्वांगशिक्षाका प्रबन्ध होजाय तो सब कुछ होसकता है।

चरक, सुश्रुत आदि ग्रन्थोंसे ऐसा कौन विषय बचा है जो स्थूल वा सूक्ष्मरूपसे इनके भीतर न भरा हो।

विचारशील महाशयगण जरा विचार करें कि, पहलेके आप्त वैद्य किस प्रकारसे औषधोंको सिद्ध करते थे और निदानज्ञानपूर्वक कैसी उत्तम रीतिसे औषध प्रयोग करते थे? जिससे वे पीयूषपाणि कहे जाते थे और रोगी निस्सन्देह नीरोग होते थे। परन्तु आजकलके बहुतसे चिकित्सकनामधारी महाशय तो इन सब आयुर्वेदीय क्रियाओंको छोडकर आलस्यग्रस्त हो अमृतसागर भाषा पढपढ कर अण्टसण्ट संस्कृत असंस्कृत जैसे तैसे गोलियें बना अपनेको रस वैद्य-देव वैद्य होता है ऐसा माननेलगे।

ऐसे वैद्य ऐसी रस गोलियोंको पास रख रोगीको देखकर निदान कहने और रोगानुसार चिकित्सा करनेकी कठिनतासे निरन्तर बचे रहते हैं और इसी कारण इनकी योग्यताकी पोल भी नहीं खुलनेपाती परन्तु इनकी कृपासे आयुर्वेदीय असली क्रिया नष्ट होकर आगेको प्रायः निर्मूल होतीजाती है और इनकी उन गोलियोंके खानेसे क्या होता है इसे तो खानेवाले या उनके परिवारके लोग या ईश्वर ही जाने।

बहुतसे लोगोंको चरक, सुश्रुत आदि ग्रन्थोंका रहस्य जानने और इनके अनुसार क्रिया करनेका उत्साह भी होता है यह विचारे "चरक" जैसे सर्व युक्तिसम्पन्न ग्रन्थको किससे पढें। यद्यपि इस ग्रन्थकी भोजवृत्ति और वाचस्पतिकी टीका संपूर्ण नहीं मिलती तथापि चक्रपाणिकृत संस्कृतटीका तथा गंगाधर शास्त्रीकृत संस्कृतटीका (पुरानी) संपूर्ण मिलती है। जिससे इस ग्रन्थकी योग्यतासे विद्वान् लोगोंको लाभ उठाना कठिन नहीं परन्तु केवल भाषामात्र जाननेवालोंको "चरकका" भाव जाननेके लिये भाषाटीकाको छोड और कोई उपाय नहीं। यद्यपि एक दो टीकाएं हिन्दी भाषामें पहिले भी छपचुकी हैं परन्तु वे बहुतसी जगह ग्रन्थके मर्मको अच्छी तरह न समझानेके कारण आयुर्वेद रसिकोंको आदरणीय न हुई इसलिये यह पुस्तक "श्रीवेंकटेश्वर" स्टीम् प्रेसके स्वत्वाधिकारी श्रीमान् सेठ खेमराज श्रीकृष्णदासजीनें संवत् १९६६ में हिन्दीभाषामें मूलानुसार सरल उत्तम टीका बनानेके लिये मुझे दिया। इस डेढसालके बीचमें यद्यपि अनेक प्रकार आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक आपत्तियोंके असामयिक आक्रमणोंसे अभिभूत होनेके कारण इस ग्रन्थकी टीका बनानेके लिये मुझे यथेष्ट अवकाश न मिलसका, तथापि इस टीकामे

अपनी मति गतिके अनुसार निरालस होके कठिनसे कठिन भावोंको सर्वसाधारणके समझने योग्य करनेमें त्रुटि नहीं की है और यथास्थल औषधनिर्माणाक्रियायें इस तौर लिखी गई हैं फिर किसीसे कुछ पूछनेकी आवश्यकता नहीं । शीघ्रतावश यद्दि कहीं कुछ त्रुटि रहगयी हो तो बुध जन क्षमाकर मुझे सूचित करेंगे जिससे दूसरी बार छपनेमें वह ठीक होजावें ।

और पं० हरिदत्त शर्म्मा शास्त्रीजीने इसका शोधन करते समय, शीघ्रताके कारण पुनरुक्ति, वाक्योंमें कर्म्मणि कर्त्तरी प्रयोगभेद आदिको दुरुस्त कर हमारी बडी भारी सहायता की है इस लिये उन्हे अनेकशः धन्यवाद हैं ।

इस प्रसादनीनामक भाषाटीका सहित चरकसंहिताको 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पितम्' के तौर श्रीमान् सेठ खेमराज श्रीकृष्णदास अध्यक्ष श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् प्रेस बम्बई को सर्वाधिकार सहित सादर अर्पण करताहूं और कोई महाशय इसके छापने आदिका साहस न करें, नहीं तो लाभके बदले हानि उठानी पडेगी.



बंबई
आश्विन शुक्ल १० सोमवार.
संवत् १९६८

विनीत–
रामप्रसाद वैद्योपाध्याय.
राजवैद्य, रियासत पटियाला.

श्रीः ॥

चरकसंहिता-विषयानुक्रमणिका ।

१८. त्रिशोफीय अध्याय ।

इति निदानस्थानकी विषयानुक्रमणिका ।

अथ विमानस्थान ।

१, रसविमान ।

॥ श्रीः ॥

अथ चरकसंहिता।

भाषाटीकासहिता।

सूत्रस्थान।

प्रथम अध्याय।

अथातो दीर्घंजीवितमध्यायं व्याख्यास्याम
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

प्रसादनीटीकाप्रारंभः।

मंगलाचरण।

यत्सेवया जडधियोपि हि तां प्रतिष्ठां
गच्छन्ति यां न विबुधा अमितप्रयासैः।
तां वै प्रसादसुमुखीं गिरिराजकन्यां
सर्वस्य चास्य जननीं हृदि भावयामि ॥

अथाहीशप्रणीतायाः संहितायाः प्रसादनी।
रामप्रसादवैद्येन भाषा वै क्रियते मया ॥

दोहा-जाकी सेवा जडहु नर, लभहिं प्रतिष्ठा जोय।
अतिप्रयास करि करि विबुध, पायसकैं नहिं सोय ॥
सो प्रसन्नमुख गिरिसुता, जो सब जगकी माय।
कारज रामप्रसादके, होवहु सदा सहाय ॥
चरकरचित या ग्रंथकी, भाषा लिखौं बनाय।
रामप्रसाद प्रसादनी, जो सबके मन भाय ॥

भगवान् आत्रेय कहने लगे कि, अब हम दीर्घजीवितीय अध्यायका विस्तारपूर्वक कथन करते हैं क्योंकि संसारमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंकी प्राप्तिके लिये ही सत्पुरुषोंकी प्रवृत्ति होती है इन सब पुरुषार्थोंके साधनके लिये दीर्घ-जीवनकी आवश्यकता है वह दीर्घजीवन अरोगिता (तंदुरुस्ती) रहनेपर होसकती है अरोगिता रखनेके लिये ही आयुर्वेदकी प्रवृत्ति है इसलिये अरोगिताको मुख्य रखते हुए प्रथम दीर्घजीवितीय अध्यायका कथन करते हैं ॥

आयुर्वेदावतरणक्रम।

दीर्घजीवितमन्विच्छन्भरद्वाज उपागमत्।
इन्द्रमुग्रतपा बुद्धा शरण्यममरेश्वरम् ॥ १ ॥

पूर्व कालमें वर्तमान समयकी समान किसीबातको जाननेके लिये सहस्रों प्राणियोंका प्राण अर्पण करनेकी आवश्यकता नहीं होतीथी। उस समय महात्मा तपस्वी अपने तप और योग बलसे भूत भविष्यतको जानकर उसका उचित उपाय अपने तपोबलसे जानलेतेथे फिर वह कार्य जिसरीतिसे सिद्ध होनेवाला हो वह प्रयत्न करलेतेथे। सो वही इसमें लिखा है कि, दीर्घजीवनकी इच्छा करते हुए तपोबलशाली महात्मा भरद्वाजजी देवताओंके पति इंद्रको इस कार्यकी सिद्धिके योग्य समझकर उनके पास गये ॥ १ ॥

ब्रह्मणा हि यथा प्रोक्तमायुर्वेदं प्रजापतिः।
जग्राह निखिलेनादावश्विनौ तु पुनस्ततः ॥ २ ॥
अश्विभ्यां भगवाञ्छक्रः प्रतिपेदे ह केवलम्[१]।
ऋषिप्रोक्तो भरद्वाजस्तस्माच्छक्रमुपागमत् ॥ ३ ॥

क्योंकि पहलेपहल ब्रह्माने संपूर्णरूपसे आयुर्वेद दक्षप्रजापतिके पास कथन किया था। फिर प्रजापतिसे अश्विनीकुमारोंने क्रमपूर्वक संपूर्ण ग्रहण किया। अश्विनीकुमारोंसे इंद्रने संपूर्ण पढा इसलिये ऋषियोंके कहनेसे महर्षि भरद्वाज इंद्रके पास गये॥२॥३॥

आयुर्वेदका प्रयोजन।

विघ्नीभूता यदा रोगाः प्रादुर्भूताः शरीरिणाम्।
उपवासतपःपाठब्रह्मचर्यव्रतायुषाम् ॥ ४ ॥
तदा भूतेष्वनुक्रोशं पुरस्कृत्य महर्षयः।
समेताः पुण्यकर्म्माणः पार्श्वे हिमवतः शुभे ॥ ५ ॥

असलमें भरद्वाजका इंद्रके पास जाकर आयुर्वेदके जाननेका कारण यह हुवा कि, जब मनुष्योंके उपवास, तप, पठन, पाठन, ब्रह्मचर्य, व्रत, आयु इनके नष्ट करनेवाले अथवा यों कहिये कि इनमें विघ्न डालनेवाले रोग प्रगट हुए, तब पुण्यकर्मा महात्मा ऋषि प्राणियोंपर दया करके हिमवान् पर्वतके एक सुंदर पार्श्वमें इकट्टे हुए ॥४॥५॥

---

(१) "वस्तुतोऽत्र कृत्स्नार्थे केवलशब्द" इति गङ्गाधरः।

ऋषियोंका एकत्रित हो विचार करना।

आङ्गिरा जमदग्निश्च वसिष्ठः कश्यपो भृगुः ।
आत्रेयो गौतमः सांख्यः पुलस्त्यो नारदोऽसितः ॥ ६ ॥
अगस्त्यो वामदेवश्च मार्कण्डेयाश्वलायनौ ।
पारीक्षिद्भिक्षुरात्रेयो भरद्वाजः कपिञ्जलः ॥ ७ ॥
विश्वामित्राश्वरथ्यौ च भार्गवश्च्यवनोऽभिजित् ।
गार्ग्यः शाण्डिल्यकौण्डिन्यौ वार्क्षिर्देवलगालवौ ॥ ८ ॥
साङ्कृत्यो वैजवापिश्च कुशिको वादरायणः ।
बडिशः शरलोमा च काप्यकात्यायनावुभौ ॥ ९ ॥
काङ्कायनः कैकशेयो धौम्यो मारीचिकाश्यपौ ।
शर्कराक्षो हिरण्याक्षो लौगाक्षिः पैङ्गिरेव च ॥ १० ॥
शौनकः शाकुनेयश्च मैत्रेयो मैमतायनिः ।
वैखानसा वालखिल्यास्तथा चान्ये महर्षयः ॥ ११ ॥

हिमालयके एक पार्श्वमें—अंगिरा, जमदग्नि, वशिष्ठ, काश्यप, भृगु, आत्रेय, गौतम, सांख्य, पुलस्त्य, नारद, असित, अगस्त्य, वामदेव, मार्कण्डेय, आश्वलायन, पारीक्षित्, भिक्षु, अत्रि, भरद्वाज, कपिञ्जल, विश्वामित्र, आश्वरथ्य, भार्गव, च्यवन, अभिजित्, गर्ग, शांडिल्य, कौंडिन्य, वार्क्षि, देवल, गालव, सांकृत्य, वैजवापि, कुशिक, वादरायण, बडिश, शरलोमा, काप्य, कात्यायन, कांकायन, कैकशेय, धौम्य, मरीचि, कश्यप, शर्कराक्ष, हिरण्याक्ष, लौगाक्षि, पैंगि, शौनक, शाकुनेय, मैत्रेय, मैमतायनि, वैखानस, वालखिल्य तथा अन्य महर्षिलोग आनकर इकट्ठे हुए ॥ ६–११ ॥

ब्रह्मज्ञानस्य निधयो दमस्य नियमस्य च ।
तपसा तेजसा दीप्ता हूयमाना इवाग्नयः ॥ १२ ॥
सुखोपविष्टास्ते तत्र पुण्याश्चक्रुरिमां कथाम् ।
धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ॥ १३ ॥
रोगास्तस्यापहर्त्तारः श्रेयसो जीवितस्य च ।
प्रादुर्भूतो मनुष्याणामन्तरायो महानयम् ॥ १४ ॥

यह सब महात्मा ब्रह्मके जाननेमें और इंद्रियोंके दमन करनेमें तथा नियमोंके पालनेमें समुद्र थे, तप और तेजके प्रभावसे हवन करनेसे प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशमान होरहे थे। यह सब महात्मा सुखपूर्वक बैठे हुए उस हिमालयके शिखरमें यह पवित्र कथा कहने लगे—कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इनका उत्तम मूल आरोग्यता ही है अर्थात् आरोग्यता रहनेपर ही धर्मादि चतुर्विध पुरुषार्थकी प्राप्ति होसकती है। सो रोग (बीमारियां) इस आरोग्यताके हरलेनेवाले हैं। आरोग्यता न रहनेसे जीवन और कल्याण (सुख) भी नष्ट ही होजाता है। इस लिये यह मनुष्योंके लिये महान् अन्तराय (भारी विघ्न) आन उपस्थित हुआ है ॥ १२-१४ ॥

उपायका निश्चय।

कः स्यात्तेषां शमोपाय इत्युक्त्वा ध्यानमास्थिताः।
अथ ते शरणं शक्रं ददृशुर्ध्यानचक्षुषा ॥ १५ ॥
स वक्ष्यति शमोपायं यथावदमरप्रभुः।
कः सहस्राक्षभवनं गच्छेत्प्रष्टुं शचीपतिम् ॥ १६ ॥

सो अब इन रोगोंके शांत करनेका क्या उपाय करना चाहिये ? इसके जाननेके लिये सब ऋषियोंने ध्यान लगाया, इसके अनंतर उन ऋषियोंने इस विघ्नसे बचानेका यत्न इंद्रके पास जानेसे प्राप्त होगा, यह अपनी समाधिमें ध्यान करके जान लिया। फिर नेत्र खोलकर सब आपसमें कहने लगे कि,इन रोगोंकी शांतिका ठीक २ उपाय हमको देवताओंके पति इन्द्र बतलावेंगे, परन्तु उन शचीपति इंद्रके भवनमें इस उपायको सीखने कौन जावेगा ॥ १५ ॥ १६ ॥

अहमर्थे नियुज्येयमत्रेति प्रथमं वचः।
भारद्वाजोऽब्रवीत्तस्मादृषिभिः स नियोजितः ॥ १७ ॥

इस आन्दोलनको सुनकर भरद्वाजजीने सबसे पहले कहा कि, यह काम मुझे सौंपा जाय, मैं इस कार्यको करूंगा इसलिये सब ऋषियोंने इनहीको नियुक्त किया कि आप ही जाइये ॥ १७ ॥

भरद्वाजका इंद्रभवनमें जाना।

स शक्रभवनं गत्वा सुरर्षिगणमध्यगम्।
ददर्श बलहन्तारं दीप्यमानमिवानलम् ॥ १८ ॥
सोऽभिगम्य जयाशीर्भिरभिनन्द्य सुरेश्वरम्।
प्रोवाच भगवान्धीमानृषीणां वाक्यमुत्तमम् ॥ १९ ॥

(१) सावतम् इति पाठान्तरम्।

ऋषियोंसे विदा होकर भरद्वाज इंद्रके स्थानमें (स्वर्गमें) पहुंचे वहां जाकर देवर्षि गणोंके मध्यमें सिंहासनपर प्रदीप्त अग्निके समान तेजस्वी इन्द्रको देखा। फिर बुद्धिमान् भगवान् भरद्वाजने इंद्रके पास जाकर आशीर्वादादिसे प्रसन्न कर ऋषियोंके उत्तम वाक्योंको कथन किया ॥ १८ ॥ १९ ॥

व्याधयो हि समुत्पन्नाः सर्वप्राणिभयंकराः।
तद्ब्रूहि मे शमोपायं यथावदमरप्रभो ॥ २० ॥
तस्मै प्रोवाच भगवानायुर्वेदं शतक्रतुः।
पदैरल्पैर्मतिं बुद्ध्वा विपुलां परमर्षये ॥ २१ ॥

हे देवेश ! पृथ्वीमें संपूर्ण मनुष्योंको दुःख देनेवाले भयंकर रोग उत्पन्न होगये हैं, कृपा करके उन रोगोंके शांतिकारक उपायका कथन कीजिये। यह सुनकर भगवान् इन्द्रने भरद्वाजजीको विपुलबुद्धिशाली जानकर संक्षेपमें ही आयुर्वेद शास्त्रका उपदेश करदिया ॥ २० ॥ २१ ॥

आयुर्वेदका स्वरूप तथा भरद्वाजका इंद्रसे उसे प्राप्त करना।

हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्।
त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामहः ॥ २२ ॥
सोऽनन्तपारं त्रिस्कन्धमायुर्वेदं महामतिः।
यथावदचिरात्सर्वं बुबुधे तन्मना मुनिः ॥ २३ ॥
तेनायुरमितं लेभे भरद्वाजः सुखान्वितः।
ऋषिभ्योऽनधिकं तच्च शशंसानवशेषयन् ॥ २४ ॥

जिस शास्त्रमें हेतु अर्थात् रोगके उत्पन्न करनेवाला कारण और रोगबोधक चिह्न तथा औषधज्ञान होनेका भलीप्रकार वर्णन है और आरोग्य (तन्दुरुस्त) तथा रोगियोंको परम उपयोगी है। जिसमें हेतु, लिङ्ग और औषधज्ञान यह तीन प्रधान सूत्र हैं ऐसे इस सनातन पवित्र आयुर्वेदशास्त्रको पहले पितामहने जाना अर्थात् इसका आविर्भाव पहले ब्रह्माके हृदयमें हुआ। सो इस अनन्तपार आयुर्वेदको " जिसमें निघंटु, निदान, चिकित्सा, अथवा वही हेतु, लिङ्ग, औषधज्ञान यह तीन स्कंध अर्थात् कंधे हैं " महामति भरद्वाजजीने चित्त लगाकर थोडे ही कालमें संपूर्णरूपसे जानलिया। फिर इस आयुर्वेदके प्रतापसे भरद्वाजजी दीर्घायु और सुखको प्राप्त हुए। और यह संपूर्ण शास्त्र क्रमपूर्वक ऋषियोंको पढादिया ॥ २२-२४ ॥

(१) त्रीणि हेत्वादीनि सूत्र्यंते यस्मिन् येन वा तत् त्रिसूत्रमिति चक्रपाणिः।

भरद्वाजसे ऋषियोंका आयुर्वेदका ग्रहण करना ।

ऋषयश्च भरद्वाजाज्जगृहुस्तं प्रजाहितम् ।
दीर्घमायुश्चिकीर्षन्तो वेदं वर्धनमायुषः ॥ २५ ॥
महर्षयस्ते ददृशुर्यथावज्ज्ञानचक्षुषा ।
सामान्यं च विशेषं च गुणान्द्रव्याणि कर्म्म च ॥ २६ ॥
समवायं च तज्ज्ञात्वा तन्त्रोक्तं विधिमास्थिताः ।
लेभिरे परमं शर्म्म जीवितं चांपि निगर्दम् ॥ २७ ॥

ऋषियोंने भी दीर्घायु होनेकी इच्छा करतेहुए प्रजाके हितके लिये इस आयुर्वर्द्धक शास्त्रको भलीभांति ग्रहण किया । फिर ऋषियोंने ज्ञान चक्षु द्वारा द्रव्य, गुण, कर्म्म, सामान्य, विशेष और समवाय, इन सम्पूर्ण पदार्थोंका यथावत् अवबोध किया । और उस बोधको प्राप्त करके विधि अनुसार रहते हुवे परम आनन्द और दीर्घ आयुको प्राप्त हुवे ॥ २५-२७ ॥

पुनर्वसुका छः शिष्योंको आयुर्वेद उपदेश ।

अथ मैत्रीपरः पुण्यमायुर्वेदं पुनर्वसुः ।
शिष्येभ्यो दत्तवान् षड्भ्यः सर्वभूतानुकम्पया ॥ २८ ॥
अग्निवेशश्च भेलश्च जतूकर्णः पराशरः ।
हारीतः क्षारपाणिश्च जगृहुस्तन्मुनेर्वचः ॥ २९ ॥
बुद्धेर्विशेषस्तत्रासीन्नोपदेशान्तरं मुनेः ।
तन्त्रप्रणेता प्रथममग्निवेशो यतोऽभवत् ॥ ३० ॥
अथ भेलादयश्चक्रुः स्वं स्वं तन्त्रं कृतानि च ।
श्रावयामासुरात्रेयं सर्षिसङ्घं सुमेधसः ॥ ३१ ॥

इसके अनंतर मित्रतापरायण पुनर्वसुजीने संपूर्ण प्राणियोंपर कृपा करके यह पवित्र आयुर्वेद ६ शिष्योंको पढाया और १ अग्निवेश, २ भेल, ३ जतूकर्ण, ४ पराशर, ५ हारीत, ६ क्षारपाणी इन छहों शिष्योंने भी मुनिके कहे आयुर्वेदको ग्रहण किया । यद्यपि महर्षि आत्रेय (पुनर्वसु) जीके उपदेशमें कुछ भेद न था वह सबकेलिये एकसाही था परंतु इन छः शिष्योंमें अग्निवेश सबमें अधिक बुद्धिवाले थे इसलिये प्रथम तंत्र (ग्रंथ) कर्ता अग्निवेश ही हुए फिर भेल आदि पांचोंने भी अपने २

---

(१) चाप्यनश्वरम् । इति पाठान्तरम् ।

नामसे संहिताएँ बनाकर ऋषियोंमें विराजमान आत्रेयजीको (अपने गुरु पुनर्वसुको) सुनाई ॥ २८-३१ ॥

अग्निवेशादि छः संहिताओंमें ऋषियोंकी अनुमति।

श्रुत्वा सूत्रणमर्थानामृषयः पुण्यकर्म्मणाम्।
यथावत्सूत्रितमिति प्रहृष्टास्तेऽनुमेनिरे ॥ ३२ ॥
सर्व एवास्तुवंस्तांश्च सर्वभूतहितैषिणः।
सर्वभूतेष्वनुक्रोश इत्युच्चैरब्रुवन्समम् ॥ ३३ ॥
तं पुण्यं शुश्रुवुः शब्दं दिवि देवर्षयः स्थिताः।
सामराः परमर्षीणां श्रुत्वा मुमुदिरे परम् ॥ ३४ ॥
अहो साध्विति घोषश्च लोकांस्त्रीनन्ववादयत्।
नभसि स्निग्धगम्भीरो हर्षाद्भूतैरुदीरितः ॥ ३५ ॥
शिवो वायुर्ववौ सर्व्वा भाभिरुन्मीलिता दिशः।
निपेतुः सजलाश्चैव दिव्याः कुसुमवृष्टयः ॥ ३६ ॥

इनकी बनाईहुई संहिताओंको सुनकर संपूर्ण ऋषि प्रसन्न हुए और मनमें कहनेलगे कि बहुत अच्छे प्रकारसे सूत्रोंका क्रम रखकर ग्रंथोंको बनाया है, फिर संपूर्ण सृष्टिके हितैषी वह ऋषि इनकी स्तुति करके कहनेलगे कि, आपने सब प्राणियोंपर दया की है आपको धन्य है। ऋषियोंकी कीहुई इस पवित्र आनन्दध्वनिको सुनकर स्वर्गके देवता अत्यंत प्रसन्न हुए और बहुत अच्छा हुआ २ यह प्रेमसे कहाहुआ शब्द तीनों लोकोंमें उत्तम गुञ्जार करता हुआ आकाशसे प्रतिशब्द देनेलगा। उस समय कल्याणकारी मंद सुगंध पवित्र वायु चलनेलगा और सब दिशा प्रकाशमय हो शोभा देनेलगी देवलोकसे जलसे भीगे हुए सुगंधित दिव्यपुष्पोंकी वृष्टि होनेलगी ॥ ३२-३६ ॥

अथाग्निवेशप्रमुखान् विविशुर्ज्ञानदेवताः।
बुद्धिः सिद्धिः स्मृतिर्मेधा धृतिः कीर्तिः क्षमा दया ॥ ३७ ॥
तानि चानुमतान्येषां तन्त्राणि परमर्षिभिः।
भावाय भूतसंघानां प्रतिष्ठां भुवि लेभिरे ॥ ३८ ॥

इसके अनंतर इस पुण्य कर्मके फलसे अग्निवेश आदि छहों ग्रंथकर्ताओंके शरीरमें बुद्धि, सिद्धि, स्मृति, मेधा, धृति, कीर्ति, क्षमा, दया यह ज्ञानदेवता प्रविष्ट हुए

१ साधु भूतश्विति पाठान्तरम्।

अर्थात् यह सब उत्तम गुण उनमें निवास करनेलगे । और ऋषियोंसे सम्मान पाए-हुए इनके ग्रंथ संपूर्ण मनुष्योंके कल्याणकारक होते हुए प्रतिष्ठाको प्राप्त हुए ॥ ३८ ॥

आयुर्वेदका लक्षण ।

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्

मानञ्च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते ॥ ३९ ॥

अब प्रथम आयुर्वेदशब्दकी निरुक्ति कहते हैं । जिस शास्त्रमें आयुके हित अवस्था, अहित अवस्था, सुखयुक्त अवस्था, दुःखयुक्त अवस्था, आयु, और आयुका हित, अहित तथा आयुका परिमाण कथन कियाहुआ हो या जिसके द्वारा यह सब जानाजाय उसको आयुर्वेद कहते हैं ॥ ३९ ॥

आयुका लक्षण और आयुके नाम ।

शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम् ।

नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्य्यायैरायुरुच्यते ॥ ४० ॥

शरीर, इंद्रियें, मन, आत्मा इनके संयोगको आयु कहते हैं । उसीको धारी, जीवित, नित्यग और अनुबंध भी कहते हैं यह आयुके पर्यायवाचक शब्द हैं ॥४०॥

आयुर्वेदका महत्त्व ।

तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः ।

वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितः ॥ ४१ ॥

वेदके जाननेवालोंने उस आयुके वेदको अर्थात् इस आयुर्वेद (वैद्यक) शास्त्रको परमोत्तम माना है, यह मनुष्योंके लिये इस लोकमें और परलोकमें परमहितकारी है। सो उसीका यहां वर्णन करते हैं ॥ ४१ ॥

वृद्धिह्रासके कारण व सामान्य और विशेषके लक्षण ।

सर्व्वदा सर्व्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम् ।

ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु ॥ ४२ ॥

सामान्यमेकत्वकरं विशेषस्तु पृथक्त्वकृत् ।

तुल्यार्थता हि सामान्यं विशेषस्तु विपर्ययः ॥ ४३ ॥

द्रव्य गुण कर्मादि भावोंकी समानता उनकी वृद्धि करनेमें कारण होती है जैसे चिकने पदार्थके सेवनसे उसीके समान चिकने स्वभाववाली मेदकी वृद्धि होती है और शोकातुर अवस्थामें शोकयुक्त बात सुननेसे शोकवृद्धि होती है, सर्दीके मौसममें उसीके स्वभाववाली शीतल पवन चलनेसे शीतकी वृद्धि होती है आठ घटोंमें समान

गुणवाले दो घट और मिलादेनेसे घटोंकी संख्यामें वृद्धि होती है. वातप्रकृतिवालेको वातकारक समानगुणवाले पदार्थसे वातवृद्धि होती है। इसी प्रकार द्रव्यादिकोंकी असमानता घटानेका कारण है, जैसे-मेदसे असमान गुणवाला रूक्षपदार्थ मेदको घटाने (ह्रास) का कारण होता है। शोकातुर चित्तमें आनंददायक बातके आनेसे शोक कम होता है इस प्रकार द्रव्य गुण कर्मोंकी समानतासे प्रवृत्ति वृद्धि और असमानतासे प्रवृत्ति ह्रासका कारण होती है। सामान्य एकत्व करनेवाला है। और विशेष अलग २ करनेवाला। तुल्यार्थता जैसे मेदमें स्नेह तुल्य अर्थ करता है उसको सामान्य कहते हैं और विपर्यय अर्थात् उलटे अर्थके करनेवालेको विशेष कहते हैं ॥४२॥४३॥

आयुर्वेदका अधिकरण।

सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्व्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ४४ ॥
स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम्।
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं सम्प्रकाशितः ॥ ४५ ॥

मन शरीर आत्मा इन तीनोंका तीन दंडोंकी समान परस्पर संबंध है इन तीनोंके संबंधको वैद्यक शास्त्रमें पुरुष कहाजाता है और सम्पूर्ण संसार इन तीनोंके संबंधसे ही है। इस वैद्यक शास्त्रमें इन तीनोंके संबंधरूप पुरुषको ही पुमान्, चेतन और आयुर्वेदका अधिकरण मानते हैं। और इस पुरुषकेलिये ही इस आयुर्वेदका प्रकाश किया गया है ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

द्विविध द्रव्य।

खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः।
सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम् ॥ ४६ ॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, आत्मा, मन, काल, दिशा इन सबको द्रव्य कहते हैं। इंद्रियवालोंको चेतन और इंद्रियरहितको अचेतन कहते हैं। मनुष्य पशु पक्षी आदि इंद्रियवालोंको चेतन और वृक्षादि जड पदार्थोंको अचेतन कहते हैं॥४६॥

गुण कर्म।

सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः।
गुणाः प्रोक्ताः प्रयत्नादि कर्म्म चेष्टितमुच्यते ॥ ४७ ॥

शब्द, स्पर्श, गंध, रस, रूप, (यह अर्थ अर्थात् इंद्रियोंके विषय कहे जाते हैं) और गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मंद, तीक्ष्ण, स्थिर, सर, मृदु, कठिन, विशद, पिच्छल, खर, मसृण, स्थूल, सूक्ष्म, सांद्र, द्रव यह बीस द्रव्यके गुण हैं।

बुद्धि, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, पर, अपर, युक्ति, संख्या, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परिमाण, संस्कार, अभ्यास यह सब गुण कहाते हैं और जो प्रयत्नादि शरीरव्यापारा चेष्टापूर्वक किए जाएं उनको कर्म कहते हैं ॥ ४७ ॥

समवाय।

समवायोऽपृथग्भावो द्रव्यादीनां गुणैर्मतः ।
स नित्यो यत्र हि द्रव्यं न तत्रानियतो गुणः ॥ ४८ ॥

समवाय अपृथग्भावको कहते हैं । (अर्थात् जिस संबंधसे एक दूसरेसे अलग न हो सकें उसको समवाय कहते हैं) यह संबन्ध द्रव्योंको उनके गुणोंके साथ विद्यमान है । यह समवाय सम्बन्ध नित्य है क्योंकि जहां द्रव्य होता है वहां उसका गुण अनियत नहीं होता किन्तु नियत रहता है ॥ ४८ ॥

द्रव्य गुण लक्षण।

यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत् ।
तद्द्रव्यं समवायी तु निश्चेष्टः कारणं गुणः ॥ ४९ ॥

कर्म्म और गुण जिसके आश्रित है (द्रव्य गुणकर्मका आधार है जिसके विना गुणकर्म रह नहीं सकते) तथा जो गुणकर्म्मका समवायि कारण है । उसे द्रव्य कहते हैं [समवाय संबन्ध ऊपर कह चुके हैं। इस अपृथग्भावी नित्य संबन्ध द्वारा गुण कर्म्म द्रव्यमें रहते हैं । अर्थात् द्रव्य समवाय संबन्धसे गुणकर्मकी सत्तामें कारण है । इस कारण द्रव्य समवायिकारण कहलाता है और गुण कर्म तद्द्रव्य समवायी होते हैं]

गुणलक्षण।

समवायी (द्रव्य समवायी अर्थात् द्रव्याधेय समवाय सम्बन्धसे द्रव्यमें रहनेवाला तथा निश्चेष्ट (नीष्क्रिय) कारण गुण कहलाता है । [द्रव्य समवायी होनेसे गुणभी कारण हो जाता है परन्तु इसमें क्रिया नहीं । समवायी कहनेसे आकाशादि निष्क्रिय द्रव्यमें लक्षण नहीं जाता । निश्चेष्ट कहनेसे चेष्टारूप कर्मकी व्यावृत्ति तथा चेष्टा (क्रिया) के आधार मूर्त्त द्रव्यकी व्यावृत्ति हो जाती है] ॥ ४९ ॥

कर्मलक्षण।

संयोगे च वियोगे च कारणं द्रव्यमाश्रितम् ।
कर्त्तव्यस्य क्रिया कर्म कर्म नान्यदपेक्षते ॥ ५० ॥

जो द्रव्यके संयोग और विभाग (अर्थात् प्रत्येक किया) में कारण है और जो द्रव्यके आश्रित है उसको कर्म्म कहते हैं ।

यहां पर यह शङ्का होती है कि, यहां कर्म शब्दसे क्रियारूप कर्मपदार्थ ग्रहण किया जाए अथवा अदृष्टादि कर्म या वमन विरेचनादि कर्म ग्रहण किये जाएं । इस

कारण लिखा है 'कर्त्तव्यस्य क्रिया कर्म' इत्यादि। अर्थात् कर्त्तव्यकी क्रियाको ही कर्म कहते हैं अन्य किसी (अदृष्टादि वमनादि) कर्मकी यहां अपेक्षा नहीं ॥ ५० ॥

वैद्यकका प्रयोजन।

इत्युक्तं कारणं कार्यं धातुसाम्यमिहोच्यते।
धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम् ॥ ५१ ॥

इस प्रकार कारणका कथन करदिया(सम्पूर्ण कार्य्यजात संसारके कारण केवल सामान्य, विशेष, समवाय, द्रव्य, गुण, और कर्म्म, यह छः पदार्थ हैं।(इनका कथन करदिया) यहांपर कार्य धातुसाम्य अर्थात् आरोग्यको कहेंगे।

धातुओं (वातादिकों) को साम्यावस्थामें रखनेके लिए जो क्रियाकी जाए वही इस तन्त्रका प्रयोजन है ॥ ५१ ॥

व्याधियोंके हेतु और आश्रय।

कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च।
द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसंग्रहः ॥ ५२ ॥
शरीरं सत्त्वसंज्ञं च व्याधीनामाश्रयो मतः।
तथा सुखानां योगस्तु सुखानां कारणं समः ॥ ५३ ॥

काल, बुद्धि, इंद्रिय, विषय इनका मिथ्यायोग अयोग और अतियोग यह तीन प्रकारका व्यापार होना ही शारीरिक तथा मानसिक व्याधियोंका कारण है। शरीर और मन यह दोनों ही रोगोंके अधिष्ठान हैं अर्थात् रोग शरीरमें और मनमें ही होतेहैं। और काल, बुद्धि, इंद्रियोंके विषय इनका सम योग रहनेसे रोग न होकर सुख प्राप्त होताहै ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

आत्माका लक्षण।

निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः।
चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः ॥ ५४ ॥

आत्मा निर्विकार है, पर सबसे श्रेष्ठ है, और मन, भूतगुण (शब्दस्पर्शादि) और इंद्रियें (श्रोत्रादि) इनके सहयोगसे चैतन्यमें कारण है, नित्य है, द्रष्टा है, सब क्रियाओंको देखताहै ॥ ५४ ॥

रोगोंके कारण।

वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ॥ ५५ ॥

---

१ कर्तव्यस्य क्रिया कर्मेति–एतन क्रियारूपस्य कर्म्मण इदं लक्षणं नाऽदृष्टादेरिति–चक्रपाणिः।

वात, पित्त, कफ यह तीन शारीरिक दोष हैं। रजोगुण और तमोगुण मानसिक दोष हैं। अर्थात् वात, पित्त, कफ यह विगडकर शरीरमें रोग करतेहैं और रज, तम मनमें रोग करनेवाले हैं ॥ ५५ ॥

दोषोंका प्रशमन।

प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वो दैवयुक्तिव्यपाश्रयैः।
मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः ॥ ५६ ॥

शारीरिकरोग दैवके आश्रय होकर (अर्थात् मन्त्र, मणि, मङ्गल, हाम, प्रायश्चित्तादि द्वारा) या युक्तिका आश्रय लेकर (अर्थात् संशोधन संशमन आदिसे) शमन हो जाते हैं। इनमें पहलेके दैवव्यपाश्रय और दूसरेको युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा कहते हैं। और मानसिकरोग ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति, समाधि आदिसे शांत होतेहैं ॥ ५६ ॥

वायुके गुण और शमनका उपाय।

रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः।
विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुतः संप्रशाम्यति ॥ ५७ ॥

तीनों दोषोंमें प्रथम वायुका स्वभाव लिखतेहैं। वायु रूक्ष, शीतल, लघु, सूक्ष्म, चंचल, विशद, खर होताहै। इसके विपरीत स्निग्ध, उष्ण आदि गुणोंवाले द्रव्योंसे शांतिको प्राप्त होताहै ॥ ५७ ॥

पित्तके गुण और शमनोपाय।

सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु।
विपरीतगुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति ॥ ५८ ॥

पित्त-स्नेहयुक्त, उष्ण, तीक्ष्ण, पतला, खट्टा, सारक और कटुस्वभाववाला है। अपनेसे विपरीत रूक्ष, शीतादिगुणवाले द्रव्योंसे शांत होताहै ॥ ५८ ॥

कफके गुण और शमनका उपाय।

गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छिलाः।
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः ॥ ५९ ॥

कफ-भारी, शीतल, मृदु, चिकना, मधुर, स्थिर, पिच्छिलस्वभाववाला है और अपनेसे विपरीत हलके, उष्ण, चरपरे, रूक्ष गुणोंवाले द्रव्योंसे शांत होताहै ॥ ५९ ॥

चिकित्साका साधारण निर्देश।

विपरीतगुणैर्देशमात्राकालोपपादितैः।
भेषजैर्विनिवर्त्तन्ते विकाराः साध्यसंमताः ॥ ६० ॥

साधनं न त्वसाध्यानां व्याधीनामुपदिश्यते ।
भूयश्चातो यथाद्रव्यं गुणकर्म प्रवक्ष्यते ॥ ६१ ॥

व्याधिसे विपरीत गुणवाले द्रव्योंको देश, काल और मात्रा विचारकर उपयोग करनेसे साध्य व्याधियोंकी शांति होतीहै । परन्तु जो संपूर्ण लक्षणोंसे असाध्य रोग हैं उनकी शांति नहीं होती। फिर भी द्रव्योंमें गुण तथा कर्मको कथन करतेहैं ॥ ६०–६१ ॥

रसस्वरूपनिदर्शन ।

रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा ।
निर्वृत्तौ च विशेषे च प्रत्ययाः खादयस्त्रयः ॥ ६२ ॥

रसका स्वाद जीभद्वारा होताहै क्योंकि रस, रसना (जीभ) इंद्रियका विषय है । उस रसके द्रव्य पृथ्वी और जल ही मानेगयेहैं। उस रसकी उत्पत्ति और विशिष्टतामें आकाश, अग्नि, वायु इन तीनोंको भी कारण मानाहै ॥ ६२ ॥

रसोंकी संख्या और नाम।

स्वादुरम्लोऽथ लवणो कटुकस्तिक्त एव च ।
कषायश्चेति षट्कोऽयं रसानां संग्रहः स्मृतः ॥ ६३ ॥

मीठा, खट्टा, नमकीन, चर्परा, कड़ुवा, कषैला, यह छः रस हैं ॥ ६३ ॥

रसोंका कार्य ।

स्वाद्वम्ललवणा वायुं कषायस्वादुतिक्तकाः ।
जयन्ति पित्तं श्लेष्माणं कषायकटुतिक्तकाः ॥ ६४ ॥

इनमें मीठा, खट्टा, नमकीन यह तीन रस वायुको शांत करतेहैं । कषैला, मीठा, कड़ुवा यह तीन रस पित्तको शांत करतेहैं। कषैला, चर्परा, कड़ुवा यह तीन कफको शांत करतेहैं ॥ ६४ ॥

द्रव्यके तीन प्रकार।

किञ्चिद्दोषप्रशमनं किञ्चिद्धातुप्रदूषणम् ।
स्वस्थवृत्तौ हितं किञ्चिद्द्रव्यं त्रिविधमुच्यते ॥ ६५ ॥

कोई द्रव्य दोषोंको शमन करनेवाला होताहै ।कोई द्रव्य ऐसे हैं जो रस रक्त आदि धातुओंको दूषित करतेहैं । कोई ऐसे हैं जो स्वस्थ अवस्थाकी रक्षा रखतेहैं। इस प्रकार द्रव्य तीन प्रकारके होते हैं ॥ ६५ ॥

जङ्गमादिभेदसे फिर तीनप्रकार ।

तत्पुनस्त्रिविधं ज्ञेयं जाङ्गमौद्भिदपार्थिवम् ॥ ६६ ॥

फिर वह द्रव्य जांगम, औद्भिद, पार्थिव इन भेदोंसे तीन प्रकारके हैं ॥ ६६ ॥

जाङ्गमवर्णन ।

मधूनि गोरसाः पित्तं वसामज्जासृगामिषम् ।
विण्मूत्रचर्मरेतोऽस्थिस्नायुशृङ्गं खुरा नखाः ।
जङ्गमेभ्यः प्रयुज्यन्ते केशा लोमानि रोचनाः ॥ ६७ ॥

उनमें–शहद, दूध, घृत आदि पित्त, चरबी, मज्जा, रक्त, मांस, मल, मूत्र, चर्म, वीर्य, हड्डियां, स्नायु, सींग, नख, खुर, केश, लोम, रोचन यह द्रव्य जंगमों (चलने फिरनेवालों) से लियेजातेहैं ॥ ६७ ॥

पार्थिवद्रव्यवर्णन ।

सुवर्णं समलाः पञ्च लोहाः ससिकता सुधा ।
मनःशिलाले मणयो लवणं गैरिकाञ्जने ॥ ६८ ॥
भौममौषधमुद्दिष्टम्–

सोना, चाँदी, ताँबा, शीशा, रांगा, लोहा और इनके मल, सिकता (बालू), चूना, मनसिल, हरिताल, हीरा आदि मणियें, लवण, अंजन, गेरू यह सब पार्थिव द्रव्य कहे हैं ॥ ६८ ॥

औद्भिदद्रव्यवर्णन ।

–औद्भिदं तु चतुर्विधम् ।
वनस्पतिर्वीरुधश्च वानस्पत्यस्तथौषधिः ॥ ६९ ॥
फलैर्वनस्पतिः पुष्पैर्वानस्पत्यः फलैरपि ।
ओषध्यः फलपाकान्ताः प्रतानैर्वीरुधः स्मृताः ॥ ७० ॥

औद्भिद द्रव्य ४ प्रकारके हैं, जैसे–वनस्पति, वीरुध, वानस्पत्य, ओषधी, इनमें जिनमें केवल फल ही लगें उनको वनस्पति कहते हैं । जिनमें फूल-फल दोनों लगें उनको वानस्पत्य कहते हैं । जो फल पकने पर सूखजावें उनको ओषधी कहते हैं । जो फैलती हैं उनको वीरुध (बेल) कहते हैं ॥ ६९ ॥ ७० ॥

मूलत्वक्सारनिर्यासनाडस्वरसपल्लवाः ।
क्षाराः क्षीरं फलं पुष्पं भस्म तैलानि कण्टकाः ॥ ७१ ॥
पत्राणि शुङ्गाः कन्दाश्च प्ररोहाश्चौद्भिदो गणः ।
मूलिन्यः षोडशैकोनाः फलिन्यो विंपरीतकाः ॥ ७२ ॥

---

१ विंशतिः स्मृताः इत्यपि पाठः ।

जड, त्वचा, सार, गोंद, नाडी, रस, कोंपल, खार, दूध, फल, पुष्प, भस्म, तेल, कांटे, पत्र, शुंग, कंद, अंकुर यह सब औद्भिदद्रव्योंसे ग्रहण किये जाते हैं। इनमें सोलह १६ प्रकारकी औषधियोंकी जड ही लीजाती हैं। उन्नीस प्रकारकी फल प्रधान मानीजाती हैं। बाकी सबके फल फूल मूल त्वक रस आदि उपयोगमें आते हैं ॥ ७१ ॥ ७२ ॥

स्नेहादिद्रव्यवर्णन।

महास्नेहाश्च चत्वारः पंचैव लवणानि च ।
अष्टौ मूत्राणि संख्यातान्यष्टावेव पयांसि च ॥ ७३ ॥
शोधनार्थाश्च षड्वृक्षाः पुनर्वसुनिदर्शिताः ।
य एतान्वेत्ति संयोक्तुं विकारेषु स वेदवित् ॥ ७४ ॥

चार महास्नेह, पांच लवण, आठ मूत्र और आठ प्रकारके ही दूध कहे हैं। और वमन विरेचन आदि संशोधन कार्यके लिये पुनर्वसुजीने ६ प्रकारके वृक्ष कहे हैं जो इन सबको विकारोंमें विधिवत् प्रयोग करना जानता है वह आयुर्वेदका जाननेवाला मानाजाता है ॥ ७३ ॥ ७४ ॥

मूलप्रधान द्रव्य।

हस्तिदन्ती हैमवती श्यामा त्रिवृदधो गुडा ।
सप्तला श्वेतनामा च प्रत्यक्श्रेणी गवाक्ष्यपि ॥ ७५ ॥
ज्योतिष्मती च बिम्बी च शणपुष्पी विषाणिका ।
अजगन्धा द्रवन्ती च क्षीरिणी चात्र षोडशी ॥ ७६ ॥
शणपुष्पी च बिम्बी च छर्दने हैमवत्यपि ।
श्वेता ज्योतिष्मती चैव योज्या शीर्षविरेचने ॥ ७७ ॥
एकादशावशिष्टायाः प्रयोज्यास्ता विरेचने ।
इत्युक्ता नामकर्मभ्यां मूलिन्यः फलिनीः शृणु ॥ ७८ ॥

अब क्रमसे ऊपर कहेहुए द्रव्योंका वर्णन करते हैं। नागदंती, वच, काली निशोथ, लाल निशोथ, विधारा, सातला, सफेद अपराजिता वा सफेद वच, दंती, इंद्रायण, मालकांगुनी, कंदूरी, शणपुष्पी, घंटारवा (छुनछुना), विषाणिका (मेढ़ासिंगी या आंवर्तकी), अजगंधा, द्रवंती (छोटीदंती), दूधली यह १६ द्रव्य मूलप्रधान हैं अर्थात् जहां इनका कोई अंग न कहाहो तो मूल ही लेना चाहिये. क्योंकि, इनके मूलमें ही अधिक गुण है इनमें शणपुष्पी, कंदूरी, वच यह तीनों वमन करानेके काममें लाजाती हैं। श्वेता और मालकांगुनी शिरोविरेचनमें प्रयुक्त की जाती हैं। और बाकी

एकादश औषधियां विरेचन करानेमें काम आती हैं। यह तो १६ मूलप्रधान कही अब फलप्रधानोंको सुनो ॥ ७५–७८ ॥

फलप्रधान द्रव्य ।

शङ्खिन्यथ विडङ्गानि त्रपुषं मदनानि च ।
आनूपं स्थलजं चैव क्लीतकं द्विविधं स्मृतम् ॥ ७९ ॥
प्रकीर्य्या चोदकीर्य्या च प्रत्यक्पुष्पी तथाभया ।
अन्तःकोटरपुष्पी च हस्तिपर्ण्णी च शारदम् ॥ ८० ॥
कम्पिल्लकारग्वधयोः फलं यत्कुटजस्य च ।
धामार्गवमथेक्ष्वाकुजीमूतं कृतवेधनम् ॥ ८१ ॥
मदनं कुटजं चैव त्रपुषं हस्तिपर्णिनी ।
एतानि वमने चैव योज्यान्यास्थापनेषु च ॥ ८२ ॥
नस्तः प्रच्छर्दने चैव प्रत्यक्पुष्पी विधीयते ॥
दश यान्यवशिष्टानि तान्युक्तानि विरेचने ।
नामकर्म्मभिरुक्तानि फलान्येकोनविंशतिः ॥ ८३ ॥

शंखपुष्पी, वायविडंग, त्रपुष (खीरा), मैनफल, अनूपज और जलज, मुलहठी, धामार्गव (अपामार्ग या कड़ुतुम्बी), इक्ष्वाकु (कड़ुई तोरई), जीमूत और कृतवेधन (यह दोनों भी तोरईके भेद हैं), कंजा, लताकरंज, चिरचिटा, हरड, अंतःकोटरपुष्पी (नीलिनी ।) हस्तिपर्णीके फल (मोरट या लाल एरंडका फल), कमीला, अमलतास और इंद्रजौ यह उन्नीस फलप्रधान हैं। इनमेंसे कड़ुई तोरई, कड़ुई घीया, कड़ुई तुंबी, कृतवेधन (यह भी तोरईका ही भेद है), मैनफल, इंद्रजौ, खीरा, हस्तिपर्णी यह नव द्रव्य वमन और आस्थापनमें काम आते हैं। प्रत्यक्पुष्पी (चिरचिरा) नस्य और वमनमें प्रयुक्त की जाती है। बाकी दश फलप्रधान द्रव्य विरेचनमें प्रयुक्त किये जाते हैं। इस प्रकार फलप्रधान १९ औषधियोंके नाम और कर्मको कथन किया है ॥ ७९–८३ ॥

चारप्रकारके स्नेह ।

सर्पिस्तैलं वसा मज्जा स्नेहो दृष्टश्चतुर्विधः ।
पानाभ्यञ्जनवस्त्यर्थं नस्यार्थं चैव योगतः ॥ ८४ ॥
स्नेहना जीवना बल्या वर्णोपचयवर्धनाः ।
स्नेहा ह्येते च विहिता वातपित्तकफापहाः ॥ ८५ ॥

घी, तेल, चरबी, मज्जा यह चार प्रकारके स्नेह देखनेमें आतेहैं। यह प्रायः पीनेमें, मालिश करनेमें, वस्तिकर्ममें और नस्यमें प्रयुक्त कियेजाते हैं। यह चतुर्विध स्नेह, स्नेहन, जीवन, वर्णकारक और बलवर्धक हैं तथा वात, पित्त, कफ इन तीनों दोषोंको दूर करते हैं ॥ ८४॥८५ ॥

लवणपञ्चक।

सौवर्चलं सैन्धवं च विडमौद्भिदमेव च।
सामुद्रेण सहैतानि पञ्च स्युर्लवणानि च ॥ ८६ ॥
स्निग्धान्युष्णानि तीक्ष्णानि दीपनीयतमानि च।
आलेपनार्थे युज्यन्ते स्नेहस्वेदविधौ तथा ॥ ८७ ॥
अधोभागोर्द्ध्वभागेषु निरूहेष्वनुवासने।
अभ्यञ्जने भोजनार्थे शिरसश्च विरेचने ॥ ८८ ॥
शस्त्रकर्म्मणि बस्त्यर्थमञ्जनोच्छादनेषु च।
अजीर्णानाहयोर्वाते गुल्मे शूले तथोदरे ॥ ८९ ॥

संचर, सेंधा, विड, उद्भिद् (खारी), सामुद्र यह पांच प्रकारके नमक होते हैं, यह चिकने, गर्म, तीक्ष्ण, अत्यंत क्षुधावर्द्धक होते हैं और लेप, स्नेह, स्वेद आदि कर्ममें शरीरके नीचे ऊपरके भागोंमें प्रयुक्त किये जाते हैं तथा निरूहण, अनुवासन, अभ्यंग, भोजन, शिरोविरेचन, शस्त्रकर्म, वर्ती, अञ्जन, उत्सादन, अजीर्ण, अफरा, बादी, गोला, शूल और उदररोग इनमें इनका प्रयोग किया जाताहै ॥ ८६--८९ ॥

मूत्राष्टक तथा उपयोग।

उक्तानि लवणान्यूर्द्ध्वं मूत्राण्यष्टौ निबोध मे।
मुख्यानि यानि ह्यष्टानि सर्वाण्यात्रेयशासने ॥ ९० ॥

ऊपर सब लवणोंका कथन करचुके हैं अब आठ प्रकारके मूत्रोंका वर्णन सुनो, जो आठ प्रकारके मूत्र आत्रेयने मुख्य मानकर उपदेश किए हैं ॥ ९० ॥

आविमूत्रमजामूत्रं गोमूत्रं माहिषं तथा।
हस्तिमूत्रमथोष्ट्रस्य हयस्य च खरस्य च ॥ ९१ ॥
उष्णं तीक्ष्णमथो रूक्षं कटुकं लवणान्वितम्।
मूत्रमुत्सादने युक्तं युक्तमालेपनेषु च ॥ ९२ ॥
युक्तमास्थापने युक्तं मूत्रं चापि विरेचने।
स्वेदेष्वपि च तद्युक्तमानाहेषु गदेषु च ॥ ९३ ॥

उदरेष्वथ चार्शस्सु गुल्मकुष्ठकिलासिषु ।
तद्युक्तमुपनाहेषु परिषेके तथैव च ॥ ९४ ॥
दीपनीयं विषघ्नं च क्रिमिघ्नं चोपदिश्यते ।
पाण्डुरोगोपसृष्टानामुत्तमं शर्म चोच्यते ॥ ९५ ॥
श्लेष्माणं शमयेत्पीतं मारुतञ्चानुलोमयेत् ।
कर्षेत्पित्तमधोभागमित्यस्मिन् गुणसंग्रहः ॥ ९६ ॥
सामान्येन मयोक्तं तु पृथक्त्वेन प्रवक्ष्यते ॥ ९७ ॥

भेडका मूत्र, वकरीका मूत्र, गोमूत्र, भैंसका मूत्र, हथिनीका मूत्र, ऊंटनीका मूत्र, घोडेका मूत्र, गधेका मूत्र यह आठ मूत्र हैं। यह--गर्म, तीक्ष्ण, रूखे, कटु और नमकीन हैं। इन मूत्रोंका उत्सादन, लेप, आस्थापन, विरेचन, स्वेदन, अफारा, उद-रोग, अर्श, गुल्म, कुष्ठ, किलास, उपनाह (पुलटिस), परिषेक इनमें प्रयोग किया जाताहै। तथा अग्निको दीपन करताहै और विष तथा कृमियोंको नष्ट करताहै। इन मूत्रोंका प्रयोग सब किसमके पाण्डुरोगोंमें परम उत्तम मानाहै। इनके पीनेसे कफ शान्त होताहै। वायुका अनुलोमन होताहै और बढा हुआ पित्त नीचे गमन कर निकल जाताहै। यह सामान्यतासे मूत्रोंके लक्षण कथन किये हैं। अब विशेषतासे श्रवण करो ॥ ९१--९७ ॥

मषादिमूत्रके गुण।

अविमूत्रं सतिक्तं स्यात् स्निग्धं पित्ताविरोधि च ।
आजं कषायमधुरं पथ्यं दोषान्निहन्ति च ।
गव्यं समधुरं किञ्चिद्दोषघ्नं क्रिमिकुष्ठनुत् ॥ ९८ ॥
कण्डूं च शमयेत्पीतं सम्यगृदोषोदरे हितम् ।
अर्शःशोफोदरघ्नं तु सक्षारं माहिषं सरम् ॥ ९९ ॥
हस्तिकं लवणं मूत्रं हितं तु क्रिमिकुष्ठिनाम् ।
प्रशस्तं बद्धविण्मूत्रविषश्लेष्मामयार्शसाम् ॥ १०० ॥
सतिक्तं श्वासकासघ्नमर्शोघ्नं चौष्ट्रमुच्यते ।
वाजिनां तिक्तकटुकं कुष्ठव्रणविषापहम् ॥ १०१ ॥
खरमूत्रमपस्मारोन्मादग्रहविनाशनम् ।
इतीहोक्तानि मूत्राणि यथासामर्थ्ययोगतः ॥ १०२ ॥

भेडका मूत्र--कडुआ, चिकना, गर्म तथा पित्तको कुपित नहीं करनेवाला होता है। बकरीका मूत्र--कषैला, मीठा, पथ्य और त्रिदोषनाशक है। गोमूत्र--कषैला, मीठा, कुछ कुछ दोषोंको नष्ट करनेवाला, कृमि तथा कुष्ठको नष्ट कर्ता, खाजनाशक और पीयाहुआ उदरके सब विकारोंको शांत करताहै। भैंसका मूत्र-अर्श, शोथ और उदररोगोंको नष्ट करताहै तथा खारा दस्तावर है। हस्तीका मूत्र नमकीन है और कृमि, कुष्ठ और मल मूत्रके अवरोधको नष्ट करताहै, तथा विषविकार, कफ और अर्शवालोंको हित है। ऊंटका मूत्र-- कटुतायुक्त, श्वासकासनाशक और अर्शजित् है। घोडेका मूत्र--कडवा है, चर्परा है और कुष्ठ, घाव, विष इनको नष्ट करताहै। गधेका मूत्र--मिरगी, उन्माद, ग्रहदोष इनको नष्ट करता है। इस प्रकार क्रमपूर्वक मूत्रोंके गुण कथन करदिये हैं ॥ ९८-१०२ ॥

भेडी बकरी गाय आदिके दूधोंका वर्णन।

अतः क्षीराणि वक्ष्यन्ते कर्म चैषां गुणाश्च ये।
अविक्षीरमजाक्षीरं गोक्षीरं माहिषं च यत् ॥ १०३ ॥
उष्ट्रीणामथ नागीनां वडवायाः स्त्रियास्तथा।
प्रायशो मधुरं स्निग्धं शीतं स्तन्यं पयः स्मृतम् ॥ १०४ ॥
प्रीणनं बृंहणं वृष्यं मेध्यं बल्यं मनस्करम्।
जीवनीयं श्रमहरं श्वासकासनिबर्हणम् ॥ १०५ ॥
हन्ति शोणितपित्तञ्च सन्धानं विहतस्य च।
सर्वप्राणभृतां सात्म्यं शमनं शोधनं तथा ॥ १०६ ॥
तृष्णाघ्नं दीपनीयं च श्रेष्ठं क्षीणक्षतेषु च।
पाण्डुरोगेऽम्लपित्ते च शोषे गुल्मे तथोदरे ॥ १०७ ॥
अतीसारे ज्वरे दाहे श्वयथौ च विधीयते।
योनिशुक्रप्रदोषेषु मूत्रेष्वप्रसरेषु च ॥ १०८ ॥
पुरीषे ग्रथिते पथ्यं वातपित्तविकारिणाम्।
नस्यालेपावगाहेषु वमनास्थापनेषु च ॥ १०९ ॥
विरेचने स्नेहने च पयः सर्वत्र युज्यते।
यथाक्रमं क्षीरगुणानेकैकस्य पृथक्पृथक् ॥ ११० ॥

---

१ अप्रचुरेष्विति पाठान्तरम्।

अन्नपानादिकेऽध्याये भूयो वक्ष्याम्यशेषतः ॥ १११ ॥

अब दूधोंका और उनके गुण कर्मका कथन करते हैं। भेड, बकरी, गौ, भैंस, ऊँटनी, हथनी, घोडी, स्त्री इन आठोंके दूध--मीठे, चिकने, शीतल, स्तनोंमें दूध बढानेवाले, पालनकर्त्ता, मांसवर्द्धक, वीर्यजनक, बुद्धि, बल, मनको ताकत देनेवाले, जीवनकर्ता, श्रमहर्ता, श्वासकासनाशक, रक्तपित्तके हरनेवाले, संधानकर्ता (टूटे स्थानको जोडनेवाले), संपूर्ण प्राणियोंको सात्म्य, दोषोंको शमन और शोधन करनेवाले, तृषानाशक, दीपनीय हैं और क्षतक्षीणमें अत्यन्त पथ्य हैं तथा पाण्डुरोग, अम्लपित्त, शोष, गुल्म, उदररोग, अतिसार, ज्वर, दाह, सूजन, योनिदोष, शुक्रदोष, मूत्ररोग, मलकी गांठसी बंधना इनमें पथ्य हैं और वात पित्तके रोगियोंको हितकर्ता हैं, इनका प्रयोग नस्य, लेप, अवगाहन, वमन, आस्थापन, विरेचन, स्नेहन इन कर्मोंमें किया जाताहै। इस प्रकार सामान्यतासे दूधोंके गुणोंका वर्णन करदिया है। आगे अन्नपानादिवर्णनाध्यायमें सबके गुणोंका अलग अलग वर्णन किया जायगा। १०३-१११

बहेडा और थूहरके दूधके गुण।

अथापरे त्रयो वृक्षाः पृथग्ये फलमूलिभिः।

स्नुह्यर्काश्मन्तकास्तेषामिदं कर्म्म पृथक्पृथक् ॥

वमनेऽश्मन्तकं विद्यात् स्नुहीक्षीरं विरेचने ॥ ११२ ॥

अब फलप्रधान व मूलप्रधान वृक्षोंसे अन्य तीन वृक्षोंका वर्णन करते हैं। वह यह है--१ थोहर, २ आक, ३ अश्मंतक (कोविदार) इनमें अश्मंतक वमन करानेमें, थोहरका दूध रेचन करानेमें ॥ ११२ ॥

अर्कक्षीरके गुण।

क्षीरमर्कस्य विज्ञेयं वमने सविरेचने ॥ ११३ ॥

आकका दूध, विरेचन और वमनमें प्रयुक्त किया जाताहै ॥ ११३ ॥

त्वचाप्रधान ३ वृक्ष।

इमांस्त्रीनपरान्वृक्षानाहुर्येषां हितास्त्वचः।

पूतिकः कृष्णगन्धा च तिल्वकश्च तथा तरुः।

विरेचने प्रयोक्तव्यः पूतिकस्तिल्वकस्तथा ॥ ११४ ॥

कृष्णगन्धा परीसर्पे शोथेष्वर्शस्सु चोच्यते।

दद्रुविद्रधिगण्डेषु कुष्ठेष्वप्यलजीषु च ॥ ११५ ॥

षड्वृक्षाञ्शोधनानेतानपि विद्याद्विचक्षणः ॥ ११६ ॥

जिनकी त्वचा प्रयुक्त की जाती है इन तीन वृक्षोंका और कथन कियाहै। वह यह हैं--१ पूतिकरंज, २ सुहाँजना, ३ पठानीलोध। इनमें पूतिकरञ्ज और लोध विरेचन

कर्ममें प्रयुक्त करने चाहिये। और सुहाँजना--विसर्प, शोथ और अर्शरोगोंमें प्रयुक्त कियाजाताहै। बुद्धिमान् वैद्यको उचित है कि थोहर, आँक, अश्मंतक, पूतिकरंज, सुहांजना, लोध, इन छः वृक्षोंको दद्रु, विद्रधि, गलगंड, कुष्ठ, अलजी और संशोधन कर्ममें प्रयुक्त करे ॥ ११४--११६ ॥

इत्युक्ताः फलमूलिन्यः स्नेहाश्च लवणानि च।
मूत्रं क्षीराणि वृक्षाश्च षड् ये दुष्टाः पयस्त्वचः ॥ ११७ ॥

इस प्रकार १९ फलप्रधान द्रव्य, १६ मूलप्रधान, ४ स्नेह, ५ लवण, ८ मूत्र, ८ दूध और जिनके दूध व त्वचाका वर्णन कियाहै वह ६ वृक्ष इन सबका वर्णन किया जा चुका है ॥ ११७ ॥

गडरिये आदियोंसे औषधिका ज्ञान।

औषधीर्नामरूपाभ्यां जानते ह्यजपा वने।
अविपाश्चैव गोपाश्च ये चान्ये वनवासिनः ॥ ११८ ॥

अब औषधियोंके जाननेकी विधि लिखते हैं कि बकरी, भेड और गौओंके चरानेवालोंसे और वनमें रहने और विचरनेवालोंसे वनौषधियोंके नाम और रूप जानना चाहिये। अब शङ्का होती है कि यदि उन गवालोंसे ही औषधियोंका ज्ञान हो सकता है तो शास्त्र पढनेकी क्या आवश्यकता है। इस लिये निम्न श्लोक कहते हैं ॥११८॥

औषधियोंके ज्ञानकी कठिनता।

न नामज्ञानमात्रेण रूपज्ञानेन वा पुनः।
औषधीनां परां प्राप्तिं कश्चिद्वेदितुमर्हति ॥ ११९ ॥

केवल नामका या रूपका ज्ञान होनेसे कोई भी पुरुष औषधके श्रेष्ठ प्रयोगके ज्ञानको प्राप्त नहीं कर सकता ॥ ११९ ॥

औषधी जाननेवालेकी प्रशंसा।

योगज्ञस्तस्य रूपज्ञस्तासां तत्त्वविदुच्यते।
किंपुनर्यो विजानीयादोषधीः सर्वथा भिषक् ॥ १२० ॥
योगमासां तु यो विद्याद्देशकालोपपादितम्।
पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य स विज्ञेयो भिषक्तमः ॥ १२१ ॥

जो वैद्य औषधियोंका नाम रूप प्रयोग और किस किस कालमें कौन २ औषधि कैसे २ संपादन कर उसका कैसे २ प्रयोग करना यह विधि जानता है उसका तो कहना ही क्या है अर्थात् उसको धन्य है। हरेक मनुष्यको देख देख कर शास्त्रविधिसे जो उसके अनुकूल हो वह औषध देना चाहिये ॥ १२० ॥ १२१ ॥

औषध विज्ञान सम्बन्धी वैद्यको उपदेश।

यथा विषं यथा शस्त्रं यथाग्निरशनिर्यथा।
तथौषधमविज्ञातं विज्ञातममृतं यथा॥ १२२॥
औषधं ह्यनभिज्ञातं नामरूपगुणैस्त्रिभिः।
विज्ञातं वापि दुर्युक्तं युक्तिबाह्येन भेषजम्।
योगादपि विषं तीक्ष्णमुत्तमं भेषजं भवेत्॥ १२३॥
भेषजं वापि दुर्युक्तं तीक्ष्णं सम्पद्यते विषम्।
तस्मान्न भिषजा युक्तं युक्तिबाह्येन भेषजम्॥ १२४॥
धीमता किञ्चिदादेयं जीविता रोग्यकांक्षिणा॥ १२५॥

क्योंकि विना जानी औषधका प्रयोग कियाहुआ जैसे विष, शस्त्र, अग्नि, विद्युत् मनुष्यको मारडालते हैं ऐसे अनर्थकारक होता है। विचारकर जानीहुई औषधी अमृतके समान गुणको करती है। जो औषध नाम, रूप, गुण इन तीनोंसे जानी हुई नहीं अथवा जानीहुई होनेपर भी अनुचित रीतिसे प्रयुक्त कीगई हो वह औषधी महाअनर्थको करती है। इसीप्रकार अच्छीतरह जानकर प्रयोगमें लायाहुआ विष भी उत्तम औषधीके गुणको करता है। और उत्तम औषधी अनुचित विधिसे देनेसे विषकी समान मारडालती है। इसलिये जीवन और आरोग्यकी इच्छा रखनेवाले बुद्धिमान् पुरुषको युक्ति शून्य वैद्यकी दी हुई औषधका कभी प्रयोग नहीं करना चाहिये॥ १२२-१२५॥

मूर्ख वैद्यके औषधिका निषेध।

कुर्य्यान्निपतितो मूर्ध्नि सशेषं वासवाशनिः॥
सशेषमातुरं कुर्य्यान्न त्वज्ञमतमौषधम्।
दुःखिताय शयानाय श्रद्दधानाय रोगिणे॥ १२६॥
यो भेषजमविज्ञाय प्राज्ञमानी प्रयच्छति।
तस्याथ मृत्युदूतस्य दुर्मतेस्त्यक्तधर्मणः॥ १२७॥
नरो नरकपाती स्यात्तस्य सम्भाषणादपि।
वरमाशीविषविषं क्वथितं ताम्रमेव वा॥ १२८॥
पीतमत्यग्निसन्तप्ता भक्षिता वाप्ययोगुडाः।
न तु श्रुतवता वेदं बिभ्रता शरणागतात्॥ १२९॥

गृहीतमन्नं पानं वा वित्तं वा रोगपीडितात् ।
भिषक् बुभूर्षुर्मतिमानतः स्याद्गुणसम्पदि ॥ १३० ॥
परं प्रयत्नमातिष्ठेत्प्राणदः स्याद्यथा नृणाम् ।
तदेव युक्तं भैषज्यं यदारोग्याय कल्पते ॥ १३१ ॥
स चैव भिषजां श्रेष्ठो रोगेभ्यो यः प्रमोचयेत् ।
सम्यक् प्रयोगं सर्वेषां सिद्धिराख्याति कर्मणाम् ॥ १३२ ॥
सिद्धिराख्याति सर्वैश्च गुणैर्युक्तं भिषक्तमम् ॥ इति ॥ १३३॥

यदि इंद्रलोकसे वज्र गिरकर मनुष्यके शिरमें लगे वह अच्छा है क्योंकि उससे भी शायद मनुष्य जीवित रहसकता हो, परंतु अज्ञ (मूर्ख) की दीहुई औषधी उस वज्रसे भी अधिक दुर्गुण करती है अर्थात् मारही डालती है जो वैद्य दुःखसे व्याकुल शय्यापर पडे श्रद्धालु रोगीको विनाजानी औषधी दे देता है उस धर्मरहित, पापी, नरकगामी मृत्युके दूतसे बोलनेमें भी मनुष्य नरकगामी होजाता है।सांपविष पीलेना अच्छा है, लाल किया हुआ तपाहुआ ताम्रभी पीना अच्छा है. परंतु पाखंडसे विद्वान् वैद्यकासा रूप धारणकर शरणागत रोगियोंको भ्रममें डालकर उनसे अन्न पान धन आदि लेना कदापि उचित नहीं । इसलिये वैद्य होनेकी इच्छावाला बुद्धिमान् मनुष्य पहले जो जो वैद्योंके गुण कहे हैं (आगे लिखेंगे) उनको अपनेमें उत्पन्न करे फिर मनुष्योंके प्राणोंकी रक्षाके लिये सदैव यत्नवान् रहै क्योंकि वैद्य मनुष्योंके प्राणोंका देनेवाला होता है । औषधी वही उत्तम होती है जो रोगसे छुडाकर आरोग्य बनावे । और जो रोगोंसे छुडादे उसीको उत्तम वैद्य कहते हैं । सम्पूर्ण कर्मोंका विधिवत् प्रयोग कियाहुआ संपूर्ण गुणोंसे युक्त वैद्यको सिद्धि और ख्यातिको देता है ॥ १२६-१३३ ॥

अध्यायका उपसंहार ।

तत्र श्लोकाः—आयुर्वेदागमो हेतुरागमस्य प्रवर्त्तनम् ।
सूत्रणं साभ्यनुज्ञानमायुर्वेदस्य निर्णयः ॥ १३४ ॥
सम्पूर्णं कारणं कार्य्यमायुर्वेदप्रयोजनम् ।
हेतवश्चैव दोषाश्च भेषजं संग्रहेण च ॥ १३५ ॥
रसाः सप्रत्ययद्रव्यास्त्रिविधो द्रव्यसंग्रहः ।
मूलिन्यश्च फलिन्यश्च स्नेहाश्च लवणानि च ॥ १३६ ॥
मूत्रं क्षीराणि वृक्षाश्च षड्ये क्षीरत्वगाश्रयाः ।
कर्माणि चैषां सर्वेषां योगायोगगुणागुणाः ॥ १३७ ॥

वैद्यापवादो यत्रस्थाः सर्वे च भिषजां गुणाः।
सर्वमेतत्समाख्यातं पूर्वेऽध्याये महर्षिणा ॥ १३८ ॥

इति दीर्घजीविताध्यायः ॥ १ ॥

अब इस अध्यायका उपसंहार कहते हैं इस अध्यायमें आयुर्वेदका आगमन और उसके अनेक कारण, आयुर्वेदकी प्रवृत्ति, अग्निवेशादिकोंका संहिताएं बनाना, आयुर्वेदका निर्णय, संपूर्ण कारण और कार्य, आयुर्वेदका प्रयोजन, हेतु, दोष संक्षेपसे औषधसंग्रह कथन, छः रस, द्रव्य तीन प्रकारका द्रव्यसंग्रह, फलप्रधान, मूलप्रधान द्रव्य, स्नेह, लवण, मूत्राष्टक, दूधवर्ग, छः वृक्ष जिनके दूध और छिलके काम आते हैं। इन सबके कर्म तथा योग, अयोग, गुण, अगुण, वैद्यके दोष और वैद्यकी सिद्धि ख्यातिका प्रकार यह सब इस प्रथमाध्यायमें वर्णन किया है ॥ १३४-१३८ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां पटियालाराज्यांतर्गतटकसालनिवासि-वैद्यपंचानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्यभाषाटीकायां दीर्घजीवितीयो नाम प्रथमोध्यायः॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः।

प्रतिज्ञावर्णन।

अथातोऽपामार्गतण्डुलीयमध्यायं व्याख्यास्यामः
इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥

भगवान् आत्रेय कहने लगे कि, अब हम अपामार्गतण्डुलीय नामक दूसरे अध्यायका कथन करते हैं ॥

ऊर्ध्वगतरोगनाशक द्रव्य।

अपामार्गस्य बीजानि पिप्पलीर्मरिचानि च।
विडङ्गान्यथ शिग्रूणि सर्षपांस्तुम्बुरूणि च ॥ १ ॥
अजाजीं चाजगन्धां च पीलून्येलां हरेणुकाम्।
पृथ्वीकां सुरसां श्वेतां कुठेरकफणिज्जको ॥ २ ॥
शिरीषबीजं लशुनं हरिद्रे लवणद्वयम्।
ज्योतिष्मतीं नागरं च दद्याच्छीर्षविरेचने ॥ ३ ॥
गौरवे शिरसः शूले पीनसेऽर्द्धावभेदके।
क्रिमिव्याधावपस्मारे घ्राणनाशे प्रमोहने ॥ ४ ॥

अपामार्गके बीज, पीपल, कालीमिर्च, वायविडंग, सुहांजनेके बीज, सरसों, तुंबरु, काला जीरा, अजमोद, पीलू, इलायची, रेणुका, बडी इलायची, तुलसीके बीज, सफेद कोयलके बीज, छोटी तुलसीके बीज, सिरसके बीज, लहसन, दोनों हलदियें, सेंधा और संचर नमक, मालकांगुनीके बीज, सोंठ इन सब औषधियोंको शिरोविरेचनमें देवे। मस्तकके भारीपनमें, शिरकी पीडामें, पीनसरोगमें, आधाशीशीमें, मस्तकके कृमियोंमें, अपस्मारमें, गंध लेनेकी शक्तिके जाते रहनेमें, बेहोशीमें इतने रोगोंमें प्रयोग करे ॥ १–४ ॥

वान्तिकारक द्रव्य।

मदनं मधुकं निम्बं जीमूतं कृतवेधनम् ।
पिप्पलीकुटजेक्ष्वाकूण्येलां धामार्गवाणि च ॥ ५ ॥
उपस्थिते श्लेष्मपित्ते व्याधावामाशयाश्रये ।
वमनार्थं प्रयुञ्जीत भिषग्देहमदूषयन् ॥ ६ ॥

मैनफल, मुलहठी, नीम, जीमूत (कडवी तोरईका भेद), कृतवेधन (तोरई), पीपल, इन्द्रजौ, कटुतुंबी, बडी इलायची, कडुवी तोरई इन औषधियोंको आमाशयमें स्थित पित्त कफकी व्याधियोंमें जिस प्रकार देह दूषित न हो उस प्रकार वमन करानेके लिये प्रयुक्त करे ॥ ५ ॥ ६ ॥

विरेचक द्रव्य।

त्रिवृतां त्रिफलां दन्तीं नीलिनीं सप्तलां वचाम् ।
कम्पिल्वकं गवाक्षीं च क्षीरिणीमुदकीटिकाम् ॥ ७ ॥
पीलून्यारग्वधं द्राक्षां द्रवन्तीं निचुलानि च ।
पक्वाशयगते दोषे विरेकार्थं प्रयोजयेत् ॥ ८ ॥

निशोथ, हरड, बहेडा, आमला, दंती, नीलिनी, सप्तला, वच, कमीला, इंद्रायण, हरी दूधली, करंजुवा, पीलू, अमलतास, मुनक्का, छोटी दंती, निचुल (हिंजल) इन सबको पक्वाशयमें स्थित दोष निकालनेको विरेचनके लिये प्रयुक्त करे ॥ ७–८ ॥

उदावर्तादिमे बस्तिदेनेयोग्य द्रव्य।

पाटलां चाग्निमन्थां च बिल्वं श्योनाकमेव च ।
काश्मर्यं शालपर्णीं च पृश्निपर्णीं निदिग्धिकाम् ॥ ९ ॥
बलां श्वदंष्ट्रां बृहतीमेरण्डं सपुनर्नवम् ।
यवान् कुलत्थान् कोलानि गुडूचीं मदनानि च ॥ १० ॥

पलाशं कत्तृणं चैव स्नेहांश्च लवणानि च ।
उदावर्ते विबन्धेषु युंज्यादास्थापने सदा ॥ ११ ॥

पाढ, अरणी, बेलगिरी, सोनापाठा, धमार वृक्ष, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, कटेली, खरैटी, गोखरू, बडीकटेली, एरंड, पुनर्नवा, यव, कुलथी, बेर, गिलोय, मैनफल, पलास, रोहिसतृण और चतुःस्नेह, पंचलवण इनको उदावर्त, मल मूत्रका अवरोध तथा आस्थापन, वस्तीकर्म आदिमें प्रयुक्त करे ॥ ९-११ ॥

वातनाशक पांचकर्मिक संग्रह।

अत एवौषधगणात् संकल्प्यमनुवासनम् ।
मारुतघ्नमिति प्रोक्तः संग्रहः पाञ्चकर्मिकः ॥ १२ ॥
तान्युपस्थितदोषाणां स्नेहस्वेदोपपादनैः ।
पञ्चकर्माणि कुर्वीत मात्राकालौ विचारयन् ॥ १३ ॥
मात्राकालाश्रया युक्तिः सिद्धिर्युक्तौ प्रतिष्ठिता ।
तिष्ठत्युपरि युक्तिज्ञो द्रव्यज्ञानवतां सदा ॥ १४ ॥

और यही उपरोक्त द्रव्य अनुवासनवस्तिमें भी प्रयुक्त किये जाते हैं। तथा यही द्रव्य वातनाशक होनेसे पंचकर्मोंमें प्रयुक्त कियेजाते हैं। जिन मनुष्योंके शरीरोंमेंसे दोष निकालना हो उनको पहले स्नेहन स्वेदन कराकर फिर मात्रा और कालका विचार रखते हुए " वमन, विरेचन, नस्य, निरूहण, अनुवासन " यह पञ्चकर्म करावे। औषधीकी मात्रा और समयका विचार युक्तिके अधीन है जो बुद्धिमान् वैद्य युक्तिद्वारा विचारकर काम करता है उसीको सिद्धिकी प्राप्ति होती है। औषधी जाननेवाले वैद्योंमें युक्तिक्रम जाननेवाला वैद्य सदा शिरोमणि रहताहै ॥ १२-१४ ॥

अनेक यवागुकल्पना और उनके गुण।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि यवागूर्विविधौषधाः ।
विविधानां विकाराणां तत्साध्यानां निवृत्तये ॥ १५ ॥
पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः ।
यवागूर्दीपनीया स्याच्छूलघ्नी चोपसाधिता ॥ १६ ॥

अब अनेक प्रकारकी औषधियोंसे सिद्ध कीहुई यवागुओंका वर्णन जो रोग यवागुद्वारा शांत होते हैं उन रोगोंकी शांतिके लिये करते हैं। पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रक, सोंठ इन पांचोंसे सिद्ध कीहुई यवागू अग्निको दीपन करतीहै और उदरके शूलको नष्ट करती है ॥ १५-१६ ॥

दधित्थबिल्वचाङ्गेरीतक्रदाडिमसाधिता।
पाचनी ग्राहिणी पेया सवाते पाञ्चमूलिकी ॥ १७ ॥

कैथ, बिल्व, चूका, तक्र, अनारदाना इनसे सिद्ध कीहुई यवागू पाचन और ग्राही है। लघुपञ्चमूलसे सिद्ध कीहुई यवागू वातातिसारमें हितकारक है ॥ १७ ॥

शालपर्णीबलाबिल्वैः पृश्निपर्ण्या च साधिता।
दाडिमाम्ला हिता पेया पित्तश्लेष्मातिसारिणाम् ॥ १८ ॥

शालिपर्णी, खरैटी, बिल्वगिरी, पृष्ठपर्णी इनसे सिद्ध कीहुई यवागू खट्टे अनारसे खट्टी करके पीहुई यवागू पित्त कफके अतिसारमें हितकारक है ॥ १८ ॥

पयस्यर्द्धोदके छागे ह्रीबेरोत्पलनागरैः।
पेया रक्तातिसारघ्नी पृश्निपर्ण्या च साधिता ॥ १९ ॥

बकरीके दूधमें आधा जल मिलाकर उसमें सुगन्धवाला, नीलोफर, सोंठ, पृष्ठपर्णी इनसे सिद्ध कीहुई पेया रक्तातिसारको नष्ट करती है ॥ १९ ॥

दद्यात् सातिविषां पेयां सामे साम्लां सनागराम्।
श्वदंष्ट्राकण्टकारीभ्यां मूत्रकृच्छ्रे सफाणिताम् ॥ २० ॥

अनारके रससे खट्टी की हुई और अतीस तथा सोंठसे सिद्ध की हुई पेया आमातिसारमें देनी चाहिये। गोखरू और कटेलीसे सिद्ध की हुई पेयामें फाणित मिलाकर मूत्रकृच्छ्रकी शांतिके लिये देवे ॥ २० ॥

विडङ्गपिप्पलीमूलशिग्रुभिर्मरिचेन च।
तक्रसिद्धा यवागूः स्यात्क्रिमिघ्नी ससुवर्चिका ॥ २१ ॥

वायबिडंग, पीपलामूल, सुहांजना, काली मिर्च और तक्र इनसे सिद्ध की हुई पेयामें सञ्चर नमक मिलाकर पनिसे पेटके कृमि नष्ट होते हैं ॥ २१ ॥

मृद्वीकाशारिवालाजपिप्पलीमधुनागरैः।
पिपासाघ्नी विषघ्नी च सोमराजीविपाचिता ॥ २२ ॥

मुनक्का, सारिवा, धानोंकी खील, पीपल, सोंठ इनसे सिद्ध कीहुई पेया शहद मिलाकर पीनेसे प्यासको शांत करती है। बावचीसे सिद्ध की हुई पेया विषविकारको शांत करती है ॥ २२ ॥

सिद्धा वराहनिर्यूहे यवागूर्बृंहणी मता।
गवेधुकानां मृष्टानां कर्षणी या समाक्षिका ॥ २३ ॥

वाराहीकन्दसे सिद्ध कीहुई पेया देहको पुष्ट करती है। गवेधुका (ऋषियोंका अन्न) को भूनकर उसकी पेयाको ठंढाकर शहद मिलाकर पीनेसे स्थूलता नष्ट होती है ॥२३॥

सर्पिष्मती बहुतिला स्नेहनी लवणान्विता ।
कुशामलकनिर्यूहे श्यामाकानां विरूक्षणी ॥ २४ ॥

घृत और बहुतसे तिलोंकी सिद्ध कीहुई पेया लवण युक्त कर पीनेसे शरीर चिकना होता है। कुशा और आमलोंसे सिद्ध कीहुई श्यामाकके चावलोंकी पेया शरीरको रूखा करती है ॥ २४ ॥

दशमूलीशृता कासहिक्काश्वासकफापहा ।
यमके मदिरा सिद्धा पक्वाशयरुजापहा ॥ २५ ॥

दशमूलसे सिद्ध कीहुई यवागू--खांसी, हिचकी, श्वास और कफको नाश करती है। घृत, तेल, मद्य इनके साथ सिद्ध कीहुई यवागू पक्वाशयके सब रोगोंको नष्ट करती है ॥ २५ ॥

शाकैर्मांसैस्तिलैर्माषैः सिद्धा वर्चो निरस्यति ।
जम्ब्वाम्रास्थिदधित्थाम्लबिल्वैः सांग्राहिकी मता ॥ २६ ॥

फलपत्रोंके शाक, मांस, तिल, उडद इनसे सिद्ध हुई यवागू मलको निकालतीहै। जामुन, आमकी गुठली, कैथका गुद्दा, कांजी, बेलगिर इनसे सिद्ध यवागू संग्राही (दस्तरोकनेवाली) होती है ॥ २६ ॥

क्षारचित्रकहिङ्ग्वम्लवेतसैर्भेदनी मता ।
अभयापिप्पलीमूलविश्वैर्वातानुलोमनी ॥ २७ ॥

खार (जवाखार), चीता, हींग, अम्लवेत इनसे बनाई हुई यवागू भेदिनी (दस्तावर) होती है। हरड, पीपलामूल, सोंठ इनसे सिद्ध यवागू वायुको अनुलो-मन करती है ॥ २७ ॥

तक्रसिद्धा यवागूः स्याद्घृतव्यापत्तिनाशिनी ।
तैलव्यापदि शस्ता तु तक्रपिण्याकसाधिता ॥ २८ ॥

तक्र (मट्ठा) से सिद्ध कीहुई यवागू अधिक घृत खानेसे पैदाहुए विकारको शांत करती है। ऐसे ही तिलोंकी खल और छाछसे सिद्ध यवागू तेलके खानेसे हुए विकारोंकी शांति करती है ॥ २८ ॥

गव्यैर्मांसरसैः साम्ला विषमज्वरनाशिनी ।
कण्ठ्या यवानां यमके पिप्पल्यामलकैः शृता ॥ २९ ॥

पञ्चगव्य या गोदूध और हरिणादिके मांसके रससे सिद्ध और अनारदानेसे खट्टी कीहुई यवागू विषमज्वरको नष्ट करती है ॥ घृत. तेल, पीपल और आँवलोंके साथ सिद्ध जौवोंकी यवागू कंठके रोगोंमें हितकारी है ॥ २९ ॥

ताम्रचूडरसे सिद्धा रेतोमार्गरुजापहा ।
समाषविदला वृष्या घृतक्षीरोपसाधिता ॥ ३० ॥

मुर्गेके मांससे सिद्ध पेया वीर्यमार्गके रोगोंको शांत करती है । उडदकी दाल, घी, और दूधकी पेया वीर्यको उत्पन्न करती है ॥ ३० ॥

उपोदिकादधिभ्यां तु सिद्धा मदविनाशिनी ।
क्षुधं हन्यादपामार्गक्षीरगोधारसे शृता ॥ ३१ ॥

पोईका शाक और दहीसे सिद्ध यवागू उन्मत्तताको नष्ट करती है । अपामार्गके बीज, दूध और गोधाबूटीके रस अथवा गोधाके मांसके रससे सिद्ध यवागू क्षुधाको नष्ट करती है ॥ ३१ ॥

द्वितीयाध्यायका उपसंहार।

तत्रश्लोकाः—अष्टाविंशतिरित्येता यवाग्वः परिकीर्तिताः ।
पंचकर्माणि चाश्रित्य प्रोक्तो भैषज्यसंग्रहः ॥ ३२ ॥
पूर्वं मूलफलज्ञानहेतोरुक्तं यदौषधम् ।
पञ्चकर्माश्रयज्ञानहेतोस्तत्कीर्त्तितं पुनः ॥ ३३ ॥
स्मृतिमान् युक्तिहेतुज्ञो जितात्मा प्रतिपत्तिमान् ।
भिषगौषधसंयोगैः चिकित्सां कर्त्तुमर्हति ॥ ३४ ॥

इति भेषजचतुष्केऽपामार्गतण्डुलीयो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार इस अध्यायमें अट्ठाईस प्रकारकी यवागुओंका और पंचकर्मके आश्रयीभूत औषधियोंका कथन किया है। जो पहले मूलफलके ज्ञानार्थ कह आये हैं पंचकर्ममें आश्रय होनेके कारण वे यहां फिर कहेगये हैं. स्मृतिमान्, जितेंद्रिय, औषध और रोग तथा युक्तिको जाननेवाला वैद्य औषधियोंके संयोगसे चिकित्सा करे ३२-३४

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदसंहितायां पटियालराज्यान्तर्गतटकसालनिवासि-
वैद्यपञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायकृतप्रसादन्याख्यटीकाया-
मपामार्गतण्डुलीयो नाम द्वितीयोध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः ।

अथात आरग्वधीयमध्यायं व्याख्यास्यामः
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम आरग्वधीय अध्यायकी व्याख्या करेंगे ऐसे भगवान् आत्रेय कहने लगे॥

कुष्ठ किलास आदिपर लेप ।

आरग्वधः सैडगजः करञ्जो वासा गुडूची मदनं हरिद्रे ।
श्याह्वः सुराह्वः खदिरो धवश्च निम्बो विडङ्गं करवीरकत्वक् ॥ १ ॥
ग्रन्थिश्च भौर्जो लशुनः शिरीषः सलोमशो गुग्गुलुकृष्णगन्धे ।
फणिज्झको वत्सकसप्तपर्णौ पीलूनि कुष्ठं सुमनःप्रवालाः ॥ २ ॥
वचा हरेणुस्त्रिवृता निकुम्भो भल्लातकं गैरिकमञ्जनं च ।
मनःशिलाले गृहधूम एला कासीसमुस्तार्जुनरोध्रसर्जाः ॥ ३ ॥
इत्यर्द्धरूपैर्विहिताः षडेते गोपित्तपीताः पुनरेव पिष्टाः ।
सिद्धाः परं सर्षपतैलयुक्ताश्चूर्णप्रदेहा भिषजा प्रयोज्याः ॥ ४ ॥
कुष्ठानि कृच्छ्राणि नवं किलासं सुरेन्द्रलुप्तं किटिभं सदद्रु ।
भगन्दरार्शांस्यपचीं सपामां हन्युः प्रयुक्तास्त्वचिरान्नराणाम् ॥ ५ ॥

१–अमलतास, पनवाड, करंज, अडूसा, गिलोय, मैनफल, दोनों हलदी । २–सरलवृक्ष, देवदारु, खैरसार, मुस्तक, नीम, वायबिडंग, कनेरकी छाल । ३–गठिवन, भोजपत्र, लहसन, सिरसके बीज, जटामांसी, गूगल, सुहांजना । ४–वनतुलसी, सतौना पीलू (अखरोटविशेष), कूठ, चमेली । ५–बच, रेणुका, निशोत, दंती, भिलावे, गेरु, रसौत या सुर्मा । ६–मनसिल, हरिताल, घरका धूम, इलायची, कसीस, मोथे, अर्जुनकी छाल, लोध, राल यह आधे २ श्लोकमें ६ गण कहे हैं । इनमेंसे किसी एक गणके चूर्णको गौके घृतमें मिलाकर खूब घोटे फिर सर्सोंके तेलमें मिलाले तो यह उत्तम प्रलेप तैयार हो । इस प्रकार बनाया हुआ किसी एक गणका प्रलेप वैद्यको अत्यंत प्रयोजनीय है । इसके लेपसे मनुष्योंके कष्टसाध्य कुष्ठ, नवीन किलास कुष्ठ, इंद्रलुप्त, किटिभ, दद्रु, भगंदर, अर्श, अपची, खुजली यह सब शीघ्र नष्ट होते हैं । परंतु यह कुष्ठहर लेप उन रोगियोंको लाभदायक होते हैं जिनको वमन विरेचन द्वारा शुद्ध देह होनेपर प्रयोग किये जावें। पहले अध्यायमें शोधनकारी द्रव्य लिखचुके हैं । उनसे कल्पस्थान और सिद्धिस्थानमें कही विधिके अनुसार शुद्धकाय करके फिर इन बाह्यदोषहर लेपोंका प्रयोग करे ॥ १–५ ॥

दूसरा लेप।

कुष्ठं हरिद्रे सुरसं पटोलं निम्बाश्वगन्धे सुरदारुशिग्रू।
ससर्षपं तुम्बुरुधान्यवन्यं चण्डां सचूर्णानि समानि कुर्यात् ॥ ६ ॥
तैस्तक्रयुक्तैः प्रथमं शरीरं तैलाक्तमुद्वर्त्तयितुं यतेत।
तथास्य कण्डूः पिडकाः सकोठाःकुष्ठानि शोफाश्च शमं व्रजन्ति॥ ७॥

कूठ, दोनों हलदी, तुलसी, पटोलपत्र, नीम, असगंध, देवदारु, सौभांजन, सरसों, तुंबुरु, धनिया, केवटीमुस्तक, चंडा (गठौनेका भेद) इन सबके चूर्णको छाछ और सरसोंके तेलमें घोटकर शरीरपर मालिश करनेसे खुजली, फुनसियें, चकत्ते, कुष्ठ, सूजन यह सब नष्ट होते हैं ॥ ६ ॥ ७ ॥

खाज और पामानाशक लेप।

कुष्ठामृतासङ्गकटंकटेरीकाशीशकाम्पिल्लकरोध्रमुस्ताः।
सौगन्धिकं सर्जरसो विडङ्गं मनःशिलाले करवीरकत्वक् ॥ ८ ॥
तैलाक्तगात्रस्य कृतानि चूर्णान्येतानि दद्यादवचूर्णनार्थम्।
दद्रुः सकण्डुः किटिभानि पामा विचर्चिका चैव तथैति शान्तिम् ॥ ९॥

कूठ, गिलोय, तुत्थ, दोनों हलदी, कसीस, कमीला, नागरमोथा, लोध, गंधक, राल, वायविडंग, मनसिल, हरिताल, कनेरकी छाल इन सबके चूर्णको सरसोंके तेलमें पकाकर देहपर मलनेसे दाद, खाज, किटिभ, पामा, विचर्चिका यह सब नष्ट होते हैं॥ ८॥ ९॥

कुष्ठ आदि रोगोंपर अनेक लेप।

मनःशिलाले मरिचानि तैलमार्कं पयः कुष्ठहरः प्रदेहः।
तुत्थं विडङ्गं मरिचानि कुष्ठं लोध्रं च तद्वत्समनःशिलं स्यात्॥ १०॥
रसाञ्जनं सप्रपुन्नाडबीजं युक्तः कपित्थस्य रसेन लेपः।
करञ्जबीजैडगजं सकुष्ठं गोमूत्रपिष्टश्च परः प्रदेहः ॥ ११ ॥

मनसिल, हरिताल, कालीमिर्च, तेल, आकका दूध इन सबको एकजीव कर लेप करनेसे शरीरपरका कुष्ठ नष्ट होता है। ऐसे ही विडंग, मिर्च, कूठ, लोध, मनसिल इन सबको बराबर ले चूर्णकर तेलके योगसे लेप मालिस करनेसे कुष्ठ दूर होता है॥ रसौत, पनवाडके बीज, कूठ इनको कैथके रसमें मिला लेपकरनेसे कुष्ठ दूर होता है। अथवा—करंजुवेके बीज, पनवाडके बीज, कूठ इनको गोमूत्रमें पीसकर मालिस करनेसे कुष्ठ नष्ट होता है ॥ १० ॥ ११ ॥

उभे हरिद्रे कुटजस्य बीजं करञ्जबीजं सुमनःप्रवालान्।
त्वचं सचव्यां हयमारकं च लेपं तिलक्षारयुतं विदध्यात्॥ १२ ॥

अथवा-दोनों हलदी, इंद्रजौ, करंजुवेके बीज, चमेलीकी कोंपलें, कनेरकी छाल और उसके भीतरका सार, तिलोंका खार इन सबका लेप कुष्ठको नष्ट करता है॥ १२ ॥

मनःशिलात्वक्कुटजात्सकुष्ठः सलोमशः सैडगजः करञ्जः ।
ग्रन्थिश्च भौर्जः करवीरमूलं चूर्णानि साध्यानि तुषोदकेन॥ १३॥
पलाशनिर्दाहरसेन चापि कर्षोद्धृतान्याढकसम्मितेन ।
दर्वीप्रलेपं प्रवदंति लेपमेतत्परं कुष्ठनिषूदनाय ॥ १४ ॥

अथवा-मनसिल, कूठ, कुडाकी छाल, जटामांसी, पनवाडके बीज, करंजुवेके बीज, भोजपत्रकी गांठ, कनेरकी जडकी छाल इन सबको एक एक कर्ष लेकर एक आढक तुषोंके पानीमें और एक आढक ढाकके खार मिले जलमें पकावे जब गाढी होकर कडछीसे लिपटने लगे तो इसको उतारलेवे इसके लेपसे अवश्य ही कुष्ठ नाशको प्राप्त होता है ॥ १३ ॥ १४ ॥

पर्णानि पिष्ट्वा चतुरंगुलस्य तक्रेण पर्णान्यथ काकमाच्याः ।
तैलाक्तगात्रस्य नरस्य कुष्ठान्युद्वर्त्तयेदश्वहनच्छदैश्च ॥ १५ ॥

आरग्वधके पत्र, मकोहके पत्र इनको छाछमें घोटकर अथवा कनेरके पत्रोंको तेलमें पकाकर शरीरपर मलनेसे कुष्ठ दूर होता है ॥ १५ ॥

वातजन्यरोगोंपर लेप।

कोलं कुलत्थाः सुरदारुरास्नामाषातसीतैलफलानि कुष्ठम् ।
वचा शताह्वा यवचूर्णमम्लमुष्णानि वातामयिनां प्रदेहः ॥ १६ ॥

बेर, कुलथी, देवदारु, उडद, अलसी, तिल, सरसों, सूह, राई, एरंडबीज, कूठ, बच, सौंफ, जौ इनके चूर्णको कांजीमें घोटकर वायुके रोगीके शरीरपर लेप करे ॥ १६ ॥

आनूपमत्स्यामिषवेशवारैरुष्णैः प्रदेहः पवनापहः स्यात् ।
स्नेहैश्चतुर्भिर्दशमूलमिश्रैर्गन्धौषधैर्वानिलजित्प्रदेहः ॥ १७ ॥

जलयुक्त भूमिमें रहनेवाले जीवोंका तथा मछलीका मांस, हींग, मिर्च, अदरक, जीरा, हलदी, धनियां इनको घोटकर गर्म करके लेप करनेसे वायुका रोग शांत होता है। अथवा चतुःस्नेहमें दशमूलका चूर्ण और गंधद्रव्योंको मिलाकर गर्म प्रलेपसे वायुकी उग्रपीडा शांत होती है ॥ १७ ॥

उदरपीडाहर लेप।

तक्रेण युक्तं यवचूर्णमुष्णं सक्षारमार्तिं जठरे निहन्यात् ।
कुष्ठं शताह्वां सवचां यवानां चूर्णं सतैलाम्लमुषन्ति वाते ॥ १८ ॥

छाछमें यवोंका चूर्ण और जवाखार मिलाकर गर्म करके पेटपर लेप करनेसे पेटकी पीडा नष्ट होती है। कूठ, सौंफ, वच, यवोंका चूर्ण, तेल, कांजी इनको पकाकर गर्म २ लेप करनेसे वायुकी पीडा शांत होती है ॥ १८ ॥

वातरक्त पर लेप।

उभे शताह्वे मधुकं मधूकं बलां पियालं च कशेरुकं च।
घृतं विदारीं च सितोपलां च कुर्यात्प्रदेहं पवने सरक्ते ॥ १९ ॥

सोया, सौंफ, मुलैठी, खरैंटी, महुआ, चिरौंजी, कसेरू, घृत, विदारीकन्द, मिसरी इनको मिलाकर किया हुआ लेप वातरक्तको शांत करता है ॥ १९ ॥

वातरक्तपर लेप।

रास्नां गुडूचीं मधुकं बले द्वे सजीवकं सर्षभकं पयश्च।
घृतं च सिद्धं मधुशेषयुक्तं रक्तानिलार्त्तिं प्रणुदेत्प्रदेहः ॥ २० ॥

रास्ना, गिलोय, मुलैठी, खरैंटी, गंगेरण, जीवक, ऋषभक इन औषधियोंके चूर्णसे चारगुना घी और १६ गुना दूध मिलाकर घृतपाकविधिसे घृत सिद्ध करे इस घृतमें शहद मिलाकर लेप किया हुआ वातरक्तको शांत करता है ॥ २० ॥

वाते सरक्ते सघृतः प्रदेहो गोधूमचूर्णं छगलीपयश्च ॥ २१ ॥

अथवा घी, गेहूंका चूर्ण, बकरीका दूध इनको पकाकर लेप करना भी वातरक्तमें हित है ॥ २१ ॥

शिरःपीडापर लेप।

नतोत्पलं चन्दनकुष्ठयुक्तं शिरोरुजायां सघृतः प्रदेहः।
प्रपौण्डरीकं सुरदारुकुष्ठं यष्ट्याह्वमेला कमलोत्पले च।
शिरोरुजायां सघृतः प्रदेहो लोहैरकापद्मकचोरकैश्च ॥ २२ ॥

तगर, कमल, चंदन, कूठ इनके चूर्णको घृतसे लेप करे तो मस्तकपीडा शांत होती है। अथवा पंड्यारा, देवदारु, कूठ, मुलैठी, इलायची, कमल, नीलोफर इनको पीसकर घृत मिलाकर लेप करनेसे मस्तकपीडा शांत होती है। अथवा अगर, एरकघास, पद्माख, गठिवन इनको जलमें पीस लेप करनेसे मस्तकपीडा शांत होती है२२॥

पार्श्वपीडापर लेप।

रास्ना हरिद्रे नलदं शताह्वे द्वे देवदारूणि सितोपलां च।
जीवन्तिमूलं सघृतं सतैलमालेपनं पार्श्वरुजासु कोष्णम् ॥ २३ ॥

रास्ना, हलदी, दारुहलदी, खस, सौंफ, सोया, देवदारु, मिसरी, जीवन्तीकी जड

इनको घृत और तेलमें मिलाकर थोडा गर्म लेप किया हुआ पसवाडेके शूलको नष्ट करता है ॥ २३ ॥

दाहनिवारक लेप

शैवालपद्मोत्पलवेत्रतुङ्गप्रपौण्डरीकाण्यमृणाललोध्रम् ।

प्रियंगुकालीयकचन्दनानि निर्वापणः स्यात्सघृतः प्रदेहः ॥ २४ ॥

पानीकी काई, कमलगट्टा, नीलोफर, बेत, तुंग पुंडरिया, कमलकी डंडी, पठानी-लोध, गोंदनीके फूल, कालीयक, (काली अगर) चंदन इनको घृतयुक्त कर लेप करनेसे दाह दूर होता है ॥ २४ ॥

सितालतावेतसपद्मकानि यष्टयाह्वमैन्द्रा नलिनानि दूर्वा ।

यवासमूलं कुशकाशयोश्च निर्वापणः स्याज्जलमेरका च ॥ २५ ॥

सफेद दूब, वेतसमजनु, पद्माख, मुलैठी, इंद्रायण, कमल, दूर्वा, जवासेकी जड, कुशा, कांसकी जड, जलमेंके पटेरेकी जड इन सबको जलसे पीस लेप करनेसे दाह दूर होता है ॥ २५ ॥

विषघ्न लेप ।

शैलेयमेलागुरुणी सकुष्ठे चण्डा नतं त्वक्सुरदारु रास्ना ।

शीतं निहन्यादचिरात्प्रदेहो विषं शिरीषस्तु ससिन्धुवारः ॥ २६ ॥

भरिछरीला, इलायची, अगर, कूठ, गठिवन, तगर, दालचीनी, देवदारु, रास्ना इनका लेप शीतताको शीघ्र नष्ट करता है । ऐसेही सम्भालू और सिरसका लेप विषको शीघ्र नष्ट करदेता है ॥ २६ ॥

देहदुर्गंधनाशक लेप ।

शिरीषलामज्जकहेमलोध्रैस्त्वग्दोषसस्वेदहरः प्रघर्षः ।

पत्राम्बुलोध्राभयचन्दनानि शरीरदौर्गन्ध्यहरः प्रदेहः ॥ २७ ॥

सिरस, खस, नागकेशर, लोध इनके चूर्णका उबटना मलनेसे त्वचाका दोष और पसीना नष्ट होता है । तेजपत्र, नेत्रवाला, पठानी लोध, खस, चन्दन इन सबको पीस कर लेप करनेसे देहकी दुर्गन्धि नष्ट होती है ॥ २७ ॥

उक्त अध्यायका उपसंहार ।

तत्र श्लोकः—इहात्रिजः सिद्धतमानुवाच द्वात्रिंशतं सिद्धमहर्षिपूज्यः ।

चूर्णप्रदेहान्विविधामयघ्नानारग्वधीये जगतो हितार्थम् ॥ २८ ॥

इति भेषजचतुष्के आरग्वधीयो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार इस आरग्वधीय अध्यायमें सिद्ध और महर्षियोंके पूज्य आत्रेय भगवान्ने अनेक रोगोंको नष्ट करनेवाले ३२ प्रकारके चूर्णोंके प्रलेपोंका कथन जगत्के हितार्थ किया है ॥ २८ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतसंहितायां पटियालाराज्यांतर्गतटकसालनिवासि वैद्यपंचानन वैद्यरत्न पं०. रामप्रसादवैद्योपाध्यायकृतप्रसादन्याख्यभाषाटीकाया-मारग्वधीयो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः।

अथातः षड्विरेचनशताश्रितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम षड्विरेचनशताश्रितीय अध्यायका कथन करेंगे ऐसा भगवान् आत्रेय कहनेलगे ॥

अध्यायके विषय।

इह खलु षड् विरेचनशतानि भवन्ति। षड् विरेचनाश्रयाः । पंच कषायशतानि। पंच कषाययोनयः। पञ्चविधं कषायकल्पनम्। पञ्चाशन्महाकषाया इति संग्रहः ॥ १ ॥

इस ग्रंथमें ६०० योग विरेचनके हैं। उन छः सौ विरेचनोंको ६ स्थानोंमें आश्रयीभूत मानाहै और ५०० क्वाथ तथा ५ क्वाथोंके उत्पत्तिस्थान पांचप्रकारकी क्वाथोंकी कल्पना, पचास ५० महाकषाय यह संग्रह इस अध्यायमें वर्णन कियाहै ॥ १ ॥

षड् विरेचनशतानीति यदुक्तं तदिह संग्रहेणोदाहृत्य विस्तरेण कल्पोपनिषदि व्याख्यास्यामः ॥ २ ॥

जो ६०० विरेचन इस अध्यायमें कहेहैं इनको संक्षेपसे यहां कहकर आगे कल्पस्थानमें विशेषतासे वर्णन करेंगे ॥ २ ॥

योगकल्पना।

त्रयस्त्रिंशद्योगशतं प्रणीतं फलेषु। एकोनचत्वारिंशज्जीमूतकेषु योगाः॥
पञ्चचत्वारिंशदिक्ष्वाकुषु ।धामार्गवः षष्टिधा भवति योगयुक्तः॥ ३॥
कुटजस्त्वष्टादशधा योगमेति। कृतवेधनं षष्टिधा भवति योगयुक्तम्।
श्यामात्रिवृद्योगशतं प्रणीतं दशापरे चात्र भवन्ति योगाः ॥ ४ ॥

चतुरङ्गुलो द्वादशधा योगमेति। लोध्रं विधौ षोडशयोगयुक्तम्। महावृक्षो भवति विंशतियोगयुक्तः। एकोनचत्वारिंशत्सप्तलाशंखिन्योर्योगाः॥५॥अष्टचत्वारिंशद्दन्तीद्रवन्त्योरिति षड् विरेचनशतानि॥६॥

इनमें १३३ विरेचन मैनफलके योगसे होतेहैं। ३९ योग जंगली तोरीके संयोगसे। ४५ कडवी तुम्बीके संयोगसे।६० प्रकारके धामार्गव (अपामार्ग) के योगसे। १८ प्रकारके कुटजके योगसे। ६० प्रकारके कृतवेधन (कडुवी तोरी) के योगसे। ११० प्रकारके दक्षिणी निशोथ (काली निशोथ) के योगसे। १२ प्रकार अमलतासके योगसे । १६ प्रकारके लोध्रके योगसे। २० प्रकार थोहरके योगसे। ३९ सातला और शंखिनीके योगसे। ४८ प्रकार दंती और द्रवंतीके योगसे।इसप्रकार सब मिलाकर ६०० प्रकारके विरेचनके योग होतेहैं॥ ३॥ ४॥ ५॥ ६॥

षड् विरेचनाश्रयाः क्षीरमूलत्वक्पत्रपुष्पफलानीति ॥ ७॥

विरेचनके छः आश्रय हैं जैसे--दूध, मूल, छाल, पत्र, फूल, फल। इन छहों द्वार ही विरेचन होतेहैं ॥ ७॥

५ कषाययोनि।

पञ्चकषाययोनय इति मधुरकषायोऽम्लकषायः कटुकषायस्तिक्तकषायः कषायकषायश्चेति तन्त्रे संज्ञा ॥ ८॥

मधुरकषाय, अम्लकषाय, कटुकषाय, तिक्तकषाय, कषायकषाय यह पांच प्रकारसे शास्त्रमें कषाययोनि मानी है। या ऐसे कहिये कि,जिन द्रव्योंसे कषाय (क्काथ)बनताहै उनको कषाययोनि अर्थात् कषायका कारण कहते हैं वह द्रव्य मधुरादि पांच रसोंके आश्रयीभूत होनेसे कषाययोनि पांच प्रकारकी है॥ ८॥

कषायकल्पना।

पञ्चविधं कषायकल्पनमिति। तद्यथा। स्वरसः कल्कः शृतः शीतः फाण्टः कषाय इति ॥ ९॥

यन्त्रप्रपीडनाद्द्रव्याद्रसः स्वरस उच्यते।
यत्पिण्डं रसपिष्टानां तत्कल्कं परिकीर्त्तितम् ॥ १०॥
वह्नौ तु क्वथितं द्रव्यं शृतमाहुश्चिकित्सकाः।
द्रव्यादापोत्थितात्तोये तत्पुनर्निशि संस्थितात् ॥ ११॥
कषायो योऽभिनिर्याति स शीतः समुदाहृतः।
क्षिप्त्वोष्णतोये मृदितं तत्फाण्टं परिकीर्त्तितम्॥ १२॥

ऐसे ही कषायोंकी कल्पना भी पांच प्रकारकी है. जैसे--स्वरस, कल्क, शृत, शीत और फांट यह पांच कषाय हैं। १ यंत्र आदिसे औषधको दबाकर जो उसमेंसे रस निकले उसको स्वरस कहते हैं। २ जो द्रव्यको गीला ही पीसकर चटनीकी समान गोलासा बना लिया जाय उसको कल्क कहते हैं । ३ जो द्रव्य पानीमें डालकर आगपर पकायाजाय उसको शृत (क्वाथ, काढा) कहते हैं। ४ द्रव्य (औषधि) को थोडा कूटकर शीतल पानीमें सायंकाल भिगोदेवे और रात्रिभर पडा रहनेदे फिर प्रातःकाल मलकर छानले इसको शीत (शीतकषाय, हिम) कहते हैं । ५ द्रव्यके चूर्णको गर्म जलमें डालकर मसले फिर छानलेवे इसको फांट कहते हैं ॥९–१२॥

तेषां यथापूर्वं बलाधिक्यम् । अतः कषायकल्पना व्याध्यातुरबलापेक्षिणी न त्वेवं खलु सर्वाणि सर्वत्रोपयोगीनि भवन्ति । पञ्चाशन्महाकषाया इति यदुक्तं तदनुव्याख्यास्यामः ॥ १३ ॥

इनमें फांटसे हिममें, हिमसे क्वाथमें, क्वाथसे कल्कमें, कल्कसे स्वरसमें अधिक गुण होता है । यह क्वाथ विना विचारे सर्वत्र ही उपयुक्त नहीं किये जाते । रोग और रोगीका बलाबल विचारकर जो जहां उपयोगी हो उसीका वर्ताव करना चाहिये । अब जो पचास महाकषाय कह आये हैं उनकी व्याख्या करते हैं ॥ १३ ॥

जीवनीयादि ६ कषायवर्ग ।

तद्यथा–जीवनीयो बृंहणीयो लेखनीयो भेदनीयः सन्धानीयो दीपनीयः इति षट्कः कषायवर्गः ॥ १४ ॥

वह सब इस प्रकार हैं–जीवनीय, (जीवनके बढानेवाले) बृंहणीय (मांसको पुष्ट करनेवाले) लेखनीय (मलको उखाडकर निकालनेवाले) भेदनीय (मलको फाडनेवाले) संधानीय (टूटेहुएको जोडनेवाले) दीपनीय (जठराग्निको चैतन्य करनेवाले) इस प्रकार यह छः कषायोंका वर्ग हुआ ॥ १४ ॥

बलकारकादि ४ कषायवर्ग ।

बल्यो वर्ण्यः कण्ठ्यो हृद्यः इति चतुष्कः कषायवर्गः ॥ १५ ॥

बलकारक, वर्णकर्ता, कंठ्य (स्वरशोधक), हृद्य (हृदयको हितकारी) यह चार प्रकारका कषायवर्ग है ॥ १५ ॥

तृप्तिनाशकादि ६ कषायवर्ग ।

तृप्तिघ्नोऽर्शोघ्नःकुष्ठघ्नः कण्डूघ्नः क्रिमिघ्नो विषघ्न इति षट्कः कषायवर्गः॥ १६॥

तृप्तिनाशक (रुचिकारक), अर्शनाशक, कुष्ठनाशक, कंडू (खाज) नाशक, कृमिनाशक, विषनाशक यह छः प्रकारके क्वाथ हैं ॥ १६ ॥

स्तन्य आदि ४ कषायवर्ग।

स्तन्यजननः स्तन्यशोधनः शुक्रजननः शुक्रशोधन इतिचतुष्कः कषायवर्गः॥

स्तन्य (स्तनोंमें दूध) जनक, स्तन्यशोधक, शुक्रजनक, शुक्रशोधक यह चार प्रकारके क्वाथ हैं ॥ १७ ॥

स्नेहके उपयोगी आदि ७ कषाय वर्ग।

स्नेहोपगः स्वेदोपगो वमनोपगो विरेचनोपग आस्थापनोपगोऽनुवासनोपगः शिरोविरेचनोपग इति सप्तकः कषायवर्गः ॥ १८ ॥

स्नेहकर्मोपयोगी, स्वेदोपयोगी, वमनोपयोगी, विरेचनोपयोगी, आस्थापनोपयोगी, अनुवासनोपयोगी, शिरोविरेचनोपयोगी यह सात प्रकारके क्वाथ हैं ॥ १८ ॥

छर्दिनिग्रहण आदि ३ कषायवर्ग।

छर्दिनिग्रहणस्तृष्णानिग्रहणो हिक्कानिग्रहण इति त्रिकः कषायवर्गः॥ १९॥

छर्दिनिग्रहण (छर्दिको रोकनेवाले), प्यासको रोकनेवाले, हिचकी रोकनेवाले यह तीन प्रकारके कषाय हैं ॥ १९ ॥

पुरीषसंग्रहणीयआदि ५ कषाय०।

पुरीषसंग्रहणीयः पुरीषविरजनीयो मूत्रसंग्रहणीयो मूत्रविरजनीयो मूत्रविरेचनीय इति पञ्चकः कषायवर्गः ॥ २० ॥

मलको बांधनेवाले, मलको शुद्ध करनेवाले, अधिक मूत्रको रोकनेवाले, मूत्रको शुद्ध करनेवाले, मूत्रको लानेवाले यह पांच कषायोंका वर्ग है ॥ २० ॥

कासहरआदि ५ कषाय०।

कासहरः श्वासहरः शोथहरो ज्वरहरः श्रमहर इति पञ्चकः कषायवर्गः॥

खांसीको हरनेवाला, श्वासको हरनेवाला, सूजनको हरनेवाला, ज्वरको हरनेवाला, श्रमको हरनेवाला यह पांच प्रकारका कषायवर्ग है ॥ २१ ॥

दाहप्रशमनआदि ५ कषाय०।

दाहप्रशमनः शीतप्रशमन उदर्दप्रशमनोऽङ्गमर्दप्रशमनः शूलप्रशमन इति पञ्चकः कषायवर्गः ॥ २२ ॥

दाहको शमन करता, शीतको शांत करनेवाला, उदर्दरोगको शांत करनेवाला अंगमर्द (अँगडाई) को शांत करनेवाला, शूलको शांत करनेवाला यह पांच प्रकारका क्काथोंका वर्ग है ॥ २२ ॥

शोणितास्थापन आदि ५ कषाय०।

शोणितास्थापनो वेदनास्थापनः संज्ञास्थापनः प्रजास्थापनो वयःस्थापन इति पञ्चकः कषायवर्गः। इति पञ्चाशन्महाकषायाः ॥ २३॥

रक्तको स्थापन करनेवाला, पीडाको हटानेवाला, बुद्धिको ठहरानेवाला, संतानकारक, आयु वर्द्धक यह पांचप्रकारका कषाय है। इस प्रकार पचास महाकषाय होतेहैं ॥ २३ ॥

५०० कषाय।

महतांश्च कषायाणां लक्षणोदाहरणार्थं व्याख्याता भवन्ति । तेषामेकैकस्मिन् महाकषाये दशदशावयविकान् कषायाननुव्याख्यास्यामः। तान्येव पञ्चकषायशतानि भवन्ति ॥ २४ ॥

ऊपर कहे पचास ५० कषायोंके लक्षण उदाहरणके लिये कहेहैं। अब उनहींमेंसे एक एकके दश २ अंगोंका वर्णन करतेहैं। वही सब मिलकर पांच सौ होतेहैं ॥२४॥

जीवनीय १० द्रव्य।

तद्यथा-जीवकर्षभको मेदा महामेदा काकोली क्षीरकाकोली मुद्गपर्णी माषपर्णी जीवन्ती मधुकमिति दशेमानि जीवनीयानि भवन्ति ॥ २५ ॥

जैसे-जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवंती, मुलहठी यह दश औषधियोंका जीवनीय गण है ॥ २९ ॥

बृंहणीय १० द्रव्य।

क्षीरिणीराजक्षवकबलाकाकोलीक्षीरकाकोलीवाट्यायनीभद्रौदनीभारद्वाजीपयस्यर्ष्यगन्धा इति दशेमानि बृंहणीयानि भवन्ति ॥ २६ ॥

क्षीरविदारी, राजक्षवक (दूधिया), खरैटी, काकोली, क्षीरकाकोली, सफेद खरैटी, सहदेई, वनकपास, विदारीकंद, विधायरा यह दश औषध बंहणीय गण हैं ॥ २६ ॥

लेखनीय १० द्रव्य।

मुस्तकुष्ठहरिद्रादारुहरिद्रावचातिविषाकटुरोहिणीचित्रकचिरबिल्वहैमवत्य इति दशेमानि लेखनीयानि भवन्ति ॥ २७ ॥

नागरमोथा, कूठ, हलदी, दारुहलदी, वच, अतीस, कुटकी, चित्रक, करंज, सफेद वच यह लेखनीय दशक है ॥ २७ ॥

भेदनीय १० द्रव्य।

सुवहार्कोरुबूकाग्निमुखीचित्राचित्रकचिरबिल्वशंखिनीशकुलादनीस्वर्णक्षीरिण्य इति दशेमानि भेदनीयानि भवन्ति ॥ २८ ॥

निशोत, आक, एरंड, भिलावे, दंती, चित्रक, कंजा, शंखिनी (गुलाचीन) कुटकी स्वर्णक्षीरी (सत्यानासी) यह दश औषधी भेदन करनेवाली हैं ॥ २८ ॥

सन्धानीय १० द्रव्य।

मधुकमधुपर्णीपृश्निपर्ण्यम्बष्ठकीसमङ्गामोचरसधातकीलोध्रप्रियंगुक-ट्फलानीति दशेमानि संधानीयानि भवन्ति ॥ २९ ॥

मुलहठी, गिलोय, पृष्ठपर्णी, पाटला, वाराहक्रांता, मोचरस, धावेके फूल, लोध, प्रियंगु, कायफल, यह दश औषध संधानीय (जोडनेवाली) हैं (कहीं संधारणीय पाठ है, जिसका अर्थ मलको धारणकरनेवाली होसकताहै) ॥ २९ ॥

दीपनीय १० द्रव्य।

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेराम्लवेतसमरिचाजमोदाभल्ला-तकास्थिहिंगुनिर्यासा इति दशेमानि दीपनीयानि भवन्ति ॥ ३० ॥

इति षष्कः कषायवर्गः।

पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रक, सोंठ, अम्लवेत, मिर्च, अजवायन, भिलावेकी मींगी, हींग यह दश औषध अग्निको दीपन करनेवाली हैं यह ६ कषायोंका वर्ग है ३०

बलकारक १० द्रव्य।

ऐन्द्रीऋषभ्यतिरसर्ष्यप्रोक्तापयस्याश्वगंधास्थिरारोहिणीबलातिबला इति दशेमानि बल्यानि भवन्ति ॥ ३१ ॥

इंद्रायण, कौंच, सतावर, विधायरा, विदारीकंद, असगंध, शालपर्णी, कुटकी, बला, अतिबला यह दश बलदायक औषध हैं ॥ ३१ ॥

वर्णशोधक १० द्रव्य।

चन्दनतुङ्गपद्मकोशीरमधुकमञ्जिष्ठाशारिवापयस्यासिताब्लता इति दशे-मानि वर्ण्यानि भवन्ति ॥ ३२ ॥

चंदन, तुंग, नागकेशर पद्मकाष्ठ, खस, मुलैठी, मंजीठ, सारिवा, क्षीरकाकोली, सफेद दूब यह दश औषध वर्णकारक (देहका रंग सुधारक) हैं ॥ ३२ ॥

उत्तम कण्ठ करनेवाले १० द्रव्य।

शारिवेक्षुमूलमधुकपिप्पलीद्राक्षाविदारीकैटर्यहंसपदीबृहतीकण्टका-रिकाः इति दशेमानि कण्ठ्यानि भवन्ति ॥ ३३ ॥

सारिवा, इक्षुमूल, मुलैठी, पीपल, मुनक्का, विदारीकंद, कायफल, लाजवंती, बडी कटेली, कटेली यह दश औषध कंठको शुद्ध करती हैं ॥ ३३ ॥

हृदयके हितकारक १० द्रव्य।

आम्राम्रातकनिकुचकरमर्दवृक्षाम्लाम्लवेतसकुवलबदरदाडिममातुलु-ङ्गानीति दशेमानि हृद्यानि भवन्ति॥ ३४ ॥ इति चतुष्कः कषायवर्गः ॥

आम, अंबाडा, बडहर, करौंदा, इमली, अम्लवेत, कलमी बेर, जंगली बेर, दाडिम, बिजौरा यह दश हृदयको प्रिय हैं ॥ यह चार कषायोंका वर्ग हुआ॥ ३४ ॥

तृप्तिनाशक १० द्रव्य।

नागरचित्रकचव्यविडङ्गमूर्वागुडूचीवचामुस्तपिप्पलीपटोलानीति दशेमानि तृप्तिघ्नानि भवन्ति ॥ ३५ ॥

सोंठ, चीता, चव्य, विडंग, मूर्वा, गिलोय, वच, मोथे, पीपल, पटोल यह दश औषध तृप्तिनाशक (रुचिकारक) हैं ॥ ३५ ॥

अर्शोनाशक १० द्रव्य।

कुटजबिल्वचित्रकनागरातिविषाभयाधन्वयशकदारुहरिद्रावचाचव्यानीति दशेमानि अर्शोघ्नानि भवन्ति ॥ ३६ ॥

कुडा, बेल, चीता, सोंठ, इलायची, हरड, जवासा, दारुहलदी, वच, चव्य यह दश औषध तृप्तिनाशक हैं ॥ ३६ ॥

कुष्ठनाशक १० द्रव्य।

खदिराभयामलकहरिद्रारुष्करसप्तपर्णारग्वधकरवीरविडङ्गजातिप्रवाला इति दशेमानि कुष्ठघ्नानि भवन्ति ॥ ३७ ॥

खैरसार, हरड, आमले, हलदी, भिलावे, सप्तपर्ण, अमलतास, कनेर, विडंग, चमेलीकी कोपलें यह दश औषध कुष्ठनाशक हैं ॥ ३७ ॥

खर्जूनाशक १० द्रव्य।

चन्दननलदकृतमालनक्तमालनिम्बकुटजसर्षपमधुकदारुहरिद्रामुस्तानीति दशेमानि कण्डुघ्नानि भवन्ति ॥ ३८ ॥

रक्तचंदन, खस, अमलतास, कंजा, निंब, कुडा, सर्सों, मुलैठी, दारुहलदी, नागरमोथा, यह दशक खाजनाशक है ॥ ३८ ॥

कृमिनाशक १० द्रव्य।

अक्षीवमरिचगण्डीरकेवकविडङ्गनिर्गुण्डीकिणहीश्वदंष्ट्रावृषपर्णिका आखुपर्णिका इति दशेमानि कृमिघ्नानि भवन्ति ॥ ३९ ॥

सुहांजना, मिर्च, गंडीर (समठशाक), केवुक (केमुकवृक्ष), विडंग, संभालू, कटभी (मालकांगुनी या कटभीलता), गोखरू, वृषपर्णी, आखुपर्णी यह दशक कृमिनाशक है ॥ ३९ ॥

विषनाशक १० द्रव्य।

हरिद्रामञ्जिष्ठासुवहासूक्ष्मैलापालिन्दीचन्दनकनकशिरीषसिन्धुवारश्लेष्मातका इति दशेमानि विषघ्नानि भवन्ति॥ ४० इति षट्कःकषायवर्गः॥

हलदी, मंजीठ, रास्ना, इलायची छोटी, सारिवा, चंदन, निर्मलीका फल, सिरस, संभालु, लिसोडे यह दशक विषनाशक है। यह ६ कषायोंका वर्ग है ॥ ४० ॥

स्तनोंमें दूधको बढानेवाले १० द्रव्य।

वीरणशालीषष्टिकेक्षुवालिकादर्भकुशकाशगुन्द्रोत्कटकत्तृणमूलानीति दशेमानि स्तन्यजननानि भवन्ति ॥ ४१ ॥

खस, शालिधान्य, षाष्टिकधान, इक्षुवालिका (बडी किस्मकी डाभ), दर्भ, कुशा, कास, गुंद्रपटेर, उत्कट (वरू), कत्तृण (रोहिसतृण) यह दशक स्तनोंमें दूध उत्पन्न करनेवाला है ॥ ४१ ॥

दुग्धशोधक १० द्रव्य।

पाठामहौषधसुरदारुमुस्तमूर्वागुडूचीवत्सकफलकिराततिक्तकटुरोहिणीशारिवा इति दशेमानि स्तन्यशोधनानि भवन्ति ॥ ४२ ॥

पाठा, सोंठ, देवदारु, मोथा, मूर्वा, गिलोय, इंद्रजौं, चिरायता, कुटकी, सारिवा यह दशक स्तनोंके दूधको शुद्ध करता है ॥ ४२ ॥

वीर्य उत्पन्नकरनेवाले १० द्रव्य।

जीवकर्षभककाकोलीक्षीरकाकोलीमुद्गपर्णीमाषपर्णीमेदावृक्षरुहाजटिलाकुलिङ्गा इति दशेमानि शुक्रजननानि भवन्ति ॥ ४३ ॥

जीवक, ऋषभक, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, मेदा, वंदा, जटामांसी, कुलिंग (काकडासिंगी) यह दशक शुक्रको पैदा करता है ॥ ४३ ॥

वीर्यशोधक १० द्रव्य।

कुष्ठैलवालुककट्फलसमुद्रफेणकदम्बनिर्यासेक्षुकाण्डेक्ष्विक्षुरकवसुकोशीराणीति दशेमानि शुक्रशोधनानि भवन्ति ॥ ४४ ॥

इति चतुष्कः कषायवर्गः।

कूठ, एलवालुक, कायफल, समुद्रफेन, कदंबका गोंद, ईख, कांस, तालमखाने, अगस्तियाके फल, खस यह दशक शुक्रको शुद्ध करता है॥ यह चार कषायोंका वर्ग है४४

स्नेहके उपयोगी १० द्रव्य।

मृद्वीकामधुकमधुपर्णीमेदाविदारीकाकोलीक्षीरकाकोलीजीवकजीवन्तीशालपर्ण्य इति दशेमानि स्नेहोपगानि भवन्ति ॥ ४५ ॥

मुनक्का, मुलैठी, गिलोय, मेदा, विदारीकंद, काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, जीवन्ती, शालपर्णी यह दशक स्नेहकर्ममें उपयोगी है ॥ ४५ ॥

पसीना उत्पन्न करनेवाले १० द्रव्य।

शोभाञ्जनकैरण्डार्कवृश्चीरपुनर्नवायवतिलकुलत्थमाषबदराणीति दशेमानि स्वेदोपगानि भवन्ति ॥ ४६ ॥

सुहांजना, एरंड, आक, सफेद पुनर्नवा, लाल पुनर्नवा, जौ, तिल, कुलथी, उडद, बेर यह दशक पसीना देनेमें उपयोगी हैं ॥ ४६ ॥

वमनकारक १० द्रव्य।

मधुमधुककोविदारकर्बुदारणीपविदुलबिम्बीशणपुष्पीसदापुष्पीप्रत्यक्पुष्प्य इति दशेमानि वमनोपगानि भवन्ति ॥ ४७ ॥

शहद, मुलैठी, लाल कचनार, सुफेद कचनार, कदंब, जलवेत, कंदूरी, शणपुष्पी, आक, अपामार्ग यह दशक वमनकरानेमें उपयोगी हैं ॥ ४७ ॥

विरेचन प्रवर्त्तक १० द्रव्य।

द्राक्षाकाश्मर्य्यपरूषकाभयामलकाविभीतककुवलबदरकर्कन्धुपीलूनीति दशेमानि विरेचनोपगानि भवन्ति ॥ ४८ ॥

दाख, कंभारी, फालसा, हरड, आमले, बहेडे, बडाबेर, बेर, झडीबेर, पीलूफल यह दशक विरेचनमें उपयोगी है ॥ ४८ ॥

मलबन्धक १० द्रव्य।

त्रिवृद्बिल्वपिप्पलीकुष्ठसर्षपवचावत्सकफलशतपुष्पामधुकमदनफलानीति दशेमान्यास्थापनीयोपगानि भवन्ति ॥ ४९ ॥

निशोत, बिल्व, पीपल, कूठ, सर्सों, वच, इंद्रजौं, सौंफ, मुलैठी, मैनफल यह दशक आस्थापनवस्तीमें उपयोगी है ॥ ४९ ॥

सुगन्धिकारक १० द्रव्य।

रास्नासुरदारुबिल्वमदनशतपुष्पावृश्चीरपुनर्नवाश्वदंष्ट्राग्निमन्थश्योणाका इति दशेमानि अनुवासनोपगानि भवन्ति ॥ ५० ॥

रास्ना, देवदारु, बिल्व, मैनफल, सौंफ, सफेद पुनर्नवा, लाल पुनर्नवा, गोखरू, अरणी, सोनापाठा यह दशक अनुवासनवस्तीमें उपयोगी हैं ॥ ५० ॥

शिरोविरेचनीय १० द्रव्य।

ज्योतिष्मतीक्षवकमरिचपिप्पलीविडङ्गशिग्रुसर्षपापामार्गतण्डुलश्वेतामहाश्वेता इति दशेमानि शिरोविरेचनोपगानि भवन्ति ॥ ५१ ॥

इति सप्तकः कषायवर्गः ॥

मालकांगुनी, नकछिकनी, मिरच, पीपल, वायविडंग, सुहांजना, सरसों, अपामार्गके बीज, सफेद कोयल, बडी कोयलका वृक्ष यह दशक शिरोविरेचनमें उपयोगी है। इस प्रकार सात कषायोंका वर्ग है ॥ ५१ ॥

वमन विनाशक १० द्रव्य ।

जम्ब्वाम्रपल्लवमातुलुङ्गाम्लबदरदाडिमयवयष्टिकोशीरमृल्लाजा इति दशेमानि छर्दिनिग्रहाणि भवन्ति ॥ ५२ ॥

जामनके पत्र, आमके पत्र, बिजौरा, खट्टा बेर, दाडिम, जव, मुलैठी, खस, सोरठकी मट्टी (गोपीचन्दन), लाजा (धानकी खील) यह दशक वमन रोकनेवाला है ॥५२॥

तृषानिग्रहकर १० द्रव्य ।

नागरधन्वयवासकमुस्तपर्प्पटकचन्दनकिराततिक्तकगुडूचीह्रीवेरधा-न्यकपटोलानीति दशेमानि तृष्णानिग्रहाणि भवन्ति ॥ ५३ ॥

सोंठ, जवासा, नागरमोथा, पापडा, चन्दन, चिरायता, गिलोय, खस, धनियां, पटोलपत्र यह दश औषध प्यासको रोकती है ॥ ५३ ॥

हिचकी निवारक १० द्रव्य ।

शटीपुष्करमूलबदरबीजकण्टकारिकाबृहतीवृक्षरुहाभयापिप्पलीदु-रालभाकुलीरशृङ्गय इति दशेमानि हिक्कानिग्रहाणि भवन्ति ॥ ५४ ॥

इति त्रिकः कषायवर्गः ।

कचूर, पोहकरमूल, बेरकी मींगी, कटेली, बडी कटेली, आकाशबेल, हरड, पीपल, जवासा, काकडासिंगी यह दश औषध हिचकीको हटाती हैं। यह तीन कषायोंका वर्ग है ॥ ५४ ॥

मलरोधक १० द्रव्य ।

प्रियंग्वनन्ताम्रास्थिकट्वङ्गलोध्रमोचरससमङ्गाधातकीपुष्पपद्मापद्म-केशराणीति दशेमानि पुरीषसंग्रहणानि भवन्ति ॥ ५५

प्रियंगु, सारिवा, आमकी गुठली, सोनापाठा, लोध, मोचरस, समंगा, धावेके फूल, भाडंगी, कमलकी केशर यह दश औषध मलको बांधती हैं ॥ ५५ ॥

पुरीष शोधक १० द्रव्य ।

जम्बुशल्लकीत्वकूकच्छुरामधूकशाल्मलीश्रीवेष्टकभृष्टमृत्पयस्योत्पल-तिलकणा इति दशेमानि पुरीषविरेजनीयानि भवन्ति ॥ ५६ ॥

जामनकी छाल, छलुके वृक्षकी छाल, जवासा, मुलैठी, सेमलकी छाल, सरलका गोंद, भुनीहुई मिट्टी, क्षीरकाकोली, कमल, तिल यह दशक मलको शुद्ध करनेवाला है ॥५६॥

मूत्रके रोधक १० द्रव्य।

जम्ब्वाम्रप्लक्षवटकपीतनोदुम्बराश्वत्थभल्लातकाश्मन्तकसोमवल्का इति दशेमानि मूत्रसंग्रहणानि भवन्ति ॥ ५७ ॥

जामन, आम, पाकर, बड, अंबाडा, गूलर, पीपल वृक्ष, भिलावा, अश्मन्तक (कोविदार), खैर यह दश औषध अधिकमूत्रकी रोकनेवाली हैं ॥ ५७ ॥

मूत्रशोधक तथा मूत्र विरेचनीय १० द्रव्य।

वृक्षादनीश्वदंष्ट्रावसुकोशिरपाषाणभेददर्भकुशकाशगुन्द्रोत्कटमूलानीति दशेमानि मूत्रविरेचनीयानि भवन्ति ॥ ५८ ॥

वंदा, गोखुरू, वसुक (अगस्तिया वृक्ष) हुलहुल, पाषाणभेद, दर्भ, कुश, काँस गुंद्रपटेर, बरू यह दश औषध मूत्र लानेवाली हैं ॥ ५८ ॥

पद्मोत्पलनलिनकुमुदसौगान्धिकपुण्डरीकशतपत्रमधुकप्रियंगुधातकी-पुष्पाणीति दशेमानि मूत्रविरेजनीयानि भवन्ति ॥ ५९ ॥

इति पञ्चकः कषायवर्गः ॥

कमल, नीलकमल, नलिनकमल, कुमुद (भबूल), सौगंधिक कमल, पुंडरीक कमल, गुलाब, मुलैठी, फूल प्रियंगु, धावेके फूल यह दश औषधी मूत्रको शुद्ध कर-नेवाली हैं। यह पांच प्रकारका कषायवर्ग है ॥ ५९ ॥

कासहारक १० द्रव्य।

द्राक्षाभयामलकपिप्पलीदुरालभाशृङ्गीकण्टकारिकावृश्चीरपुनर्नवाता-मलक्य इति दशेमानि कासहराणि भवन्ति ॥ ६० ॥

दाख, हरड, आमला, पीपल, जवासा, काकडासिंगी, कटेली, सफेद पुनर्नवा, लाल पुनर्नवा, भूमिआमला यह दशक खांसीको नष्टकरनेवाली औषधियोंका है ॥ ६० ॥

श्वासहर १० द्रव्य।

शटीपुष्करमूलाम्लवेतसैलाहिंग्वगुरुसुरसातामलकीजीवन्तीचण्डा इति दशेमानि श्वासहराणि भवन्ति ॥ ६१ ॥

कचूर, पोहकरमूल, अमलबेत, छोटी इलायची, हींग, अगर, तुलसी, भूमिआमला, जीवंती, गठौना, यह दश औषधी श्वासको हरनेवाली हैं ॥ ६१ ॥

शोथहारक १० द्रव्य।

पाटलाग्निमन्थबिल्वश्योणाककाश्मर्य्यकण्टकारिकाबृहतीशालपर्णी-पृश्निपर्णीगोक्षुरका इति दशेमानि शोथहराणि भवन्ति ॥ ६२ ॥

पाटला, अरणी, बेल, सोनापाठा, कंभारी, कटेली, बडी कटेली, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, गोखरू यह दश औषधि सूजनको हरनेवाली हैं ॥ ६२ ॥

ज्वरनाशक १० द्रव्य ।

शारिवाशर्करापाठामञ्जिष्ठाद्राक्षापीलुपरूषकाभयामलकविभीतकानीति दशेमानि ज्वरहराणि भवन्ति ॥ ६३ ॥

सारिवा, शर्करा (तरंजवीन और शीरखीस्त था खांड), पाठा, मजीठ, मुनक्का, पीलू, फालसा, हरड, आमले, बहेडे यह दश औषध ज्वरनाशक हैं ॥ ६३ ॥

श्रमनाशक १० द्रव्य ।

द्राक्षाखर्जूरपियालबदरदाडिमफल्गुपरूषकेक्षुयवषष्टिका इति दशेमानि श्रमहराणि भवन्ति ॥ ६४ ॥ इति पञ्चकः कषायवर्गः ॥

दाख, खजूर, चिरौंजी, बेर, अनार, गूलर, फालसा, ईख, जौ, साठीके चावल यह दश औषधि श्रमको हरती हैं। यह पांचप्रकारका कषायवर्ग है ॥ ६४ ॥

दाहनाशक १० द्रव्य ।

लाजाचन्दनकाश्मर्य्यफलमधुकशर्करानीलोत्पलोशीरशारिवागुडचीह्रीबेराणीति दशेमानि दाहप्रशमनानि भवन्ति ॥ ६५ ॥

धानकी खील, चंदन, कंभारी, मुलैठी, मिसरी, नीलोफर, खस, सारिवा, गिलोय, नेत्रवाला यह दश औषध दाहको शांत करती हैं ॥ ६५ ॥

शीतप्रशामक १० द्रव्य ।

तगरागुरुधान्यकशृङ्गवेरभूतीकवचाकण्टकारिकाग्निमन्थश्योनाकपिप्पल्य इति दशेमानि शीतप्रशमनानि भवन्ति ॥ ६६ ॥

तगर, अगर, धनियां, सोंठ, अजवायन, वच, कटेली, अरणी, श्योनाक, पीपल यह दश औषध शीतको हरनेवाली हैं ॥ ६६ ॥

उदर्दशामक १० द्रव्य ।

तिन्दुकपियालबदरखदिरकदरसप्तपर्णाश्वकर्णार्जुनासनारिमेदा इति दशेमान्युदर्दप्रशमनानि भवन्ति ॥ ६७ ॥

तिंदुक (केंद) चिरौंजी, बेर, खैरसार, सफेद कत्था, सप्तपर्ण, सालवृक्ष, अर्जुनवृक्ष, विजेसार, अरिमेद यह दश औषध उदर्दको शांत करती हैं ॥ ६७ ॥

अंगमर्दनाशक १० द्रव्य ।

विदारिगन्धापृश्निपर्णीबृहतीकण्टकारिकैरण्डकाकोलीचन्दनोशीरैलामधुकानीति दशेमान्यङ्गमर्दप्रशमनानि भवन्ति ॥ ६८ ॥

शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, बडी कटेली, छोटी कटेली, एरंडकी जड, काकोली, चन्दन, उशीर, इलायची, मुलैठी यह दश औषध अंगमर्दको रोकती हैं ॥ ६८ ॥

शूलनाशक १० द्रव्य।

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेरमरिचाजमोदाजगन्धाजाजी गण्डीराणीति दशेमानि शूलप्रशमनानि भवन्ति ॥ ६९ ॥

इति पञ्चकःकषायवर्गः।

पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रक, सोंठ, मिर्च, अजवायन, अजमोद, जीरा, गंडीर यह दश औषध शूलको शांत करतीहैं। यह पांचप्रकारका कषायवर्ग हुआ ॥ ६९ ॥

रुधिरस्थापक १० द्रव्य।

मधुमधुकरुधिरमोचरसमृत्कपाललोध्रगैरिकप्रियङ्गुशर्करालाजा इति दशेमानि शोणितस्थापनानि भवन्ति ॥ ७० ॥

शहद, मुलैठी, रुधिर (रक्तचन्दन या केशर), मोचरस, मट्टीका ठीकरा, लोध, गेरू, प्रियंगु, मिश्री, लाजा (खील) यह दश औषध रुधिरको स्थापन करती हैं॥७०॥

पीडानिवारक १० द्रव्य।

शालकट्फलकदम्बपद्मकतुङ्गमोचरसशिरीषवञ्जुलैलावालुकाशोका इति दशेमानि वेदनास्थापनानि भवन्ति ॥ ७१ ॥

शाल, कायफल, कदंब, पद्मकाष्ठ, नागकेशर, मोचरस, सिरस, बेत, एलवालुक, अशोक यह दश औषधियोंका वर्ग पीडा नष्ट करता है ॥ ७१ ॥

संज्ञास्थापक १० द्रव्य।

हिंगुकैटर्य्यारिमेदवचाजीरकवयःस्थागोलोमीजटिलापलंकषाशोक रोहिण्य इति दशेमानि संज्ञास्थापनानि भवन्ति ॥ ७२ ॥

हींग, कैटर्य (बकायन), अरिमेद, (दुर्गंधिवाला खैर), वच, ग्रंथिपर्ण, ब्राह्मी, जटामांसी, छड़, गूगल, कुटकी यह दश औषध संज्ञास्थापक (बेहोशी दूरकरनेवाले) हैं७२

सन्तानस्थापन १० द्रव्य।

ऐन्द्रीब्राह्मीशतवीर्य्यासहस्रवीर्य्यामोघाव्यथाशिवारिष्टावाट्यपुष्पी- विष्वक्सेनकान्ता इति दशेमानि प्रजास्थापनानि भवन्ति ॥ ७३ ॥

ऐंद्री (इलायची या इंद्रायण), ब्राह्मी, दूर्वा, सफेददूर्वा, पाड़र, आमला, हरड, कुटकी, खैरेटी, प्रियंगु यह दश औषध प्रजास्थापक हैं ॥ ७३ ॥

वयःस्थापन १० द्रव्य।

अमृताभयाधात्रीमुक्ताश्वेताजीवन्त्यतिरसामण्डूकपर्णीस्थिरापुनर्नवा इति दशेमानि वयःस्थापनानि भवन्ति ॥७४॥ इति पंचकः कषायवर्गः ॥

गिलोय, हरड आँवला, रास्ना, सफेद कोयल, जीवन्ती, शतावर, मंजीठ, शालिपर्णी, पुनर्नवा यह दश औषध अवस्था (आयु) को स्थापन करते हैं। यह पांच कषायोंका वर्ग है ॥ ७४ ॥

इति पञ्चकषायशतान्यभिसमस्य पञ्चाशन्महाकषायाः महतांच कषायाणां लक्षणोदाहरणार्थं व्याख्याता भवन्ति ॥ ७५ ॥ न हि विस्तरस्य प्रमाणमस्ति न चाप्यतिसंक्षेपोऽल्पबुद्धीनां सामर्थ्यायोपकल्पते तस्मादनतिसंक्षेपेणानतिविस्तरेण चोद्दिष्टाः । एतावन्तो ह्यल्पबुद्धीनां व्यवहाराय बुद्धिमताञ्च स्वलाक्षण्यानुमानयुक्तिकुशलानामनुक्तार्थज्ञानायेति ॥ ७६ ॥

इस प्रकार यह पांच सौ महाकषाय और इनके लक्षण उदाहरणके लिये कहदिये हैं। क्योंकि यदि इनका विस्तार करनेलगें तो अप्रमाण बढजायँगे। और अत्यन्त संक्षेपसे कहनेसे अल्पबुद्धिवाले समझनेमें असमर्थ होंगे। इसलिये न आति विस्तारसे और न अति संक्षेपसे इन कषायोंका वर्णन करादिया है। इतना कहना ही अल्पबुद्धिवालोंको व्यवहारके लिये उत्तम है और बुद्धिमान् तो लक्षण, अनुमान, युक्ति द्वारा जो विषय कहनेसे रहगया उसको भी समझसकेंगे ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

एवं वादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच । नैतानि भगवन् पञ्चकषायशतानि पूर्य्यन्ते । तानि तानि ह्येवाङ्गानि संप्लवन्ते तेषु तेषु महाकषायेष्विति ॥ ७७ ॥ तमुवाच भगवानात्रेयः । नैतदेवं बुद्धिमता द्रष्टव्यमग्निवेश ! एकोऽपि ह्यनेकां संज्ञां लभते कार्य्यान्तराणि कुर्व्वन् । तद्यथा पुरुषो बहूनां कर्म्मणां करणे समर्थो भवति । स यद्यत्कर्म करोति तस्य तस्य कर्मणः कर्त्तृकरणकार्य्यसंप्रयुक्तं तत्तद्गौणं नामविशेषं प्राप्नोति । तद्वदौषधद्रव्यमपि द्रष्टव्यम् । यदि चैकमेव किञ्चिद् द्रव्यमासादयामस्तथा गुणयुक्तं यत्सर्व्वकर्मणां करणे समर्थं स्यात् कस्ततोऽन्यदिच्छेदुपधारयितुमुपदेष्टुं वा शिष्येभ्य इति ७८॥

इसप्रकार कहतेहुए आत्रेयभगवान्से अग्निवेश कहनेलगे--हे भगवन् ! यह पांचसौ कषाय पूरे नहीं होसकते. क्योंकि, वही २ अंग और कषायोंमें भी हैं। जैसे मुलैठी कइ जगह कषायोंमें गिनी जाचुकी और अलग २ एक एक अंगसे ५०० कषाय पूर्ण करने हैं फिर मुलैठीके कषायको किनमें लियाजाय ? उसीके अनेक जगह आनेसे गणना

भी पूरी नहीं होती ॥ ७७ ॥ यह प्रश्न सुनकर भगवान् आत्रेय कहनेलगे कि, हे अग्निवेश ! बुद्धिमानोंको इस प्रकार कहना उचित नहीं क्योंकि,एक वस्तुभी अलग २ कार्योंके करनेसे अनेकसंज्ञाको प्राप्त होती है। जैसे एकही पुरुष अनेक कर्मोंको अलग २ करनेकी सामर्थ्य रखता है। फिर वह जिस २ समय जिस २ कामको करता है उस २ समय उसी २ कामको करनेवाला होनेसे उसी २ गौण नामको प्राप्त होता है ! उसीप्रकार औषध भी अलग २ कार्य करते अलग २ नामोंको प्राप्त होती हैं। यदि एक ही द्रव्य सब कर्मोंमें गुणकर्ता प्राप्त होजाय और उसीसे सब कार्य सिद्ध होसकें तो फिर और द्रव्योंका अपने शिष्योंको उपदेश करना ही वृथा है (सो इन ५० दशकोंमें एक एक कषायमें अंगभूत होनेसे मधुयष्टी आदिको कहना ही था इन दशों २ को ही कषायत्व है। एक एकमें दश२होनेसे ५००संज्ञा होगई) ॥७८

अध्यायका उपसंहार।

तत्र श्लोकाः—यतो यावन्ति यैर्द्रव्यैर्विरेचनशतानि षट्।

उक्तानि संग्रहेणेह तथैवैषां षडाश्रयाः ॥ ७९ ॥

रसा लवणवर्जाश्च कषाया इति संज्ञिताः।

तस्मात्पञ्चविधा योनिः कषायाणामुदाहृता ॥ ८० ॥

तथा कल्पनमप्येषामुक्तं पञ्चविधं पुनः।

महतां च कषायाणां पञ्चाशत्परिकीर्तिता ॥ ८१ ॥

यहां अध्यायका उपसंहार करते श्लोक कहते हैं। संक्षेपसे ६०० विरेचन संग्रहके लिये कहे हैं और उनके ६ आश्रय कहे हैं। छः रसोंमें नमकको छोड पांच रसोंवाले कषाय होते हैं इसीलिये कषायोंकी पांच प्रकारकी योनि है। इसी प्रकार कषायोंकी कल्पना भी पांचप्रकारकी कही है। और पचास महाकषाय कहे हैं ॥ ७९-८१ ॥

पञ्च चापि कषायाणां शतान्युक्तानि भागशः।

लक्षणार्थं प्रमाणं हि विस्तरस्य न विद्यते ॥ ८२ ॥

फिर उनको ५०० कषायोंमें विभागसे कथन करदिया है लक्षणार्थ कहनेमें विस्तारसे कथन करनेकी आवश्यकता नहीं ॥ ८२ ॥

न चालमतिसंक्षेपः सामर्थ्यायोपकल्प्यते।

अल्पबुद्धेरयं तस्मान्नातिसंक्षेपविस्तरः ॥ ८३ ॥

मन्दानां व्यवहाराय बुधानां बुद्धिवृद्धये।

पञ्चाशत्को ह्ययं वर्गः कषायाणामुदाहृतः ॥ ८४ ॥

और अति संक्षेपसे कहना भी अल्पबुद्धिवालोंके लिये समझनेमें कठिन होगा। इसलिये न अति संक्षेपसे और न विस्तारसे, साधारण मनुष्योंके व्यवहारके लिये और बुद्धिमानोंकी बुद्धिकी वृद्धिके लिये यह पांचसौ कषायोंका वर्ग कहा है॥८३॥८४

तेषां कर्मसु बाह्येषु योगमाभ्यन्तरेषु च।
संयोगं च वियोगञ्च यो वेद स भिषग्वरः॥ ८५ ॥

इति भेषजचतुष्के षड्विरेचनशताश्रितीयो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥

सो जो मनुष्य इन ६०० विरेचनोंका और ५०० कषायोंका बाह्यकर्मोंमें और आभ्यंतर कर्मोंमें संयोग और वियोग भलीप्रकार जानकर उपयोग करता है वही वैद्योंमें श्रेष्ठ है॥ ८५ ॥

इति श्रीचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां पटियालाराज्यांतर्गतटकसालनिवासिवैद्य-पञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्याभाषा-टीकायां षड्विरेचनशताश्रितीयो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः।

अथातो मात्राश्रितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥

अब हम मात्राश्रितीय अध्यायका कथन करतेहैं। ऐसा भगवान् आत्रेय कहनेलगे॥

मात्राविचार।

मात्राशी स्यात्। आहारमात्रा पुनरग्निबलापेक्षिणी॥ यावद्ध्यस्याशनमशितमनुपहत्य प्रकृतिं यथाकालं जरां गच्छति तावदस्य मात्राप्रमाणं वेदितव्यं भवति॥ तत्र शालिषष्टिकमुद्गलावकपिञ्जलैणशशशरभशम्बरादीन्याहारद्रव्याणि प्रकृतिलघून्यपि मात्रापेक्षीणि भवन्ति॥ तथा पिष्टेक्षुक्षीरविकृतिमाषानूपौदकपिशितादीन्याहारद्रव्याणि प्रकृतिगुरूण्यपि मात्रामेवापेक्षन्ते॥ न चैवमुक्ते द्रव्ये गुरुलाघवमकारणं मन्येत। लघूनि हि द्रव्याणि वाय्वग्निगुणबहुलानि भवन्ति। पृथिवीसोमगुणबहुलानीतराणि। तस्मात् स्वगुणादपि लघून्यग्निसन्धुक्षणस्वभावान्यल्पदोषाणि चोच्यन्ते अपिसौ-

हित्योपयुक्तानि गुरूणि पुनर्नाग्निसन्धुक्षणस्वभावान्यसामान्यात् ॥ अतश्चातिमात्रं दोषवन्ति सौहित्योपयुक्तानि अन्यत्र व्यायामाग्नि-बलात् । सैषा भवत्यग्निबलापेक्षिणी मात्रा । नच नापेक्षेत द्रव्यम् । द्रव्यापेक्षया च त्रिभागसौहित्यमर्द्धसौहित्यं वा गुरूणामुपदिश्यते । लघूनामपि च नातिसौहित्यमग्नेर्युक्त्यर्थम् । मात्रावद्ध्यशनमशितम-नुपहत्य प्रकृतिं बलवर्णसुखायुषा योजयत्युपयोक्तारं मनुष्यमिति ॥ १ ॥

मनुष्यको उचित मात्रासे भोजन करना चाहिये । वह मात्रा अर्थात् आहारका परिमाण मनुष्यकी जठराग्निके बलके आधीन है । जो भोजन कियाहुआ मनुष्यके स्वभावमें कुछ फर्क न लावे और ठीक समयपर पचजावे उस मनुष्यके लिये वही परिमित (ठीक मात्रा) भोजन है । शाली चावल, साठी चावल, मूंग, लवा, तित्तर, कृष्णसार, शशा, शरभ, शावर यह स्वभावसे ही हलके होतेहैं । परंतु फिर भी मात्रासे अधिक सेवन करना उचित नहीं । इसीतरह पिष्टपदार्थ, खांड. गुड आदि, दूधका विकार, खोआ, रबडी आदि, उडद और अनूपसंचारी जीवोंका मांस यह स्वभावसे ही गुरु (भारी) हैं । यह भी जितने ठीक पचसकें उतनी मात्रासे सेवन करने चाहिये । यहां पर जा इन द्रव्योंकी गुरुता, लघुता, कहीहै वह निष्प्रयोजन नहीं । क्योंकि जितने हलके पदार्थ हैं उनमें वायु और अग्निका गुण अधिक होताहै । इसप्रकार गुरुपदार्थोंमें पृथ्वीका गुण और सोमगुण अधिक होता है । इसी कारणसे हलके पदार्थ अधिक मात्रासे खाये हुए अपने गुणके सबबसे स्वभावसे ही अग्निदीपन और अल्पदोष होतेहैं । और भारी पदार्थ अग्निसे असमान गुणोंके कारण स्वभावसे ही अग्निके मन्द करनेवाले होतेहैं इसलिये अधिक मात्रासे उपयोग कियेहुए दोषोंको प्रबल करतेहैं । और विना व्यायाम (कसरत) और जठराग्निकी ताकतसे गुरु (भारी) भोजन करना उचित नहीं । आहारकी मात्रा जठराग्निके बल पर निर्भर है, द्रव्यके हलकेभारीपन पर नहीं । असलमें सब पदार्थोंके खानेका क्रम यह है कि जितने हलके पदाथ हैं उनको तीन भाग पेटभरकर खाना हित है । और जितने भारी है उनको आधा पेट भर कर खाना हित है और हलका पदार्थ भी अधिक पेट भरकर खाना--जठराग्निको मन्द करताहै । ठीक मात्रासे किया भोजन प्रकृति (स्वभाव) को नही विगाडता इसलिये ठीकमात्रासे कियाहुआ भोजन मनुष्योंको बल, वर्ण, सुख, आयु इनको देनेवाला होताहै ॥ १ ॥

भोजन करने पर तुरत भोजन निषेध ।

भवन्ति चात्र ॥ गुरु पिष्टमयं तस्मात्तण्डुलान् पृथुकानपि ।
न जातु भुक्तवान् खादेन्मात्रां खादेद्बुभुक्षितः ॥ २ ॥

अब यहां कहतेहैं कि, जब तक पहले कियाहुआ आहार पाचन न होलेवे तब तक उसके ऊपर कोई भारी पदार्थ या पिष्टपदार्थ (मैदा, पिष्टी आदि) खीर, चावल, चिड़ुवा, कदापि न खावे। जब अन्न जीर्ण होकर भूख लगी हो तब परिमाणसे भोजन करे ॥ २ ॥

न खानेयोग्य पदार्थ।

वल्लूरं शुष्कशाकानि शालूकानि बिसानि च।
नाभ्यस्येद्गौरवान्मांसं कृशं नैवोपयोजयेत् ॥ ३ ॥
कूर्चिकांश्च किलाटांश्च शौकरं गव्यमांहिषे।
मत्स्यान् दधि च माषांश्च यवकांश्च न शीलयेत् ॥ ४ ॥

शुष्क मांस, शुष्कशाक, शालूक (कमलकी डंडी), बिस, अनूपादिमांस इन सबको भारी होनेके कारण नित्य खानेका अभ्यास न करे और रोगादिसे सूखे जीवका मांस न खाय। छाछसे तथा और तरहसे फटाहुआ दूध, सूअरका मांस, गोमांस, (भैंसका मांस) इनको कभी भी ग्रहण न करे। मछली, दही, उडद, जौ इनको नित्य खानेका अभ्यास न करे ॥ ३--४ ॥

सेवन योग्य पदार्थ।

षष्टिकाञ्शालिमुद्गांश्च सैन्धवामलके यवान्।
आन्तरिक्षं पयः सर्पिर्जाङ्गलं मधु चाभ्यसेत् ॥ ५ ॥
तच्च नित्यं प्रयुञ्जीत स्वास्थ्यं येनानुवर्त्तते।
अजातानां विकाराणामनुत्पत्तिकरञ्च यत् ॥ ६ ॥

सट्ठीके चावल, शाली चावल, मूँग, सेंधानमक, आमले, गेहूं, अगस्त्योदयसे शुद्ध आकाशका जल, दूध, घी, जांगलपदार्थ, सहद इनको नित्य खायाकरे। जो द्रव्य देहकी स्वस्थावस्थाको न बिगाडे और रोगोंको उत्पन्न न करे वह पदार्थ खाना चाहिये ॥ ५ ॥ ६ ॥

अत ऊर्द्ध्वं शरीरस्य कार्य्यमभ्यञ्जनादिकम्।
स्वस्थवृत्तमभिप्रेत्य गुणतः संप्रवक्ष्यते ॥ ७ ॥

अब इसके उपरांत स्वस्थताकी रक्षाके लिये अभ्यंजनादि शरीरके कृत्य और उनके गुणोंका कथन करतेहैं ॥ ७ ॥

---

१ आमिषमिति पाठान्तरम्।

अंजन लगाना ।

सौवीरमञ्जनं नित्यं हितमक्ष्णोः प्रयोजयेत् ।
पञ्चरात्रेऽष्टरात्रे वा स्रावणार्थं रसाञ्जनम् ॥ ८ ॥

सफेद सुर्मा शुद्धतापूर्वक बनाया हुआ नित्यप्रति दोनों नेत्रोंमें डालना नेत्रोंको हितकारी है । और पांचवीं या आठवीं रात्रीमें आंखोंसे जल निकालनेके लिये रसोंत डालना चाहिये ॥ ८ ॥

दिनमें लेखन अंजनका निषेध ।

न हि नेत्रामयं तस्य विशेषाच्छ्लेष्मतो भयम् ।
दिवा तन्न प्रयोक्तव्यं नेत्रयोस्तीक्ष्णमञ्जनम् ॥ ९ ॥
विरेकदुर्बला दृष्टिरादित्यं प्राप्य सीदति ।
तस्मात् स्राव्यं निशायान्तु ध्रुवमञ्जनमिष्यते ॥ १० ॥
ततः श्लेष्महरं कर्म हितं दृष्टेः प्रसादनम् ॥ ११ ॥

ऐसा करनेसे मनुष्यको नेत्ररोगका आंखोंमें नजला आनेका भय नहीं होता । नेत्रोंको स्रावित करनेवाला तीक्ष्ण अंजन दिनमें नहीं डालना चाहिये. क्योंकि, नेत्रोंका जल निकलकर निर्मल नेत्रोंमें सूर्यका प्रकाश लगनेसे दृष्टि कमजोर पडजाती है । इसलिये जल निकालनेवाला अंजन रात्रीको ही डालना चाहिये । और इसी कारणसे कफको नष्ट करनेवाला तीक्ष्ण अंजन रात्रिमें डालना नेत्रोंकी ज्योतिको प्रसन्न रखता है ॥ ९-११ ॥

अंजनके गुण ।

यथा हि कनकादीनां मलिनां विविधात्मनाम् ।
धौतानां निर्मला शुद्धिस्तैलचेलकचादिभिः ॥ १२ ॥
एवं नेत्रेषु मर्त्यानामञ्जनाश्च्योतनादिभिः ।
दृष्टिर्निराकुला भाति निर्मले नभसीन्दुवत् ॥ १३ ॥

जैसे सुवर्णादि धातु तेल कपडा बाल आदिके संयोगसे धुलकर स्वच्छ होजाते हैं ऐसे ही मनुष्योंके नेत्र अंजन और आश्च्योतन आदि कर्मसे स्वच्छ होकर जैसे निर्मल आकाशमें चन्द्रमा प्रकाशमान होता है ऐसे निर्मल प्रकाशमान नेत्र रहते हैं॥१२॥१३॥

नजलानाशक धूमपान ।

हरेणुकां प्रियङ्गुं च पृथ्वीकां केशरं नखम् ।
ह्रीवेरं चन्दनं पत्रं त्वगेलोशीरपद्मकम् ॥ १४ ॥

ध्यामकं मधुकं मांसी गुग्गुल्वगुरुशर्करम्।
न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षलोध्रत्वचः शुभाः ॥ १५ ॥
वन्यं स्वर्जरसं मुस्तं शैलेयं कमलोत्पले।
श्रीवेष्टकं शल्लकीञ्च शुकबर्हमथापि च ॥ १६ ॥
पिष्ट्वा लिम्पेच्छिरेषिकां तां वर्त्तिं यवसंनिभाम्।
अंगुष्ठसंमितां कुर्य्यादष्टांगुलसमां भिषक् ॥ १७ ॥
शुष्कां विगर्भां तां वर्त्तिं धूमनेत्रार्पितां नरः।
स्नेहाक्तामग्निसंप्लुष्टां पिबेत्प्रायोगिकीं सुखाम् ॥ १८ ॥

रेणुक, प्रियंगु, कालाजीरा, नागकेशर, नख, सुगन्धवाला, चन्दन, तेजपत्र, तज, इलायची, खस, पद्माख, रोहिषतृण, मुलैठी, जटामांसी, गुग्गुल, अगर, मिश्री, बड़-गूलर, पीपलवृक्ष, प्लक्ष, पठानीलोध, वंशलोचन, बडा नरसल, राल, मोथा, छारछबीला, कमल, उत्पल, सरलका गोंद, छल्लवृक्ष, शुकबर्ह (सिरस या ग्रन्थिवर्ण) इन सबको पीसकर आठ अंगुल लंबे काने (सरपतेकी सींख) पर एक जौके समान मोटा लेप करके अंगूठेके समान मोटा करके सुखालेवे सूखनेपर उसमेंसे सींख निकालडाले फिर इस बत्तीको घीमें भिगोकर एकतर्फसे नालमें लगादे दूसरी तर्फसे आग लगादेवे फिर इसके धूमको पान करे यह धूम नजलेको नष्ट करता है ॥ १४-१८ ॥

वसाघृतमधूच्छिष्टैर्युक्तियुक्तैर्वरौषधैः।
वर्तिं मधुरकैः कृत्वा स्नैहिकीं धूममाचरेत् ॥ १९ ॥

चर्बी, घी, मोम और जीवनीय दश औषधि इनको मिलाकर इनका धूम पीवे इसको स्नैहिक धूमपान कहते हैं ॥ १९ ॥

शिरोविरेचन धूम।

श्वेता ज्योतिष्मती चैव हरितालं मनःशिला।
गन्धाश्चागुरुपत्राद्या धूमो मूर्द्धविरेचनम् ॥ २० ॥

सफेद कोयल, मालकांगुनी, हरिताल, मनासिल, अगर, पत्रजआदि गन्धद्रव्य मिलाकर बत्ती बनावे इसका धूआं पीनेसे शिरका विरेचन होता है ॥ २० ॥

धूम्रपानके गुण।

गौरवं शिरसः शूलं पीनसार्द्धावभेदकौ।
कर्णाक्षिशूलं कासश्च हिक्काश्वासौ गलग्रहः ॥ २१ ॥

दन्तदौर्बल्यमास्रावः श्रोत्रघ्राणाक्षिदोषजः ।
पूतिघ्राणास्यगन्धश्च दन्तशूलमरोचकः ॥ २२ ॥
हनुमन्याग्रहः कंडूः क्रिमयः पाण्डुता मुखे ।
श्लेष्मप्रसेको वैस्वर्य्यं गलशुण्ड्यपजिह्विका ॥ २३ ॥
खालित्यं पिञ्जरत्वञ्च केशानां पतनन्तथा ।
क्षवथुश्चातितन्द्रा च बुद्धेर्मोहोऽतिनिद्रता ॥ २४ ॥
धूमपानात्प्रशाम्यन्ति बलं भवति चाधिकम् ।
शिरोरुहकपालानामिन्द्रियाणां स्वरस्य च ॥ २५ ॥
न च वातकफात्मानो बलिनोऽप्यूर्ध्वजत्रुजाः ।
धूमवक्त्रकपानस्य व्याधयः स्युः शिरोगताः ॥ २६ ॥

धूआं पीनेसे भारीपन, मस्तक पीडा पीनस, अर्धावभेदक, कानकी पीडा, नेत्रपीडा, खांसी, हिचकी, श्वास, गलेका रुकना, दांतोंकी दुर्बलता, रोममार्गका बंद होना, कान नासिका और नेत्रोंका बहना तथा दुर्गंधि, दन्तपीडा, अरोचक, हनुग्रह, मन्यास्तंभ, खाज, कृमि, पांडु, मुखसे कफका गिरना, स्वरभंग, गलशुंडी, उपजिह्व, खालित्य, बालोंका पीलापन व गिरना, छींक, तन्द्रा, बेहोशी, अतिनिद्रा यह सब नष्ट होतेहैं । और बाल, शिर, इंद्रिय, स्वर इनका बल बढताहै । जो मनुष्य मुखसे धुँएंको पीकर नासिका द्वारा निकालताहै उस मनुष्यके ऊर्ध्वजत्रुवोंमें वात कफके बलवान् रोग नहीं होते और शिरमें होनेवाली वात कफकी व्याधियें नहीं होतीं ॥२१-२६ ॥

धूमपानके काल।

प्रयोगपाने तस्याष्टौ कालाः सम्परिकीर्त्तिताः ।
वातश्लेष्मसमुत्क्लेशः कालेष्वेषु हि लक्ष्यते ॥ २७ ॥
स्नात्वा भुक्त्वा समुल्लिख्य क्षुत्वा दन्तान् विघृष्य च ।
नावनाञ्जननिद्रान्ते चात्मवान् धूमपो भवेत् ॥ २८ ॥
तथा वातकफात्मानो न भवन्त्यूर्ध्वजत्रुजाः ।
रोगास्तस्य तु पेयाः स्युरापानास्त्रिस्त्रयस्त्रयः ॥ २९ ॥
परं द्विकालपायी स्यादह्नः कालेषु बुद्धिमान् ।
प्रयोगे स्नैहिके त्वेवं विरेच्यं त्रिश्चतुः पिबेत् ॥ ३० ॥

धुँएंके पीनेके आठ काल हैं क्योंकि वात कफके बलवान् होनेके भी यही आठ काल हैं । स्नान करके, भोजन करके, वमन करके, छींकें लेकर, दतौनके पीछे, नास लेनेके पीछे, अंजन करके और सोकर उठके बुद्धिमान् मनुष्य धूमपान करे । इस प्रकार धूमपान करनेसे ऊर्द्ध्वजत्रु (गर्दनसे ऊपर) के होनेवाले वात और कफके रोग कभी नहीं होते । यह धूमपानके आठ काल कहे हैं, इनमें एक एक समय तीन २ बार धूमपान करना चाहिये । यही धूमपानका क्रम है । यद्यपि धूमपानके आठ समय कहे गये तथापि एक दिनमें प्रायोगिक धूम दो समय, स्नैहिक धूम एक बार, विरेचन धूम एकदिनमें तीन चार बार पीवे ॥ २७--३० ॥

उचित धूमपानके लक्षण ।

हृत्कण्ठेन्द्रियसंशुद्धिर्लघुत्वं शिरसः शमः ।
यथेरितानां दोषाणां सम्यक् पीतस्य लक्षणम् ॥ ३१ ॥

उत्तम रीतिसे धूम्रपान किया- हृदय, कंठ, इंद्रिय इनकी शुद्धि करता है और शिरमें हलकापन लाता है तथा सब दोषोंको चलायमान कर यथास्थानमें ठीक करदेता है यह अच्छे धूमपानके लक्षण हैं ॥ ३१ ॥

असमय धूमपानके उपद्रव ।

बाधिर्य्यमान्ध्यं मूकत्वं रक्तपित्तं शिरोभ्रमम् ।
अकाले चातिपीतश्च धूमः कुर्य्यादुपद्रवान् ॥ ३२ ॥

अकाल धूमपान और अतिधूमपान कियाहुआ-बाधिर्य, जडता, मूकता, रक्तपित्त, शिरमें चक्कर इन उपद्रवोंको पैदा करता है ॥ ३२ ॥

उपद्रवशान्तिके उपाय ।

तत्रेष्टं सर्पिषः पानं नावनाञ्जनतर्पणम् ।
स्नैहिकं धूमजे दोषे वायुः पित्तानुगो यदि ॥ ३३ ॥
शीतन्तु रक्तपित्ते स्याच्छ्लेष्मपित्ते विरूक्षणम् ।
परन्त्वतः प्रवक्ष्यामि धूमो येषां विगर्हितः ॥ ३४ ॥

धूम्रपानसे हुए उपद्रवोंको शांत करनेके लिये घी पिलाना, नस्य, अंजन और तर्पण करना हित है । यदि धूमपानसे वात पित्त कुपित हों तो चिकनी क्रिया करनी चाहिये । यदि रक्तपित्त कुपित हो तो शीतल क्रिया करनी और कफ पित्त कुपित हों तो रूक्ष क्रिया करना हित है । अब जिनको धूमपान न करना चाहिये उनको कहते हैं ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

धूमपानके अनधिकारी ।

न विरिक्तः पिबेद्धूमं न कृते बस्तिकर्मणि ।
न रक्ती न विषेणार्त्तो न शोची न च गर्भिणी ॥ ३५ ॥

दस्त कराये हुए मनुष्यको धूमपान न करना चाहिये तथा बस्तिकर्मके पीछे, रक्त-विकारवाला, विषार्त, शोकातुर, गर्भवती स्त्री यह सब धूमपान न करें ॥ ३५ ॥

न श्रमे न मदे नामे न पित्ते न प्रजागरे ।
न मूर्च्छाभ्रमतृष्णासु न क्षीणे नापि च क्षते ॥ ३६ ॥
न मद्यदुग्धे पीत्वा च न स्नेहं न च माक्षिकम् ।
धूमं न भुक्त्वा दध्ना च न रूक्षः क्रुद्ध एव च ॥ ३७ ॥
न तालुशोषे तिमिरे शिरस्यभिहते न च ।
न शंखके न रोहिण्यां न मेहे न मदात्यये ॥ ३८ ॥
एषु धूममकालेषु मोहात्पिबति यो नरः ।
रोगास्तस्य प्रवर्द्धन्ते दारुणा धूमविभ्रमात् ॥ ३९ ॥

एवं श्रमयुक्त, मद्य पीकर, आमाजीर्णवाला, पित्तकी कुपित अवस्थामें रात्रिमें जागाहुआ, यह भी धूमपान न करे । ऐसे ही मूर्च्छा, भ्रम, तृषा, क्षतक्षीण इनसे ग्रसित मनुष्य, और मद्य, दूध, स्नेह, शहद इनको पानकर भी धूम न पीवे । दही खाकर, रूक्ष, क्रोधयुक्त, तालुशोषी, तिमिररोगी, जिसके सिरमें चोट लगीहो, कनपटीके रोगवाला, रोहिणीरोगमें, प्रमेहमें, मदात्ययमें, इनमेंभी धूमपान न करे। जो मनुष्य इन वर्जित रोगोंमें और अकालमें मोहवश धूमको पान करता है उस मनुष्यको धूमपानकी खराबीसे दारुण रोग वृद्धिको प्राप्त होते हैं ॥ ३६–३९ ॥

विशेष रोगोंमें विशेष स्थानोंसे धूमपान ।

धूमयोग्यः पिबेद्दोषे शिरोघ्राणाक्षिसंश्रये ।
घ्राणेनास्येन कण्ठस्थे मुखेन घ्राणपो वमेत् ॥ ४० ॥
आस्येन धूमकवलान्पिबन्घ्राणेन नोद्वमेत् ।
प्रतिलोमं गतो ह्याशु धूमो हिंस्याद्धि चक्षुषी ॥ ४१ ॥
ऋज्वङ्गचक्षुस्तच्चेताः सूपविष्टस्त्रिपर्ययम् ।
पिबेच्छिद्रं पिधायैकं नासया धूममात्मवान् ॥ ४२ ॥

जिसके मस्तक, नाक, नेत्रोंको वातादि दोष आक्रमण करलेवे तो धूमपानयोग्य वह मनुष्य नासिकाद्वारा धूमपान करके मुखमेंको धूम निकालदेवे। किंतु मुखद्वारा धूम पीकर नाकद्वारा न निकाले क्योंकि प्रतिलोम होकर धूम नेत्रोंको बिगाडदेता है सब अंगोंको नरम करके सुखपूर्वक बैठा हुआ धूमपानमें मन लगाकर नाकका एक छिद्र बंदकर दूसरे छिद्र द्वारा बुद्धिमान् मनुष्य तीन बार धूम्रपान करे ॥ ४०--४२ ॥

नेचा प्रमाण।

चतुर्विंशतिकं नेत्रं स्वांगुलीभिर्विरेचने।
द्वात्रिंशदंगुलं स्नेहे प्रयोगेऽध्यर्द्धमिष्यते ॥ ४३ ॥
ऋजु त्रिकोषाफलितं कोलास्थ्यग्रप्रमाणितम्।
बस्तिनेत्रसमद्रव्यं धूमनेत्रं प्रशस्यते ॥ ४४ ॥
दूराद्विनिर्गतः पर्वच्छिन्नो नाडीतनूकृतः।
नेन्द्रियं बाधते धूमो मात्राकालनिषेवितः ॥ ४५ ॥
यदा चोरश्च कण्ठश्च शिरश्च लघुतां व्रजेत्।
कफश्च तनुतां प्राप्तः सुपीतं धूममादिशेत् ॥ ४६ ॥

विरेचन धूम्रमें २४ अंगुल लंबी नाली लेना चाहिये। स्नेह धूम्रपानमें ३२ अंगुली और प्रायौगिक धूम्रपानमें १६ अंगुलकी नली लेवे धूम्रपानकी नली मुखकी तर्फसे क्रमपूर्वक सीधी होनी चाहिये, इसके जोडमें भीतर छिद्र रहना चाहिये। इसमें तीन टुकडे होते हैं इसकी नलीका छिद्र बेरकी गुठलीके समान होना चाहिये। जिन द्रव्योंसे वस्तीके नेत्र बनते हैं उनहींसे धूमनेत्र बनाए जाते हैं दूसरे निकलकर खिंचता हुआ धूम नालके जोडमेंको होता हुआ बंधकर नलीकी ओर आवे ऐसी नली लेना चाहिये। इस प्रकार मात्रा और कालके अनुसार पीया हुआ धूम इंद्रियोंको बाधा नहीं करता। धूम पान करते जब--छाती, कंठ, मस्तक, यह हलके प्रतीत होनेलगे और कफ पतला होकर निकलने लगे तो जानना कि ठीक धूमपान किया गया ॥ ४३--४६ ॥

धूमपान ठीक न होनेके दोष।

अविशुद्धः स्वरो यस्य कंठश्च सकफो भवेत्।
स्तिमितो मस्तकश्चैवमपीतं धूममादिशेत् ॥ ४७ ॥
तालु मूर्द्धा च कण्ठश्च शुष्यते परितप्यते।
तृष्यते मुह्यते जन्तू रक्तञ्च स्रवतेऽधिकम् ॥ ४८ ॥

---

१ त्रिकोषमच्छिद्रमिति पाठान्तरम्।

यदि धूमपानसे स्वर शुद्ध न हो (बिगडजाय) कंठमें कफ बोले, मस्तक भारी होजाय, तो समझो कि धूम ठीक नहीं पीयागया । अति धूम्रपानसे--तालु, मूर्द्धा, कंठ, यह सूखने लगते हैं, और तपने लगते हैं, प्याससे और चक्कर आनेसे जीव व्याकुल होने लगता है लोहू गिरने लगता है ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

शिरश्च भ्रमतेऽत्यर्थं मूर्च्छा चास्योपजायते ।
इन्द्रियाण्युपतप्यन्ते धूमेऽत्यर्थं निषेविते ॥ ४९ ॥

शिरमें बहुत चक्कर आने लगते हैं, मूर्च्छा आने लगती है सब इंद्रियें व्याकुल हो जाती हैं, इस प्रकारके उपद्रव होते हैं ॥ ४९ ॥

अणुतैलका प्रयोग ।

वर्षेवर्षेऽणुतैलञ्च कालेषु त्रिषु नाचरेत् ।
प्रावृट्शरद्वसन्तेषु गतमेघे नभस्तले ॥ ५० ॥

अत्यंत धूमपानसे यदि देहके छिद्रोंसे रुधिर निकलनेलगे तो अणुतैलका शरीरपर मालिश करावे । परन्तु वर्षा, शरद, वसंत इन ऋतुओंमें अणुतैल न लगावे और मेघाच्छन्न आकाशके दिन भी अणुतैल न लगावे ॥ ५० ॥

अणुतैलकी नस्यके गुण ।

नस्यकर्म्म यथाकालं यो यथोक्तं निषेवते ।
न तस्य चक्षुर्न घ्राणं न श्रोत्रमुपहन्यते ॥ ५१ ॥
न स्युः श्वेता न कपिलाः केशाः श्मश्रूणि वा पुनः ।
न च केशाः प्रलुप्यन्ते वर्द्धन्ते च विशेषतः ॥ ५२ ॥
मन्यास्तम्भः शिरःशूलमर्दितं हनुसंग्रहः ।
पीनसार्द्धावभेदौ च शिरःकम्पश्च शाम्यति ॥ ५३ ॥
शिराः शिरःकपालानां सन्धयः स्नायुकण्डराः ।
नावनप्रीणिताश्चास्य लभन्तेऽभ्यधिकं बलम् ॥ ५४ ॥
मुखं प्रसन्नोपचितं स्वरः स्निग्धः स्थिरो महान् ।
सर्वेन्द्रियाणां वैमल्यं बलं भवति चाधिकम् ॥ ५५ ॥
न चास्य रोगाः सहसा प्रभवन्त्यूर्द्ध्वजत्रुजाः ।
जीर्य्यतश्चोत्तमाङ्गे च जरा न लभते बलम् ॥ ५६ ॥

जो मनुष्य शास्त्रोक्त रीतिसे विधिपूर्वक ठीक समय नसवार लेता है उसके नेत्र, नासिका और कानोंकी शक्ति कभी नष्ट नहीं होती। और केश, डाढी, मूँछ सफेद तथा पीले नहीं होते और बाल बढते हैं। कभी उखडकर नहीं गिरते। उस मनुष्यके मन्यास्तंभ, शिरकी पीडा, अर्दितवायु, हनुस्तंभ, पीनस, अधासिरा, शिरका कांपना यह सब रोग शांत होते हैं। और उचित नस्यके फलसे मनुष्यके मस्तक और कपालकी शिरा, संधि, स्नायु, कंडरा, तृप्त हो बलवान् होती है मुख प्रसन्न और शुद्ध रहता है। आवाज तर और बलवान् हो जाती है। सब इंद्रियें निर्मल और अधिक बलवाली होतीहैं। और गलेसे ऊपर होनेवाले रोग अपना प्रभाव नहीं दिखाते बुढापा आनेपर भी इसके बाल सफेद नहीं होते ॥ ५१-५६ ॥

अणुतैल विधि।

चन्दनागुरुणी पत्रं दार्वीत्वक् मधुकं बलाम्।
प्रपौण्डरीकं सूक्ष्मैलां विडङ्गं बिल्वमुत्पलम् ॥ ५७ ॥
ह्रीवेरमभयं वन्यं त्वङ्मुस्तं सारिवां स्थिराम्।
सुराह्वां पृश्निपर्णीञ्च जीवन्तीञ्च शतावरीम् ॥ ५८ ॥
हरेणुं बृहतीं व्याघ्रीं सुरभीं पद्मकेशरम्।
विपाचयेच्छतगुणे माहेन्द्रे विमलेऽम्भसि ॥ ५९ ॥
तैलाद्दशगुणं शेषं कषायमवतारयेत्।
तेन तैलं कषायेण दशकृत्वो विपाचयेत् ॥ ६० ॥
अथास्य दशमे पाके समांशं छागलं पयः।
दद्यादेषोऽणुतैलस्य नावनीयस्य संविधिः ॥ ६१ ॥
तस्य मात्रां प्रयुञ्जीत तैलस्यार्द्धपलोन्मिताम्।
स्निग्धस्विन्नोत्तमाङ्गस्य पिचुना नावनैस्त्रिभिः ॥ ६२ ॥
त्र्यहात्र्यहाच्च सप्ताहमेतत्कर्म्म समाचरेत्।
निवातोष्णसमाचारी हिताशी नियतेन्द्रियः ॥ ६३ ॥

अणुतैलकी विधि लिखते हैं-चंदन, अगर, तेजपत्र, दारुहलदी, दालचीनी, मुलैठी, खरैंटी, पंडचारा छोटी, इलायची, बायविडंग, बेलगिरी, कमल, नेत्रवाला, खस, केवटीमोथा, तज, नागरमोथा, शारिवा, शालिपर्णी, देवदारु, पृष्ठपर्णी, जीवंती, शतावर, रेणुका, बडी कटेली, छोटी कटेली, शल्लकी, कमलकी केशर इन सब औषधि-

योंको कूटकर सौगुने वर्षाके निर्मल जलमें पकावे जब चतुर्थांशशेष रहे तो उतारकर छानले फिर इससे दशवां हिस्सा तेल लेकर उसमें तेलकी बराबर क्काथ डालकर पकावे पानी जलकर तेल रहनेपर एक भाग क्काथ फिर मिलावे इसी प्रकार दशबारमें सब क्काथ तेलमें जलादे परन्तु दशवीं बार इसमें बराबरका बकरीका दूध डालकर पकावे तेलमात्र शेष रहनेपर छानले इस तेलको अणु (सूक्ष्म) तेल कहते हैं। इसके नस्यकी यह विधि है—दो तोला तेल लेकर पहले मस्तकको स्निग्ध करे फिर मस्तकको पसीना दे फिर तीन २ दिनके अन्तरसे रुईके फोहेके साथ इस तेलकी नसवार देवे इस प्रकार एक सप्ताह करे और नस्य लेनेके पीछे हवासे बचकर रहे, गर्मजलका व्यवहार करे, पथ्य और मित भोजन करे, जितेन्द्रिय रहे ॥ ५७–६३ ॥

अणुतैलके गुण।

तैलमेतत्त्रिदोषघ्नमिन्द्रियाणां बलप्रदम्।
प्रयुञ्जानो यथाकालं यथोक्तानश्नुते गुणान् ॥ ६४ ॥

यह तेल त्रिदोषनाशक है और इंद्रियोंको बल देता है। यह उचित रीतिसे काल आदि विचारकर सेवन कियाहुआ अनेक गुणोंको करता है ॥ ६४ ॥

दन्तधावन।

आपोथिताग्रं द्वौ कालौ कषायं कटुतिक्तकम्।
भक्षयेद्दन्तपवनं दन्तमांसान्यबाधयन् ॥ ६५ ॥

नित्य प्रातः और सायंकाल दोनों समय कूचीयुक्त नरम दतौन करे। दतौन कषैले, कडुए, चरपरे वृक्षकी होनी चाहिये। इसकी नरम कूचीसे एक २ दांतको इस प्रकार साफ करे जिससे मसूडे न छिलजायँ ॥ ६५ ॥

दन्तधावनके गुण।

निहन्ति गन्धवैरस्यं जिह्वादन्तास्यजं मलम्।
निष्कृष्य रुचिमाधत्ते सद्यो दन्तविशोधनम् ॥ ६६ ॥

दतौन करना मुखकी दुर्गन्धि और विरसताको दूर करता है तथा जीभ, दांत और मुखकी मैलको दूर करता है और रुचिको उत्पन्न करता है। दातोंको शीघ्र साफ करता है ॥ ६६ ॥

सुवर्णादिकी जिभ्भी।

सुवर्णरूप्यताम्राणि त्रपुरीतिमयानि च।
जिह्वानिर्लेखनानि स्युरतीक्ष्णान्यनृजूनि च ॥ ६७ ॥

जीभका मैल दूर करनेको सुवर्ण, चांदी, ताँबा, शीशा, पीतल इनमेंसे किसीकी जिम्भी होनी चाहिये वह टेढी कुछ २ नरम, जो जीभको न काटडाले ऐसी होनी चाहिये ॥ ६७ ॥

जिह्वाकी स्वच्छतासे लाभ।

जिह्वामूलगतं यच्च मलमुच्छ्वासरोधि च।
सौगन्ध्यं भजते तेन तस्माज्जिह्वां विनिर्लिखेत् ॥ ६८ ॥

उससे जीभका मैल दूर करे (कोई वृक्षकी भी मानते हैं) जीभका मैल उतारनेसे श्वासको रोकनेवाला मल दूर होकर मुख सुगंधित होता है इसलिये जीभका मैल उतारडाले ॥ ६८ ॥

दन्तधावनके लिये श्रेष्ठवृक्ष।

करञ्जकरवीरार्कमालतीककुभासनाः।
शस्यन्ते दन्तपवने ये चाप्येवंविधा द्रुमाः ॥ ६९ ॥

दतौन, कंजा, कनेर, आक, मालती, कोह, विजेसार तथा और भी गुणदोषादि विचार कर ऐसे वृक्षकी सीधी नरम टहनीकी करनी चाहिये ॥ ६९ ॥

लवंगादि मुखमें रखनेके लाभ।

धार्य्याण्यास्येन वैशद्यरुचिसौगन्ध्यमिच्छता।
जातीकटुकपूगानां लवङ्गस्य फलानि च ॥ ७० ॥
कक्कोलस्य फलं पत्रं ताम्बूलस्य शुभं तथा।
तथा कर्पूरनिर्य्यासः सूक्ष्मैलायाः फलानि च ॥ ७१ ॥

मुखकी शुद्धि, रुचि और सुगंधिकी इच्छा करनेवाले मनुष्यको जायफल, लताकस्तूरी, सुपारी, लौंग, कंकोल, शुद्ध पान, कपूर, छोटी इलायची इनको मुखमें धारण करना चाहिये ॥ ७० ॥ ७१ ॥

तैलगण्डूषका फल।

हन्वोर्बलं स्वरबलं वदनापचयः परः।
स्यात्परश्च रसज्ञानमन्ने च रुचिरुत्तमा ॥ ७२ ॥
न चास्य कण्ठशोषः स्यान्नौष्ठयोः स्फुटनाद्भयम्।
न च दन्ताः क्षयं यान्ति दृढमूला भवन्ति च ॥ ७३ ॥

मुखमें तेलको धारण करके कुल्ले करदेना ठोडीको बल देता है स्वरको बलवान् करता है। मुखकी पुष्टि, रसका परिज्ञान और अन्नमें परमरुचिको पैदा करता है ॥

तथा मुख और कण्ठका सूखना, होंठोंका फटना यह कदापि नहीं होता। और दांत गिरते नहीं उनकी जडें दृढ होजाती हैं ॥ ७२ ॥ ७३ ॥

न शूलन्ते न चाम्लेन हृष्यन्ते भक्षयन्ति च।
खरानपि परान्भक्ष्यान्तैलगण्डूषसेवनात् ॥ ७४ ॥

तथा दांतोंमें पीडा नहीं होती और खट्टे पदार्थके खानेसे दांत खट्टे नहीं होते और बहुत कडी वस्तुको भी तोडसकें यह मुखमें तेल धारणकरनेका फल है ॥ ७४ ॥

शिरमें तेल मर्दनके गुण।

नित्यं स्नेहार्द्रशिरसः शिरःशूलं न जायते।
न खालित्यं न पालित्यं न केशाः प्रपतन्ति च ॥ ७५ ॥
बलं शिरःकपालानां विशेषेणाभिवर्द्धते।
दृढमूलाश्च दीर्घाश्च कृष्णाः केशा भवन्ति च ॥ ७६ ॥
इन्द्रियाणि प्रसीदन्ति सुत्वग्भवति चामलम्।
निद्रालाभः सुखं च स्यान्मूर्ध्नि तैलनिषेवणात् ॥ ७७

प्रतिदिन मस्तकमें तेल डालनेसे–मस्तकपीडा, खालित्य (गंज) बालोंका सफेद होना, बालोंका टूटना यह कभी नहीं होते। और मस्तक तथा कपालमें बल आता है। केश चिकने, दृढमूल, लंबे, और काले होते है तेलको शरीरपर मालिस करना सब इंद्रिय और त्वचाको प्रसन्न और नरम करता है तथा निद्राको और सुखको देता है ॥ ७५ ॥ ७७ ॥

कर्ण और शरीरमें तेलसे लाभ।

न कर्णरोगा वातोत्था न मन्याहनुसंग्रहः।
नोच्चैःश्रुतिर्न बाधिर्य्यं स्यान्नित्यं कर्णतर्पणात् ॥ ७८ ॥
स्नेहाभ्यङ्गाद्यथा कुम्भश्चर्म स्नेहविमर्दनात्।
भवत्युपाङ्गो दक्षश्च दृढः क्लेशसहो यथा ॥ ७९ ॥
तथा शरीरमभ्यङ्गाद्दृढं सत्वक् प्रजायते।
प्रशान्तमारुताबाधं क्लेशव्यायामसंग्रहम् ॥ ८० ॥
स्पर्शने चाधिको वायुः स्पर्शनञ्च त्वगाश्रितम्।
त्वच्यश्च परमोऽभ्यङ्गस्तस्मात्तं शीलयेन्नरः ॥ ८१ ॥

न चाभिघाताभिहतं गात्रमभ्यङ्गसेविनः ।
विकारं भजतेऽत्यर्थं बलकर्मणि वा क्वचित् ॥ ८२ ॥
सुस्पर्शोपचिताङ्गश्च बलवान् प्रियदर्शनः ।
भवत्यभ्यङ्गनित्यत्वान्नरोऽल्पोजर एव च ॥ ८३ ॥

प्रतिदिन कानोंमें तेल डालना-वातजनित कानके रोग, मन्यास्तंभ, हनुस्तम्भ ऊंचा सुनना और बहरापन इनको दूर करता हैं ॥ चिकनाईके संयोगसे जैसा घड़ा मजबूत होता है और चमड़ा नरम होता है, तथा रथका पहिया मजबूत और घूमनेवाला होता है, ऐसे ही स्नेह मर्दनसे शरीर भी मजबूत, नरम क्लेशसहनकी शक्तिवाला दृढ होजाता है, बादी नष्ट होकर रोग रहित होजाता है क्लेश और श्रमको सह सकता है। स्पर्शमें वायुकी अधिकता है और वह स्पर्श त्वचाके आधीन है। तेलका मालिश करना त्वचाको बलवान् करता है इसलिये मालिस करनेका नित्य अभ्यास करे नित्य स्नेह मर्दन करनेवालेके शरीरमें चोट आदि असर नहीं करती। कहीं जोरका काम करनेमें इसको कष्ट नहीं होता और उत्तम नरम अंगोंवाला, बलवान्, खूबसूरत, बुढापारहित नित्य स्नेहमर्दनके प्रभावसे होता है ॥ ७२-८३ ॥

पांवमें तेल लगानेके गुण ।

खरत्वं शुष्कतां रौक्ष्यं श्रमः सुप्तिश्च पादयोः ।
सद्य एवोपशाम्यन्ति पादाभ्यङ्गनिषेवणात् ॥ ८४ ॥
जायते सौकुमार्य्यञ्च बलं स्थैर्य्यञ्च पादयोः ।
दृष्टिः प्रसादं लभते मारुतश्चोपशाम्यति ॥ ८५ ॥
न च स्याद् गृध्रसीवातः पादयोः स्फुटनं न च ।
न शिरास्नायुसङ्कोचः पादाभ्यङ्गेन पादयोः ॥ ८६ ॥

और पैरोंका-खरदरापन, सूखापन, रूखापन, थकावट, पैरोंका सोजाना यह सब पैरोंपर तेल मर्दनसे शीघ्र शांत होते हैं और पैरोंमें सुकुमारता बल, दृढ़ता यह होजाते हैं। दृष्टि प्रसन्न होती है वायु शांत होजाती है। और पादाभ्यंग करनेवालेके गृध्रसी आदि वायुके रोग, पैरोंका फटना, शिरा और स्नायुओंका संकोच यह कभी नहीं होते ॥ ८४ ॥ ८६ ॥

स्नानके महाफल ।

दौर्गन्ध्यं गौरवं तन्द्रां कण्डूमलमरोचकम् ।
स्वेदं बीभत्सतां हन्ति शरीरपरिमार्ज्जनम् ॥ ८७ ॥

पवित्रं वृष्यमायुष्यं श्रमस्वेदमलापहम् ।
शरीरबलसन्धानं स्नानमोजस्करं परम् ॥ ८८ ॥

शरीरको स्पंज या गीले कपडेसे अथवा उबटनसे मर्दन करे तो शरीरकी दुर्गंध, भारीपन, तंद्रा, खुजली, मैल, अरुचि, पसीना, बीभत्सता यह सब दूर होते हैं ॥ स्नान करना—पवित्रताकारक, वृष्य, आयुवर्द्धक, श्रमनाशक, स्वेदनाशक, मलनाशक, बलकारक और तेजको करनेवाला है ॥ ८७॥८८ ॥

स्वच्छवस्त्रपरिधानके फल ।

काम्यं यशस्यमायुष्यमलक्ष्मीघ्नं प्रहर्षणम् ।
श्रीमत्पारिषदं शस्तं निर्मलाम्बरधारणम् ॥ ८९ ॥

निर्मल वस्त्रोंको धारण करनेसे—शोभा, यश, आयु, लक्ष्मी, आनंद और सभ्यता बढती है तथा प्रशंसा होती है ॥ ८९ ॥

सुगन्धितपुष्पोंका धारण ।

वृष्यं सौगन्ध्यमायुष्यं काम्यं पुष्टिबलप्रदम् ।
सौमनस्यमलक्ष्मीघ्नं गन्धमाल्यनिषेवणम् ॥ ९० ॥

चंदन और सुगंधित फूल माला धारण करना वृष्यता, सुगंधि, आयु, सुंदरता पुष्टि और बलको बढाता है तथा अलक्ष्मीका नाश करता है ॥ ९० ॥

रत्नयुक्त भूषण धारणकरनेका फल ।

धन्यं मङ्गल्यमायुष्यं श्रीमद्व्यसनसूदनम् ।
हर्षणं काम्यमोजस्यं रत्नाभरणधारणम् ॥ ९१ ॥

रत्न और आभूषण धारण करना—संपत्ति, मंगल, आयु इनको बढाता है। धनवानोंके दोषोंको दूर करता है, तथा आनंद, काम्यता और ओजको बढाता है ॥ ९१ ॥

पाँव आदि धोनेके गुण ।

मेध्यं पवित्रमायुष्यमलक्ष्मीकलिनाशनम् ।
पादयोर्मलमार्गाणां शौचाधानमभीक्ष्णशः ॥ ९२ ॥

नित्य पैरों और गुदा आदि मलमार्गोंको धोकर शुद्ध रखना—बुद्धि, पवित्रता, आयु इनको देता है और अलक्ष्मी तथा कलियुगके दोषोंको दूर करता है ॥ ९२ ॥

डाढीमूछके बालोंको स्वच्छ रखनेका फल ।

पौष्टिकं वृष्यमायुष्यं शुचि रूपविराजनम् ।
केशश्मश्रुनखादीनां कल्पनं संप्रसाधनम् ॥ ९३ ॥

क्षौरकर्म कराने, नख कटानेसे तथा कंघी आदिसे केशोंको साफ रखनेसे--पुष्टि, वृष्यता, आयु, पवित्रता और सुंदरताकी वृद्धि होती है ॥ ९३ ॥

जूतेधारणके फल।

चक्षुष्यं स्पर्शनहितं पादयोर्व्यसनापहम् ।
बल्यं पराक्रमसुखं वृष्यं पादत्रधारणम् ॥ ९४ ॥

जूता पहनना—नेत्रों और स्पर्शको हितकारी है तथा बल, पराक्रम, सुख, वीर्य इनको करता है ॥ ९४ ॥

छत्र और दण्ड धारणका फल।

ईतेः प्रशमनं बल्यं गुप्त्यावरणशंकरम् ।
घर्मानिलरजोम्बुघ्नं छत्रधारणमुच्यते ।
स्खलतः संप्रतिष्ठानं शत्रूणाञ्च निषूदनम् ।
अवष्टम्भनमायुष्यं भयघ्नं दण्डधारणम् ॥ ९५ ॥

छतरी धारण करना-दुर्दैवादि रोगोंका प्रशमन, बल, रक्षा, ढकना, कल्याण इनको करता है। तथा गर्म्मी, हवा, मिट्टी, पानीसे बचता है। हाथमें डंडा रखना—पांव चूककर गिरनेसे बचता है, शत्रुओंको भय देता है, देहको सहारा देता है और आयु तथा बलको बढाता है ॥ ९५ ॥

शरीररक्षावृत्ति धर्मपूर्वक है।

नगरी नगरस्येव रथस्येव रथी सदा ।
स्वशरीरस्य मेधावी कृत्येष्ववहितो भवेत् ॥ इति ॥ ९६ ॥

जैसे नगरका रक्षक नगरकी रक्षाके लिये और रथ हाकनेवाला रथकी रक्षाके लिये सावधान रहता है ऐसे ही बुद्धिमान् मनुष्यको अपने शरीरके कृत्योंमें सावधान रहना चाहिये ॥ ९६ ॥

योग्य वृत्तिकी आज्ञा।

भवति चात्र । वृत्त्युपायान्निषेवेत ये स्युर्द्धर्माविरोधिनः ।
शममध्ययनञ्चैव सुखमेवं समश्नुते ॥ ९७ ॥

मनुष्यको उचित है कि, धर्मसे अविरोधि अर्थात् धर्मयुक्त जीविकाके उपायोंको करे (अधर्मसे जीवन निर्वाह न करे) और इंद्रियोंको तथा चित्तवृत्तियोंको शांत भावसे रखता हुआ अध्ययन आदि करे ऐसा करनेसे दोनों लोकोंमें सुख प्राप्त होता है॥

तत्र श्लोकाः—मात्रा द्रव्याणि मात्राञ्च संश्रित्य गुरुलाघवम् ।
द्रव्याणां गर्हितोभ्यासो येषां येषाञ्च शस्यते ॥ ९८ ॥

अञ्जनं धूमवर्त्तिश्च त्रिविधा वर्त्तिकल्पना ।
धूमपानगुणाः कालाः पानमानं च यस्य यत् ॥ ९९ ॥
व्यापत्तिचिह्नं भैषज्यं धूमो येषां विगर्हितः ।
पेयो यथा यन्मयं च नेत्रं यस्य च यद्विधम् ॥ १०० ॥
नस्यकर्म्मगुणा नस्तः कार्य्यं यच्च यथा यदा ।
भक्षयेद्दन्तपवनं यथा यद्गुणं च यत् ॥ १०१ ॥
यदर्थं यानि चास्येन धार्य्याणि कवलग्रहे ।
तैलस्य ये गुणा दृष्टाः शिरस्तैलगुणाश्च ये ॥ १०२ ॥
कर्णे तैलं तथाभ्यङ्गे पादाभ्यङ्गे च मार्जने ।
स्नाने वाससि शुद्धे च सौगन्ध्ये रत्नधारणे ॥ १०३ ॥
शौचे संहरणे लोम्नां पादत्रच्छत्रधारणम् ।
गुणमात्राश्रितीयेऽस्मिन् यथोक्ता दण्डधारणे ॥ १०४ ॥

इति अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते श्लोकस्थाने मात्रा-
श्रितीयो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अब अध्यायका उपसंहार करतेहैं । इस अध्यायमें मात्रा, द्रव्य और मात्राको लेकर गुरु द्रव्य और हलके द्रव्य, निंदनीय द्रव्य, द्रव्योंका निंदित अभ्यास और जिनको गुरुपदार्थ पच सकतेहैं इनका वर्णन कियाहै । इसके उपरान्त क्रमसे अञ्जन धूमबत्ती, तीन प्रकारकी बत्तियें, धूमपानके गुण, समय, प्रमाण, धूमपानके दोष, उनका यत्न, जिनको धूम न पीना चाहिये, जैसे पीना जैसे धूमपानकी नली बनाना, जिन चीजोंसे पीना यह सब वर्णन कियाहै तथा नस्य कर्मके गुण, जो नस्य जिस प्रकार जब लेना, दतौनकी विधि, गुण, वृक्ष, कवल, तेल मुखमें धारण करनेके गुण, मस्तकमें तेल लगानेका गुण, कानमें तेल डालनेका गुण, शरीरपर तेल मलनेका गुण, पैरोंमें तेल मलनेका गुण, देहको उवटने या गीले वस्त्रसे मांजनेका गुण, स्नान, शुद्धवस्त्रधारण, सुगंधित चन्दनादिधारण, रत्नाभरणधारण, शौच, क्षौरकर्म, जूता पहनना, छत्र, दंडा इन सबको धारण करनेके गुण इस मात्राश्रितीय अध्यायमें वर्णन कियेहैं ॥ ९८–१०४ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां पटियालाराज्यान्तर्वर्तिटकसालनिवासि वैद्य-
पञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्यभाषाटीकायां
मात्राश्रितीयो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः।

अथातः तस्याशितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम तस्याशितीय (जो पहले भोजनसम्बन्धी कह चुके हैं उसीके विषयमें) अध्यायकी व्याख्या करतेहैं। ऐसा भगवान् आत्रेय कहने लगे ॥

मात्रा और ऋतुके अनुकूल भोजनसे लाभ।

तस्याशितीयाद्याहाराद्बलं वर्णश्च वर्द्धते।
तस्य तु सात्म्यं विदितं चेष्टाहारव्यपाश्रयम् ॥ १ ॥

ठीक मात्रासे उचित रीतिपर कियाहुआ भोजन बल और वर्णको बढाता है परन्तु जिस ऋतुमें जैसा आहार और विहार शरीरके अनुकूल हो वैसा करनाही बल और वर्णकी वृद्धि करताहै ॥ १ ॥

ऋतुद्वारा वर्षकी अङ्गकल्पना।

इह खलु संवत्सरं षडङ्गमृतुविभागेन विद्यात् तदादित्यस्योदगयनमादानं च त्रीनृतूञ्शिशिरादीन् ग्रीष्मान्तान् व्यवस्येत् वर्षादीन् पुनर्हेमन्तान्तान् दक्षिणायनं विसर्गं च ॥ २ ॥

ऋतुओंके विभागसे सँवत्सर छः भागोंमें बांटाहुआहै। इन छहोंमें शिशिर, वसंत, ग्रीष्म इन तीन ऋतुओंमें सूर्यका उत्तरायण काल है इसीको आदानकाल कहतेहैं (इस कालमें सूर्य अपनी किरणों द्वारा रसको ग्रहण करताहै) और वर्षा, शरद, हेमन्त इन तीन ऋतुओंमें सूर्य दक्षिणायन होताहै इसको विसर्ग काल कहतेहैं। (इस कालमें सूर्य रसादिको त्यागताहै अर्थात् छोडताहै) ॥ २ ॥

आदान और विसर्गकालके गुण दोष।

विसर्गे च पुनर्वायवो नातिरूक्षाः प्रवान्ति। इतरे पुनरादाने। सोमश्चाव्याहतबलः। शिशिराभिर्भाभिरापूरयञ्जगदाप्याययति शश्वदतो विसर्गः सौम्यः ॥ ३ ॥

विसर्गकालकी पवन—अत्यन्त रूखी नहीं होती। किंतु आदानकालकी पवन अत्यन्त रूखी होतीहै। विसर्गकालमें चन्द्रमा बलवान्, सुंदर शीतल अपने प्रकाशसे जगत्‌को सुख देनेवाला होताहै इस कारण विसर्गकाल सौम्य होताहै ॥ ३ ॥

आदानं पुनराग्नेयं तावेतावर्कवायू सोमश्च कालस्वभावमार्गपरिगृहीताः कालर्त्तुरसदोषदेहबलनिर्वृत्तिप्रत्ययभूताः समुपदिश्यन्ते ॥ ४॥

आदानकाल--अग्नितत्त्ववाला होता है और अत्यन्त रूक्ष होताहै। आदानकाल और विसर्गकाल तथा सूर्य, वायु, चंद्रमा यह सब अपने २ कालस्वभाव और गतिमें प्रवृत्तहुए काल, ऋतु, दोष, देहबल इनको प्रवृत्त करनेवाले अर्थात् रचनेवाले कहे जातेहैं ॥ ४ ॥

तत्र रविर्भाभिराददानो जगतः स्नेहं वायवस्तीव्ररूक्षाश्चोपशोषयन्तः शिशिरवसन्तग्रीष्मेषु यथाक्रमं रौक्ष्यमुत्पादयन्तो रूक्षान् रसान् तिक्तकषायकटुकांश्चाभिवर्द्धयन्तो नृणां दौर्बल्यमावहन्ति ॥ ५ ॥

आदानकालमें सूर्य अपनी तीक्ष्ण किरणोंसे जगत्के रसको खींचता है। संपूर्ण वायु तीव्र और रूखा होनेसे चिकनाईको शोषण करता है इस प्रकार सूर्य और वायु क्रमसे शिशिर, वसंत, ग्रीष्म ऋतुओंमें रूक्षताको करतेहुए कडुए, कषैले और चर्परे रसप्रधान द्रव्योंको प्रगट करते हैं। इसलिये आदानकालमें रूक्षतासे मनुष्योंको दुर्बल करते हैं ॥ ५ ॥

वर्षाशरद्धेमन्तेषु तु दक्षिणाभिमुखेऽर्के कालमार्गे मेघवातवर्षाभिहतप्रतापे शशिनि चाव्याहतबले माहेन्द्रसलिलप्रशान्तसन्तापे जगत्यरूक्षारसाः प्रवर्द्धन्तेऽम्ललवणमधुरा यथाक्रमं तत्र बलमुपचीयन्ते नृणामिति ॥ ६ ॥ भवति चात्र—

आदावन्ते च दौर्बल्यं विसर्गादानयोर्नृणाम्।
मध्ये मध्यं बरन्त्वन्ते श्रेष्ठमग्रे च निर्दिशेत् ॥ ७ ॥

वर्षा, शरद और हेमंत ऋतुमें सूर्य दक्षिणमें होनेसे सूर्यके प्रतापको काल, मार्ग, मेघ, वायु, वर्षा दबा रखते हैं। तब चन्द्रमाका प्रताप बलवान रहता है। वर्षाके जलसे जगत्का संताप दबजाता है इसी कारण संपूर्ण चिकने रसोंवाले द्रव्योंकी सामग्री बढती है। और अम्ल, लवण, मधुर रस यथाक्रम बढकर मनुष्योंके बलको बढाते हैं। विसर्गकालके प्रथम (वर्षाऋतुमें) और आदानकालके अंत (ग्रीष्म) में मनुष्यआदिकोंमें निर्बलता होती है। ऐसे ही आदान और विसर्गके मध्य (शरद, वसंत) में मध्यबल होता है। और विसर्गके अंत (हेमन्त) में और आदानके आदि (शिशिर) में सब मनुष्यादिकोंमें पूर्ण बल होता है ॥ ६ ॥ ७ ॥

शीतकालका वर्णन ।

शीते शीतानिलस्पर्शसंरुद्धो बलिनां बली ।
पक्ता भवति हेमन्ते मात्राद्रव्यगुरुक्षमः ॥ ८ ॥
स यदा नेन्धनं युक्तं लभते देहजं तदा ।
रसं हिनस्त्यतो वायुः शीतः शीते प्रकुप्यति ॥ ९ ॥

शीतकालमें ठंढे पवनके लगनेसे शरीरके भीतर रुककर बलवान् मनुष्योंकी जठराग्नि बलवाली होती है । इसीलिये शीतकालमें जठराग्नि भारी मात्रा और गुरुभोजनको पाचन करसकती है । यदि चैतन्य जठराग्निको इंधन (आहार) न मिले तो वह देहके रसको फूंकदेती है । रसके सूखनेसे शरीर रूखा होजाता है इसलिये रूक्षगुणयुक्त शीतल शारीरिक वायु शीतकालमें कुपित होती है ॥ ८ ॥ ९ ॥

तस्मात्तुषारसमये स्निग्धाम्ललवणान् रसान्[1] ।
औदकानूपमांसानां मेध्यानामुपयोजयेत् ॥ १० ॥
बिलेशयानां मांसानि प्रसहानां भृतानि च ।
भक्षयेन्मदिरां सीधुं मधु चानु पिबेन्नरः ॥ ११ ॥

इसलिये शीतकालमें चिकने, खट्टे, नमकीन, रसयुक्त पदार्थोंको और जलचारी (मछली आदि) अनूपसंचारी जीवोंके मांस और प्रसह आदि बिलमें रहनेवालोंके मांस, मद्य, सीधु और मधु इनका सेवन करे ॥ १० ॥ ११ ॥

हेमन्तमें कृत्य ।

गोरसानिक्षुविकृतीर्वसां तैलं नवौदनम् ।
हेमन्तेऽभ्यस्यतस्तोयमुष्णञ्चायुर्न हीयते ॥ १२ ॥
अभ्यङ्गोत्सादनं मूर्ध्नि तैलं जेन्ताकमातपम् ।
भजेद्भूमिगृहं चोष्णमुष्णं गर्भगृहं तथा ॥ १३ ॥
शीते सुखं वृतं सेव्यं यानं शयनमासनम् ।
प्रावाराजिनकौषेयप्रवेणीकुथकास्तृतम् ॥ १४ ॥
गुरूष्णवासा दिग्धाङ्गो गुरुणाऽगुरुणा सदा ।
शयने प्रमदां पीनां विशालोपचितस्तनीम् ॥ १५ ॥

---

१ स्वाद्वम्ललवणानिति पाठान्तरम् ।

आलिङ्ग्यागुरुदिग्धाङ्गीं सुप्यात्समदमन्मथः।

प्रकामं च निषेवेत मैथुनं शिशिरागमे ॥ १६ ॥

हेमंत ऋतुमें—दूध, खांड आदि मिठाई वसा, तैल, नवीन अन्न और गर्म जलसे स्नान इनका सेवन करनेसे आयु क्षीण नहीं होती तथा शरीर पर मालिश, उवटना, सिरमें तेल लगाना, जेंताक स्वेद, धूप, गर्म घर, घरके बीचका कमरा, चारों तरफसे ढकी हुई सवारी, शय्या, आसन, बाघम्बर, शाणीके और रेशमके कपडे रंग बेरंगे कंवल, गर्म और भारी वस्त्र इनका सेवन करे तथा गाढे अगरका लेपन कियाकरे और तीखे पुष्ट स्तनोंवाली अगरसे सुगंधित लेपन कीहुई कामदेवकोभी मोहित करनेवाली स्त्रीसे लिपटकर शयन करे और इच्छापूर्वक मैथुन करे ॥ १२–१६ ॥

शिशिर कृत्य।

वर्जयेदन्नपानानि लघूनि वातलानि च।

प्रवातं प्रमिताहारसुदमन्थं हिमागमे ॥ १७ ॥

शिशिर ऋतुमें भी हेमन्तके समान क्रिया करे और हलके, रूक्ष, वातल, अन्नपान, वायुका वेग, अल्पाहार, जलमें घुले सत्तू शर्वत आदि सेवन न करे ॥ १७ ॥

हेमन्त और शिशिरके कार्य।

हेमन्तशिशिरौ तुल्यौ शिशिरेऽल्पं विशेषणम्।

रौक्ष्यमादानजं शीतं मेघमारुतवर्षजम् ॥ १८ ॥

तस्माद्धैमन्तिकः सर्वः शिशिरे विधिरिष्यते ॥

निवातमुष्णमधिकं शिशिरे गृहमाश्रयेत् ॥ १९ ॥

कटुतिक्तकषायाणि वातलानि लघूनि च।

वर्जयेदन्नपानानि शिशिरे शीतलानि च ॥ २० ॥

हेमन्ते निचितः श्लेष्मा दिनकृद्भाभिरीरितः।

कायाग्निं बाधते रोगांस्ततः प्रकुरुते बहून् ॥ २१ ॥

हेमन्त और शिशिर यह दोनों ऋतु बराबर ही हैं किन्तु शिशिरमें आदानजन्य रूक्ष शीत होता है और वृष्टि, वायु आदिसे शीत अधिक होता है इतनी विशेषता है। इसीलिये शिशिर ऋतुमें सब क्रिया हेमंतके समान ही करनी चाहिये। विशेषतासे निर्वात और गर्म स्थानमें रहना चाहिये । तथा कडुए, कषैले, चरपरे, वायुके करनेवाले हलके, शीतल पदार्थोंको त्यागदेना चाहिये ॥ हेमंतमें शीतसे संचित हुआ कफ वसन्तऋतुमें सूर्यकी किरणोंसे पिघलकर शरीरमें सञ्चालित हुआ शरीरकी अग्निको बिगाडकर अनेक रोगोंको उत्पन्न करता है ॥ १८–२१ ॥

वसन्तमें वमनादि कर्म धरणीय द्रव्य तथा भोज्य पदार्थ।

तस्माद्वसन्ते कर्माणि वमनादीनि कारयेत्।
गुर्वम्लस्निग्धमधुरं दिवास्वप्नञ्च वर्जयेत् ॥ २२ ॥
व्यायामोद्वर्त्तनं धूमं कवलग्रहमञ्जनम्।
सुखाम्बुना शौचविधिं शीलयेत्कुसुमागमे ॥ २३ ॥
चन्दनागुरुदिग्धाङ्गो यवगोधूमभोजनः।
शारभं शाशमैणेयं मांसं लावकपिञ्जलम् ॥ २४ ॥
भक्षयेन्निगदं सीधुं पिबेन्माध्वीकमेव वा।
वसन्तेऽनुपिबेत्स्त्रीणां कामिनीनाञ्च यौवनम् ॥ २५ ॥

इसलिये वसन्तमें वमन विरेचनादिसे बढ़ेहुए दोषको निकाल देना चाहिये। भारी, खट्टे, चिकने और मीठे पदार्थ तथा दिनमें सोना इनको त्याग देवे। व्यायाम, मालिस, धूमपान, कवलग्रहण, अंजन, सुखोष्ण जलसे स्नान शौचादि, अगुरु चंदनका लेपन इनका सेवन करे। तथा जव, गेंहू, शाबर, शशा, हिरन, लवा, सफेद तीतर इनका भोजन करे और आसव, सीधु अथवा माध्वीक इनको पीवे। और वसन्तऋतुमें वगीचों तथा स्त्रीकी जवानीका आनन्द लेवे ॥ २२-२५ ॥

ग्रीष्मके गुण तथा उसमें सेवनीय पदार्थ।

मयूखैर्जगतः सारं ग्रीष्मे पेपीयते रविः।
स्वादु शीतं द्रवं स्निग्धमन्नपानं तदा हितम् ॥ २६ ॥
शीतं सशर्करं मन्थं जाङ्गलान्मृगपक्षिणः।
घृतं पयः सशाल्यन्नं भजन् ग्रीष्मे न सीदति ॥ २७ ॥
मद्यमल्पं न वा पेयमथवा सुबहूदकम्।
लवणाम्लकटूष्णानि व्यायामं चात्र वर्जयेत् ॥ २८ ॥
दिवा शीतगृहे निद्रां निशि चन्द्रांशुशीतले।
भजेच्चन्दनदिग्धाङ्गः प्रवाते हर्म्यमस्तके ॥ २९ ॥
व्यजनैः पाणिसंस्पर्शैश्चन्दनोदकशीतलैः।
सेव्यमानो भजेदास्यां मुक्तामणिविभूषितः ॥ ३० ॥
काननानि च शीतानि जलानि कुसुमानि च।
ग्रीष्मकाले निषेवेत मैथुनाद्विरतो नरः ॥ ३१ ॥

ग्रीष्मऋतुमें सूर्यभगवान् अपनी किरणोंसे जगत्के सारको पीजाते हैं इसलिये ग्रीष्मऋतुमें-पतले, शीतल और चिकने आहारका सेवन करना चाहिये ऐसे ही शीतल, सुगंधित, मीठे जल पीने उचित हैं। और ठंढे मिसरी मिले मंथ, जंगली जीवोंका मांस, घृत, दूध, शालीचावल इनका भोजन करनेसे मनुष्य गर्मीसे दुःखित नहीं होता, ग्रीष्मऋतुमें मद्य पीना उचित नहीं। यदि पीनेकी आवश्यकता भी हो तो थोडा मद्य अधिक जल मिलाकर पीवे। गर्मीमें नमकीन, खट्टे, चरपरे और उष्ण पदार्थ सेवन नहीं करना चाहिये। दिनमें शीतल स्थानमें रात्रीको जहाँ चन्द्रमाकी किरण पडतीहों और हवा आती हो ऐसे स्थानमें मकानके शिखर पर शीतल चन्दनादि लगाकर शयन करे और शीतल चन्दनादिसे सुगंधित जलसे भीगे पंखेकी पवनका सेवन करे। तथा मणि मुक्ता आदि आभूषणोंको पहने। और घने वृक्षोंके जंगल शीतल जल, सुगंधित फूल इनको सेवे। परन्तु गर्मीमें स्त्रीका सेवन न करे॥२६-३१॥

वर्षामें जठराग्निका दुर्बल होना।

आदानदुर्बले देहे पक्ता भवति दुर्बलः।
स वर्षास्वनिलादीनां दूषणैर्बाध्यते पुनः॥ ३२॥

आदानकालके आकर्षणसे दुर्बलहुए देहमें जठराग्नि भी दुर्बल होजातीहै। फिर वह जठराग्नि वर्षाकालके जल वायु आदिसे और भी क्षीण होजाती है॥ ३२॥

पवनका कोप।

भूबाष्पान्मेघनिस्यन्दात् पाकादम्लाज्जलस्य च।
वर्षास्वग्निबले क्षीणे कुप्यन्ति पवनादयः॥ ३३॥

वर्षाकालमें पृथ्वीकी भांफ निकलनेसे, वर्षाके होनेसे, जलका खट्टा परिपाक होनेसे अग्नि दुर्बल होकर वातादि दोष कुपित होते हैं॥ ३३॥

वर्षामें त्यागनेयोग्य कर्म।

तस्मात् साधारणः सर्व्वो विधिर्वर्षासु वक्ष्यते।
उदमन्थं दिवास्वप्नमवश्यायं नदीजलम्॥ ३४॥
व्यायाममातपञ्चैव व्यवायञ्चात्र वर्जयेत्।
पानभोजनसंस्कारान् प्रायः क्षौद्रान्वितान् भजेत्॥ ३५॥
व्यक्ताम्ललवणस्नेहं वातवर्षाकुलेऽहनि।
विशेषशीते भोक्तव्यं वर्षास्वनिलशान्तये॥ ३६॥

अग्निं संरक्षणवता यवगोधूमशालयः।
पुराणा जाङ्गलैर्मांसैर्भोज्या यूषैश्च संस्कृतैः ॥ ३७ ॥
पिबेत् क्षौद्रान्वितश्चाल्पं माध्वीकारिष्टमम्बु वा।
माहेन्द्रं तप्तशीतं वा कौपं सारसमेव वा ॥ ३८ ॥
प्रघर्षोद्वर्त्तनस्नानगन्धमाल्यपरो भवेत्।
लघुशुद्धाम्बरः स्थानं भजेदक्लेदि वार्षिकम् ॥ ३९ ॥

इसलिये वर्षाकालमें त्रिदोष नाशक साधारण क्रियाका सेवन करे वर्षाऋतुमें शर्बत आदि जलके मंथ, दिनमें सोना, ओस, नदीका पानी, कसरत, धूपमें फिरना, मैथुन इनको त्यागदेवे। खाने पीनेके पदार्थोंमें-प्रायः शहदका प्रयोग करना हितकारक है। जिसदिन हवा और वर्षा होनेसे ठंढा होरहाहो उसदिन खट्टे, नमकीन, चिकने पदार्थ खाने चाहिये। ऐसा करनेसे वर्षाकालकी वायुकी शांति होतीहै। जठराग्निकी रक्षा करनेवालेको-यव, गेहूं, पुराने चावल और जीवनके देनेवाले जंगली जीवोंके मांसका यूष, मधुयुक्त माध्वीक और अरिष्ट और आकाशका जल या गर्मकरके ठंढा कियाहुआ अथवा कूएका जल सेवन करना चाहिये। देहको भीगे वस्त्रसे घिसना, उवटन लगाना, स्नान करना, गंध लगाना, माला पहनना, हलके सूखे वस्त्र इनको धारण करना चाहिये और कीचवाले तथा गीले स्थानमें न रहे ॥ ३४-३९ ॥

वर्षामें रहनेके नियम।

वर्षाशीतोचिताङ्गानां सहसैवार्करश्मिभिः।
तप्तानामाचितं पित्तं प्रायः शरदि कुप्यति ॥ ४० ॥
तत्रान्नपानं मधुरं लघुशीतं सतिक्तकम्।
पित्तप्रशमनं सेव्यं मात्रया सुप्रकाङ्क्षितैः ॥ ४१ ॥
लावान्कपिञ्जलानेणानुरभ्राञ्छरभाञ्छशान्।
शालीन् सयवगोधूमान् सेव्यानाहुर्घनात्यये ॥ ४२ ॥
तिक्तस्य सर्पिषः पानं विरेको रक्तमोक्षणम्।
धाराधरात्यये कार्य्यमातपस्य च वर्जनम् ॥ ४३ ॥
वसां तैलमवश्यायमौदकानूपमामिषम्।
क्षारं दधि दिवास्वप्नं प्राग्वातञ्चात्र वर्ज्जयेत् ॥ ४४ ॥

वर्षाऋतुके शीतसे संचित हुआ पित्त–शरदृऋतुमें सूर्यकी किरणोंसे तपायमान होकर कुपित होताहै। इसलिये शरद् ऋतुमें–मधुर, हलके, शीतल, कडुए, पित्तनाशक पदार्थ क्षुधाके समय परिमाणसे खाने चाहिये। और लवा, सफेद तीतर, हिरन, मेढा, शावर, शशा इनका मांस, चावल, जौं, गेहूं इनका भोजन करना हित है। शरदृऋतुमें तिक्तपदार्थका सेवन, घृतपान, विरेचन, रक्तमोक्षण इनको करे और धूपमें न फिरे। तथा–वसा, तेल, ओस, मछली, अनूपसंचारी जीवोंका मांस, खार, दही, दिनमें शयन, पूर्वकी वायु इनका सेवन न करे॥ ४०–४४॥

पीनेयोग्य जल तथा हंसोदक।

दिवा सूर्य्यांशुसन्तप्तं निशि चन्द्रांशुशीतलम्।
कालेन पक्वं निर्दोषमगस्त्येनाविषीकृतम्॥ ४५॥
हंसोदकमिति ख्यातं शारदं विमलं शुचि।
स्नानपानावगाहेषु शस्यते तद्यथामृतम्॥ ४६॥
शारदानि च माल्यानि वासांसि विमलानि च।
शरत्काले प्रशस्यन्ते प्रदोषे चन्द्ररश्मयः॥ ४७॥

शरदृऋतुमें जल–दिनमें सूर्यकी किरणोंसे तपकर रात्रिको चन्द्रमाकी किरणोंसे शीतल हो कालके प्रभावसे निर्दोष होजाताहै और अगस्त्यऋषिके उदय होनेसे निर्विष होजाताहै। वह शरदृऋतुका निर्मल जल हंसोदक कहाजाताहै इस पवित्र जलको स्नान, पान, अवगाहन आदिमें अमृतके समान गुणकारी मानाहै शरदृऋतुमें उत्तम फूलमाला, स्वच्छवस्त्र और सायंकालकी चांदनी इनका सेवन करना चाहिये॥

ओकसात्म्य।

इत्युक्तमृतुसात्म्यं यच्चेष्टाहारव्यपाश्रयम्।
उपशेते यदौचित्यादोकसात्म्यं तदुच्यते॥ ४८॥

इस प्रकार जिस २ ऋतुमें जैसा २ आहार विहार सात्म्य (शरीरानुकूल) है उसका कथन करदिया है। जो आहार विहारका अभ्यासके कारण सुखकारी हो जाए उसे ओकसात्म्य कहते हैं॥ ४८॥

सात्म्यका लक्षण।

दोषाणामामयानाञ्च विपरीतगुणं गुणैः।
सात्म्यमिच्छन्ति सात्म्यज्ञाश्चेष्टितं चाद्यमेव च॥ इति॥ ४९॥

जो आहार विहार दोषोंसे और रोगोंसे विपरीत गुण करनेवाला अर्थात् रोगसे

बचाकर आरोग्य रखनेवाला है उसको " सात्म्य " कहते हैं । सात्म्यके जाननेवाले ओकसात्म्यको भी सात्म्य ही कहते हैं ॥ ४९ ॥

तत्रश्लोकः । ऋतावृतौ नृभिः सेव्यमसेव्यं यच्च किञ्चन ।
तस्याशितीये निर्दिष्टं हेतुमत्सात्म्यमेव च ॥ इति ॥ ५० ॥

इति अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते तस्याशितीयोऽध्यायः ॥ ६ ॥

यहां अध्यायकी पूर्तिका श्लोक है कि, इस तस्याशितीय अध्यायमें जो २ पदार्थ जिस २ ऋतुमें सेवन करनेयोग्य हैं उन उनका वर्णन किया गया है कारणके अनुसार सात्म्य अर्थात् शरीरानुकूल है ॥ ५० ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां पटियालाराज्यांतर्गतटकसालनिवासि-वैद्यपंचानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्यभा-पाटीकायां तस्याशितीयो नाम षष्ठोध्यायः ॥ ६॥

सप्तमोऽध्यायः ।

अथातो न वेगान्धारणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।

अब हम " न वेगान्धारणीय " नामके अध्यायकी व्याख्या करते हैं । ऐसा भगवान् आत्रेय कहने लगे ॥

वेगोंके रोकनेका निषेध ।

न वेगान्धारयेद्धीमाञ्जातान्मूत्रपुरीषयोः ।
न रेतसो न वातस्य न वम्याः क्षवथोर्न च ॥ १ ॥
नोद्गारस्य न जृम्भाया न वेगान्क्षुत्पिपासयोः ।
न बाष्पस्य न निद्राया न श्वासस्य श्रमेण च ॥ २ ॥
एतान्धारयतो जातान् वेगान् रोगा भवन्ति ये ।
पृथक्पृथक् चिकित्सार्थं तन्मे निगदतः शृणु ॥ ३ ॥

बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि--मूत्र, मल, वीर्य, अधोवायु, छर्दि, छींक, डकार, जंभाई, भूख, प्यास, अश्रुपात, निद्रा, श्रमजन्यश्वास इनके वेगोंको कभी न रोके । इनके वेग रोकनेसे जो जो रोग पैदा होते हैं उनको अलग २ आगे वर्णन करते हैं सो तुम सुनो ॥ १--३ ॥

मूत्रके वेगको रोकनेके दोष।

वस्तिमेहनयोः शूलं मूत्रकृच्छ्रं शिरोरुजा।
विनामो वङ्क्षणानाहः स्याल्लिङ्गे मूत्रनिग्रहे ॥ ४ ॥

मूत्रका वेग रोकनेसे वस्ति और लिंगमें पीडा होती है। मूत्रकृच्छ्र, मस्तकमें पीडा, देहका नँवना, पेटमें पीडा और अफारा यह उपद्रव होते हैं ॥ ४ ॥

मूत्र रुकनेपर उपाय।

स्वेदावगाहनाभ्यङ्गान् सर्पिषश्चावपीडकम्।
मूत्रे प्रतिहते कुर्य्यात् त्रिविधं बस्तिकर्म च ॥ ५ ॥

(यत्न) मूत्रके रुकनेमें--पसीना देना, जलमें बैठना, मालिस करना, घृतपान करना और निरूहण, अनुवासन, उत्तरवस्ति यह तीन प्रकारका वस्तिकर्म करना चाहिये ॥५॥

मल रोकनेमें दोष।

पक्काशयशिरःशूलं वातवर्चोनिरोधनम्।
पिण्डिकोद्वेष्टनाध्मानं पुरीषे स्याद्विधारिते ॥ ६ ॥

मलका वेग रोकनेसे--पक्काशयमें और शिरमें पीडा, अधोवायु और विष्ठाका रुकना, पिंडलियोंमें पीडा, अफारा यह उपद्रव होते हैं ॥ ६ ॥

मलरोकनेमें चिकित्सा।

स्वेदाभ्यङ्गावगाहाश्च वर्त्तयो बस्तिकर्म्म च।
हितं प्रतिहते वर्चस्यन्नपानं प्रमाथि च ॥ ७ ॥

(यत्न) मलके रुकनेमें--स्वेदन, मालिश, गरमजलमें बैठना, तीन प्रकारकी वर्ती, वस्तिकर्म और वायुको अनुलोम करनेवाले अन्नपान इनका सेवन करे ॥ ७ ॥

वीर्यके वेगके रोकनेमें उपद्रव और यत्न।

मेढ्रे वृषणयोः शूलमङ्गमर्दो हृदि व्यथा।
भवेत्प्रतिहते शुक्रे विबद्धं मूत्रमेव च ॥ ८ ॥
तत्राभ्यङ्गावगाहाश्च मदिरा चरणायुधाः।
शालिः पयो निरूहाश्च शस्तं मैथुनमेव च ॥ ९ ॥

रेतस् (वीर्य) के आयेहुए वेगको रोकनेसे--लिंग और पोतोंमें पीडा, अंगोंका टूटना, हृदयमें व्यथा और मूत्रका रुकना यह उपद्रव होते हैं। (यत्न) मालिश, अवगाहन, मद्यपान, मुरगेका मांस, चावल, दूध, निरूहणवस्ती, मैथुन यह वीर्यके वेग रोकनेके उपद्रवोंको शांत करते हैं ॥ ८ ॥ ९ ॥

अधोवायुके रोकनेमें उपद्रव।

वातमूत्रपुरीषाणां सङ्गो ध्मानं क्लमो रुजा।
जठरे वातजाश्चान्ये रोगाः स्युर्वातनिग्रहात् ॥ १० ॥

अधोवायुका वेग रोकनेसे-वात, मूत्र, मल इनका रुकना तथा अफारा, आलस्य, शूल, पेटमें दर्द और वायुके रोग उत्पन्न होते हैं ॥ १० ॥

उपाय।

स्नेहस्वेदविधिस्तत्र वर्त्तयो भोजनानि च।
पानानि बस्तयश्चैव शस्तं वातानुलोमनम् ॥ ११ ॥

अधोवायुके वेग रोकनेके विकारशांतिके लिये- स्नेहन, स्वेदन, त्रिविधवर्तीका धूम, पान, वातका अनुलोमन करनेवाले अन्न पान और बस्तिकर्म करना हित है ॥११॥

वमन रोकनेसे रोग और उनका उपाय।

कण्डूकोठाऽरुचिव्यङ्गशोथपाण्ड्वामयज्वराः।
कुष्ठहृल्लासवीसर्पाश्छर्दिनिग्रहजा गदाः ॥ १२ ॥
भुक्त्वा प्रच्छर्दनं धूमोल्लंघनं रक्तमोक्षणम्।
रूक्षान्नपानं व्यायामो विरेकश्चात्र शस्यते ॥ १३ ॥

वमनका वेग रोकनेसे-खाज, कोठेमें पीडा, अरुचि, व्यंग (छांई), सूजन, पांडु, ज्वर, कुष्ठ, हल्लास, विसर्प यह रोग होते हैं। (यत्न) वमन रोकनेसे हुए रोगोंमें भोजनके पीछे वमन कराना, धूम्रपान, लंघन, सिरामोक्षण (फस्त), रूक्ष अन्नपानका सेवन, व्यायाम, विरेचन यह कर्म करने हितकारी हैं ॥ १२ ॥ १३ ॥

छींक रोकनेके उपद्रव और उपाय।

मन्यास्तम्भः शिरःशूलमर्दितावर्द्धभेदकौ।
इन्द्रियाणाञ्च दौर्बल्यं क्षवथोः स्याद्विधारणात् ॥ १४ ॥
तत्रोर्ध्वजत्रुकेऽभ्यङ्गः स्वेदो धूमं सनावनः।
हितं वातघ्नमाद्यञ्च घृतञ्चोत्तरभक्तिकम् ॥ १५ ॥

छींकके रोकनेसे-गरदनका अकडना, शिरमें पीडा, अर्दितवायु, अधसिरा, इंद्रियोंकी दुर्बलता यह उपद्रव होतेहैं। (यत्न) छींकका वेग रोकनेसे हुए रोगोंमें-गर्दनकी नाडियोंपर मालिश करना, स्वेदन, धूम्रपान, नस्य और वायुकी नाश करनेवाली क्रिया भोजनके पीछे घृतपान करना यह क्रियाएँ हित हैं ॥ १४ ॥ १५ ॥

डकारके रोकनेमें उपद्रव।

हिक्का कासोऽरुचिः कम्पो विबन्धो हृदयोरसोः।

उद्गारनिग्रहात्तत्र हिक्कायास्तुल्यमौषधम् ॥ १६ ॥

डकारका वेग रोकनेसे—हिचकी, खांसी, अरुचि, कम्प, हृदय और छातीका जकडना और भारी होना यह लक्षण होतेहैं। (यत्न) जो यत्न हिचकीके होतेहैं सो करे ॥ १६ ॥

जँभाईके रोकनेमें उपद्रव।

विनामाक्षेपसङ्कोचाः सुप्तिः कम्पः प्रवेपनम्।

जृम्भाया निग्रहात्तत्र सर्वं वातघ्नमौषधम् ॥ १७ ॥

जँभाईका वेगरोकनेसे--अंगोंका नँवना, आक्षेपक, संकोच, तंद्रा या अंगोंका सोना, कंप यह उपद्रव होते हैं (यत्न) वातनाशक क्रिया करना हित है ॥ १७॥

क्षुधा रोकनेके उपद्रव।

कार्श्यदौर्बल्यवैवर्ण्यमङ्गमर्दोऽरुचिर्भ्रमः॥

क्षुद्वेगनिग्रहात्तत्र स्निग्धोष्णं लघु भोजनम् ॥ १८ ॥

क्षुधाका वेग रोकनेसे—कृशता, दुर्बलता, विवर्णता, अंगमर्द, अरुचि, भ्रम यह उपद्रव होते हैं। (यत्न) इसमें उत्तम, स्निग्ध, हलके भोजन कराना हितकारकहै॥

प्यासके रोकनेमें उपद्रव।

कण्ठास्यशोषो बाधिर्य्यं श्रमः श्वासो हृदि व्यथा।

पिपासानिग्रहात्तत्र शीतं तर्पणमिष्यते ॥ १९ ॥

प्यासका वेग रोकनेसे-- कंठ और मुखका सूखना, कानोंसे न सुनना, श्रम, श्वास, हृदयमें व्यथा यह उपद्रव होते हैं। (यत्न) इसमें शीतल और तर्पण (दूध शर्बत आदि पिलाना) हित है ॥ १९ ॥

आँसु रोकनेमें उपद्रव और उपाय।

प्रतिश्यायोऽक्षिरोगश्च हृद्रोगश्चारुचिर्भ्रमः।

बाष्पनिग्रहणात्तत्र स्वप्नो मद्यं प्रियाः कथाः ॥ २० ॥

आंसुओंका वेग रोकनेसे—प्रतिश्याय, नेत्ररोग, हृद्रोग, अरुचि, भ्रम यह उपद्रव होते हैं (यत्न) इसमें सोना, मद्यपीना, मीठी बातें सुनना हितकारक हैं ॥ २० ॥

निद्रारोकनेमें उपद्रव और उपाय।

जृम्भाङ्गमर्दस्तन्द्रा च शिरोरोगाक्षिगौरवम्।

निद्राविधारणात्तत्र स्वप्नः संवाहनानि च ॥ २१ ॥

निद्राका वेग रोकनेसे--जंभाई, अंगमर्द (अंगडाई), तंद्रा, मस्तक और नेत्रोंका भारी प्रतीत होना यह उपद्रव होते हैं। (यत्न) इसमें आनंदसे सोना, शरीरको धीरे २ दबाना या पाँवोंको हाथोंसे मलना यह हित है ॥ २१ ॥

श्वासरोकनेमें उपद्रव और उपाय।

गुल्महृद्रोगसंमोहाः श्रमनिश्वासधारणात्।
जायन्ते तत्र विश्रामो वातघ्नाश्च क्रिया हिताः ॥ २२ ॥

परिश्रमका श्वास रोकनेसे—गुल्म, हृदयमें रोग और मोह होता है। (यत्न) विश्राम करना और वातनाशक क्रिया यह सब हित हैं ॥ २२ ॥

वेगोंको कदापि न रोके।

वेगनिग्रहजा रोगा य एते परिकीर्त्तिताः।
इच्छंस्तेषामनुत्पत्तिं वेगानेतान्न धारयेत् ॥ २३ ॥

यह वेगोंको रोकनेसे जो रोग होते हैं उन रोगोंके उत्पन्न न होने देनेकी इच्छा-वाला मनुष्य इन वेगोंको कभी न रोके ॥ २३ ॥

धारणकरनेयोग्य वेग।

इमांस्तु धारयेद्वेगान् हितैषी प्रेत्य चेह च।
साहसानामशस्तानां मनोवाक्कायकर्म्मणाम् ॥ २४ ॥
लोभशोकभयक्रोधमानवेगान् विधारयेत्।
नैर्लज्ज्येर्ष्यातिरागाणामभिध्यायाश्च बुद्धिमान् ॥ २५ ॥
परुषस्यातिमात्रस्य सूचकस्यानृतस्य च।
वाक्यस्याकालयुक्तस्य धारयेद्वेगमुत्थितम् ॥ २६ ॥
देहप्रवृत्तिर्या काचित् वर्तते परपीडया।
स्त्रीभोगस्तेयहिंसाद्या तस्या वेगान् विधारयेत् ॥ २७ ॥

इस लोक और परलोकके सुखकी इच्छावाले मनुष्यको नीचे लिखे वेगोंको रोकना चाहिये. जैसे—अयोग्य रीतिपर—साहस, मनका वेग, वाणीका वेग, शरीरका वेग, कर्मका वेग तथा लोभ, शोक, भय, क्रोध, अभिमान इनके वेगोंको रोकना चाहिये। और बुद्धिमान्को उचित है कि निर्लज्जता, ईर्ष्या, अत्यंत राग इनको भी त्याग देवे। कठोर, गंदे, मिथ्या, बेसमय, असंगत वाक्योंके कहनेका स्वभाव या वेग भी रोकना उचित है। जिस कार्यसे किसीको दुःख हो ऐसा कार्य कभी न करे और परस्त्रीगमन, चोरी तथा हिंसा आदि अयोग्य कार्योंको भी न करे ॥२४-२७॥

पुण्यके लाभ।

पुण्यशब्दो विपापत्वान्मनोवाक्कायकर्म्मणाम्।
धर्मार्थकामान् पुरुषः सुखी भुङ्क्ते चिनोति च॥ २८॥

जो मनुष्य, मन, वाणी, देह इन कर्मोंसे निष्पाप है अर्थात् मन, वाणी, देहसे कोई पाप नहीं करता वह पवित्र धर्मात्मा पुरुष धर्म, अर्थ, काम इनके सुखको भोगता है और मोक्ष साधनके लिये धर्मको संचय करता है॥ २८॥

व्यायामके लाभ।

शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्य्यार्था बलवर्धिनी।
देहव्यायामसंख्याता मात्रया तां समाचरेत्॥ २९॥
लाघवं कर्मसामर्थ्यं स्थैर्य्यं क्लेशसहिष्णुता।
दोषक्षयोऽग्निवृद्धिश्च व्यायामादुपजायते॥ ३०॥

जिस शारीरिक चेष्टासे-शरीरकी दृढता और बल बढ़े उस चेष्टाको व्यायाम (कसरत) कहते हैं। वह व्यायाम जितनी शरीरकी सामर्थ्य हो उतनाही करना चाहिये॥ व्यायाम करनेसे देहमें हलकापन, कामकरनेकी सामर्थ्य दृढता और कष्ट सहलेनेकी सामर्थ्य बढती है। तीनों दोष शांत होते हैं तथा जठराग्नि बलवान् होती है॥

अत्यन्त कसरतके उपद्रव।

श्रमः क्लमः क्षयस्तृष्णा रक्तपित्तं प्रतामकः।
अतिव्यायामतः कासो ज्वरश्छर्दिश्च जायते॥ ३१॥
व्यायामहास्यभाष्याध्वग्राम्यधर्मप्रजागरान्।
नोचितानपि सेवेत बुद्धिमानतिमात्रया॥ ३२॥

अतिव्यायाम करनेसे थकावट, ग्लानि, क्षय, तृषा, रक्तपित्त, तमक, श्वास, खांसी, ज्वर और वमन होते हैं॥ बुद्धिमान्को उचित है कि व्यायाम, हास्य, भाषण, रस्ताचलना, मैथुन, जागना इनको अधिकतासे सेवन न करे॥ ३१॥ ३२॥

शक्तिके बाहर कोई कार्य न करे।

एतानेवंविधांश्चान्यान् योऽतिमात्रं निषेवते।
गजः सिंहमिवाकर्षन् सहसा स विनश्यति॥ ३३॥

इन ऊपर लिखे कामोंको जो पुरुष बहुत अधिकतासे करता है अथवा अन्य ऐसेही कामोंको अधिकतासे करता है वह पुरुष जैसे सिंहको खैंचनेसे हाथी नष्ट होता है ऐसा शीघ्र नष्ट होजाता है॥ ३३॥

हिताहितका विचार करे।

उचितादहिताद्धीमान्क्रमशो विरमेन्नरः ।
हितं क्रमेण सेवेत क्रमश्चात्रोपदिश्यते ॥ ३४ ॥
प्रक्षेपापचयेताभ्यां क्रमः पादांशिका भवेत् ।
एकान्तरं ततश्चोर्द्धं द्व्यन्तरं त्र्यन्तरं तथा ॥ ३५ ॥
क्रमेणापचिता दोषाः क्रमेणोपचिता गुणाः ।
सन्तो यान्त्यपुनर्भावमप्रकम्प्या भवंति च ॥ ३६ ॥

जो अफीम आदि अहित पदार्थ हैं उन्हें शरीरके अनुकूल होनेपर भी सेवन न करे, यदि उनको सेवनका अभ्यास हो तो क्रमसे त्यागदेवे । इसी प्रकार दुग्धादि हित पदार्थोंका सेवन अनुकूल न होनेपर भी क्रमसे अभ्यास करे । यहां सेवन और त्यागके क्रमको दिखाते हैं जिस द्रव्यको त्यागना या ग्रहण करना चाहे उसको एक-बार ही त्यागना या ग्रहण करना उचित नहीं । जिसको त्यागना चाहे उसमेंसे प्रथम दिन एक अंश (छोटासा हिस्सा) कम करदे, दो दिन या चार दिन बीचमें देकर एक अंश और कम करे, इस प्रकार चार चार दिनके अंतरसे एक एक अंश कम करते २ अहित पदार्थको त्यागदेवे । इसी प्रकार एक एक अंश बढाते हुए हित पदार्थका अभ्यास करे । ऐसे ही जो २ अवगुण (दोष) हों उनको क्रमसे छोडता २ त्याग देवे । और गुणोंको क्रमपूर्वक अभ्यास करते २ ग्रहण करलेवे । ऐसा करनेसे गुण निश्चल हो शरीरमें निवास करते हैं और दोप अपना बल नहीं करसकते॥ ३४-३६॥

वातादिकी समता विषमता।

समपित्तानिलकफाः केचिद्गर्भादि मानवाः ।
दृश्यन्ते वातलाः केचित् पित्तलाः श्लेष्मलास्तथा ॥ ३७॥
तेषामनातुराः पूर्वे वातलाद्याः सदातुराः ।
दोषानुशयिता ह्येषां देहप्रकृतिरुच्यते ॥ ३८ ॥
विपरीतगुणस्तेषां स्वस्थवृत्तेर्विधिर्हितः ।
समसर्वरसं सात्म्यं समधातोः प्रशस्यते ॥ ३९ ॥

कोई पुरुष ऐसे भाग्यवान् होते हैं जिनके शरीरमें गर्भसे ही वात, पित्त, कफ साम्यावस्थावाले होते हैं । किसीकी प्रकृति वातकी, किसीकी पित्तकी तथा किसीकी कफप्रधान होती है । इन सब मनुष्योंमें पहले कहेहुए (समप्रकृतिके) नीरोग रहते हैं ओर बाकी तीन सदा रोगी रहते हैं । जिसके शरीरमें जो दोष प्रधान होता है उसके

अनुसार उसकी प्रकृति कही जाती है ॥ जिनके शरीरमें वातादि दोष बढे हुए हैं उनके शरीरमें वायु आदि दोषोंसे विपरीत गुणवाली क्रिया हितकारक होती हैं (जैसे वातप्रकृतिवालेको उष्ण और स्निग्ध तथा लवणरसयुक्त पदार्थोंका सेवन हितकर है) और जिसके शरीरमें वातादिक और धातुसाम्य हों उसके शरीरमें तो सब रस सात्म्य (शरीरानुकूल) ही होते हैं ॥ ३७-३९ ॥

शरीरगत छिद्रोंका वर्णन।

द्वे अधः सप्त शिरसि खानि स्वेदमुखानि च।
मलायनानि बाध्यन्ते दुष्टैर्मात्राधिकैर्मलैः ॥ ४० ॥

शरीरके नीचेके भागमें गुदा, लिंग यह दो मलमार्ग होते हैं। ऊपरके भागमें दो नेत्र, दो कान, दो नासिका, एक मुख यह सात मलमार्ग होते हैं और इनसे अन्य रोममार्ग पसीना निकालनेके मार्ग हैं। इन सबको मलमार्ग कहते हैं। मल दुष्ट होने अथवा अधिक होनेसे मलमार्गोंको दूषित करते हैं ॥ ४० ॥

मलवृद्धि आदिका ज्ञान।

मलवृद्धिं गुरुत्वेन लाघवान्मलसंक्षयम्।
मलायनानां बुद्ध्येत सङ्गोत्सर्गादतीव च॥ ४१ ॥

यदि मलमार्ग भारी हों तो मल बढे हुए जानना और मलमार्गोंके हलकेपनसे मलका क्षय जानना चाहिये। अथवा यों कहिये कि मलमार्गोंसे मल अधिक निकले तो मल बढाहुआ समझे और अत्यन्त कम होनेसे मलकी क्षीणता जाने ॥ ४१ ॥

साध्य रोगकी चिकित्साकरे।

तान् दोषलिंगैरादिश्य व्याधीन् साध्यानुपाचरेत्।
व्याधिहेतुप्रतिद्वन्द्वैर्मात्राकालौ विचारयेत् ॥ ४२ ॥

वैद्यको उचित है कि, दोषोंके चिह्नोंसे रोगको समझकर जो साध्य रोग हैं उनमें रोगसे और रोगके कारणसे विपरीत गुणवाली चिकित्सा मात्रा और कालको विचारकर करे ॥ ४२ ॥

विषमस्वस्थवृत्तानामेते रोगास्तथापरे।
जायन्तेऽनातुरस्तस्मात् स्वस्थवृत्तपरो भवेत् ॥ ४३ ॥

जो मनुष्य स्वस्थ अवस्थामें ही अपनी आरोग्यताकी रक्षाका यत्न नहीं रखता उसको यह रोग तथा अन्यान्य रोग होते हैं इसलिये अपने स्वास्थ्यकी रक्षामें सदैव सावधान रहना चाहिये ॥ ४३ ॥

दोष दूर करने (शोधन) का समय।

माधवप्रथमे मासि नभस्यप्रथमे पुनः।
सहस्यप्रथमे चैव हारयेद्दोषसंचयम् ॥ ४४ ॥
स्निग्धस्विन्नशरीराणामूर्द्ध्वं चाधश्च नित्यशः।
बस्तिकर्म ततः कुर्य्यान्नस्तः कर्म च बुद्धिमान् ॥ ४५ ॥
यथाक्रमं यथायोगमत ऊर्द्ध्वं प्रयोजयेत्।
रसायनानि सिद्धानि वृष्ययोगांश्च कालवित् ॥ ४६ ॥
रोगास्तथा न जायन्ते प्रकृतिस्थेषु धातुषु।
धातवश्चाभिवर्द्धन्ते जरा चान्त्यमुपैति च ॥ ४७ ॥
विधिरेष विकाराणामनुत्पत्तौ निदर्शितः।
निजानामितरेषान्तु पृथगेवोपदिश्यते ॥ ४८ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य चैत्र, श्रावण, मार्गशीर्ष इन तीन महीनोंमें एक एक वार शरीरको स्नेहन और स्वेदन करके वमन, विरेचन आदिसे शरीरके और नस्य आदिसे मस्तकके दोष निकाले तथा बस्ति कर्म करे। यदि उचित समझे तो नसोंमेंसे रक्तस्राव करे। फिर यथाक्रम शरीरकी सत्ता ठीक होनेपर जैसे उचित हो वैसे रसायन और वृष्य योगोंको समय आदिको जाननेवाला वैद्य प्रयुक्त करे ॥ इस प्रकार दोषोंको दूर करनेसे नीरोग मनुष्यके शरीरमें रोग उत्पन्न नहीं होते और प्रकृतिमें स्थित हुई धातुएँ वृद्धिको प्राप्त होती हैं तथा बुढापा शीघ्र नहीं आता स्वस्थ मनुष्यकी आरोग्यताकी रक्षाके लिये यह विधि कहचुके हैं। अब शारीरिक, आगंतुक, मानसिक रोगोंके विषयमें अलग कथन करते हैं ॥ ४४-४८ ॥

आगन्तुरोगोंका कारण।

ये भूतविषवाय्वग्निसंप्रहारादिसम्भवाः।
नृणामागन्तवो रोगाः प्रज्ञा तेष्वपराध्यति ॥ ४९ ॥
ईर्ष्याशोकभयक्रोधमानद्वेषादयश्च ये।
मनोविकारास्तेऽप्युक्ताः सर्वे प्रज्ञापराधजाः ॥ ५० ॥

भूत, विष, वायु, अग्नि, प्रहार आदिसे उत्पन्न हुए रोगोंको आगंतुक रोग कहते हैं। यह रोग मनुष्योंकी बुद्धिके दोषसे होते हैं, अर्थात् किसी असावधानतासे होते हैं यदि बुद्धिमान् विचारपूर्वक बचकर रहे तो यह रोग नहीं होते। इन रोगोंमें बुद्धिका

दोष होनेसे इनको प्रज्ञापराधज कहाजाता है॥ और ईर्ष्या, शोक, भय, क्रोध, मान, द्वेष आदि सब मनके विकार (मानसिक रोग) भी बुद्धिके दोषसे ही होते हैं॥५०॥

आगन्तुरोगोंकी शान्ति।

त्यागः प्रज्ञापराधानामिन्द्रियोपशमः स्मृतिः।
देशकालात्मविज्ञानं सद्वृत्तस्यानुवर्त्तनम्॥ ५१॥
आगन्तूनामनुत्पत्तावेष मार्गो निदर्शितः।
प्राज्ञः प्रागेव तत्कुर्य्याद्धितं विद्याद्यदात्मनः॥ ५२॥
आप्तोपदेशः प्राज्ञानां प्रतिपत्तिश्च कारणम्।
विकाराणामनुत्पत्तावुत्पन्नानाञ्च शान्तये॥ ५३॥

इन रोगोंमे बुद्धिके कुविचारोंका त्याग, इन्द्रियोंको वशमें रखना, शास्त्रोंके उपदेशोंका स्मरण, देश काल और आत्माका ज्ञान, अच्छे महात्माओंके सुयोग्य आचरणोंका सेवन यह आगंतुक रोगोंके न होनेका मार्ग दिखाया है अर्थात् इन आचरणोंके सेवनसे आगंतुक रोग होतेही नहीं। इसलिये बुद्धिमान्‌को आत्माके हितकार्यका प्रथमसे ही सेवन करना चाहिये॥ प्रामाणिक भद्रपुरुषोंके उपदेश और प्राज्ञपुरुषोंके सिद्धांत पर चलना आगन्तुक विकारोंको उत्पन्न नहीं होनेदेता और उत्पन्न हुए विकारोंकी शांति करता है॥ ५१-५३॥

दूषित पुरुषके संगके दोष।

पापवृत्तवचःसत्त्वाः सूचकाः कलहप्रियाः।
मर्मोपहासिनो लुब्धाः परवृद्धिद्विषः शठाः॥ ५४॥
परापवादरतयः परनारीप्रवेशिनः।
निर्घृणास्त्यक्तधर्माणः परिवर्ज्या नराधमाः॥ ५५॥

पापके आचरणवाले, पापयुक्त वाक्य कहनेवाले, पापी मनवाले, झूठे, दंभी, कलहप्रिय, दूसरोंके चित्तोंको दुःखप्रद हास्य करनेवाले, अतिलोभी, पराई समृद्धिको देखकर जलनेवाले, शठ, पराई निंदामें रत रहनेवाले, परस्त्रीगामी, निर्दयी, धर्मसे विहीन ऐसे अधम मनुष्योंका संग कभी नहीं करना चाहिये॥ ५४॥ ५५॥

सेवन करनेयोग्य पुरुष।

बुद्धिविद्यावयःशीलधैर्य्यस्मृतिसमाधिभिः।
वृद्धोपसेविनो वृद्धाः स्वभावज्ञा गतव्यथाः॥ ५६॥

सुमुखाः सर्वभूतानां प्रशान्ताः शंसितव्रताः ।
सेव्याः सन्मार्गवक्तारः पुण्यश्रवणदर्शनाः ॥ ५७ ॥

जो मनुष्य बुद्धि, विद्या, अवस्था, शीलता, धैर्य, स्मृति, समाधि इन गुणोंसे युक्त हो तथा वृद्ध पुरुषोंकी सेवा कियाहुआ हो और स्वयं भी योग्य या वृद्ध हो, जिसको दुनियाके हाल मालूम हों, जिसके चित्तमें ईर्ष्या आदि विकार न हो, उत्तम सत्य, मीठे वाक्य बोलनेवाला हो, जो सबसे शांतिपूर्वक वर्ताववाला हो और जिनका शुद्ध आचार हो तथा अच्छे मार्गका उपदेश करनेवाला हो जिसका दर्शन पुण्यकारक हो. ऐसे भद्रपुरुषका संग अवश्य करना चाहिये ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

भोजन आदिमें नियम ।

आहाराचारचेष्टासु सुखार्थी प्रेत्य चेह च ।
परं प्रयत्नमातिष्ठेद् बुद्धिमान् हितसेवने ॥ ५८ ॥
न नक्तं दधि भुञ्जीत न चाप्यघृतशर्करम् ।
नामुद्गसूपं नाक्षौद्रं नोष्णं नामलकैर्विना ॥ ५९ ॥
अलक्ष्मीदोषयुक्तत्वान्नक्तन्तु दधि वर्जितम् ।
श्लेष्मणं स्यात्ससर्पिष्कं दधिमारुतसूदनम् ॥ ६० ॥
न च सन्धुक्षयेत्पित्तमाहारञ्च विपाचयेत् ।
शर्करासंयुतं दद्यात्तृष्णादाहनिवारणम् ॥ ६१ ॥
मुद्गसूपेन संयुक्तं दद्याद्रक्तानिलापहम् ।
सुरसश्चाल्पदोषश्च क्षौद्रयुक्तं भवेद्दधि ॥ ६२ ॥
उष्णं पित्तास्रक्दोषान् धात्रीयुक्तन्तु निर्हरेत् ।
ज्वरासृक्पित्तवीसर्पकुष्ठपाण्ड्वामयभ्रमान् ॥ ६३ ॥
प्राप्नुयात्कामलाञ्चोग्रां विधिं हित्वा दधिप्रियः ॥ इति ॥६४॥

बुद्धिमान् मनुष्य इस लोक और परलोकके सुखकी इच्छा करताहुआ हितकारक आहार विहारका यत्नसे सेवन करताहै रात्रिके समय दही न खावे । इसी प्रकार घी खांडके विना अथवा मूंग या आमलेके यूष विना, या शहतके विना मिलाये दही न खावे और गरम करके भी दही न खाय, रात्रिमें दही खानेसे लक्ष्मीका नाश होताहै इस लिये रात्रिको दही नहीं खाना चाहिये । घीयुक्त दही कफको करताहै और वायुको हरताहै और पित्तको कुपित नहीं करता, तथा भोजनको पचाताहै खांड

मिलाकर दही खानेसे दाह और तृषा शांत होतेहैं। मूंगके यूषके साथ दही खानेसे वायु शांत होताहै। शहत मिली दही सुस्वाद होतीहै और उसमें कफका दोष क्षीण होजाताहै। गर्म दही रक्तपित्तको करतीहै। आमलेके यूषसे त्रिदोषको हरतीहै। जो मनुष्य विना विधिसे दहीका सेवन करताहै उसको ज्वर, रक्तपित्त, विसर्प, कुष्ठ, पांडु, भ्रम, कामला आदि रोग उत्पन्न होतेहैं॥ ५८–६४॥

अध्यायका उपसंहार।

अत्र श्लोकाः–वेगावेगसमुत्थाश्च रोगास्तेषाञ्च भेषजम्।
येषां वेगा विधार्य्याश्च यदर्थं यद्धिताहितम्॥
उचिते चाहिते वर्ज्ये सेव्ये चानुचिते क्रमः।
यथाप्रकृति चाहारो मलायनगदौषधम्॥ ६५॥
भविष्यतामनुत्पत्तौ रोगाणामौषधञ्च यत्।
वर्ज्याः सेव्याश्च पुरुषा धीमतात्मसुखार्थिना॥ ६६॥
विधिना दधि सेव्यञ्च येन यस्मात्तदत्रिजः।
नवेगान्धारणेऽध्याये सर्वमेवावदन्मुनिः॥इति॥ ६७॥

इति अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते नवेगान्धारणीयोऽध्यायः॥

अब अध्यायका उपसंहार करतेहैं। इस अध्यायमें वेग रोकनेका निषेध और वेगोंके रोकनेसे पैदाहुए रोग, एवं उनकी चिकित्सा, रोकने योग्य वेग और मनुष्यके लिये हित तथा अहित, उचित अभ्यास करना और अनुचितका त्यागना और उनका क्रम, वातादि प्रकृतिके आहार, मलोंके मार्ग, रोगोंकी औषधी, जिससे रोग ही न प्रगट हों ऐसा क्रम, प्रगटहुए रोगोंकी औषध, आत्मसुखकी इच्छावाले बुद्धिमान्को सेवनीय और त्याज्य कर्म, विधिसे दहीका सेवन इन सब बातोंको भगवान् पुनर्वसुजीने इस नवेगान्धारणीय अध्यायमें वर्णन कियाहै॥ ६५–६७॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां पटियालराज्यान्तर्गतटकसालनिवासि-
वैद्यपञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायकृतप्रसादन्याख्यभाषाटी-
कायां नवेगान्धारणीयो नाम सप्तमोध्यायः॥ ७॥

अष्टमोऽध्यायः ।

अथात इन्द्रियोपक्रमणीयमध्यायं व्याख्यास्याम इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

भगवान् आत्रेय कहतेहैं कि, अब हम इन्द्रियोपकरणीय अध्यायकी व्याख्या करतेहैं ॥

इन्द्रियोंका वर्णन तथा मनकी अनेकता ।

इह खलु पञ्चेन्द्रियाणि । पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि । पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि । पञ्चेन्द्रियार्थाः । पञ्चेन्द्रियाधिकारे अतीन्द्रियं पुनः मनः सत्त्वसंज्ञकं चेत्याहुरेके तदर्थात्मसम्पत्तदायत्तचेष्टम् ॥ चेष्टाप्रत्ययभूतमिन्द्रियाणाम् ॥ १ ॥ स्वार्थेन्द्रियार्थसङ्कल्पव्यभिचरणाच्चानेकमेकस्मिन् पुरुषे सत्त्वम् । रजस्तमःसत्त्वगुणयोगाच्च न चानेकत्वं नानेकं ह्येकका-लमनेकेषु प्रवर्त्तते ॥ २ ॥ तस्माच्चानैककाला सर्वेन्द्रियप्रवृत्तिः । यद्गुणं चाभीक्ष्णं पुरुषमनुवर्त्तते सत्त्वं तत्सत्त्वमेवोपदिशन्ति ऋषयो बाहुल्यानुशयात् ॥ ३ ॥ मनःपुरःसराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति ॥ ४ ॥

पांच इन्द्रियें हैं । पाँच ही इन्द्रियोंके द्रव्य हैं । पांच इन्द्रियोंके अधिष्ठान हैं । और पांच ही इन्द्रियोंके विषय हैं । तथा पांच इन्द्रियोंकी बुद्धि हैं । ऐसा इन्द्रि-याधिकारमें कहाहै । और मन अतीन्द्रिय है, कोई मनको सत्त्व भी कहतेहैं । मन-विषयही आत्माकी संपत्ति है तथा आत्माके और मनके सान्निकर्षसे चेष्टाएँ निर्वाहित हैं । ऐसे ही सब इन्द्रियोंकी चेष्टाका कारणभूत भी मन ही है । यदि कहें कि स्वार्थ, इंद्रियार्थ और संकल्पकी पृथक्तासे एकही पुरुषमें अनेक मन हैं और सत्त्व, रज, तम इन प्रकृतिके गुणोंसे भी मन अनेक हैं ऐसा प्रतीत होताहै । सो ठीक नहीं । क्योंकि एक पुरुष एक ही कालमें सब गुणोंमें या स्वार्थ आदि सब कार्योंमें प्रवृत्त नहीं होता । इसीलिये अनेक कालोंमें सब इंद्रियोंकी प्रवृत्ति होतीहै अर्थात् जब चक्षु इंद्रियसे मनका संयोग होता तो देखताहै, जब श्रवणेन्द्रियसे संयोग होताहै तब सुन-ताहै । किन्तु एक ही कालमें सब इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति नहीं होती और एक कालमें सब गुण ही पाए जातेहैं इसलिये मन एक है अनेक नहीं । जो गुण जिसके मनमें

अधिकतासे निरंतर रहताहै उसके अनुसार ही ऋषिलोग उसकी वृत्तिको कथन करतेहैं अर्थात् सत्त्वगुणकी अधिकतासे सतोगुणी, रजोगुणसे रजोगुणी, तमोगुणसे तमोगुणी वृत्ति कही जाती है। मनकी अनुगामिनी होकर इंद्रियें अपने अर्थको ग्रहण करनेमें समर्थ हो सकती हैं॥ १-४॥

इन्द्रियोंके नाम द्रव्य और अधिष्ठान।

तत्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शनमिति पञ्चेन्द्रियाणि। पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि खं वायुर्ज्योतिरापो भूरिति। पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानान्यक्षिणी कर्णौ नासिके जिह्वा त्वक् चेति॥ ५॥

चक्षु, श्रवण, घ्राण, रसन, स्पर्श यह पांच इंद्रियें हैं। और तेज, आकाश, पृथ्वी, जल, वायु यह क्रमसे पांच इंद्रियोंके पांच द्रव्य हैं। आंख, कान, नासिका, जीभ, त्वचा यह क्रमसे पांच इंद्रियोंके अधिष्ठान (रहनेके स्थान) हैं॥ ५॥

इन्द्रियोंके विषयादि।

पञ्चेन्द्रियार्थाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः। पञ्चेन्द्रियबुद्धयश्चक्षुर्बुद्ध्यादिकाः॥ ६॥

रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श यह क्रमसे पांचों इन्द्रियोंके अर्थ (विषय) हैं। देखनेकी बुद्धि, सुननेकी बुद्धि, गंधलेनेकी बुद्धि, रसज्ञानकी बुद्धि, स्पर्शकी बुद्धि यह क्रमसे पांच इंद्रियोंकी बुद्धि (बोध) हैं॥ ६॥

ताः पुनरिन्द्रियेन्द्रियार्थसत्त्वात्मसन्निकर्षजाः। क्षणिका निश्चयात्मिकाश्चेत्येतत्पञ्चपञ्चकम्॥ ७॥

इन्द्रियबुद्धि यह (बोध, ज्ञान) इंद्रिय और उस इन्द्रियका अर्थ (विषय) तथा मन और आत्मा इन सबके सन्निकर्षसे होतीहै। फिर वह बुद्धि क्षणिका और निश्चयात्मिका इन भेदोंसे दो प्रकारकी है। यह इंद्रियपंचकका पंचक कहागया अर्थात् एक एक इन्द्रियका एकएक पंचक होनेसे पांच पंचक कहेगयेहैं॥ ७॥

अध्यात्मिकद्रव्यगण।

मनो मनोर्थो बुद्धिरात्मा चेत्यध्यात्मद्रव्यगणसंग्रहः। शुभाशुभप्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुश्च द्रव्याश्रितं कर्म यदुच्यते क्रियेति॥ ८॥

मन, मनके विषय, बुद्धि, आत्मा यह अध्यात्मद्रव्योंके गणका संग्रह है। शुभ तथा अशुभ कार्योंमें प्रवृत्त और निवृत्त होनेका हेतु भी यही आध्यात्मिक द्रव्यगण है। द्रव्यके आश्रयीभूत जो कर्म है उसको क्रिया कहते हैं॥ ८॥

इन्द्रियोंमें विशेषता।

तत्रानुमानगम्यानां पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकानामपि सतामि-न्द्रियाणां तेजश्चक्षुषि श्रोत्रे नभः घ्राणे क्षितिरापो रसने स्पर्शनेऽ-निलो विशेषेणोपदिश्यते ॥ ९ ॥

यह अनुमान द्वारा सिद्ध है कि, पांचों इन्द्रियां पांच महाभूतोंके ही विकार हैं। इनमें तेज नेत्रोंमें, आकाश कानोंमें और नासिकामें पृथ्वी, जीभमें जल, स्पर्शमें वायु विशेषतासे रहते हैं ॥ ९ ॥

तत्र यद्यदात्मकमिन्द्रियं विशेषात्तदात्मकमेवार्थमनुधावति । तत्स्व-भावाद्विभुत्वाच्च ॥ १० ॥

इनमें जो इंद्रियें जिस महाभूतसे बनी हुई है वह उसीके स्वभाववाली होनेसे और विभु होनेसे उसी महाभूतके गुणको ग्रहण करनेवाली होती है ॥ १० ॥

इन्द्रियोंके विपरीत होनेका कारण।

तदर्थातियोगायोगमिथ्यायोगात्समनस्कमिन्द्रियं विकृतिमापद्यमानं यथास्वं बुद्ध्युपघाताय सम्पद्यते ॥ ११ ॥ समयोगात् पुनः प्रकृ-तिमापद्यमानं यथास्वं बुद्धिमाप्याययति ॥ १२ ॥

इनके विषयोंका अतियोग, अयोग, मिथ्यायोग होनेसे मन और इन्द्रिय विकृत होजाते हैं और बुद्धि भी नाशको प्राप्त होती है। ऐसे ही ठीक योग होनेसे मन और इंद्रिय ठीक प्रकृतिस्थ रहते हैं और बुद्धि भी बढती है ॥ ११ ॥ १२ ॥

मनका विषय।

मनसस्तु चिन्त्यमर्थः। तत्र मनसो बुद्धेश्च त एव समानातिहीनमिथ्या-योगाः प्रकृतिविकृतिहेतवो भवन्ति ॥ १३ ॥ तत्रेन्द्रियाणां समन-स्कानामनुपतप्तानामनुपतापाय प्रकृतिभावे प्रयतितव्यमेभिर्हेतुभिः॥ १४॥

मनका विषय चिंतन करना है। यहां पर मन और बुद्धिका ठीक योग होना प्रकृति (तंदुरुस्ती) का कारण है और अतियोग, मिथ्यायोग, अयोग, विकृति व्याधिका कारण है। इसलिये जिस योगसे मन और इंद्रिय अपनी शक्तिसे हत न हो और अपनं ठीक स्वभावमें रहे उस योगका अनुसरण करना चाहिये॥१३॥१४॥

प्रकृति स्थिर रखनेके हेतु।

तद्यथा—सात्म्येन्द्रियार्थसंयोगेन बुद्ध्या सम्यगवेक्ष्यावेक्ष्य कर्मणां सम्यक् प्रतिपादनेन देशकालात्मगुणविपरीतोपसेवनेन चेति ।

तस्मादात्महितं चिकीर्षता सर्वेण सर्वं सर्वदा स्मृतिमास्थाय सद्वृत्तमनुष्ठेयम्। तद्ध्यनुष्ठानं युगपत् सम्पादयत्यर्थद्वयमारोग्यमिन्द्रियविजयञ्चेति ॥ १५ ॥

इन नीचे कहेहुए हेतुओंसे असात्म्य विषयोंका सेवन न करना और आत्माके अनुकूल अर्थोंका सेवन करना, इस लिये आत्महितेच्छावालेको सब कार्योंको विचारपूर्वक देश, काल और आत्माके अनुकूल जानकर सेवन करना चाहिये, सत्कार्योंका सेवन करे। ऐसा करनेसे आरोग्यताका लाभ और इन्द्रियोंका बल ठीक रहसकताहै १५

सेवनयोग्य सत्कार्योंका वर्णन।

तत् सद्वृत्तमखिलेनोपदेक्ष्यामः। तद्यथा ॥ देवगोब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धाचार्यानर्चयेत। अग्निमनुचरेत्। ओषधीः प्रशस्ता धारयेत् ॥ द्वौ कालावुपस्पृशेत् ॥ मलायतनेष्वभीक्ष्णं पादयोश्च वैमल्यमादध्यात्। त्रिपक्षास्यकेशश्मश्रुलोमनखान्संहारयेत्। नित्यमनुपहतवासाः सुगन्धिः स्यात् ॥ १६ ॥

सो अब हम उसी संपूर्ण सद्वृत्तका कथन करते हैं। वह ऐसा है कि, देवता, गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्धपुरुष, सिद्ध, आचार्य इनका पूजन करे। अग्निमें हवन करे। पवित्र उत्तम औषधियोंको धारण करे। प्रातःकाल और सायंकाल जलसे आचमन आदि करे (संध्या करे) मलमार्ग और हाथ पांवोंको पवित्र रखना चाहिये, एक पक्षमें (१५ दिनमें) तीन वार क्षौरकर्म दाढी नख आदि ठीक करावे मैले और फटे वस्त्रोंको न पहने। मनको प्रसन्न रक्खे। उत्तम सुगंधीको धारण करे ॥ १६ ॥

साधुवेशः प्रसाधितकेशो मूर्द्धश्रोत्रपादतैलनित्यो धूमपः पूर्वाभिभाषी सुमुखः। दुर्गेष्वभ्युपपत्ता होता यष्टा दाता चतुष्पथानां नमस्कर्त्ता बलीनामुपहर्त्ताऽतिथीनां पूजकः पितॄणां पिण्डदः काले हितमितमधुरार्थवादी। वश्यात्मा धर्मात्मा हेतावीर्ष्युः फले नेर्ष्युः। निश्चिन्तो निर्भीको धीमान् ह्रीमान् महोत्साहः दक्षः क्षमावान् धार्मिकः आस्तिकः विनयबुद्धिविद्याभिजनवयोवृद्धसिद्धाचार्य्याणामुपासिता। छत्री दण्डी मौनी सोपानत्को युगमात्रदृग्विचरेत् ॥ १७ ॥

श्रेष्ठ पुरुषोंकी समान वेष धारण करे। केशोंको साफ और संवारकर रक्खे। मस्तक, कान, नाक और पैरोंके तलुवोंमें नित्य तैल लगायाकरे, धूमपान करे, जब

कोई भले पुरुष घर आवें उनका आदर सत्कारसे सम्मान करे अथवा जिनसे मिले पहले ही मीठे वचनोंसे प्रसन्न करले, भयसे व्याकुलको धैर्य देवे, कठिन कार्योंकी प्राप्तिके लिये होम, यज्ञ, दान इनको करे, चतुष्पथको नमस्कार करे, बलिआदिसे अग्निदेवता, भद्रपुरुष और दीन आदिकोंको प्रसन्न रक्खे। अतिथियोंका पूजन करे, पितरोंको पिंड आदि देवे, समय विचारकर हित युक्त और मधुर अर्थवाला संभाषण करे, आत्माको वशमें रखनेमें तत्पर रहे, धर्मात्मा होय, जिस कार्यमें सबका भला हो वह करे,कार्यको कर फलके लिये ईर्षा न करे, निश्चिन्त रहे। भयभीत न हो, बुद्धि, लज्जा, उत्साह, चातुरी, क्षमा इनको धारण करे। धर्म करे, आस्तिकतावाला होय और विनय, बुद्धि, विद्या इनमें जो वृद्ध हों और सिद्ध तथा आचार्य हो उनकी उपासना, सेवा करे. छत्री, यष्टि, पगडी, उपानह इनको धारण करे, मार्ग चलते समय आगेको चार हाथ मार्ग देखकर चले ॥ १७ ॥

मङ्गलाचारशीलः कुचैलास्थिकण्टकामेध्यकेशतुषोत्करभस्मकपालस्नानबलिभूमीनां परिहर्त्ता प्राक्श्रमाद्व्यायामवर्जी स्यात्। सर्वप्राणिषु बन्धुभूतः स्यात्। क्रुद्धानामनुनेता भीतानामाश्वासयिता दीनानामभ्युपपत्ता। सत्यसन्धः। सामप्रधानः। परपरुषवचनसहिष्णुः अमर्षघ्नः। प्रशमगुणदर्शी ॥ १८ ॥

सदा ही मंगलवस्तुओं और मंगल (शुभ) कार्योंका सेवन करे, खराब वस्त्र, अस्थि, कांटे अमेध्य (विष्ठाआदि), केश, तुष, कंकड आदि, भस्म, ठीकडेवाली भूमिमें और जहां स्नान करनेका जल बहरहा हो तथा जिस भूमिमें बलि दी हो एवं श्मशान आदि भूमिमें न जावे। थकावट होनेसे पहले कसरत छोडदेवे अर्थात् अत्यंत व्यायाम न करे। सब प्राणियोंसे बंधुओंकी समान प्रेम रक्खे, क्रोधयुक्तोंको नम्रतासे शांत करले। भयभीतोंको आश्वासन करे अर्थात् दिलासा देवे, दीन पुरुषों पर दया करे, सत्यभाषणमें तत्पर रहे, और साम, दान, दंड, भेद इन चारोंमें सामगुणका अवलम्बन करे, पराये कहेहुए कठोर वचनोंको सहन करनेवाला होय, आप क्रोध और अहंभाव न लावे, उत्तम शांतिदायक गुणोंका अवलम्बन करे ॥ १८ ॥

अकर्तव्योंका वर्णन।

रागद्वेषहेतूनां हन्ता। नानृतं ब्रूयात्। नान्यस्वमाददीत। नान्यस्त्रियमभिलषेत्। नान्यश्रियं न वैरं रोचयेत्। न कुर्यात् पापं न पापेऽपि पापी स्यात्। नान्यदोषान्ब्रूयात्। नान्यरहस्यमागमयेत्॥ १९॥नाधार्मिकैर्न नरेन्द्रद्विष्टैः सहासीत। नोन्मत्तैर्न पतितैर्न भ्रूणहन्तृभिर्न क्षुद्रैर्न दुष्टैः न

दुष्टयानान्यारोहेत् । न जानुसमं कठिनमासनमध्यासीत ॥ २० ॥ नानास्तीर्णमनुपहितमविशालमसमं वा शयनं प्रपद्येत । न गिरिविषममस्तकेष्वनुचरेत् । न द्रुममारोहेत् । न जलोग्रवेगमवगाहेत । कुलच्छायां नोपासीत । नाग्न्युत्पातमभितश्चरेत् । नोच्चैर्हसेत् । न शब्दवन्तं मारुतं मुञ्चेत् । नासंवृतमुखो जृम्भां क्षवथुं हास्यं वा प्रवर्त्तयेत् । न नासिकां कुष्णीयात् । न दन्तान् विघट्टयेत् । न नखान्वादयेत् । नास्थीन्यभिहन्यात् । न भूमिं विलिखेत् । न छिंद्यात्तृणम् । न लोष्ठं मृद्नीयात् ॥ २१ ॥ न विगुणसङ्गैश्चेष्टेत । ज्योतींष्यग्निश्चामेध्यमशस्तञ्च नाभिवीक्षेत । न हुंकुर्य्याच्छवम् । न चैत्यध्वजगुरुपूज्याशस्तच्छायामाक्रामेत् । न क्षपास्वमरसदनचैत्यचत्वरचतुष्पथोपवनश्मशानायतनान्यासेवेत । नैकः शून्यगृहं न चाटवीमनुप्रविशेत् । न पापवृत्तान्स्वीयमित्रभृत्यान्भजेत् । नोत्तमैर्विरुध्येत् । नावरानुपासीत । न जिह्मं रोचयेत् । नाऽनार्य्यमाश्रयेत् । न भयमुत्पादयेत् । न साहसातिस्वप्नप्रजागरस्नानपानाशनान्यासेवेत । नोर्द्ध्वजानुश्चिरं तिष्ठेत् । न व्यालानुपसर्पेन्न दंष्ट्रिणः न विषाणिनः । पुरोवातातपावश्यायातिप्रवाताञ्जह्यात् । कलिं नारभेत । नानिभृतोऽग्निमुपासीत । नोच्छिष्टो नाधःकृत्वा प्रतापयेत् । नाविगतक्लमो नानाप्लुतवदनो न नग्न उपस्पृशेत् । न स्नानशाट्या स्पृशेदुत्तमाङ्गम् । न केशाग्राण्यभिहन्यात् । नोपस्पृश्य ते एव वाससी विधृयात् । नास्पृष्ट्वा रत्नाज्यपूज्यमङ्गलसुमनसोऽभिनिष्क्रामेत् । न पूज्यमङ्गलान्यपसव्यं गच्छेत् । नेतराण्यनुदक्षिणम् ॥ २२ ॥

राग और द्वेषके कारणोंको न रहनेदे । झूठ न बोले । पराई वस्तु न लेवे । परस्त्रीकी कभी भी इच्छा न करे । परसंपत्ति देखकर डाह न करे । किसीसे विरोध न करे । पाप न करे । पापीसे भी पाप न करे । किसीके भी दोष अपने मुखसे न कहे । किसीकी भी गुप्त बातको प्रगट न करे । अधर्मी और राजद्रोही पुरुषके पास भी न जाय । उन्मत्त, पतित, भ्रूणहत्यारे (गर्भगिरानेवाले) और क्षुद्र तथा दुष्ट पुरुषोंका

संग न करे। खराब घोडे आदिपर सवारी न करे । जानु (गोडे,) औंधे करके अथवा जिस तरह बैठनेसे कष्ट हो वैसे न बैठे । जिस शय्यापर वस्त्र न बिछा हो और ओढनेको कपडा न हो, तथा जो लम्बी चौडी ठीक न हो और नष्ट भ्रष्ट हो तथा टेढी हो ऐसी शय्यापर शयन न करे। पर्वत और पर्वतोंकी खराब घाटियोंपर न चढे। वृक्षपर न चढे । अधिक वेगवाली चढी हुई नदीमें स्नान न करे। अपने कुलकी छाया या वेरीके वृक्षकी छायामें न बैठे। अग्नि लगे स्थानमें न जाय। ऊंचे स्वरसे न हँसे। सभा आदिमें अपान वायुका शब्द न करे । मुखको विना ढके जंभाई, छीक, हास्य न करे। नाकको न कुरेले । दाँतोंको न कटकटावे। नखोंको न बजावे, हड्डियोंको हनन न करे, (मटकावे नहीं), पृथ्वीको न कुरेले! तिनके न तोडा करे। वृथा मट्टीके डेले न फोडाकरे। दुष्टाचारी मनुष्योंका संग अथवा उनसे कोई व्यवहार न करे। तेज, ज्योति, अग्नि, पवित्र और निंदितोंके सामने न देखे। मुर्देको देखकर हुंकार न करे। चैत्यस्थान, ध्वजा, गुरु, माता पिता आदि पूज्य जनोंकी छायाको और खराब छायाको उलंघन न करे। रात्रिमें--देवालय, चैत्य, आंगन, चतुष्पथ, बाग, श्मशान और हिंसाकी भूमिमें न रहे। शून्य स्थान अथवा शून्य वनमें अकेला न जाय। पापवृत्तिवाले--स्त्री, मित्र, नौकर आदिको अपने पास न रक्खे। भद्रपुरुषोंसे विरोध न करे। कुटिल पुरुषका संग न करे। कपटी पुरुषसे मेलजोल न करे। खोटे पुरुषका आश्रय न लेय। किसीको भी भय न देवे। बहुत साहस, बहुत सोना, बहुत जागना, बहुत स्नान करना, बहुत पानी और बहुत भोजन करना उचित नहीं, अर्थात् इनको बहुत न करे । जानुओंको ऊपरको कर बडी देर तक न बैठे। सांप सिंहादि और सींगवाले जीवोंके पास न जाय, पूर्वकी वायु, सूर्यकी धूप, हिम, बहुत वेगवाली पवन इनको त्यागदेवे । कलह न छेडे। दावानल आदि अग्निके समीप न जाय। उच्छिष्ट होकर या शय्या आदिके नीचे रख अग्नि न सेके । जबतक थकावट दूर होकर पसीना न सूखजाय तबतक स्नान न करे। नंगा होकर न न्हावे। जिस कपडेसे स्नान किया हो उससे मस्तकादि उत्तम अंगको न पोंछे। केशोंके अग्रभागको पकडकर न झटके । जिस कपडेसे शरीर पोछा हो या स्नान किया हो उस गीले वस्त्रको न पहिरे । रत्न, घृत, पूज्य और मंगलवस्तुओंका स्पर्श करके प्रसन्न मन हो घरसे निकले। पूज्य और मंगल वस्तुओंको बाईं ओर करके न जाय । ऐसेही अपूज्य और अमंगलको दाहनी ओर करके न जाय ॥ १९-२२ ॥

भोजन करनेके नियम।

नारत्नपाणिर्नाऽस्नातो नोपहतवासा नाऽजपित्वा नाहुत्वा देवताभ्यो नानिरूप्य पितृभ्यो नादत्त्वा गुरुभ्यो नातिथिभ्यो नोपाश्रितेभ्यो

नापुण्यगन्धो नामाली नाप्रक्षालितपाणिपादवदनो नाऽशुद्धमुखो नोदङ्मुखो न विमना नाभक्ताशिष्टाशुचिक्षुधितपरिचरो नापात्रीष्व-मेध्यासु नादेशे नाकाले नाकीर्णे नादत्त्वाग्रमग्नये नाप्रोक्षितं प्रोक्ष-णोदकैर्न मन्त्रैरनभिमन्त्रितं न कुत्सयन्न कुत्सितं न प्रतिकूलोपहितम-न्नमाददीत न पर्युषितमन्यत्र मांसहरितशुष्कशाकफलभक्ष्येभ्यः ॥२३॥

हाथोंमें रत्नको धारण किये विना, न्हाये विना, मैले तथा फटे कपडे पहनकर, विना जपकिये, हवन किये विना, देवताओंको अर्पण किये विना, पितृजनों, गुरु-जनों और अतिथियोंको दिये विना, अपने आश्रित पुरुषोंको दिये विना, पवित्र चन्दन गंध आदि धारण किये विना, माला पहने विना, हाथ पांव मुख धोये विना, अशुद्ध मुखसे, उत्तरको मुख करके भोजन न करे। और अपमानित, अभक्त, दुष्ट, अपवित्र और भूखे नौकरके पास रहते हुए, अशुद्ध पात्रमें, निंदित स्थानमें, विना समय, बहुत मनुष्योंमें अकेले, अग्निमें आहुति डाले विना, प्रोक्षणोदकसे प्रोक्षण किये विना, मंत्रोंसे अभिमंत्रित किये विना, भोजनकी निंदा करते हुए, निन्दित पदा-र्थोंको, शत्रुके हाथसे दियेको ऐसे भोजनको न करे। और मांस, हरितपक्षी, सूखे शाक, फलोंसे और पेडा आदि मिठाईसे सिवाय बासी पदार्थ न खाय॥ २३ ॥

नाऽशेषभुक्स्यादन्यत्र दधिमधुलवणसक्तुसर्पिर्भ्यः। न नक्तं दधि भु-ञ्जीत। न सक्तूनेकानश्नीयात् ॥ २४ ॥ न निशि न भुक्त्वा न बहू-न्न द्विर्नोदकान्तारितान् ॥ २५ ॥

भोजन करते समय दधि, मधु, लवण और सत्तुओंके विना सब पदार्थ थोडे २ छोडकर भोजन करने चाहिये॥ रातको दही न खाय। केवल सत्तू (घी मीठे विना) न खाय। रात्रिको और भोजनके पीछे तथा बहुत किस्मके मिलेहुए सत्तू न खाय। दो बार सत्तू न खाय। सूखे सत्तू न फांके ॥ २४ ॥ २५ ॥

न छित्त्वा द्विजैर्भक्षयेत्। नाऽनृजुः क्षुयान्नाद्यान्न शयीत। न वेगि-तोऽन्यकार्य्यः स्यात्। न वाय्वग्निसलिलसोमार्कद्विजगुरुप्रतिमुखं निष्ठीविकावातवर्चोमूत्राण्युत्सृजेत्। न पन्थानमवमूत्रयेन्न जनवति नान्नकाले न जपहोमाध्ययनबलिमङ्गलक्रियासु श्लेष्मसिंघाणकं मुञ्चेत्। न स्त्रियमवजानीत। नाति विश्रम्भयेत्। न गुह्यमनु-श्रावयेन्नाधिकुर्य्यात्। न रजस्वलां नातुरां नामेध्यां नाशस्तां

नानिष्टरूपाचारोपचारां नादक्षिणां नाकामां नान्यकामां नान्यस्त्रियं नान्ययोनिं नायोनौ न चैत्यचत्वरचतुष्पथपवनश्मशानायतनसलिलौषधिद्विजगुरुसुरालयेषु न सन्ध्ययोर्नाति न निषिद्धतिथिषु नाशुचिर्न जग्धभेषजो नाप्रणीतसङ्कल्पो नानुपस्थितप्रहर्षो नाभुक्तवान् नात्याशितो न विषमस्थो न मूत्रोच्चारपीडितो न श्रमव्यायामोपवासक्लमाभिहतो नाऽरहसि व्यवायं गच्छेत् ॥ २६ ॥

दांतोंसे कुचले विना न खाय। शरीरको टेढा करके छींकना, खाना, सोना उचित नहीं। मलादिकके वेगको रोककर कोई कार्य न करे। वायु, अग्नि, जल, चंद्रमा, सूर्य, ब्राह्मण, गुरु इनके सामने थूक, अपानवायुका त्याग, मलत्याग, मूत्र, यह न करे। मार्गमें मल मूत्र न करे। बहुत मनुष्योंमें भोजनके समय, जप, होम, पठन, पाठन, बलि तथा मंगलकार्यमें थूक और नाककी मैलको न त्यागे। स्त्रीको बहुत अपमानित न करे और उसका अत्यंत विश्वास भी न करे तथा अपनी गुप्त बातोंको भी स्त्रीसे प्रगट न करे और कुल अपने कारोबारकी मालिक भी न बनावे। ऐसे ही रजस्वला, रोगिणी, अशुद्ध अश्रेष्ठा, कुरूपा, खोटे आचारवाली, कुबुद्धिनी विना इच्छावाली, दूसरे पुरुषकी इच्छावाली, परस्त्री, इनसे मैथुन न करे। स्त्रीकी योनिसे विना अयोनिमैथुन न करे। चैत्य, चत्वर (देवालय मंदिर आदि) चौराहा, उपवन, श्मशान, वधस्थान, जल, औषधीदेनेके स्थान, द्विजस्थान, गुरुस्थान, देवमंदिर इन स्थानोंमें भी स्त्रीगमन न करे। दोनों संध्याओंमें एकादशी आदि निषिद्ध तिथिमें, अपवित्र अवस्थामें, औषधी खाकर, विना निश्चय किये, विना कामेच्छा प्रगटहुए, भूखे, बहुत भोजन करके विषमरीतिसे, मलमूत्रके वेगमें, थकाहुआ, व्यायाम करके, व्रत करके, आलस्य युक्त भी मैथुन न करे। एकांत स्थानके विना भी स्त्रीसंग न करे २६

अध्ययनकालके नियम।

न सतो न गुरून्परिवदेत्। नाशुचिरभिचारकर्मचैत्यपूज्यपूजाध्ययनमभिनिवर्त्तयेत्। न विद्युत्स्वनार्त्तवीषु नाभ्युदितासु दिक्षु नाग्निसंप्लुवे न भूमिकम्पे न महोत्सवे नोल्कापाते न महाग्रहोपगमने न नष्टचन्द्रायां तिथौ न सन्ध्ययोर्न मुखाद्गुरोर्नावपतितं नातिमात्रं न तान्तं न विस्वरं नानवस्थितपदं नातिद्रुतं न विलम्बितं नातिक्लीबं नात्युच्चैर्नातिनीचैः स्वरैरध्ययनमभ्यसेत्। नातिसमयं जह्यात्। न नियमं भिन्द्यात् ॥ २७ ॥

श्रेष्ठ महात्माओंकी और गुरुजनोंकी निन्दा न करे । विना शुद्ध हुए मंत्र, तंत्र, देवमंदिर, पीपल आदिका पूजन, पूज्योंका पूजन, विद्याध्ययन न करे । अकाल विद्युत्पात होनेपर, दिग्दाह होनेपर, भूकंप होनेपर, बडे उत्साहमें, उल्कापातके समय, सूर्य चंद्रके ग्रहणमें, अमावस्याको, दोनों संध्याओंमें, ऐसे ही गुरुमुखसे सिवाय, अत्यंत मात्रासे, बहुत जोरसे, खराब स्वरसे, पदोंको तोड फोड कर बहुत जल्दी जल्दी, बहुत देरमें, बहुत दुर्बलतासे, बहुत ऊंचे स्वरसे, बहुत नीचे स्वरसे अध्ययन न करे । पढनेके समयको व्यर्थ न खोवे । पढनेके नियमको न बिगाडे ॥ २७ ॥

अन्य नियम ।

न नक्तं नादेशे चरेत् । न सन्ध्यास्वभ्यवहाराध्ययनस्त्रीस्वप्नसेवी स्यात् । न बालवृद्धलुब्धमूर्खक्लिष्टक्लीबैः सह सख्यं कुर्य्यात् । न मद्य-द्यूतवेश्याप्रसङ्गरुचिः स्यात् । न गुह्यं विवृणुयात् । न कञ्चिदवजा-नीयात् । नाहंमानी स्यात् । न दक्षो नादक्षिणो नासूयको न दक्षि-णान् परिवदेत् । न गवां दण्डमुद्यच्छेत् । न वृद्धान् न गुरून्न गणान् न नृपान् वाधिक्षिपेत् । न चाति ब्रूयात् । न बान्धवा-नुरक्तकृच्छ्राद्वितीयगुह्यज्ञान् बहिः कुर्यात् ॥ २८ ॥

रात्रिके समय और खराब स्थानमें न फिरे । संध्याके समय भोजन, अध्ययन, मैथुन और शयन न करे । बालक, अतिवृद्ध, लोभी, मूर्ख, रोगी और नपुंसकोंसे मित्रता न करे । मद्यपान, जूआ और वेश्याओंमें कभी रुचि न करे । घरकी गुप्त बातें किसीसे न कहे । किसीका भी अपमान न करे । अहंकार (मैं बडा हूं वा बडा गुणी हूं) न करे । चतुराई रहित, सूम तथा किसीको दोष लगानेवाला न होवे । ब्राह्मण आदिकोंकी निंदा न करे । गौओंपर डंडा न चलावे । वृद्धपुरुषों, गुरुजनों, बहुत दलवालों तथा राजाओंकी निंदा आदि न करे । न इनके सामने बहुत बोले । अपने बांधवोंको अपने प्रेमियोंको आपत्तिमें सहायता करनेवालोंको, अपने रहस्य जाननेवालोंको न छोडै ॥ २८ ॥

विशेष उपयोगी नियम ।

नाधीरो नात्युच्छ्रितसत्त्वः स्यात् । नाभृतभृत्यो न विश्रब्धास्वजनो नैकः सुखी । न दुःखशीलाचारोपचारो न सर्वविश्रम्भी । न सर्वाभि-शंकी । न सर्वकालविचारी । न कार्य्यकालमतिपातयेत् । नापरीक्षित-मभिनिविशेत् । नेन्द्रियवशगः स्यात् ॥ २९ ॥

धैर्यरहित और बडा सात्त्विक न बनै । नौकरोंकी नौकरी न रक्खे । आदमियोंसे विश्वासरहित भी न बने । कुटुंबके विना अकेला ही सुख न भोगे । और दूसरोंको दुःख मिलनेवाला आचरण न करै । सभीका विश्वास भी न करे । प्रत्येक मनुष्यके झूठा होनेका भ्रम भी न करे । सदा सोचता भी न रहे । कामके समयको व्यर्थ नष्ट न करे । विना जाने कार्यमें प्रवेश न करे । इंद्रियोंके वशमें न होजाय ॥ २९ ॥

न चञ्चलं मनो भ्रामयेत् । न बुद्धीन्द्रियाणामतिभारमादध्यात् । न चातिदीर्घसूत्री स्यात् । न क्रोधहर्षावनुविदध्यात् । न शोकमनुविशेत् । न सिद्धावौत्सुक्यं गच्छेन्नासिद्धौ दैन्यम् । प्रकृतिमभीक्ष्णं स्मरेत् । हेतुप्रभावनिश्चितः स्यात् । हेत्वारम्भनित्यश्च । न कृतमित्याश्वसेत् । न वीर्यं जह्यात् । नापवादमनुस्मरेत् ॥ ३० ॥

मन स्वयं ही चंचल होता है इसको और भी भ्रमित न करे अर्थात् मनको टिकाकर रक्खे । बुद्धि और इंद्रियोंपर बहुत भार न दे अर्थात् जिससे रोग होजाय इतना काम न लेय । कामको बहुत देरमें करनेवाला न होय । क्रोध और हर्षको बढने न दे । शोकातुर न बनारहे । कार्य सिद्ध होनेसे अत्यंत प्रसन्न न होय । कार्यके न होनेसे अति दीनता भी न प्रगट करे । अपने जन्म कर्म आदिका सदैव स्मरण रक्खे । जिस कार्यका आरंभ करे उसके फल (नतीजे) को पहले सोचलेवे । उन्नतिके हेतुओंको नित्य आरंभ करता रहे । अपने आपको कभी कृतकृत्य न समझे । अपने पराक्रमको न छोडे । किसीने अपमान किया हो तो उसको याद न करे ॥ ३० ॥

हवनादिके नियम ।

नाशुचिरुत्तमाज्याक्षततिलकुशसर्षपैरग्निं जुहुयात् । आत्मानमाशीर्भिराशासानः । अग्निर्मे नापगच्छेच्छरीरात् । वायुर्मे प्राणानादधातु । विष्णुर्मे बलमादधातु । इन्द्रो मे वीर्य्यं शिवा मां प्रविशन्त्वापः । आपोहिष्ठेत्यपः स्पृशेत् ॥ द्विः परिमृजेदोष्ठौ पादौ चाभ्युक्ष्य मूर्ध्नि खानि चोपस्पृशेत् । अद्भिरात्मानं हृदयं शिरश्च ब्रह्मचर्य्यज्ञानदानमैत्रीकारुण्यहर्षोपेक्षाप्रशमपरश्च स्यादिति ॥ ३१ ॥

शुद्ध पवित्र होकर घी, चावल, तिल, कुशा, सर्सों इनको अग्निमें हवन करे । होम करनेके पीछे अपनेको इस प्रकार आशीर्वाद दे, अग्नि हमारे शरीरमेंसे मत जाय, वायु हमारे प्राणोंकी रक्षा करे, विष्णु हमारे शरीरमें बल दे । इंद्र हमारे वीर्यको बढावे । शुभकारक जल हमारे शरीरमें प्रवेश करे । इस प्रकार कहके " आपोहिष्ठामयो-

भुवः " इत्यादि मंत्रोंसे अपने शरीरको छींटे दे। दो बार होठोंको दोनों पावोंको ऊपरके सब द्वारोंको जलसे छींटे देकर मस्तक और आकाशको छींटे दे। जलसे शरीर, हृदय, मस्तक प्रोक्षण करे। ब्रह्मचर्य, ज्ञान, दान, मैत्री, कृपा तथा आनंदको चाहै और शांतचित्त रहै ॥ ३१ ॥

अध्यायका संक्षिप्त वर्णन।

अत्र श्लोकाः। पञ्चपञ्चकमुद्दिष्टं मनो हेतुचतुष्टयम् ।
इन्द्रियोपक्रमेऽध्याये सद्वृत्तमखिलेन च ॥ ३२ ॥
स्वस्थवृत्तं यथोद्दिष्टं यः सम्यगनुतिष्ठति ।
स समाः शतमव्याधिरायुषा न वियुज्यते ॥ ३३ ॥
नृलोकमापूरयते यशसा साधुसम्मतः ।
धर्मार्थौ चेति भूतानां बन्धुतामुपगच्छति ॥ ३४ ॥
परान्सुकृतिनो लोकान् पुण्यकर्मा प्रपद्यते ॥
तस्माद् वृत्तमनुष्ठेयमिदं सर्वेण सर्वदा ॥ ३५ ॥
यच्चान्यदपि किञ्चित्स्यादनुक्तमिह पूजितम् ।
वृत्तं तदपि चात्रेयः सदैवाभ्यनुमन्यते ॥ ३६ ॥

इति स्वस्थवृत्तचतुष्कः ॥ आग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते
इन्द्रियोपक्रमणीयोऽष्टमोध्यायः ॥ ८ ॥

अब अध्यायका उपसंहार करते हैं। इस इन्द्रियोपक्रमणीय अध्यायमें—पांच पंचक मन, हेतुचतुष्टय, संपूर्ण सद्वृत्त, स्वास्थ्यरक्षा, भलेप्रकार कहेगये हैं। इनका जो मनुष्य अनुसरण करेगा वह रोगरहित, शतायु, साधुसम्मत, यशस्वी मनुष्यलोकको अपनी शोभासे परिपूर्ण करनेवाला होगा। सब लोग उसको धर्मात्मा कहकर उससे मित्रभाव करेंगे। वह पुण्यकर्मा सब मनुष्योंसे उत्तमलोकोंको प्राप्त होता है। इसलिये यह सद्वृत्त सबको ही ग्रहण करना चाहिये। जो इस अध्यायमें कहनेसे रहेहुए सदाचरण हों महात्मा आत्रेयजीने उनकी भी प्रशंसा की है ॥ ३२–३६ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदसंहितायां पटियालाराज्यान्तर्गतटकसालनिवासिवैद्यपञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्यभाषाटीकायामिंद्रियोपक्रमणीयो नामाष्टमोध्यायः ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः ।

अथातः खुड्डाकचतुष्पादमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।

अब हम खुड्डाक चतुष्पाद नामके अध्यायका व्याख्यान करेंगे । ऐसा भगवान् आत्रेयजी कहनेलगे ॥

चिकित्साके चार पाद ।

भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम् ।
गुणवत्कारणं ज्ञेयं विकारव्युपशान्तये ॥ १ ॥

वैद्य, औषधी, परिचारक और रोगी यह चिकित्साके चार पाद हैं, यदि यह चारों यथोचित गुणोंवाले हों तो रोगोंकी शांति अवश्य होजाती है ॥ १ ॥

विकार और स्वास्थ्यका लक्षण ।

विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते ।
सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च ॥ २ ॥

शरीरकी धातुओंमें और वातादिदोषोंमें विषमता (यथोचित न होना) विकार अर्थात् रोग कहाजाता है । और इनका ठीक होना आरोग्यता कहा है । सो आरोग्यताको सुख कहते हैं । रोगको दुःख कहते हैं ॥ २ ॥

चिकित्सा लक्षण ।

चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते ।
प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते ॥ ३ ॥

धातुदोष आदिकी विकृतिमें उनको ठीक अर्थात् साम्यावस्थामें करनेके लिये वैद्य आदि चारों पादोंकी जो योग्यतासे प्रवृत्ति है वह चिकित्सा कही जाती है ॥ ३ ॥

वैद्यके चार गुण ।

श्रुते पर्य्यवदातत्वं बहुशो दृष्टकर्मता ।
दाक्ष्यं शौचमिति ज्ञेयं वैद्ये गुणचतुष्टयम् ॥ ४ ॥

शास्त्रको अच्छीतरहसे जाननेवाला, दूरदर्शी, (रोगादिमें भविष्यत्को जाननेवाला) क्रियामें कुशल, शुद्धता यह वैद्यके चार गुण हैं ॥ ४ ॥

औषधिगुण चतुष्टय ।

बहुता तत्र योग्यत्वमनेकविधकल्पना ।
सम्पच्चेति चतुष्कोऽयं द्रव्याणां गुण उच्यते ॥ ५ ॥

अच्छे गुणयुक्त, रोगके अनुसार, अनेक प्रकारसे कल्पनापूर्वक प्रयोग और कीडे आदिसे रहित नवीन होना यह चार गुण औषधके कहे हैं ॥ ५ ॥

सेवकके चार गुण ।

उपचारज्ञता दाक्ष्यमनुरागश्च भर्त्तरि ।
शौचञ्चेति चतुष्कोऽयं गुणः परिचरे जने ॥ ६ ॥

प्रेमसे सेवा करना, सब कार्यका जाननेवाला होना, चतुरता, स्वामीका भक्त होना, यह चार गुण परिचारक (सेवक) के होने चाहिये ॥ ६ ॥

रोगीके चार गुण ।

स्मृतिर्निर्देशकारित्वमभीरुत्वमथापि च ।
ज्ञापकत्वञ्च रोगाणामातुरस्य गुणाः स्मृताः ॥ ७ ॥

स्मरण रखना, वैद्यकी आज्ञामें चलना, निर्भय होना (घबरानेवाला न होना) अपने रोगोंको यथार्थ कहना यह चार गुण रोगीके कहे हैं ॥ ७ ॥

१६ गुणोंमें वैद्यकी प्रधानता ।

कारणं षोडशगुणं सिद्धौ पादचतुष्टयम् ।
विज्ञाता शासिता योक्ता प्रधानं भिषगत्र तु ॥ ८ ॥

वैद्य आदि चार पादोंका जो चतुष्टय है अर्थात् सोलह गुण सम्पन्न होनेसे रोगी आरोग्य होता है । इन सबमें ज्ञाता, उपदेश करता, औषधि आदिके क्रमको बताकर आरोग्यकारक पथपर चलानेवाला होनेसे वैद्य प्रधान होता है ॥ ८ ॥

पक्तौ हि कारणं पक्तुर्यथा पात्रेन्धनानलाः ।
विजेतुर्विजये भूमिश्चमूः प्रहरणानि च ॥ ९ ॥
आतुराद्यास्तथा सिद्धौ पादाः कारणसंज्ञिताः ।
वैद्यस्यातश्चिकित्सायां प्रधानं कारणं भिषक् ॥ १० ॥

जैसे भोजन बनानेमें बर्तन, लकडी, अग्नि आदि अन्य पाकके कारण होनेपर भी बनानेवाला ही मुख्य मानाजाता है, और विजयमें–भूमि, सेना, अस्त्र शस्त्र आदि विजयके कारण होते हुए भी सेनापति ही मुख्य माना जाता है, ऐसे ही आरोग्य करनेमें रोगी, परिचारक, औषध इनके कारण होनेपर भी वैद्यको ही प्रधान कारण समझना चाहिये ॥ ९ ॥ १० ॥

मृद्दण्डचक्रसूत्राद्याः कुम्भकारादृते यथा ।
नावहन्ति गुणं वैद्यादृते पादत्रयं तथा ॥ ११ ॥

जैसे घट आदि मट्टीका पात्र बनाते समय मट्टी, दंड, चक्र, सूतका डोरा आदि सब होतेहुए भी कुम्हारके बिना घडा नहीं बनासकते, ऐसेही वैद्यके बिना सेवक, औषध, रोगी, आरोग्यता प्राप्त नहीं करसकते ॥ ११ ॥

रोगोंमें वैद्यको कारणता।

गन्धर्वपुरवन्नाशं यद्विकाराः सुदारुणाः।
यान्ति यच्चेतरे वृद्धिमाशूपायप्रतीक्षिणः ॥ १२ ॥
सति पादत्रये ज्ञाज्ञौ भिषजावत्र कारणम्।
वरमात्मा हुतोऽज्ञेन न चिकित्सा प्रवर्त्तिता ॥ १३ ॥

रोगी, औषध और परिचारक यह चिकित्साके तीन पाद होतेहुए भी इन्द्रजालके समान जो रोग शीघ्र निवृत्त होजाता है अथवा ठीक उपाय न होनेसे बढजाता है इसमें भी सर्वज्ञ अथवा अज्ञ वैद्यको ही कारण मानना चाहिये अर्थात् अन्य पादत्रय होनेपर भी वैद्य अच्छा होनेसे रोगका नाश और वैद्यके मूर्ख होनेसे रोगकी वृद्धि होती है। इसीसे कहते हैं कि अपने आप मरजाना अच्छा है परन्तु मूर्खसे चिकित्सा कराना अच्छा नहीं ॥ १२ ॥ १३ ॥

मूर्ख वैद्यके लक्षण।

पाणिचाराद्यथा चक्षुरज्ञानाद्भीतभीतवत्।
नौर्मारुतवशेवाज्ञो भिषक्चरति कर्मसु ॥ १४ ॥

अन्धा मनुष्य जैसे चलते समय आगेको हाथ मारता है और अति पवनके वेगसे जैसे नाव डगमगाती है ऐसे ही चिकित्साके समय मूर्ख वैद्य डगमगाता हुआ अंटसंट यत्न करता है ॥ १४ ॥

कुत्सित वैद्यका कर्म।

यदृच्छया समापन्नमुत्तार्य्यानियतायुषम्।
भिषग्मानी निहन्त्याशु शतान्यनियतायुषाम् ॥ १५ ॥

मूर्ख वैद्यके हाथसे यदि कोई दैववश एक पुरुष भी अच्छा होजाय फिर उसको दृष्टान्तमें रख " मैं ऐसा योग्य वैद्य हूं" यह कहकर वह दुष्ट सैकडों मनुष्योंकी आयुको नष्ट करता है ॥ १५ ॥

वैद्यको प्राणदातृत्व।

तस्माच्छास्त्रेऽर्थविज्ञाने प्रवृत्तौ कर्मदर्शने।
भिषक्चतुष्टये युक्तः प्राणाभिसर उच्यते ॥ १६ ॥

इसलिये जिस वैद्यने शास्त्र और उसके मर्मको समझाहो, औषध और औषधके प्रयोगको जाना हो तथा चिकित्साक्रमको अच्छी तरह देखलिया हो वह गुणचतुष्टययुक्त वैद्य प्राणोंको देनेवाला कहा जाता है ॥ १६ ॥

राजयोग्य चिकित्सकके लक्षण।

हेतौ लिङ्गे प्रशमने रोगाणामपुनर्भवे।
ज्ञानं चतुर्विधं यस्य स राजार्हो भिषक्तमः ॥ १७ ॥

जो वैद्य रोगके कारण और लक्षण तथा रोगनाशक उपाय और जिस प्रकार फिर रोग न होय ऐसी स्वास्थ्यरक्षा इन चार प्रकारोंके विषयको जानता है वह राजाओंकी चिकित्सा करने योग्य वैद्यराज होता है ॥ १७ ॥

वैद्यका कर्तव्यकर्म।

शस्त्रं शास्त्राणि सलिलं गुणदोषप्रवृत्तये।
पात्रापेक्षीण्यतः प्रज्ञां चिकित्सार्थं विशोधयेत् ॥ १८ ॥

शस्त्र, शास्त्र, जल यह गुण और दोषमें पात्रकी अपेक्षा करते हैं अर्थात् शस्त्र योग्य शूरवीरके हाथमें होनेसे गुणदायक होता है और नालायक दुष्ट आदिके हाथमें होनेसे दोषकारक (दुःखदायक) होता है। जल उत्तम पात्रमें शुद्ध और उत्तम होता है, मलिन पात्रमें निंदनीय होता है अथवा यों कहिये नीममें जानेसे कडुआ और इक्षुमें मीठा होता है इसी प्रकार शास्त्र भी बुद्धिके आधार पर है। इसलिये वैद्यको निर्मल (उत्तम) बुद्धिकी आवश्यकता है ॥ १८ ॥

वैद्यके षड्गुण।

विद्या वितर्को विज्ञानं स्मृतिस्तत्परता क्रिया।
यस्यैते षड्गुणास्तस्य न साध्यमतिवर्त्तते ॥ १९ ॥

जिस वैद्यमें—विद्या, युक्ति, विज्ञान, स्मृति, तत्परता (दत्तचित्तता) और क्रिया-कुशल होना यह छः गुण विद्यमान हैं उस वैद्यको कोई भी रोग असाध्य नहीं होता॥१९॥

वैद्यकी निष्पत्ति।

विद्या मतिः कर्मदृष्टिरभ्यासः सिद्धिराश्रयः।
वैद्यशब्दाभिनिष्पत्तावलमेकैकमप्यतः ॥ २० ॥

विद्या, बुद्धि, वैद्यकार्यमें बहुत दृष्टि, अभ्यास, सिद्धि, आश्रय इनमेंसे एक एक गुण पूर्ण होना भी वैद्यशब्दकी निष्पत्तिके लिये हो सकता है यदि संपूर्ण अर्थात् छः गुण हों तो फिर कहना ही क्या है अर्थात् बहुत ही अच्छा है ॥ २० ॥

सुखदाता वैद्यके लक्षण।

यस्य त्वेते गुणाः सर्वे सन्ति विद्यादयः शुभाः।
स वैद्यशब्दं सद्भूतमर्हन् प्राणिसुखप्रदः ॥ २१ ॥

जिस वैद्यमें यह विद्या सब आदि शुभ गुण हैं वही वैद्य संमानके योग्य और सबको सुख देनेवाला होता है ॥ २१ ॥

दोषोंसे बचनेका उपाय।

शास्त्रं ज्योतिः प्रकाशार्थं दर्शनं बुद्धिरात्मनः।
ताभ्यां भिषक् सुयुक्ताभ्यां चिकित्सन्नापराध्यति ॥ २२ ॥

शास्त्र सूर्यकी समान सब वस्तुओं और रोग द्रव्यादिकोंमें प्रकाशकारक है और इसके प्रकाशमें नेत्रोंकी समान सब वस्तुओंको देखनेवाली अपनी बुद्धि है। इसलिये जो वैद्य शास्त्र और बुद्धिके संयोगसे अर्थात् शास्त्र और बुद्धि इन दोनोंको मिलाकर काम लेता है वह चिकित्सा करनेमें दोषका भागी नहीं होता अर्थात् यशको प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

वैद्यके उपदेश।

चिकित्सिते त्रयः पादा यस्माद्वैद्यव्यपाश्रयाः।
तस्मात्प्रयत्नमातिष्ठेद्भिषक् स्वगुणसम्पदि ॥ २३ ॥

चिकित्साके तीन पाद (आतुर, परिचारक, भेषज) वैद्यके ही अधीन हैं इसलिये वैद्यको उचित है कि, अपने गुणोंमें पूर्ण रूपसे संपन्न रहनेमें यत्नवान् रहै ॥ २३ ॥

वैद्यकी चार प्रकारकी वृत्ति।

मैत्री कारुण्यमार्त्तेषु शक्ये प्रीतिरुपेक्षणम्।
प्रकृतिस्थेषु भूतेषु वैद्यवृत्तिश्चतुर्विधा ॥ इति ॥ २४ ॥

वैद्यको रोगियोंमें मित्रभाव और दयाभाव रखना योग्य है तथा साध्य रोगोंमें साहसपूर्वक यत्न करना उचित है और स्वस्थ मनुष्योंमें जिस प्रकार वह रोगी न हों यह यत्न रखना आवश्यक है इस चार प्रकारकी बुद्धिको ब्राह्मी बुद्धि कहते हैं ॥२४॥

अध्यायका संक्षिप्त विवरण।

तत्रश्लोकौ। भिषग्जितां चतुष्पादं पादः पादश्चतुर्गुणः।
भिषक् प्रधानं पादेभ्यो यस्माद्वैद्यस्तु यद्गुणः ॥ २५ ॥
ज्ञानानि बुद्धिर्ब्राह्मी च भिषजां या चतुर्विधा।
सर्वमेतच्चतुष्पादे खुड्डाके सम्प्रकाशितम् ॥ २६ ॥

इति खुड्डाकचतुष्पादाध्यायः समाप्तः ॥ ९ ॥

चिकित्साके चार पाद और एक एक पादके चार चार गुण उन सबमें वैद्यकी प्रधानता, वैद्यके चार प्रकारके गुण और ज्ञान ग्राही बुद्धि यह इस खुड्डाकचतुष्पाद अध्यायमें वर्णन किया गया है ॥ २९ ॥ २६ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां पटियालाराज्यांतर्गतटकसालनिवासि वैद्यपंचानन वैद्यरत्न पं०. रामप्रसादवैद्योपाध्यायकृतप्रसादन्याख्यभाषाटीकायां खुड्डाकचतुष्पादो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः ।

अथातो महाचतुष्पादमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम महाचतुष्पाद नामक अध्यायकी व्याख्या करतेहैं । ऐसा आत्रेय भगवान् कहने लगे ॥

औषधसे आरोग्यलाभ ।

चतुष्पादं षोडशकलं भेषजमिति भिषजो भाषन्ते । यदुक्तं पूर्वाध्याये षोडशगुणमिति तद्भेषजम् । युक्तियुक्तमलमारोग्यायेति भगवान् पुनर्वसुरात्रेयः ॥ १ ॥

वैद्य जन षोडशकलासंपन्न चतुष्पादको ही औषध अर्थात् चिकित्सा मानतेहैं । सो षोडशगुणसंपन्न चिकित्सा इससे पहले अध्यायमें कह आए हैं, वह युक्तियुक्त चिकित्सा आरोग्यताप्राप्तिके लिये बहुत है ऐसा भगवान् पुनर्वसुजीने कथन किया॥१॥

उक्तविषयमें मैत्रेयका प्रतिवाद ।

नेति मैत्रेयः । किं कारणम् ? दृश्यन्ते ह्यातुराः केचिदुपकरणवन्तश्च परिचारकसम्पन्नाश्चात्मवन्तश्च कुशलैश्च भिषग्भिरनुष्ठिताः समुत्तिष्ठमानास्तथा युक्ताश्चापरे म्रियमाणास्तस्माद्भेषजमकिञ्चित्करं भवति ॥ २॥

यह सुनकर मैत्रेयजी कहनेलगे—ऐसा नहीं होता क्योंकि, हमने देखाहै कि बहुतसे रोगी तो योग्य औषध, उत्तम सेवक, बुद्धिमान् और कुशल वैद्यकी चिकित्साद्वारा आरोग्य (तंदुरुस्त) होजातेहैं । और बहुतसे सर्वगुणयुक्त औषधादि होनेपर और योग्य चिकित्सकसे चिकित्सा किये जाने पर भी मृत्युको प्राप्त होतेहैं । [इसमें क्या कारण है कि उसी प्रकार चिकित्सा करनेसे बहुतसे लोग आरोग्य होजातेहैं और उसी प्रकारकी चिकित्सासे बहुतसे मृत्युवश होतेहैं । इसलिये जानपडताहै कि मनुष्यका जीवन मरण दैवाधीन है औषध आदिसे कुछ नहीं होता] ॥ २ ॥

दृष्टान्त।

तद्यथा—श्वभ्रे सरसि च प्रसिक्तमल्पमुदकम् । नद्यां स्यन्दमानायां पांशुधाने वा पांशुमुष्टिप्रकीर्ण इति ॥ तथापरे दृश्यन्ते अनुपकरणाश्चापरिचारिकाश्चानात्मवन्तश्चाकुशलैश्च भिषग्भिरनुष्ठिताः समुत्तिष्ठमानाः। तथायुक्ता म्रियमाणाश्चापरे। यतश्च प्रतिकुर्वन् सिद्ध्यति प्रतिकुर्वन् म्रियते। अप्रतिकुर्वन्नपि सिद्ध्यति। अप्रतिकुर्वन् म्रियते। ततश्चिन्त्यते भेषजमभेषजेनाविशिष्टमिति मैत्रेयः ॥ ३ ॥

उसको इसतरहसे समझिये कि, जैसे एक बडे भारी गढेमें अथवा तालावमें जलकी अंजली डालदेना अथवा किसी बहतीहुई नदी या रेतके बडे भारी ढेर पर एक बालू रेतकी मुट्ठी बखेरदेना किसी गणनामें नहीं होती। इसी प्रकार असंख्य प्राणियोंके मरणमें एक दोका अच्छा हो जाना भी किस गणनामें है। और देखनेमें भी आता है कि, बहुतसे रोगी योग्य परिचारकके विना, उत्तम औषधादि न होनेपर, खोटे स्वभावके होनेपर और अयोग्य वैद्यसे अथवा विनाही वैद्यसे आरोग्य होजातेहैं। एवं योग्य चतुष्पादी चिकित्सासे भी अनेक प्राणी मरजातेहैं। जब यत्न करनेपर भी कुछ लोग अच्छे होजाते हैं और कुछ मर जाते हैं तथा औषधि न करनेपर भी कुछ बचते और कुछ मर जाते हैं तो औषध देने और न देनेमें कोई विशिष्टता नहीं। ऐसा मैत्रेयने कहा ॥ ३ ॥

उक्त विषयमें आत्रेयका खण्डन।

मिथ्या चिन्त्यत इत्यात्रेयः। किं कारणम्? ये ह्यातुराः षोडशगुणसमुदितेनानेन भेषजेनोपपद्यमाना इत्युक्तं तदनुपपन्नम्। न हि भेषजसाध्यानां व्याधीनां भेषजमकारणं भवति। ये पुनरातुराः केवलाद्भेषजादृते समुत्तिष्ठन्ते न तेषां सम्पूर्णभेषजोपपादनाय समुत्थानविशेषोऽस्ति। यथा हि पतितं पुरुषं समर्थमुत्थानायोत्थापयन् पुरुषो बलमस्योपादध्यात्। स क्षिप्रतरमपरिक्लिष्ट एवोत्तिष्ठेत् तद्वत्सम्पूर्णभेषजोपलम्भादातुराः॥ ये चातुराः केवलाद्भेषजादपि म्रियन्ते न च सर्व एव ते भेषजोपपन्नाः समुत्तिष्ठेरन्। न हि सर्वे व्याधयो भवन्त्युपायसाध्याः ॥ ४ ॥ न चोपायसाध्यानां व्याधीनामनुपायेन सिद्धिरस्ति। न चासाध्यानां व्याधीनां भेषजसमुदायोऽस्ति। न ह्यलं ज्ञानवान् भिषङ्-

मुमूर्षुमातुरमुत्थापयितुम् ॥ परीक्ष्यकारिणो हि कुशला भवन्ति । यथा हि योगज्ञोऽभ्यासनित्य इष्वासो धनुरादायेषुमपास्यन् नातिविप्रकृष्टे महति कार्ये नापराधी भवति । सम्पादयति चेष्टकार्य्यम् । तथा भिषक्स्वगुणसम्पन्न उपकरणवान्वीक्ष्यकर्मारम्भमाणः साध्यरोगमनपराधः सम्पादयत्येवातुरमारोग्येण । न तस्मान्न भेषजमभेषजेनाविशिष्टं भवति ॥ ५ ॥

यह सुनकर आत्रेय कहनेलगे हे मैत्रेय ! यह शंका करना आपका वृथा है कि, क्या कारण है जो षोडश गुण संपन्न चिकित्सासे रोगी मरजातेहैं और आरोग्य होजातेहैं। जो रोग भेषजसाध्य है उसमें षोडशगुणयुक्त चिकित्सा की हुई कभी निष्फल नहीं जाती। और जो कहते हो विना चिकित्सासे ही रोगी अच्छे होते देखेहैं उनके रोगमें विशेषतासे संपूर्ण चिकित्साकी आवश्यकता नहीं, उनके अल्पदोषवाली व्याधि स्वयं भी परिपाकको प्राप्त हो शांत होजातीहै। जैसे कोई मनुष्य गिरपडा हो वह अपने आप उठनेको तैयार है परंतु दूसरेका दिया सहारा मिलनेसे वह और भी सुखपूर्वक उठ जाताहै और दूसरेके सहारेसे उठनेका बल प्राप्त होनेसे विना कष्ट खडा होताहै। ऐसाही साध्य रोगोंमें औषधीके प्रयोगसे रोगी शीघ्र आरोग्य होजातेहैं। और जो औषधिके प्रयोगसे रोगी शीघ्र आरोग्य होजातेहैं, और जो औषध सेवन करनेपर भी मरजातेहैं सो संपूर्ण रोग भेषजसाध्य नहीं होते अर्थात् असाध्य रोग औषधसे साध्य नहीं हैं और जो रोग चिकित्सा करनेसे दूर होतेहैं वह चिकित्साके विना शांत होही नहीं सकते। ऐसेही असाध्य रोग संपूर्ण यत्नोंसे भी साध्य नहीं होते। और मरणोन्मुख रोगीको ज्ञानवान् वैद्य भी आरोग्य नहीं कर सकता। इसलिये साध्य, असाध्य, कष्टसाध्यकी परीक्षा करके चिकित्सा करनेवाले कुशल वैद्य निदानद्वारा रोगको जानकर चिकित्सा करनेसे व्याधिको जीतलेतेहैं। जैसे बाण चलानेमें चतुर तथा नित्यका अभ्यासवाला धनुषधारी सामने आयेहुए बडे शरीरवालेको बाण मारकर विद्ध करताहुआ आप उस बडे बलवालेसे अबाध्य रहताहै और अपने इच्छित कार्यको सिद्ध करलेताहै, ऐसे ही योग्य वैद्य भी अपने गुणोंके बलसे और उपकरण (औषधादि) के बलसे विचारपूर्वक चिकित्सा करताहुआ साध्य और कष्टसाध्य रोगोंमें निर्विघ्नतासे रोगियोंको आरोग्य कर लेताहै। इसलिये चिकित्सा करना और न करना बराबर नहीं हो सकता ॥ ४ ॥ ५ ॥

---

(१) ना पराधवानिति पाठान्तरम्।

आत्रेयकी अनुभूत चिकित्सा।

इदं च नः प्रत्यक्षं यदनातुरेण भेषजेनातुरं चिकित्सामः। क्षाममक्षामेण। कृशं दुर्बलमाप्याययामः ॥ ६॥ स्थूलं मेदस्विनमपतर्पयामः। शीतेनोष्णाभिभूतमुपचरामः। शीताभिभूतमुष्णेन। न्यूनान् धातून् पूरयामः। व्यतिरिक्तान् ह्रासयामः। व्याधीन्मूलविपर्ययेणोपचरन्तः सम्यक् प्रकृतौ स्थापयामः। तेषां नस्तथा कुर्वतामयं भेषजसमुदायः कान्ततमो भवति ॥ ७॥

हे मैत्रेय ! यह हमारा साक्षात् अनुभव है कि, हम रोगीको रोगसे विपरीत गुणवाली (आरोग्यकारक) औषधिसे और कमजोरको शक्तिवाली औषधसे चिकित्सा कर आरोग्य करलेतेहैं। ऐसेही कृश और दुर्बलको तर्पण औषधीद्वारा पुष्ट करतेहैं। स्थूल और मेदवालेको रूक्षण कर कृश करलेतेहैं। एवं गर्मीसे पीडितको शीतल क्रिया द्वारा, शीतसे पीडितको उष्णक्रिया द्वारा, अच्छा करतेहैं। रसरक्तादि धातुएं कम होगईहों तो औषध द्वारा बढा देतेहैं। बढीहुई हों तो कमकर देतेहैं। विषम होगईहों तो यथोचित कर देतेहैं। इसी प्रकार जिसको जो रोग हो उस रोगके कारणसे विपरीत चिकित्सा कर रोगको दूर करके उसको स्वस्थ कर देतेहैं इस प्रकार जिस २ को जो २ रोग हो उस २ रोगमें उसी २ प्रकारकी चिकित्साका प्रयोग करनेपर हमारी औषधियें परम लाभदायक होतीहैं ॥ ६ ॥ ७ ॥

भवन्ति चात्र–साध्यासाध्यविभागज्ञो ज्ञानपूर्वं चिकित्सकः।
काले चारभते कर्म यत्तत्साधयति ध्रुवम् ॥ ८ ॥

इसीलिये कहाहै। जो वैद्य रोगको साध्य और असाध्य विचारकर ठीक समय पर हेतु और रोगके विपरीत चिकित्सा करताहै वह वैद्य औषधसाध्य रोगोंको अवश्य जीतलेताहै ॥ ८ ॥

असाध्यरोगकी चिकित्साका फल।

स्वार्थविद्यायशोहानिमुपक्रोशमसंग्रहम्।
प्राप्नुयान्नियतं वैद्यो योऽसाध्यं समुपाचरेत् ॥ ९ ॥

जो वैद्य असाध्यरोगमें चिकित्सा आरंभ करताहै उसके स्वार्थ (धनादि) विद्या, यश, नष्ट होजातेहैं और अपयश फैलताहै तथा उद्योग व्यर्थ जाताहै। इसलिये असाध्य रोगमें यत्न करना वृथा है ॥ ९ ॥

साध्यासाध्यरोगोंके भेद।

सुखसाध्यं मतं साध्यं कृच्छ्रसाध्यमथापि च।
द्विविधश्चाप्यसाध्यं स्याद्याप्यं यदनुपक्रमम् ॥ १० ॥

साध्य व्याधियें दो प्रकारकी होती हैं एक साध्य और कृच्छ्रसाध्य । ऐसे ही असाध्य भी दो प्रकारकी होती हैं जैसे याप्य और अचिकित्स्य ॥ १० ॥

साध्यके अन्य भेद ।

साध्यानां त्रिविधश्चाल्पमध्यमोत्कृष्टतां प्रति ।
विकल्पो न त्वसाध्यानां नियतानां विकल्पना ॥ ११ ॥

साध्य रोगोंके और भी तीन भेद कहे हैं। जैसे—अल्प, मध्य, उत्कृष्ट, परंतु असाध्य रोगके भेद नहीं यह प्राणनाशक होता है । और जो चिकित्सायोग्य हैं उनमें भेद अवश्य होता है ॥ ११ ॥

सुखसाध्यके लक्षण ।

हेतवः पूर्वरूपाणि रूपाण्यल्पानि यस्य च ।
न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत् ॥ १२ ॥
न च कालगुणस्तुल्यो न दोषो दुरुपक्रमः ।
गतिरेका नवत्वञ्च रोगस्योपद्रवो न च ॥ १३ ॥
दोषश्चैकः समुत्पत्तौ देहः सर्वौषधक्षमः ।
चतुष्पादोपपत्तिश्च सुखसाध्यस्य लक्षणम् ॥ १४ ॥

सुखसाध्यके लक्षण—जिस व्याधिके हेतु (रोगोत्पादक कारण) और पूर्व-रूप तथा रूप यह सब अल्प हों और दूष्य, देश, प्रकृति, काल इनके साथ रोगकी साम्यता न हो । और रोग दुरुपक्रम न हो अर्थात् यत्न करनेयोग्य हो। और रोग एकही गतिवाला हो तथा जो रोग नवीन हो और उपद्रवरहित हो जो एक दोषसे ही उत्पन्न हुआ हो । जिस रोगीकी देह सब तरहसे चिकित्साक्रम सहन कर-सकती हो । तथा चिकित्साके चारों पाद संपन्न हों । यह जिस रोगमें होय वह सुख-साध्य जानो ॥ १२–१४ ॥

कृच्छ्रसाध्यके लक्षण ।

निमित्तपूर्वरूपाणां रूपाणां मध्यमे बले ।
कालप्रकृतिदुष्यानां सामान्योऽन्यतमस्य च ॥ १५ ॥
गर्भिणीवृद्धबालानां नात्युपद्रवपीडितम् ।
शस्त्रक्षाराग्निकृत्यानामनवं कृच्छ्रदोषजम् ॥ १६ ॥
विद्यादेकपथं रोगं नातिपूर्णचतुष्पदम् ।
द्विपथं नातिकालं वा कृच्छ्रसाध्यं द्विदोषजम् ॥ १७ ॥

शेषत्वादायुषो याप्यमसाध्यं पथ्यसेवया।
लब्ध्वाल्पसुखमल्पेन हेतुनाशप्रवर्तकम् ॥ १८ ॥

जिस व्याधिमें निमित्त, पूर्वरूप, रूप यह मध्यम बलवाले हों और समय, स्वभाव, और दूष्य (रसरक्तादि) इनके साथ रोगकी तुल्यता होय। गर्भिणी, बालक, वृद्ध इनके रोग और जिनमें बहुत बढेहुए उपद्रव नहीं तथा जिन रोगोंमें शस्त्र, क्षार, अग्नि इनका प्रयोग करनापडे, और बहुत दिनका रोग यह सब कष्टसाध्य होते हैं। एक दोषज और एकमार्गी रोग भी चिकित्साके चार पादोंके विना कष्टसाध्य होता है। द्विमार्गगामी (ऊर्ध्वगामी और अधोगामी) शीघ्र प्रगटहुआ तथा द्विदोषज रोग भी कष्टसाध्य होता है। यदि आयुबल बाकी हो तो असाध्य रोगमें भी पथ्य आदि सेवनसे कुछ समय व्यतीत होजाता है और वह रोग कुछ दबासा रहता है ऐसे रोगको याप्य कहते हैं। इस रोगमें थोडासा कुपथ्य करनेसे भी यह रोग बढजाता है जैसे पुराना अर्श और श्वास ॥ १५-१८ ॥

द्विदोषज तथा कष्टसाध्य व्याधिके लक्षण।

गम्भीरं बहुधातुस्थं मर्म्मसन्धिसमाश्रितम्।
नित्यानुशायिनं रोगं दीर्घकालमवस्थितम् ॥ १९ ॥
विद्याद् द्विदोषजं तद्वत् प्रत्याख्येयं त्रिदोषजम्।
क्रियापथमतिक्रान्तं सर्वमार्गानुसारिणम् ॥ २० ॥
औत्सुक्यारतिसंमोहकरमिन्द्रियनाशनम्।
दुर्बलस्य सुसंवृद्धं व्याधिं सारिष्टमेव च ॥ २१ ॥

असाध्य-जो रोग गंभीर हो, बहुत धातुओंमें स्थित हो, मर्मस्थान और सन्धियोंमें पहुंचा हुआ हो, जिसमें नित्य उपद्रव बढते हों ऐसा द्विदोषज अथवा त्रिदोषज रोग जबाव देनेयोग्य होता है अर्थात् यत्नकरने योग्य नहीं। जब व्याधि चिकित्सायोग्य न रही हो, संपूर्ण मार्गगामी होगई हो, और रोगीके शरीरमें व्यग्रता (घबराहट) बीमारी अशक्ति और मोह उत्पन्न हो तथा इन्द्रियोंकी शक्ति नष्ट होगई हो तथा दुर्बल मनुष्यकी बढी हुई और मरणख्यापक व्याधिका यत्न करना उचित नहीं वह रोग असाध्य होते हैं ॥ १९-२१ ॥

वैद्यको शिक्षा।

भिषजा प्राक् परीक्ष्यैवं विकाराणां सुलक्षणम्।
पश्चात् कार्यसमारम्भः कार्य्यः साध्येषु धीमता ॥ २२ ॥

साध्यासाध्यविभागज्ञो यः सम्यक् प्रतिपत्तिमान् ।
न स मैत्रेय तुल्यानां मिथ्याबुद्धिं प्रकल्पयेत् ॥ इति ॥२३॥

मतिमान् योग्य वैद्यको चाहिये कि, इस प्रकार पहले रोगोंकी परीक्षा करके यदि रोग साध्य प्रतीत हों तो उनका यत्न आरंभ करे। जो वैद्य साध्य और असाध्य रोगोंको अच्छी तरहसे जानता है जो लक्षणद्वारा रोग जानकर चिकित्सा करता है जो गुण और सामग्रीयुक्त है वह चिकित्सासे साध्य रोगीको आरोग्य कर सकता है उसको चिकित्सामें मैत्रेयकी भांति मिथ्याबुद्धि नहीं होती ॥ २३ ॥

अध्यायका संक्षिप्तवर्णन ।

तत्र श्लोकौ । इहौषधं पादगुणाः प्रभावो भेषजाश्रयः ।
आत्रेयमैत्रेयमती मतिद्वैविध्यनिश्चयः ॥ २४ ॥
चतुर्विधविकल्पाश्च व्याधयः स्वस्वलक्षणाः ।
उक्ता महाचतुष्पादे येष्वायत्तं भिषग्जितम् ॥ इति ॥२५॥
अग्नीत्यादि—महाचतुष्पादाध्यायः समाप्तः ॥

इस महाचतुष्पाद अध्यायमें—औषध, पादगुण और औषधका प्रभाव तथा आत्रेय और मैत्रेयजीका पक्ष प्रतिपक्ष और मतभेद तथा उनका निश्चय और व्याधिके चार भेद तथा व्याधियें और उनके लक्षण कथन किये गये हैं जिस वैद्यको इस महाचतुष्पादका ज्ञान है वह औषधि द्वारा रोगोंको जीत सकता है ॥ २४ ॥ २५ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां पटियालाराज्यान्तर्गतटकसालनिवासिवैद्यपञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्यभाषाटीकायां महाचतुष्पादो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः ।

अथातस्तिस्रैषणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम तिस्रैषणीय (तीन एषणावाले) अध्यायकी व्याख्या करते हैं, ऐसा आत्रेय भगवान् कहनेलगे ॥

एषणाओंका निर्देश ।

इह खलु पुरुषेणानुपहतसत्त्वबुद्धिपौरुषपराक्रमेण हितमिह चामुष्मिंश्च लोके समनुपश्यता तिस्र एषणाः पर्य्येष्टव्या भवन्ति ॥ १ ॥

इस संसारमें मन, बुद्धि, पुरुषार्थ और पराक्रमवाले पुरुषको इस लोक और परलोकके सुखकी इच्छा करते हुए तीन प्रकारकी एषणा अर्थात् चाहनाएं प्राप्त करनी योग्य हैं ॥ १ ॥

एषणाओंका वर्णन ।

तद्यथा । प्राणैषणा धनैषणा परलोकैषणेति । आसान्तु खल्वेषणानां प्राणैषणां तावत्पूर्वतरमापद्येत । कस्मात्? प्राणपरित्यागे हि सर्वत्यागः। तस्यानुपालनं स्वस्थस्य स्वस्थवृत्तिरातुरस्य विकारप्रशमनेऽप्रमादः । तदुभयमेतदुक्तं वक्ष्यते च । तद्यथोक्तमनुवर्तमानः प्राणानुपालनाद्दीर्घमायुरवाप्नोतीति प्रथमैषणा व्याख्याता भवति ॥ २ ॥

वह तीन एषणा यह हैं । १ प्राणैषणा, २ धनैषणा, ३ परलोकैषणा । इन तीन एषणाओंमें प्राणैषणा अर्थात् प्राणरक्षामें यत्नवान् होना सबसे प्रथम कहा है. क्योंकि प्राणोंके परित्याग होने पर ही सब वस्तुओंका परित्याग होजाता है । इसीसे आरोग्य पुरुषको अपनी आरोग्यता (तन्दुरुस्ती) की सावधानीसे रक्षा करना अत्यावश्यक है और रोगयुक्तको सर्वथा रोगको शांत करनेका उपाय करना चाहिये। यह बात कह भी चुके हैं और आगेको भी कहते हैं कि, जैसे स्वास्थ्यरक्षाके लिये पहले कथन करचुके हैं या कथन किये जायंगे उनके अनुसार वर्ताव करते हुए प्राणोंका पालन करनेसे दीर्घायु होती है। यह प्रथम एषणाका कथन किया गया॥२॥

धनकी एषणा ।

अथ द्वितीयां धनैषणामापद्येत । प्राणेभ्यो ह्यनन्तरं धनमेव पर्य्येष्टव्यं भवति । न ह्यतः पापात् पापीयोऽस्ति यदनुपकरणस्य दीर्घमायुः । तस्मादुपकरणानि पर्य्येष्टुं यतेत तत्रोपकरणोपायाननुव्याख्यामः ॥ ३॥

अब दूसरी धनैषणा अर्थात् धनप्राप्तिके लिये यत्न करनेका कथन करते हैं क्योंकि प्राणरक्षाके अनंतर धनकी आवश्यकता होती है । इस पापसे बढकर संसारमें कोई भी दुःखदायक पाप नहीं कि आयु तो दीर्घ हो परन्तु धन पास न हो । इसलिये जीवनका परम उपकरण आरोग्यताके अनन्तर धन होता है सो उस धनके प्राप्त करनेके लिये यत्नवान् रहना चाहिये अब उस धनप्राप्तिके यत्नोंको कथन करते हैं ॥ ३ ॥

धनप्राप्तिके उपाय ।

तद्यथा । कृषिपाशुपाल्यवाणिज्यराजोपसेवादीनि । यानि चान्यान्यपि सतामविगर्हितानि कर्माणि वृत्तिपुष्टिकराणि विद्यात् तान्या-

रक्षेत कर्त्तुम्। तथा कुर्वन् दीर्घजीवितमनवमतः पुरुषो भवतीति द्वितीया धनैषणा व्याख्याता भवति ॥ ४ ॥

जैसे खेती करना, पशुओंको पालना, वाणिज्य (व्यापार आदि) करना, राज-सेवा अर्थात् नौकरी आदि करना, तथा और भी ऐसे २ धनप्राप्तिके उपाय जिनके करनेसे श्रेष्ठ पुरुषोंमें निंदा और अपयश न हो और धन तथा जीवनकी वृद्धि हो वैसे २ यत्नोंको करे, ऐसा करनेसे मनुष्य श्रेष्ठतापूर्वक दीर्घजीवका आनन्द प्राप्त करसकता है। यह दूसरी धनकी एषणाका कथन कियागया है ॥ ४ ॥

परलोककी एषणामें विवाद।

अथ तृतीयां परलोकैषणामापद्येत। संशयश्चात्र कथं भविष्याम इतश्च्युता न वेति कुतः पुनः संशय इति। उच्यते। सन्ति ह्येके प्रत्यक्षपराः परोक्षत्वात् पुनर्भवस्य नास्तिक्यमाश्रिताः। सन्ति चागमप्रत्ययादेव पुनर्भवमिच्छन्ति श्रुतिभेदाच्च।

"मातरं पितरञ्चैके मन्यन्ते जन्मकारणम्।
स्वभावं परनिर्माणं यदृच्छाञ्चापरे जनाः ॥"

इत्यतः संशयः। किं नु खल्वास्ति पुनर्भवो न वेति। तत्र बुद्धिमान्नास्तिक्यबुद्धिं जह्यात् विचिकित्साञ्च। कस्मात् प्रत्यक्षं ह्यल्पमनल्पमप्रत्यक्षमस्ति। यदागमानुमानयुक्तिभिरुपलभ्यते। यैरेव तावदिन्द्रियैः प्रत्यक्षमुपलभ्यते तान्येव सन्ति चाप्रत्यक्षाणि ॥ ५ ॥

अब इसके उपरांत तीसरी परलोक एषणाको कहते हैं-सो यहां यह संशय होता है कि इस लोकसे पतित होनेपर अर्थात् यह शरीर छोडने पर हम फिर कहीं प्रगट होंगे या नहीं, अथवा शरीरत्यागके अनन्तर हम किसी रूपमें रहेंगे या शरीरांतमें ही सबका अंत है? यह संदेह कैसे हुआ उसको कहते हैं ॥ १-कुछ लोग प्रत्यक्षवादी हैं वह कहते हैं कि, हमको कोई परलोकको जाता या परलोकसे आकर जन्म लेता दिखाई नहीं देता, इसलिये पुनर्जन्म या परलोकको हम नहीं मानते जो इंद्रियद्वारा प्रत्यक्ष है उसीको हम मानते हैं अप्रत्यक्ष नहीं। इस प्रकार नास्तिकताको ग्रहण करते हैं ॥ २-दूसरे (आस्तिकलोग) श्रुतिवाक्यसे पुनर्जन्म सिद्ध है ऐसा मानते हैं ॥ ३-तीसरे जन्मका कारण माता पिता ही होते हैं सदासे ऐसा ही चला आया है इनसे सिवाय और कोई कारण नहीं ॥ ४-चौथे स्वभावको ही

मानते हैं, अर्थात् जीव अपने आप ही जन्म लेता है अन्य कारण नहीं ॥ ५-पांचवें कहते हैं कि, कोई इस संसारको रचनेवाला है वही इस जीवको उत्पन्न करता है ॥ ६-छठे कहते हैं, यह विश्वमें एक ऐसी शक्ति है जिससे मनुष्यादि उत्पन्न होते हैं और इसको रचनेवाला कोई नहीं। इसलिये संशय होता है कि पुनर्भव (पुनर्जन्म) होता है या नहीं। अब समाधान करते हैं कि, धृष्टतासे नास्तिक ही बनजाना और युक्ति प्रमाण इत्यादिक न मानना इसका तो कुछ यत्न ही नहीं। यदि पुनर्जन्म प्रत्यक्ष नहीं अर्थात् दीखता नहीं; सो संसारमें प्रत्यक्ष बहुत कम है और अप्रत्यक्ष बहुत है अर्थात् ऐसी बहुत वस्तुएं है जो प्रत्यक्ष तो नहीं परन्तु आप्तोपदेश, अनुमान, युक्ति इनसे स्पष्ट प्रतीत होती है। और जिन इंद्रियोंद्वारा हमको प्रत्यक्षकी उपलब्धि होती है वह इंद्रियें ही अप्रत्यक्ष हैं तो प्रत्यक्ष न होनेसे इंद्रियोंका अभाव नहीं माना जा सकता ॥ ५ ॥

प्रत्यक्षके बाधक।

सताञ्च रूपाणामतिसन्निकर्षादतिविप्रकर्षादावरणात् करणदौर्बल्यान्मनोऽनवस्थानात्समानाभिहारादभिभवादतिसौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धिः। तस्मादपरीक्षितमेतदुच्यते प्रत्यक्षमेवास्ति नान्यदस्तीति। श्रुतयश्चैता न कारणं युक्तिविरोधात् ॥ ६ ॥

और भी देखिये अनेक प्रकारसे रूपवाली वस्तुके विद्यमान रहते भी प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे अति समीप होनेसे अर्थात् नेत्रमें जो अंजन या अन्य कोई पदार्थ नेत्रसे छुआ देनेसे दिखाई नहीं पडता ऐसेही बहुत दूर होनेसे भी प्रत्यक्ष नहीं होता। एवं बीचमें कोई भीत आदि होनेसे, इंद्रियकी दुर्बलतासे अथवा मनकी चञ्चलतासे अर्थात् मनके संयोगके विना भी इंद्रियसे प्रत्यक्ष होने योग्य वस्तुका प्रत्यक्ष नहीं होता। ऐसे ही समान वस्तुओंमें मिलजानेसे अर्थात् एक चावल उठाकर फिर चावलोंके बडे ढेरमें मिलादो तो फिर वह प्रत्यक्ष नहीं होता। एक वस्तु दूसरेसे बढजाय तबभी प्रत्यक्ष नहीं होता जैसे सूर्यके प्रकाशसे तारागण रहते हुए भी दिखाई नहीं देते और अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे (जैसे परमाणु) भी प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिये यह कहदेना कि जो हमारी इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष है वह ही है और कुछ नहीं यह कहना अप्रामाणिक है श्रुतिवाक्यसे तथा युक्तिसे भी पुनर्जन्मके न होनेमें कोई हेतु नहीं अर्थात् पुनर्जन्म युक्ति और शास्त्रसे सिद्ध है इससे विरुद्ध जो श्रुतियें हैं वह पुनर्जन्मके न होनेमें प्रमाण नहीं हो सकती। क्योंकि वह युक्तिसे विरुद्ध हैं॥६॥

---

१ इन्द्रिय और अर्थके सन्निकर्षसे व्याभिचार रहित निश्चयात्मक ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं।

जन्मकारणपर विवाद।

आत्मा मातुः पितुर्वा यः सोऽपत्यं यदि सञ्चरेत्।
द्विविधं सञ्चरेदात्मा सर्वो वावयवेन वा ॥ ७ ॥
सर्वश्चेत्सञ्चरेन्मातुः पितुर्वा मरणं भवेत्।
निरन्तरं नावयवः कश्चित्सूक्ष्मस्य चात्मनः ॥ ८ ॥
बुद्धिर्मनश्च निर्णीते यथैवात्मा तथैव ते।
येषाञ्चैषा मतिस्तेषां योनिर्नास्ति चतुर्विधा ॥ ९ ॥

अब यदि कहो कि माता और पिताका आत्मा ही पुत्र रूपसे पैदा होता है या माता अथवा पिताके आत्मासे पुत्रका आत्मा उत्पन्न होता है तो यह भी नहीं होसकता। क्योंकि माता या पिताका आत्मा दो प्रकारसे अपत्यरूपमें आसकता है या तो संपूर्ण रूपसे, अथवा अंशविभाग अर्थात् हिस्सेसे। यदि कहो कि संपूर्ण आत्मा ही अपत्य (सन्तान) रूपसे संचार करता है तो माता या पिताका सम्पूर्ण आत्मा पुत्रमें आनेसे माता या पिताका मृत्यु होजाना चाहिये। यदि कहो आत्माका कोई भाग सन्तानरूपसे पैदा होता है तो यह भी नहीं होसकता। क्योंकि सूक्ष्म आत्माके विभाग नहीं होसकते। इसलिये यह कहना कि, कर्माधीन पुनर्जन्म नहीं होता, माता पितासेही आत्माकी उत्पत्ति होती है—वृथा है ॥ यदि कहो कि माता पिताकी बुद्धि और मन सन्तान रूपसे पैदा होते हैं, यह कहना भी ठीक नहीं. क्योंकि बुद्धि, मन भी आत्माके समान सूक्ष्म हैं और उनके भी विभाग नहीं होसकते. दूसरे यह भी बात है जो माता पितासे ही सन्तानकी उत्पत्ति मानोगे तो उनके मतमें स्वेदज, अंडज, जरायुज, उद्भिज्ज यह चार प्रकारकी योनि नहीं होसकती. क्योंकि, स्वेदसे उत्पन्न होनेवालोंके और जमीनकी पानीयुक्त वाष्पसे पैदा होनेवालोंके माता पिता कौन हैं अर्थात् कोई नहीं ॥ ७–९ ॥

स्वभाववादियोंके मतका खण्डन।

विद्यात्स्वाभाविकं षण्णां धातूनां यत्स्वलक्षणम्।
संयोगे च वियोगे च तेषां कर्मैव कारणम् ॥ १० ॥

यदि कहो कि यह स्वाभाविक धर्म है कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और आत्मा इनके संयोग होनेसे उत्पत्ति और वियोग होनेसे नाश होजाता है तो इन सबके संयोग और वियोग होनेमें कारण कौन है ? यदि कहो पूर्वजन्मका कर्म कारण है तो पुनर्जन्म सिद्ध होगया। नहीं तो संयोग वियोगमें कोई हेतु नहीं दीखता ॥ १० ॥

परनिर्माणवादियोंका खण्डन।

अनादेश्चेतनाधातोर्नेष्यते परनिर्मितिः।

पर आत्मा स चेद्धेतुरिष्टोऽस्तु परनिर्मितिः ॥ ११ ॥

और अनादि चैतन्य आत्मा कोई बना भी नहीं सकता. क्योंकि जो वस्तु बनाई जाती हैं वह जिस दिन बनी वह दिन उसकी आदिका है, इसलिये जो अनादि है उसको कोई बना नही सकता। यादि कहो परमात्मा इसका बनानेवाला है तो इसमें कोई आपत्ति नहीं; क्योंकि परमात्माको कर्त्ता माननेमें आस्तिकतामें कोई हानि नहीं ॥११॥

यदृच्छावादियोंका विषय।

न परीक्षा न पारीक्ष्यं न कर्ता कारणं न च।

न देवा नर्षयः सिद्धाः कर्म कर्म्मफलं न च ॥ १२ ॥

नास्तिकस्यास्ति नैवात्मा यदृच्छोपहतात्मनः।

पातकेभ्यः परञ्चैतत्पातकं नास्तिकग्रहः ॥ १३ ॥

तस्मान्मतिं विमुच्येताममार्गप्रसृतां बुधः।

सतां बुद्धिप्रदीपेन पश्येत्सर्वं यथातथम् ॥ इति ॥ १४ ॥

प्रमाणसे कोई परीक्षा नहीं और न परीक्षाका कोई विषय है। न कोई कर्ता है। न कारण है, न ऋषि है, न देवता है, न सिद्ध है, न कुछ कर्म है, न कर्मका फल होता है, न आत्मा है यह ऐसे विचार यदृच्छा (अर्थात् जो होता है आकस्मिक होता है) से नष्ट हुई हुई आत्मावाले नास्तिकके होते हैं। ऐसे नास्तिक विचारोंको ग्रहण करना सब पापोंसे बढकर महापाप है ॥ इसलिये कुमार्गगामी कुबुद्धिको त्यागकर श्रेष्ठजनोंके बुद्धिरूप दीपकसे जैसा जो कुछ यथार्थ हो उसकी परीक्षा करे अर्थात् देखलेवे ॥ १२–१४ ॥

सत् असत्की परीक्षा।

द्विविधमेव खलु सर्वम्। सच्चासच्च। तस्य चतुर्विधा परीक्षा। आप्तो-पदेशः प्रत्यक्षमनुमानं युक्तिश्चेति ॥ १५ ॥

संपूर्ण जगत्में दो भेद हैं। सत् और असत्। सत् सत्यको कहतेहैं और असत् झठको कहतेहैं। इन सत् और असत्के जाननेके लिये चार प्रकारकी परीक्षा हैं अर्थात् चार प्रमाणों द्वारा यावन्मात्रका सत् और असत् निर्णय होसकता है। वह चार परीक्षा (प्रमाण) यह हैं। १ आप्तोपदेश, २ प्रत्यक्ष, ३ अनुमान और ४ युक्ति ॥ १५ ॥

आप्त तथा उनका उपदेश।

आप्तास्तावत् ॥ रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा ॥ १६ ॥
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः ॥ १७ ॥

अब पहले आप्तके लक्षण कहतेहैं। जिन महात्माओंका रजोगुण और तमोगुण तप तथा ज्ञानके बलसे नष्ट होगयाहै और जो भूत, भविष्यत, वर्तमानके जाननेवाले हैं तथा जिनका निर्मल ज्ञान कभी नष्ट नहीं होता उन महात्माओंको आप्त शिष्ट और ज्ञानी कहतेहैं इनके वाक्य निःसंदेह सत्य होतेहैं। क्योंकि, रज तमसे निर्मुक्त होनेके कारण यह असत्य बोलतेही नहीं इसलिये इनके वाक्य (आप्तोपदेश) निःसन्देह सत्य माननीय हैं ॥ १६ ॥ १७ ॥

प्रत्यक्षका लक्षण।

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात्प्रवर्त्तते।
व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते ॥ १८ ॥

आत्मा, इंद्रिय, मन और इंद्रियका विषय इन सबका सन्निकर्ष होनेसे जो निश्चयात्मक ज्ञान होताहै उसको प्रत्यक्ष कहते हैं ॥ १८ ॥

अनुमानका लक्षण।

प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालञ्चानुमीयते।
वह्निर्निगूढो धूमेन मैथुनं गर्भदर्शनात् ॥ १९ ॥
एवं व्यवस्यन्त्यतीतं बीजात्फलमनागतम्।
दृष्ट्वा बीजात्फलं जातमिहैव सदृशं बुधाः ॥ २० ॥

प्रत्यक्षपूर्वक तीन प्रकारका अनुमान होताहै। कार्य लिङ्गानुमान, कारण लिङ्गानुमान, कार्यकारण लिङ्गानुमान. अथवा पूर्ववत, शेषवत, सामान्यतोदृष्ट, यह तीन प्रकारका अनुमान अतीत, अनागत, वर्तमान इन तीन कालोंके ज्ञानका बोधक होताहै। जैसे धूमके दर्शनसे अग्निका बोध होजाना यह वर्तमानकालिक अनुमान है। गर्भवतीको देखकर यह बोध होना इसने पहले मैथुन कियाहै यह अतीतकालिक अनुमान है। बीजोंको देखकर यह बोध होना कि इनसे ऐसे फल होंगे यह भविष्यत्कालिक अनुमान है। अथवा ऐसे कहें कि इन बीजोंसे ऐसे फल होंगे और ऐसे फलोंसें ही यह बीज हुए इसको कार्यकारणानुमान कहतेहैं ॥ १९ ॥ २० ॥

---

१ नीरजस्तमसो मृषेति पाठान्तरम्।

युक्तिका लक्षण ।

जलकर्षणबीजर्तुसंयोगाच्छस्यसंभवः ।
युक्तिः षड्धातुसंयोगाद्गर्भाणां सम्भवस्तथा ॥ २१ ॥
मध्यमन्थनमन्थानसंयोगादग्निसम्भवः ।
युक्तियुक्ता चतुष्पादसम्पद्व्याधिनिबर्हणी ॥ २२ ॥
बुद्धिः पश्यति या भावान् बहुकारणयोगजान् ।
युक्तिस्त्रिकाला सा ज्ञेया त्रिवर्गः साध्यते यया ॥ २३ ॥

युक्तिके लक्षण–जल, खेत, बीज, ऋतु इन चारोंके योगसे शस्य (अन्नकी खेती) उत्पन्न होतीहै । ऐसे ही पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और आत्माके योगसे गर्भ उत्पन्न होताहै । और जैसे मंथ और मंथन (यज्ञमें घिसकर अग्नि पैदा करनेकी दोनों लकडियोंको मंथ और मंथन कहतेहैं) तथा मंथनकर्ता, इनके संयोगसे अग्निकी उत्पत्ति होतीहै इसी प्रकार चतुष्पादसम्पन्न चिकित्सासे व्याधि भी नष्ट होजातीहै। इस प्रकार जो बुद्धि अनेक कारणोंसे पैदाहुए अनेक भावोंको देखनेमें समर्थ होतीहै उसीको युक्ति कहतेहैं । यह युक्ति भूत, भविष्यत्, वर्तमान इन तीन कालोंमें ही व्यापक होनेवाली है । इसीके द्वारा धर्म अर्थ कामकी सिद्धि होती है ॥२१–२३॥

एषा परीक्षा नास्त्यन्या यया सर्वं परीक्ष्यते ।
परीक्ष्यं सदसच्चैवं तया चास्ति पुनर्भवः ॥ २४ ॥

सम्पूर्ण सत् और असत्के जाननेके लिये यह चार प्रकारकी परीक्षा है अर्थात् यह चार प्रमाण हैं । इन चारोंसे अधिक परीक्षा अर्थात् पाँचवां कोई प्रमाण नहीं । यद्यपि कोई २ अर्थापत्ति अनुपलब्धि आदि अन्य प्रमाणभी मानतेहैं परंतु अनुमान और युक्तिके अंतर्गत अर्थापत्ति आदिके आजानेसे इन चारोंसे अन्य प्रमाण कल्पना करना वृथा है । इन चार परीक्षाओंसे ही सभीका परीक्षण होजाताहै । इन चार परीक्षाओं द्वारा ही सत् असत् और पुनर्भव जानाजाता है ॥ २४ ॥

आप्तागमका लक्षण, फल ।

तत्राप्तागमस्तावद्वेदः। यश्चान्योऽपि कश्चिद्वेदार्थादविपरीतः परीक्षकैः प्रणीतः शिष्टानुमतो लोकानुग्रहप्रवृत्तः शास्त्रवादः स चाप्तागमः । आप्तागमादुपलभ्यते दानतपोयज्ञसत्याहिंसाब्रह्मचर्य्याण्यभ्युदयनिःश्रेयस्कराणीति । न चानतिवृत्तसत्त्वदोषाणामदोषैरपुनर्भवो धर्म्यद्वारेषूपदिश्यते ॥ २५ ॥

सबसे बढकर प्रामाणिक वेद हैं और भी जो वेदके आशयसे विरुद्ध न हों ऐसे वाक्य तथा आप्तऋषियोंके रचेहुए शास्त्र एवं श्रेष्ठ पुरुषोंके मानेहुए और लोकपरंपरासे प्रचलित शास्त्रोंके वाक्य वेदसे अविरुद्ध आप्तागम कहेजातेहैं। इन आप्तागम (प्रामाणिक वाक्य) द्वारा-दान, तप, यज्ञ, सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य इनकी प्राप्ति होतीहै इसीसे इस लोक और परलोकमें सुखकी प्राप्ति होतीहै परन्तु रजोगुण और तमोगुण दूर होने पर भी जिनमें सत्त्वगुण शेष रह जाता उनका भी मोक्षप्राप्त करना शास्त्रोंने नहीं माना। जब तक सब दोष दूर न हो जाए स्वर्गादि फल भी भोग कर कर्म्मक्षय न हो जाए तब तक अपुनर्भव (मोक्ष) नहीं मिलता ॥ २५ ॥

धर्मद्वारावहितैश्च व्यपगतभयरागद्वेषलोभमोहमानैर्ब्रह्मपरैराप्तैः कर्मविद्भिरनुपहतसत्त्वबुद्धिप्रचारैः पूर्वैः पूर्वतरैर्महर्षिभिर्दिव्यचक्षुभिर्दृष्टोपदिष्टः पुनर्भव इति व्यवस्येदेवं पुनर्भवम् ॥ २६ ॥

जो धर्ममें रत हैं और जिनके भय, राग, द्वेष, लोभ, मोह, मान यह समूल नाशको प्राप्त होचुकेहैं तथा ब्रह्मके जाननेवाले, आप्त, कर्मके जाननेवाले और जिनके मन, बुद्धि निश्चल हैं तथा जो सदैव ज्ञानयुक्त हैं उन पहले होनेवाले प्राचीनतम महर्षियोंने ज्ञानके नेत्रोंद्वारा पुनर्जन्मको देखकर उसे सिद्ध किया है ॥ २६ ॥

पुनर्जन्ममें अनुमान।

प्रत्यक्षमपि चोपलभ्यते मातापित्रोर्विसदृशान्यपत्यानि। तुल्यसम्भवानां वर्णस्वराकृतिसत्त्वबुद्धिभाग्यविशेषाः। प्रवरावरकुलजन्म। दास्यैश्वर्य्यम्। सुखासुखमायुः। आयुषो वैषम्यम्। इहाकृतस्यावाप्तिः। अशिक्षितानाञ्च रुदितस्तनपानहासत्रासादीनाञ्च प्रवृत्तिः। लक्षणोत्पत्तिः। कर्मसामान्ये फलविशेषः। मेधा क्वचित्क्वचित्कर्मण्यमेधा। जातिस्मरणम्। इहागमनमितश्च्युतानाञ्च भूतानाम्। समदर्शने प्रियाप्रियत्वम्। अत एवानुमीयते यत् स्वकृतमपरिहार्यमविनाशि पौर्वदैहिकं दैवसंज्ञकमानुबन्धिकं कर्म्म तस्यैतत्फलम्। इतश्चान्यद्भविष्यतीति। फलाद्बीजमनुमीयते। फलञ्च बीजात् ॥ २७ ॥

और यह देखनेमें भी आताहै कि संतानके शरीरावयव-माता पिताके समान नहीं होते। और एकही माता पितासे पैदा हुए पुत्रोंके भी वर्ण, स्वर, आकृति, सत्त्व, बुद्धि और भाग्यमें भेद (फरक) होताहै अर्थात् सब एकसे नहीं होते। ऐसे ही कुल, जन्म, दास्य, ऐश्वर्य, इनमें भी बडाई छोटाई तथा किसीकी सुखायु और किसीकी

दुःखायु व्यतीत होती दिखाई देतीहै । इसी प्रकार आयुमें न्यूनता अधिकता और इस जन्ममें कियेहुए बहुतसे कर्मोंका फल इसी जन्ममें न होना, विना ही किसीसे सीखे जन्म लेते ही बच्चेका रोना, स्तनपान करना, हँसना, दुःखित होना इनसे भी पुनर्जन्म सिद्ध है । ऐसे ही बालकके जन्मसे शुभ तथा अशुभ लक्षणोंसे कर्म तुल्य होतेहुए भी फलमें भेद होनेसे, एक कामके करनेमें बुद्धिभेद होनेसे और इस लोकसे मरकर फिर इसी लोकमें आकर जन्म लियाहै ऐसा बहुत मनुष्योंको स्मरण होजाताहै इससे तथा एकही वस्तुमें एकका प्रेम दूसरेका विरोध देखनेमें आताहै, ऐसे २ हेतुओंसे स्पष्ट प्रतीत होताहै कि जो २ जिस २ ने पूर्वजन्ममें कियाहै वह किसीसे मिटाया नहीं जाता वह अविनाशी है, उसी कर्मको लोकमें दैव उसीको अनुबन्धी कर्म (पुरारब्ध) कहतेहैं जिसका फल इस जन्ममें भोगना पडताहै । ऐसे ही इस जन्मके कियेकर्मके फलको आगेको होनेवाले जन्ममें भोगना पडेगा । जैसे फलसे बीज और बीजसे फल होता है, ऐसे ही कर्माधीन जन्म होता जाता है ॥ २७ ॥

युक्तिसे पुनर्जन्मकी सिद्धि ।

युक्तिश्चैषा । षड्धातुसमुदयाद्गर्भजन्म । कर्तृकरणसंयोगात्क्रिया । कृतस्य कर्मणः फलं नाकृतस्य । नांकुरोत्पत्तिरबीजात् । कर्मसदृशं फलम् । नान्यस्माद्बीजादन्यस्योत्पत्तिरिति युक्तिः ॥ २८ ॥

और यह युक्तिसे भी सिद्ध है कि पांच महाभूत और छठी आत्मा इन छहोंके संबन्धसे ही गर्भकी उत्पत्ति होती है और गर्भमें आकर जन्म लेनेमें आत्माके पूर्वजन्मका संबंध है. क्योंकि कर्ता और कारणके संयोग होनेपर ही क्रियाका आरंभ होताहै । किये हुए कर्मका ही फल होता है विना कियेका नहीं होता । जैसे विना बीजके अंकुरकी उत्पत्ति नहीं होसकती । जैसा कोई कर्म करताहै उसी प्रकारका फल भोगना पडताहै । जैसे, यवके बीजसे यवकी उत्पत्ति, सर्षपसे सर्षपकी उत्पत्ति होती है अन्य बीजसे अन्यकी उत्पत्ति नहीं होती ऐसे ही जैसा कर्म होताहै उसका वैसाही फल होता है । यह युक्ति है ॥ २८ ॥

एवं प्रमाणैश्चतुर्भिरुपदिष्टैः पुनर्भवो धर्म्मद्वारेष्वनुविधीयेत ॥ २९ ॥

इस प्रकार चारों प्रमाणोंसे पुनर्जन्म स्पष्ट सिद्ध है, इन चार प्रमाणोंद्वारा पुनर्जन्ममें आस्तिकता होनेसे मनुष्य धर्मपरायण होसकता है । (जिन आगे कहे जाने वाले) कार्योंके करनेसे मनुष्यका परलोक अच्छा होसकता है उन धर्मकार्योंमें लगे ॥ २९ ॥

---

१ पूर्वाऽभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसंप्रतिपत्तेः । न्या० भा० । जातः खल्वयं कुमारकोऽस्मिञ्जन्मन्यग्रहीतेषु हर्षभयशोकहेतुषु हर्षभयशोकान् प्रतिपद्यते लिंगानुमेयान् ते च स्मृत्युनुबन्धादुत्पद्यन्ते नान्यथा । स्मृत्यनुबन्धश्च पूर्वाभ्यासमन्तरेण न भवति पूर्वाभ्यासश्च पूर्वजन्मनि सति नान्यथा ।

परलोकैषणामें कर्त्तव्य कर्म ।

तद्यथा गुरुशुश्रूषायामध्ययने व्रतचर्य्यायां दारक्रियायामपत्योत्पादने भृत्यभरणेऽतिथिपूजायां दानेऽनाभिध्यायां तपस्यनसूयायां देहवाङ्मनसे कर्म्मण्यक्लिष्टे देहेन्द्रियमनोऽर्थबुद्ध्यात्मपरीक्षायां मनःसमाधाविति । यानि चान्यान्यप्येवंविधानि कर्म्माणि सतामविगर्हितानि स्वर्ग्याणि वृत्तिपुष्टिकराणि विद्यात्तान्यारभेत कर्तुम् । तथा कुर्वन्निह चैव यशो लभते प्रेत्य च स्वर्गमिति तृतीया परलोकैषणा व्याख्याता भवति ॥ ३० ॥

वह परलोकको उत्तम बनानेवाले कर्म इस प्रकार हैं-गुरुशुश्रूषा, अध्ययन और व्रत करना, शास्त्रोक्त रीतिसे विवाहकर धर्मसे सन्तान पैदा करना, भृत्योंका पालन, अतिथिपूजन और दान करना, पराये द्रव्यमें लोभ न करना, तप करना, अनसूया (किसीकी निन्दा न करना), शरीर, मन, वाणीसे कोई अशुभ काम न करना, आलस्य न करना और देह इंद्रिय, मनके विषय, बुद्धि और आत्मा इनकी परीक्षामें विषयोंसे मनको रोकनेमें तत्पर रहना तथा और भी जो २ इस प्रकारके सत्कार्य स्वर्गदायक हों और जो श्रेष्ठपुरुषोंसे अनिंदित कार्य जीविकाकी वृद्धि करनेवाले समझे उनको भी किया करे। ऐसा करनेसे इस लोकमें यशकी प्राप्ति और परलोकमें स्वर्गकी प्राप्ति होती है । यह तीसरी परलोक एषणा कही गई है ॥ ३० ॥

उपस्तम्भादि त्रिक ।

अथ खलु त्रय उपस्तम्भाः । त्रिविधं बलम् । त्रीण्यायतनानि । त्रयो रोगाः । त्रयो रोगमार्गाः । त्रिविधा भिषजः । त्रिविधमौषधमिति ॥ ३१ ॥

यहां तीन उपस्तंभ अर्थात् खम्भे हैं। तनि प्रकारका बल है, तीन आयतन हैं, तीन रोग हैं। तीन रोगमार्ग हैं । तीन प्रकारके वैद्य हैं । तीन प्रकारकी औषधि हैं ॥ ३१ ॥

उपस्तंभोंका वर्णन ।

त्रय उपस्तम्भा इत्याहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्य्यमिति।एभिस्त्रिभिर्युक्तियुक्तैरुपस्तब्धमुपस्तम्भैः शरीरं बलवर्णोपचयोपचितमनुवर्त्तते यावदायुषः संस्कारात् । संस्कारः स हितमुपसेवमानस्य य इहैवोपदिश्यते ॥ ३२ ॥

३ उपस्तम्भ-आहार, निद्रा, ब्रह्मचर्य यह तीन शरीरके उपस्तंभ-खम्भे हैं । इन तीनों युक्तियुक्त स्तंभोंके ठीक सेवनसे शरीरमें बल और वर्णकी वृद्धि होती रहेगी

और आयुकी वृद्धि होगी। इसी प्रकार इनके अनुचित व्यवहारसे आयुकी हानि करनेवाले रोग होते हैं उनका इसी अध्यायमें कथन करेंगे ॥ ३२ ॥

तीनप्रकारका बल।

त्रिविधं बलमिति सहजं कालजं युक्तिकृतञ्च। सहजं यच्छरीरसत्त्वयोः प्राकृतम्। कालकृतमृतुविभागजं वयःकृतञ्च। युक्तिकृतं पुनस्तदाहारचेष्टायोगजम् ॥ ३३ ॥

३ प्रकारका बल—सहजबल, कालकृतबल, युक्तिकृतबल, यह तीन प्रकारका बल होताहै। इनमें शरीर और मनका जो स्वाभाविक बल है उसको सहजबल कहते हैं। और ऋतुविशेष या अवस्थाजन्य जो बल है उसको कालकृतबल कहते हैं। एवं आहार, कसरत अथवा किसी औषध आदि योग या अभ्याससे प्राप्त किये हुए बलको युक्तिकृत बल कहतेहैं ॥ ३३ ॥

तीन आयतनोंका वर्णन।

त्रीण्यायतनानीति। अर्थानां कर्म्मणः कालस्य चातियोगायोगमिथ्यायोगाः। तत्रातिप्रभावतां दृश्यानामतिमात्रं दर्शनमतियोगः। सर्वशोऽदर्शनमयोगः। अतिसूक्ष्मातिविप्रकृष्टरौद्रभैरवाद्भुतद्विष्टबीभत्सविकृतादिरूपदर्शनं मिथ्यायोगः ॥ ३४ ॥

३ आयतन--इंद्रियार्थ, कर्म, काल इन तीनोंका अतियोग, अयोग, मिथ्यायोग तीन प्रकारके आयतन अर्थात् रोगोंके पैदा करनेवाले कारण कहे जाते हैं। उनमें अत्यन्त कांतिवाले पदार्थको बहुत गौरसे अधिक देर देखना यह अतियोग है। और एकदम सब तरहसे देखना बंद करदेना अयोग कहाता है। इसी प्रकार बहुत बारीक, अत्यन्त समीप तथा बहुत दूर, अतिभयंकर, अद्भुत, बुरा लगनेवाला, जिसके देखनेसे ग्लानि हो, तथा विकृत आदि वस्तुओंके देखनेको मिथ्यायोग कहते हैं (यह दर्शनेन्द्रियका अतियोग, अयोग, मिथ्यायोग हुआ) ॥ ३४ ॥

शब्दातियोगादिका वर्णन।

तथातिमात्रस्तनितोपहतकुष्टादीनां शब्दानामतिमात्रश्रवणमतियोगः। सर्वशोऽश्रवणमयोगः। पुरुषेष्टाविनाशोपघातप्रधर्षणभीषणादिशब्दश्रवणं मिथ्यायोगः ॥ ३५ ॥

इसी प्रकार, वज्रपातके शब्दको सुनना, नगारे आदिका अथवा किसी वस्तुपर अन्यवस्तुके लगनेके तीक्ष्ण शब्दका सुनना, अत्यंत तीक्ष्ण अनुक्रोश आदि शब्दका

सुनना अथवा किसी शब्दका बहुत देर तक सुनना श्रवणेन्द्रियका अतियोग होता है। कुछ भी न सुनना अयोग कहाता है। ऐसे ही--कठोरवाक्य, प्यारी वस्तुका नाश, वज्रघात, रोमांचकारक शब्द, भयकारक शब्द, ऐसे २ शब्द सुननेको श्रवणेन्द्रियका मिथ्यायोग कहाजाता है। यह श्रवणका अतियोग, अयोग, मिथ्यायोग हुआ॥ ३५॥

गन्धातियोगादिवर्णन।

तथातितीक्ष्णोग्राभिष्यन्दिनां गन्धानामतिमात्रं घ्राणमतियोगः। सर्वशोऽघ्राणमयोगः। पूतिद्विष्टामेध्याक्लिन्नविषपवनकुणपगन्धादिघ्राणं मिथ्यायोगः॥ ३६॥

अतितीक्ष्ण अतिउग्र और अभिष्यंदि आदि गन्ध अत्यंत सूंघना अतियोग कहाजाता है। कुछ भी न सूंघना अयोग और दुर्गंधित, द्वेषयुक्त गंधवाला, अपवित्र, भीगाहुआ विषयुक्त पवन, मुर्देकी गंध इनके सूंघनेको मिथ्यायोग कहते हैं। यह घ्राणका–अतियोग, अयोग, मिथ्यायोग हुआ॥ ३६॥

रसातियोगादिका वर्णन।

तथा रसानामत्यादानमतियोगः। अनादानमयोगः। मिथ्यायोगो राशिवर्ज्येष्वाहारविधिविशेषायतनेषूपदेक्ष्यते॥ ३७॥

रसके अधिक सेवन करनेको अतियोग, कुछ भी न खानेको अयोग और आहारक मिथ्यासेवनको मिथ्यायोग कहते हैं। मिथ्यायोगको अपरिमित भोजनके वर्णनमें विशेषरूपसे कहेंगे॥ ३७॥

स्पर्शातियोगादिका वर्णन।

तथातिशीतोष्णानां स्पृश्यानां स्नानाभ्यङ्गोत्सादनादीनाञ्चात्युपसेवनमतियोगः। सर्वशोऽनुपसेवनमयोगः। विषमस्थानाभिघाताशुचिभूतसंस्पर्शादयश्चेति मिथ्यायोगः॥ ३८॥

अत्यंत शीतल और अति उष्ण जलसे देर तक स्नान करना, मालिश, उद्वर्तन आदिका अतिसेवन अतियोग कहाता है। एकदम किसी स्पर्शकारक वस्तुका सेवन न करना अयोग है। ऐसे ही विषमस्थानमें फिरना, बैठना, सोना. चोट लगना तथा अपवित्र वस्तुके स्पर्श आदिको मिथ्यायोग कहते हैं। यह स्पर्शके अतियोगादि हुए॥ ३८॥

स्पर्शनेन्द्रियकी सर्वव्यापकता।

तत्रैकं स्पर्शनेन्द्रियमिन्द्रियाणामिन्द्रियव्यापकं चेतः समवायि। स्पर्शनव्याप्तेर्व्यापकमपि च चेतः। तस्मात्सर्वेन्द्रियाणां व्यापकः स्पर्श-

कृतो यो भावविशेषः सोऽयमनुपशयात्पञ्चविधस्त्रिविधविकल्पो भवत्यसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः। सात्म्यार्थो ह्युपशयार्थः ॥ ३९ ॥

इन सब इन्द्रियोंमें स्पर्शनेन्द्रिय ही सर्वेन्द्रिय व्यापक है।अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियमें त्वगिन्द्रिय या स्पर्शानुभवशक्ति विद्यमान है। स्पर्शनेन्द्रिय मनसे भी समवायसंबन्ध अर्थात् अटूट नित्य संबंधसे सम्बद्ध है।और (यद्यपि मन अणु होनेके कारण व्यापक नहीं हो सकता)व्यापक स्पर्शनेन्द्रियसे सम्बद्ध होनेके कारण ही मन भी सब इन्द्रियोंमें व्यापक रहता है। इस प्रकार मन और इन्द्रियोंके व्यापक संबन्धसे उत्पन्न हुये अनुपशय अर्थात् दुःखकर भाव विशेष पञ्चेन्द्रियकी भिन्नतासे पाञ्च प्रकार और अयोग, अतियोग और मिथ्यायोगकी भिन्नतासे ३ प्रकारका होता है । इसीको असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग कहते हैं। सात्म्य और उपशयका एक ही अर्थ है । उसे ही असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग और अनुपशयेन्द्रियार्थसंयोग एक ही भाव है ॥ ३९ ॥

कर्मकृत अतियोगादिका वर्णन।

कर्म्मवाङ्मनःशरीरप्रवृत्तिः। तत्र वाङ्मनःशरीरातिप्रवृत्तिरतियोगः। सर्वशोऽप्रवृत्तिरयोगः ॥ ४० ॥

वाणी, मन और शरीरकी प्रवृत्तिको कर्म कहतेहैं । मन, वाणी, शरीर इनकी अत्यंत प्रवृत्तिको अतियोग कहतेहैं और सर्वथा अप्रवृत्तिको अयोग कहते हैं ॥४०॥

वाणीके मिथ्यायोगका वर्णन।

सूचकानृताकालकलहाप्रियाबद्धानुपचारपरुषवचनादिर्वाङ्मिथ्यायोगः॥

इनमें-निंदा करना, झूठा बोलना, विनासमय कहना, कलह करना, अप्रिय बोलना, अंट संट बकना, असंगत अश्रद्धेय वाक्य कहना और दुखदाई वाक्य कहना वाणीका मिथ्यायोग है ॥ ४१ ॥

मानस मिथ्यायोग।

भयशोकक्रोधलोभमोहमानेर्ष्यामिथ्यादर्शनादिर्मानसो मिथ्यायोगः ४२॥

भय, शाक, क्रोध, लोभ, मोह, अभिमान, ईर्ष्या, मिथ्यादर्शन (कुछका कुछ मानलेना) आदि मनका मिथ्यायोग है ॥ ४२ ॥

शारीरिक मिथ्यायोग।

वेगधारणोदीरणविषमस्खलनपतनाङ्गप्रणिधानाङ्गप्रदूषणप्रहारावमर्दनप्राणोपरोधसंक्लेशनादिः शारीरो मिथ्यायोगः ॥ ४३ ॥

मलमूत्रादिकोंके वेगको रोकना, एवं विना वेग त्यागना, विषमतासे बैठना सोना आदि, गिरना, फिसलना, अंगोंको दूषित करना, शरीरमें चोट आदि लगाना,

शरीरको बेहिसाब मलना, बेहिसाब श्वासका रोकना और शरीरको पीडा देना यह शरीरका मिथ्यायोग है ॥ ४३ ॥

कर्मके मिथ्याभोगका संक्षिप्त वर्णन।

संग्रहेण चातियोगायोगवर्जं कर्म्म वाङ्मनःशरीरजमहितमनुपादिष्टं यत्तच्च मिथ्यायोगं विद्यादिति। त्रिविधविकल्पं त्रिविधमेव कर्म्म प्रज्ञापराध इति व्यवस्येत् ॥ ४४ ॥

यह संक्षेपसे कहागयाहै इनसे अन्य और भी अतियोग और अयोगसे भिन्न जो वाणी, मन, शरीर इनके अहित कर्म हैं उनको भी मिथ्यायोग कहतेहैं। यह जो वाणी. मन, शरीर इन तीनोंके कर्मोंका तीन प्रकारका अतियोगादि विकल्प कहाहै यह बुद्धिके दोषसेही होताहै। इसेही प्रज्ञापराध कहते हैं ॥ ४४ ॥

कालातियोगादिका वर्णन।

शीतोष्णवर्षलक्षणाः पुनर्हेमन्तग्रीष्मवर्षाः संवत्सरः। स कालः। तत्राति-मात्रस्वलक्षणः कालः कालातियोगः। हीनस्वलक्षणः कालयोगः। यथास्वलक्षणविपरीतलक्षणस्तु कालमिथ्यायोगः। कालः पुनः परिणाम उच्यते ॥ ४५ ॥

जाड़ा, गर्मी, वर्षा इन तीनोंमें क्रमसे शीत होना, गर्मीपडना, वर्षाबरसना इन तीनोंका लक्षण है, इन तीन कालोंके समुदायको संवत्सर (वर्ष) कहतेहैं इसीका नाम काल है। सो इस कालमें अपने २ समयपर सर्दी, गर्मी, वर्षाका अत्यंत होना कालका अतियोग कहाजाताहै। न होना अयोग कहाताहै। एवं अपने २ समयसे आगे पीछे होनेको और समयके विपरीत लक्षणोंको कालका मिथ्यायोग कहतेहैं। कालको ही परिणाम भी कहतेहैं ॥ ४५ ॥

इत्यसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति ॥ ४६ ॥

इस प्रकार असात्म्य (आत्माके प्रतिकूल) इंद्रिय तथा विषयोंका संयोग बुद्धिके दोष और कालका वर्णन किया गया है ॥ ४६ ॥

रोगोंके कारण।

त्रयस्त्रिविधविकल्पाः कारण विकाराणाम्। समयोगयुक्तास्तु प्रकृति-हेतवो भवन्ति ॥ ४७ ॥

इंद्रियार्थसंयोग, बुद्धि और कालका अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग यह तीन प्रकारका विकल्प–रोगोंके उत्पन्न होनेका कारण है। और इन तीनोंका ही सुप्रयोग होना आरोग्यताका कारण है ॥ ४७ ॥

सर्वेषामेव भावानां भावाभावौ नान्तरेण योगायोगातियोगमिथ्या-योगान् समुपलभ्येते। यथा स्वयुक्त्यपेक्षिणौ हि भावाभावौ ॥ ४८ ॥

संपूर्ण वस्तुओंका अभाव और सद्भाव यह दोनों मनुष्यके शरीरमें क्रिया करतेहैं। वह क्रिया सम्यक् योग अयोग, अतियोग, मिथ्यायोग इन भेदोंसे अलग २ है। यह भाव और प्रभाव योगमें युक्तिकी अपेक्षा करतेहैं अर्थात् मन, वाणी, शरीर इनका युक्तिपूर्वक योग सुखका हेतु और अयुक्तियोग दुःखका हेतु होताहै ॥ ४८॥

तीनप्रकारके रोग।

त्रयो रोगा इति निजागन्तुमानसाः। तत्र निजः शरीरदोषसमुत्थः। आगन्तुर्भूतविषवाय्वग्निसम्प्रहारादिसमुत्थः। मानसः पुनरिष्टस्या-लाभाल्लाभाच्चानिष्टस्योपजायते ॥ ४९ ॥

निज अर्थात् शारीरिक, आगंतुक, मानसिक इन भेदोंसे रोग तीन प्रकारके होते हैं। उनमें शरीरस्थ वात, पित्त, कफके कारणसे जो व्याधि उत्पन्न हो उसको निज अर्थात् शारीरिक व्याधि कहते हैं। भूत, विष, बाहरसे आकर लगनेवाला वायु और अग्निप्रहार आदिसे होनेवाली व्याधिको आगंतुक कहते हैं। इसी प्रकार मनकी प्रिय अर्थात् इच्छितपदार्थके न मिलनेसे अप्रिय वस्तुके मिलनेसे जो मनमें शोकादिक होते हैं। उनको मानसिक रोग कहते हैं ॥ ४९ ॥

हितकर्तव्य।

तत्र बुद्धिमता मानसव्याधिपरीतेनापि सता बुद्ध्या हिताहितमवे-क्ष्यावेक्ष्य धर्मार्थकामानामहितानामनुपसेवने हितानाञ्चोपसेवने प्रयतितव्यम् ॥ ५० ॥

मानसिकव्याधिमें अथवा मानसिकव्याधिके विना भी बुद्धिमान्को उचित है कि, अपने हित और अहितका विचार कर अहितकारक धर्म अर्थ कामका त्याग और हितकारक धर्म अर्थ कामका सेवन करनेमें यत्नवान् होना चाहिये ॥ ५० ॥

न ह्यन्तरेण लोके त्रयमेतन्मानसं किञ्चिन्निष्पद्यते सुखं वा दुःखं वा। तस्मादेतच्चानुष्ठेयम्। तद्विद्यावृद्धानाञ्चोपसेवने प्रयतितव्यम्। आत्मदेशकालबलशक्तिज्ञाने यथावच्चेति ॥ ५१ ॥

क्योंकि इस लोकमें धर्म अर्थ कामके विना कोई भी मानसिक दुःख, सुख नहीं होसकता इस लिये हितकारक धर्म अर्थ कामका सेवन करे। उस धर्मादि त्रिविध पुरुषार्थको हितकर बनानेके लिये योग्य बुद्धिमानों और वृद्धजनोंका सेवन तथा

सत्संग करना चाहिये । और आत्मा, देश, काल, बल, शक्ति इनके यथावत् ज्ञानमें तत्पर रहे अर्थात् इनसे विरुद्ध आचरण न करे ॥ ५१ ॥

भवति चात्र । मानसं प्रतिभैषज्यं त्रिवर्गस्यान्ववेक्षणम् ।
तद्विद्यसेवा विज्ञानमात्मादीनाञ्च सर्वशः ॥ इति ॥ ५२ ॥

यहां पर श्लोक है कि-धर्म अर्थ काम इस त्रिवर्गको यथोचित जानकर सेवन करना और इस त्रिवर्गके ज्ञाता वृद्धजनोंकी सेवा यथा आत्म आदिकके ज्ञानमें तत्पर रहना यह मानसिकव्याधिकी औषधि हैं ॥ ५२ ॥

रोगोंके तीन मार्ग ।

त्रयो रोगमार्गा इति । शाखा मर्मास्थिसन्धयः कोष्ठञ्च । तत्र शाखा रक्तादयो धातवस्त्वक् च बाह्यो रोगमार्गः॥ मर्माणि पुनर्वस्तिहृदयमूर्द्धादीनि । अस्थिसन्धयोऽस्थिसंयोगास्तत्रोपनिबद्धाश्च स्नायुकण्डराः सिरादयश्च । स मध्यमो रोगमार्गः । कोष्ठं पुनरुच्यते महास्रोतः शरीरमध्यं महानिम्नमामपक्वाशयश्चेति पर्य्यायशब्दैः स रोगमार्ग आभ्यन्तरः ॥ ५३ ॥

रोगमार्ग तीन प्रकारके हैं । वह इस प्रकार हैं-१ शाखा, २ मर्म आस्थिसंधि, ३ कोष्ठ. इनमें शाखाशब्दसे रक्तादिधातुएं और त्वचा लेना इनको बाह्यमार्ग कहते हैं । और बस्ति, हृदय, मूर्द्धा आदिक मर्मस्थान, आस्थिसन्धि और अस्थिसंयोग स्थान, एवं उन २ स्थानोंमें बंधीहुई स्नायु, कंडरा और सिरा इनको मध्य रोगमार्ग कहते हैं । कोष्ठशब्दसे कोष्ठके अन्य पर्याय जैसे महास्रोत, शरीरमध्य, महानिम्न, आमाशय, पक्वाशय इनको आभ्यंतर रोगमार्ग कहते हैं ॥ ५३ ॥

बहिर्मार्गज रोगोंके नाम ।

तत्र गण्डपीडकालज्यपचीचर्म्मकीलाधिमांसमषककुष्ठव्यङ्गादयो विकारा बहिर्मार्गजाः ॥ ५४ ॥

इनमें गंड (गलगंड), पीडका, अलजी, अपची, चर्मकील, अर्बुद, अधिमांस, अलस (पावका रोग), कुष्ठ और व्यंग आदि रोग बाह्य रोगमार्गसे पैदा होते हैं।॥५४॥

शाखानुसारीरोग ।

वीसर्पश्वयथुगुल्मार्शोविद्रध्यादयः शाखानुसारिणो भवन्ति रोगाः॥५५॥

वीसर्प, शोथ, गुल्म, बवासीर, विद्रधि आदि रोग शाखानुसारी कहेजाते हैं।॥५५॥

मध्यममार्गानुसारी रोग ।

पक्षवधग्रहापतानकार्दितशोषराजयक्ष्मास्थिसंधिशूलगुदभ्रंशादयः शिरोहृद्बस्तिरोगादयश्च मध्यममार्गानुसारिणो भवन्ति रोगाः ॥ ५६ ॥

पक्षवध (पक्षाघात, अर्धांग), ग्रह (अंगग्रह, किसी अंगका रहजाना) अपतानक, अर्दित, सोजा, राजयक्ष्मा, अस्थिशूल, संधिशूल, गुदभ्रंश और शिरोगत रोग, हृदयगत रोग, एवं वास्तिगत रोग मध्यममार्गानुसारी कहेजातेहैं ॥ ५६ ॥

कोष्ठानुसारी रोग ।

ज्वरातीसारछर्द्यलसकविषूचिकाकासश्वासहिक्कानाहोदरप्लीहादयोऽन्तर्मार्गजाश्च विसर्पश्वयथुगुल्मार्शोविद्रध्यादयः कोष्ठमार्गानुसारिणो भवन्ति रोगाः ॥ ५७ ॥

ज्वर, अतिसार, वमन, अलसक (अजीर्णका भेद), विसूचिका, श्वास, कास, हिचकी, अफरा, उदररोग, प्लीहरोग यह आभ्यंतरमार्गजन्य रोग, वीसर्प, शोथ, गुल्म, अर्श तथा विद्रधिआदि कोष्ठमार्गनुसारी रोग होते हैं ॥ ५७ ॥

तीनप्रकारके वैद्य ।

त्रिविधा भिषज इति। भिषक्छद्मचराः सन्ति सन्त्येके सिद्धसाधिताः ।
सन्ति वैद्या गुणैर्युक्तास्त्रिविधा भिषजो भुवि ॥ ५८ ॥

तीन प्रकारके वैद्य हैं। छद्मचर वैद्य १, सिद्धसाधित वैद्य २, वैद्यगुणसम्पन्न वैद्य ३ ॥ ५८ ॥

भिषक्छद्मचरके लक्षण ।

वैद्यभाण्डौषधैः पुस्तैः पल्लवैरवलोकनैः ।
लभन्ते ये भिषक्शब्दमज्ञास्ते प्रतिरूपकाः ॥ ५९ ॥

इनमें दूसरे वैद्योंके पात्र, औषध, पुस्तक, पत्र आदि देखकर आपभी उनकी समान रूप बनाकर वैद्य कहलानेवाले प्रतिरूपक या छद्मचर वैद्य कहातेहैं ॥ ५९ ॥

सिद्धसाधितवैद्यके लक्षण ।

श्रीयशोज्ञानसिद्धानां व्यपदेशादतद्विधाः ।
वैद्यशब्दं लभन्ते ये ज्ञेयास्ते सिद्धसाधिताः ॥ ६० ॥

जो वैद्य वैद्यगुणसम्पन्न तो नहीं परन्तु धनवान् यशवाले ज्ञानवान् और सिद्ध वैद्योंका नाम (अन्यदेशमें) रखलेतेहैं उनको सिद्धसाधित वैद्य कहतेहैं ॥ ६० ॥

वैद्यगुणयुक्तके लक्षण ।

प्रयोगज्ञानविज्ञानसिद्धिसिद्धाः सुखप्रदाः ।
जीविताभिसरास्ते स्युर्वैद्यत्वं तेष्ववस्थितम ॥ इति ॥ ६१ ॥

जो वैद्य औषधप्रयोग आदिमें कुशल हैं तथा हेतु, रोग, चिकित्साके ज्ञान विज्ञानमें सिद्धिसम्पन्न हैं, वह सुखके और जीवनके देनेवाले सद्वैद्य वैद्यगुणसम्पन्न वैद्य होते हैं इनहीमें वैद्यशब्दकी स्थिति है ॥ ६१ ॥

औषधियोंके भेद।

त्रिविधमौषधमिति दैवव्यपाश्रयं युक्तिव्यपाश्रयं सत्त्वावजयश्च। तत्र दैवव्यपाश्रयं मन्त्रौषधिमणिमङ्गलनियमप्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्ययनप्रणिपाततीर्थगमनादि। युक्तिव्यपाश्रयं पुनराहारौषधद्रव्याणां योजना। सत्त्वावजयः पुनरहितेभ्योऽर्थेभ्यो मनोनिग्रहः ॥ ६२ ॥

तीन प्रकारकी औषध होती हैं। दैवव्यपाश्रय १, युक्तिव्यपाश्रय २, सत्त्वावजय ३, इनमें मन्त्र, मंगल, औषधी, रत्न इनका धारण, मंगलाचरण, बलि, पूजन, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास, स्वास्तिवाचन, प्रणाम, तीर्थगमन आदिको दैवव्यपाश्रय औषध कहतेहैं। युक्तिपूर्वक आहार और औषधके सेवनको युक्तिव्यपाश्रय कहते हैं। अहित अर्थोंसे मनको रोकनेका नाम सत्वावजय औषध है ॥ ६२॥

शारीरिक रोगोंमें औषधभेद।

शारीरदोषप्रकोपे खलु शरीरमेवाश्रित्य प्रायशस्त्रिविधमौषधमिच्छन्ति। अन्तःपरिमार्जनं बहिःपरिमार्जनं शस्त्रप्रणिधानञ्चेति। तत्रान्तःपरिमार्जनं यदन्तःशरीरमनुप्रविश्यौषधमाहारजातव्याधीन् प्रमार्ष्टि। यत् पुनर्बहिःस्पर्शमाश्रित्याभ्यङ्गस्वेदप्रदेहपरिषेकोन्मर्दनाद्यैरामयान् प्रमार्ष्टि तद्बहिःपरिमार्जनम् ॥ ६३ ॥ शस्त्रप्रणिधानं पुनश्छेदनभेदनव्यधनदारणलेखनोत्पाटनप्रच्छनसीवनैषणक्षाराग्निजलौकाश्चेति॥ ६४॥

प्राज्ञो रोगे समुत्पन्ने बाह्येनाभ्यन्तरेण वा।
कर्मणा लभते शर्म शस्त्रोपक्रमणेन वा ॥ ६५ ॥

शारीरक दोषोंके कोपको शान्त करनेके लिये प्रायः तीन प्रकारकी औषधका प्रयोग किया जाताहै। वह तीन प्रकारके औषध यह हैं–अंतःपरिमार्जन, बहिःपरिमार्जन और शस्त्रप्राणिधान। इनमें जो औषध शरीरके भीतर जाकर मिथ्या आहारादि हुए रोगको नष्ट करे उसको अंतःपरिमार्जन कहते हैं। जो औषध बाहिरके आश्रयसे अर्थात् मालिश, पसीना, प्रलेप, परिषेक, उद्वर्तन आदिके संयोगसे रोगको नष्ट करे उसको बहिःपरिमार्जन कहते हैं। शस्त्रद्वारा–छेदन, भेदन, व्यधन, विदारण, लेखन, उत्पाटन, प्रच्छन, सीवन, एषण, क्षारकर्म, अग्निकर्म और जलौका

आदिके प्रयोगको शस्त्रप्रणिधान कहते हैं। बुद्धिमान् मनुष्य उत्पन्न हुए रोगकी शांतिके लिये अंतःपरिमार्जन अथवा बाह्यपरिमार्जन या शस्त्रप्रणिधान, इन तीन उपायोंको करनेसे ही सुखको प्राप्त होसकता है॥ ६३-६५॥

बालकोंकी अज्ञानताका फल।

बालस्तु खलु मोहाद्वा प्रमादाद्वा न बुध्यते।
उत्पद्यमानं प्रथमं रोगं शत्रुमिवाबुधः॥ ६६॥
अणुर्हि प्रथमं भूत्वा रोगः पश्चाद्विवर्द्धते।
स जातमूलो मुष्णाति बलमायुश्च दुर्मतेः॥ ६७॥
न मर्त्यो लभते संज्ञां तावद्यावन्न पीड्यते।
पीडितस्तु मतिं पश्चात् कुरुते व्याधिनिग्रहे॥ ६८॥
अथ पुत्रांश्च दारांश्च ज्ञातींश्चाहूय भाषते।
सर्वस्वेनापि मे कश्चिद्भिषगानीयतामिति॥ ६९॥
तथाविधं च कः शक्तो दुर्बलं व्याधिपीडितम्।
कृशं क्षीणेन्द्रियं दीनं परित्रातुं गतायुषम्॥ ७०॥
स त्रातारमनासाद्य बालस्त्यजति जीवितम्।
गोधा लांगूलबद्धेवाकृष्यमाणा बलीयसा॥ ७१॥

बालक अर्थात् अज्ञानी मनुष्य पहले तो उत्पन्न होते हुए रोगको मोह अथवा प्रमादवश तुच्छ मानता है। जैसे मूर्खपुरुष अपने शत्रुको तुच्छ समझता है। परन्तु जब पहले उत्पन्न होते ही रोगका यत्न नहीं किया जाता फिर वह रोग वृद्धिको प्राप्त होकर जड पकड जाता है और पहले ही यत्न न करनेवाले मूर्खके बलको तथा आयुको नष्ट करदेता है जब तक मूर्खमनुष्यको रोग अत्यंत पीडित नहीं करदेता तब तक उस रोगका यत्न करनेकी उसे होश नहीं होती। जब रोगसे व्याकुल होजाता है फिर यत्न करानेके लिये प्रयत्नवान् होता है। और अपने पुत्र स्त्री तथा बांधवोंको बुलाकर कहता है कि, चाहे सर्वस्व भी खर्च होजाय परंतु किसी योग्य वैद्यको बुलाकर मेरी चिकित्सा करो। फिर वैसे दुर्बल, असाध्य व्याधिसे पीडित हुए, कृश तथा क्षीण इंद्रिय होनेपर दीन और गतायुकी रक्षा करनेको कौन समर्थ होसकता है अर्थात् कोई नहीं। फिर जब उसकी कोई चिकित्सा नहीं करसकता तब वह मूर्ख अपनी आयुको त्याग देता है अर्थात् रोगवश होकर मृत्युको प्राप्त होता है जैसे गोहकी पूंछको कोई बलवान् जानवर पकडकर खींचता है तब वह आगेको बलपूर्वक भाग-

तीहुई अपने जीवनको त्यागदेती है ऐसे ही रोगोंसे खींचाहुआ मनुष्य भी अपने जीवनको त्यागदेता है ॥ ६६--७१ ॥

मनुष्यका कर्तव्य।

तस्मात् प्रागेव रोगेभ्यो रोगेषु तरुणेषु वा।
भेषजैः प्रतिकुर्व्वीत य इच्छेत् सुखमात्मनः ॥ ७२ ॥

इसलिये रोग होनेसे पहले ही अथवा रोगके बलवान् होनेसे पहलेही औषध द्वारा अपने सुखके लिये यत्न करे ॥ ७२ ॥

अध्यायका उपसंहार।

तत्र श्लोकौ—एषणाः समुपस्तम्भा बलं कारणमामयाः।
तिस्रैषणीये मार्गाश्च भिषजो भेषजानि च॥ ७३ ॥
त्रित्वेनाष्टौ समुद्दिष्टाः कृष्णात्रेयेण धीमता।
भावाभावेषु शक्तेन येषु सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ इति ॥ ७४ ॥
अधीत्यादि ॥ एकादशस्तिस्रैषणीयाध्यायः समाप्तः ॥ ११ ॥

यहां इस अध्यायकी पूर्तिमें दो श्लोक हैं, कि इस तिस्रैषणीयाध्यायमें वैराग्यवान् बुद्धिसंपन्न कृष्णात्रेयजीने एषणा, उपस्तंभ, बल, कारण, रोग, रोगमार्ग, वैद्य, औषध इन आठोंके तीन २ भेद कथन किये हैं और सबके भावाभाव कहे हैं। जिसमें समस्त प्रतिष्ठित है अर्थात् जिसके आधार पर समस्त वैद्यक है ॥ ७३ ॥ ७४ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां पटियालाराज्यांतर्गतटकसालनिवासिवैद्य-पञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्यभाषा-टीकायां तिस्रैषणीयो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः।

अथातो वातकलाकलीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः।

वायुके विषयमें ऋषियोंका प्रश्न।

वातकलाकलाज्ञानमधिकृत्य परस्परमतानि जिज्ञासमानाः समुपविश्य महर्षयः पप्रच्छुरन्योन्यम्। किंगुणो वायुः। किमस्य प्रकोपणम्। उप-

शमनानि वास्य कानि । कथञ्चैनमसङ्घातमनवस्थितमनासाद्य प्रकोपणप्रशमनानि प्रकोपयन्ति प्रशमयन्ति वा । कानि चास्य कुपिताकुपितस्य शरीराशरीरचरस्य शरीरेषु चरतः कर्माणि बहिः शरीरेभ्यो वेति ॥ १ ॥

अब हम वातकलाकलीय अध्यायका कथन करते हैं ऐसा भगवान् आत्रेयजी कहनेलगे। महर्षिलोग एक स्थानमें एकत्रित होकर बैठेहुए वातकलाकलीय अर्थात् वायुको सूक्ष्मविचार करनेका उद्देश्य रखकर परस्पर जाननेकी इच्छा करतेहुए आपसमें इस प्रकार आंदोलन करने लगे कि वायुके क्या गुण हैं, इसके प्रकोपका कारण क्या है, और इसकी शांति किस प्रकार होती है और किस प्रकार इस असंहत और अनवस्थित वायुको प्रकोपकारक द्रव्य प्राप्त होकर प्रकुपित करते हैं और कैसे शमनकारक शमन करते हैं। जब यह वायु कुपित होकर अथवा विना कुपित हुएही शरीरके भीतर या बाहर विचरती है तब इसकी क्या क्रिया होती है। और शरीरके भीतर रहकर किन कर्मोंको करती है तथा शरीरके बाहर रहकर किन कर्मोंको करती है॥१॥

सांकृत्यायनकुशका मत।

अत्रोवाच कुशः सांकृत्यायनः । रूक्षलघुशीतदारुणखरविशदाः षडिमे वातगुणा भवन्ति ॥ २ ॥

उन ऋषियोंमें कुश-सांकृत्यायन ऋषि कहनेलगे कि, वायुमें रूक्ष, लघु, शीतल, दारुण, खर, विशद यह छः गुण हैं ॥ २ ॥

भरद्वाजका मत।

तच्छ्रुत्वा वाक्यं कुमारशिरा भरद्वाज उवाच । एवमेतद्यथा भगवानाह एत एव वातगुणा भवन्ति । स त्वेवं गुणैरेवंद्रव्यैरेवंप्रभावैश्च कर्म्मभिरभ्यस्यमानैर्वायुः प्रकोपमापद्यते । समानगुणाभ्यासो हि धातूनां वृद्धिकारणमिति ॥ ३ ॥

यह सुनकर " कुमारशिरा भरद्वाज " कहनेलगे। जैसे आपने कहा है ठीक वायुमें यही गुण होते हैं वह वायु वैसे ही रूक्षादि गुणयुक्त द्रव्योंसे तथा वैसे ही रूक्षादि प्रभाववाले कर्मोंके अभ्याससे कुपित होती है। क्योंकि समानगुणोंवाले द्रव्यों तथा कर्मोंका अभ्यास ही धातुओंकी वृद्धिका कारण होताहै जैसे 'सर्वदा सर्वभावानां' यह पहले अध्यायमें कहचुके हैं ॥ ३ ॥

वाह्लीकका मत।

तच्छ्रुत्वा वाक्यं काङ्कायनो वाह्लीकभिषगुवाच । एवमेतद्यथा

भगवानाह। एतान्येव वातप्रकोपनानि भवन्ति। अतो विपरीतानि खल्वस्य प्रशमनानि भवन्ति। प्रकोपनविपर्य्ययो हि धातूनां प्रशमकारणमिति ॥ ४ ॥

यह वाक्य सुनकर " कांकायन-बाह्लीक वैद्य " कहनेलगे जैसे आपने कहाहै वैसे ही है। यही रूक्षादिगुणयुक्त द्रव्यादि वातके कोप करनेमें कारण होते हैं,। इससे विपरीत स्निग्धादिगुण प्रभाव युक्त द्रव्यों या कर्मोंसे वातकी शान्ति होती है क्योंकि प्रकोपके कारणसे विपरीतगुणोंवाले द्रव्यादिकोंका सेवन ही धातुओं (वातादिकोंसे ही यहां धातुशब्दका लक्षण है) को शांत करनेके कारण होते हैं ॥ ४ ॥

बडिशधामार्गवका मत।

तच्छ्रुत्वा वाक्यं बडिशो धामार्गव उवाच। एवमेतद्यथा भगवानाह। एतान्येव वातप्रकोपप्रशमनानि भवन्ति। यथा ह्येनमसंघातमवस्थितमनासाद्य प्रकोपनप्रशमनानि प्रकोपयन्ति प्रशमयन्ति वा। तथानुव्याख्यास्यामः। वातप्रकोपनानि खलु रूक्षलघुशीतदारुणखरविशदसुषिरकराणि शरीराणाम्। तथाविधेषु शरीरेषु वायुराश्रयं गत्वाप्याय्यमानः प्रकोपमापद्यते। वातप्रशमनानि पुनः स्निग्धगुरूष्णश्लक्ष्णमृदुपिच्छिलधनकराणि शरीराणाम्। तथाविधेषु शरीरेषु वायुरासज्यमानश्चरन् प्रशान्तिमापद्यते ॥ ५ ॥

यह सुनकर " बडिश धामार्गव " बोले, जैसे आपने कहा है ठीक ऐसे ही है। यह ही वायुके प्रकोप और शांतिके कारण होते हैं। जिस प्रकार इस सूक्ष्म और चल वायुको प्राप्त हो कोपकारक और शांतिकारक द्रव्य प्रकुपित और शमनको प्राप्त होते हैं उनका वर्णन भी करते हैं। वह ऐसे हैं वातको प्रकुपित करनेवाले पदार्थ अपने रूक्ष, लघु, शीतल, दारुण, खर, विशद और सुषिर करनेवाले गुणोंसे वातस्वभाववाले शरीरोंमें वायुके आश्रय होकर वायुके कोपको प्राप्त होते हैं अर्थात् रूक्षादि गुणोंवाले पदार्थ वातप्रधान शरीरमें अपने रूक्षादि गुणोंसे वायुको बढाकर कुपित करदेते हैं। (तात्पर्य यह हुआ कि, अपने रूक्षादि गुणोंको प्राप्त हो वायु बढकर कुपित होजाताहै) ऐसे ही वातको शान्त करनेवाले द्रव्य शरीरोंमें-चिकनाई, गुरुता, उष्णता, श्लक्ष्णता, कोमलता, पिच्छिलता और घनताको करते हैं। फिर स्निग्धादि गुणयुक्त शरीरमें विचरता हुआ वायु स्निग्धादिगुणोंसे मिलकर शान्तिको प्राप्त होता है। अर्थात् वातसे विपरीत चिकने आदि गुणयुक्त पदार्थोंसे स्निग्धता आदि गुण प्राप्त होनेपर रूक्षता आदि गुण त्यागता हुआ शांत होजाता है ॥ ५ ॥

वार्योविदका मत।

तच्छ्रुत्वा बडिशवचनमवितथमृषिगणैरनुमतमुवाच वार्योविदो राजर्षिः। एवमेतत्सर्वमनपवादं यथा भगवानाह। यानि तु खलु वायोः कुपिताकुपितस्य शरीराशरीरचरस्य शरीरेषु चरतः कर्म्माणि बहिः शरीरेभ्यो वा भवन्ति तेषामवयवान्प्रत्यक्षानुमानोपमानैः साधयित्वा नमस्कृत्य वायवे यथाशक्ति प्रवक्ष्यामः ॥ ६ ॥

इस प्रकार कहेहुए यथार्थ और ऋषियोंके बहुमत अर्थात् मानेहुए बडिशके वाक्यको सुनकर राजर्षि वार्योविद् कहनेलगे कि, आपने जैसे कहा है यह निर्विवाद है अर्थात् सबको मंतव्य और यथार्थ है। अब शरीरसे बाहिर विचरतेहुए कुपित अथवा शान्तिको प्राप्त हुए वायुके जो २ कार्य शरीरके भीतर और बाहर होते हैं अर्थात् कुपित या विना कुपितवायु शरीरमें अथवा बाहिर जो २ कार्य करता है उन सबको प्रत्यक्ष अनुमान और आप्तोपदेश द्वारा सिद्ध करतेहुए वायुको नमस्कार करके यथाशक्ति वर्णन करता हूं ॥ ६ ॥

वायुके भेद और कर्म।

वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः। प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा। प्रवर्त्तकश्चेष्टाना-मुच्चावचानाम्। नियन्ता प्रणेता च मनसः। सर्वेन्द्रियाणामुद्द्योतकः सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा। सर्वशरीरधातुव्यूहकरः। सन्धानकरः शरीरस्य। प्रवर्त्तको वाचः। प्रकृतिः स्पर्शशब्दयोः। श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलम्। हर्षोत्साहयोर्योनिः। समीरणोऽग्नेः। दोषसंशोषणः क्षेप्ता बहिर्मलानाम्। स्थूलाणुस्रोतसां भेत्ता। कर्त्ता गर्भाकृतीनाम्। आयुषोऽनुवृत्तिप्रत्य-यभूतो भवत्यकुपितः ॥ ७ ॥

इस शरीरतंत्र और शरीररूपी यंत्रके धारण करनेवाला वायु-प्राण, उदान, समान, व्यान, अपान इन भेदोंसे पांच प्रकारका है। यह चलना फिरना आदि शरीरकी ऊंची नीची चेष्टाका प्रवर्तक है, मनका नियमन करनेवाला और प्रवर्त्तक है सब इंद्रियोंमें उद्योग करनेवाला, सब इंद्रियोंको चलानेवाला, सब शरीरकी धातुओंका संघात करनेवाला, शरीरका संधान (योजना) करनेवाला, वाणीको प्रवृत्त करनेवाला, शब्द और स्पर्शके स्वभाववाला, शब्द और स्पर्शके बोधका कारण, हर्ष और उत्सा-हका कारण, अग्निको प्रेरण करनेवाला, दोषोंका शोषण करनेवाला, मलोंको निकाल-कर बाहिर फेंकनेवाला, स्थूल और सूक्ष्म स्रोतोंको भेदन करनेवाला, गर्भकी आकृति

बनानेवाला और आयुका आधारभूत है । यह कर्म प्रकृतिस्थ अर्थात् कोपको विना प्राप्त हुए वायुके हैं ॥ ७ ॥

कुपितवायुके कर्म ।

कुपितस्तु खलु शरीरे शरीरं नानाविधैर्विकारैरुपतपति । बलवर्णसुखायुषामुपघाताय भवति । मनो व्याहर्षयति । सर्वेन्द्रियाण्युपहन्ति । विनिहन्ति गर्भान् । विकृतिमापादयत्यतिकालं वा धारयति । भयशोकमोहदैन्यातिप्रलापाञ्जनयति । प्राणांश्चोपरुणद्धि ॥ ८ ॥

शरीरस्थ वायु कुपित होनेपर शरीरको अनेक प्रकारके रोगोंसे पीडित करताहै । तथा बल, वर्ण, सुख और आयुको नष्ट करताहै । और गर्भको नष्ट अथवा विकारयुक्त करदेताहै या प्रसवमें अतिकाल अर्थात् विलम्ब करदेताहै । भय, शोक, मोह, प्रलाप, दीनता इनको उत्पन्न करदेताहै । तथा प्राणोंकी गतिको रोकदेताहै यह शरीरमें कुपित हुए वायुके कार्य हुए ॥ ८ ॥

बाह्य वायुके कर्म ।

प्रकृतिभूतस्य खल्वस्य लोके चरतः कर्माणीमानि भवन्ति । तद्यथा । धरणीधारणम् । ज्वलनोज्ज्वालनम् । आदित्यचन्द्रनक्षत्रग्रहगणानां सन्तानगतिविधानम् । सृष्टिश्च मेघानाम् । अपाञ्च विसर्गः । प्रवर्तनं स्रोतसाम् । पुष्पफलानाञ्चाभिनिर्वर्त्तनमुद्भेदनञ्चौद्भिदानामृतूनां प्रविभागः । विभागो धातूनाम् । धातुमानसंस्थानव्यक्तिः । बीजाभिसंस्कारः । शस्याभिवर्द्धनम् । विक्लेदोपशोषणम् । अवैकारिकविकारश्चेति ॥ ९ ॥

बाह्यवायु–प्रकृतिस्थ अर्थात् अपने उचित स्वभावमें रहनेसे संसारमें विचरता हुआ इन कर्मोंको करता है । जैसे–पृथ्वीका धारण, अग्निका ज्वालन, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और ग्रहगणको अपने क्रमपूर्वक गतिसे घुमाना तथा मेघ आदिको उत्पन्न करना, आकाशसे जलोंका पातन करना, स्रोतों (सोतों) अर्थात् झरनामेंसे जलको प्रवर्तन करना, पुष्प, फल आदिकोंका अपने २ समयमें उत्पन्न होना, वृक्षादि उद्भिज्ज सृष्टिका ठीक उत्पन्न होना, छः ऋतुओंका ठीक होना, संपूर्ण पार्थिव धातुओंका विभाग तथा घनता और आकृतिका ठीक होना, बीजोंमेंसे अंकुरादि निकलना, खेती तथा घासका बढना, क्लेदका हरना, विकारयुक्त वस्तुको विकाररहित बनादेना । ऐसे ऐसे शुभ कार्योंको प्रकृतिस्थ बाह्य वायु करताहै ॥ ९ ॥

कुपित बाह्य वायुके कर्म।

प्रकुपितस्य खल्वस्य लोकेषु चरतः कर्माणीमानि भवन्ति ॥ १० ॥

प्रकुपित हुए बाह्यवायुके यह कर्म (आगे कहे हुए) होतेहैं ॥ १० ॥

तद्यथा। उत्पीडनं सागराणाम्। उद्वर्त्तनं सरसाम्। प्रतिसरणमापगानाम्। आकम्पनञ्च भूमेः। आधमनमम्बुदानाम्। शिखरिशिखरावमथनम्। उन्मथनमनोकहानाम्। नीहारनिर्ह्रादपांशुसिकतामत्स्यभेकोरगक्षाररुधिराश्माशनिविसर्गः। व्यापादनञ्च षण्णामृतूनाम्। शस्यानामसंघातः। भूतानाञ्चोपसर्गः। भावानाञ्चाभावकरणम्। चतुर्युगान्तकराणां मेघसूर्यानलानां विसर्गः ॥ ११ ॥

वह ऐसे हैं समुद्रोंको डगमगा देना, तालाओंके जलोंका आलोडन करडालना, नदियोंको उलटा करदेना, भूकंप होना, मेघोंका इधर उधर चालन होना, पर्वतोंके शिखरोंका टूटना, वृक्षोंका उखाडना नीहार (पानी मिली हवा), गूंजदार शब्द, गरदा, रेत, मत्स्य, मेडक, सांप, खार, रुधिर, पत्थर, वज्र इनका आकाशसे गिरना, छहों ऋतुओंमें विकृति होना, खेतीका बिगडना, भूत आदि गणोंकी बाधा होना, होनेयोग्य वस्तुओंका न होना, चारों युगोंके नष्टकर्ता अर्थात् प्रलयकारक मेघ, सूर्य, वायु और अग्निको फैलाना ॥ ११ ॥

वायुके साधारण धर्म।

स हि भगवान् प्रभवश्चाव्ययश्च। भूतानां भावानामभावाकरः। सुखासुखयोर्विधाता। मृत्युर्यमो नियन्ता प्रजापतिरदितिर्विश्वकर्मा विश्वरूपः सर्वगः सर्वतन्त्राणां विधाता। भावानामणुर्विभुर्विष्णुः। क्रान्ता लोकानाम्। वायुरेव भगवानिति ॥ १२ ॥

यह वायु भगवान् ही भूत सृष्टिकी उत्पत्ति स्थिति और नाशको करनेवाला है। यह वायु ही सुख दुःखको देनेवाला मृत्यु, यम, नियंता, प्रजापति, अदिती, विश्वकर्मा, विश्वरूप, सर्वगामी, सर्वतंत्रोंको रचनेवाला है। और सब भावोंमें—अणु, विभु, विष्णु, तीनों लोकोंमें व्यापक और भगवान् है ॥ १२ ॥

मारीचिका प्रश्न।

तच्छ्रुत्वा वायोर्विद्वचो मारीचिरुवाच यद्यप्येवमेतत्किमर्थस्यास्य वचने विज्ञाने वा सामर्थ्यमस्ति भिषग्विद्यायाम्। भिषग्विद्यां वाधिकृत्य कथा प्रवर्त्तते ॥ १३ ॥ वार्योविद उवाच। भिषक्पवनमति-

बलमतिपरुषमतिशीघ्रकारिणमात्ययिकञ्चैनानुनिशम्येत् ॥ सहसा प्रकुपितमतिप्रयतः कथमग्रेऽभिरक्षितुमभिधास्यति प्रागेवैनमत्ययभयादिति। वायोर्यथार्था स्तुतिरपि भवत्यारोग्याय बलवर्णवृद्धये वर्चस्वित्वायोपचयाय च। ज्ञानोपपत्तये परमायुःप्रकर्षाय चेति॥ १४ ॥

वार्योविदके इस वाक्यको सुनकर मारीचि ऋषि बोले। जैसा आप कहतेहैं यदि वायु ऐसा ही है तो इस वायुके कहने और स्वरूप जाननेके लिये वैद्यकशास्त्रमें क्या प्रयोजन है अर्थात् बाह्यवायुका इस प्रकारका प्रस्ताव पदार्थविद्यामें होना चाहिये। वैद्यकका संबन्ध इस प्रस्तावसें नहीं. क्योंकि इस समय आयुर्वेदको आश्रय करके ही इस कथा (वात ज्ञान) की प्रवृत्ति है॥ यह प्रश्न सुनकर वार्योविद बोले कि, यहां पर इस कथनका यह प्रयोजन है कि, वैद्यजन पवनको अतिवेगसे चलता हुआ, अतिकठोर, अतिशीघ्रकारी और विकारोंको करनेवाला जानलेवें फिर शीघ्र ही उसके कोपसे होनेवाले अनिष्टोंसे बचानेके यत्नमें समर्थ हों। यदि वैद्य पवनकी गतिसे उसके विकार आदिको न समझेगा तो होनेवाले भयसे पहले ही रक्षा किस प्रकार करसकेगा। शुद्ध वायुका यथार्थ सेवन करनेसे आरोग्यताकी प्राप्ति, बल और वर्णकी वृद्धि होती है। तेजास्विता और पुष्टता प्राप्त हो और ज्ञानकी प्रतिपत्ति तथा आयुकी वृद्धि होती है॥ १३ ॥ १४ ॥

पित्तकी ऊष्माका वर्णन।

मारीचिरुवाच। अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति ॥ तद्यथा। पक्तिमपक्तिं दर्शनमदर्शनं मात्रामात्रत्वमूष्मणः। प्रकृतिविकृतिवर्णौ। शौर्यं भयं। क्रोधं हर्षं। मोहं प्रसादमित्येवमादीनि चापराणि द्वन्द्वादीनीति ॥ १५ ॥

मारीचि ऋषि कहनेलगे कि, शरीरमें अग्नि ही पित्तमें रहकर अकुपित और कुपित होकर शुभ तथा अशुभको करती है। वह इस प्रकार है जैसे विपाक और अविपाक, दर्शन, अदर्शन, गर्मीको ठीक रखना या बेठीक रखना, प्रकृति या विकृति, वर्ण और अवर्ण, शूरता, अशूरता, ऐसे ही भय, क्रोध, हर्ष, मोह, प्रसन्नता आदि और भी दो दो हिस्सेमें करता है अर्थात् कुपित अग्नि अशुभ और अकुपित शुभकारक होता है॥ १५ ॥

शरीरमें सोमकी प्रधानता।

तच्छ्रुत्वा मारीचिवचः काश्यंप उवाच। सोम एव शरीरे श्लेष्मान्त-

(१) 'काप्य' इति पाठान्तरम्।

गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति । तद्यथा—दार्ढ्यं शैथिल्यमुपचयं कार्श्यमुत्साहमालस्यं वृषतां क्लीबतां ज्ञानमज्ञानं बुद्धिं मोहमेवमादीनि चापराणि द्वन्द्वादीनीति ॥ १६ ॥

इस प्रकार मारीचिके वाक्यको सुनकर काश्यप बोले कि, सोम ही शरीरके कफमें रहकर विना कुपित हुआ शुभ और कुपित हुआ अशुभ करता है । जैसा दृढता, शिथिलता; पुष्टता, कृशता; उत्साह, आलस्य; पुरुषार्थता, क्लीबता; ज्ञान, अज्ञान; बुद्धि, मोह आदि अन्य कार्य भी प्रकृतिस्थ होनेपर शुभ और कुपित होनेपर अशुभ करताहै ॥ १६ ॥

पुनर्वसुका सिद्धांत ।

तच्छ्रुत्वा काश्यपवचो भगवान् पुनर्वसुरात्रेय उवाच । सर्व एव भवन्तः सम्यगाहुरन्यत्रैकान्तिकवचनात् ॥ सर्व एव खलु वातपित्तश्लेष्मणः प्रकृतिभूताः पुरुषमव्यापन्नेन्द्रियं बलवर्णसुखोपपन्नमायुषा महतोपपादयन्ति । सम्यगिवाचरिता धर्मार्थकामा निःश्रेयसेन महतोपपादयंति पुरुषमिह चामुष्मिंश्च लोके । विकृतास्त्वेनं महता विपर्य्ययेणोपपादयन्ति । ऋतवस्त्रय इव विकृतिमापन्ना लोकमशुभेनोपघातकाल इत्येतदृषयः सर्व एवानुमेनिरे वचनमात्रेयस्य भगवतोऽभिननन्दुश्चेति ॥ १७ ॥

यह काश्यपका वचन सुनकर भगवान् पुनर्वसु आत्रेयजी बोले कि, आप सबने एक एक दोषके संबन्धमें एकान्त वचन कहनेके सिवाय वात पित्त और कफके विषयमें ठीक कहा । यह तीनों (वात पित्त कफ) ही अपनी प्रकृति (स्वभाव, ठीक प्रमाण) में स्थित हुए पुरुषकी इंद्रियोंको बलवान् करते हैं और बल, वर्ण तथा सुखको उत्पन्न करते हैं और दीर्घ आयुको देते हैं । जिसके प्रभावसे मनुष्य (धर्म अर्थ काम मोक्ष) इन पुरुषार्थोंका साधन करसकता है अर्थात् इस लोक और परलोकका सुख प्राप्त करसकता है । और विकारको प्राप्तहुए यह तीनों ऊपर कहे हुए गुणोंसे विपरीत (दोषोंको) करते हैं । जैसे जाडा गर्मी, वर्षा यह तीन ऋतुभी विकारको प्राप्त हुई संसारमें प्रलय कालमें अशुभ करती हैं ऐसे ही यह वात, पित्त, कफ, तीनों शरीरमें विकारको प्राप्त होनेसे अशुभ करते हैं । इस प्रकार भगवान् आत्रेयके कहे वचनको सुनकर सब ऋषि आनन्दसे अनुमोदन करने लगे ॥ १७ ॥

भवति चात्र। तदात्रेयवचः श्रुत्वा सर्व एवानुमेनिरे।
ऋषयोऽभिननन्दुश्च यथेन्द्रवचनं सुराः ॥ १८ ॥

जैसे इन्द्रके वचनको सुन सब देवता अनुमोदन करनेलगे वैसे ही भगवान् आत्रेयके वचनको सुनकर सब ऋषि ठीककहा २ कहकर आशंसा करनेलगे ॥ १८ ॥

अध्यायका संक्षिप्त वर्णन।

तत्र श्लोकौ–गुणाः षड् द्विविधो हेतुर्विविधं कर्म्म तत्पुनः।
वायोश्चतुर्विधं कर्म्म पृथक् च कफपित्तयोः ॥ १९ ॥
महर्षीणां मतिर्या या पुनर्वसुमतिश्च या।
कलाकलीये वातस्य तत्सर्वं सम्प्रकाशितम् ॥ इति ॥२०॥

निर्देशचतुष्कम्।

अग्नीत्यादि वातकलाकलीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ १२ ॥

अध्यायकी पूर्तिमें यह दो श्लोक हैं। इस वातकलाकलीयनामके अध्यायमें वायुके छः गुण, दो प्रकारके हेतु और अनेक प्रकारके वायुके कर्म, कुपित अकुपित भेदसे पित्त और कफके दो कर्म, वात पित्त कफके सम्वन्धमें ऋषियोंका मत तथा पुनर्वसुजीका मत वर्णन किया गया है ॥ १९ ॥ २० ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां पटियालाराज्यान्तर्गतटकसालनिवासि-वैद्यपञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्यभाषाटीकायां वातकलाकलीयो नाम द्वादशोध्यायः ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः।

अथातः स्नेहाध्यायं व्याख्यास्याम इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम स्नेहाध्यायकी व्याख्या करते हैं इस प्रकार भगवान् आत्रेयजी कहनेलगे॥

अग्निवेशका प्रश्न।

सांख्यैः संख्यातसंख्येयैः सहासीनं पुनर्वसुम्।
जगद्धितार्थं पप्रच्छ वह्निवेशः सुसंशयम् ॥ १ ॥

---

१ "संख्यातं सम्यक्ज्ञातं संख्येयं ज्ञेयम् आत्मादितत्त्वं यैः तैःसांख्यैरिति चरकोपस्कारः।

किंयोनयः कति स्नेहाः के च स्नेहगुणाः पृथक् ।
कालानुपाने के कस्य कति काश्च विचारणाः ॥ २ ॥
कतिमात्राः कथं मानाः का च केषूपदिश्यते ।
कश्च केभ्यो हितः स्नेहः प्रकर्षः स्नेहने च कः ॥ ३ ॥
स्नेह्याः के के च न स्निग्धाः स्निग्धातिस्निग्धलक्षणम् ।
किं पानात्प्रथमं पीते जीर्णे किञ्च हिताहितम् ॥ ४ ॥
के मृदुक्रूरकोष्ठाः का व्यापदः सिद्धयश्च काः ।
अच्छे संशोधने चैव स्नेहे का वृत्तिरिष्यते ॥ ५ ॥
विचारणाः केषु योज्या विधिना केन तत् प्रभो ।
स्नेहस्यामितविज्ञान ज्ञानमिच्छामि वेदितुम् ॥ ६ ॥

सांख्य शास्त्रके विद्वान् और ज्ञानी ऋषियोंमें विराजमान पुनर्वसुजीसे संसारके हितके लिये अग्निवेश अपने संशयको पूछनेलगे ॥ हे प्रभो ! स्नेहके कारण कौन २ द्रव्य हैं । स्नेह कितने प्रकारके हैं । स्नेहोंके अलग २ कौनसे गुण हैं, किस समय कौनसे स्नेहको पान करना चाहिये और उनके अनुपान क्या हैं । स्नेह कितने प्रकारके हैं । विचारणा कितनी और कौन हैं । कितनीमात्रासे सेवन करना, इसका मान कैसा है । कैसा किसके लिये कहाहै । कौन स्नेह किसको हितकारक है, सब स्नेहोंमें उत्तम स्नेह कौनसा है, किसको स्नेहन करना चाहिये, किसको नहीं करना । स्निग्ध और अतिस्निग्धके क्या २ लक्षणहैं । स्नेह पीनेसे पहले और स्नेह पीनेसे पीछे तथा स्नेहके जीर्ण होनेपर कौन क्रिया हित है और कौन अहित है । मृदु कोष्ठ और क्रूर कोष्ठ कौन होते हैं । स्नेहपानके अयोगसे क्या खराबी होती है और उसका यत्न क्या है अच्छस्नेह और संशोधन स्नेहमें क्या वर्ताव करना चाहिये । विचारणा स्नेह किस विधिसे किनको देना । हे अमितज्ञान ! स्नेहनके प्रकारोंको जाननेकी मेरी इच्छा है इसलिये कृपया स्नेहशास्त्रका विधान कीजिये ॥ १-६ ॥

पुनर्वसुका उत्तर ।

अथ तत्संशयच्छेत्ता प्रत्युवाच पुनर्वसुः ।
स्नेहानां द्विविधा सौम्य योनिः स्थावरजङ्गमा ॥ ७ ॥
तिलः पियालाभिषुकौ बिभीतकश्चित्राभयैरण्डमधूकसर्षपाः ।
कुसुम्भबिल्वारुकमूलकातसीनिकोचकाक्षोडकरञ्जशिग्रुकाः ॥८॥

स्नेहाश्रयाः स्थावरसंज्ञितास्तथा स्युर्जाङ्गमा मत्स्यमृगाः सपक्षिणः।
तेषां दधिक्षीरघृतामिषं वसा स्नेहेषु मज्जा च तथोपदिश्यते ॥ ९ ॥

अग्निवेशके इस प्रश्नको सुनकर इस संशयके दूर करनेवाले पुनर्वसुजी कहनेलगे। हे सौम्य ! स्नेहोंकी योनि (कारण) स्थावर और जंगम इन दो भेदोंसे दो प्रकारकी है। उनमें तिल, चिरौंजी, पहाडोंपर होनेवाले फलोंकी मींग, बहेडे, चित्रा (जमालगोटा या पहाडी एरंड), हरड, एरण्ड, महुवा, सर्षप, कसूंभेके बीज बिल्व, भिलावा, मूलीके बीज, अलसी, निकोटक, अखरोट, कंजेके बीज, सुहांजनेके बीज, यह सब स्थावर स्नेहोंके योनि हैं अर्थात् इनमेंसे जो तैलादि निकलते हैं वह स्थावर स्नेह हैं। ऐसे ही गौ, भैंस, बकरी आदि तथा मछली, मृग, पशु, पक्षियोंको जंगम स्नेहकी योनि कहते हैं। इनके दही, दूध, घी तथा मांस, चरबी और मज्जा जंगमस्नेह कहे जाते हैं ॥ ७–९ ॥

रोग विशेषोंमें तैलोंकी उत्कृष्टता।

सर्वेषां तैलजातानां तिलतैलं विशिष्यते।
बलार्थे स्नेहने चाग्र्यमैरण्डन्तु विरेचने ॥ १० ॥
सर्पिस्तैलं वसा मज्जा सर्वस्नेहोत्तमा मताः।
एष्वप्यश्चैवोत्तमं सर्पिः संस्कारस्यानुवर्त्तनात् ॥ ११ ॥

चिकनाईके लिये मर्दन आदिसे बल बढानेको सब प्रकारके तेलोंमें तिलोंका तेल उत्तम होताहै। और जुलाव करानेके लिये एरंडतैल उत्तम होताहै। सब प्रकारके स्नेहोंमें–घी, तैल, चरबी, मज्जा यह उत्तम होते हैं। इन सबमें घी बहुत उत्तम है. क्योंकि इसको यदि औषधियोंसे सिद्ध किया जाय तो यह उन औषधियोंके गुणको भी करताहै और अपना गुण भी करताहै ॥ १० ॥ ११ ॥

घृतके गुण।

घृतं पित्तानिलहरं रसशुक्रौजसां हितम्।
निर्वापणं मृदुकरं स्वरवर्णप्रसादनम् ॥ १२ ॥

घृत–वात और पित्तको नष्ट करता है। रस, शुक्र, बल इनको बढाता है, अग्निको मंदकरनेवाला, शरीरको मृदुकारक, स्वर तथा वर्णको प्रसन्न अर्थात् उज्ज्वल करनेवाला है ॥ १२ ॥

तैलके गुण।

मारुतघ्नं न च श्लेष्मवर्द्धनं बलवर्द्धनम्।
त्वच्यमुष्णं स्थिरकरं तैलं योनिविशोधनम् ॥ १३ ॥

तैल--वातनाशक है, कफको बढाता नहीं, बलको बढानेवाला, और त्वचाको उत्तम बनानेवाला, उष्ण, दृढकारक और योनिको शुद्ध करता है ॥ १३ ॥

वसाके गुण ।

विद्धभग्नाहतभ्रष्टयोनिकर्णशिरोरुजि ।
पौरुषोपचये स्नेहे व्यायामे चेष्यते वसा ॥ १४ ॥

चरबी--छिदेहुए और कटेहुएमें हित करती है। योनिभ्रंश, कानका शूल, शिरपीडा इनको दूर करती है। तथा पुरुषार्थकी वृद्धिकारक, चिकना करनेवाली, कसरतमें हितकारी है ॥ १४ ॥

मज्जाके गुण ।

बलशुक्ररसश्लेष्ममेदोमज्जाविवर्द्धनः ।
मज्जा विशेषतोऽस्थ्नाञ्च बलकृत् स्नेहने हिताः॥ १५ ॥

मज्जा--बल, वीर्य, रस, कफ, मेद, मज्जा इनको बढाती है और विशेषतासे हड्डियोंमें बल देती है और चिकनाई करनेमें हित है ॥ १५ ॥

स्नेहपानका समय ।

सर्पिश्शरदि पातव्यं वसा मज्जा च माधवे ।
तैलं प्रावृषि नात्युष्णं शीते स्नेहं पिबेन्नरः ॥ १६ ॥
वातपित्ताधिके रात्रावुष्णे चापि पिबेन्नरः ।
श्लेष्माधिके दिवाशीते पिबेच्चामलभास्करे ॥ १७ ॥

घीका शरद ऋतुमें, चरबी और मज्जाका वसंतमें, तेलका वर्षामें उपयोग करे। और जिस कालमें अधिक गर्मी तथा अधिक सर्दी न हो उस समय स्नेह पीवे। वात और पित्तकी अधिकतामें तथा गर्म ऋतुमें रात्रिके समय स्नेहपान करे। कफकी अधिकतामें और शीतकालमें निर्मल आकाश होनेपर दिनमें स्नेहपान करे॥१६॥१७॥

अत्युष्णे वा दिवा पीते वातपित्ताधिकेन च ।
मूर्च्छां पिपासामुन्मादं कामलां वा समीरयेत् ॥ १८ ॥

वात पित्तकी अधिकतामें अतिगर्मीके समयमें दिनमें स्नेह पान करनेसे मूर्च्छा, प्यास, उन्माद और कामलारोग होते हैं ॥ १८ ॥

शीते रात्रौ पिबेद् स्नेहं नरः श्लेष्माधिकोऽपि वा ।
आनाहमरुचिं शूलं पाण्डुतां वा समृच्छति ॥ १९ ॥

कफकी अधिकतामें और शीतकालमें रात्रिके समय स्नेहपान करनेसे अफारा, अरुचि, शूल, पांडुरोग यह रोग होते हैं ॥ १९ ॥

स्नेहपर अनुपान।

जलमुष्णं घृते पेयं यूषस्तैलेऽनुशस्यते।
वसामज्जोऽस्तु मण्डः स्यात् सर्वेषूष्णमथाम्बु वा ॥ २० ॥

घृतपान करके ऊपरसे गर्म जल पीना चाहिये। और तैल पीकर ऊपरसे मांसरस पीना चाहिये। वसा और मज्जाके पीछे मंड पीना चाहिये। अथवा सब स्नेहोंके पीछे गर्म जल पीवै ॥ २० ॥

स्नेहकी विचारणा।

ओदनश्च विलेपी च रसो मांसं पयो दधि।
यवागूः सूपशाकौ च यूषः काम्बलिकः खडः ॥ २१ ॥
सक्तवस्तिलपिष्टञ्च मद्यं लेहास्तथैव च।
भक्ष्यमभ्यञ्जनं बस्ती तथा चोत्तरबस्तयः ॥ २२ ॥
गण्डूषः कर्णतैलञ्च नस्तः कर्माक्षितर्पणम्।
चतुर्विंशतिरित्येताः स्नेहस्य प्रविचारणाः ॥ २३ ॥

भात आदि अन्न, गोइ, मांसरस, मांस, दूध, दही, यवागू, सूप, साग, कांवलिकयूष, षड्यूष, सत्त, तिलपिष्टक, सुरा, अवलेह, सब प्रकारके भोजन, मालिश, आस्थापन वस्ति, अनुवासन वस्ति, उत्तरवस्ति, गंडूष, कानकी औषधी डालना, नस्य कर्म नेत्रतर्पण इन भेदोंसे स्नेहकी चौवीस प्रकारकी विचारणा है ॥ २१-२३ ॥

असंयुक्तस्नेहका वर्णन।

अच्छपेयस्तु यः स्नेहो न तामाहुर्विचारणाम्।
स्नेहस्य स भिषग्दृष्टः कल्पः प्राथमकल्पिकः ॥ २४ ॥

जो स्नेह किसी अन्य द्रव्यसे न मिला हो उसको विचारणा नहीं कहते उसका नाम अच्छस्नेह है। और किसी अन्य द्रव्यके योगसे स्नेहको विचारणा कहतेहैं। अच्छस्नेह अर्थात् स्वच्छस्नेहको वैद्य लोग स्नेहका प्रथम कल्प मानतेहैं ॥ २४ ॥

स्नेहकी चौंसठ विचारणा।

रसैश्चोपहितः स्नेहः समासव्यासयोगिभिः।
षड्भिस्त्रिषष्टिधा संख्यां प्राप्नोत्येकश्च केवलः ॥ २५ ॥

एवमेताः चतुःषष्टिः स्नेहानां प्रविचारणाः।
सात्म्यर्तुव्याधिपुरुषान्प्रयोज्या जानता भवेत् ॥ २६ ॥

मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय इन छः रसोंके मिलाप, विकल्प और अंशयोगसे रस ६३ प्रकारके होते हैं इन ६३ के संयोग भेदसे स्नेह भी ६३ प्रकारके होतेहैं। और एक अच्छस्नेह (केवल स्नेहमात्र) है इस प्रकार रस संयोगभेदसे ६३ और विना किसी संयोगसे केवल एक यह सब मिलाकर स्नेहकी ६४ प्रकारकी विचारणा हुई, स्नेहके प्रकरण और प्रयोगको जाननेवाला वैद्य शरीरका सात्म्य, ऋतु-भेद, व्याधि, मनुष्यका बलाबल विचारकर स्नेहका प्रयोग करे ॥ २५ ॥ २६ ॥

मात्राओंका वर्णन।

अहोरात्रमहः कृत्स्नमर्द्धाहञ्च प्रतीक्ष्यते।
प्रधाना मध्यमा ह्रस्वा स्नेहमात्रा जरां प्रति ॥ २७ ॥
इति तिस्रः समुद्दिष्टा मात्राः स्नेहस्य मानतः।
तासां प्रयोगान्वक्ष्यामि पुरुषं पुरुषं प्रति ॥ २८ ॥

प्रधानमात्रा मध्यम मात्रा ह्रस्वमात्रा इन भेदोंसे स्नेहोंकी मात्रा (खुराक) तीन प्रकारकी होतीहै। जो मात्रा एक दिन रातमें परिपाकको प्राप्त हो उसको प्रधान मात्रा कहतेहैं। जो केवल दिनमें ही पाचन होजाय उसको मध्यम मात्रा कहतेहैं। जो आधे दिनमें ही पाचन होजाय उसको ह्रस्वमात्रा कहतेहैं। अब उन स्नेहकी मात्राओंको पुरुषभेदसे कथन करतेहैं ॥ २७ ॥ २८ ॥

उत्तममात्राके योग्य पुरुष।

प्रभूतस्नेहनित्या ये क्षुत्पिपासासहा नराः।
पावकश्चोत्तमबलो येषां ये चोत्तमा बले ॥ २९ ॥
गुल्मिनः सर्पदष्टाश्च विसर्पोपहताश्च ये।
उन्मत्ताः कृच्छ्रमूत्राश्च गाढवर्चस एव च ॥ ३० ॥
पिबेयुरुत्तमां मात्रां—

जो मनुष्य स्नेहपीनेके अभ्यासवाले हों, जो भूख प्यासके सहन करनेकी शक्तिवाले हों, जिसकी जठराग्नि उत्तम बलवान् हो. जो शरीरमें बलिष्ठ हो, गुल्मरोगवाला, सांपका काटाहुआ, विसर्परोगवाला, उन्मत्त, मूत्रकृच्छ्रयुक्त और जिसका मल कठोर हो, इन उपरोक्त मनुष्योंको स्नेहकी प्रधान मात्रा देनी उचित है ॥ २९ ॥ ३० ॥

---

(१) सुश्रुतके उत्तर तंत्रके ६३ वें अध्यायमें।

प्रधानमात्राके गुण।

—तस्याः पाने गुणाञ्छृणु ।

विकाराञ्शमयत्येषा शीघ्रं सम्यक् प्रयोजिता ॥ ३१ ॥

दोषानुकर्षिणी मात्रा सर्वमार्गानुसारिणी ।

बल्या पुनर्नवकरी शरीरेन्द्रियचेतसाम् ॥ ३२ ॥

इन मनुष्योंको प्रधान मात्रासे स्नेह पान करानेसे जो गुण होतेहैं सो सुनो। इस प्रधानमात्राका विधिसे प्रयोग किया हुआ सब विकारोंको शीघ्र नष्ट करताहै। बढेहुए दोषोंको खींचकर निकालदेताहै। शरीरके सब छिद्रोंमें स्नेहका प्रवेश होजाताहै, शरीरका बल बढताहै और शरीर, मन, इंद्रियें इनमें नवीनता आजातीहै ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

मध्यममात्राके योग्य पुरुष।

अरुष्कस्फोटपिडकाकण्डुपामाभिरर्दिताः ।

कुष्ठिनश्च प्रमूढाश्च वातशोणितकाश्च ये ॥ ३३ ।

नातिबह्वाशिनश्चैव मृदुकोष्ठास्तथैव च ।

पिबेयुर्मध्यमां मात्रां मध्यमाश्चापि ये बले ॥ ३४ ॥

मात्रैषा मन्दविभ्रंशा न चातिबलहारिणी ।

सुखेन च स्नेहयाति शोधनार्थे च युज्यते ॥ ३५ ॥

और पिडिका, विस्फोटक, अरुंषिका, खाज, पामा, कुष्ठ, प्रमेह, वातरक्त इन रोगोंसे पीडितोंको तथा सामान्य आहार करनेवालोंको, मृदुकोष्ठयुक्तोंको और साधारण बलवालोंको स्नेहकी मध्यममात्रा देनी चाहिये. क्योंकि, मध्यममात्रा न तो अधिक विरेचन करतीहै और न शरीरमें अधिक शिथिलता लातीहै। यह मात्रा विना किसी कष्टके स्नेहन करनेवाली है और शोधनके लिये प्रयुक्त कीजातीहै ॥ ३३–३५ ॥

ह्रस्वमात्राके योग्य पुरुष।

ये तु वृद्धाश्च बालाश्च सुकुमाराः सुखोचिताः ।

रिक्तकोष्ठत्वमहितं येषां मन्दाग्नयश्च ये ॥ ३६ ॥

ज्वरातीसारकासश्च येषां चिरसमुत्थितः ।

स्नेहमात्रां पिबेयुस्ते ह्रस्वां ये चावरा बले ॥ ३७ ॥

परिहारे सुखा चैषा मात्रा स्नेहनबृंहणी ।

वृष्या बल्या निराबाधा चिरञ्चाप्यनुवर्त्तते ॥ ३८ ॥

इसीप्रकार अतिवृद्ध, बालक, सुकुमार, सुखमें रहनेवाले, जिनका कोष्ठ अहितकारी विरेचनसे खाली हो, मंदाग्निवाले, ज्वर, अतिसार, खांसी यह जिनको बहुत दिनोंसे हों, जो बलहीन हैं इन सबको स्नेहकी ह्रस्वमात्रा पिलानी चाहिये। यह मात्रा इन मनुष्योंको सुख देनेवाली है, अंतमें कष्ट नहीं देती शरीरको चिकना करती है। वीर्य और बलको बढाती है। बहुत काल सेवन करनेसे भी कोई कष्ट नहीं देती (इस समय ह्रस्वमात्रा ही बहुतसे लोगोंको हितकर होती है) ॥ ३६-३८ ॥

घृतपानके योग्य व्यक्ति।

वातपित्तप्रकृतयो वातपित्तविकारिणः।
चक्षुःकामाः क्षताः क्षीणा वृद्धा बालास्तथाबलाः ॥ ३९ ॥
आयुःप्रकर्षकामाश्च बलवर्णस्वरार्थिनः।
पुष्टिकामाः प्रजाकामाः सौकुमार्यार्थिनश्च ये ॥ ४० ॥
दीप्त्योजःस्मृतिमेधाग्निबुद्धीन्द्रियबलार्थिनः।
पिबेयुः सर्पिरार्त्ताश्च दाहशस्त्रविषाग्निभिः ॥ ४१ ॥

वात और पित्तकी प्रकृतिवालेको, वात पित्तके विकारियोंको, दृष्टिकी शक्तिकी इच्छावालेको, क्षत और क्षीणको, वृद्धको, बालकको, दुर्बलको, दीर्घायुकी इच्छावालेको, बल, वर्ण और स्वरके उत्तम करनेको, पुष्टताकी इच्छावालेको, सन्ततिकी कामनावालेको, सुकुमारताकी इच्छावालेको, कांति, ओज स्मरणशक्ति, मेधा, अग्नि, बुद्धि और इंद्रियोंके बलकी इच्छावालेको, दाह, शस्त्र, विष, अग्नि इनसे पीडितको घृतपान करना बहुत उत्तम है ॥ ३९--४१ ॥

तैलपानके योग्य व्यक्ति।

प्रवृद्धश्लेष्ममेदस्काश्चलस्थूलगलोदराः।
वातव्याधिभिराविष्टा वातप्रकृतयश्च ये ॥ ४२ ॥
बलं तनुत्वं लघुतां दृढतां स्थिरगात्रताम्।
स्निग्धश्लक्ष्णतनुत्वक्तां ये च कांक्षन्ति देहिनः ॥ ४३ ॥
कृमिकोष्ठाः क्रूरकोष्ठास्तथा नाडीभिरर्दिताः।
पिबेयुः शीतले काले तैलं तैलोचिताश्च ये ॥ ४४ ॥

कफ और चरबी जिनकी बढीहुई हो जिनका गला और पेट स्थूल हो तथा हिलता हो, जो वातव्याधिसे पीडित हों, वातके स्वभाववाले हो तथा बल, तनुता, हलकापन, दृढता, अंगोंकी मजबूती, चिकनाहट, श्लक्ष्णतायुक्त शरीर और त्वचाको करना चाहते

हों और जिनके कोष्ठमें कृमि हों तथा कठिन कोष्ठवाले, नासूर तथा नाडीरोगसे पीडित और भी जो तैलयोग्य मनुष्य हों अथवा तैलपान या तैलमर्दनके अभ्यासवाले हों उनको शीतकालमें उचित मात्रासे तैलपान करना हितकारी है ॥ ४२-४४ ॥

वसापानके योग्य पुरुष ।

वातातपसहा ये च रूक्षा भाराध्वकार्शिताः ।
संशुष्करेतोरुधिरा निष्पीतकफमेदसः ॥ ४५ ॥
अस्थिसन्धिशिरास्नायुमर्मकोष्ठमहारुजः ।
बलवान् मारुतो येषां खानि चावृत्य तिष्ठति ॥ ४६ ॥
महच्चाग्निबलं येषां वसासात्म्याश्च ये नराः ।
तेषां स्नेहयितव्यानां वसापानं विधीयते ॥ ४७ ॥

जो मनुष्य वायु और धूप सहसकते हों, रूक्ष शरीरवाले, भार उठाने तथा रास्ता चलनेसे कृश हुए हों, जिनका वीर्य और रक्त क्षीण होगया हो, जिनके शरीरमेंसे कफ और मेद नष्ट होचुका हो, जिनके अस्थि, सन्धि, शिरा, स्नायु, मर्मस्थान तथा कोष्ठ पीडायुक्त हों । जिनके शरीरके छिद्रोंको बढे हुए वायुने आवृत करलिया हो, जिनका अग्नि और बल उत्तम हो तथा जो चरबी पीनेके अभ्यासवाले हों उन स्नेह-योग्य मनुष्योंको वसापान करना चाहिये ॥ ४५-४७ ॥

मज्जापानके योग्य पुरुष ।

दीप्ताग्नयः क्लेशसहा घस्मराः स्नेहसेविनः ।
वातार्त्ताः क्रूरकोष्ठाश्च स्नेह्या मज्जानमाप्नुयुः ॥ ४८ ॥

जिनकी अग्नि बलवान् हो, जो क्लेश सहसकते हों, बहुत खाते हों, स्नेहके अभ्यास-वाले हों, वातसे पीडित हों, कठिन कोष्ठवाले हों, स्नेहन योग्य हों ऐसे मनुष्योंको मज्जाका प्रयोग करावे ॥ ४८ ॥

स्नेहपानकी अवधि ।

येभ्यो येभ्यो हितो यो यः स्नेहः स परिकीर्तितः ।
स्नेहनस्य प्रकर्षौ तु सप्तरात्रत्रिरात्रकौ ॥ ४९ ॥

जिन मनुष्योंको जो जो स्नेह हितकारी हों उनका कथन कियागया है । स्नेह-कर्ममें स्नेहकी अधिकता होनेसे या न्यूनता होनेसे सात दिन या तीन दिनके अंतरसे स्नेहपान करावे ॥ ४९ ॥

स्नेहकर्मके योग्य पुरुष।

स्वेद्याः शोधयितव्याश्च रूक्षवातविकारिणः।
व्यायाममद्यस्त्रीनित्याः स्नेह्याः स्युर्ये च चिन्तकाः ॥ ५० ॥

रूक्ष मनुष्य, वायुकी अधिकतावाला जिनको स्वेदन तथा शोधन कराना हो एवं कसरत करनेवाले, मद्यपान करनेवाले, नित्य स्त्रीगमन करनेवाले और जिनको शोचने विचारनेका काम अधिक रहता हो वह मनुष्य स्नेहन करने योग्य हैं ॥ ५० ॥

स्नेहकर्मके अयोग्य व्यक्ति।

संशोधनादृते येषां रूक्षणं संप्रवक्ष्यते।
न तेषां स्नेहनं शस्तमुत्सन्नकफमेदसाम् ॥ ५१ ॥
अभिष्यन्दाननगुदा नित्यमन्दाग्नयश्च ये।
तृषामूर्च्छापरीताश्च गर्भिण्यस्तालुशोषिणः ॥ ५२ ॥
अन्नद्विषश्छर्दयन्तो जठरामगरार्दिताः।
दुर्बलाश्च प्रतान्ताश्च स्नेहग्लाना मदातुराः ॥ ५३ ॥
न स्नेह्या वर्त्तमानेषु न नस्तो वस्तिकर्म्मसु।
स्नेहपानात्प्रजायन्ते तेषां रोगाः सुदारुणाः ॥ ५४ ॥

जिन मनुष्योंको संशोधन नहीं करना और रूक्षण करना है अर्थात् जो मनुष्य रूक्षण करनेके योग्य हैं उनको स्नेहपान कराना हितकर नहीं है। कफप्रकृतिवालेको और मेदवालेको भी स्नेहन नहीं करना। एवं जिनके मुखसे और गुदासे स्राव होता है, जो मंदाग्निवाले हों, तृष्णा तथा मूर्छायुक्त हों, जो गर्भवती हो उनको तथा तालुशोषमें, अरुचिमें, वमनमें, उदररोगमें, आमदोष तथा गरदोषमें, दुर्बल, बहुत कृश, स्नेहपानसे ग्लानि माननेवालेको, मदात्ययवालेको, नस्यकर्म कियेहुएको, बस्तिकर्म कियेहुएको स्नेहपान करना उचित नहीं। यदि इनको स्नेहपान करावे तो दारुण रोग उत्पन्न होजाते हैं ॥ ५१–५४ ॥

अस्निग्धके लक्षण।

पुरीषं ग्रथितं रूक्षं वायुरप्रगुणो मृदुः।
पक्ता खरत्वं रौक्ष्यञ्च गात्रस्यास्निग्धलक्षणम् ॥ ५५ ॥

स्नेहन न होनेके यह लक्षण होते हैं। जैसे मलका गांठदार और रूक्ष होना, वायुका विलोम होना, अग्निका मंद होना, देह कठोर और रूक्ष होना ॥ ५५ ॥

सम्यक् स्निग्धके लक्षण।

वातानुलोम्यं दीप्तोऽग्निर्वर्चः स्निग्धमसंहतम्।
मार्दवं स्निग्धता चाङ्गे स्निग्धानामुपजायते ॥ ५६ ॥

ठीक स्नेहन हुए मनुष्यके वायुका ठीक अनुलोमन होना, अग्नि चैतन्य होना, मल गांठरहित स्निग्ध होना, शरीरमें नम्रता तथा चिकनाहट होना यह लक्षण होते हैं॥५६॥

अतिस्निग्धके लक्षण।

पाण्डुता गौरवं जाड्यं पुरीषस्याविपक्वता।
तन्द्रा ह्यरुचिरुत्क्लेशः स्यादतिस्निग्धलक्षणम् ॥ ५७ ॥

अत्यंत स्नेहन होनेसे पांडु,गुरुता, जडता, मलका कच्चा गिरना, तन्द्रा, अरुचि, जी मचलाना यह लक्षण होते हैं ॥ ५७ ॥

स्नेहपानके पूर्व कर्तव्य कर्म।

द्रवोष्णमनभिष्यन्दि भोज्यमन्नं प्रमाणतः।
नातिस्निग्धमसङ्कीर्णं श्वः स्नेहं पातुमिच्छता ॥ ५८ ॥

स्नेहपान करनेसे पहले दिन पतला, उष्ण, हलका, थोडीसी चिकनाईयुक्त, खिचडी आदि प्रमाणसे भोजन करे ॥ ५८ ॥

संशमन और संशोधन स्नेहपानके काल।

पिबेत् संशमनं स्नेहमन्नकाले प्रकांक्षितः।
शुद्ध्यर्थं पुनराहारे नैश्ये जीर्णे पिबेन्नरः ॥ ५९ ॥

संशमन स्नेह अर्थात् वातकी शांतिके लिये भोजनके समय पान करे। जब रातका किया भोजन पचचुका हो उस समय (प्रातःकाल) संशोधन स्नेहपान करे ॥ ५९ ॥

पीतस्नेह व्यक्तिके कर्तव्य।

उष्णोदकोपचारी स्याद्ब्रह्मचारी क्षपाशयः।
शकृन्मूत्रानिलोद्गारानुदीर्णांश्च न धारयेत् ॥ ६० ॥
व्यायाममुच्चैर्वचनं क्रोधशोकौ हिमातपौ।
वर्जयेदप्रवातञ्च सेवेत शयनासनम् ॥ ६१ ॥

स्नेहपान करके गरम पानी पीना चाहिये। और इंद्रियोंको वशमें रक्खे। दिनमें न सोवे। मल, मूत्र और डकारके वेगको न रोके। व्यायाम, ऊंचा बोलना, क्रोध, शोक, हिम, धूप इनको त्यागदेवे जिस स्थानमें अधिक पवन न लगतीहो उसमें बैठे और शयन करे ॥ ६० ॥ ११ ॥

अधिक स्नेहपानके दोष ।

स्नेहं पीत्वा नरः स्नेहं प्रतिभुञ्जान एव च ।
स्नेहमिथ्योपचाराद्धि जायन्ते दारुणा गदाः ॥ ६२ ॥

जब तक पहला स्नेहपान कियाहुआ जीर्ण न होलेवे उसके ऊपर फिर स्नेह नही पीना चाहिये । यदि उसके ऊपर फिर स्नेहपान करे तो इस मिथ्या उपचारसे अनेक दारुण रोग उत्पन्न होते हैं ॥ ६२ ॥

कोष्ठानुसार स्नेहपानविधि ।

मृदुकोष्ठस्त्रिरात्रेण स्निह्यत्यच्छोपसेवया ।
स्निह्यति क्रूरकोष्ठस्तु सप्तरात्रेण मानवः ॥ ६३ ॥

जिस मनुष्यका कोष्ठ नरम होता है वह तीन दिन अच्छा स्नेहपान करनेसे स्निग्ध होजाता है। और क्रूर कोष्ठवाला सात दिन स्नेहपान करनेसे स्निग्ध होता है ॥ ६३ ॥

मृदुकोष्ठव्यक्तिके विरेचन द्रव्य ।

गुडमिक्षुरसं मस्तु क्षीरमुल्लोडितं दधि ।
पायसं कृसरं सर्पिः काश्मर्य्यं त्रिफलारसम् ॥ ६४ ॥
द्राक्षारसं पीलुरसं जलमुष्णमथापि वा ।
मद्यं वा तरुणं पीत्वा मृदुकोष्ठो विरिच्यते ॥ ६५ ॥
विरेचयन्ति नैतानि क्रूरकोष्ठं कदाचन ।
भवति क्रूरकोष्ठस्य ग्रहण्यत्युल्बणानिला ॥ ६६ ॥

गुड, इक्षुरस, दहीका पानी, दूध, अधबिलोया दही, खीर, खिचड़ी, घी, काश्मरीके फलोंका क्वाथ, त्रिफलेका क्वाथ, मुनक्काका क्वाथ, पीलूका क्वाथ अथवा गर्म जल इनके पीनेसे ही मृदुकोठेवालेको विरेचन होजाता है। परन्तु क्रूर कोठेवालेको इन वस्तुओंसे विरेचन नहीं होता क्योंकि क्रूर कोष्ठवालेकी ग्रहणीकला वातप्रधान होती है इसीलिये कोष्ठमें क्रूरता और वातजन्य रूक्षता होनेसे विरेचन नहीं होता॥६४--६६॥

मृदुकोष्ठके लक्षण ।

उदीर्णपित्ताल्पकफा ग्रहणी मन्दमारुता ।
मृदुकोष्ठस्य तस्मात्स सुविरेच्यो नरः स्मृतः ॥ ६७ ॥

जिसकी ग्रहणीकलामें पित्त प्रधान है और कफ अल्प तथा वायु मन्द है उसका कोष्ठ मृदु (नरम) होता है। इसलिये उसको सहजमें ही विरेचन होसकता है ॥ ६७॥

स्नेहयुक्त अग्निका तीव्रत्व।

उदीर्णपित्ता ग्रहणी यस्य चाग्निबलं महत्।
भस्मीभवति तस्याशु स्नेहः पीतोऽग्नितेजसा ॥ ६८ ॥
स जग्ध्वा स्नेहमात्रां तामोजः प्रक्षालयन्बली।
स्नेहाग्निरुत्तमां तृष्णां सोपसर्गामुदीरयेत् ॥ ६९ ॥
बालं स्नेहसमृद्धस्य शमायान्नं सुगुर्वपि।
स चेत् सुशीतं सलिलं नासादयति दह्यते ॥ ७० ॥
यथैवाशीविषः कक्षमध्यगः स्वविषाग्निना ॥ ७१ ॥

जिस मनुष्यकी ग्रहणीकलामें पित्त बहुत बढाहुआ है और अग्निका बल अधिक है वह मनुष्य यदि स्नेह पीवे तो अग्निके बलसे वह स्नेह भस्म होजाता है। फिर वह बढाहुआ अग्नि स्नेहको जलाकर शरीरके ओजतेजको दहन करने लगता है और घोर प्यासको प्रगट करता है, उस समय स्नेहसे बढे हुए अग्निमें भारी अन्न भी बहुत नहीं होता अर्थात् उस भस्मकाग्निमें यदि भारी भोजन और शीतल जल न दिया जाय तो वह शरीरकी धातुओंको ऐसे दहन करदेता है जैसे कक्षामें स्थित आशीविष अपने विषरूप अग्निसे दहन करदेता है ॥ ६८-७१ ॥

अजीर्ण स्नेहपानमें उपाय।

अजीर्णे यदि तु स्नेहे तृषा स्याच्छर्दयेद्भिषक्।
शीतोदकं पुनः पीत्वा भुक्त्वा रूक्षान्नमुल्लिखेत् ॥ ७२ ॥
न सर्पिः केवलं पित्ते पेयं सामे विशेषतः ॥
सर्वं ह्यनुचरेद्देहं हत्वा संज्ञाञ्च मारयेत् ॥ ७३ ॥

जब तक स्नेह जीर्ण न हुआ हो और तृषा आदि उपद्रव न बढगये हों तब तक शीघ्र छर्दन करादेवे और शीतल जल पिलावे। तथा रूक्ष भोजन कराके फिर छर्दन करावे ॥ केवल पित्तमें और आमसहित पित्तमें विशेष करके घृतपान न करे क्योंकि वह स्नेह सर्व शरीरमें व्याप्त होकर संज्ञाको नष्ट करदेता है और मृत्यु तक करदेता है ॥ ७२ ॥ ७३ ॥

स्नेहभ्रमके उपद्रव।

तन्द्रा सोत्क्लेश आनाहो ज्वरः स्तम्भो विसंज्ञता।
कोष्ठानि कण्डूः पाण्डुत्वं शोफार्शांस्यरुचिस्तृषा।
जठरं ग्रहणीदोषः स्तैमित्यं वाक्यनिग्रहः ॥ ७४ ॥

शूलमामप्रदोषाश्च जायन्ते स्नेहविभ्रमात्।
तत्राप्युल्लेखनं शस्तं स्वेदः कालप्रतीक्षणम् ॥ ७५ ॥
प्रतिपत्तिर्व्याधिबलं बुद्ध्वा स्रंसनमेव च।
तक्रारिष्टप्रयोगश्च रूक्षपानान्नसेवनम्।
मूत्राणां त्रिफलायाश्च स्नेहव्यापत्तिभेषजम् ॥ ७६ ॥
अकाले चाहितश्चैव मात्रया न च योजितः ॥ ७७ ॥

स्नेहपानमें कुपथ्य होनेसे–तन्द्रा, उत्क्लेश, अफारा, ज्वर, स्तंभ, बेहोशी, कुष्ठ, खुजली, शोथ, अर्श, अरुचि, प्यास, उदररोग, ग्रहणीदोष, देहमें गीलापनसा, वाणीका स्तंभन होना, शूल, आमदोष यह उपद्रव होते हैं। यहां पर भी वमन कराना अथवा स्वेद स्नेह हो तो जीर्ण होनेकी प्रतीक्षा करना और व्याधिका बलाबल विचारकर दोषोंको निकालना चाहिये तथा तक्र, अरिष्ट, रूक्ष अन्न पान तथा गोमूत्र, वा त्रिफलाका सेवन करना हितकारी है। विना समय अथवा अहितकारी या अतिमात्रासे स्नेहपान करनेसे अथवा स्नेहपानके मिथ्यायोग होनेसे स्नेहव्यापत्ति (स्नेहसे प्रगट रोग) होतेहैं ॥ ७४–७७ ॥

स्नेहपानमें विरेचनविधि।

स्नेहो मिथ्योपचाराच्च व्यापद्येतातिसेवितः।
स्नेहात् प्रस्कन्दनो जन्तुस्त्रिरात्रो परतः पिबेत् ॥ ७८ ॥
स्नेहञ्च द्रवमुष्णञ्च त्र्यहं भुक्त्वा रसौदनम्।
एकाहो परतस्तद्वद्भुक्त्वा प्रच्छर्दनं पिबेत्।
स्यात्त्वसंशोधनार्थाय वृत्तिः स्नेहे विरिक्तवत् ॥ ७९ ॥

अति मात्रासे सेवन किया हुवा या स्नेहकर्ममें मिथ्योपचार करनेसे यादि रोगादि व्यापद हो तो तीन दिन स्नेहपान छोड़ दे और चौथे दिन विरेचन कराए। इन तीन दिनोंमें (स्नेहके स्थान पर) स्निग्ध किये हुवे द्रव, उष्ण और रसप्रधान अन्न खावे। तदनन्तर (३ दिन छोड़कर, ४ थे दिन विरेचन करके, ५ वें दिन) फिर वैसे ही द्रवादि अन्न खावे और फिर (छठे दिन) वमन करावे। असंशोधन अर्थात् संशमन स्नेह पीकर विरिक्तकी भांति ही उपचार करना चाहिये ॥ ७८ ॥ ७९ ॥

स्नेहद्विषः स्नेहनित्या मृदुकोष्ठाश्च ये नराः।
क्लेशासहा मद्यनित्यास्तेषामिष्टा विचारणा ॥ ८० ॥

लावतैत्तिरिमायूरहंसवाराहकौक्कुटाः ॥ ८१ ॥
गव्याजौरभ्रमात्स्याश्च रसाः स्वे स्नेहने हिताः ॥ ८२ ॥

जिसको स्नेहपानसे द्वेष हो, जो सदैव स्नेह पीता हो, जो मृदुकोष्ठवाला हो, जो क्लेशको सहन न करनेवाला हो, जो नित्य मद्य पीता हो इनको विचारणास्नेह (किसी रसआदि योगसे) पान करना चाहिये। ऐसे मौके पर गौके दूध अथवा लवा, तीतर, मोर, हंस, सूकर, मुरगा, बकरी, मेढा, मछली इनके मांसरसके संयोगसे स्नेहपान करावे ॥ ८०-८२ ॥

स्नेहमें मिलानेयोग्य यूष और यूषके द्रव्य।

यवकोलकुलत्थाश्च स्नेहाः सगुडशर्कराः।
दाडिमं दधि सव्योषं रससंयोगसंग्रहः।
स्नेहयन्ति तिलाः पूर्वं जग्धाः सस्नेहफाणिताः ॥ ८३ ॥

और जौ, बेर, कुलथी इनके यूष, गुड, खांड, अनारका रस, दही और त्रिकुटा इनके योगसे स्नेहपान करावे, इस प्रकार स्नेहके योगका संग्रह कहा है। तिल, स्नेह, फाणित इनका मिलाकर भोजनसे पहले सेवन करे तो शरीरको चिकना करते हैं॥८३॥

कृशराश्च बहुस्नेहास्तिलकाम्बालिकास्तथा।
फाणितं शृङ्गवेरं च तैलञ्च सुरया सह ॥ ८४ ॥
पिबेद्रूक्षो घृतैर्मांसैर्जीर्णेऽश्नीयाच्च भोजनम्।
तैलं सुराया मण्डेन वसां मज्जानमेव वा ॥ ८५ ॥
पिबेत्सफाणितं क्षीरं नरः स्निह्यति वातिकः।
धारोष्णं स्नेहसंयुक्तं पीत्वा सशर्करं पयः ॥ ८६ ॥

खिचडी तिल कांवलिक बहुतसे स्नेहको साथ सेवन करनेसे शरीर चिकना होता है एवं फाणित, सोंठ, तैल, सुरा इनको मिलाकर पीवे, जीर्ण होनेपर घृत और मांसरससे भोजन करे तो रूक्ष शरीर भी स्निग्ध होय। वातप्रधान मनुष्य वारुणीमंडके साथ तैल मिलाके पीवे अथवा केवल वसा और मज्जाको पान करे अथवा फाणितके साथ दूध पीनेसे वातप्रधान मनुष्यका शरीर चिकना होताहै। अथवा धारोष्णदूध, घृत और खांड मिलाके पीवे ॥ ८४-८६ ॥

स्निग्धकरना।

नरः स्निह्यति पीत्वा वा सरं दध्नः सफाणितम्।
पाञ्चप्रसृतिकी पेया पायसो माषमिश्रकः ॥ ८७ ॥

क्षीरसिद्धो बहुस्नेहः स्नेहयेदचिरान्नरम् ।
सर्पिस्तैलवसामज्जातण्डुलप्रसृतैः कृता ॥ ८८ ॥
पाञ्चप्रसृतिकी पेया पेया स्नेहनमिच्छता ।
ग्राम्यानूपौदकं मांसं गुडं दधि पयस्तिलान् ॥ ८९ ॥
कुष्ठी शोषी प्रमेही च स्नेहने न प्रयोजयेत् ।
स्नेहैर्यथास्वं तान्सिद्धैः स्नेहयेदविकारिभिः ॥ ९० ॥

अथवा दहीकी मलाई और फाणितके पीनेसे मनुष्य स्निग्ध होजाताहै । अथवा आगे कहीहुई पांचप्रसृतिकीपेया या दूधमें सिद्ध कीहुई उडदोंकी खीर अत्यंत चिकनी होनेसे मनुष्यको शीघ्र स्निग्ध करदेतीहै । घी, तेल, वसा, मज्जा और चावलोंको दो दो छटांक लेकर इकट्ठेकर पकावे इसको पांचप्रसृतिकीपेया कहतेहैं अपने शरीरको चिकना करनेकी इच्छा करनेवाला इस पेयाको पीवे । कोढी, शोथवाला, प्रमेहरोगी स्नेहनके लिये ग्राम्य और अनूप संचारीजीवोंके मांसरस तथा जलसंचारी मांस अथवा गुड, दही, दूध और तिलोंका प्रयोग न करे. क्योंकि यह इनके रोगोंको बढाते हैं एवं विकाररहित मनुष्योंको विकाररहित अनुकूल उचित द्रव्योंसे सिद्धकर स्नेहपान करावे ॥ ८७–९० ॥

पिप्पलीभिर्हरीतक्या सिद्धैस्त्रिफलयापि वा ।
द्राक्षामलकयूषाभ्यां दध्ना चाम्लेन साधयेत् ॥
व्योषगर्भं भिषक् स्नेहं पीत्वा स्निह्यति तन्नरः ॥ ९१ ॥

उनको–पीपल, हरड और त्रिफलाके साथ सिद्ध कर अथवा आँवले और द्राक्षाके रस या कांजीके साथ सिद्ध कर त्रिकुटा बुरकाकर स्नेहपान करावे तो मनुष्य स्निग्ध हो ॥ ९१ ॥

यवकोलकुलत्थानां रसाः क्षीरं सुरा दधि ॥ ९२ ॥
क्षीरसर्पिश्च तत्सिद्धं स्नेहनीयं घृतोत्तमम् ।
तैलमज्जावसासर्पिर्बदरात्रिफलारसैः ॥ ९३ ॥
योनिशुक्रप्रदोषेषु साधयित्वा प्रयोजयेत् ।
गृह्णात्यम्बु यथा वस्त्रं प्रस्रवत्यधिकं यथा ॥ ९४ ॥
यथाग्निर्जीर्य्यति स्नेहस्तथा स्रवति चाधिकः ।

यथा वा क्लेद्य मृत्पिण्डमासिक्तं त्वरया जलम्।
स्रवति स्रंसते स्नेहस्तथा त्वरितसेवितः॥ ९५॥

जौ, बेर और कुलथीका यूष, दूध, मद्य, दही एवं दूधका निकाला घृत इनसे सिद्ध किया घृत सब उत्तम स्नेहन है। तैल, मज्जा, वसा, घी, बेर और त्रिफलाके क्वाथसे सिद्ध स्नेह योनि और शुक्रके दोषोंमें प्रयुक्त करे। जैसे वस्त्र परिमाणके जलको ग्रहण करके अधिकको छोड देताहै, ऐसे ही मनुष्यकी जठराग्नि परिमाणका स्नेह ग्रहण कर बाकीको मलद्वारसे निकालदेती है। जैसी मट्टीके डलेमें अधिक पानी पडनेसे उसको भिगोकर अधिक पानी बाहर चला जाताहै ऐसे ही मनुष्यके शरीरमें अधिक स्नेह जीर्ण न होकर झट बाहर निकल जाताहै॥ ९२-९५॥

लवणोपहिताः स्नेहाः स्नेहयन्त्यचिरान्नरम्।
तद्ध्यभिष्यन्द्यरूक्षञ्च सूक्ष्ममुष्णं व्यवायि च॥ ९६॥
स्नेहमग्रे प्रयुञ्जीत ततः स्वेदमनन्तरम्।
स्नेहस्वेदोपपन्नस्य संशोधनमथेतरम्॥ इति॥ ९७॥

लवणके संयोगसे स्नेहपान किया हुआ मनुष्यको शीघ्र स्नेहन कर देताहै। क्योंकि लवण अभिष्यन्दि, सूक्ष्म, उष्ण और शीघ्र व्यापक होजाताहै। पहले स्नेहन फिर स्वेदन, फिर वमन, तदनंतर विरेचन, सबसे पीछे नस्य कर्म आदिसे शिरोविरेचन करे। (परंतु स्नेहन वातरोगमें ही हित है। सन्निपातादिकमें रूक्ष स्वेदन करे) ९६॥९७॥

अध्यायका संक्षिप्त वर्णन।

तत्र श्लोकः-स्नेहाः स्नेहविधिः कृत्स्नव्यापत्सिद्धिः सभेषजा।
यथाप्रश्नं भगवता व्याहृतं चान्द्रभागिना॥ ९८॥

स्नेहाध्यायः समाप्तः॥ १३॥

इस स्नेहाध्यायमें-स्नेहके प्रकार, स्नेहविधि, स्नेहके मिथ्यायोगसे रोगोंका होना उनकी औषधि जैसे अग्निवेशने पूछा तदनुसार उनके उत्तर भगवान् आत्रेयजीने कथन किये॥ ९८॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां पटियालाराज्यांतर्गतटकसालनिवासि वैद्यपंचानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्यभाषाटीकायां स्नेहाध्यायो नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

चतुर्दशोऽध्यायः।

अथातः स्वेदाध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः।

अब हम स्वेदाध्यायका कथन करते हैं। ऐसा भगवान् आत्रेयजी कहने लगे।

स्वेदनकर्मका यत्न।

अतः स्वेदाः प्रवक्ष्यन्ते यैर्यथावत् प्रयोजितैः।
स्वेदसाध्याः प्रशाम्यन्ति गदा वातकफात्मकाः॥ १॥

अब हम स्वेदोंका कथन करतेहैं जिन स्वेदोंके ठीक २ प्रयोग करनेसे स्वेदसाध्य वातकफात्मक रोग शीघ्र शांत होते हैं॥ १॥

स्वेदनसे रोगशान्तिमें दृष्टान्त।

स्नेहपूर्वं प्रयुक्तेन स्वेदेनावाजितेऽनिले।
पुरीषमूत्ररेतांसि न सज्जन्ति कथञ्चन॥ २॥

प्रथम स्नेहन करके यदि स्वेदन करादिया जाताहै तो उससे शरीरका वायु शांत होजाताहै इसलिये मल, मूत्र, शुक्र यह विना श्रम निकल जाते हैं॥ २॥

शुष्काण्यपि हि काष्ठानि स्नेहस्वेदोपपादनैः।
नमयन्ति यथान्यायं किं पुनर्जीवतो नरान्॥ ३॥

सूखी लकडीभी चिकनाईका योग देकर स्वेदन करनेसे नमजाती है, यदि जीवित मनुष्य स्नेहन स्वेदन द्वारा नम्र होजाय तो आश्चर्य ही क्या है॥ ३॥

स्वेदनसे कार्यसिद्धि।

रोगर्त्तुव्याधितापेक्षो नात्युष्णोऽतिमृदुर्न च।
द्रव्यवान्कल्पितो देशे स्वेदः कार्य्यकरो मतः॥ ४॥

जैसा रोग और ऋतु हो अथवा अन्य कोई भी व्याधि हो उसमें उस रोगके लिये जैसा स्वेद उचित हो वैसा विचारकर करे। विना विचारे अत्यन्त तेज या अत्यन्त मन्द स्वेद न देवे। देश काल औषधि विचारकर उचित स्थानमें स्वेद दिया हुआ गुणकारी होता है॥ ४॥

स्वेदनके भेद।

व्याधौ शीते शरीरे च महान् स्वेदो महाबले।
दुर्बले दुर्बलः स्वेदो मध्यमे मध्यमो हितः॥ ५॥

जब रोगसे शरीर शीतल पडजाय उसमें गर्मी रोममार्गसे न आती हो अथवा शीत आदिसे शरीर जकडजाय तो अवश्य स्वेदन करना चाहिये। यदि व्याधि बलवती हो तो स्वेद भी वैसा ही अधिक बलवाला देना चाहिये। दुर्बल रोगोंमें दुर्बल स्वेद करना और मध्यबल रोगमें स्वेद भी मध्यम ही करना चाहिये ॥ ५ ॥

रोगानुसार स्वेदनविधि।

वातश्लेष्मणि वाते वा कफे वा स्वेद इष्यते।
स्निग्धरूक्षस्तथा स्निग्धो रूक्षश्चाप्युपकल्पितः ॥ ६ ॥

वात कफकी व्याधिमें स्निग्ध, रूक्ष, स्वेद करना चाहिये वातव्याधिमें स्निग्ध स्वेद करना चाहिये। और कफकी व्याधिमें रूक्ष स्वेद करना चाहिये ॥ ६ ॥

आमाशयगते वाते कफे पक्वाशयाश्रिते।
रूक्षपूर्वो हितः स्वेदः स्नेहपूर्वस्तथैव च ॥ ७ ॥

वात आमाशयमें प्राप्त हो तो पहले रूक्ष फिर स्निग्ध स्वेद करे क्योंकि आमाशय कफका स्थान होता है। इसी प्रकार यदि कफ पक्वाशयमें हो तो पहले स्निग्ध स्वेद करके फिर रूक्ष स्वेद करे ॥ ७ ॥

स्वेदनके अयोग्य अंग।

वृषणौ हृदयं दृष्टी स्वेदयेन्मृदु नैव वा।
मध्यमं वंक्षणौ शेषमङ्गावयवमिष्टतः ॥ ८ ॥

अंडकोश, हृदय और नेत्रोंमें स्वेदन करना उचित नहीं, यदि किसी कारणसे आवश्यकता भी हो तो मृदु स्वेद करे। और वंक्षणमें स्वेद करना हो तो मध्यम स्वेद करे। किन्तु अन्य अंगोंमें जैसा उचित हो वैसा स्वेदन करे ॥ ८ ॥

नेत्रमें स्वेदन विधि।

सुशुद्धैर्नक्तकैः पिण्डया गोधूमानामथापि वा।
पद्मोत्पलपलाशैर्वा स्वेद्यः संवृत्य चक्षुषी ॥ ९ ॥

शुद्ध स्वच्छ नरम वस्त्रसे या गेहूंके मैदेके पिंडसे अथवा कमलके पत्रसे या अन्य कमलविशेषके पत्रसे नेत्रोंको ढककर चक्षुमें स्वेद करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि, नेत्रोंमें स्वेदन करनेकी अधिक गर्मी न पहुँचनी चाहिये ॥ ९ ॥

मुक्तावलीभिः शीताभिः शीतलैर्भाजनैरपि।
जलार्द्रैर्जलजैर्हस्तैः स्विद्यतो हृदयं स्पृशेत् ॥ १० ॥

मोतियोंकी माला, शीतल पात्र, पानीमें भिगोया हुआ कमलविशेष, अथवा शीतल हाथ स्वेदन योग्य मनुष्यके हृदय पर रखना चाहिये ॥ १० ॥

सम्यक्स्विन्नके लक्षण।

शीतशूलव्युपरमे स्तम्भगौरवनिग्रहे।
सञ्जाते मार्दवे स्वेदे स्वेदनाद्विरतिर्मता ॥ ११ ॥

शीत, शूल, जडता, भारीपन यह नष्ट होकर जब देहमें नरमी आजाय तो पसीना देना बन्द करदेना चाहिये ॥ ११ ॥

अतिस्विन्नके लक्षण।

पित्तप्रकोपो मूर्च्छा च शरीरसदनं तृषा।
दाहस्वेदाङ्गदौर्बल्यमतिस्विन्नस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥

अधिक पसीना देनेसे--पित्तका कोप, मूर्च्छा, शरीरमें शिथिलता, प्यास, दाह, पसीना और अंगोंमें दुर्बलता यह लक्षण होते हैं ॥ १२ ॥

अतिस्विन्नके उपाय।

उक्तस्तस्याशितीये यो ग्रैष्मिकः सर्वशो विधिः।
सोऽतिस्विन्नस्य कर्तव्यो मधुरः स्निग्धशीतलः ॥ १३ ॥

ऐसा होनेपर तस्याशितीय (छठे) अध्यायमें जो ग्रीष्मकालकी विधि कही है वही विधि अतिस्विन्नकी करे और मधुर, स्निग्ध, शीतल क्रिया करे ॥ १३ ॥

स्वेदनकर्मके अयोग्य रोगी।

कषायमद्यनित्यानां गर्भिण्या रक्तपित्तिनाम्।
पित्तिनां सातिसाराणां रूक्षाणां मधुमेहिनाम् ॥ १४ ॥
विदग्धभ्रष्टब्रध्नानां विषमद्यविकारिणाम्।
श्रान्तानां नष्टसंज्ञानां स्थूलानां पित्तमेहिनाम् ॥ १५ ॥
तृष्यतां क्षुधितानाञ्च क्रुद्धानां शोचतामपि।
कामल्युदरिणाञ्चैव क्षतानामाढ्यरोगिणाम् ॥ १६ ॥
दुर्बलातिविशुष्काणामुपक्षीणौजसां तथा।
भिषक्तैमिरिकाणाञ्च न स्वेदमवतारयेत् ॥ १७ ॥

नित्य कषाय या मद्य पान करनेवालेको, गर्भवती, रक्तपित्तवाला, पित्तप्रधान, पित्तके अतिसारवाला, रूक्ष, मधुमेही, अग्निदग्ध, भ्रष्ट गुद रोगवाला, विष तथा मद्यके विकारवालेको श्रम युक्तको, मूर्छित, स्थूल, पित्तमेहयुक्त, प्यासयुक्त, भूखा, क्रोधी, शोकयुक्त, कामलारोगी, उदररोगी, क्षतरोगी, यकृत् प्लीहाके रोगवालेको, दुर्बल,

अतिसूखाहुवा और जिसका ओज क्षीण होगयाहो तथा तिमिररोगवाला इनको कभी स्वेदन न करे ॥ १४-१७ ॥

स्वेदनके योग्य रोग।

प्रतिश्याये च कासे च हिक्काश्वासेष्वलाघवे।
कर्णमन्यां शिरःशूले स्वरभेदे गलग्रहे ॥ १८ ॥
अर्दितकाङ्गसर्वाङ्गपक्षाघाते विनामके।
कोष्ठानाहविबन्धेषु शुक्राघाते विजृम्भके ॥ १९ ॥
पार्श्वपृष्ठकटीकुक्षिसंग्रहे गृध्रसीषु च।
मूत्रकृच्छ्रे महत्त्वे च मुष्कयोरङ्गमर्दके ॥ २० ॥
पादोरुजानुजङ्घार्तिसंग्रहे श्वयथावपि।
खल्लीष्वामेषु शीते च वेपथौ वातकण्टके ॥ २१ ॥
संकोचायामशूलेषु स्तम्भगौरवसुप्तिषु।
सर्वाङ्गेषु विकारेषु स्वेदनं हितमुच्यते ॥ २२ ॥

प्रतिश्याय, खांसी, हिचकी, श्वास, गुरुता, कर्णशूल, मन्यास्तंभ, शिरःशूल, स्वरभंग, गलग्रह, अर्दितवात, एकांगगतवात, सर्वांगगतवात, पक्षाघात, विनाम (शरीरका या किसी अंगका नमजाना कुवडा आदि), कोष्ठरोग, आनाह, विबंध, शुक्राघात, विशेष जंभाई आना, पसलीशूल, पृष्ठशूल, कटिशूल, कुक्षिशूल, गृध्रसी, मूत्रकृच्छ्र, अंडवृद्धि, अंगमर्द, ऊरुस्तंभ, जानु और जंघाकी पीडा, सूजन, खल्ली, आमरोग, शीत, कंप, वातकंटक, संकोच, आयाम, शूल, अंगोंकी गौरवता और अंगोंका सूजना इन सब विकारोंमें स्वेदन करना परम हितकारक है ॥ १८-२२ ॥

पिण्डस्वेदका वर्णन।

तिलमाषकुलत्थाम्लघृततैलाभिषौदनैः।
पायसैः कृसरैर्मांसैः पिण्डस्वेदं प्रयोजयेत् ॥ २३ ॥

तिल, उडद, कुलथी, कांजी, घृत, तेल, मांस, भात, खीर, तिलोंकी खिचडी अथवा मांस इन सबका अथवा इनमेंसे किसी एक दोका पिंडसा बनाकर उससे जो स्वेद कियाजाय उसको पिण्डस्वेद कहतेहैं ॥ २३ ॥

कफरोगियोंको स्वेदनविधि।

गोखरोष्ट्रवराहाश्वशकृद्भिः सतुषैर्यवैः।
सिकतापांशुपाषाणकरीषायसपूटकैः ॥ २४ ॥

श्लैष्मिकान्स्वेदयेत्पूर्वैर्वातिकान्समुपाचरेत्।
द्रव्याण्येतानि शस्यन्ते यथास्वं प्रस्तरेष्वपि ॥ २५ ॥

गौ, गधा, ऊंट, सूकर, घोडा इनकी विष्ठाको गर्म करके अथवा तुष, जौ इनके चूर्णसे, या बालूरेत, पत्थरका चूरा, सूखे गोबरका चूर्ण, लोहचूर्ण इनको गरम करके कफप्रधान रोगमें स्वेदन करे। और पहले कहाहुआ पिंडस्वेद वातप्रधानव्याधिमें करे। प्रस्तरस्वेदके लिये भी इन ही द्रव्योंको दोषानुसार प्रयुक्त करे ॥ २४ ॥ २५ ॥

स्वेदनका सहज उपाय।

भूगृहेषु च जेन्ताकेषूष्णगर्भगृहेषु च।
विधूमाङ्गारतप्तेष्वभ्यक्तः स्विद्यति ना सुखम् ॥ २६ ॥

भूमिके भीतरके घरमें, जेंताकमें, गरम घरमें, प्रथम तेलकी मालिस कर धूमरहित अंगारोंकी गर्मीसे ही विना परिश्रम पसीने आजाते हैं ॥ २६ ॥

नाडीस्वेदनकी विधि।

ग्राम्यानूपौदकं मांसं पयो बस्तशिरस्तथा।
वराहमेदःपित्तासृक्स्नेहवत्तिलतण्डुलाः ॥ २७ ॥
इत्येतानि समुत्क्वाथ्य नाडीस्वेदं प्रयोजयेत्।
देशकालविभागज्ञो युक्त्यपेक्षो भिषक्तमः ॥ २८ ॥
वारुणामृतकैरण्डशिग्रुमूलकसर्षपैः।
वासावंशकरञ्जार्कपत्रैरश्मन्तकस्य च ॥ २९ ॥
शोभाञ्जनकशैरीयमालतीसुरसार्जकैः।
पत्रैरुत्क्वाथ्य सलिलं नाडीस्वेदं प्रयोजयेत् ॥ ३० ॥

ग्राम्य, आनूप और जलसंचारी जीवोंका मांस, दूध, बकरीका शिर, सूअरकी मेद, पित्ता, रुधिर, घी, तेल, तिल, चावल इन सबको एक बडे बर्तनमें पकाकर एक नली द्वारा इसकी भांफ शरीरमें दीजाय इसको नाडीस्वेद कहतेहैं। देश, काल, व्याधि,स्वभाव, युक्तिआदि जाननेवाला वैद्य परीक्षा करके वरना, गिलोय, एरंड, लाल सुहांजना, मूली, सरसों, अडूसा, बास, करंज, आकके पत्र,अश्मन्तकके पत्र,सिरस, मालती, तुलसी,वनतुलसी इन सबके पत्रोंका क्काथ करके नाडीस्वेद करे॥ २७–३०॥

भूतीकपञ्चमूलाभ्यां सुरया दधिमस्तुना।
मूत्रैरम्लैश्च सस्नेहैर्नाडीस्वेदं प्रयोजयेत् ॥ ३१ ॥

अथवा अजवायन, बृहत्पञ्चमूल, मद्य, दहीका पानी, गोमूत्र, कांजी इनमें घृत तेल आदि मिला तथा क्वाथ करके नाडीस्वेद करे ॥ ३१ ॥

एत एव च निर्यूहाः प्रयोज्या जालकोष्ठके।
स्वेदनार्थं घृतक्षीरतैलकोष्ठांश्च कारयेत् ॥ ३२ ॥

इन उपरोक्त क्काथोंको एक बडे पात्रमें भरकर उस सहते २ क्वाथमें रोगीको बिठानेसे स्वेदक्रिया होतीहै। ऐसेही घृत तैलादिकोंमें भी स्वेदनके रोगीको बिठाया जाताहै ॥ ३२ ॥

गोधूमशकलैश्चूर्णैर्यवानामम्लसंयुतैः।
सस्नेहकिण्वलवणैरुपनाहः प्रशस्यते ॥ ३३ ॥

गेहूं और जावोंके चूर्णमें--कांजी, स्नेह, मदिराकी किट्ट, सेंधानमक इनको मिलाकर गर्म २ लेप करनेसे भी उत्तम स्वेदन होताहै ॥ ३३ ॥

गन्धैः सुरायाः किण्वेन जीवन्त्या शतपुष्पया।
उमया कुष्ठतैलाभ्यां युक्तया चोपनाहयेत् ॥ ३४ ॥

गन्धद्रव्य, मदिराकी किट्टी, जीवंती, सौंफ, बावची, कूठ, तेल इनको मिलाकर कुछ गर्म लेप करनेसे स्वेदन होताहै ॥ ३४ ॥

लेपपर पट्टी बांधनेका सामान।

चर्मभिश्चोपनद्धव्यः सलोमभिरपूतिभिः।
उष्णवीर्यैरलाभे तु कौशेयाविकशाटकैः ॥ ३५ ॥

लेप करके ऊपरसे कोमल और दुर्गंधरहित उष्णवीर्य चमडा बांधे, यदि ऐसा चमडा न मिले तो रेशमी वस्त्र या भेडकी ऊनसे बनाहुआ वस्त्र लपेटे ॥ ३५ ॥

लेपबन्धनका समय।

रात्रौ बद्धं दिवा मुञ्चेन्मुञ्चेद्रात्रौ दिवाकृतम्।
विदाहपरिहारार्थं स्यात् प्रकर्षस्तु शीतले ॥ ३६ ॥

रातका कियाहुआ लेप दिनमें उतारदेवे और दिनका किया रातको उतारदे। और दाह आदिकी निवृत्तिके लिये कियाहुआ लेप ठंढा होने पर भी देर तक रहे तो कोई हानि नहीं ॥ ३६ ॥

स्वेदके तेरह भेद।

शङ्करः प्रस्तरो नाडी परिषेकोऽवगाहनम्।
जेन्ताकोऽश्मघनः कर्षूः कुटी भूः कुम्भिकैव च ॥ ३७ ॥

कूपो होलाक इत्येते स्वेदयन्ति त्रयोदश ।
तान् यथावत् प्रवक्ष्यामि सर्वानेवानुपूर्वशः ॥ इति ॥ ३८ ॥

शंकर, प्रस्तर, नाडी, परिषेक, अवगाहन, जेंताक, अश्मघन, कर्पू, कुटी, भू, कुम्भी, कूप, होलाक इन भेदोंसे स्वेद तेरह प्रकारके हैं उनको क्रमपूर्वक ठीक २ कथन करतेहैं ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

शंकरस्वेदका लक्षण ।

तत्र वस्त्रान्तरितैरवस्त्रान्तरितैर्वा पिण्डैर्यथोक्तैरुपस्वेदनं शङ्करस्वेद इति विद्यात् ॥ ३९ ॥

उनमें गर्म कीहुई औषधिको कपडेमें लपेटकर उससे स्वेदन करे, अथवा गीली औषधियोंका पिंडसा बनाकर उसको गर्म करके उससे स्वेदन कियाजाय उसको शंकरस्वेद कहते हैं ॥ ३९ ॥

प्रस्तरस्वेदका लक्षण ।

शूकशमीधान्यपुलाकानां वेशवारपायसकृशरोत्कारिकादीनां वा प्रस्तरे कौशेयाविकोत्तरप्रच्छदे पञ्चाङ्गुलोरुबुकार्कपत्रप्रच्छदे वा स्वभ्यक्तसर्वगात्रस्य शयानस्योपस्वेदनं प्रस्तरस्वेद इति विद्यात् ॥ ४० ॥

पहले स्नेहसे रोगीका सब शरीर चिकना करे। फिर शूकधान्य, शमीधान्य और फलकधान्यको खिचडीकी समान पकाकर अथवा वेशवार, खीर, खिचडी, उडदोंकी रोटीसी आदि जो उचित हो बनाकर रोगीका शरीर जिस पर आसके उतनी भूमिमें बिछावे उसके ऊपर रेशमी या ऊनका वस्त्र अथवा एरंडके पत्र बिछाकर उसके ऊपर रोगीको सुलाया जावे उसको प्रस्तरस्वेद कहते हैं (परंतु नीचे बिछायाहुआ द्रव्य गर्म होना चाहिये) ॥ ४० ॥

नाडीस्वेदका लक्षण ।

स्वेदनद्रव्याणां पुनर्मूलफलपत्रशुङ्गादीनां मृगशकुनपिशिताशिरस्पादादीनामुष्णस्वभावानां वा यथार्हमम्ललवणस्नेहोपसंहितानां मूत्रक्षीरादीनां वा कुम्भ्यां बाष्पमनुद्वमत्यामुत्क्वथितानां नाड्या शरेषीकावंशदलकरञ्जार्कपत्रान्यतमकृतया गजाग्रहस्तसंस्थानया व्यामदीर्घया व्यामार्द्धदीर्घया वा व्यामचतुर्भागाष्टभागमूलाग्रपरिणाहस्रोतसा सर्वतो वातहरपत्रसंवृत्तच्छिद्रया द्विस्त्रिर्वा विनामितया वात-

हरसिद्धस्नेहाभ्यक्तगात्रो बाष्पमुपहरेत् । बाष्पो ह्यनूर्द्ध्वगामी[1] विहतचण्डवेगस्त्वचमविदहन् सुखं स्वेदयतीति नाडीस्वेदः ॥ ४१ ॥

स्वेदनके द्रव्योंके-जड, पत्र, फल, शुंग आदि लेकर और उष्णस्वभाववाले मृग, पक्षी आदिकोंके मांस, शिर, पाद आदि लेकर और यथोचित अम्ल, लवण, स्नेह मिलाकर तथा मूत्र, दूध, जल आदि किसी पात्रमें डालकर उसीमें उपरोक्त औषधियें डालकर पकावे और उस पात्रका मुख बंद करके उसमें एक नाल लगावे उसमेंसे जो भाफ आवे उससे रोगी स्वेदन करे । इस नालको सरपते, नरसल, बांस, करंज, आक इनमेंसे किसीके पत्रोंसे या अन्य उचित द्रव्यसे बनावे । यह हाथीकी सूँडके अग्रभागके समान मोटी और दोनों बाहोंको फैलानेसे जितना लंबा होता है उतनी लंबी होनी चाहिये । या एक गज लंबी हो और पात्रके मुखपरसे अधिक खुला और आगेसे छोटा ऐसा उस नालमें छिद्र होना चाहिये । वातनाशक पत्रोंसे नालके सब स्रोत बंद होने चाहिये जिससे भाफ बाहर न निकले । इस नालको दो तीन जगहसे नवाकर भाफ देनी चाहिये । भाफ देनेसे पहले ही वातनाशक तेलोंकी मालिशसे रोगीका शरीर नम्र रखना चाहिये । भाफको रोगीके शरीरमें छोडते समय नालका मुख तिरछा रक्खे जिससे भाफ रोगीकी छालको दहन न करे. क्योंकि सीधी भाफ अत्यंत गर्म लगती है । इसको नाडीस्वेद कहते हैं ॥ ४१ ॥

परिषेकका लक्षण ।

वातिकोत्तरवातिकानां पुनर्मूलादीनामुत्काथैः सुखोष्णैः कुम्भीर्वा-र्षुलिकाः प्रनाडीर्वा पूरयित्वा यथार्हसिद्धस्नेहाभ्यक्तगात्रं वस्त्रावच्छन्नं परिषेचयेदिति परिषेकः ॥ ४२ ॥

रोगीको--वातनाशक तैलादिकोंसे स्निग्धकर ऊपर वस्त्र देकर फिर वातनाशक द्रव्योंके मूल, फल, शुंगादिकोंके सुखोष्ण क्वाथको किसी तूतनीदार लोटेमें भरकर वस्त्रवेष्टित स्निग्धगात्र रोगी पर सींच देना । इसको परिषेक स्वेद कहते हैं ॥ ४२ ॥

अवगाहका लक्षण ।

वातहरोत्क्वाथक्षीरतैलघृतपिशितरसोष्णसलिलकोष्ठकावगाहस्तु यथोक्त एवावगाहः ॥ ४३ ॥

एक खुले पात्रमें वातनाशक औषधियोंका क्वाथ या दूध, तेल, घी, मांसरस अथवा गर्म जल भरकर उसमें बैठना । उसको अवगाहन स्वेद कहते हैं ॥ ४३ ॥

---

१ ह्यनृजुगामीति पाठान्तरम् ।

जेन्ताकस्वेदके लिये भूमिपरीक्षा।

अथ जेन्ताकं चिकीर्षुर्भूमिं परीक्षेत। तत्र पूर्वस्यां दिश्युत्तरस्यां वा गुणवति प्रशस्ते भूमिभागे कृष्णमृत्तिके सुवर्णमृत्तिके वा परीवाप-पुष्करिण्यादीनां जलाशयानामन्यतमस्य कूले दक्षिणे पश्चिमे वा सूपतीर्थे समसुविभक्तभूमिभागे सप्ताष्टौ वा अरत्नीः सूपक्रम्योदकात् प्राङ्मुखमुदङ्मुखं वाभिमुखतीर्थं कूटागारं कारयेत् ॥ ४४ ॥

जेंताकस्वेद करनेकी इच्छावाला मनुष्य पहले भूमिकी परीक्षा करे। रोगीके स्थानसे पूर्व अथवा उत्तर दिशामें गुणयुक्त पवित्र भूमि देखकर जहां काली या पीली, मधुर, उत्तम मिट्टी हो और जिस भूमिके समीप ही वापी वा पुष्करणी आदि कोई जलाशय हो उस जलाशयके दक्षिण या पश्चिमके किनारे पवित्र सीधी उत्तम भूमिमें जलाशयसे सात आठ हाथ पर एक मकान ऐसा बनावे जिसका मुख जलाशयके किनारेकी ओर हो ॥ ४४ ॥

उत्सेधविस्तारतः परमरत्नी हि षोडश, समन्तात्सुवृत्तं मृत्कर्मसम्पन्न-मनेकवातायनम्। अस्य कूटागारस्यान्तः समन्ततो भित्तिमरत्नी-विस्तारोत्सेधां पिण्डिकां कारयेत्कपाटवर्जम्। मध्ये चास्य कूटागा-रस्य चतुष्किष्कुमात्रं पुरुषप्रमाणं मृण्मयं कन्दुसंस्थानं बहुसूक्ष्म-च्छिद्रमङ्गारकोष्ठकान्तं सपिधानं कारयेत् ॥ ४५ ॥

और वह मकान लंबा चौडा ऊंचा परिमाणसे चारों ओर सोलह हाथ होना चाहिये यह घर मृत्तिकासे बनाहुआ और जिसमें हवा आनेको कई जगह खिडकी रखीहुई हों इस मकानके भीतर चारों ओर दीवारमें एक एक हाथकी भीत बनावे और उनमें किवाडें न लगावे। फिर मकानके ठीक बीचमें एक चार हाथका चौडा और सात हाथ लंबा भाडसा बनाले उसके ऊपर बारीक २ छिद्रोंयुक्त ढकना रक्खे ॥ ४५ ॥

तच्च खदिराणामाश्वकर्णादीनां वा काष्ठानां पूरयित्वा प्रदीपयेत्। स यदा जानीयात्साधुदग्धानि काष्ठानि गतधूमानि। अवतप्तञ्च केव-लमग्निना तदग्निगृहं स्वेदयोग्येन चोष्मणा युक्तमिति तत्रैनं पुरुषं वात-हराभ्यक्तगात्रं वस्त्रावच्छन्नं प्रवेशयेत् ॥ ४६ ॥ प्रवेशयंश्चैनमनुशि-ष्यात्। सौम्य प्रविश कल्याणायारोग्याय चेति। प्रविश्य चैनां पिण्डिकामधिरुह्य पार्श्वापरपार्श्वाभ्यां यथासुखं शयीथाः। न च

त्वया स्वेदमूर्च्छापरीतेनापि सता पिण्डिकैषा विमोक्तव्या आप्राणो-च्छ्वासात्। भ्रश्यमानो ह्यतः पिण्डिकावकाशाद् द्वारमनधिगच्छन् स्वेदमूर्च्छापरीततया सद्यः प्राणाञ्जह्याः ॥ ४७ ॥

इस गढेको भीतरसे खैर या शालविशेषकी लकड़ियोंसे भरकर आग लगादे जब वह अच्छी प्रकार दग्ध हो जावें और धूम निकललेवे और भीतरका स्थान तपगया हो और स्वेदनयोग्य गर्मीसे भरजाय तो रोगीको वातनाशक तेलोंसे स्निग्धगात्र कर; कपडा लपेटकर इस गर्म घरमें प्रविष्ट करावे, और कहे हे सौम्य! अपनी आरो-ग्यता और कल्याणके लिये इस घरमें प्रवेश कर। इस बीचमें बनीहुई पिंडिका पर चढकर जिस करवटसे तुझे सुभीता हो उस करवट सोजा। तुमको इस पर लेटनेसे पसीने आवेंगे उस समय यदि तुमको मूर्च्छा भी आवे तो वहांसे नहीं उठना, जब तक तुम्हारे प्राण चलते रहें तबतक उसको मत त्यागो। यदि उसके ऊपरसे गिर पडोगे तो द्वारको विना प्राप्त हुए ही पसीने और मूर्च्छासे प्राण त्याग दोगे॥४६॥४७

तस्मात् पिण्डिकामेनां न कथञ्चन मुञ्चेथाः। त्वं यदा जानीयाः विगताभिष्यन्दमात्मानं सम्यक् प्रस्रुतस्वेदपिच्छं सर्वस्रोतोविमुक्तं लघु-भूतमपगतविबन्धस्तम्भसुप्तिवेदनागौरवमिति। ततस्तां पिण्डिकामनु-सरन् द्वारं प्रपद्येथाः। निष्क्रम्य च न सहसा चक्षुषोः परिपालनार्थं शीतोदकमुपस्पृशेथाः। अपगतसन्तापक्लमस्तु मुहूर्तात्सुखोष्णेन वारिणा यथान्यायं परिषिक्तोऽश्नीया इति जेन्ताकस्वेदः ॥ ४८ ॥

इसलिये उस पिंडिकाको मत छोडना, जब तुम्हारा शरीर बिलकुल कफ रहित होजाय और पसीनेका स्राव सब होचुके, शरीरके सब छिद्र खुल जायँ, और शरीर हलका होजाय, तथा शरीरका विबंधस्तंभ, सुप्ति, पीडा, गुरुता यह सब दूर होकर शरीर हलका होजाय तब उस पिंडिकाके सहारेसे उसको धीरे २ छोडकर सहजसे द्वारकी ओर आना। फिर बाहर आते ही नेत्रोंके आरामके लिये शीत जल स्पर्शन करना। जब सन्ताप और क्लम दूर होजाय तब एक मुहूर्तसे सुखोष्ण जलसे स्नान करके पथ्य भोजन करना इसको जेंताकस्वेद कहते हैं ॥ ४८ ॥

अश्मघनस्वेदका लक्षण।

शयानस्य प्रमाणेन घनामश्ममयीं शिलाम्।
तापयित्वा मारुतघ्नैर्दारुभिः संप्रदीपितैः ॥ ४९ ॥

व्यपोह्य सर्वानङ्गारान्प्रोक्ष्य चैवोष्णवारिणा ।
तां शिलामथ कुर्वीत कौशेयाविकसंस्तराम् ॥ ५० ॥
तस्यां स्वभ्यक्तसर्वाङ्गः शयानः स्विद्यते सुखम् ।
रौरवाजिनकौशेयप्रावाराद्यैस्सुसंवृतः ॥ ५१ ॥
इत्युक्तोऽश्मघनस्वेदः कर्षूस्वेदः प्रवक्ष्यते ॥ ५२ ॥

रोगीके सोनेके प्रमाण योग्य एक शिलाको वातनाशक लकडियोंकी आगसे गरम करे । फिर सब अंगार हटाकर गरम पानीसे धो देवे । फिर उस धुलीहुई गरम शिला-पर रेशमी वस्त्र या कंवल बिछावे । उसपर वातनाशक तेलोंसे अभ्यक्त रोगीको सुलावे तो सुखपूर्वक पसीने आवें । रुरु मृगके चर्मसे या रेशमी कपडेसे अथवा अन्य वस्त्रसे आच्छादित हो रोगी इस शिलापर लेटे। इसको अश्मघन स्वेद कहते हैं। कर्षू स्वेद आगे कहते हैं ॥ ४९–५२ ॥

खानयेच्छयनस्याधः कर्षू स्थानविभागवित् ।
दीप्तैरधूमैरङ्गारैस्तां कर्षू पूरयेत्ततः ।
तस्यामुपरिशय्यायां स्वपन् स्विद्यति ना सुखम् ॥ ५३ ॥

बुद्धिमान् वैद्य रोगीकी शय्याके नीचे एक भीतरसे खुले मुखवाला छोटा गढा बनाकर निर्धूम प्रदीप्त अंगारोंसे उसको भरदे । उसके ऊपर बिछी हुई शय्यापर पडा रोगी सुखपूर्वक पसीना लेता है इसको कर्षूस्वेद कहते हैं ॥ ५३ ॥

कुटीस्वेदका वर्णन ।

अनत्युत्सेधविस्तारां वृत्ताकारामलोचनाम् ।
घनभित्तिं कुटीं कृत्वा कुष्ठाद्यैः सम्प्रलेपयेत् ॥ ५४ ॥
कुटीमध्ये भिषक् शय्यां स्वास्तीर्णाञ्चोपकल्पयेत् ।
प्रावाराजिनकौशेयकुत्थकम्बलगोलकैः ॥ ५५ ॥
स हंडिकाभिरङ्गारपूर्णाभिस्ताञ्च सर्वशः।
परिवार्य्यान्तरारोहेदभ्यक्तः स्विद्यते सुखम् ॥ ५६ ॥

न बहुत ऊंची न लंबी और न चौडी एक उचित गोल, छिद्ररहित कडी भीत-वाली कुटिया बनावे उसको कूठ आदि औषधियोंसे लेपन करे। फिर वैद्य उस कुटीमें आकर मृगछाला, कौशेयवस्त्र, गुदडी, कंबल, गोनक आदि बिछाकर शय्या बनावे और इस कुटीके चारों ओर भीतकी जडमें अंगारोंसे भरकर हांडियें

रखदे फिर स्निग्धगात्र रोगीको इसमें सुलावे तो सुखपूर्वक स्वेदन होगा। इसको कुटीस्वेद कहते हैं॥ ५४–५६ ॥

भूस्वेदका वर्णन।

य एवाश्मघनस्वेदविधिर्भूमौ स एव तु।
प्रशस्तायां निवातायां समायामुपदिश्यते ॥ ५७ ॥

अश्मघन स्वेदकी समान ही भूस्वेद होता है, अश्मघन स्वेदमें पत्थरकी शिला तपाई जाती है और भूस्वेदमें निर्वातस्थानमें पवित्र और सीधी भूमि तपाकर भूस्वेद होता है॥ ५७॥

कुम्भीस्वेदका वर्णन।

कुम्भीं वातहरक्काथपूर्णां भूमौ निखातयेत्।
अर्द्धभागं त्रिभागं वा शयनं तत्र चोपरि ॥ ५८ ॥
स्थापयेदासनं वापि नातिसान्द्रपरिच्छदम्।
अथ कुम्भ्यां सुसन्तप्तान्प्रक्षिपेदयसो गुडान् ॥ ५९ ॥
पाषाणान्वोष्मणा तेन तत्स्थः स्विद्यति ना सुखम्।
सुसंवृताङ्गस्स्वभ्यङ्गः स्नेहैरनिलनाशनैः ॥ ६० ॥

पहले वातनाशक क्काथोंसे घडेको आधा या तीन भाग भरकर जमीनमें गाडदे उसके ऊपर रोगीकी शय्या या बैठनेयोग्य कोई वस्तु रखकर ऊपर बारीक वस्त्र बिछादे उस पर तैलादिसे स्निग्ध हुए रोगीको कंबल आदि वस्त्र लपेटकर बिठा या लेटा देवे और पत्थर या लोहेके टुकडे आगमें लालकरके नीचेके घडेमें डाले उससे भाफ निकलकर जो रोगीको पसीना आवे उसको कुम्भीस्वेद कहते हैं॥५८--६० ॥

कूपस्वेदका वर्णन।

कूपं शयनविस्तारं द्विगुणञ्चापि वेधतः।
देशे निवाते शस्ते च कुर्य्यादन्तः सुमार्जितम् ॥ ६१ ॥
हस्त्यश्वगोखरोष्ट्राणां करीषैर्दग्धपूरिते।
स्ववच्छन्नः ससंस्तीर्णेऽभ्यक्तस्स्विद्यति ना सुखम् ॥ ६२ ॥

पहले निर्वात और सीधी भूमिमें सोनेयोग्य लंबा चौडा और उससे दुगुना गहरा कूप बनावे और अंदर साफ करदे। फिर उसमें हाथी, घोडा, गौ, गर्दभ, ऊंट इनकी सूखीहुई लीद भरकर आग लगादेवे। जब धूम निकललेवे तो उसपर शय्या बिछा- कर रोगीके शरीरपर तेल मलकर उस शय्यापर सुलावे इससे सुखपूर्वक स्वेदन होगा इसको कूपस्वेद कहते हैं॥ ६१॥ ६२॥

होलाकस्वेदका वर्णन ।

धौतिकान्तु करीषाणां यथोक्तानां प्रदीपयेत् ।
शयनान्तः प्रमाणेन शय्यामुपरि तत्र च ॥ ६३ ॥
सुदग्धायां विधूमायां यथोक्तामुपकल्पयेत् ।
स्ववच्छन्नः स्वपंस्तत्राभ्यक्तः स्विद्यति ना सुखम् ॥ ६४ ॥
होलाकस्वेद इत्येष सुखः प्रोक्तो महर्षिणा ।
इति त्रयोदशविधः स्वेदोऽग्निगुणसंश्रयः ॥ ६५ ॥

हाथी आदिकी सूखी लीदकी शयन प्रमाण ढेरी लगाकर जलावे जब जलकर धूम निकलजाय फिर उसपर ऊंची सी चारपाई बिछावे । फिर वातनाशक तेलोंसे स्निग्ध कर रजाई आदि वस्त्र लेकर उस शय्यापर रोगी सोवे तो सुखपूर्वक पसीना आवे इसको होलाक स्वेद कहते हैं । इस प्रकार अग्निके योगसे १३ प्रकारके स्वेद होते हैं ॥ ६३--६५ ॥

विना अग्नि-स्वेदनविधान ।

व्यायाम उष्णसदनं गुरुप्रावरणं क्षुधा ।
बहुपान भयक्रोधावुपनाहाहवातपाः ॥ ६६ ॥
स्वेदयन्ति दशैतानि नरमग्निगुणादृते ।
इत्युक्तो द्विविधः स्वेदः संयुक्तोऽग्निगुणैर्न च ॥ ६७ ॥

व्यायाम करनेसे, गरम घरमें रहनेसे, भारी वस्त्र धारण करनेसे, भूखे रहनेसे, बहुत मद्य पीनेसे, भयसे, क्रोधसे, उपनाहसे, युद्धसे, धूप लगनेसे इन दश कारणोंसे अग्निके विना ही पसीने होजाते हैं । इस प्रकार अग्निके योगसे और विना अग्निसे दो प्रकारसे पसीने आते हैं ॥ ६६ ॥ ॥ ६७ ॥

एकाङ्गसर्वाङ्गगतः स्निग्धो रूक्षस्तथैव च ।
इत्येतत्त्रिविधं द्वन्द्वं स्वेदमुद्दिश्य कीर्तितम् ॥ ६८ ॥
स्निग्धः स्वेदैरुपक्रम्यः स्विन्नः पथ्याशनो भवेत् ।
तदहः स्विन्नगात्रस्तु व्यायामं वर्जयेन्नरः ॥ इति ॥ ६९ ॥

इसी प्रकार एकांगगत और सर्वांगगत इन भेदोंसे स्वेद दो प्रकारके हैं । और रूक्षस्वेद तथा स्निग्धस्वेद इन भेदोंसे दो प्रकारके हैं । यह तीन द्वन्द्व स्वेदके कहेहैं । स्नेहन स्वेदनके अनन्तर रोगी पथ्यपूर्वक रहे । जिस दिन पसीना लियाहो व्यायामादि छोडकर वैद्यकी आज्ञाका पालन करे ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

अध्यायका संक्षिप्त वर्णन।

तत्र श्लोकाः—स्वेदो यथा कार्यकरो हितो येभ्यश्च यद्विधः।
यत्र देशे यथायोग्यो देशो रक्ष्यश्च यो यथा ॥ ७० ॥
स्विन्नातिस्विन्नरूपाणि तथातिस्विन्नभेषजम्।
अस्वेद्याः स्वेदयोग्याश्च स्वेदद्रव्याणि कल्पना ॥ ७१ ॥
त्रयोदशविधः स्वेदो विना दशविधोऽग्निना।
संग्रहेण च षट् स्वेदाः स्वेदाध्याये निदर्शिताः॥ ७२ ॥

अब अध्यायका उपसंहार करतेहैं, कि इस स्वेदाध्यायमें जो २ स्वेदसे लाभ होते हैं, जिसतरहका स्वेद जिसके लिये हित और अहित है, जिस देशमें जैसे जो स्वेद योग्य हैं, उत्तम स्वेद और अतिस्वेदके लक्षण, अतिस्वेदितकी औषधि जिनको स्वेदन नहीं करना जो स्वेदनयोग्य हैं, स्वेदनके द्रव्य और उनकी कल्पना तेरह प्रकारके स्वेद, अग्निसे विना दश प्रकारके स्वेद, छः स्वेदोंका संग्रह ये वर्णन कियेहैं ॥ ७० ॥ ७१ ॥ ७२ ॥

स्वेदाधिकारे यद्वाच्यमुक्तमेतन्महर्षिणा।
शिष्यैस्तु प्रतिपत्तव्यमुपदेष्टा पुनर्वसुः ॥ इति ॥ ७३ ॥

इति स्वेदाध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार इस अध्यायमें पुनर्वसुजीने कथन किया जो कुछ भी स्वेदाधिकारमें कहना था वह सब महर्षिजीने कथन करदिया। शिष्यगणोंको इस कथनका पालन करना चाहिये ॥ ७३ ॥

इति श्रीमहर्षिचरक० पं० रामप्रसाद० भाषाटीकायां स्वेदाध्यायश्चतुर्दशः ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः।

अथात उपकल्पनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः
इति ह स्माह भगवानात्रेयः।

अब हम उपकल्पनीय अध्यायकी व्याख्या करतेहैं। ऐसा भगवान् आत्रेयजी कहने लगे ॥

इह खलु राजानं राजमात्रमन्यं वा विपुलद्रव्यं संभृतसम्भारं वमनं विरेचनं वा पाययितुकामेन भिषजा प्रागेवौषधपानात्सम्भारा उपकल्पनीया भवन्ति। सम्यक्चैव हि गच्छत्यौषधे प्रतिभोगार्थाः।

व्यापन्ने चौषधे व्यापदः परिसंख्याय प्रतीकारार्थाः। न हि सन्निकृष्टे काले प्रादुर्भूतायामापदि सत्यपि क्रयाक्रये सुकरमाशु सम्भरणमौषधानां यथावदित्येवं वादिनं भगवन्तमात्रेयमाग्निवेश उवाच ॥ १ ॥

जब राजा अथवा राजाके समान अन्य धनाढच पुरुष हो जिसके यहां बहुतसा द्रव्य, धन, संपत्ति, साधन, सामग्री हो उसको वमन या विरेचनकी औषधिका पान कराना हो तो वैद्यको उचित है कि, औषध पिलानेसे प्रथम सब प्रकारकी आवश्यक वस्तुएं अपने समीप रखले। क्योंकि वमन विरेचनके समय और वमन विरेचन हो लेनेके अनंतर जिन २ वस्तुओंकी आवश्यकता पडतीहै वह उसी समय तैयार मिलनेसे रोगीको आराम मिलताहै और उसके वमनादि कार्यमें कोई हानि नहीं होती ऐसा होनेसे रोगीका उपकार होताहै। यदि वमन विरेचनमें कोई उपद्रव भी होजाय तो औषध तैयार पास होनेसे झट उपद्रव शांत होसकते हैं। ऐसा न करने पर यदि वमन विरेचनके समय कोई उपद्रव होनेलगे तो औषध वेचनेकी दूकान समीप होनेपर भी यथोचित औषध तैयार करके देनेमें समय लगजाताहै उस समय वडी कठिनता पडतीहै। इसप्रकार कथन करतेहुए भगवान् आत्रेयजीसे अग्निवेश कहनेलगे॥१॥

ननु भगवन्नादावेव ज्ञानवता तथा प्रतिविधातव्यं यथा प्रतिविहिते सिद्धयेदेवौषधमेकान्तेन । सम्यक् प्रयोगनिमित्ता हि सर्वकर्मणां सिद्धिरिष्टा व्यापच्चासम्यक्प्रयोगनिमित्ता । अथ सम्यगसम्यक् च समारब्धं कर्म सिद्धयति व्यापद्यते वा नियमेन । तुल्यं भवति ज्ञानमज्ञानेनेति ॥ २ ॥

हे भगवन्! इनमें कोई संशय नहीं कि सब सामग्री समीप रहनेसे आपत्तिके समय आपत्ति दूर करनेमें काम आती हैं। परंतु ज्ञानवान् वैद्यको पहलेसे ही इस प्रकार विचारकर कार्य करना चाहिये जिस प्रकार कार्य करनेसे विना विघ्नके औषधि प्रयोगका फल सिद्ध होसके, अर्थात् पहले ही विचारकर ऐसी रीतिसे वमन विरेचनकी औषधि प्रयुक्त करनी चाहिये जिससे बीचमें कोई उपद्रव ही न हो और ठीक वमन विरेचन होजाय. क्योंकि, समझकर भलेप्रकार प्रयोग करनेसे सब कार्य ठीक सिद्ध होजाते हैं, विना विचारे अनुचित रीतिसे प्रयोग कियाजाय तो उसमें उपद्रवरूप विपत्ति अवश्य होतीहै। बस, इससे यह नियम सिद्ध है कि, सम्यक् प्रयोगसे कर्मकी सिद्धि होतीहै और असम्यक प्रयोगसे कर्ममें विपत्ति अर्थात् विघ्न होताहै। यदि ऐसा न हो तो फिर जानकारी और अनजानपनेमें विशेष अन्तर ही क्या रहा अर्थात् चिकित्साका जानना और न जानना दोनों बराबर है ॥ २ ॥

तमुवाच भगवानात्रेयः । शक्यं तथा प्रतिविधातुमस्माभिरस्माद्विधै-र्वाप्यग्निवेश यथा प्रतिविहिते सिद्ध्येदेवौषधमेकान्तेन । तच्च प्रयोग-सौष्ठवमुपदेष्टुं यथावन्न हि कश्चिदस्ति य एतदेवमुपदिष्टमुपधारयितु-मुत्सहेत ॥ ३ ॥

यह सुनकर आत्रेय भगवान् कहनेलगे कि, हे अग्निवेश ! जैसा तुम कहते हो ऐसा विचारकर कार्य हम लोग या हमारे समान ही अन्य वैद्य करसकतेहैं । जिस प्रकार प्रयोग करनेसे वमनादि किसी कार्यमें कोई विघ्न न हो और उसी प्रकारके प्रयो-गोंकी सुंदरताका उपदेश भी किया जा सकता है । परंतु इस प्रकारके उपदेशको सब कोई यथावत् धारण नहीं करसकते ॥ ३ ॥

उपधार्य्य वा तथा प्रतिपत्तुं प्रयोक्तुं वा । सूक्ष्माणि हि दोषभेषजदे-शकालबलशरीराहारसात्म्यसत्त्वप्रकृतिवयसामवस्थान्तराणि ॥ ४ ॥ यान्यनुचिन्त्यमानानि विमलविपुलबुद्धेरपि बुद्धिमाकुलीकुर्य्युः । किं पुनरल्पबुद्धेः ॥ ५ ॥

यदि कोई समझही लेवे अर्थात् उस प्रयोगविधिको धारण भी करले तो उन प्रयोगोंको यथोचित करलेना कठिन है । क्योंकि दोष, औषध, देश, काल, बल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्त्व, प्रकृति, अवस्था इनका यथोचित विचार बहुत सूक्ष्म अर्थात् बारीक है । इनके सूक्ष्म विचार करनेमें बडे २ निर्मल और विपुल बुद्धि-वालेकी बुद्धि भी व्याकुल होजाती है । फिर विचारे अल्पबुद्धिवालोंका तो कहना ही क्या है ॥ ४ ॥ ५ ॥

तस्मादुभयमेतद्यथावदुपदेक्ष्यामः । सम्यक् प्रयोगश्चौषधानां व्याप-न्नानां च व्यापत्साधनानि सिद्धिषूत्तरकालम् । इदानीं तावत् संभारान् विविधानपि समासेनोपदेक्ष्यामः ॥ ६ ॥

इसलिये हम दोनों प्रकारोंको अर्थात् जिस प्रयोगसे उपद्रव न हों उनका कथन करेंगे और यदि किसी कारणसे कहीं कोई उपद्रव होजाय उनका शमनोपाय भी कथन करेंगे । औषधोंका उत्तम प्रयोग और वमनादिमें कोई विकार हो तो उसका शमनोपाय इन दोनोंको हम उत्तरकालमें सिद्धिस्थानमें कहेंगे । और वमन विरेचन विषयक सामग्रियोंको और उनके प्रकारोंको यहां संक्षेपसे कथन करतेहैं ॥ ६ ॥

निवासस्थानका वर्णन ।

तद्यथा । दृढं निवातं प्रवातैकदेशं सुखप्रविचारमनुपत्यकं धूमातप-

रजसामनभिगमनीयमनिष्टानाञ्च शब्दस्पर्शरसरूपगन्धानां सोपानोदूखलमुसलवर्चःस्थानस्नानभूमिमहानसोपेतं वास्तुविद्याकुशलः प्रशस्तं गृहमेव तावत्पूर्वमुपकल्पयेत् ॥ ७ ॥

पहले घरके रचनेमें कुशल वैद्य एक ऐसा घर बनवावे जिसमें दीवारें आदि सब मजबूत हों, एक भागमें हवा आती हो और एक भागमें बिल्कुल हवा न लगे, जिसमें इधर उधर फिरनेको सीधी और खुली जगह हो तथा इधर उधरके मकानोंसे रुकाहुआ न हो, जिसमें धूम, धूप, धूल न आतेहों और बुरे लगनेवाले शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध न होंय, कूप हो, कुंडी सोटा आदि दवाई कूटनेका सामान रखाहुआ हो, और पाखाना, स्नान करनेका स्थान, औषध, भोजन आदि बनानेका स्थान विधिवत् यथास्थान बनेहुए हों ॥ ७ ॥

ततः शीलशौचाचारानुरागदाक्ष्यप्रादक्षिण्योपपन्नानुपचारकुशलान् सर्वकर्मसु पर्य्यवदातान् सूपौदनपाचकस्नापकसंवाहकोत्थापकसंवेशकौषधपेषकांश्च परिचारकान्सर्वकर्मस्वप्रतिकलान् ।तथा गीतवादित्रोल्लापकश्लोकगाथाख्यायिकेतिहासपुराणकुशलानभिप्रायज्ञाननुमतांश्च देशकालविदः परिषद्यांश्च । तथा लावकपिञ्जलशशहरिणैणकालपुच्छकमृगमातृकोरभ्रान् ॥ ८ ॥

फिर उस घरमें सुशील, शुद्ध आचारवाले, स्वामीके भक्त, चतुर, सेवाकरनेमें कुशल, सब कामोंमें निपुण, भोजन बनानेमें चतुर, स्नान करानेवाले, सुलानेवाले, हाथ पकडकर चलनेवाले, उठाने बिठानेवाले, औषध पीसनेवाले, अन्य सब काम करनेमें योग्य, परिचारकोंको रक्खे । तथा गाने बजाने, आलाप करनेवाले, श्लोक, कहानियें, कथा, इतिहास, पुराण, इनमें कुशल और अभिप्राय तथा मनकी इच्छाके समझनेवाले, देशकालके अनुसार बातचीत करके चित्तको प्रसन्न रखनेवाले सभासदोंको नियुक्त करै । और लवा, तीतर, शशा, हिरन, काला हिरण, कालपुच्छक, मृगविशेष, मेढा इन सबको उस घरमें स्थापन करे ॥ ८ ॥

गां दोग्ध्रीं शीलवतीमनातुरां जीवद्वत्सां सुप्रतिविहिततृणशरणपानीयाम् ।पात्र्याचमनीयोदकोष्ठमणिकघटपिठरपर्य्योगकुम्भीकुम्भकुण्डशरावदर्वीकटोदञ्चनपरिपचनमन्थानचर्म्मचेलसूत्रकार्पासोर्णादीनि च। शयनासनादीनि चोपन्यस्तभृङ्गारप्रतिग्रहाणि सुप्रयुक्तास्तरणोत्तर-

प्रच्छदोपधानानि स्वापाश्रयाणि । संवेशनस्नेहस्वेदाभ्यङ्गप्रदेहपरिषे-
कानुलेपनवमनविरेचनास्थापनानुवासनशिरोविरेचनमूत्रोच्चारकर्मणा-
मुपचारसुखानि । सुप्रक्षालितोपधानाश्च सुश्लक्ष्णखरमध्यमा दृषदः ।
शस्त्राणि चोपकरणार्थानि । धूमनेत्रं बस्तिनेत्रञ्चोत्तरबास्तिकञ्च।कुशह-
स्तकञ्च तुलाञ्च मानभाण्डञ्च । घृततैलवसामज्जक्षौद्रफाणितलवणेन्ध-
नोदकमधुसीधुसुरासौवीरकतुषोदकमैरेयमेदकदधिदधिमण्डोदस्विद्धा-
न्याम्लमूत्राणि च ॥ ९ ॥

और दूध देनेवाली, सुशीला, नीरोग, जिसका बछडा जीताहो ऐसी गौको रक्खे और उस गौको यथेच्छ घास, जल तथा उत्तम स्थान मिलना चाहिये और जल तथा आचमन आदिके लिये पात्र जलकी कोठी, पतीला, कलशा, घडा, माट, झारी, शराव (मट्टीका कूजा) कछली, पाक बनानेके पात्र, थाली, कटोरे, गिलास आदि मथानी कपडे, सूत, कपास, ऊन आदिकसे वनीहुई सोनेकी शय्या, आसन आदि आरामके सामान स्थापन करे । और शय्या आसनके समीप ही जलकी झज्झर और थूकने आदिके लिये पीकदान आदि स्थापन करे । सुंदर बिछौना, ओढना, तकिया, पलंगके पडावे, बैठने लेटनेमें सुखदायक सामान रहना चाहिये तथा स्नेह, स्वेद, मालिश, प्रलेप, परिषेक, अनुलेपन, वमन, विरेचन, शिरोविरेचन, आस्थापन, अनु-वासन इन सबकी यथायोग्य साधनसामग्री होनी चाहिये और मलमूत्र त्यागनेका पात्र और वमनके पात्र धोकर साफ रखने चाहिये । अन्य उपधान, शिला, श्लक्ष्ण और शुद्ध होनी चाहिये । तथा वस्त्र शस्त्र आदि अन्य उपकरण भी रक्खे । धूमपानकी नली, बास्तिकर्मके लिये पिचकारी और उत्तरवास्तिका सामान, कुशहस्त, तराजू कांटा आदि, मापनेका पात्र, घृत, तेल, चरबी, मज्जा, शहद, फाणित, लवण, काष्ठ, जल, सहदकी बनी सुरा, सीधु, सौवीर, तुषोदक, मैरेय, मेदक, दही, दधिमंड, उदस्वित्, धान्याम्ल और गोमूत्र आदिक सामान रखने चाहिये ॥ ९ ॥

तथा शालीषष्टिकमुद्गमाषयवतिलकुलत्थबदरमृद्विकाकाश्मर्य्यपरूषा-
भयामलकविभीतकानि । नानाविधानि च स्नेहस्वेदोपकरणानि
द्रव्याणि।तथैवोर्द्धहरानुलोमिकोभयभाञ्जि संग्रहणीयदीपनीयपाचनी-
यवातहराणि समाख्यातानि चौषधानि । यच्चान्यदपि किञ्चिद्व्यापदः
परिसंख्ययोपकरणं विद्यात् । यच्च प्रतिभोगार्थं तत्तदुपकल्पयेत् ॥१०॥

तथा शालीचा ।ल, साठी, मूंग, उडद, जौ, तिल, कुलथी, उन्नाभ, मुनक्का, फालसा, हरड, बहेडा, उ ।मला और अनेक स्नेह तथा स्वेदनकी सामग्री और ऊपरका दोष निकालनेवाली, अनुलोमन, ऊपर नीचेका शोधन करनेवाली, स्तंभनकर्ता, दीपनीय, पाचनीय, उपशमनीय और वायुनाशक औषधियें तथा अन्यान्य औषधियें जो वमन विरेचनमें किसी कारणसे हुए उपद्रवोंमें काम देनेवाली हों ऐसी औषधियें पास रक्खे । तथा जिन अन्य द्रव्योंसे रोगीको सुख प्राप्त होसके उनको भी संग्रह करे॥१०॥

ततस्तं पुरुषं यथोक्ताभ्यां स्नेहस्वेदाभ्यां यथार्हमुपपादयेत् । तञ्चेद-स्मिन्नन्तरे मानसः शारीरो वा व्याधिः कश्चित्तीव्रतरः सहसाभ्याग-च्छेत्तमेव तावदस्योपावर्त्तयितुं यतेत । ततस्तमुपावर्त्य तावन्तमेवैनं कालं तथाविधेनैव कर्मणोपाचरेत् । ततस्तं पुरुषं स्नेहस्वेदोपपन्नमनु-पहतमानसमभिसमीक्ष्य सुखोषितं प्रजीर्णभक्तं शिरःस्नातमनुलिप्तगात्रं स्रग्विणमनुपहतवस्त्रसंवीतं देवताग्निद्विजगुरुवृद्धवैद्यानर्चितवन्तमिष्टे नक्षत्रे तिथिकरणमुहूर्ते कारयित्वा ब्राह्मणान्स्वस्तिवाचनं प्रयुक्ता-भिराशीर्भिरभिमन्त्रितां मधुमधुकसैन्धवफाणितोपहितां मदनफल-कषायमात्रां पाययेत् ॥ ११ ॥

इसके उपरान्त जिसको वमन विरेचन कराना हो उसको यथोचित स्नेहन और स्वेदन द्वारा नम्र बनालेवे । यदि उसको इस अवसरमें कोई मानसिक या शारीरिक तीव्र व्यथा शीघ्र उपस्थित हुई हो तो पहले उसका यत्न करले । फिर विकार शांत होनेपर कुछ काल ठहरकर स्नेहन, स्वेदन करे । जब वह स्नेह स्वेद द्वारा मृदु होजाय और स्वस्थचित्त हो तथा भोजन कियाहुआ अच्छीतरह पाचन होचुका हो तब उसका शिर धुलावे और सुगंधित द्रव्योंसे शरीरको सुगंधित करे तथा माला आदि धारण करा और शुद्ध वस्त्र पहनाकर देवता, अग्नि, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध और वैद्य आदि-कोंका पूजन करावे । फिर शुभ नक्षत्र, तिथि, करण, मुहूर्तमें ब्राह्मणोंके आशीर्वादके मन्त्रोंद्वारा अभिमंत्रित कियाहुआ मधु, मुलहटी, सेंधानमक, फाणित यह यथोचित मैनफलके क्वाथमें मिलाकर पीवे ॥ ११ ॥

मदनफलकी मात्राका प्रमाण ।

मदनफलकषायमात्राप्रमाणन्तु खलु सर्वसंशोधनमात्राप्रमाणानि च प्रतिपुरुषमपेक्षितव्यानि भवन्ति । यावद्धि यस्य संशोधनं पीतं वैका-

रिक्दोषहरणायोपपद्यते ॥ १२ ॥ न चातियोगायोगाय तावदस्य मात्राप्रमाणं वेदितव्यं भवति ॥ १३ ॥

मैनफलके काथकी मात्राका प्रमाण तथा अन्य संशोधन द्रव्योंकी मात्राका प्रमाण मनुष्यके बलाबलके अनुसार है। जितनी मात्रासे पान कीहुई औषधि यथोचित शोधन कर दे और विकारोंकी शांति करे उसके लिये उतनी ही मात्रा ठीक है। औषधका अतियोग और अयोग न होना ही औषधकी मात्राका प्रमाण जानना चाहिये॥१३

पीतवन्तन्तु खल्वेनं मुहूर्तमनुकांक्षेत् । तस्य यदा जानीयात्स्वेदप्रादुर्भावेण दोषप्रविलयनमापद्यमानं लोमहर्षेण च स्थानेभ्यः प्रचलितं कुक्षिसमाध्मानेन च कुक्षिमनुगतं हृल्लासास्यश्रवणाभ्यामपचितोर्द्ध्वमुखीभूतमथास्मै जानुसममसम्बाधं सुप्रयुक्तास्तरणोत्तरप्रच्छदोपधानं स्वापाश्रयमासनमुपवेष्टुं प्रयच्छेत् ॥ १४ ॥

औषध पीकर मनुष्य थोडी देरतक चित्तको टिकाकर वमनकी प्रतीक्षा करे। फिर जब पसीने आनेलगें तो समझले कि, अब वातादिदोष लीन होगये हैं। अथवा जब रोमांच होनेलगे तो जाने कि दोष अपने स्थानसे चलायमान होगये और जब कुक्षिमें अफारासा होकर दोष कूख तक फैलकर दिल मचलाने लगे तथा मुखसे पानी गिरनेलगे तो समझे कि, अब दोष ऊर्ध्वमुख होगये हैं। फिर इसको सुखपूर्वक घुटनोंके बल गद्दाआदि बिछीहुई आश्रययुक्त चौकी आदि पर बिठावे ॥ १४ ॥

प्रतिग्रहांश्चोपचारयेत् । ललाटप्रग्रहे पार्श्वोपग्रहणे नाभिप्रपीडने पृष्ठोन्मर्द्दने च अव्युपक्रमणीयाः सुहृदोऽनुमताः प्रवर्तेरन् । अथैनमनुशिष्यात् । विवृतौष्ठताल्लुकण्ठो नातिमहता व्यायामेन वेगानुदीर्णानुदीरयन् किञ्चिदवनम्य ग्रीवामूर्द्धशरीरमुपवेगमप्रवृत्तान्प्रवर्त्तयन्सूपलिखितनखाभ्यामङ्गुलीभ्यामुत्पलकुमुदसौगन्धिकनालैर्वा कण्ठमभिस्पृशन् सुखं प्रवर्त्तयस्वेति ॥ १५ ॥

और इसके आगे छर्दि करनेका पात्र हाथ पोंछनेका साफा जल आदि रक्खे। फिर वैद्य या परिचारक अपने दोनों हाथोंसे वमनकर्ताके ललाटकी दोनों पसलियोंको पकडे। और नाभि तथा पीठको उसके मित्र या परिचारक धीरे २ मसलें जिससे सुखपूर्वक वमन हो। और इस रोगीको भी ऐसी शिक्षा देवे कि, तू होंठ तालु कंठ खोलकर जिस तरह अधिक श्रम न हो वैसे वमनके वेगको निकाल दे। और

गरदन मस्तक शरीरको कुछ आगेको झुकाले । यदि वमनका वेग न आता हो तो उसके लानेको साफ किये हुए नखोंवाली उंगलियोंसे अथवा कमल, कुमोदनी, कह्लार आदिकी नरम डंडीसे कण्ठको स्पर्श करे जिससे सुखपूर्वक वमन हो ॥१५॥

वमन होनेपर वैद्यका कर्तव्य ।

स तथाविधं कुर्य्यात्। ततोऽस्य वेगान्प्रतिग्रहगतानवेक्षेतावहितः। वेगविशेषदर्शनाद्धि कुशलो योगायोगातियोगविशेषानुपलभेत । वेगविशेषदर्शी पुनः कृत्यं यथार्हमवबुद्ध्येत लक्षणेन । तस्माद्वेगानवेक्षेतावहितः ॥ १६ ॥

रोगीको इसी प्रकार करना चाहिये । फिर कुशल वैद्य सावधानतासे देखे कि, वमन ठीक होगये या नहीं, वमनके वेगोंको देखकर कुशल वैद्य वमनके योग, अतियोग, अयोगकी परीक्षा करे । यदि कुछ अतियोग आदि दिखाईदेवे तो उस समय करनेयोग्य कृत्योंको विचार ले । इसलिये सावधान होकर वेगोंको देखे ॥ १६ ॥

वमनके योगायोगादि लक्षण ।

तत्रामून्ययोगयोगातियोगविशेषज्ञानानि भवन्ति । तद्यथा- अप्रवृत्तिः कुतश्चित् । केवलस्य वाप्यौषधस्य विभ्रंशो विबन्धो वेगानामयोगलक्षणानि भवन्ति ॥ १७ ॥

उसमें वमनके अयोग, सम्यक् योग, अतियोगके यह लक्षण होते हैं । वमनका न होना या जो औषध वमनके लिये पीगई हो केवल वह निकलजाय और वमन न हो । यह वमनके अयोगके लक्षण हैं ॥ १७ ॥

काले प्रवृत्तिरनतिमहती व्यथा यथास्वं दोषहरणं स्वयञ्चावस्थानमिति योगलक्षणानि भवन्ति । योगेन तु दोषप्रमाणविशेषेण तीक्ष्णमृदुमध्यविभागो ज्ञेयः । योगाधिक्येन तु फेनिलरक्तचन्द्रिकोपगमनमित्यतियोगलक्षणानि भवन्ति । तत्रातियोगायोगनिमित्तानिमानुपद्रवान्विद्यात् । आध्मानं परिकर्त्तिका परिस्रावो हृदयोपसरणमङ्गग्रहो जीवादानं विभ्रंशः स्तंभः क्लम इत्युपद्रवाः ॥ १८ ॥

ठीक समयपर वमन हो, अति अधिक वमन न हो, वमनकर्ताको अधिक कष्ट न हो, पहले दोषोंको निकालकर फिर औषध निकले । यह वमनके ठीक योगके लक्षण हैं । ठीक योगमें भी तीक्ष्ण, मृदु, मध्य यह तीन भेद हैं वमनका अतियोग होनेसे छर्दमें झाग, रुधिर, चमक आदि होते हैं और वमनके वेग बहुत ज्यादा आते हैं यह

वमनके अतियोगके लक्षण हैं। उनमें अयोग और अतियोग होनेसे यह उपद्रव होते हैं जैसे-अफारा, पेटमें काटयुक्त पीडा, रुधिरका निकलना, हृदयकी रुकावट, अंगोंकी शिथिलता, जीवसंज्ञक रक्तका निकलना अथवा जीवनका क्षय होना, जीभका निकलआना, शरीरका स्तंभ और घबराहट होना यह लक्षण होते हैं ॥ १८ ॥

योगेन तु खल्वेनं छर्दितवन्तमभिसमीक्ष्य सुप्रक्षालितपाणिपादास्यं मुहूर्तमाश्वास्य स्नैहिकवैरेचनिकोपशमनीयानां धूमानामन्यतमं सामर्थ्यतः पाययित्वा पुनरेवोदकमुपस्पर्शयेत्। उपस्पृष्टोदकञ्चैनं निवातमगारमनुप्रवेश्य संवेश्य चानुशिष्यात् ॥ १९ ॥ उच्चैर्भाष्यमत्यासनमतिस्थानमतिचंक्रमणं क्रोधशोकहिमातपावश्यायातिप्रवातान् यानयानं ग्राम्यधर्म्ममस्वपनं निशि दिवास्वप्नं विरुद्धाजीर्णासात्म्याकालप्रमिताप्रमितातिहीनगुरुविषमभोजनं वेगसन्धारणोदीरणमिति भावानेतान् मनसाप्यसेवमानः सर्वमाहारमद्यादिति। स तथा कुर्य्यात् ॥ २० ॥

यदि उत्तम प्रकारसे वमन होलेवे तो उस वमनकर्त्ताके हाथ, पांव, मुख, धुलकार आराम करने दे। फिर दो घडी पश्चात् उसको स्नैहिक धूम या विरेचक धूम अथवा शमन धूम वा यथासाध्य अन्य धूम पान करावे। फिर हाथ पाँव नेत्र मुख धुलाकर बात रहित स्थानमें सुखोचित शय्या पर सुलावे और कहे कि ऊंचे स्वरसे बोलना, अधिक बैठना, अत्यंत आराममेंही पडरहना, अति फिरना, क्रोध, शोक, हिम, धूप, शीत, अत्यंत वायु, सवारी, स्त्रीसंग, जागरण, दिनमें सोना, विरुद्ध भोजन, अजीर्णकर्ता तथा असात्म्य भोजन, असमय भोजन, अल्प भोजन, अतिभोजन, हीन तथा भारी और विषम भोजन, मलमूत्रादिका वेग रोकना, विना वेग मलादि त्यागना इन कामोंको मनसे भी न करना। और मद्य आदि भी सेवन न करना वमनकर्ताको भी वैद्यके कथनानुसार ही करना चाहिये ॥ १९ ॥ २० ॥

रात्रिके भोजनका क्रम।

अथैनं सायाह्ने परेवाह्नि सुखोदकपरिषिक्तं पुराणानां लोहितशालितण्डुलानां स्ववक्लिन्नानां मण्डपूर्वां सुखोष्णां यवागूं पाययेदग्निबलमभिसमीक्ष्य चैवं द्वितीये तृतीये चान्नकाले। चतुर्थे त्वन्नकाले तथाविधानामेव शालितण्डुलानामुत्स्विन्नां विलेपीमुष्णोदकद्वितीयामस्नेहलवणामल्पस्नेहलवणां वा भोजयेत्। एवं पञ्चमे षष्ठे चान्नकाले।

सप्तमे त्वन्नकाले तथाविधानामेव शालीनां द्विप्रसृतं सुस्विन्नमोदन-मुष्णोदकानुपानं तनुस्नेहलवणोपपन्नेन मुद्गयूषेण भोजयेत् । एव-मष्टमे नवमे चान्नकाले। दशमे त्वन्नकाले लावकपिञ्जलादीनामन्यत-मस्य मांसरसेनोदकलावणिकेन नातिसारवता भोजयेत् । उष्णोदका-नुपानम् । एवमेकादशे द्वादशे चान्नकाले ॥ २१ ॥

इसके अनंतर उस मनुष्यको सायंकाल या दूसरे दिन प्रातःकाल सुखोष्णजलसे स्नान कराके पुराने साठींके चावल आदिकोंका यवागू बनाकर सुखोष्ण पिलावे। ऐसे ही दूसरे तीसरे समयभी सुखोष्ण नरम २ साठी चावलों आदिकी पेया बना कर देवे । चौथे समय साठीके चावलोंको बहुत नरम और गाढेसे बनाकर देवे अथवा उन चावलोंकी विलेपीमें थोडी सी चिकनाई और सेंधानमक मिलाकर देवे और गर्म जल पीनेको देवे । ऐसे ही पांचवे, छठे भोजनके समय भी करे। सातवें समय साठी या शालीचावलोंका नरम बनाहुआ आधसेर भात और थोडेसे नमक और चिकनाई युक्त मूंगका यूष देवे और गर्म जल पिलावे । आठवें, नवमें अन्नकालमें भी ऐसा ही करे । दशवें समय लवा, तीतर आदिक किसी पवित्र पक्षीके मांसरससे यथेच्छ स्नेह लवण मिलाकर अन्न खावे और गरम जल पींवे। ऐसे ही ग्यारहवें, बारहवें समय भी करे ॥ २१ ॥

अतऊर्ध्वमन्नगुणान् क्रमेणोपभुञ्जानः सप्तरात्रेण प्रकृतिभोजन-मागच्छेत् ॥ २२ ॥

इसके उपरांत सात दिन तक सात्म्य और पथ्य भोजन करताहुआ अपने स्वाभाविक भोजन पर आजाय ॥ २२ ॥

विरेचनविधि ।

अथैनं पुनरेव स्नेहस्वेदाभ्यामुपपाद्यानुपहतमनसमभिसमीक्ष्य सुखो-षितं सुप्रजीर्णभक्तं कृतहोमबलिमङ्गलजप्यप्रायश्चित्तमिष्टातिथिनक्षत्र-करणमुहूर्ते ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयित्वा त्रिवृतकल्कमक्षमात्रां यथा-र्हालोडयन् प्रतिविनीतं पाययेत् । प्रसमीक्ष्य दोषभेषजदेशकालबल-शरीराहारासात्म्यसत्त्वप्रकृतिवयसामवस्थान्तराणि विकारांश्च ॥२३॥

अब फिर स्नेहन स्वेदन करके सर्वदुःखरहित सुखपूर्वक बैठे हुए इसको पहले दिनका अन्न जीर्ण होनेपर होम, बलिदान, मंगलाचरण, जप, प्रायश्चित्त आदि कराके शुभ तिथि, नक्षत्र, करण, मुहूर्तमें ब्राह्मणों द्वारा स्वस्तिवाचन कराके इसके

दोष, औषध, देश, काल, बल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्त्व, प्रकृति, वय तथा अन्य व्यवस्था और रोगोंको विचारकर एक बहेडेके समान (अथवा जितना उचित हो) निशोथका कल्क लेकर पानीमें घोलकर पिलादेवे ॥ २३ ॥

सम्यक् विरिक्तश्चैनं वमनोक्तेन धूमवर्जेन विधिनोपपादयेदाबलवर्ण-प्रतिलाभात् ॥ २४ ॥

रोगीको उत्तम विरेचन होचुका यह विचारकर जबतक बल वर्ण ठीक न होजाय तब तक वमनमें कही विधिके वर्ताव करतारहै। परंतु वमनमें कहेहुए धूमपानको न करे ॥ २४ ॥

बलवर्णोपपन्नश्चैनमनुपहतमनसमभिसमीक्ष्य सुखोषितं सुप्रजीर्णभक्तं शिरःस्नातमनुलिप्तगात्रं स्रग्विणमनुपहतवस्त्रसंवीतमनुरूपालङ्कारालंकृतं सुहृदां दर्शयित्वा ज्ञातीनां दर्शयेदथैनं कामेष्ववसृजेत् ॥ २५ ॥

जब वह मनुष्य बलवर्ण युक्त होजाय और मन प्रसन्न हो तब पहले दिनका अन्न जीर्ण होनेपर सुखपूर्वक बिठाकर शिरसे स्नान करावे और शरीरमें चंदनादि सुगंधित लेप कर-फूलमाला, शुद्ध हलके वस्त्र और यथायोग्य वस्त्र आदिसे शोभायमान कर इसके मित्र और बांधवोंके दर्शन करावे। फिर इसको इसकी इच्छानुसार वर्तावकी आज्ञा देवे ॥ २५ ॥

भवंति चात्र-अनेन विधिना राजा राजमात्रोऽथवा पुनः।
यस्य वा विपुलं द्रव्यं स संशोधनमर्हति ॥ २६ ॥
दरिद्रस्त्वापदं प्राप्य सप्तकालं विरेचनम्।
पिबेत्काममसंभव्य सम्भारानपि दुर्लभान् ॥ २७ ॥

यहां कहतेहैं कि, इस विधिसे राजा अथवा राजाओंकी समान धनिक पुरुष जिसके यहां बहुत द्रव्य हो उसको शोधन करना चाहिये और दरिद्रीके पास सब सामान हो नहीं सकता इसलिये जब उसको कोई वमन विरेचन साध्य रोग होय उसी समय यथासंभव योग्य औषध देकर आरोग्य करे ॥ २६ ॥ २७ ॥

न हि सर्वमनुष्याणां सन्ति सर्वपरिच्छदाः।
न च रोगा न बाधन्ते दरिद्रानपि दारुणाः ॥ २८ ॥
यद्यच्छक्यं मनुष्येण कर्त्तुमौषधमापदि।
तत्तत्सेव्यं यथाशक्ति वमनान्यशनानि च ॥ २९ ॥

क्योंकि सब मनुष्योंके यहां सब साधन नहीं होसकते और रोग तो दरिद्रियोंको भी वैसाही दारुण कष्ट देते हैं। इसलिये जिससे जिस प्रकार यत्न हो जैसी, औषध आदि होसकती हो उसको रोग होनेपर वैसे ही यथाशक्ति शोधन और भोजनादि करने चाहिये ॥ २८ ॥ २९ ॥

मलापहं रोगहरं बलवर्णप्रसादनम्।
पीत्वा संशोधनं सम्यगायुषा युज्यते चिरम् ॥ ३० ॥

उत्तम प्रकारसे संशोधन करनेसे दुष्ट मल और रोग नष्ट होते हैं। तथा बल और वर्ण उत्तम होते और आयु दीर्घ होती है ॥ ३० ॥

अध्यायका संक्षिप्त वर्णन।

तत्र श्लोकाः-ईश्वराणां वसुमतां वमनं सविरेचनम्।
सम्भारा ये यदर्थश्च समानीय प्रयोजयेत् ॥ ३१ ॥
यथा प्रयोज्यं या मात्रा यदयोगस्य लक्षणम्।
योगातियोगयोर्यच्च दोषा ये चाप्युपद्रवाः ॥ ३२ ॥
यदसेव्यं विशुद्धेन यश्च संसर्जनक्रमः।
तत्सर्वं कल्पनाध्याये व्याजहार पुनर्वसुः ॥ ३३ ॥

इति कल्पनाचतुष्के उपकल्पनीयोऽध्यायः ॥ १५ ॥

अध्यायके उपसंहारमें यह श्लोक है कि, इस कल्पनीयाध्यायमें राजाओं और धनिक पुरुषोंको वमन विरेचनका क्रम और उनके साधनकी सामग्री तथा वमन विरेचनकी मात्रा, अयोगके लक्षण तथा सम्यक् योग और अतियोगके लक्षण, अतियोगके उपद्रव, संशोधित मनुष्यके सेवनका क्रम और उसको छुट्टी देनेकी विधि यह सब भगवान् पुनर्वसुजीने कथन किया है ॥ ३१-३३ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां पटियालाराज्यान्तर्गतटकसालनिवासि वैद्य-पञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्यभाषाटीकाया-मुपकल्पनीयो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः।

अथातश्चिकित्साप्राभृतीयमध्यायं व्याख्यास्यामः
इति ह स्माह भगवानात्रेयः।

अब हम चिकित्साप्राभृतीय अध्यायका कथन करते हैं। ऐसा भगवान् आत्रेयजी कहनेलगे।

सदसद्वैद्यके कर्मका फल।

चिकित्साप्राभृतो विद्वान् शास्त्रवान् कर्मतत्परः।
नरं विरेचयति यं स योगात्सुखमश्नुते ॥ १ ॥

चिकित्सामें निपुण, शास्त्रको जाननेवाला, अपने चिकित्साकर्ममें तत्पर वैद्य जिस मनुष्यको विरेचन कराता है वह मनुष्य रोगमुक्त होकर परम सुखको भोगताहै ॥ १॥

यं वैद्यमानी त्वबुधो विरेचयति मानवम्।
सोऽतियोगादयोगाच्च मानवो दुःखमश्नुते ॥ २ ॥

और अपने आप वैद्य कहलानेवाला मूर्ख जिसको विरेचन देता है वह अतियोग अथवा अयोगके होनेसे दुःखको भोगता है ॥ २ ॥

अच्छे विरेचनके लक्षण।

दौर्बल्यं लाघवं ग्लानिर्व्याधीनामणुता रुचिः।
हृद्वर्णशुद्धिः क्षुत्तृष्णा काले वेगप्रवर्त्तनम् ॥ ३ ॥
बुद्धीन्द्रियमनःशुद्धिर्मारुतस्यानुलोमता।
सम्यग्विरिक्तलिङ्गानि कायाग्नेश्चानुवर्त्तनम् ॥ ४ ॥

देहमें दुर्बलता, हलकापन, ग्लानि, रोगका हास, रुचि, हृदय और वर्णकी शुद्धि, क्षुधा, तृषाका ठीक होना, समयपर मलमूत्रका होना, बुद्धि, इन्द्रिय और मनका शुद्ध होना, वायुका अनुलोम होना, जठराग्निका बलवान् होना यह लक्षण उत्तम विरेचन होनेके हैं ॥ ३ ॥ ४ ॥

दुष्टविरेचनके लक्षण।

ष्ठीवनं हृदयाशुद्धिरुत्क्लेशः श्लेष्मपित्तयोः।
आध्मानमरुचिश्छर्दिरदौर्बल्यमलाघवम् ॥ ५ ॥
जङ्घोरुसादनं तन्द्रा स्तैमित्यं पीनसागमः।
लक्षणान्यविरिक्तानां मारुतस्य च निग्रहः ॥ ६ ॥

मुखसे पानी गिरना, हृदयका भारी होना, कफपित्तके निकलनेकी सी शंका रहना, अफारा, अरुचि, छर्दि, देहमें पुष्टता सी और भारीपन, टांगोंमें और घुटनोंमें शिथिलता, तन्द्रा, देहमें गीलापन, प्रतिश्याय, अधोवायुका ठीक न निकलना यह लक्षण ठीक विरेचन न होनेसे होते हैं ॥ ५ ॥ ६ ॥

अतिविरेचितके लक्षण ।

विट्पित्तश्लेष्मवातानामागतानां यथाक्रमम् ।
परं स्रवति यद्रक्तं मेदोमांसोदकोपमम् ॥ ७ ॥
निःश्लेष्मपित्तमुदकं शोणितं कृष्णमेव वा ।
तृष्यतो मारुतार्त्तस्य सोतियोगप्रसुह्यतः ॥ ८ ॥

पहले विष्ठा, पित्त, बलगम, वात यह यथाक्रम निकलकर फिर मेद और मांसके धोवनकी समान रक्त निकलनेलगे और कफपित्त रहित पानीका निकलना अथवा काले रंगका रुधिर गिरना और बेहोशी, प्यासकी अधिकता, वायुका कोप होना तथा मोह (बेहोशी) होना यह विरेचनके अतियोगके लक्षण हैं ॥ ७ ॥ ८ ॥

वमनातिकृते लिङ्गान्येतान्येव भवन्ति हि ।
ऊर्द्धगा वातरोगाश्च वाग्ग्रहश्चाधिकोपमः ॥ ९ ॥

वमनके अतियोग होनेसेभी यही लक्षण होते हैं परंतु ऊर्ध्वजत्रुगत वायुके रोग और वाणीका रुकना यह विरेचनके अतियोगसे वमनके अतियोगमें अधिक होते हैं ॥९॥

चिकित्साप्राभृतं तस्मादुपेयात् कारणं नरः ।
युञ्ज्याद्य एनमत्यन्तमायुषा च सुखेन च ॥ १० ॥

इसीलिये चिकित्साके जाननेवाले सुज्ञ वैद्यकी शरणमें ही मनुष्यको स्वेदन,वमन विरेचनादि लेने चाहिये. क्योंकि,योग्य वैद्य ही इसकी आयु और सुखकी रक्षा करता है१०

संशोधनीय रोग।

आविपाकोऽरुचिः स्थौल्यं पाण्डुता गौरवं क्लमः ।
पिडकाकोठकण्डूनां सम्भवोऽरतिरेव च ॥ ११ ॥
आलस्यश्रमदौर्बल्यं दौर्गन्ध्यमवसादकः ।
श्लेष्मपित्तसमुत्क्लेशो निद्रानाशोऽतिनिद्रता ॥ १२ ॥
तन्द्रा क्लैब्यमबुद्धित्वमशस्तस्वप्नदर्शनम् ।
बलवर्णप्रणाशश्च तृप्यतो बृंहणैरपि ॥ १३ ॥

बहुदोषस्य लिङ्गानि तस्मै संशोधनं हितम् ।
ऊर्ध्वं चैवानुलोमञ्च यथादोषं यथाबलम् ॥ १४ ॥

अन्नका परिपाक न होना, अरुचि, स्थूलता, पांडु, गुरुता, क्लम, फोडे, कोठ, जिल्दपर चकत्तेसे होना, खाज इन सबका अधिकतासे होना, आलस्य, दुर्बलता, श्रम, देहसे दुर्गंध आना, अंगोंका अवसाद, श्लेष्मा और पित्तकी अधिकता, दिल मचलाना, निद्राका नाश अथवा अतिनिद्रा, नपुंसकता, तन्द्रा, बुद्धिनाश, खराब स्वप्न दीखना, बल और वर्णका नाश होना यह लक्षण बृंहणद्वारा अत्यन्त संतर्पित होनेसे होते हैं और यही लक्षण जिसके शरीरमें बहुत दोष बढेहुए हों उसके भी होते हैं । ऐसे समय संशोधन करना परम हितकारक होता है । वह शोधन दोषादि विचार कर ऊर्ध्वशोधन या अधःशोधन अथवा वमन विरेचन द्वारा दोनों तर्फसे शोधन करना चाहिये ॥ ११-१४ ॥

संशोधनका फल।

एवं विशुद्धकोष्ठस्य कायाग्निरभिवर्द्धते ।
व्याधयश्चोपशाम्यन्ति प्रकृतिश्चानुवर्तते ॥ १५ ॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिर्वर्णश्चास्य प्रसीदति ।
बलं पुष्टिरपत्यं च वृषता चास्य जायते ॥ १६ ॥
जरां कृच्छ्रेण लभते चिरं जीवत्यनामयः ।
तस्मात्संशोधनं काले युक्तियुक्तं पिबेन्नरः ॥ १७ ॥

इस प्रकार शुद्ध कोष्ठवाले मनुष्यके जठराग्निकी वृद्धि होती है । सब रोग शांत होजाते हैं । सब स्वाभाविक गुण ठीक होजाते हैं । इंद्रियें, मन, बुद्धि, वर्ण यह प्रसन्न होती हैं । बल, पुष्टि, सन्तान, वृषता यह उत्पन्न होते हैं । बुढापा जल्दी नहीं आता, नीरोग रहकर बडी आयुवाला होता है । इसलिये युक्तियुक्त वमन विरेचनसे शरीरको उचित कालमें शुद्ध करना चाहिये ॥ १५-१७ ॥

संशोधनकी उत्कृष्टता।

दोषाः कदाचित्कुप्यन्ति जिता लंघनपाचनैः ।
जिताः संशोधनैर्ये तु न तेषां पुनरुद्भवः ॥ १८ ॥
दोषाणाञ्च द्रुमाणाञ्च मूलेऽनुपहते सति ।
रोगाणां प्रसवाणाञ्च गतानामागतिर्ध्रुवा ॥ १९ ॥

यदि लंघन और पाचनद्वारा दोष जीतेजांय तो वह कभी फिर भी कुपित होसकते हैं। परंतु संशोधनद्वारा जीतेहुए दोष फिर प्रगट नहीं होसकते। दोषोंको और वृक्षोंको यदि बिल्कुल जडसे न निकालदिया जाय तो उन दबेहुए दोषोंसे काल पाकर रोग और रहीहुई वृक्षकी जडसे फिर अंकुरादि पैदा होना अवश्यंभावी है इसलिये इनको जडसे निकालदेना ही अच्छा है ॥ १८ ॥ १९ ॥

औषधक्षीणके लिये पथ्य।

भेषजक्षपिते पथ्यमाहारैरेव बृंहणम्।
घृतमांसरसक्षीरहृद्ययूषोपसाधितैः ॥ २० ॥
अभ्यङ्गोत्सादनैः स्नानैर्निरूहैः सानुवासनैः।
तथा स लभते शर्म युज्यते चायुषा चिरम् ॥ २१ ॥

यदि वमन विरेचनकी औषधिके अधिक सेवनसे मनुष्य क्षीण होजाय तो उसको पथ्य आहारोंसे पुष्ट करना चाहिये। तथा घृत, मांसरस, दूध, हृद्य (हृदयको प्रिय) पदार्थ, यूषआदि देकर पुष्ट करे। और तैलकी मालिश,उबटना, स्नान, निरूहण और अनुवासनवस्ति करे ऐसा करनेसे उसका कल्याण होता है और आयु बढती है॥२०॥२१॥

वमन विरेचनातियोगमें चिकित्सा।

अतियोगानुबद्धानां सर्पिःपानं प्रशस्यते।
तैलं मधुकरैः सिद्धमथवाप्यनुवासनम् ॥ २२ ॥
यस्य त्वयोगस्तं सिद्धं पुनः संशोधयेन्नरम्।
मात्राकालबलापेक्षी स्मरन् पूर्वमतिक्रमम् ॥ २३ ॥

यदि वमन विरेचनका अतियोग होगया हो तो उसको योग्य औषधियोंसे सिद्ध किया हुआ घृत पिलावे। अथवा मधुक आदि गणसे सिद्ध किएहुए तैलकी मालिश करे अथवा ऐसे ही तेलसे अनुवासन क्रिया करे। जिस मनुष्यको वमन, विरेचनका अयोग हुआ हो उसको फिर स्नेहन, स्वेदन करके संशोधन करे। और मात्रा, समय, बल इनका ध्यान रखना चाहिये तथा प्रथम हुए वमन विरेचनके अतिक्रमको याद रक्खे ताकि फिर वैसा न हो ॥ २२ ॥ २३ ॥

स्नेहने स्वेदने शुद्धौ रोगाः संसर्जने च ये।
जायन्तेऽमार्गविहिते तेषां सिद्धिषु साधनम् ॥ २४ ॥

स्नेहन, स्वेदन, संशोधनआदि किसी क्रमके बिगडनेसे जो रोग होते हैं उनका यत्न सिद्धिस्थानमें कहाजायगा ॥ २४ ॥

जायन्ते हेतुवैषम्याद्विषमा देहधातवः।
हेतुसाम्यात्समास्तेषां स्वभावोपरमः सदा ॥ २५ ॥
प्रवृत्तिहेतुर्भावानां न निरोधेऽस्ति कारणम्।
केचित्त्वत्रापि मन्यन्ते हेतुं हेतोरवर्त्तनम् ॥ २६ ॥

हेतुओंकी विषमतासे शरीरके धातु भी विषम होजाते हैं। और हेतुकी समतासे सम होजाते हैं। अर्थात् जब भोजन आदि ऐसे सेवन किएजाएं जो विशेष धातुओंकी ही वृद्धि करें और सबकी युगपद् वृद्धि न करे तो धातुओंमें विषमता आजाएगी। परन्तु यदि ऐसा आहार विहार हो कि, सब धातु बनते रहे तो धातु सम रहेंगे। (अब यह प्रश्न होता है कि यदि धातु आहार विहारसे बनते हैं तो फिर वह लगातार बढ़तेही क्यों नहीं चले जाते? क्योंकि उनके नष्ट करनेके लिये कोई क्रिया नहीं की जाती। उसका उत्तर देते हैं " स्वभावोपरमः सदा ") सदा सब पदार्थोंका स्वभाव अकारण नष्ट होते चले जानेका है। भावोंकी प्रवृत्ति अर्थात् उत्पत्तिमें तो कारण होते हैं परन्तु उनके निरोध (नाश) में कोई कारण नहीं होता। (नाश स्वाभाविकतया स्वयं होता रहता है)। कोई तो उत्पत्ति हेतुके अभावको ही नाशका कारण मानते हैं ॥२५॥२६

अग्निवेशका प्रश्न।

एवमुक्तार्थमाचार्य्यमग्निवेशोऽभ्यभाषत।
स्वभावोपरमे कर्म चिकित्साप्राभृतस्य किम् ॥ २७ ॥
भेषजैर्विषमान्धातून् कान्समीकुरुते भिषक्।
का वा चिकित्सा भगवन् किमर्थं वा प्रयुज्यते ॥ २८ ॥

इस प्रकार कहेहुए आचार्यके वचनको सुने अग्निवेश कहनेलगे कि, हे भगवन्! उन रसादिक देहधारी धातुओंका स्वभाव ही जब स्वयं नष्ट होजाता है फिर चिकित्सामें नियुक्त वैद्यका क्या कार्य है? और किन २ विषम धातुओंको वैद्य औषधि द्वारा सम करता है और वह चिकित्सा क्या है तथा किस कार्यके लिये उस चिकित्साका प्रयोग कियाजाता है? ॥ २७ ॥ २८ ॥

पुनर्वसुका उत्तर।

तच्छिष्यवचनं श्रुत्वा व्याजहार पुनर्वसुः।
श्रूयतामत्र या सौम्य युक्तिर्दृष्टा महर्षिभिः ॥ २९ ॥
न नाशकारणाभावाद्भावानां नाशकारणम्।
ज्ञायते नित्यगस्येव कालस्यात्ययकारणम् ॥ ३० ॥

शीघ्रगत्वाद्यथा भूतस्तथा भावो विपद्यते।
निरोधकारणं तस्य नास्ति नैवान्यथा क्रिया ॥ ३१ ॥

शिष्यका ऐसा वचन सुनकर पुनर्वसु कहने लगे कि, हे सौम्य! ऋषियोंने यहां जो युक्ति दी है उसको सुन। जैसे कालके नाशका कारण केवल शीघ्रगामीत्व है और कुछ नहीं इसी कारण भावोंके नाशका कारण भी उनका स्वभाव ही है। भावोंके नाश कारणका ज्ञान इसी लिये नहीं होता कि, वह विद्यमान ही नहीं (कोई कारण हो तो ज्ञात हो) भावोंके विरोध (नाश) में कारण कुछ नहीं। न ही उस स्वाभाविक प्रत्यक्ष सिद्ध नाशमें कोई अन्य क्रिया कर सकता है ॥ २९-३१ ॥

याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां स्मृतम् ॥ ३२ ॥
कथं शरीरे धातूनां वैषम्यं न भवेदिति।
समानाञ्चानुबन्धः स्यादित्यर्थं कुरुते क्रियाः ॥ ३३ ॥

जिस क्रियाके करनेसे शरीरकी धातुएं साम्यावस्थामें प्राप्त होजायँ उस क्रियाको विकारोंकी चिकित्सा कहते हैं। और चिकित्सा करनेमें जो कर्म होता है वह वैद्योंका कर्म है। जिस प्रकार करनेसे शरीरकी धातुएं विषम न होने पावें और जो विषम हों वह साम्यावस्थामें आजाएँ तथा धातुओंकी समता बनी रहे इस कार्यके लिये चिकित्साका प्रयोग किया जाता है ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

त्यागाद्विषमहेतूनां समानाञ्चोपसेवनात्।
विषमा नानुबध्नन्ति जायन्ते धातवः समाः ॥ ३४ ॥

धातुओंको विषम करनेवाले जो हेतु हैं उनको त्यागनेसे और साम्यावस्थामें रखनेवाले हेतुओंके सेवनसे धातुओंमें विषमता नहीं आती और समता प्राप्त रहती है ३४

समैस्तु हेतुभिर्यस्माद्धातून् सञ्जनयेत्समान्।
चिकित्सा प्राभृतस्तस्माद्दाता देहसुखायुषाम् ॥ ३५ ॥
धर्मस्यार्थस्य कामस्य त्रिलोकस्याभयस्य च।
दाता सम्पद्यते वैद्यो दानाद्देहसुखायुषाम् ॥ ३६ ॥

क्योंकि सम हेतुओंसे धातुओंमें समता प्राप्त करता है इसीलिये चिकित्सासंपन्न वैद्य ही आयु और सुखका दाता मानना चाहिये। धर्म, अर्थ, काम और त्रिलोकीके सुखका कारण आरोग्यताको प्राप्त करनेवाला होनेसे वैद्यही देहसुख और आयुका दाता कहाजासकता है ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

अध्यायका संक्षिप्त वर्णन।

तत्र श्लोकाः–चिकित्साप्राभृतगुणो दोषो यश्चेतराश्रयः।
योगायोगातियोगानां लक्षणं शुद्धिसंश्रयम्॥ ३७॥
बहुदोषस्य लिङ्गानि संशोधनगुणाश्च ये।
चिकित्सासूत्रमात्रञ्च सिद्धिव्यापत्तिसंश्रयम्॥ ३८॥
या च युक्तिश्चिकित्सायां यं चार्थं कुरुते भिषक्।
चिकित्साप्राभृतेऽध्याये तत्सर्वमवदन्मुनिः॥ ३९॥

इति अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते कल्पनाचतुष्के
चिकित्साप्राभृतीयोनाम षोडशोऽध्यायः समाप्तः॥ १६॥

अध्यायपूर्तिमें यह श्लोक हैं कि, इस चिकित्साप्राभृत अध्यायमें चिकित्साप्राभृत वैद्यके गुण और मूर्ख वैद्यके दोषसंशोधन, योग, अयोग, अतियोग, इनके लक्षण, बहुत दोषके चिह्न और संशोधनके गुण, सिद्धि और व्यापत्तिके आश्रयीभूत चिकित्साका सूत्रमात्र, चिकित्साके सम्बन्धमें युक्ति, जिस कार्यके लिये वैद्य चिकित्सा करता है यह सर्व मुनिजीने वर्णन किया है॥ ३७–३९॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां पटियालाराज्यांतर्गतटकसालनिवासि वैद्यपंचानन
वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायकृतप्रसादन्याख्यभाषाटीकायां
चिकित्साप्राभृतीयो नाम षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

सप्तदशोऽध्यायः।

अथातः कियन्तःशिरसीयमध्यायं व्याख्यास्यामः
इति ह स्माह भगवानात्रेयः।

अब हम कियंतःशिरसीय अध्यायका कथन करते हैं। ऐसा आत्रेय भगवान् कहने लगे।

रोगोंपर अग्निवेशका प्रश्न।

कियन्तः शिरसि प्रोक्ता रोगा हृदि च देहिनाम्॥ १॥
कति चाप्यनिलादीनां रोगा मानविकल्पजाः।
क्षयाः कति समाख्याताः पिडकाः कति चानघ॥ २॥

गतिः कतिविधा चोक्ता दोषाणां दोषसूदन ।
हुताशवेशस्य वचस्तच्छ्रुत्वा गुरुरब्रवीत् ॥ ३ ॥

अग्निवेश पूछनेलगे-हे अनघ ! मनुष्योंके शिरमें कितने रोग होते हैं, हृदयमें कितने रोग होते हैं तथा वात, पित्त, कफके भेदसे और इनके विकल्प तथा अंशादिभेदोंसे रोग कितने प्रकारके होते हैं, क्षय कितने प्रकारके होते हैं, पिडिका कितने प्रकारकी हैं । हे दोषोंके दूरकरनेवाले गुरो ! दोषोंकी गति कितने प्रकारकी है । अग्निवेशके इस वचनको सुनकर गुरु कहनेलगे ॥ १-३ ॥

गुरुका उत्तर ।

पृष्टवानसि यत्सौम्य तन्मे शृणु सुविस्तरम् ।
दृष्टाः पञ्च शिरोरोगाः पञ्चैव हृदयामयाः ॥ ४ ॥
व्याधीनां द्व्यधिका षष्टिर्दोषमानविकल्पजा ।
दशाष्टौ च क्षयाः सप्त पिडका मधुमेहिकाः ॥ ५ ॥
दोषाणां त्रिविधा चोक्ता गतिर्विस्तरतः शृणु ॥ ६ ॥

हे सौम्य ! जो तुमने मुझसे पूछा है उसको विस्तारपूर्वक श्रवण करो । शिरमें होनेवाले रोग पांच प्रकारके देखनेमें आते हैं । हृदयके रोग भी पांच प्रकारके ही होते हैं । वातादि दोषोंकी अंशादिभेदकल्पनासे ६२ बासठ प्रकारके रोग होते हैं । क्षय १८ प्रकारके होते हैं । मधुमेहसे सात प्रकारकी पिडका होती हैं । दोषोंकी गति तीन प्रकारकी है । इन सबको अब विस्तारसे सुनो ॥ ४-६ ॥

शिरोरोगोंके कारण ।

सन्धारणाद्दिवास्वप्नाद्रात्रौ जागरणान्मदात् ।
उच्चैर्भाष्यादवश्यायात् प्राग्वातादतिमैथुनात् ।
गन्धादसात्म्यादाघ्राताद्रजोधूमहिमातपात् ॥ ७ ॥
गुर्वम्लहरितादानादतिशीताम्बुसेवनात् ।
शिरोऽभितापाद्दुष्टामाद्रोदनाद्बाष्पनिग्रहात् ॥ ८ ॥
मेघागमान्मनस्तापाद्देशकालविपर्य्ययात् ।
वातादयः प्रकुप्यन्ति शिरस्यस्रं प्रदुष्यति ॥ ९ ॥
ततः शिरसि जायन्ते रोगा विविधलक्षणाः ॥ १० ॥

मलमूत्रका वेग रोकनेसे, दिनमें सोनेसे, रात्रिमें जागनेसे, मदसे, बहुत ऊंचे भाषणसे, सरदीसे, पूर्वकी पवनसे, अतिमैथुनसे, असात्म्य गंध लेनेसे, रज, धूम, वायु,

धूप इनके सेवनसे, गुरु, अम्ल, शाक, सब्जी आदिके खानेसे, अत्यन्त शीतल जल पीनेसे, शिरमें चोट आदि लगनेसे, आमके दोषसे, रोनेसे, आंसुओंके रोकनेसे अथवा भाफके निग्रहसे, बादलोंके होनेसे, मनके संतापसे, देश और कालकी विकृतिसे ऐसे २ कारणोंसे वातादि दोष कुपित होकर शिरके रक्तको दूषित करदेते हैं तब शिरमें अनेक प्रकारके लक्षणोंवाले रोग उत्पन्न होते हैं ॥ ७-१० ॥

शिरका लक्षण ।

प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च ।
यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते ॥ ११ ॥

जिस जगह प्राणधारियोंके प्राण हैं और सब इन्द्रियें आश्रित हैं तथा जो सब अंगोंमें उत्तम अंग है उसको " शिर " कहते हैं ॥ ११ ॥

वातादिजन्य शिरोरोग ।

अर्द्धावभेदको वा स्यात्सर्वं वा रुज्यते शिरः ।
प्रतिश्यामुखनासाक्षिकर्णरोगाः शिरोभ्रमाः ।
अर्दितं शिरसः कम्पो गलमन्याहनुग्रहः ॥ १२ ॥
विविधाश्चापरे रोगा वातादिक्रिमिसम्भवाः ।
पृथग्दृष्टास्तु ये पञ्च संग्रहे परमर्षिणा ।
शिरोगदांस्तान् शृणु मे यथा स्वैर्हेतुलक्षणैः ॥ १३ ॥

आधे शिरमें पीडा होना वा संपूर्ण शिरमें पीडा होना, प्रतिश्याय, मुखरोग, नासा-रोग, अक्षिरोग, कर्णरोग, शिरका भ्रमण, लकवा, शिरःकंप, गलेका अकडजाना, मन्यास्तंभ, हनुस्तंभ तथा अन्य भी अनेक प्रकारके रोग वातादिभेदसे और कृमि-जन्य रोग शिरमें होते हैं । इनसे अलग जो पांच प्रकारके रोग महर्षियोंने संग्रहमें कहे हैं उन शिरके रोगोंको, जिन २ अपने कारणोंसे वह होते हैं और उनके लक्ष-णोंको सुनो ॥ १२ ॥ १३॥

वातज रोगोंके कारण ।

उच्चैर्भाष्यातिभाष्याभ्यां तीक्ष्णपानात् प्रजागरात् ।
शीतमारुतसंस्पर्शाद्व्यवायाद्वेगनिग्रहात् ।
उपवासाच्चाभिघाताद्विरेकाद्वमनादपि ॥ १४ ॥
बाष्पशोकपरित्रासाद्भारमार्गातिकर्षणात् ।
शिरोगताः शिरा वृद्धो वायुराविश्य कुप्यति ॥ १५ ॥

ततः शूलं महत्तस्य वातात्समुपजायते।
निस्तुद्येते भृशं शंखौ घाटा सम्भिद्यते तथा ॥ १६ ॥
भ्रुवोर्मध्यं ललाटं च पततीवातिवेदनम्।
बाध्येते स्वनतः श्रोत्रे निष्कृष्येत इवाक्षिणी ॥ १७ ॥
घूर्णतीव शिरः सर्वं सन्धिभ्य इव मुच्यते।
स्फुरत्यति शिराजालं तुद्यते च शिरोधरा ॥ १८ ॥

बहुत ऊंचे और अधिक बोलनेसे, तीक्ष्ण मद्यादि पीनेसे, रात्रिमें जागनेसे, शीत पवनके लगनेसे, अति कसरतसे, मलादिवेगोंको रोकनेसे, उपवास करनेसे, अभिघातसे, विरेचन और वमनजन्य विकारसे, रोनेसे, शोकसे, भयसे, त्राससे, बोझ उठानेसे, अति मार्ग चलनेसे, अत्यंत दुःखसे, मस्तकगत वायु शिरकी नसोंमें प्रवेश कर कुपित होजाता है तब उस वायुसे भारी शूल उत्पन्न होता है। और दोनों कनपटियोंमें पीडा होना, गरदनमें पीडा, भौवोंके मध्यमें पीडा, मस्तकका तपना और पीडायुक्त होना, कानोंमें शब्दसा होना, नेत्रोंमें खिंचावट, शिरका घूमना और शिरकी संधियोंका खुलसा जाना, शिरकी नसोंका फडकना, शिरके धारण करनेवाली नसोंमें पीडा होना यह लक्षण वातजन्य शिरोरोगमें होते हैं ॥ १४–१८ ॥

वातज शिरोरोगमें कर्त्तव्य।

स्निग्धोष्णमुपसेवेत शिरोरोगेऽनिलात्मके ॥ १९ ॥

वातजन्य शिरोरोगमें स्निग्ध और उष्णक्रियाका सेवन करे ॥ १९ ॥

पित्तज शिरोरोगोंके कारण।

कट्वम्ललवणक्षारमद्यक्रोधातपानलैः।
पित्तं शिरसि सन्दुष्टं शिरोरोगाय कल्पते ॥ २० ॥
दह्यते रुज्यते तेन शिरः शीतेन शूयते।
दह्येते चक्षुषी तृष्णा भ्रमः स्वेदश्च जायते ॥ २१ ॥

चर्परे, खट्टे, नमकीन और खारे पदार्थोंके सेवनसे, मद्य पीनेसे, क्रोधसे, धूप और अग्निके परितापसे, मस्तकका पित्त कुपित होकर मस्तकमें पित्तकी पीडा करता है। तब मस्तकमें दाहयुक्त तोद (पीडा) होता है वह तोद शीतल पदार्थोंके सेवनसे शान्त होता है। जब पित्तजन्य मस्तकपीडा होती है तो नेत्रोंमें दाह, प्यास, भ्रम, पसीना आना यह उपद्रव होते हैं ॥ २० ॥ २१ ॥

कफज शिरोरोगके लक्षण।

आस्यासुखैः स्वप्नसुखैर्गुरुस्निग्धातिभोजनैः।
श्लेष्मा शिरसि संदुष्टः शिरोरोगाय कल्पते ॥ २२ ॥
शिरो मन्दरुजं तेन सुप्तिस्तिमितभारिकम्।
भवत्युत्पद्यते तन्द्रा तथालस्यमरोचकः ॥ २३ ॥

बहुत बैठारहनेसे, बहुत सोनेसे, भारी और चिकने पदार्थोंके अधिक सेवनसे शिरमें रहनेवाला कफ दूषित होकर कफजन्य मस्तक पीडा करता है। उससे शिरमें मन्द २ पीडा होना, निद्रा आईहुईसी रहना, मस्तक गीलासा प्रतीत होना और बोझल होना, तंद्रा, आलस्य और अरुचिका होना यह लक्षण कफजन्य मस्तक पीडाके होते हैं ॥ २२ ॥ २३ ॥

त्रिदोषज शिरोरोगके लक्षण।

वाताच्छूलं भ्रमः कम्पः पित्ताद्दाहो मदस्तृषा।
कफाद्गुरुत्वं तन्द्रा च शिरोरोगे त्रिदोषजे ॥ २४ ॥

त्रिदोषसे उत्पन्न हुए शिरोरोगमें—वायुसे शूल और भ्रम, पित्तसे दाह, मद, तृषा कफसे भारीपन और तन्द्रा यह लक्षण होते हैं ॥ २४ ॥

कृमिज शिरोरोगका लक्षण।

तिलक्षीरगुडाजीर्णपूतिसंकीर्णभोजनात्।
क्लेदोऽसृक्कफमांसानां दोषश्चास्योपजायते ॥ २५ ॥
ततः शिरसि संक्लेदात्क्रिमयः पापकर्मणः।
जनयन्ति शिरोरोगं जाता बीभत्सलक्षणम् ॥ २६ ॥
व्यधच्छेदरुजाकण्डूशोफदौर्गन्ध्यदुःखितम्।
क्रिमिरोगातुरं विद्यात्क्रिमीणां लक्षणेन च ॥ २७ ॥

तिल, दूध, गुड, अजीर्णकर्ता पदार्थ, दुर्गंधित और बासी विरुद्ध भोजनके सेवनसे मस्तकके रक्त, कफ और मांसमें दोषयुक्त क्लेद (गीलापन) होजाता है। इस कुपथ्य पर चलनेवाले मनुष्यके शिरमें उस दूषित क्लेदसे कृमि उत्पन्न होजाते हैं, जो भयानक लक्षणोंवाले शिरोरोग उत्पन्न करते हैं तब शिरमें वेधने और छेदनेकी सी पीडा, खाज, सूजन, दुर्गंधसे दुःखित होना, कृमियोंके अन्य लक्षण होना यह कृमिजन्य मस्तकपीडामें होते हैं ॥ २५–२७ ॥

वातजन्य हृदयरोग।

शोकोपवासव्यायामशुष्करूक्षाल्पभोजनैः।
वायुराविश्य हृदयं जनयत्युत्तमां रुजम्॥ २८॥
वेपथुर्वेष्टनं स्तम्भः प्रमोहः शून्यता द्रवः।
हृदि वातातुरे रूपं जीर्णे चात्यर्थवेदना॥ २९॥

शोक, उपवास और व्यायाम, शुष्क, रूक्ष और अल्प भोजनके करनेसे वायु हृदयमें प्रवेश कर अत्यंत पीडाको पैदा करता है। तब हृत्कंप, लपेटनेकीसी पीडा, स्तंभ, मोह, शून्यता, हौलदिली यह वातके हृदयरोगमें होते हैं और अन्न जीर्ण होनेपर विशेषतासे पीडा होती है॥ २८॥ २९॥

पित्तज हृदयरोग।

उष्णाम्ललवणक्षारकटुकाजीर्णभोजनैः।
मद्यक्रोधातपश्चाशु हृदि पित्तं प्रकुप्यति॥ ३०॥
हृद्दाहस्तिक्तता वक्त्रे क्लमः पित्ताम्लकोद्गरः।
तृष्णा मूर्च्छा भ्रमः स्वेदः पित्तहृद्रोगलक्षणम्॥ ३१॥

गरम, खट्टे, नमकीन, खारे, चरपरे और अजीर्णकर्ता पदार्थोंके खानेसे, मद्य पीनेसे, क्रोधसे, धूपके लगनेसे, हृदयमें पित्त कुपित होता है। तब हृदयमें दाह होता है, मुखमें कडुवापन, खट्टी, कडुई डकारोंका आना, बेचैनी, तृषा, मूर्च्छा, भ्रम, दाह यह लक्षण पित्तसे उत्पन्न हुए हृद्रोगमें होते हैं॥ ३०॥ ३१॥

कफज हृद्रोगके लक्षण।

अत्यादानं गुरुस्निग्धमचिन्तनमचेष्टनम्।
निद्रासुखं चाप्यधिकं कफहृद्रोगलक्षणम्॥ ३२॥
हृदयं कफहृद्रोगे सुप्तं स्तिमितभारिकम्।
तन्द्रारुचिपरीतस्य भवत्यश्मावतं यथा॥ ३३॥

अत्यंत भोजनसे, भारी और चिकने पदार्थोंके खानेसे, बेफिकरी और आलस्यसे, अधिक सोनेसे, कफजन्य हृद्रोग उत्पन्न होता है। कफके हृद्रोगमें हृदय सोयाहुआसा, गीला और भारी प्रतीत होता है। तथा तन्द्रा, अरुचि और हृदयका पत्थरोंसे दबा हुआसा प्रतीत होना यह लक्षण कफजन्य हृद्रोगमें होते हैं॥ ३२॥ ३३॥

सान्निपातिक हृद्रोग वर्णन।

हेतुलक्षणसंसर्गादुच्यते सान्निपातिकः।
त्रिदोषजे तु हृद्रोगे यो दुरात्मा निषेवते।

तिलक्षारगुडादीनि ग्रन्थिस्तस्योपजायते ॥ ३४ ॥
मर्मैकदेशे संक्लेदं रसश्चास्योपगच्छति ।
संक्लेदात्क्रिमयश्चास्य भवन्त्युपहतात्मनः ॥ ३५ ॥
मर्मैकदेशे ते जाताः सर्पन्तो भक्षयन्ति च ।
तुद्यमानं स्वहृदयं सूचीभिरिव मन्यते ॥ ३६ ॥
छिद्यमानं यथा शस्त्रैर्जातकण्डूं महारुजम् ।
हृद्रोगं क्रिमिजं त्वेतैर्लिङ्गैर्बुद्ध्वा सुदारुणम् ।
त्वरेत जेतुं तं विद्वान्विकारं शीघ्रकारिणम् ॥ ३७ ॥

तीनों दोषोंके हेतुओंसे त्रिदोषके हृद्रोग होता है । जो अजितात्मा मनुष्य त्रिदोषके हृद्रोगमें तिल, दूध, गुड आदि पदार्थोंको खाता है उसके हृदयमें ग्रंथि उत्पन्न होजाती है । तब मर्मके किसी एक स्थानमें रस संक्लेदित होजाता है, उत्क्लेदसे कृमि होजाते हैं वह किसी एक स्थानमें पैदाहुए कृमि इधर उधर घूमते और खाते फिरते हैं। उस समय इस मनुष्यको अपने हृदयमें सूई चुभनेकीसी पीडा प्रतीत होती है । और जैसे शस्त्रसे कोई काटताहो ऐसा प्रतीत होता है । खुजली और भारी शूल भी कृमिजन्य हृद्रोगके लक्षण हैं । ऐसे घोर लक्षणोंवाले हृद्रोगको जीतनेका बुद्धिमान् वैद्य शीघ्र उपाय करे क्योंकि यह रोग मनुष्यको शीघ्र मार डालता है ॥ ३४–३७ ॥

सन्निपातके १३ भेद ।

द्युल्बणैकोल्बणैः षट् स्युर्हीनमध्याधिकैश्च षट् ।
समैश्चैके विकारास्ते सान्निपाते त्रयोदश ॥ ३८ ॥

दो दो दोषोंकी प्रबलतासे ३ एक एक दोषकी प्रबलतासे ३ मिलकर छः हुए जैसे वातपित्तोल्बण, वातकफोल्बण, कफपित्तोल्बण, वातोल्बण, पित्तोल्बण कफोल्बण, यह ६ हुए ऐसे ही वात पित्त कफ इनके हीन मध्य अधिकके भेदोंसे छः हुए और एक तीनोंकी समतासे, ऐसे सब मिलकर सान्निपात १३ प्रकारके हुए ॥ ३८ ॥

दोषोंकी वृद्धिसे २५ भेद ।

संसर्गेण च षट् तेभ्य एकवृद्ध्या समैस्त्रयः ।
पृथक् त्रयश्च तैर्वृद्धैर्व्याधयः पञ्चविंशतिः ॥ ३९ ॥

एक दोषकी वृद्धिसे छः भेद और दोनोंकी समतासे तीन भेद इस प्रकार द्विदोषज व्याधि ९ प्रकारकी होती है । और अलग २ एक एक दोषके बढनेसे एकदोषज

रोग तीन प्रकारके हैं। इस प्रकार दोषोंकी वृद्धि आदिके भेदसे २५ प्रकारकी व्याधियां होती हैं ॥ ३९ ॥

दोषोंकी क्षीणतासे २५ भेद।

यथा वृद्धैस्तथा क्षीणैर्दोषैः स्युः पञ्चविंशतिः ।
वृद्धिक्षयकृतश्चान्यो विकल्प उपदेक्ष्यते ॥ ४० ॥

दोषोंकी वृद्धिके अनुसार दोषोंकी क्षीणतासे भी २५ प्रकारकी व्याधियां होती हैं। ऐसे ही दोषोंकी वृद्धि और क्षीणताके विकलपसे व्याधियें होती हैं ॥ ४० ॥

वृद्धिरेकस्य समता चैकैकस्य च संक्षयः ।
द्वन्द्ववृद्धिः क्षयश्चैकस्यैकवृद्धिर्द्वयोः क्षयः ॥ ४१ ॥

एक दोषकी वृद्धि, दूसरेकी समता तीसरेका क्षय इस प्रकार ६ भेद हुए दोनोंकी वृद्धि एकका क्षय और एककी वृद्धि दोनोंका क्षय इस प्रकारसे छः भेद होसकते हैं उनको ही आगे कहते हैं ॥ ४१ ॥

दोषोंकी क्षय वृद्धिका क्रम व लक्षण।

प्रकृतिस्थं यदा पित्तं मारुतः श्लेष्मणः क्षये ।
स्थानादादाय गात्रेषु यत्र यत्र विसर्पति ॥ ४२ ॥
तदा भेदश्च दाहश्च तत्र तत्रानवस्थिताः ।
गात्रदेशे भवेत्तस्य श्रमो दौर्बल्यमेव च ॥ ४३ ॥

जब कफक्षय होजाता है तो प्रकृतिस्थ पित्तको उसके स्थानसे लेकर वायु इधर उधर शरीरके अंगोंमें भ्रमण करता है। वह वायु इधर उधर फिरताहुआ जिस २ अंगमें घूमता है उसी२स्थानमें भेदनकीसी पीडा,दाह, भ्रम और दुर्बलताको करताहै४२॥४३॥

साम्ये स्थितं कफं वायुः क्षीणे पित्ते यदा बली ।
कर्षेत्कुर्य्यात्तदा शूलं सशैत्यस्तम्भगौरवम् ॥ ४४ ॥

जब पित्त क्षीण होजाता है तो प्रकृतिस्थ कफको बलवान् वायु जिस २ स्थानमें लेजाता है उस २ अंगमें शूल, शीतता, स्तंभ और भारीपनको करता है ॥ ४४ ॥

यदानिलं प्रकृतिगं पित्तं कफपरिक्षये ।
संरुणद्धि तदा दाहः शूलं चास्योपजायते ॥ ४५ ॥

कफके क्षय होनेसे प्रकृतिस्थ वायुके सूक्ष्म मार्गोंको जब पित्त रोकदेता है तो इस मनुष्यके शरीरमें दाह और शूल होते हैं ॥ ४५ ॥

श्लेष्माणं हि समं पित्तं यदा वातपरिक्षये ।
निपीडयेत्तदा कुर्यात्स तन्द्रां गौरवं ज्वरम् ॥ ४६ ॥

वायुके क्षय होनेपर प्रकृतिस्थ कफकी गतिको जब रोकदेता है तब तन्द्रा, भारीपन और ज्वर इनको उत्पन्न करता है ॥ ४६ ॥

प्रवृद्धो हि यदा श्लेष्मा पित्ते क्षीणे समीरणम् ।
रुन्ध्यात्तदा प्रकुर्वीत शीतकं गौरवं ज्वरम् ॥ ४७ ॥

पित्तकी क्षीणतामें प्रकृतिस्थ वायुको जब बढ़ा हुवा कफ रोकदेता है तब शीत लगना गौरव और ज्वर यह होते हैं ॥ ४७ ॥

समीरणे परिक्षीणे कफः पित्तं समत्वगम् ।
कुर्वीत सन्निरुन्धानो मृद्वग्नित्वं शिरोग्रहम् ॥ ४८ ॥
निद्रां तन्द्रां प्रलापञ्च हृद्रोगं गात्रगौरवम् ।
नखादीनाञ्च पीतत्वं ष्ठीवनं कफपित्तयोः ॥ ४९ ॥

वायुके क्षय होनेपर यदि प्रकृतिस्थ पित्तको कफ रोकदेवे तो मंदाग्नि, शिरमें पीडा, निद्रा, तन्द्रा, बकवाद, हृद्रोग, गौरव, नख नेत्र मूत्रमें पीलापन कफ और पित्तका मुखसे थूकना यह लक्षण होते हैं ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

हीनवातस्य तु कफः पित्तेन सहितश्चरन् ।
करोत्यरोचकापाकौ सदनं गौरवं तथा ॥ ५० ॥
हृल्लासमास्यस्रवणं दूयनं पाण्डुतां मदम् ।
विरेकस्य हि वैषम्यं वैषम्यमनलस्य च ॥ ५१ ॥

जिस मनुष्यके शरीरमें वायुकी क्षीणता हो उसके शरीरमें कफ पित्तसे मिलकर विचरती हुई अरुचि, अपाक, देहका रहजाना, गुरुता, हृल्लास, मुखस्राव, पांडु, वेदना, मद, मलकी विषमता और जठराग्निकी विषमताको करती है ॥ ५०॥ ५१ ॥

क्षीणपित्तस्य तु श्लेष्मा मारुतेनोपसंहितः ।
स्तम्भं शैत्यं च तोदञ्च जनयत्यनवस्थितम् ॥ ५२ ॥
गौरवं मृदुतामग्नेर्भक्ताश्रद्धां प्रवेपनम् ।
नखादीनाञ्च शुक्लत्वं गात्रपारुष्यमेव च ॥ ५३ ॥

पित्तके क्षय होनेपर कफ-वायुसे मिलकर विचरताहुआ स्तंभ, शीतता, तोद, गुरुता, मंदाग्नि, अन्नसे द्वेष, कंप, नखादिकोंमें श्वेतता तथा देहमें कठोरता करताहै ५२-५३

हीने कफे मारुतस्तु पित्तं तु कुपितं द्वयम् ।
करोति यानि लिङ्गानि शृणु तानि समासतः ॥ ५४ ॥
भ्रमसुद्वेष्टनं तोदं दाहं स्फोटनवेपने ।
अङ्गमर्दं परीशोषं हृदये धूपनं तथा ॥ ५५ ॥

कफके क्षय होनेपर वायु और पित्तके मिलकर जो चिह्न होते हैं उनको भी संक्षेपसे सुनो । वह यह हैं—भ्रम, उद्वेष्टन, तोद, दाह, हड्डियोंका स्फोटन, कंपन, अंगमर्द, देहका शोष, हृदयमें धूवांसा उठना ॥ ५४ ॥ ५५ ॥

वातपित्तक्षये श्लेष्मा स्रोतांस्यभिदधद्भृशम् ।
चेष्टाप्रणाशं मूर्च्छाञ्च वाक्सङ्गञ्च करोति हि ॥ ५६ ॥

वात पित्तके क्षय होनेपर कफ स्रोतोंको अच्छीतरहसे रोककर चेष्टाका नाश, मूर्च्छा और वाणीका अवरोध करता है ॥ ५६ ॥

श्लेष्मवातक्षये पित्तं देहौजः स्रंसयेद्यदा ।
ग्लानिमिन्द्रियदौर्बल्यं तृष्णां मूर्च्छां क्रियाक्षयम् ॥ ५७ ॥

वात और कफके क्षय होने पर पित्त देहके ओजको बिगाडकर ग्लानि, इंद्रियोंकी दुर्बलता. तृषा, मूर्छा और देहकी क्रियाका नाश करता है ॥ ५७ ॥

पित्तश्लेष्मक्षये वायुर्मर्माण्यतिनिपीडयन् ।
प्रणाशयति संज्ञां च वेपयत्यथवा नरम् ॥ ५८ ॥

जब पित्त और कफ क्षीण होजाते हैं तो वायु मर्मस्थानोंको पीडित करता हुआ संज्ञाका नाश करता है अथवा कंप पैदा करता है ॥ ५८ ॥

दोषाः प्रवृद्धाः स्वं लिङ्गं दर्शयन्ति यथाबलम् ।
क्षीणा जहति लिङ्गं स्वं समाः स्वं कर्म कुर्वते ॥ ५९ ॥

जब दोष बढ जाते हैं तो अपने २ लक्षणोंको दिखाते हैं । ऐसे ही क्षीण हुए दोष अपने चिह्नोंको त्यागदेते हैं । और साम्यावस्थामें स्थितहुए दोष अपने योग्य कार्य करते हैं ॥ ५९ ॥

वातादीनां रसादीनां मलानामोजसस्तथा ।
क्षयस्तत्रानिलादीनामुक्तं संक्षीणलक्षणम् ॥ ६० ॥

वातादि तीन दोष, रसादि सात धातु, मलसमूह और ओज इन सबका क्षय होता है । इनमें वातादि तीन दोषोंके क्षयके लक्षण कहे जाचुके हैं (अब रसादिकोंके कहे हैं) ॥ ६० ॥

रसक्षयके लक्षण।

घट्टते सहते शब्दं नोच्चैर्द्रवति शूयते ।
हृदयं ताम्यति स्वल्पचेष्टस्यापि रसक्षये ॥ ६१ ॥
परुषा स्फुटिता म्लाना त्वग्रूक्षा रक्तसंक्षये ।
मांसक्षये विशेषेण स्फिग्ग्रीवोदरशुष्कता ॥ ६२ ॥

रसके क्षय होनेसे हडबडी, ऊंचा शब्द न सहाजाना, खडे होनेकी ताकत न रहना, हौल होना, हृदयका धक २ करना, अल्प परिश्रम करनेसे भी मनकी व्याकुलता, नेत्रोंके आगे अन्धकार सा आजाना यह लक्षण होते हैं॥ रक्तके क्षय होनेसे त्वचा कठोर फटीसी और रूखी होजाती है। मांसके क्षय होनेसे स्फिच, गर्दन और उदर यह विशेषतासे सूख जाते हैं ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

मेदक्षीणके लक्षण।

सन्धीनां स्फुटनं ग्लानिरक्ष्णोरायास एव च ।
लक्षणं मेदसि क्षीणे तनुत्वं चोदरत्वचः ॥ ६३ ॥

मेदके क्षय होनेसे—सन्धियोंका स्फोटन, ग्लानि, नेत्रोंका निकलसा पडना, थकावट और उदर तथा त्वचाका कृश होना यह लक्षण होते हैं ॥ ६३ ॥

अस्थिक्षयके लक्षण।

केशलोमनखश्मश्रुद्विजप्रपतनं श्रमः ।
ज्ञेयमस्थिक्षये रूपं सन्धिशैथिल्यमेव च ॥ ६४ ॥

अस्थियोंमें क्षीणता होनेसे केश, लोम, नख, डाढी मूछ और दांतोंका गिरना और श्रम तथा सन्धियोंमें शिथिलता यह लक्षण होते हैं ॥ ६४ ॥

मज्जाक्षीणके लक्षण।

शीर्य्यन्त इव चास्थीनि दुर्बलानि लघूनि च ।
प्रततं वातरोगी च क्षीणे मज्जनि देहिनाम् ॥ ६५ ॥

मज्जाके क्षय होनेसे हड्डियोंका गिरपडना सा प्रतीत होना और दुर्बल तथा हलकी होजाना और सदैव शरीरमें वातव्याधिका रहना यह लक्षण होते हैं ॥ ६५ ॥

क्षीणशुक्रके लक्षण।

दौर्बल्यं मुखशोषश्च पाण्डुत्वं सदनं क्लमः ।
क्लैब्यं शुक्राविसर्गश्च क्षीणशुक्रस्य लक्षणम् ॥ ६६ ॥

वीर्यके क्षय होनेसे दुर्बलता, मुखका सूखना, शरीरका पीला पडजाना, अंगोंका रहजाना, क्लम, नपुंसकता और वीर्यका न आना यह लक्षण होते हैं ॥ ६६ ॥

विष्ठाक्षयके लक्षण ।

क्षीणे शकृति चान्त्राणि पीडयन्निव मारुतः ।
रूक्षस्योन्नमयन्कुक्षिं तिर्य्यगूर्द्ध्वञ्च गच्छति ॥ ६७ ॥

मलके क्षय होनेसे वायु आतोंको पीडन करता है ऐसा प्रतीत होता है। और इसी कारण उस रूक्ष मनुष्यके शरीरमें वायु कूखको नमाता हुवा तिरछा और ऊपरको गमन करता है ॥ ६७ ॥

मूत्रक्षीणका लक्षण ।

मूत्रक्षये मूत्रकृच्छ्रं मूत्रवैवर्ण्यमेव च ।
पिपासा बाधते चास्य मुखञ्च परिशुष्यति ॥ ६८ ॥

मूत्रके क्षय होनेसे-मूत्रकृच्छ्र, मूत्रकी विवर्णता, प्यास, मुखशोष यह लक्षण होते हैं६८

मलक्षीणके लक्षण ।

मलायनानि चान्यानि शून्यानि च लघूनि च।
विशुष्काणि च लक्ष्यन्ते यथास्वं मलसंक्षये ॥ ६९ ॥

अन्य २ मलमार्गोंके मलहीन होनेसे वह मार्ग शून्यतायुक्त तथा हलके और सूखेसे प्रतीत होते हैं ॥ ६९ ॥

क्षीण ओजका लक्षण ।

बिभेति दुर्बलोऽभीक्ष्णं ध्यायति व्यथितेन्द्रियः ।
दुश्छायो दुर्मना रूक्षः क्षामश्चैवौजसः क्षये ॥ ७० ॥

ओजके क्षय होनेसे मनुष्य भयभीत, दुर्बल, निरंतर चिंतायुक्त, विकलेन्द्रिय, कान्तिरहित, रूक्ष और कृश होजाता है ॥ ७० ॥

ओजलक्षण ।

हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीषत्सपीतकम् ।
ओजः शरीरे संख्यातं तन्नाशान्ना विनश्यति ॥ ७१ ॥

जो शुद्ध रक्त किंचित् पीतता लिये हृदयमें रहता है शरीरमें उसको ओज कहते हैं, उस ओजके नाश होनेसे मनुष्य भी नाशको प्राप्त होता है ॥ ७१ ॥

क्षयके कारण ।

व्यायामोऽनशनं चिन्ता रूक्षाल्पप्रमिताशनम् ।
वातातपौ भयं शोको रूक्षपानं प्रजागरः ॥ ७२ ॥
कफशोणितशुक्राणां मलानां चातिवर्त्तनम् ।
कालो भूतोपघातश्च ज्ञातव्याः क्षयहेतवः ॥ ७३ ॥

अतिव्यायाम, भूखे रहना, चिंता, रूक्ष और थोडा भोजन करना, वायु और धूपका सहना, भय, शोक, रूक्ष वस्तुओंका सेवन, बहुत जागना, कफ और रक्त तथा वीर्यका अत्यंत निकलना, या निकालना, खाँसी और भूतबाधा यह सब क्षय होनेके कारण हैं ॥ ७२ ॥ ७३ ॥

मधुमेहके कारण।

गुरुस्निग्धाम्ललवणं भजतामतिमात्रशः ।
नवमन्नं च पानं च निद्रामास्यासुखानि च ॥ ७४ ॥
त्यक्तव्यायामचिन्तानां संशोधनमकुर्वताम् ।
श्लेष्मा पित्तञ्च मेदश्च मांसं चातिप्रवर्द्धते ॥ ७५ ॥
तैरावृतः प्रसादं हि गृहीत्वा याति मारुतः ।
यदा बस्तिं तदा कृच्छ्रो मधुमेहः प्रवर्त्तते ॥ ७६ ॥

भारी, चिकने, खट्टे और नमकीन पदार्थोंके अधिक सेवनसे, नवीन अन्नके खानेसे, बहुत जल अथवा मद्यके पीनेसे, बहुत सोनेसे, बहुत सुखपूर्वक बैठे रहनेसे, कसरतके न करनेसे, बेफिकर रहनेसे, संशोधन कर्म करनेसे, कफ, पित्त, मेद और मांस बहुत बढजाते हैं। फिर वायु उनसे आवृत हो ओज (सब धातुओंके परम प्रसाद) लेकर जब वस्तिस्थानमें प्राप्त होता है तब दुःसाध्य मधुमेह उत्पन्न होजाता है७४-७६

स मारुतस्य पित्तस्य कफस्य च मुहुर्मुहुः ।
दर्शयत्याकृतिं कृत्वा क्षयमाप्याय्यते पुनः ॥ ७७ ॥

वह मधुमेह पहले वात पित्त और कफके लक्षणोंको वारंवार दिखाता है फिर क्षयको उत्पन्न करदेता है ॥ ७७ ॥

प्रमेहपिडिकाओंका वर्णन।

उपेक्षयास्य जायन्ते पिडकाः सप्त दारुणाः ।
मांसलेष्ववकाशेषु मर्म्मस्वपि च सन्धिषु ॥ ७८ ॥
शराविका कच्छपिका जालिनी सर्षपी तथा ।
अलजी विनताख्या च विद्रधी चेति सप्तमी ॥ ७९ ॥

मधुमेहकी उपेक्षासे सात प्रकारकी दारुण पिडका मांसवाले स्थानोंमें, मर्मस्थानमें, संधिस्थानमें उत्पन्न होती हैं। उनके-शराविका, कच्छपिका, जालिनी, सर्षपी, अलजी, विनता, विद्रधि यह सात नाम हैं ॥ ७८ ॥ ७९ ॥

शराविका लक्षण ।

अन्तोन्नता मध्यनिम्ना श्यावा क्लेदरुजान्विता ।
शराविका स्यात्पिडका शरावाकृतिसंस्थिता ॥ ८० ॥

जो पिडका ऊंचे किनारोंवाली हो मध्यमेंसे नीची हो, स्राव क्लेद और पीडायुक्त हो तथा शराव मट्टीका प्यालाके आकारकी हो उसको शराविका कहते हैं ॥ ८० ॥

कच्छपिका लक्षण ।

अवगाढार्त्तिनिस्तोदा महावास्तुपरिग्रहा ।
श्लक्ष्णा कच्छपपृष्ठाभा पिडका कच्छपी मता ॥ ८१ ॥

जिसमें कडापन हो, भेदनकी सी पीडा होतीहो, गंभीर हो, जो अनेक स्थानोंमें व्यापक हो, जिसका ऊपरका भाग चिकना और कछुवेकी पीठके समान हो उसको कच्छपिका कहते हैं ॥ ८१ ॥

जालिनी लक्षण ।

स्तब्धा शिराजालवती स्निग्धस्रावा महाशया ।
रुजानिस्तोदबहुला सूक्ष्मच्छिद्रा च जालिनी ॥ ८२ ॥

जो पिडका चौडीसी हो,उसपर नसोंका जालसा दिखाई देताहो, उसमेंसे चिकना २ स्राव होताहो, अधिक दूर तक व्याप्त हो जिसमें अत्यंत पीडा हो, भेदनकी सी पीडा हो, छोटे २ बहुतसे छिद्र हों उसको जालिनी कहते हैं ॥ ८२ ॥

सर्षपिकाका लक्षण ।

पिडका नातिमहती क्षिप्रपाका महारुजा ।
सर्षपी सर्षपाभाभिः पिडकाभिश्चिता भवेत् ॥ ८३ ॥

जो पिडका बडी न हो और शीघ्र पकजावे, उसमें पीडा बहुत हो, सरसोंके समान पिडकाओंसे युक्त हो उसको सर्षपिका कहते हैं ॥ ८३ ॥

अलजी लक्षण ।

दहति त्वचमुत्थाने तृष्णामोहज्वरप्रदा ।
विसर्पत्यनिशं दुःखाद्दहत्यग्निरिवालजी ॥ ८४ ॥

जो उत्पन्न होते ही त्वचामें दाह करे प्यास, मोह और ज्वर करे, निरंतर फैलती रहे, दुखती रहे अग्निके समान दाह करे उसको अलजी कहते हैं ॥ ८४ ॥

विनता लक्षण ।

अवगाढरुजा क्लेदा पृष्ठे वाप्युदरेपि वा ।
महती विनता नीला पिडका विनता मता ॥ ८५ ॥

जिस पिडकामें करडापन हो, पीडा अधिक हो, क्लेद अधिक हो, पीठ अथवा पेट पर प्रगट हुई हो, जो बडी हो, दबानेमें नरम हो, नीले रंगकी हो उसको विनता कहते हैं ॥ ८५ ॥

विद्रधिके लक्षण, भेद कारण आदि।

विद्रधिं द्विविधामाहुर्बाह्यामाभ्यन्तरीं तथा।
बाह्या त्वक्स्नायुमांसोत्था कण्डराभा महारुजा ॥ ८६ ॥
शीतकान्नविदाह्युष्णरूक्षशुष्कातिभोजनात्।
विरुद्धाजीर्णसंक्लिष्टविषमासात्म्यभोजनात्।
व्यापन्नबहुमद्यत्वाद्वेगसन्धारणाच्छ्रमात् ॥ ८७ ॥
जिह्मव्यायामशयनादतिभाराध्वमैथुनात्।
अन्तःशरीरे मांसासृगाविशन्ति यदा मलाः ॥ ८८ ॥
तदा सञ्जायते ग्रन्थिर्गम्भीरस्थः सुदारुणः।
हृदये क्लोम्नि यकृति प्लीह्नि कुक्षौ च वृक्कयोः ॥ ८९ ॥
नाभ्यां वंक्षणयोर्वापि वस्तौ वा तीव्रवेदनः।
दुष्टरक्तातिमात्रत्वात्स वै शीघ्रं विदह्यते ॥ ९० ॥
ततः शीघ्रविदाहित्वाद्विद्रधीत्यभिधीयते ॥ ९१ ॥

विद्रधी दो प्रकारकी होती है एक बाहरी दूसरी भीतरी। बाह्य विद्रधि-त्वचा, स्नायु और मांसमें प्रगट होती है यह देखनेमें मोटी नसके समान होती है और इसमें पीडा अधिक होती है ॥ शीतल अन्न, विदाही, रूक्ष, सूखे पदार्थोंके खानेसे, अत्यंत भोजन करनेसे, विरुद्ध भोजन, अजीर्णकर्ता पदार्थ, सडे वासे पदार्थ, विषम भोजन, असात्म्य भोजन तथा दूषित भोजनके सेवनसे, अधिक मद्य पीनेसे, वेगोंको रोकनेसे, श्रमसे, शरीरको विषमतासे रखनेसे, व्यायामकी अधिकतासे, अतिसोनेसे, भार उठानेसे, अतिमार्ग चलने और अति मैथुनसे दूषित मल जब शरीरके भीतर मांस और रक्तमें प्रवेश करते हैं तो शरीरके गंभीर और दारुण ग्रन्थिको पैदा करदेते हैं। वह ग्रन्थि (गांठ)-हृदय, क्लोम, यकृत्, प्लीहा, कुक्षि, दोनों वृक्क, नाभी, वंक्षण अथवा वस्तिमें तीव्र वेदनायुक्त होती है। वह गांठ दुष्टरुधिरकी अधिकताके कारण दाहपूर्वक शीघ्र पाकको प्राप्त होती है। इसलिये वही विदाही होनेसे विद्रधि कहीजाती है ॥८६-९१॥

व्यधच्छेदभ्रमानाहशब्दस्फुरणसर्पणैः।
वातिकीं पैत्तिकीं तृष्णादाहमोहमदज्वरैः।

जृम्भोत्क्लेशारुचिस्तम्भशीतकैः श्लैष्मिकीं विदुः ॥ ९२ ॥
सर्वास्वासु महच्छूलं विद्रधीषूपजायते ॥
तप्तैः शस्त्रैर्यथा मथ्येतोल्मुकैरिव दह्यते।
विद्रधी व्यम्लतां याता वृश्चिकैरिव दश्यते ॥ ९३ ॥

वेधने और छेदनेकी सी पीडा, भ्रम, अफारा, शब्द, फडकना, सरसराहट यह लक्षण वातकी विद्रधिमें होते हैं। प्यास, दाह, मोह, मद तथा ज्वर यह पित्तकी विद्रधिमें होते हैं। जंभाई, उत्क्लेश (वमनको जी चाहना), अरुचि, स्तंभ इनका होना तथा विद्रधिका शीतल होना यह कफकी विद्रधिमें होते हैं। इन सब प्रकारकी विद्रधियोंमें अत्यन्त पीडा होती है। जैसे तपेहुए शस्त्रसे मथाजाय अथवा अंगारसे दहन कियाजाय ऐसा प्रतीत होता है। जब विद्रधि परिपाकको प्राप्त होती है तो विच्छूके काटनेकी सी पीड़ा होती है ॥ ९२ ॥ ९३ ॥

तनुरूक्षारुणं स्रावं फेनिलं वातविद्रधी।
तिलमाषकुलत्थोदसन्निभं पित्तविद्रधी ॥ ९४ ॥
श्लैष्मिकी स्रवति श्वेतं बहुलं पिच्छिलं बहु।
लक्षणं सर्वमेवैतद्भजते सान्निपातिकी ॥ ९५ ॥

वातकी विद्रधिमें अल्प, रूखा, लाल, झागदार स्राव होता है। पित्तकी विद्रधिमें तिल, उडद अथवा कुलथीके क्काथकी समान स्राव होता है। कफकी विद्रधिमें-श्वेत, पिच्छिल बहुत और गाढा स्राव होता है। सन्निपातकी विद्रधिमें तीनों दोषोंके लक्षण होते हैं ॥ ९४ ॥ ९५ ॥

स्थानभेदसे विद्रधि लक्षण।

अथासां विद्रधीनां साध्यासाध्यविशेषज्ञानार्थं स्थानकृतं लिङ्गविशेषमुपदेक्ष्यामः। तत्र प्रधानमर्मजायां विद्रध्यां हृद्घट्टनतमकप्रमोहकासाः। क्लोमजायां पिपासामुखशोषगलग्रहाः। यकृज्जायां श्वासः। प्लीहजायामुच्छ्वासोपरोधः। कुक्षिजायां कुक्षिपार्श्वान्तरांसशूलम्। वृक्कजायां पार्श्वपृष्ठकटिग्रहः। नाभिजायां हिक्का। वंक्षणजायां सक्थिसादः। वस्तिजायां कृच्छ्रमूत्रपूतिवर्चस्त्वं चेति ॥ ९६ ॥

अब हम इन विद्रधियोंके साध्यासाध्य विशेष ज्ञानके लिये स्थानभेदसे लक्षणोंको कहते हैं। इनमें प्रधान मर्म (हृदय) में विद्रधि हो तो हृदयका घबडाना, तमकश्वास, बेहोशी, खांसी यह उपद्रव होते हैं। क्लोमस्थानमें विद्रधि हो तो-प्यास लगना,

मुखका सूखना, गलेका रुकना यह लक्षण होते हैं। यकृतमें विद्रधि हो तो श्वास होता है। प्लीहामें विद्रधि होनेसे श्वास रुक जाता है। कुक्षिमें विद्रधि हो तो कूख, पसवाडा और पृष्ठवंश तथा इनके भीतरी अंशमें पीडा होती है। वृक्क स्थानमें विद्रधि होनेसे पसवाडा, पीठ और कमरमें पीडा होती है। नाभिमें होनेसे हिचकी होती है। वंक्षणस्थानमें होनेसे हड्डियोंमें पीडा और टांगोंका रहजाना यह लक्षण होते हैं। वस्तिस्थानमें विद्रधि होनेसे मूत्रकृच्छ्र और मलमूत्रका राधकीसी दुर्गन्ध-युक्त आना यह लक्षण होते हैं॥ ९६॥

पक्वासभिन्नासूर्ध्वजासु मुखात्स्रावः स्रवति। अधोजासु गुदात्।
उभयतस्तु नाभिजायाम्॥ ९७॥

नाभिसे ऊपरके स्थानोंमें हुई अन्तर्विद्रधि जब पककर फूटती है तो मुखद्वारा स्राव निकलता है। नाभिसे नीचेके भागोंमें अन्तर्विद्रधि पककर फूटे तो गुदाद्वारा स्राव होता है। नाभिमें हुई अंतर्विद्रधि फूटे तो मुख और गुदा दोनों द्वारा स्राव होताहै९७॥

तासां हृन्नाभिवस्तिजाः परिपक्वाः सान्निपातिकी च मरणाय। अव-
शिष्टाः पुनः कुशलमाशुप्रतिकारिणं चिकित्सकमासाद्योपशाम्यन्ति।
तस्मादचिरोत्थितां विद्रधीं शस्त्रसर्पविद्युदग्नितुल्यां स्नेहस्वेदविरेचनै-
श्चोपक्रामेत्। सर्वशो गुल्मवच्चेति॥ ९८॥

इन सब स्थानोंकी विद्रधियोंमें हृदय, नाभि और वस्तिस्थानकी विद्रधि तथा सान्निपातकी विद्रधि मनुष्यकी मृत्युको करनेवाली होती है और अन्य विद्रधियां शीघ्र यत्न करनेवाले कुशल वैद्यसे शीघ्र यत्न करानेसे शांत होसकता है। इसलिये शस्त्र, साँप, विद्युत, अग्निके समान प्राण हरनेवाली विद्रधिका, विद्रधि होते ही स्नेहन, स्वेदन, विरेचन द्वारा शीघ्र यत्न करे। संपूर्ण अंतर्विद्रधियोंमें गुल्मरोगके समान चिकित्सा करे॥ ९८॥

प्रमेहके विना भी इन पीडिकाओंकी उत्पत्ति।

भवंति चात्र—विना प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदसः।
तावच्चैता न लक्ष्यन्ते यावद्वस्तुपरिग्रहः॥ ९९॥

और यहां यह भी कहा जाता है कि, प्रमेहके विना भी मेदके दूषित होनेसे यह विद्रधियें उत्पन्न होजाती हैं। जब तक यह विद्राधियां जड नहीं बांधलेती अर्थात् अपना जमाव नहीं करलेतीं तब तक पहिचानी नहीं जासकतीं॥ ९९॥

शराविका कच्छपिका जालिनी चेति दुःसहा।
जायन्ते ता ह्यतिबलाः प्रभूतश्लेष्ममेदसाम्॥ १००॥

शराविका, कच्छपिका और जालिनी यह तीन प्रकारकी पिडका अतिदुःसह होती हैं और कफप्रकृति तथा मेदस्वी शरीरमें यह पिडका अतिबलपूर्वक होती हैं ॥ १०० ॥

सर्षपी चालजी चैव विनता विद्रधी च याः ।
साध्याः पित्तोल्वणास्ता हि सम्भवन्त्यल्पमेदसाम् ॥ १०१ ॥
मर्मस्वंसे गुदे पाल्योः स्तने सन्धिषु पादयोः ।
जायन्ते यस्य पिडकाः स प्रमेही न जीवति ॥ १०२ ॥

सर्षपी, अलजी और विनता तथा बाह्य विद्रधि यह पिडका पित्तप्रधान होती हैं और साध्य हैं तथा अल्पमेदवाले शरीरमें होती हैं । जिस प्रमेहपीडित मनुष्यके मर्मस्थान, कंधा, गुदा, पाली, स्तन, सांधि और पैरोंमें पिडका होजावे उसकी अवश्य मृत्यु होती है ॥ १०१ ॥ १०२ ॥

तथान्याः पिडकाः सन्ति रक्तपीतासितारुणाः ।
पाण्डुराः पाण्डुवर्णाश्च भस्माभा मेचकप्रभाः ॥ १०३ ॥
मृद्व्यश्च कठिनाश्चान्याः स्थूलाः सूक्ष्मास्तथापराः ।
मन्दवेगा महावेगाः स्वल्पशूला महारुजाः ॥ १०४ ॥

इनके सिवाय अन्य पिडका (फोडे) भी अनेक प्रकारकी होती हैं । वह पिडका पीली, लाल, सफेद, किंचित् लाल, भूरी, पाण्डु रंगकी, भस्मके रंगकी, मेचकके रंगकी, कोई नरम, कोई कठोर, कोई छोटी, कोई बडी, कोई मन्दवेगवाली, कोई शीघ्र वेगवाली, कोई अल्प पीडावाली, कोई महापीडावाली होती हैं ॥ १०३ ॥ १०४ ॥

ता बुध्वा मारुतादीनां यथास्वैर्हेतुलक्षणैः ।
ब्रूयादुपाचरेच्चाशु प्रागुपद्रवदर्शनात् ॥ १०५ ॥

उन पिडकाओंको वातादिकोंके हेतु लक्षणोंद्वारा जानकर वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज जो हो सो कहे । और उत्पन्न होते ही उपद्रव बढनेसे पहले यत्न करे १०५

पिडिकाओंके उपद्रव ।

तृट्श्वासमांससंकोथमोहहिक्कामदज्वराः ।
वीसर्पमन्दसंरोधाः पिडकानामुपद्रवाः ॥ १०६ ॥

प्यास, श्वास, मांसका पचना, मोह, हिचकी, मद, ज्वर, विसर्प, हृदयका रुकासा होना यह पिडकाओंके उपद्रव होते हैं ॥ १०६ ॥

दोषोंकी त्रिविध गति ।

क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः ।
ऊर्ध्वञ्चाधश्च तिर्यक्च विज्ञेया त्रिविधापरा ॥ १०७ ॥

त्रिविधा चापरा कोष्ठशाखामर्मास्थिसन्धिषु ।
इत्युक्ता विधिभेदेन दोषाणां त्रिविधा गतिः ॥ १०८ ॥

क्षीण होजाना. साम्यावस्थामें रहना और बढजाना, दोषों (वातपित्तकफ) की यह तीन प्रकारकी गति होती हैं । ऐसे ही ऊर्ध्वगमन, अधोगमन, तिर्यक् गमन, एक यह गति है । इनसे सिवाय कोष्ठगति, शाखा (रक्तादि) गति और मर्म, अस्थि, सन्धिमें गति यह अन्य तीन प्रकारकी गति हैं । इस प्रकार वातादि दोषोंकी विधिभेदसे तीन प्रकारकी तीन गतियां हैं ॥ १०७ ॥ १०८ ॥

दोषोंका चयकोपोपशम ।

चयप्रकोपप्रशमाः पित्तादीनां यथाक्रमम् ।
भवन्त्येकैकशः षट्सु कालेष्वभ्रागमादिषु ॥ १०९ ॥

वर्षा आदि छः ऋतुओंमें क्रमपूर्वक पित्त. कफ और वात इनमें एक एकके संचय प्रकोप और उपशम होते हैं। अर्थात् वर्षामें पित्तका संचय, शरदमें कोप, हेमंतमें शमन, शिशिरमें कफका संचय, वसन्तमें कोप, ग्रीष्ममें शांति. एवं ग्रीष्ममें वायुका संचय, वर्षामें कोप और शरदमें उपशम होता है ॥ १०९ ॥

गतिः कालकृता चैषा चयाद्या पुनरुच्यते ।
गतिश्च द्विविधा दृष्टा प्राकृता वैकृता च या ॥ ११० ॥

यह चय आदि गति अर्थात् दोषोंका संचय, प्रकोप. उपशम यह त्रिविध गति कालकृत कही जाती है । वह कालकृत गति भी प्राकृत और वैकृत भेदसे दो प्रकारकी है ॥ ११० ॥

पित्तादृच्छ्मोष्मणः पक्तिर्नराणामुपजायते ।
तच्च पित्तं प्रकुपितं विकारान्कुरुते बहून् ॥ १११ ॥

प्राकृत अर्थात् प्रकृतिस्थ पित्तकी गर्मीसे मनुष्योंके अन्नका यथोचित परिपाक होता है और विकारको प्राप्तहुआ पित्त अनेक रोगोंको उत्पन्न करता है ॥ १११ ॥

प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते ।
स चैवौजः स्मृतः काये स च पाप्मोपदिश्यते ॥ ११२ ॥

प्रकृतिस्थ अर्थात् ठीक स्वभावमें स्थित हुआ कफ शरीरमें बल और ओज कहा जाता है । और वही कफ विकृत होनेसे मल (दोष) और पाप कहाजाता है ॥ ११२॥

सर्वा हि चेष्टा वातेन स प्राणः प्राणिनां स्मृतः ।
तेनैव रोगा जायन्ते तेन चैवोपरुध्यते ॥ ११३ ॥

प्रकृतिस्थ वायुसे ही शरीरियोंके शरीरकी सब प्रकारकी चेष्टा होती हैं और यह वायु ही प्राणियोंका प्राण कहाजाता है। यदि यह वायु विकृत होजाय तो इसीसे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं और यही प्राणोंका अवरोध करता है ॥ ११३ ॥

नित्यं सन्निहितामित्रं समीक्ष्यात्मानमात्मवान्।
नित्यं युक्तः परिचरेद्विच्छिन्नायुरनित्वरम् ॥ ११४ ॥

क्योंकि रोगरूपी शत्रु सदैव मनुष्योंके निकट रहते हैं इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य उचितानुचितको देखताहुआ आयुकी रक्षामें नित्य यत्नवान् रहे ॥ ११४ ॥

अध्यायका संक्षिप्त वर्णन।

तत्र श्लोकौ—शिरोरोगाः सहृद्रोगा रोगा मानविकल्पजाः।
क्षयाः सपिडकाश्चोक्ता दोषाणां गतिरेव च ॥ ११५ ॥
कियन्तःशिरसीयेऽस्मिन्नध्याये तत्त्वदर्शिना।
ज्ञानार्थं भिषजाञ्चैव प्रजानाञ्च हितैषिणा ॥ ११६ ॥

इति रोगचतुष्के कियन्तःशिरसीयोनाम
सप्तदशोऽध्यायः समाप्तः ॥ १७ ॥

यहां अध्यायकी समाप्तिमें श्लोक हैं कि, इस 'कियन्तःशिरसीय' अध्यायमें शिरोरोग, हृद्रोग, रोगोंका मानभेद, क्षयोंके प्रकार, पिडकाओंके भेद, दोषोंकी गति यह सब वैद्यलोगोंके ज्ञानके लिये और प्रजाके हितके लिये भगवान् आत्रेयजीने वर्णन किया ॥ ११५ ॥ ११६ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां पटियालाराज्यान्तर्गतटकसालनिवासिवैद्यपञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्यभाषाटीकायां कियन्तःशिरसीयो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः।

अथातस्त्रिशोफीयमध्यायं व्याख्यास्यामः
इति ह स्माह भगवानात्रेयः।

अव हम त्रिशोफीय अध्यायकी व्याख्या करते हैं ऐसा भगवान् आत्रेयजी कहनेलगे।

सूजनोंके भेद तथा वातादिजन्य लक्षण।

त्रयः शोथा भवन्ति। वातपित्तश्लेष्मनिमित्ताः। ते पुनर्द्विविधाः। निजागन्तुभेदेन ॥

शोथ (सूजन) तीन प्रकारका होता है । एक वातका, दूसरा पित्तका, तीसरा कफका । वह भी फिर दो प्रकारका होता है एक निज, दूसरा आगंतुक ॥

आगंतुज शोथके हेतु लक्षण ।

तत्रागन्तवः। छेदनभेदनक्षणनभञ्जनपिच्छनोत्पेषणप्रहारवधबन्धनवेष्टनव्यधनपीडनादिभिर्वा । भल्लातकपुष्पफलरसात्मगुप्ताशूककिमिशूकाहितपत्रलतागुल्मसंस्पर्शनैर्वा स्वेदनपरिसर्पणावमूत्रणैर्वा विषिणाम् । सविषाविषप्राणिदंष्ट्रादन्तविषाणनखनिपातैर्वा । सगरविषवातहिमदहनसंस्पर्शनैर्वा शोथाः समुपजायन्ते ॥ १ ॥

उनमें आगंतुक शोथ–छेदन, भेदन, क्षणन (घसीट लगना), भंजन, पिच्छन (दबना), उत्पेषण, प्रहार, वध, बंधन, वेष्टन, व्यधन और पीडन आदिसे उत्पन्न होता है । अथवा भिलावेके फूल, फल, रस, कौंचकी फली, शूकविशेष, कृमियोंसे वा अन्य विषैले पत्र, लता, गुल्म, आदिके स्पर्श, स्वेद, परिसर्पण, वा मूत्र आदिसे अथवा विषवाले वा विना विषवाले प्राणियोंके दांत, सींग, नख, आदि लगनेसे अथवा गर, विष, पवन, हिम और अग्निके लगनेसे जो शोथ (सूजन) होताहै उसको आगंतुक शोथ कहतेहैं ॥ १ ॥

ते यथास्वं हेतुजैर्व्यञ्जनैरादावुपलभ्यन्ते । निजव्यञ्जनैकदेशविपरीतैः। व्रणबन्धमन्त्रागदप्रलेपप्रवातनिर्वापणादिभिश्चोपक्रमैरुपक्रम्यमाणाः प्रशान्तिमापद्यन्ते ॥ २ ॥

वह आगंतुक शोथ अपने (छेदन भेदनादि) कारण और लक्षणोंसे तथा निज अर्थात् वात, पित्त, कफ जनित शोथके लक्षणोंसे किसी भागमें विपरीत होनेसे (क्योंकि पीडा शोथ आदिमें तो निज और आगंतुज दोनोंमें साम्य होता है केवल एक देशमें ही भेद होताहै) पहले ही जाने जाते हैं । व्रणबंधन, मंत्र, अगद, प्रलेप, सेक और निर्वापण आदि चिकित्सा द्वारा आगंतुज शोथ शांत होजाताहै ॥ २ ॥

निजशोथ लक्षण ।

निजास्तु पुनः स्नेहस्वेदनवमनविरेचनास्थापनानुवासनशिरोविरेचनानामयथावत्प्रयोगान्मिथ्यासंसर्जनाद्वा । छर्द्यलसकविसूचिकाश्वासकासातीसारशोषपाण्डुरोगज्वरोदरप्रदरभगन्दरार्शोविकारातिकर्षणैर्वा । कुष्ठकण्डूपिडकादिभिर्वा छर्दिक्षवथूद्गारशुक्रवातमूत्रपुरीषवेगधारणैर्वा कर्मरोगोपवासकर्षितस्य वा । सहसातिगुर्वम्ललवणपिष्टा-

म्लफलशाकरागदधिहरीतकमद्यमन्दकविरूढयावशूकशमीधान्यानूपौदकपिशितोपयोगान्मृत्पंकलोष्ट्रभक्षणाल्लवणातिभक्षणाद्वा गर्भसम्पीडनादामगर्भप्रपतनात्प्रजातानाञ्च मिथ्योपचारादुदीर्णदोषत्वाच्छोथाः प्रादुर्भवन्ति । इत्युक्तः सामान्यो हेतुः ॥ ३ ॥

निज शोथ, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन और शिरोविरेचनके अनुचित प्रयोगसे अथवा इनमें कुपथ्यादि होनेसे उत्पन्न होताहै । ऐसे ही वमन, अलसक, विसूचिका, श्वास, खांसी, अतिसार, शोष, पांडु, उदररोग, प्रदर, भगंदर, अर्श, इनके कारणसे क्षीणहुए पुरुषोंके भी शोथ उत्पन्न होजाताहै । एवं कुष्ठ, खाज, पिडका आदिसे अथवा वमन, छींक, डकार, शुक्र, अधोवात, मल और मूत्रके वेगके धारणसे और वमनादि पंचकर्म, रोग, तथा उपवाससे कृश हुए मनुष्यके भी शोथ उत्पन्न होजाताहै । और एकाएकी बहुत भारी, खट्टे, नमकीन, पिष्टपदार्थ, फल, शाक, राग, दही, हरित, मद्य, मंदक, अंकुर आयेहुए धान्य, शूकधान्य, शमीधान्य, अनूपसंचारी और जलचारी जीवोंके बहुत मांस खानेसे, मट्टी, कीच और रोडके खानेसे, अधिक नमक खानेसे, गर्भके पीडन या पात होनेसे अथवा प्रसूतकालमें मिथ्या उपचार होनेसे और उखडे हुए दोषोंको रोक लेनेसे शोथ उत्पन्न होताहै । यह शोथके सामान्य कारण कहेगयेहैं ॥ ३ ॥

वातजशोथ ।

अयं त्वत्र विशेषः । शीतरूक्षलघुविशदश्रमोपवासातिकर्षणक्षेपणादिभिर्वायुः प्रकुपितः त्वङ्मांसशोणितादीन्यभिभूय शोथञ्जनयति । स क्षिप्रोत्थापनप्रशमो भवति । श्यावारुणवर्णः प्रकृतिवर्णो वा चलः स्पन्दनः खरपरुषभिन्नत्वग्लोमा छिद्यत इव भिद्यत इव पीड्यत इव सूचीभिरिव तुद्यते पिपीलिकाभिरिव संसृप्यते सर्षपकल्कालिप्त इव चिमिचिमायते संकुच्यते आयम्यते इति वातशोथः ॥ ४ ॥

शोथके विशेष कारण यह हैं कि शीतल, रूक्ष, हलके और विशद पदार्थके अधिक सेवनसे, परिश्रम और उपवासके कारण कृश होनेसे और आक्षेपण आदिसे वायु कुपित होकर त्वचा, मांस, रक्तादिकमें प्राप्त हो शोथको उत्पन्न करदेता है । वह वातजन्य शोथ शीघ्र प्रगट और शीघ्र ही शांत होजाता है । वह काला, लाल तथा रूक्षवर्ण होता है, इधर उधर चलनेवाला होता है और फडकता है । इसमें त्वचा, लोम, कडे खरदरे तथा फटेसे होते हैं और छेदने, भेदने, पीडन करने तथा सुई चुभोनेके समान पीडा होती है । इस शोथमें कीडियोंके चलनेके समान प्रतीत होता है

और सर्षप पीसकर लेपकरनेसे जैसी चरचराहट लगती है यह शोथ कभी कम होजाती है कभी फैलजाती है। यह सब लक्षण वातके सूजनके हैं ॥ ३ ॥

पित्तजशोथ।

उष्णतीक्ष्णकटुकक्षारलवणाम्लाकीर्णभोजनैरग्न्यातपप्रतापैश्च । पित्तं प्रकुपितं त्वङ्मांसशोणितान्यभिभूय शोथञ्जनयति । स क्षिप्रोत्थान-प्रशमो भवति । कृष्णपीतनीलताम्रकावभास उष्णो मृदुः कपिलताम्र-लोमा उष्यते दूयते धूप्यते ऊष्मायते स्विद्यते क्लिद्यते । नच स्पर्शमुष्णं वा सुघृयते । इति पित्तशोथः ॥ ४ ॥

उष्ण, तीक्ष्ण, कटु, क्षार, नमकीन और अजीर्णकारक पदार्थोंके खानेसे, अग्नि, धूप आर सन्तापके सहनेसे पित्त कुपित होकर त्वचा, मांस, रक्त आदिको बिगाडकर सूजन प्रगट करता है। यह शीघ्र ही उत्पन्न होजाता और शांत होजाता है। और यह काले, पीले, नीले और तामेके वर्णका होता है। तथा स्पर्शमें उष्ण और नम्र होता है। लोम भूरे और ताम्रवर्णके प्रतीत होते हैं। इसमें दाह और पीडा अधिक होती है, धूआंसा उठता है अग्निके समान गर्म मालूम हो, पसीना आवे, क्लेद निकले। गरम वस्तु छूही न जाय। यह पित्तशोथके लक्षण हैं ॥ ४॥

कफजशोथ।

गुरुमधुरशीतस्निग्धैरतिस्वप्नव्यायामादिभिश्च श्लेष्मा प्रकुपितः त्वङ्-मांसशोणितादीन्यभिभूय शोथञ्जनयति । स कृच्छ्रोत्थानप्रशमो भवति । पाण्डुः श्वेतावभासः स्निग्धः श्लक्ष्णः गुरुः स्थिरः स्त्यानः शुक्लाग्ररोमा स्पर्शोष्णसहश्चेति श्लेष्मशोथः ॥ ५ ॥

भारी, मीठे, शीतल, चिकने पदार्थोंके सेवनसे, अधिक सोनेसे, परिश्रम न करनेसे कफ कुपित होकर त्वचा, मांस, रुधिर आदिकोंमें प्रवेश कर शोथको उत्पन्न करता है। वह शोथ देरमें प्रगट होता है और देरमें ही शांत होता है। और पांडु या सफेद वर्णका होता है तथा चिकना, गाढा, भारी, कठोर, गीला सा होता है, लोमोंका अग्रभाग सफेद सा होजाता है और इस शोथ पर गरम स्पर्श प्रिय मालूम होता है। यह कफके सूजनके लक्षण हैं ॥ ५ ॥

द्विदोषजादिभेद।

यथास्वकारणाकृतिसंसर्गाद्विदोषजास्त्रयः शोथाः भवन्ति । तथा स्वकारणाकृतिसन्निपातात्सान्निपातिक एकः । एवं सप्तविधो भेदः।

प्रकृतिभिस्ताभिर्भिद्यमानो द्विविधस्त्रिविधश्चतुर्विधः सप्तविधश्च शोथ उपलभ्यते। पुनश्चैक एवोत्सेधसामान्यादिति ॥ ६ ॥

दो दो दोषोंके कारण और लक्षणोंके सम्बन्धसे वातपित्तज, वातकफज, पित्तकफज इन भेदोंसे तीन प्रकारका सूजन होता है। ऐसे ही तीनों दोषोंके कारण और लक्षण मिलनेसे सन्निपातका १ सूजन होता है। इस प्रकार निज सूजनके सात भेद हुए। प्रथम स्वभावभेदसे निज और आंगतुज सूजन दो प्रकारका है। फिर वात, पित्त, कफ इन भेदोंसे तीन प्रकारका होता है। और वातपित्तज, वातकफज, पित्तकफज, सन्निपातज इन भेदोंसे चार प्रकारका हुआ, वातादिकोंके भेदोंसे सन्निपातपर्यंत सात प्रकारका हुआ। सामान्य शोथधर्मसे देखाजाय तो शोथ एक ही प्रकारका है ॥ ६ ॥

वातजशोथके लक्षण।

भवति चात्र-शूयन्ते यस्य गात्राणि स्वपन्तीव रुजन्ति च।
निपीडितान्युन्नमन्ति वातशोथं तमादिशेत् ॥ ७ ॥
यश्चाप्यरुणवर्णाभः शोथो नक्तं प्रणश्यति।
स्नेहोष्णमर्दनाभ्याञ्च प्रणश्येत्स च वातिकः ॥ ८ ॥

जिस सूजनके अंग सोएहुएसे प्रतीत हों और पीडा होती हो तथा अंगुलीसे दवाने पर दवजाय और अंगुली उठानेसे फिर ऊपर उठआवे उसको वातका सूजन जानना। और जो शोथ लाल वर्णका हो, रात्रिमें कुछ शांत होजाय तथा स्नेहन करनेसे और गरम वस्तुओंके लेप या मर्दनसे शांत होजाय वह वायुका सूजन जानना ॥ ७ ॥ ८ ॥

पित्तजशोथ लक्षण।

यः पिपासाज्वरार्तस्य दूयतेऽथ विदह्यते।
स्विद्यते क्लिद्यते गन्धी स पित्तश्वयथुः स्मृतः ॥ ९ ॥
यः पीतनेत्रवक्त्रत्वक् पूर्वं मध्यात्प्रसूयते।
तनुत्वक् चातिसारी च पित्तशोथः स उच्यते ॥ १० ॥

जिस शोथमें-- प्यास, ज्वर, पीडा, दाह हों और पसीना आता हो तथा क्लेद, दुर्गन्ध आते हों वह पित्तका सूजन कहा है। और जिसमें रोगीके मुख, नेत्र, त्वचा पीले होगयेहों, पहले शरीरके मध्यभागसे उत्पन्न हो, शोथके ऊपर त्वचा पतली सी प्रतीत हो और रोगीको दस्त आतेहों तो वह पित्तकी सूजन कही जाती है॥९॥१०॥

कफजशोथ लक्षण।

यः शीतलः सक्तगतिः कण्डूमान्पाण्डुरेव च।
निपीडितो नोन्नमति श्वयथुः स कफात्मकः ॥ ११ ॥
यस्य शस्त्रकुशच्छेदाच्छोणितं न प्रवर्त्तते।
कृच्छ्रेण पिच्छान्स्रवति स चापि कफसम्भवः ॥ १२ ॥

जो शोथ स्पर्शमें शीतल हो, स्थिर रहे, खुजलीयुक्त हो, पांडुवर्णका हो, दबानेसे न दबे वह सूजन कफात्मक होता है। जिस सूजनमें कुशा, शस्त्र आदिसे छेदन करनेपर भी रक्त न निकले और कठिनतासे थोडा २ गाढा स्राव हो उस सूजनको कफसे उत्पन्नहुआ जानना ॥ ११ ॥ १२ ॥

निदानाकृतिसंसर्गाच्छ्वयथुः स्याद्विदोषजः।
सर्वाकृतिः सन्निपाताच्छोथो व्यामिश्रहेतुजः ॥ १३ ॥

दो दोषोंके निदान और लक्षण मिलनेसे द्विदोषज शोथ जानना। जिसमें तीनों दोषोंके हेतु, लक्षण मिलते हों वह सन्निपातका सूजन जानना ॥ १३ ॥

यस्तु पादाभिनिर्वृत्तः शोथः सर्वाङ्गगो भवेत्।
जन्तोः स च सुकष्टः स्यात्प्रसृतः स्त्रीमुखाच्च यः ॥ १४ ॥

जो सोज पुरुषके पावोंसे उत्पन्न होकर सब अंगोंमें व्यापक होजाय और स्त्रीके मुखसे उठकर सब अंगोंमें प्राप्त होजाय वह सूजन कष्टसाध्य होता है ॥ १४ ॥

यश्चापि गुह्यप्रभवः स्त्रियो वा पुरुषस्य वा।
स च कष्टतमो ज्ञेयो यस्य च स्युरुपद्रवाः ॥ १५ ॥

जो शोथ स्त्रीके अथवा पुरुषके गुह्यस्थानमें प्रगट हुआ हो वह कष्टसाध्य होता है तथा जिस शोथमें उपद्रव हों वह शोथ कष्टसाध्य होता है ॥ १५ ॥

छर्दिः श्वासोऽरुचिस्तृष्णा ज्वरोऽतीसार एव च।
सप्तकोऽयं सदौर्बल्यः शोथोपद्रवसंग्रहः ॥ १६ ॥

छर्दि, श्वास, अरुचि, प्यास, ज्वर, अतिसार, दुर्बलता यह सात शोथरोगके उपद्रव होते हैं ॥ १६ ॥

उपजिह्विकाका कारण।

यस्य श्लेष्मा प्रकुपितो जिह्वामूलेऽवतिष्ठते।
आशु संजनयेच्छोथं जायतेऽस्योपजिह्विका ॥ १७ ॥

जिस मनुष्यके कफ कुपित होकर जीभकी जडमें स्थिर होजाता है उसके उपजिह्विका नामका सूजन प्रगट करता है ॥ १७ ॥

गलशुंडिकाका कारण।

यस्य श्लेष्मा प्रकुपितः काकले व्यवतिष्ठते।
आशु सञ्जनयञ्छोथं करोति गलशुण्डिकाम् ॥ १८ ॥

जिसके कफ कुपित होकर काकलकी जडमें शीघ्रही सूजन प्रगट करे उस सूजनको गलशुंडिका कहते हैं ॥ १८ ॥

गलगंड लक्षण।

यस्य श्लेष्मा प्रकुपितास्तिष्ठत्यन्तर्गले स्थितः।
आशु सञ्जनयञ्छोथं गलगण्डोऽस्य जायते ॥ १९ ॥

जिसके कफ कुपित होकर गलेकी नसोंमें प्रवेश कर बाहरको शीघ्रही सूजन प्रगट करे उस गलेके बाहरी शोथको गलगंड कहते हैं ॥ १९ ॥

गलग्रह लक्षण।

यस्य श्लेष्मा प्रकुपितो गलबाह्येऽवतिष्ठते।
शनैः सञ्जनयञ्छोथं जायतेऽस्य गलग्रहः ॥ २० ॥

जिसके कफ कुपित हो गलेके भीतर शनैः शनैः शोथको प्रगट करे उस शोथको गलग्रह कहते हैं ॥ २० ॥

विसर्पका कारण।

यस्य पित्तं प्रकुपितं सरक्तं त्वचि सर्पति।
शोथं सरागं जनयन्विसर्पस्तस्य जायते ॥ २१ ॥

जिसके पित्त कुपित होकर रुधिरके साथ मिलकर त्वचामें विचरता हुआ लाल रंगका शोथ प्रगट करे उस शोथको विसर्प कहतेहैं ॥ २१ ॥

पिडका लक्षण।

यस्य पित्तं प्रकुपितं त्वचि रक्तेऽवतिष्ठते।
रागं सशोथञ्जनयन् पिडका तस्य जायते ॥ २२ ॥

जिसके पित्त कुपित होकर त्वचाके रक्तमें स्थित होकर लाल रंगकी फुनसी सी प्रगट करे उस सूजनको पिडका कहतेहैं ॥ २२ ॥

तिल झांई नीलिका लक्षण।

यस्य पित्तं प्रकुपितं शोणितं प्राप्य शुष्यात।
तिलका पिप्लवो व्यङ्गो नीलिका चास्य जायते ॥ २३ ॥

कुपितहुआ पित्त जिसके रक्तमें प्रवेश करके सूखजाय उसके शरीरमें तिल, झाईं लहसन, नीलिका आदि क्षुद्ररोगोंको प्रगट करताहै ॥ २३ ॥

शंखकके लक्षण।

यस्य पित्तं प्रकुपितं शंखयोरवतिष्ठते।
श्वयथुः शंखको नाम दारुणस्तस्य जायते ॥ २४ ॥

जिसके कुपित हुआ पित्त शंखें, (शिरकी हड्डियों) में प्राप्त हो शोथ करे उस शोथको 'शंखक' नामक दारुणशोथ कहतेहैं ॥ २४ ॥

कर्णमूलका कारण।

यस्य पित्तं प्रकुपितं कर्णमूलेऽवतिष्ठते।
ज्वरान्ते दुर्जयोऽन्ताय शोथस्तस्योपजायते ॥ २५ ॥

जिसके पित्त कुपित होकर कानकी जडमें शोथ प्रगट करे तो यह कर्णमूल शोथ दुर्जय होता है। यदि यह शोथ ज्वरके अंतमें प्रकट होय तो मनुष्यका भी अंत कर-देताहै ॥ २५ ॥

प्लीहाका कारण।

वातः प्लीहानमुद्धूय कुपितो यस्य तिष्ठति।
शूलैः परितुदन् पार्श्वे प्लीहा तस्याभिवर्द्धते ॥ २६ ॥

जिसके वायु कुपित होकर प्लीहा (तिल्ली) में प्रवेश कर उसको ऊंची करदेवे वह प्लीहा धीरे २ पीडाके साथ बढजाती है (यह प्लीहशोथ कहाजाताहै) ॥ २६ ॥

गुल्मका कारण।

यस्य वायुः प्रकुपितो गुल्मस्थाने च तिष्ठति।
शोथं सशूलञ्जनयन् गुल्मस्तस्योपजायते ॥ २७ ॥

कुपित वायु जिसके गुल्मस्थानमें प्रवेश करताहै उसके पीडाके साथ गुल्मरूपी शोथको पैदा करदेताहै ॥ २७ ॥

ब्रध्नका कारण।

यस्य वायुः प्रकुपितः शोथशूलकरश्चरन्।
वंक्षणाद्वृषणौ याति ब्रध्नं तस्योपजायते ॥ २८ ॥

जिसके वायु कुपित होकर पीडायुक्त शोथ वंक्षण (जंघाके मूल) में पेडूसे अंड-कोशकी ओरको उत्पन्न करे उस शोथको ब्रध्न कहतेहैं ॥ २८ ॥

उदरका लक्षण।

यस्य वातः प्रकुपितस्त्वङ्मांसान्तरमाश्रितः।
शोथं सञ्जनयन् कुक्षावुदरं तस्य जायते ॥ २९ ॥

कुपित वायु जिसके कुक्षिस्थानकी त्वचा और मांसमें मिल पेटको सुजा देता है उस शोथको शोथोदर कहतेहैं ॥ २९ ॥

आनाहका कारण।

यस्य वातः प्रकुपितः कुक्षिमाश्रित्य तिष्ठति।
नाधो व्रजति नाप्यूर्द्ध्वमानाहस्तस्य जायते ॥ ३० ॥

क्रुद्ध वायु जिसकी कुक्षिमें स्थित होकर न नीचे गमन करे न ऊपर जावे इस वायुके अवरोधको अफारा कहतेहैं ॥ ३० ॥

रोगाश्चोत्सेधसामान्यादधिमांसार्बुदादयः।
विशिष्टा नामरूपाभ्यां निर्देश्याः शोथसंग्रहे ॥ ३१ ॥

अधिमांस और अर्बुदादिक नाम रूप करके शोथसे अलग होनेपर भी उठनेवाले सामान्यधर्मसे शोथोंमें ही गणना करने चाहिये ॥ ३१ ॥

रोहिणीका कारण।

वातपित्तकफा यस्य युगपत्कुपितास्त्रयः।
जिह्वामूलेऽवतिष्ठन्ते विदहन्तः समुच्छ्रिताः ॥ ३२ ॥
जनयन्ति भृशं शोथं वेदनाश्च पृथग्विधाः।
तं शीघ्रकारिणं[1] रोगं रोहिणीकेति निर्दिशेत् ॥ ३३ ॥
त्रिरात्रं परमं तस्य जन्तोर्भवति जीवितम्।
कुशलेन त्वनुप्राप्तः क्षिप्रं सम्पद्यते सुखी ॥ ३४ ॥

जिस मनुष्यके वात पित्त कफ यह तीनों ही एककालमें कुपित होकर जीभकी जडमें स्थित होजाते हैं उसकी जीभकी जडमें दाहयुक्त ऊंचा सा शोथ प्रगट कर देतेहैं इस शोथमें नानाप्रकारकी पीडा उत्पन्न होतीहै इस शीघ्रमारक रोगको रोहिणिका कहतेहैं, इसके होनेसे मनुष्य तीन दिनसे अधिक नहीं जीसकता। इस लिये यदि कुशल चिकित्सकसे शीघ्र यत्न करायाजावे तो मनुष्य बचसकताहै ॥ ३२-३४ ॥

सन्ति ह्येवंविधा रोगाः साध्या दारुणसम्मताः।
ये हन्युरनुपक्रान्ता मिथ्यारम्भेण वा पुनः ॥ ३५ ॥

अन्य भी जो इस प्रकारके दारुण रोग हैं वह युक्तिपूर्वक शीघ्र कुशल वैद्य द्वारा चिकित्सा किये जानेसे साध्य होतेहैं। और वही रोग उचित यत्नोंके शीघ्र न होनेसे अथवा अनुचित यत्नोंके होनेसे शीघ्र मारडालतेहैं ॥ ३५ ॥

व्याधिके साध्यासाध्य भेद।

साध्याश्चाप्यपरे सन्ति व्याधयो मृदुसम्मताः।
यत्नायत्नकृतं येषु कर्म सिध्यत्यसंशयम् ॥ ३६ ॥

---

१ शीघ्रमारिणम् इति पाठान्तरम्।

असाध्याश्चापरे सन्ति व्याधयो याप्यसंज्ञिताः ।
सुसाध्येऽपि कृतं येषु कर्म याप्यकरं भवेत् ॥ ३७ ॥
सन्ति चाप्यपरे रोगाः कर्म येषु न सिध्यति ।
अपि यत्नकृतं वैद्यैर्न तान्विद्वानुपाचरेत् ॥ ३८ ॥

बहुतसे ऐसे मृदु रोग हैं जो शीघ्र यत्न करनेसे तो साध्य हैं ही परन्तु विना चिकित्साके भी साध्य होजातेहैं और बहुतसे ऐसे असाध्य रोग हैं। जिन्हें याप्य कहतेहैं जिनमें योग्य चिकित्सा होनेपर भी वह रोग कुछ कालके लिये ही शान्त होतेहैं और ऐसे २ अन्य भी बहुतसे रोग हैं जो सुयोग्य वैद्योंद्वारा चिकित्सा किये जाने पर भी साध्य नहीं होसकते। विद्वान् वैद्यको उचित है जो रोग यत्नद्वारा साध्य न होसके उसकी चिकित्सा न करे ॥ ३६–३८ ॥

साध्याश्चैवाप्यसाध्याश्च व्याधयो द्विविधाः स्मृताः ।
मृदुदारुणभेदेन ते भवन्ति चतुर्विधाः ॥ ३९ ॥
त एवापरिसंख्येया भिद्यमाना भवन्ति हि ।
निदानवेदनावर्णस्थानसंस्थाननामभिः ॥ ४० ॥
व्यवस्थाकारणं तेषां यथा स्थूलेषु संग्रहः ।
तथा प्रकृतिसामान्यं विकारेषूपदिश्यते ॥ ४१ ॥

व्याधियां साध्य और असाध्य भेदसे दो प्रकारकी होतीहैं। वह दोनों भी मृदु और दारुण भेदसे चार प्रकारकी होजाती हैं फिर वह व्याधियां–पीडा वर्ण, कारण, स्थान, आकृति इन भेदोंसे अलग २ होतीहुई असंख्य होजातीहैं। उनकी व्यवस्था करनेके लिये उनमेंसे मुख्य २ व्याधियोंका संग्रह किया गया है। विकारोंका स्वभाव और तुल्यता देखकर उनको जिस दोषजन्य देखे वैसा उपदेश करना चाहिये ॥४१॥

व्याधियोंके नाम रखनेका क्रम।

विकारनामाकुशलो न जिह्रीयात् कदाचन ।
न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा गतिः ॥ ४२ ॥
स एव कुपितो दोषः समुत्थानविशेषतः ।
स्थानान्तरगतश्चैव जनयत्यामयान्बहून् ॥ ४३ ॥
तस्माद्विकारप्रकृतीरधिष्ठानान्तराणि च ।
समुत्थानविशेषांश्च बुद्ध्वा कर्म समाचरेत् ॥ ४४ ॥

इसीलिये यदि किसी रोगका नाम न मिलसके सो वैद्यको लज्जित नहीं होना चाहिये, क्योंकि संपूर्ण रोगोंका नाम नहीं कहा जासकता (हां उन रोगोंको प्रकृति और तुल्यतासे वातादिदोषजन्य जानकर यत्न करे) क्योंकि एक दोष ही कुपित होकर भिन्न २ कारणोंसे अलग २ स्थानोंमें जाकर अनेक रोगोंको उत्पन्न करताहै इसलिये ऐसे रोगोंकी प्रकृति और स्थानभेद तथा कारणविशेषको जानकर चिकित्साकर्म करे ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

यो ह्येतान्त्रिविधं ज्ञात्वा कर्माण्यारभते भिषक् ।
ज्ञानपूर्वं यथान्यायं स कर्मसु न मुह्यति ॥ ४५ ॥

जो वैद्य-साध्य, असाध्य, याप्य इन तीन भेदोंको समझकर चिकित्सा आरंभ करताहै वह मोहको प्राप्त नहीं होता है ॥ ४५ ॥

दोषोंका नित्यत्व ।

नित्याः प्राणभृतां देहे वातपित्तकफास्त्रयः ।
विकृताः प्रकृतिस्था वा तान्बुभुत्सेत पण्डितः ॥ ४६ ॥

वात, पित्त, कफ यह तीन प्राणधारियोंके शरीरमें नित्य रहते हैं । परन्तु यह साम्यावस्थामें हैं अथवा विकृत (बिगडी) अवस्थामें हैं यह बुद्धिमान्‌को परीक्षा करलेना चाहिये ॥ ४६ ॥

विकाररहित शुद्धवायु दोषोंके कर्म ।

उत्साहोच्छ्वासनिःश्वासचेष्टा धातुगतिः समा ।
समो मोक्षो गतिमतां वायोः कर्माविकारजम् ॥ ४७ ॥

शरीरमें प्रकृतिस्थ वायु रहनेसे-उत्साह, सांसका आना जाना, चेष्टा, धातुओंकी अवस्था यह समान रहती हैं और मलमूत्रादिकी गति ठीक रहती है । यह विकारको नहीं प्राप्त हुए वायुके कर्म हैं ॥ ४७ ॥

दर्शनं पक्तिरुष्मा च क्षुत्तृष्णा देहमार्दवम् ।
प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्म्माविकारजम् ॥ ४८ ॥

दीखना, अन्नका परिपाक, शरीरमें गरमाई, भूख, प्यास, देहमें नरमी, कांति प्रसन्नता, मेधा इनका उत्तम होना यह प्रकृतिस्थ अर्थात् विकाररहित पित्तका कर्म है ॥

स्नेहो बन्धः स्थिरत्वञ्च गौरवं वृषता बलम् ।
क्षमा धृतिरलोभश्च कफकर्माविकारजम् ॥ ४९ ॥

कफके प्रकृतिस्थ रहनेसे शरीरमें स्निग्धता, गठनता, दृढता, गुरुता, वृष्यता, बल, क्षमा, धृति, निर्लोभता यह होते हैं ॥ ४९ ॥

वातपित्तकफैश्चैव न्यूने लक्षणमुच्यते।
कर्मणां प्रकृतेर्हानिर्वृद्धिर्वापि विरोधिनाम् ॥ ५० ॥

वात, पित्त और कफके क्षीण होनेसे ऊपर कहेहुए स्वाभाविक गुणोंकी हानि होती है और विपरीत कर्मोंकी वृद्धि होती है ॥ ५० ॥

दोषप्रकृतिवैशेष्यं नियतं वृद्धिलक्षणम्।
दोषाणां प्रकृतिर्हानिर्वृद्धिर्वापि परीक्ष्यते ॥ इति ॥ ५१ ॥

दोषोंके स्वभावोंका विशेष प्रतीत होना दोष वृद्धिके लक्षण हैं, इसलिये दोषोंकी साम्यावस्था, क्षीणता और वृद्धिकी परीक्षा करना चाहिये ॥ ५१ ॥

अध्यायका संक्षिप्तवर्णन।

तत्र श्लोकौ--संख्या निमित्तं रूपाणि शोथानां साध्यता न च।
तेषांतेषां विकाराणां त्रिविधं बोध्यसंग्रहम् ॥
विधिभेदविकाराणां त्रिविधं दोषसंग्रहम् ॥ ५२ ॥
प्राकृतं कर्मदोषाणां लक्षणं हानिवृद्धिषु।
वीतमोहरजोदोषलोभमानमदस्पृहः।
व्याख्यातवांस्त्रिशोफीये रोगाध्याये पुनर्वसुः ॥ ५३ ॥

इति रोगचतुष्के त्रिशोफीयोऽष्टदशोऽध्यायः समाप्तः ॥ १८ ॥

इस त्रिशोथीय अध्यायमें शोथोंके कारण, शोथ, शोथजविकार और उनकी संख्या उनके रूप तथा साध्यासाध्यता, दोषज और आगंतुज शोथ, शोथके विकारोंके भेद, तीन प्रकारका दोषसंग्रह, प्रकृतिस्थ दोषोंके कर्म, दोषोंकी क्षीणता और वृद्धिके लक्षण यह सब मोह. रजोदोष, लोभ, मान, मद और स्पृहारहित पुनर्वसुजीने कथन किया है ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां पटियालाराज्यांतर्गतटकसालनिवासि वैद्यपंचानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्यभाषाटीकायां त्रिशोफीयो नामाष्टादशोऽध्यायः॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः।

अथातोऽष्टोदरीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥

अब हम अष्टोदरीय अध्यायकी व्याख्या करेंगे ऐसा भगवान् आत्रेयजी कहनेलगे॥

रोगोंकी संख्या।

इह खल्वष्टावुदराणि। अष्टौ मूत्राघाताः। अष्टौ क्षीरदोषाः। अष्टौ रेतोदोषाः। सप्त कुष्ठानि। सप्त पिडकाः। सप्त वीसर्पाः। षडतीसाराः। षडुदावर्ताः। पञ्च गुल्माः। पञ्च प्लीहदोषाः। पञ्च कासाः। पञ्च श्वासाः। पञ्च हिक्काः। पञ्च तृष्णाः। पञ्च छर्दयः। पञ्च भक्तस्यानशनस्थानानि। पञ्च शिरोरोगाः। पञ्च हृद्रोगाः। पञ्च पाण्डुरोगाः। पञ्चोन्मादाः। चत्वारोऽपस्मराः। चत्वारोऽक्षिरोगाः। चत्वारः कर्णरोगाः। चत्वारः प्रतिश्यायाः। चत्वारो मुखरोगाः। चत्वारो ग्रहणीदोषाः। चत्वारो मदाः। चत्वारो मूर्च्छाः। चत्वारः शोषाः। चत्वारि क्लैब्यानि। त्रयः शोथाः। त्रीणि किलासानि। त्रिविधं लोहितपित्तम्। द्वौ ज्वरौ। द्वौ व्रणौ। द्वावायामौ। द्वे गृध्रस्यौ। द्वे कामले। द्विविधमामम्। द्विविधं वातरक्तम्। द्विविधान्यर्शांसि। एकः ऊरुस्तम्भः। एकः संन्यासः। एको महागदः। विंशतिः क्रिमिजातयः। विंशतिः प्रमेहाः। विंशतिर्योनिव्यापदः। इत्यष्टाचत्वारिंशद्रोगाधिकरणान्यस्मिन् संग्रहे भवन्ति। एतानि यथोद्देशमभिनिर्देक्ष्यामः॥१॥

इस संग्रहमें ८ प्रकारके उदररोग हैं। ८ मूत्राघात हैं। ८ प्रकारके स्तन्य दोष हैं। ८ प्र० शुक्रदोष हैं। ७ प्र० कुष्ठ हैं। ७ प्रकारकी पिडका। ७ प्र० विसर्प। ६ प्र० अतिसार। ६ प्रकारके उदावर्त। ५ प्रकारके गुल्म। ५ प्रकारके प्लीहदोष। ५ प्र० खांसी। ५ प्र० श्वास। ५ प्रकारकी हिचकी। ५ प्रकारकी प्यास। ५ प्रकारकी छर्दि। ५ प्र० अरुचि। ५ प्र० शिरोरोग। ५ प्र० हृद्रोग। ५ प्र० पांडुरोग। ५ प्र० उन्माद। ४ प्र० मृगी। ४ प्र० नेत्ररोग। ४ प्र० कर्णरोग। ४ प्र० प्रतिश्याय। ४ प्र० मुखरोग। ४ प्र० ग्रहणीदोष। ४ प्र० मदात्यय। ४ प्र०

मूर्छा। ४ प्र० शोष। ४ प्र० नपुंसकता। ३ प्र० शोथ। ३ प्र० किलास। ३ प्र० रक्तपित्त। २ प्र० ज्वर। २ प्र० व्रण। २ प्र० आयाम। २ प्र० गृध्रसी। २ प्र० कामला। २ प्र० आमदोष। २ प्र० वातरक्त। २ प्र० अर्श। १ प्र० ऊरुस्तंभ। १ प्र० संन्यास। १ प्र० महाव्याधि। २० प्र० कृमिरोग। २० प्र० प्रमेह। २० प्र० योनिव्यापकरोग इस प्रकार इस संग्रहमें ४८ रोग हैं। अब इन सबको यथा-उद्देश आगे वर्णन करतेहैं ॥ १ ॥

रोगोंके वातादि भेद।

अष्टावुदराणीति वातपित्तकफसन्निपातप्लीहबद्धच्छिद्रोदकोदराणीति॥ अष्टौ मूत्राघाता इति वातपित्तकफसन्निपाताश्मरीशर्कराशुक्रशोणितजाः॥अष्टौ क्षीरदोषा इति वैवर्ण्यं वैगन्ध्यं वैरस्यं पैच्छिल्यं फेनसङ्घातं रौक्ष्यं गौरवमतिस्नेहश्चेति ॥ अष्टौ रेतोदोषा इति तनु शुष्कं फेनिलमश्वेतं पूतिपिच्छिलमन्यधातूपहितमवसादि चेति ॥ सप्त कुष्ठानीति कपालोडुम्बरमण्डलर्ष्यजिह्वपुण्डरीकसिध्मकाकणकानि ॥ सप्त पिडका इति शराविका कच्छपिका जालिनी सर्षप्यलजी विनता विद्रधी च ॥ सप्त वीसर्पा इति वातपित्तकफाग्निकर्दमग्रन्थिसन्निपाताख्याः ॥ षडतीसाराख्या इति वातपित्तकफसन्निपातभयशोकजाः ॥ षडुदावर्त्ता इति वातमूत्रपूरीषशुक्रच्छर्दिक्षवथुजाः ॥ पञ्च गुल्मा इति वातपित्तकफसन्निपातरक्तजाः ॥ पञ्च प्लीहदोषा इति गुल्मैर्व्याख्याताः ॥ पञ्च कासा इति वातपित्तकफक्षतक्षयजाः ॥ पञ्च श्वासा इति महोर्द्धच्छिन्नतमकक्षुद्राः ॥ पञ्च हिक्का इति महती गम्भीरा व्यपेता क्षुद्रा चान्नजा च ॥ पञ्च तृष्णा इति वातपित्तामक्षयोपसर्गात्मिकाः ॥ पञ्चच्छर्दय इति द्विष्टान्नसंयोगजा वातपित्तकफसन्निपातोद्रेकात्मिकाश्च ॥ पञ्च भक्तस्यानशनस्थानानीति वातपित्तकफद्वेषायासाः ॥पञ्च शिरोरोगा इति पूर्वोद्देशमभिसमस्य वातपित्तकफसन्निपातक्रिमिजाः॥पञ्च हृद्रोगा इति शिरोरोगैर्व्याख्याताः ॥ पञ्च पाण्डुरोगा इति वातपित्तकफसन्निपातमृद्भक्षणजाः ॥ पञ्चोन्मादा इति वातपित्तकफसन्निपातागन्तुनिमित्ताः ॥ चत्वारोऽपस्मारा इति

वातपित्तकफसन्निपातनिमित्तजाः ॥ चत्वारोऽक्षिरोगाः।चत्वारःकर्ण-रोगाः । चत्वारः प्रतिश्यायाः । चत्वरो मुखरोगाः । चत्वारो ग्रहणी-दोषाः । चत्वारो मदाः । चत्वारो मूर्च्छा इति अपस्मारैर्व्याख्याताः॥ चत्वारः शोषा इति साहससन्धारणक्षयविषमाशनजाः ॥ चत्वारि क्लैब्यानीति बीजोपघाताद्ध्वजभङ्गाज्जरायाः शुक्रक्षयाच्च ॥त्रयः शोथा-श्चेति वातपित्तश्लेष्मनिमित्ताः॥त्रीणि किलासानीति रक्तताम्रशुक्लानि॥ त्रिविधं लोहितपित्तमित्यूर्द्धभागमधोभागमुभयभागञ्च । द्वौ ज्वरौ शीतसमुत्थश्च शीताभिप्रायश्चोष्णसमुत्थ इति उष्णाभिप्रायः ॥ द्वौ व्रणौ इति निजश्चागन्तुजश्च ॥ द्वावायामाविति बाह्यश्चाभ्यन्तरश्च ॥ द्वे गृध्रस्याविति वाताद्वातकफाच्च॥ द्वे कामले इति कोष्ठाश्रया शाखाश्रया च ॥ द्विविधमाममित्यलसको विसूचिका चेति॥द्विविधं वातरक्तमिति गम्भीरमुत्तानञ्च । द्विविधान्यर्शांसीति आर्द्राणि शुष्काणि च ॥ एक ऊरुस्तंभ इति आमत्रिदोषसमुत्थानः ॥ एकः संन्यास इति त्रिदोषात्मको मनःशरीराधिष्ठानसमुत्थः ॥ एको महागद इति अतत्त्वाभिनिवेशः ॥ २ ॥

वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, प्लीहोदर, बद्धोदर, छिद्रोदर, जलोदर इन भेदोंसे ८ प्रकारके उदररोग हैं । वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, अश्मरीजन्य, शर्कराजन्य, शुक्रदोषज और रक्तजन्य यह आठ प्रकारके मूत्राघात हैं । विवर्णता, विकृतिगन्धि, वैरस्य, पिच्छिलता, फेनयुक्तता, रूक्षता, भारीपन यह आठ स्तनोंके दूधके विकार हैं । पतलापन, सूखापन, फेनयुक्त, सफेदी न होना, दुर्गंधित, पिच्छिल, अन्यधातुमिश्रित, अवसादयुक्त यह आठ वीर्यके दोष होते हैं । कुष्ठके सात भेद हैं । जैसे–कपाल, उदुंबर, मण्डल, ऋष्यजिह्व, पुंडरीक, सिध्म और काकण । शराविका, कच्छपिका, जालिनी, सर्षपी, अलजी, विनता, विद्रधि इन भेदोंसे पिडका ७ प्रकारकी है । वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, अग्निविसर्प, कर्दमविसर्प ग्रंथिविसर्प इन भेदोंसे विसर्प ७ प्रकारका है । वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, भयज, शोकज इन भेदोंसे अतिसार ६ प्रकारके हैं । अधोवात, मूत्र, पुरीष, शुक्र, छर्दि, छींक इन छहोंका वेग रोकनेसे छः प्रकारके उदावर्त होते हैं । वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, रक्तज इन भेदोंसे गुल्म पांच प्रकारके हैं । गुल्मके समान ही पांच प्रकारके प्लीहाके विकार होते हैं । वात, पित्त, कफ, क्षत, क्षय इनसे पांच प्रकारकी

खांसी होती है। ऐसे ही वातज, पित्तज, कफज, क्षतज, क्षयज इन भेदोंसे श्वास ५ प्रकारका है। महती, गंभीरा, व्यपेता, क्षुद्रा, अन्नजा इन भेदोंसे पांच प्रकारकी हिचकी है। वातज, पित्तज, आमज, क्षयज, उपसर्गज इन भेदोंसे तृषा पांच प्रकारकी होती है। द्वेषजनक अन्नसे, वात, पित्त, कफ और सन्निपातसे छर्दि पांच प्रकारकी है। वातज, पित्तज, कफज, द्वेषज, श्रमज इन भेदोंसे अरुचि पांच प्रकारकी है। सामान्य संग्रहके उद्देशसे वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, कृमिजन्य इन भेदोंसे शिरोरोग पांच प्रकारका है। शिरोरोगवाले भेदोंसे ही पांच प्रकारका हृद्रोग है। वात, पित्त, कफ, सन्निपात और मृद्भक्षणसे पांच प्रकारका पांडुरोग होताहै। वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, और आगंतुज इन भेदोंसे उन्मादरोग पांच प्रकारका है। वात, पित्त, कफ और सन्निपातसे चार प्रकारका अपस्मार (मृगी) रोग होताहै। अपस्मारके समान ही वातादि चार २ भेद-नेत्ररोग, कर्णरोग, प्रतिश्याय, मुखरोग, ग्रहणीदोष, मदरोग, मूर्च्छारोग इन सबके भी कहेहैं। साहसजन्य, वेगावरोधजन्य, क्षयजन्य और विषमाशनजन्य इन भेदोंसे शोषरोग चार प्रकारका है। वात, पित्त, कफजनित तीन प्रकारकी सूजन होतीहै। रक्तवर्ण, ताम्रवर्ण और श्वेत इन तीन प्रकारका किलासरोग होताहै। ऊर्ध्वग, अधोगामी, उभयगामी, इन तीन प्रकारका रक्तपित्त होताहै। ज्वर दो प्रकारके हैं। एक ठंढेसे, जिसमें शीतकी अधिकता होतीहै। दूसरा गरमीसे प्रगट होकर गरमीकी अधिकतावाला होताहै। निज और आगंतुज भेदसे व्रण दो प्रकारके होतेहैं। आयाम दो प्रकारका है एक अंतरायाम दूसरा बाह्यायाम। गृध्रसी दो प्रकारका है-एक वातज, दूसरा वातकफज। कोष्ठाश्रय और शाखाश्रयके भेदसे कामला दो प्रकारका है। अलसक और विसूचिका भेदसे आमरोग दो प्रकारका है। वातरक्त दो प्रकारका है गंभीर और उत्तान। बवासीर दो प्रकारकी है एक आर्द्र दूसरी शुष्क। आमयुक्त त्रिदोषसे उत्पन्नहुआ ऊरुस्तंभ एक प्रकारका है। त्रिदोषसे उत्पन्नहुआ संन्यास एक प्रकारका है इसका अधिष्ठान मन और शरीर है। तत्त्वज्ञानमें मनका योग न होना ही एक महाव्याधि है॥ २॥

विंशतिः क्रिमिजातय इति यूकाः,पिपीलिकाश्चेति द्विविधा बहिर्मलजाः। केशादा लोमादा लोमद्वीपाः सौरसा औदुम्बरा जन्तुमातरश्चेति षट् शोणितजाः। अन्त्रादा उदरादा हृदयचराः चुरवो दर्भपुष्पाः सौगन्धिका महागुदाश्चेति सप्तकफजाः। ककेरुका मकेरुका लेलिहाः सशूलकाः सौसुरादाश्चेति पञ्च पुरीषजा इति विंशतिः क्रिमिजातयः॥ ३॥

बीस प्रकारकी कृमियोंकी जातियें हैं। उनमें यूका और पिपीलिका यह दो प्रकारके कृमि बाहरके मलसे होतेहैं। और केशाद, लोमाद, लोमद्वीप, सौरस, उडुंबर, जंतुमातर यह छः प्रकारके कृमि रक्तसे प्रकट होतेहैं। अंत्राद, उदराद, हृदयचर, चुरव, दर्भपुष्प, सौगंधिक, महागुद यह सात प्रकारके कृमि कफसे प्रकट होतेहैं। ककेरुक, मकेरुक, लेलिह, सशूलक और सौसुराद यह पांच प्रकारके पुरीषज कृमि होते हैं। इस प्रकार सब मिलकर २०प्रकारकी कृमिजाति है। इन बीसोंसे ही शरीरको कष्ट होता है इसलिये बीस प्रकारका कृमिरोग माना है ॥ ३ ॥

विंशतिः प्रमेहा इति उदकमेहश्चेक्षुमेहश्च रसमेहश्च सान्द्रमेहश्च सान्द्रप्रसादमेहश्च शुक्लमेहश्च शुक्रमेहश्च शीतमेहश्च शनैर्मेहश्च सिकतामेहश्च लालामेहश्चेति दश श्लेष्मनिमित्ताः। क्षारमेहश्च कालमेहश्च नीलमेहश्च लोहितमेहश्च माञ्जिष्ठामेहश्च हरिद्रामेहश्चेति षट् पित्तनिमित्ताः। वसामेहश्च हस्तिमेहश्च मज्जमेहश्च मधुमेहश्चेति चत्वारो वातनिमित्ता इति विंशतिः प्रमेहाः ॥ ४ ॥

बीस प्रकारके प्रमेह हैं। उनमें-उदकमेह, इक्षुमेह, रसमेह, सांद्रमेह, सान्द्रप्रसादमेह, शुक्लमेह शुक्रमेह, शीतमेह, शनैर्मेह, सिकतामेह, लालामेह यह १० प्रकारके प्रमेह कफसे होते हैं। क्षारमेह, कालमेह, नीलमेह, लोहितमेह, मंजिष्ठामेह, हरिद्रामेह यह छः प्रमेह पित्तसे होते हैं। वसामेह, मज्जामेह, हस्तिमेह, मधुमेह यह ४ प्रमेह वातसे होते हैं। इस प्रकार सब मिलकर बीस प्रकारके प्रमेह हुए ॥ ४ ॥

विंशतिर्योनिव्यापद इति वातिकी पैत्तिकी श्लैष्मिकी सान्निपातिकी चेति चतस्रः। दोषजाः दूष्यसंसर्गप्रकृतिनिर्देशैरवशिष्टाः षोडश निर्दिश्यन्ते। तद्यथा-रक्तयोनिश्चारजस्का चाचरणा चातिचरणा च प्राक्चरणा चोपप्लुता चोदावर्त्तिनी च कर्णिनी पुत्रघ्नी चान्तर्मुखी च सूचीमुखी च शुष्का च वामिनी च षण्डयोनिश्च महायोनिश्चेति विंशतिर्योनिव्यापदः। केवलश्चायमुद्देशः यथोद्देशमभिनिर्दिष्ट इति ॥५॥

बीस प्रकारके योनिव्यापत् रोग हैं। उनमें-वात, पित्त, कफ, सन्निपात इनसे चार प्रकारके हुए। दोष, दूष्य, संसर्ग और स्वभावके निर्देशसे १६ प्रकारके होते हैं। वह इस प्रकार हैं जैसे-रक्तयोनि, अरजस्का, अचरणा, अतिचरणा, प्राक्चरणा, उपप्लुता, उदावर्त्तिनी, कर्णिनी, पुत्रघ्नी, अंतर्मुखी, सूचीमुखी, शुष्का, वामिनी षंडयोनि और महायोनि इस प्रकार सब मिलकर २० योनिरोग हुए। यह पर पूर्वसंग्रहके उद्देशसे संख्यामात्र कथन कीगई है ॥ ५ ॥

अध्यायका उपसंहार ।

सर्व एव निजा विकारा नान्यत्र वातपित्तकफेभ्यो निर्वर्तन्ते । यथाहि शकुनिः सर्वा दिशमपि परिपतन्स्वां छायां नातिवर्तते तथा स्वधातुवैषम्यनिमित्ताः सर्वविकारा वातपित्तकफान्नातिवर्तन्ते । वातपित्तश्लेष्मणां पुनः समुत्थानस्थानसंस्थानप्रकृतिविशेषानभिसमीक्ष्य तदात्मकानपि च सर्वविकारांस्तानेवोपदिशन्ति बुद्धिमन्त इति ॥ ६ ॥

सब प्रकारके निज रोग वात, पित्त, कफसे विना नहीं होसकते । जैसे पक्षी उडता २ किसी भी दिशामें घूमताहुआ अपनी छायासे अलग नहीं होसकता इसी प्रकार अपनी २ धातुकी विषमतासे उत्पन्न हुए भी रोग वात, पित्त, कफसे अलग नहीं होसकते । इसी लिये बुद्धिमान्को उचित है कि वात, पित्त, कफ इन तीन दोषोंके कारण, स्थान, लक्षण और प्रकृतिको विचारकर संपूर्ण रोगोंको वात, पित्त, कफ इन दोषोंके अंतर्गत ही माने, क्योंकि संपूर्ण धात्वादि इन तीनोंके ही अधीन हैं ॥ ६ ॥

भवति चात्र । स्वधातुवैषम्यनिमित्तजा ये विकारसङ्घा बहवः शरीरे ।
न ते पृथक्पित्तकफानिलेभ्य आगन्तवस्त्वेव ततो विशिष्टाः ॥ ७ ॥
आगन्तुरन्वेति निजं विकारं निजस्तथागन्तुरतिप्रवृद्धः ।
तत्रानुबन्धं प्रकृतिं च सम्यक् ज्ञात्वा ततः कर्म समारभेत ॥ ८ ॥

शरीरमें होनेवाले संपूर्ण विकार अपने २ धातुकी विषमतासे अनेक प्रकारके होते हुए भी वह वात, पित्त, कफसे अलग नहीं होसकते और आगंतुज विकार भी शरीरमें होकर पीछेसे निज (शारीरिक) रोगोंके समान ही वातादिदोषात्मक होजाते हैं । ऐसे ही निज रोग भी आगंतुओंके समान लक्षणोंको धारण करते हैं इस लिये कारणानुबंध और प्रकृतिको भली प्रकार समझकर चिकित्सा आरंभ करनी चाहिये ७-८

अध्यायका संक्षिप्त वर्णन ।

तत्र श्लोकौ—विंशकाश्चैककाश्चैव त्रिकाश्चोक्तास्त्रयस्त्रयः ।
द्विकाश्चाष्टौ चतुष्काश्च दश द्वादश पञ्चकाः ॥ ९ ॥
चत्वारश्चाष्टका वर्गाः षट्कौ द्वौ सप्तकास्त्रयः ।
अष्टौदरीये रोगाणामध्याये सम्प्रकाशिताः ॥ १० ॥

इति अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते रोगचतुष्के
अष्टोदरीयोनामोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

यहां अध्यायकी पूर्तिमें दो श्लोक हैं कि, इस अष्टोदरीय अध्यायमें--बीस २ प्रकारके तीन रोग। एक एक प्रकारके तीनरोग। तीन २ प्रकारके तीन रोग। दो दो प्रकारके आठ रोग। चार२ प्रकारके १० रोग। पांच २ प्रकारके १२ रोग। आठ २ प्रकारके चार रोग। छः २ प्रकारके दो रोग। सात २ प्रकारके तीन रोग इस प्रकार रोगसंग्रहका कथन किया है॥ ९॥ १०॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां पटियालाराज्यांतर्गतटकसालनिवासिवैद्यपञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्यभाषाटीकायामष्टोदरीयो नामैकोनविंशोऽध्यायः॥ १९॥

विंशोऽध्यायः।

अथातो महारोगाध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥

अब हम महारोगाध्यायकी व्याख्या करतेहैं ऐसा आत्रेय भगवान् कहनेलगे॥

रोगोंके भेद।

चत्वारो रोगा भवन्त्यागन्तुवातपित्तश्लेष्मनिमित्ताः। तेषां चतुर्णामपि रोगाणां रोगत्वमेकविधं रुक्सामान्यात्। द्विविधा पुनः प्रकृतिरेषामागन्तुनिजविभागात्। द्विविधं चैषामधिष्ठानं मनःशरीरविशेषात्। विकाराः पुनरेषामपरिसंख्येयाः। प्रकृत्यधिष्ठानलिङ्गायतनविकल्पविशेषाणामपरिसंख्येयत्वात्॥

रोग चार प्रकारके होते हैं। वातज, पित्तज, श्लेष्मज और आंगतुज। परन्तु उन चारोंके ही दुःखदाई होनेसे सामान्यतासे एक प्रकारका ही रोग माना है। वह फिर निज और आगंतुज भेदसे दो प्रकारके स्वभाववाले होते हैं। इन द्विविध रोगोंका अधिष्ठान भी मन और शरीर दो प्रकारका है॥ फिर रोगोंके, स्वभाव, आधिष्ठान लक्षण, निदान, विकल्प इनमें अंशादि असंख्यता होनेसे रोग भी असंख्य होते हैं १॥

रोगोंका निज आगन्तुकादि भेदोंसे सकारण वर्णन और रोगकल्पना क्रम।

मुखानि तु खल्वागन्तोर्नखदशनपतनाभिचाराभिशापाभिषङ्गव्यधबन्धपीडनरज्जुदहनमन्त्राशनिभूतोपसर्गादीनि॥ २॥ निजस्य तु मुखं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यम्॥ ३॥

आगंतुज रोगोंके कारण यह होते हैं। जैसे—नख दंतादिका लगना, गिरना, अभिचार, अभिशाप, आभिषंग, वेधन, बंधन, पीडन, रस्सी आदिका बंधन, दहन, मंत्र,

वज्रपात और किसी जानवर आदिके उपसर्गसे आगंतुज रोग होते हैं ॥ और वात पित्त, कफकी विषमतासे निज (शारीरिक) रोग होते हैं ॥ २ ॥ ३ ॥

द्वयोस्तु खलु आगन्तुनिजयोः प्रेरणमसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति। सर्वेऽपि तु खल्वेतेऽभिप्रवृद्धाश्चत्वारो रोगाः परस्परमनुबध्नन्ति। न चान्योन्यसन्देहमापद्यन्ते ॥ ४ ॥

आगंतुज और निज इन दोनों रोगोंको प्रेरण करके लानेका कारण असात्म्य पदार्थोंका संभोग होना ही है और बुद्धिके अपराधका परिणाम भी कारण है क्योंकि सब वस्तुओंका अयोग अतियोग, मिथ्यायोग होनेसे ही दोनों प्रकारके रोगोंकी उत्पत्ति होती है। यह वातज, पित्तज, कफज, आगंतुज चारों रोग बहुत वृद्धिको प्राप्त होनेसे परस्पर लक्षणोंको प्रकाशित करते हैं। परंतु इनके एकके लक्षणोंमें दूसरेका संदेह नहीं होता ॥ ४ ॥

आगन्तुर्हि व्यथापूर्वसमुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यमापादयति। निजे तु वातपित्तश्लेष्माणः पूर्वं वैषम्यमापद्यन्ते। जघन्यं व्यथामभिनिर्वर्त्तयन्ति ॥ ५ ॥

निज और आगंतुज रोगोंमें भेद केवल इतना ही है कि आगंतुज रोग पहले प्रगट होकर पीछे वात, पित्त, कफकी विषमताको धारण करताहै। और निज रोगोंमें पहले वात, पित्त, कफकी विषमता होकर पीछे रोगको उत्पन्न करते हैं ॥ ५ ॥

तेषां त्रयाणामपि दोषाणां शरीरे स्थानविभाग उपदेक्ष्यते ॥ तद्यथा। वस्तिः पुरीषाधानं कटिसक्थिनी पादावस्थीनि पक्वाशयश्च वातस्थानानि। तत्रापि पक्वाशयो विशेषेण वातस्थानम् ॥ ६ ॥ स्वेदो रसो लसीका रुधिरमामाशयश्च पित्तस्थानानि। तत्रापि आमाशयो विशेषेण पित्तस्थानम् ॥ ७ ॥ उरः शिरोग्रीवापर्वाण्यामाशयो भेदश्च श्लेष्मणः स्थानानि। तत्रापि उरो विशेषेण श्लेष्मणः स्थानम् ॥ ८ ॥

अब उन वात, पित्त, कफके स्थान विभागको कहते हैं-वस्ति, मलस्थान, कमर, नितंब, दोनों पांव, हड्डी और पक्काशय यह वायुके स्थान हैं। इनमें भी पक्काशय विशेषतासे वातका स्थान है। स्वेद, रस, लसीका, रक्त और आमाशय यह पित्तके स्थान हैं। इनमें भी आमाशय, विशेषतासे पित्तका स्थान है। इस जगह आमाशय-शब्दसे आमाशयांशभूत ग्रहणी समझना। उरःस्थल मस्तक, गर्दन, पर्व, आमाशय और मेद यह कफके स्थान हैं। इनमें भी उरःस्थल (छाती) विशेषतासे कफका स्थान है ॥ ६-८ ॥

सर्वशरीरचरास्तु वातपित्तश्लेष्माणो हि सर्वस्मिञ्छरीरे कुपिताकुपिताः शुभाशुभानि कुर्वन्ति । प्रकृतिभूताः शुभानि उपचयबलवर्णप्रसादादीनि । अशुभानि पुनः विकृतिमापन्नानि विकारसंज्ञकानि। तत्र विकाराः सामान्यजा नानात्मजाश्च। तत्र सामान्यजाः पूर्वमष्टोदरीये व्याख्याताः । नानात्मजास्त्विहाध्यायेऽनुव्याख्यास्यामः ॥ ९ ॥

संपूर्ण शरीरमें वात, पित्त कफ, यह तीनों विचरते हैं और कुपित या अकुपित हुए सर्वशरीरमें शुभ तथा अशुभको करते हैं। यदि यह वातादि प्रकृतिस्थ हों तो शरीरमें पुष्टि, बल, वर्ण, प्रसन्नता आदि शुभलक्षणोंको करते हैं और विकृत होनेसे अनेक प्रकारके विकारोंको करते हैं। इन दोषोंका विकृत होना ही विकार कहाजाता है। वह विकार सामान्यज और नानात्मज इन भेदोंसे दो प्रकारके हैं। सामान्यज विकार अष्टोदरीय अध्यायमें कह चुके हैं और नानात्मजविकारोंको इन अध्यायमें कथन करते हैं ॥ ९ ॥

तद्यथा—अशीतिर्वातविकाराः । चत्वारिंशत् पित्तविकाराः । विंशतिः श्लेष्मविकाराः ॥ १० ॥

वह इस प्रकार हैं जैसे ८० प्रकारके वातविकार हैं। ४० प्रकारके पित्तविकार हैं और बीस २० प्रकारके कफके विकार होते हैं ॥ १० ॥

तत्रादौ वातविकाराननुव्याख्यास्यामः।तद्यथा—नखभेदश्च,विपादिका च, पादशूलश्च,पादभ्रंशश्च, सुप्तपादता च, वातखुड्डता च, गुल्फग्रहश्च, पिण्डिकोद्वेष्टनश्च, गृध्रसी च, जानुभेदश्च,जानुविश्लेषश्च,ऊरुस्तम्भश्च, ऊरुसादश्च,पाङ्गुल्यश्च,गुदभ्रंशश्च,गुदार्तिश्च,वृषणोत्क्षेपश्च, शेफस्तम्भश्च, वंक्षणानाहश्च, श्रोणिभेदश्च, विड्भेदश्च, उदावर्तश्च, खञ्जत्वश्च, कुब्जत्वश्च, वामनत्वश्च, त्रिकग्रहश्च, पृष्ठग्रहश्च, पार्श्वावमर्दश्च, उदरवेष्टश्च, हृन्मोहश्च, हृद्द्रवश्च, वक्ष उपरोधश्च, वक्ष उद्धर्षश्च, बाहुशोषश्च, ग्रीवास्तम्भश्च,मन्यास्तम्भश्च, कण्ठोद्ध्वंसश्च,हनुस्तम्भश्च, ओष्ठभेदश्च, दन्तभेदश्च, दन्तशैथिल्यश्च, मूकत्वश्च, वाक्सङ्गश्च,कषायास्यता च,मुखशोषश्च, अरसज्ञता च, घ्राणनाशश्च, कर्णशूलश्च, अशब्दश्रवणश्च, उच्चैः श्रुतिश्च, बाधिर्य्यश्च, वर्त्मस्तम्भश्च, वर्त्मसं-

कोचश्च, तिमिरञ्च, आक्षिशूलञ्च, आक्षिव्युदासश्च, भ्रूव्युदासश्च, शंखभेदश्च, ललाटभेदश्च, शिरोरुक् च, केशभूमिस्फुटनञ्च, अर्दितञ्च, एकाङ्गरोगश्च, सर्वाङ्गरोगश्च, पक्षवधश्च, आक्षेपकश्च, दण्डकश्च, श्रमश्च, भ्रमश्च, वेपथुश्च, जृम्भा च, विषादश्च, अतिप्रलापश्च, ग्लानिश्च, रौक्ष्यञ्च, पारुष्यञ्च, श्यावारुणावभासता च, अस्वमश्च, अनवस्थितत्वं चेत्यशीतिर्वातविकाराः ॥ ११ ॥

उनमें पहले वातविकारोंको कहते हैं । नखभेद, विपादिका, पादशूल, पादभ्रंश, पादसुप्ति, वातखुड्डता, गुल्फग्रह, पिंडिकोद्वेष्टन, गृध्रसी, जानुभेद, जानुविश्लेष, ऊरुस्तंभ, ऊरुसाद, पांगुल्य, गुदभ्रंश, गुदार्ति, वृषणोत्क्षेप, शेफस्तंभ, वंक्षणानाह, श्रोणिभेद, विड्भेद, उदावर्त, खंजता, कुबडापन, वामनत्व, त्रिकशूल, पृष्ठशूल, पार्श्वशूल, उदरवेष्ट, हन्मोह, हृद्रव, वक्षोपरोध, वक्षोद्धर्ष, बाहुशोष, ग्रीवास्तंभ, मन्यास्तंभ, कंठोद्ध्वंस, हनुस्तंभ, ओष्ठभेद, दंतभेद, दंताशिथिलता, मूकता, वाण्यवरोध, कषायास्यता, मुखशोष, रसाज्ञान, घ्राणनाश, कर्णशूल, कर्णनाद, उच्चैः श्रवण, बाधिर्य, वर्त्मस्तंभ, वर्त्मसंकोच, तिमिर, आक्षिशूल, अक्षिव्युदास, भ्रूव्युदास, शंखभेद, ललाटभेद, शिरःशूल, केशभूमिस्फुटन, अर्दित, एकांगरोग, सर्वांगरोग, पक्षाघात, आक्षेपक, दंडक, श्रमबोध, भ्रम, कंप, जृंभा, विषाद, अतिप्रलाप, ग्लानि, रूक्षता, पारुष्य, श्याम या अरुणावभास, अनिद्रा, चलचित्तता यह अस्सी रोग वातसे होते हैं ॥ ११ ॥

वातविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याताः। सर्वेष्वपि खल्वेतेषु वातविकारेषु अन्येषु चानुक्तेषु वायोरिदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षणं यदुपलभ्य तदवयवं वा विमुक्तसन्देहा वातविकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशलाः ॥ १२ ॥

वातरोग असंख्य होते हैं परंतु यहां पर उन असंख्य विकारोंमें जो मुख्य २ हैं उनका कथन करादिया है इन वातविकारोंमें तथा इनसे अन्य जो यहां पर नहीं कहे गये उनमें भी वायुके विकृत और अविकृत अवस्थाके कर्म, लक्षण तथा अंशादि विचार कर संदेहरहित कुशल वैद्य वातविकारोंको जाने. क्योंकि, विकृत वायु अपनी अवस्था छोडदेनेसे जिस स्थानमें प्रवेश करता है उसी स्थानमें अनेक विकारोंको उत्पन्न कर देता है, इसलिये वातके स्वभाव, लक्षणोंको समझलेना बुद्धिमान् वैद्यका कर्म है ॥ १२ ॥

तद्यथा—रौक्ष्यं लाघवं वैशद्यं शैत्यं गतिरमूर्तत्वञ्चेति वायोरात्मरूपाणि। एवं विधत्वाच्च कर्मणश्च स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशतः। स्रंसभ्रंशव्यासाङ्गभेदसादहर्षतर्षावर्तमर्दकम्पचालतोदव्यधवेष्टभङ्गास्तथा खरपरुषविशदसुषिरारुणकषायविरसताशोषशूलसुप्तिसंकुचनस्तम्भनानि वायोः कर्माणि। तैरन्वितं वातविकारमेवाध्यवस्येत् ॥ १३ ॥

अब उन वायुके धर्मोंको कहते हैं। जैसे—रूक्षता, लघुता, विशदता, शीतता, गमनशीलता, सूक्ष्मता यह वायुके आत्मरूप हैं. इन ही धर्मोंवाले वायुके कर्म और लक्षण होते हैं। जब यह शरीरस्थ विकृत वायु शरीरके जिस २ अंगमें प्रवेश करता है उसी २ अंगमें वायुके कार्य और लक्षण दिखाई देते हैं। जैसे स्रंस, भ्रंश, प्रसार, अंगभेद, विषाद, हर्ष, तर्ष, तृषा, आवर्तन, मर्द, कंप, चालन, तोद, व्यध, वेष्ट, भंगता, कर्कशता, परुषता. विशदता, सुषिरता, अरुणवर्णता, कषायता, रसाज्ञान, शोष, शूल, सुप्ति, संकोचन, स्तंभन यह वायुके कर्म हैं। इन लक्षणोंवाले विकारोंको वातविकार जानै ॥ १३ ॥

वातरोगोंमें सामान्यचिकित्साक्रम।

तं मधुराम्ललवणस्निग्धोष्णैरुपक्रमैरुपक्रमेत। स्वेदस्नेहास्थापनानुवासननस्तःकर्मभोजनाभ्यङ्गोत्सादनपरिषेकादिभिर्वातहरैर्मात्रां कालञ्च प्रमाणीकृत्य। आस्थापनानुवासनन्तु सर्वथोपक्रमेभ्यो वाते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः ॥ १४ ॥

वैद्यको उचित है कि मधुर, अम्ल, लवण. स्निग्ध और उष्ण द्रव्य द्वारा वातकी चिकित्सा करे। वातनाशक स्वेदन, स्नेहन, आस्थापन, अनुवासन. नस्यकर्म, उष्णस्निग्धभोजन, अभ्यंग, उत्सादन और परिषेक आदिसे मात्रा और काल विचारकर वायुको जीते। वातनाशक सब क्रियाओंमें वैद्य लोग आस्थापन और अनुवासन बस्तिकर्मको ही मुख्य मानते हैं ॥ १४ ॥

तद्ध्यादित एव पक्वाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं वातमूलं छिनत्ति। तत्रावजिते वातेऽपि शरीरान्तर्गता वातविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते। यथा वनस्पतेर्मूले छिन्ने स्कन्धशाखावरोहकुसुमफलपलाशादीनां नियतो विनाशस्तद्वत् ॥ १५ ॥

(क्योंकि) आस्थापन और अनुवासन कर्म पक्वाशयमें प्रवेश करके विकार करनेवाले वायुको जडसे ही नष्ट कर देता है। जब पक्वाशयस्थ वैकारिक वायु नष्ट होजाता है फिर अन्य शरीरान्तर्गत वातजन्य विकार स्वयं शांतिको प्राप्त होजाते हैं। जैसे वृक्षकी जड काटदेनेसे उसके टहने, टहनियां, अवरोह, फूल, फल, पत्ते आदि सब स्वयं विनाशको प्राप्त होजाते हैं ऐसे ही पक्वाशयस्थ वायुके उच्छेदसे सब वातविकार शांत होजाते हैं ॥ १८ ॥

पित्तके ४० रोग।

पित्तविकाराश्चत्वारिंशदत ऊर्ध्वं व्याख्यास्यन्ते। तद्यथा—ओषश्च, प्लोषश्च, दाहश्च, दवथुश्च, धूमकश्च, अम्लकश्च, विदाहश्च, अन्तर्दाहश्च, अंसदाहश्च, ऊष्माधिक्यञ्च, अतिस्वेदश्च, अङ्गगन्धश्च, अङ्गावयवदरणञ्च, शोणितक्लेदश्च, मांसक्लेदश्च, त्वग्दाहश्च, मांसदाहश्च, त्वङ्मांसदरणञ्च, चर्मदरणञ्च, रक्तकोठाश्च, रक्तविस्फोटाश्च, रक्तपित्तञ्च, रक्तमंडलानि च, हरितत्वञ्च, हारिद्रत्वञ्च, नीलिका च, कक्षा च, कामला च, तिक्तास्यता च, पूतिमुखता च, तृष्णाधिक्यञ्च, अतृप्तिश्च, आस्यपाकश्च, गलपाकश्च, अक्षिपाकश्च, गुदपाकश्च, मेढ्रपाकश्च, जीवादानं च, तमःप्रवेशश्च, हरितहारिद्रमूत्रनेत्रवर्चस्त्वं चेति चत्वारिंशत्पित्तविकाराः। पित्तविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याता भवन्ति ॥ १६ ॥

अब इसके उपरांत चालीस प्रकारके पित्तविकारोंका कथन करते हैं। अग्निके तापके समान ताप, जलन, दाह, हृदयमें धक २ आगसी जलना, धूवांसा निकलना, खट्टी डकार, विदाह, अंतर्दाह अंसदाह, गर्मीकी अधिकता, अतिस्वेद, अंगगन्ध, अंग और अवयवोंका फटना, शोणितक्लेद, मांसक्लेद, त्वग्दाह, मांसदाह, त्वचा और मांसका फटना, चर्मदरण, रक्तके चकत्ते पडना, लाल रंगके फोडे, रक्तपित्त, रक्तमण्डल, हरा वर्ण होजाना, हलदीका सा रंग होना, नीलिका, कछराली, कामला, मुखमें कडुवापन, मुखदुर्गंध, तृष्णाकी अधिकता, अतृप्ति, मुखपाक, गलपाक, नेत्रपाक, गुदपाक, शिश्नपाक, जीवसंज्ञक रक्तका क्षय, अन्धकार प्रतीत होना, हरे तथा हलदीके वर्णके समान नेत्र, मूत्र, पुरीष, त्वचाका वर्ण होजाना यह चालीस पित्तके विकार है। पित्तके विकार असंख्य होते हैं। परंतु उन असंख्योंमें जो मुख्य हैं उन ४० विकारोंका यहां कथन किया गया है ॥ १६ ॥

सर्वेष्वपि खल्वेतेषु पित्तविकारेष्वन्येषु चानुक्तेषु पित्तस्येदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षणं यत्तदुपलभ्य तदवयवं वा विमुक्तसन्देहाः पित्तविकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशलाः ॥ १७ ॥

इन सब पित्तविकारोंमें तथा जो यहां नहीं भी कहे उन अन्य पित्तविकारोंमें पित्तके आत्मिक स्वभाव और परिणामोंको तथा पित्तके कर्म और लक्षणों द्वारा पित्तके अंशविकारादि देखकर चतुरलोग निस्सन्देह उस रोगको पित्तजन्य मानते हैं ॥ १७ ॥

तद्यथा—औष्ण्यं तैक्ष्ण्यं लाघवमनतिस्नेहो वर्णश्च शुक्लारुणवर्ज्जो गन्धश्च विस्रो रसौ च कटुकाम्लौ सरश्च पित्तस्यात्मरूपाणि । एवं विधत्वाच्च कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशतः दाहोष्मपाकस्वेदक्लेदकोथस्रावरागाः यथास्वञ्च गन्धवर्णरसादिभिर्निर्वर्त्तनं पित्तस्य कर्माणि । तैरन्वितं पित्तविकारमेवाध्यवस्येत् ॥ १८ ॥

अब पित्तके कर्म और लक्षणोंको कहते हैं—जैसे उष्णता, तीक्ष्णता, लघुता, किंचित्स्निग्धता, शुक्ल और अरुणवर्णसे भिन्न वर्णवाला, दुर्गंधित, पूति, कटु, खट्टा, सर यह सब पित्तके आत्मधर्म हैं इस ही प्रकारके इसके कर्म और लक्षण होते हैं। जब यह कुपित होकर जिस २ अंगमें जाता है उसी २ अंगमें दाह, गर्मी, पाक, स्वेद, क्लेद, कोथ, स्राव, लाली यह लक्षण होते हैं और पित्तके धर्मवाले ही गन्ध, वर्ण, मुखका स्वाद आदि होते हैं ऐसे ऐसे पित्तात्मक लक्षणोंके होनेसे पित्तविकारको निश्चय करे ॥ १८ ॥

पित्तविकारोंमें चिकित्साक्रम।

तं मधुरतिक्तकषायशीतैरुपक्रमैरुपक्रमेत । स्नेहविरेकप्रदेहपरिषेकाभ्यङ्गावगाहादिभिः पित्तहरैर्मात्रां कालञ्च प्रमाणीकृत्य । विरेचनन्तु सर्वोपक्रमेभ्यः पित्ते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः ॥ १९ ॥

पित्तकी चिकित्सा मीठे, कडुवे, कषैले और शीतल द्रव्योंद्वारा करे। तथा पित्तको शान्त करनेवाले स्नेहन, विरेचन, प्रलेप, परिषेक, अभ्यंग, अवगाह द्वारा मात्रा काल विचारकर चिकित्सा करे। पित्तनाशक संपूर्ण चिकित्साओंमें विरेचन कराना वैद्यजन सबसे उत्तम चिकित्सा मानते हैं ॥ १९ ॥

तद्ध्यादित एवामाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं पित्तमूलञ्चापकर्षति। तत्रावजिते पित्तेऽपि शरीरान्तर्गताः पित्तविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते । यथाग्नौ व्यपोढे केवलमग्निगृहञ्च शीतं भवति तद्वत् ॥ २० ॥

क्योंकि विरेचनकारक औषधि आमाशयमें प्रवेश करके विकारकारक पित्तको जडसे उखाडकर विरेचन द्वारा निकाल देती है आमाशयमें बढेहुए पित्तको जीतलेनेसे शरीरान्तर्गत पित्तविकार स्वयं शांत होजाते हैं जैसे अग्निके नष्ट होनेसे अग्निका स्थान भी स्वयं शीतल होजाता है उसीके समान पित्तविकार स्वयं शांत होजाते हैं ॥

कफके २० रोग।

श्लेष्मविकाराश्च विंशतिरत ऊर्द्ध्वं व्याख्यास्यन्ते। तद्यथा--तृप्तिश्च, तन्द्रा च, निद्राधिक्यञ्च, स्तैमित्यञ्च, गुरुगात्रता च, आलस्यञ्च, मुखमाधुर्यञ्च, मुखस्रावश्च, उद्गारश्च, श्लेष्मोद्गरणञ्च, मलस्याधिक्यञ्च, कण्ठोपलेपश्च, बलासश्च, हृदयोपलेपश्च, धमनीप्रतिचयश्च, गलगण्डश्च, अतिस्थौल्यञ्च, शीताग्निता च, उदर्दश्च, श्वेतावभासता च, श्वेतमूत्रनेत्रवर्चस्त्वञ्चेति विंशतिः श्लेष्मविकाराः ॥ २१ ॥

अब बीस प्रकारके कफके विकारोंको कहते हैं। वह इस प्रकार हैं–तृप्ति (अरुचि), तन्द्रा, निद्राकी अधिकता, स्तैमित्य, अंगोंका भारीपन, आलस्य, मुखमें मीठापन, लारबहना, उद्गार, वारवार कफका थूकना, मलकी अधिकता, कंठमें कफका लिपा रहना, बलास, कफवृद्धि, हृदयका लिहसा सा रहना, धमनियोंमें स्थूलता, गलगंड, अतिस्थूलता, मंदाग्नि, उदर्द, सफेद वर्ण होना, मूत्र, नेत्र और पुरीषका सफेद होना, यह बीसप्रकारके कफके विकार हैं ॥ २१ ॥

श्लेष्मविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याताः। सर्वेष्वपि तु खल्वेतेषु श्लेष्मविकारेष्वन्येषु चानुक्तेषु श्लेष्मण इदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षणं यदुपलभ्य तदवयवं वा विमुक्तसन्देहाः श्लेष्मविकारमध्यवस्यन्ति कुशलाः ॥ २२ ॥

यद्यपि कफसे विकार असंख्य होसकतेहैं परंतु उनमें जो मुख्य बीस विकार हैं यहां उनका कथन कियाहै। इन सब विकारोंमें जो यहां कथन कियेहैं और जो कथन नहीं किये गये इन सबमें कफके धर्म और लक्षणोंको और कफकी विकृतावस्थाके कर्मोंको विचारकर कुशल वैद्य कफके विकारोंका निश्चय करे ॥ २२ ॥

तद्यथा-श्वैत्यशैत्यगौरवमाधुर्यमात्स्न्र्याणि श्लेष्मण आत्मरूपाणि। एवंविधत्वाच्च कर्मणःस्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशतः। श्वैत्यशैत्यकण्डूस्थैर्यगौरवस्नेहस्तम्भसुप्तिक्लेदोपदेहबन्धमाधुर्यचिरकारित्वानि श्लेष्मणः कर्माणि तैरान्वितं श्लेष्मविकारमेवाध्यवस्येत् ॥ २३ ॥

वह कफात्मक धर्म इसप्रकार है। जैसे श्वैत्य, शैत्य, गौरव, माधुर्य, मृदुता यह कफके आत्मरूप हैं। और इस ही प्रकारके इसके कर्म और लक्षण होतेहैं। यह जब जिस २ शरीरके अवयवमें प्रवेश करताहै उसमें श्वेतता, शीतता, खाज, स्थिरता, भारीपन, स्निग्धता, स्तंभ, सुप्ति, क्लम, क्लेद, उपलेप, बंध, माधुर्य, चिरकारीपन इन अपने कर्म लक्षणोंको दिखाताहै।इन लक्षणोंयुक्त विकारोंको कफके विकार जाने॥२३॥

श्लेष्मविकारकी चिकित्सा।

तं कटुकतिक्तकषायतीक्ष्णोष्णरूक्षैरुपक्रमैरुपक्रमेत स्वेदनवमनशिरोविरेचनव्यायामादिभिः श्लेष्महरैर्मात्रां कालञ्च प्रमाणीकृत्य। वमनन्तु सर्वोपक्रमेभ्यः श्लेष्मणि प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः॥२४॥ तद्ध्यादित एवामाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं श्लेष्ममूलमपकर्षति। तत्रावजिते श्लेष्मण्यपि शरीरान्तर्गताः श्लेष्मविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते। यथा भिन्ने केदारसेतौ शालियवषष्टिकादीन्यभिष्यन्दमानानि अम्भसा प्रशोषमापद्यन्ते तद्वदिति॥ २५॥

उस कफको कटु, तिक्त, कषाय, तीक्ष्ण और उष्ण तथा रूक्ष उपायों द्वारा जीते। एवं स्वेदन, वमन, शिरोविरेचन, व्यायाम आदिक कफनाशक उपायों द्वारा मात्रा और काल विचारकर चिकित्सा करे। कफनाशक सब उपायोंमें वैद्यजन वमन कराना सबसे उत्तम मानतेहैं, क्योंकि वामक औषधि प्रथम ही आमाशयमें प्रवेश कर वैकारिक कफको जडसे आकर्षण करके निकालदेती है। फिर उस वैकारिक कफके जीते जानेसे शरीरान्तर्गत सब कफके विकार स्वयं शान्त होजाते हैं। जैसे पानीके भरे खेतकी डौल तोडदेनेसे खेतका सब पानी बाहर निकल जाता है और उस खेतके अंदरके सब धान सूखजाते हैं ऐसे ही कफविकार भी सब शांत होजाते हैं॥२४॥२५॥

अध्यायका उपसंहार।

भवन्ति चात्र—रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्।
ततः कर्म भिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत्॥ २६॥

पहले रोगकी परीक्षा करे फिर औषधिकी परीक्षा करे, इन दोनोंका यथोचित निश्चय करके फिर ज्ञानपूर्वक चिकित्साकर्मका आरंभ करे॥ २६॥

यस्तु रोगमविज्ञाय कर्माण्यारभते भिषक्।
अप्यौषधविधानज्ञस्तस्य सिद्धिर्यदृच्छया॥ २७॥

जो वैद्य रोगको यथोचित समझे विना ही चिकित्साका आरंभ करदेता है वह यदि औषधज्ञानमें कुशल भी हो फिर भी उसकी सिद्धि दैवाधीन है अर्थात् लाभ होगया तो होगया नहीं तो नुकसान भी होजाता है॥ २७॥

यस्तु रोगविशेषज्ञः सर्वभैषज्यकोविदः।
देशकालप्रमाणज्ञस्तस्य सिद्धिरसंशयम्॥ २८॥

जो वैद्य रोगको भले प्रकार समझलेता है तथा सब प्रकारसे औषधक्रियामें भी कुशल है और देश काल विचारकर चिकित्सा करता है उसकी सिद्धि अवश्य ही होती है॥ २८॥

अध्यायका संक्षिप्तवर्णन।

तत्र श्लोकाः। संग्रहः प्रकृतिर्देशो विकारमुखमीरणम्।
असन्देहोऽनुबन्धश्च रोगाणां सम्प्रकाशितः॥ २९॥
दोषस्थानानि रोगाणां गणा नानात्मजाश्च ये।
रूपं पृथक्त्वाद्दोषाणां कर्म चापरिणामि यत्॥ ३०॥
पृथक्त्वेन च दोषाणां निर्दिष्टाः समुपक्रमाः।
सम्यङ्महति रोगाणामध्याये तत्त्वदर्शिना॥ ३१॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते रोगचतुष्के महारोगाध्यायो नाम विंशोऽध्यायः समाप्तः॥ २०॥

अब यह अध्यायके उपसंहारमें श्लोक हैं कि इस महारोगाध्यायमें रोगोंका संग्रह प्रकृति, देश, काल, विकार, कारण, वातादिभेदसे अलग अलग कारण स्वभाव रोगोंका निश्चय, रोगोंका अनुबन्ध, दोषोंके स्थान, रोगोंके गण, विकारोंकी अनेकता, दोषोंके अलग अलग धर्म और उनके परिणामि कर्म तथा वातादिदोषोंकी अलग अलग चिकित्सा यह सब तत्त्ववेत्ता महात्मा पुनर्वसुजीने कथन किया है॥२९--३१॥

इति श्रीमहर्षिचरक० पं० रामप्रसादवैद्य० भाषाटीकायां महारोगाध्यायो नाम विंशोऽध्यायः॥ २०॥

एकविंशोऽध्यायः ।

अथातोऽष्टौनिन्दितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम अष्टौनिंदितीय नामके अध्यायकी व्याख्या करते हैं ऐसा आत्रेय भगवान् कहनेलगे ॥

आठप्रकारके निन्दनीय पुरुष ।

इह खलु शरीरमधिकृत्याष्टौ पुरुषा निन्दिता भवन्ति । तद्यथा--अतिदीर्घश्चातिह्रस्वश्चातिलोमा चालोमा चातिकृष्णश्चातिगौरश्चातिस्थूलश्चातिकृशश्चेति ॥ १ ॥

इस शास्त्रमें आठ प्रकारके शरीरोंवाले पुरुष निन्दनीय कहेजातेहैं । वह आठ इस प्रकार हैं जैसे--बहुत लंबा, बहुत छोटा, बहुत बालोंवाला, जिसके शरीरपर रोम बिलकुल न हों, अत्यंत काला, बहुत गोरा और अतिस्थूल. एवं अति कृश, यह आठ प्रकारके शरीर निंदाके योग्य हैं ॥ १ ॥

अतिस्थूलमें आठ अवगुण ।

तत्रातिस्थूलकृशयोर्भूयएवापरे निन्दितविशेषा भवन्ति । अतिस्थूलस्य तावदायुषो ह्रासः जरोपरोधः कृच्छ्रव्यवायता दौर्बल्यं दौर्गन्ध्यं स्वेदाबाधः क्षुदतिमात्रं पिपासातियोगश्चेति भवन्त्यष्टौ दोषाः॥ २ ॥

इन आठोंमें, अधिकमोटा, एवं अधिककृश, विशेष निंदाके योग्य होतेहैं, क्योंकि अधिक मोटा होनेसे आयुका ह्रास होताहै और बुढापा शीघ्र ही आजाताहै तथा शरीरके सूक्ष्म छिद्र रुक जाते हैं । एवं स्त्रीसंगमें कष्ट, दुर्बलता, शरीरमें दुर्गन्धि, पसीना, अधिक क्षुधा, अधिक प्यास यह आठ दोष होतेहैं। इसलिये बहुत मोटा शरीर निंदनीय होताहै ॥ २ ॥

अति स्थूलताका कारण ।

तदतिस्थौल्यमतिसंपूरणाद्गुरुमधुरशीतस्निग्धोपयोगादव्यायामादव्यवायाद् दिवास्वप्नाद्धर्षनित्यत्वादचिन्तनाद्वीजस्वभावाच्चोपजायते ॥ ३॥

वह अतिस्थूलपना अधिक तृप्तिकारक, भारी, मीठे, शीतल, चिकने पदार्थोंके खानेसे, कसरत न करनेसे, स्त्री संग न करनेसे, दिनमें सोनेसे, सदा प्रसन्न रहनेसे, चिन्ता न करनेसे और माता पिताके मुटाईके कारणसे होताहै ॥ ३ ॥

तस्यातिमात्रमेदस्विनो मेद एवोपचीयते।न तथेतरे धातवस्तस्मादस्या-
युषो ह्रासः। शैथिल्यात्सौकुमार्य्याद् गुरुत्वाच्च मेदसो जरोपरोधः।
शुक्राबहुत्वान्मेदसावृतमार्गत्वात्कृच्छ्रव्यवायता।दौर्बल्यमसमत्वाद्धा-
तूनाम् । दौर्गन्ध्यं मेदोदोषान्मेदसः स्वभावत्वात्स्वेदलत्वाच्च । मेदसः
श्लेष्मसंसर्गाद्विष्यन्दित्वाच्च बहुत्वाद्व्यायामासहत्वात्स्वेदाबाधः ।
तीक्ष्णाग्नित्वात्प्रभूतकोष्ठवायुत्वाच्च क्षुदतिमात्रं पिपासायोगश्चेति ॥ ४ ॥

उस अति स्थूल पुरुषके शरीरमें केवल चर्बीमात्र बढती जातीहै और सब धातु बढनेसे बन्द होजातेहैं तथा क्षीण होने लगजातेहैं इस लिये मेदस्वी पुरुषकी आयुका ह्रास होना आरंभ होजाता है तथा शरीरमें शिथिलता, सुकुमारता और भारीपनसे बुढापा और छिद्रोंका रुकजाना, वीर्यकी अल्पता, तथा मेदसे शरीरके मार्गोंका रुक-जाना, स्त्रीसंगमें अधिक कष्ट होना, धातुओंकी सामान्यावस्था न रहनेसे दुर्बलता होना, चर्बीके बढनेसे चर्बीके दोषसे और चर्बीके स्वभावसे एवं पसीनेके आनेसे शरीरमें दुर्बलता बढजाती है तथा कफका संसर्ग, स्थूलता, व्यायामकी असह्यताके कारण पसीने अधिक आने लगते हैं । एवं अग्निकी क्षीणता और कोष्ठ वायुकी अधि-कताके कारण क्षुधा और प्यास बहुत बढजाती है ॥ ४ ॥

भवन्ति चात्र—मेदसावृतमार्गत्वाद्वायुः कोष्ठे विशेषतः ।
चरन् सन्धुक्षयत्यग्निमाहारं शोषयत्यपि ॥ ५ ॥
तस्मात्स शीघ्रं जरयत्याहारञ्चावकांक्षति ।
विकारांश्चाश्नुते घोरान् किञ्चित्कालव्यतिक्रमात् ॥ ६ ॥
एतावुपद्रवकरौ विशेषादग्निमारुतौ ।
एतौ हि दहतः स्थूलं वनदावो वनं यथा ॥ ७ ॥

मेदद्वारा सूक्ष्म मार्गोंके बंद होजानेसे वायु कोठेमें विशेषतासे विचरण करता है तथा जठराग्निको प्रज्वलित करके आहारको सुखादेता है । यही कारण है कि मेदस्वी पुरुषका आहार शीघ्र पचजाता है एवं भोजन करनेकी बारबार इच्छा होने लगती है, यदि मेदस्वी मनुष्यको भोजन मिलनेमें किंचित् देर होती है तो वह घोरतर दुःखोंको प्राप्त होता है । मेदस्वी पुरुषके शरीरमें अग्नि और वायु इस प्रकार विशेष उपद्रव करते हैं जैसे दावानल वनको भस्मकर डालता है ऐसेही मेदके सिवाय अन्य धातु-ओंको भी यह नाश करडालते हैं ॥ ५–७ ॥

मेदके बहुत बढजानेके दोष।

मेदस्यतीव संवृद्धे सहसैवानिलादयः।
विकारान्दारुणान्कृत्वा नाशयन्त्याशु जीवितम् ॥ ८ ॥
मेदो मांसातिवृद्धत्वाच्चलस्फिगुदरस्तनः।
अयथोपचयोत्साहो नरोऽतिस्थूल उच्यते ॥ ९ ॥
इति मेदस्विनो दोषा हेतवो रूपमेव च।
निर्दिष्टं वक्ष्यते वाच्यमतिकार्श्येऽप्यतःपरम् ॥ १० ॥

शरीरमें मेद वृद्धिको प्राप्त होकर वात, पित्त, कफके अनेक प्रकारके रोगोंको प्रगट करके जीवनको नष्ट करदेता है ॥मेद और मांसके अत्यन्त बढनेसे नितंब उदर एवं स्तन थलथल करने लगजाते हैं। इस प्रकार वृथा मोटापन होनेसे उस मनुष्यको अतिस्थूल कहते हैं ॥ इस प्रकार मेदस्वी मनुष्यके दोष और हेतु तथा रूपोंका कथन किया गया है। अब अत्यन्त कृश शरीरवालोंके हेतु और लक्षणोंको कहते हैं ॥ ८-१० ॥

अतिकृशताके कारण और लक्षण।

सेवा रूक्षान्नपानानां लंघनं प्रमिताशनम्।
क्रियातियोगः शोकश्च वेगनिद्राविनिग्रहः ॥ ११ ॥
रूक्षस्योद्वर्तनं स्नानस्याभ्यासः प्रकृतिर्जरा।
विकारानुशयः क्रोधः कुर्वन्त्यतिकृशं नरम् ॥ १२ ॥

रूक्ष अन्न पानके अधिक सेवन करनेसे, लंघन करनेसे, अलपभोजन करनेसे, अति शोधन अथवा परिश्रम करनेसे, शोकसे, मलमूत्रादि वेगोंको रोकनेसे, रात्रिमें जागनेसे, रूखे द्रव्योंके उद्वर्तन करनेसे, स्नानका अभ्यास न रखनेसे, कृशताकारक आहार विहारके सेवनसे, एवं बुढापेसे तथा सदैव रोगी और क्रोधी रहनेसे मनुष्य दुर्बल अर्थात् कृश होते हैं ॥ ११ ॥ १२ ॥

व्यायाममतिसौहित्यं क्षुत्पिपासामथौषधम्।
कृशो न सहते तद्वदतिशीतोष्णमैथुनम् ॥ १३ ॥
प्लीहा कासः क्षयः श्वासो गुल्मार्शांस्युदराणि च।
कृशं प्रायोऽभिधावन्ति रोगाश्च ग्रहणीगताः ॥ १४ ॥

कृशशरीरवाला मनुष्य परिश्रम नहीं कर सकता, एवं पेट भरकर भोजन, भूख, प्यास, अधिक औषधि सेवन, बहुत सर्दी, बहुत गर्मी अधिक मैथुन इस सबको

सम्हारा नहीं सकता । एवं इस दुर्बल शरीरवाले मनुष्यको-तिल्ली. खांसी. क्षय, श्वास, गोला, अर्श और उदररोग आकर घेर लेते हैं तथा कृश मनुष्यकी ग्रहणी रोग भी होजाता है ॥ १३ ॥ १४ ॥

शुष्कस्फिगुदरग्रीवो धमनीजालसन्ततः ।
त्वगस्थिशोषोऽतिकृशः स्थूलपर्वा नरो मतः ॥ १५ ॥
सततव्याधितावेतावतिस्थूलकृशौ नरौ ।
सततं चोपचर्य्यौ हि कर्षणैर्बृंहणैरपि ॥ १६ ॥

कृश मनुष्यके-नितंब, उदर और ग्रीवा सूख जाती हैं तथा शरीर नसोंके जालसे व्याप्तहुआ दिखाई देने लगता है, त्वचा और हड्डिएं सूखजाती हैं और गांठोंके स्थान मोटे मोटे दिखाई देने लगते हैं ॥ क्योंकि स्थूल और कृश यह दोनों ही सर्वदा रोगग्रस्त होते हैं इसलिये इनको यथाक्रम लंघन और बृंहणसे सदैव उपचार करना योग्य है ॥ १५ ॥ १६ ॥

स्थौल्यकार्श्ये वरं कार्श्यं समोपकरणौ हितौ ।
यद्युभौ व्याधिरागच्छेत्स्थूलमेवातिपीडयेत् ॥ १७ ॥

अधिक स्थूल और अधिक कृश इन दोनोंमें स्थूलकी अपेक्षा कृश फिर भी अच्छा माना जाता है. क्योंकि दोनोंके उपकरण समान होनेपर भी स्थूल मनुष्यको रोग-ग्रस्त होनेपर अधिक कष्ट सहना पडता है ॥ १७ ॥

समके लक्षण ।

सममांसप्रमाणस्तु समसंहननो नरः ।
दृढेन्द्रियत्वाद्व्याधीनां न बलेनाभिभूयते ॥ १८ ॥
क्षुत्पिपासातपसहः शीतव्यायामसंसहः ।
समपक्ता समजरः सममांसचयो मतः ॥ १९ ॥

जिस मनुष्यके शरीरमें मांसका परिमाण ठीक होता है और देह सुडौल और सौम्य होता है उसके सब इंद्रिय दृढ और बलवान् रहते हैं । इसीलिये व्याधि उस मनुष्य पर अपना बल नहीं पासकती । वह सुडौल शरीरवाला मनुष्य क्षुधा, प्यास, धूप तथा सर्दी और परिश्रम सह सकता है । एवं उसकी पाचनशक्ति विषम नहीं होती उसे छोटी उमरमें बुढापा भी नहीं आता. ऐसा मनुष्य सम और उत्तम कहा जाता है, इस मनुष्यको अतिकृशता और अति स्थूलता नहीं होती ॥ १८ ॥ १९ ॥

अतिस्थूल और अतिकृशका चिकित्सा क्रम।

गुरु चातर्पणं चेष्टं स्थूलानां कर्षणं प्रति।
कृशानां बृंहणार्थं च लघुसन्तर्पणञ्च यत् ॥ २० ॥

स्थूल मनुष्यको यदि कृश करना हो तो कठोर और लंघन द्रव्य सेवन कराने चाहिये। एवं कृशको पुष्ट करनेके लिये लघु और पुष्ट करनेवाले द्रव्य सेवन करने चाहिये ॥ २० ॥

स्थूलव्यक्तिकी चिकित्सा।

वातघ्नान्यन्नपानानि श्लेष्ममेदोहराणि च।
रूक्षोष्णा वस्तयस्तीक्ष्णा रूक्षाण्युद्वर्त्तनानि च ॥ २१ ॥
गुडूचीभद्रमुस्तानां प्रयोगस्त्रैफलस्तथा।
तक्रारिष्टप्रयोगस्तु प्रयोगो माक्षिकस्य च ॥ २२ ॥
विडङ्गं नागरं क्षारः काललोहरजो मधु।
यवामलकचूर्णञ्च प्रयोगः श्रेष्ठ उच्यते ॥ २३ ॥

अब स्थूल मनुष्यकी चिकित्साका वर्णन करते हैं। वात और कफनाशक तथा मेदके हरनेवाले अन्न पानोंका सेवन करावे और रूक्ष, गरम, तीक्ष्ण वस्ति करे। रूक्ष उद्वर्तनोंका प्रयोग करावे तथा गिलोय और भद्रमुस्तकका क्वाथ, त्रिफलेका क्वाथ, छाछ, अरिष्ट, शहद, बायविडंग, सोंठ, जवाखार, शहदके संग उत्तम लोहभस्म, जव, आमलेका चूर्ण इन सबका प्रयोग करना मेदरोगके नष्ट करनेके लिये उत्तम माना है ॥ २१-२३ ॥

बिल्वादिपञ्चमूलस्य प्रयोगः क्षौद्रसंयुतः।
शिलाजतुप्रयोगस्तु साग्निमन्थरसः शिला ॥ २४ ॥
प्रशातिका प्रियंगुश्च श्यामाका यवका यवाः।
जूर्णाह्वाः कोद्रवा मुद्गा कुलत्थाश्चक्रमर्दकाः ॥ २५ ॥
आढकीनाञ्च बीजानि पटोलामलकैः सह।
भोजनार्थे प्रयोज्यानि पानञ्चानुमधूदकम् ॥ २६ ॥
अरिष्टांश्चानुपानार्थे मेदोमांसकफापहान्।
अतिस्थौल्यविनाशाय संविभज्य प्रयोजयेत् ॥ २७ ॥

एवं-बिल्वादि पंचमूलके क्काथमें शहद मिलाकर पिलाना उत्तम माना है । अथवा शिलाजीतका प्रयोग करे । अथवा अग्निमंथका रस एवं मनशिलका प्रयोग भी परम उत्तम है अणुव्रीहि नामक धान्य, प्रियंगु (कांगनी धान्य), श्यामाकधान्य, क्षुद्र-धान्य, जवार, जव, कोद्रव, मूंग, कुलथी, पनवाड (चक्रमर्द), अरहर, पटोल और आंवलेका यूष यह सब खानेके लिये देना चाहिये । और मधु तथा जल या समया-नुसार दोनों मिलाकर अनुपानके लिये देना चाहिये और पीनेके लिये या औषधिके पीछे अनुपानके लिये मेदनाशक तथा स्थूलताके नष्ट करनेवाले एवं कफनाशक अरिष्ट देना चाहिये ॥ २४--२७ ॥

प्रजागरं व्यवायञ्च व्यायामं चिन्तनानि च ।
स्थौल्यमिच्छन् परित्यक्तुं क्रमेणाभिप्रवर्द्धयेत् ॥ २८ ॥

जिस मनुष्यको अपने शरीरकी स्थूलता दूर करनेकी इच्छा हो वह रात्रिको जागरण, स्त्रीसेवन, व्यायाम, एवं चिन्ता इनका यथाक्रम सेवन करता जावे और धीरे धीरे इनके सेवनको बढाता जावे ॥ २८ ॥

कृशतानाशक प्रयोग ।

स्वप्नो हर्षः सुखा शय्या मनसो निर्वृतिः शमः ।
चिन्ताव्यवायव्यायामविरामः प्रियदर्शनम् ॥ २९ ॥
नवान्नानि नवं मद्यं ग्राम्यानूपौदका रसाः ।
संस्कृतानि च मांसानि दधि सर्पिः पयांसि च॥ ३० ॥
इक्षवः शालयो मांसा गोधूमा गुडवैकृतम् ।
वस्तयः स्निग्धमधुरास्तैलाभ्यङ्गश्च सर्वदा ॥ ३१ ॥
स्निग्धमुद्वर्तनं स्नानं गन्धमाल्यनिषेवणम् ।
शुक्लो वासो यथाकालं दोषाणामवसेचनम् ॥ ३२ ॥
रसायनानां वृष्याणां योगानामुपसेवनम् ।
हत्वातिकार्श्यमादत्ते नृणामुपचयं परम् ॥ ३३ ॥

अब कृशताके नाश करनेवाले यत्नोंको कहतेहैं । जैसे इच्छापूर्वक सोना, हर्ष, सुन्दर नरम शय्या, संतोष, शांति, चिन्ता न करना, स्त्री संग न करना, व्यायाम न करना, इष्टवस्तुको प्राप्त होना, नवीन अन्न, नवीन मद्य, ग्रामसंचारी जीव, अनूप संचारी जीव, जलचर जीव इनका मांसरस, उत्तम बनाया हुआ मांस, दधि, घृत, दूध, ईख, शालीचावल, उडद, गेहूं, मिठाई, चिकने और मीठे पदार्थोंकी बस्ति,

नित्यतैलमर्दन, चिकने उद्वर्तन, स्नान, चन्दनका लेपन, सुगंधित फूलमाला, स्वच्छ वस्त्र धारण करना, समय पर शरीरका शोधन करना, रसायन तथा वृष्य योगोंका सेवन करना इन सब द्रव्योंका उपयोग मनुष्यकी कृशता (दुबलापन) को दूर करके परमपुष्टिको देनेवाला है ॥ २९-३३ ॥

अचिन्तनाच्च कार्य्याणां ध्रुवं सन्तर्पणेन च ।
स्वप्नप्रसङ्गाच्च नरो वराह इव पुष्यति ॥ ३४ ॥

एवं किसी कार्यकी भी चिन्ता न करनेसे तथा सदैव संतर्पण द्रव्योंके सेवन करनेसे और मस्त पडे रहनेसे मनुष्यका शरीर सूकरके समान पुष्ट होजाताहै ॥ ३४ ॥

निद्राका कारण और उसके उचितानुचित प्रकार ।

यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः ।
विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः ॥ ३५ ॥
निद्रायत्तं सुखं दुःखं पुष्टिः कार्श्यं बलाबलम् ।
वृषता क्लीबता ज्ञानमज्ञानं जीवितं न च ॥ ३६ ॥
अकालेऽतिप्रसङ्गाच्च न च निद्रा निषेविता ।
सुखायुषी परा कुर्य्यात्कालरात्रिरिवागता ॥ ३७ ॥
सैव युक्ता पुनर्युङ्क्ते निद्रा देहं सुखायुषा ।
पुरुषं योगिनं सिद्ध्या सत्या बुद्धिरिवागता ॥ ३८ ॥

जब मनुष्यके मनमें क्लांति आजातीहै और कर्मेंद्रियें थककर अपने विषयोंसे निवृत्त होजातीहैं तब इस मनुष्यको निद्रा आतीहै अर्थात् सो जाताहै सुख और दुःख, पुष्टता और कृशता, बल तथा निर्बलता, वृषता तथा क्लीबता, ज्ञान और अज्ञान एवं जीवन और मरण यह सब निद्राके अधीन है । बे समय ली हुई बहुत ज्यादा ली हुई एवं एकसाथ बिल्कुल न ली हुई मनुष्यके सुख और आयुको कालरात्रि की तरह नष्ट करदेतीहै और वही निद्रा यदि युक्तिपूर्वक ठीक सेवन कीजावे तो जैसे योगी पुरुष सिद्धिको प्राप्त होकर सत्यबुद्धिका लाभ करलेताहै उसी प्रकार उचित रीतिसे निद्रासेवन करनेवाला मनुष्य सुख और दीर्घायुको प्राप्त होताहै ॥ ३५-३८ ॥

गीताध्ययनमद्यस्त्रीकर्मभाराध्वकर्षिताः ।
अजीर्णिनः क्षताः क्षीणा वृद्धा बालास्तथाबलाः ॥ ३९ ॥
तृष्णातीसारशूलार्त्ताः श्वासिनः शूलिनः कृशाः ।
पतिताभिहतोन्मत्ताः क्लान्ता यानप्रजागरैः ॥ ४० ॥

क्रोधशोकभयक्लान्ता दिवास्वप्नोचिताश्च ये ।
सर्व एते दिवास्वप्नं सेवेरन् सार्वकालिकम् ॥ ४१ ॥
धातुसाम्यात्तथा ह्येषां बलञ्चाप्युपजायते ॥
श्लेष्मा पुष्यति चाङ्गानि स्थैर्य्यं भवति चायुषः ॥ ४२ ॥

जो मनुष्य गायन, अध्ययन, मद्यपान, स्त्रीसंग, कर्म, भार और मार्गसे थकगये हैं एवं–अजीर्णरोगी, उरक्षतवाला, क्षीण, वृद्ध, बालक, दुर्बल तथा प्यास, अतिसार, शूलसे पीडित, श्वासरोगी, हिचकीसे ग्रसाहुआ और कृश तथा गिरपडा हुआ एवं जिनके चोट लगीहो, बावला और सवारीसे थकाहुआ, जो रात्रिमें जागाहो क्रोधी, शोकाकुल, भयातुर, दिनमें सोनेके अभ्यासवाला इन सब मनुष्योंको सब ऋतुओंमें दिनमें भी सोना अनुचित नहीं (इनसे सिवाय अन्य मनुष्योंको दिनमें सोना नहीं चाहिये)॥ ऊपर कहेहुए मनुष्योंके दिनमें सोनेसे सब धातु साम्यावस्थामें आकर बलकी वृद्धिको प्राप्त होते हैं और श्लेष्मा इनके अंगोंको पुष्ट करताहै जिससे इनके आयुमें स्थिरता प्राप्त होती है ॥ ३९–४२ ॥

ग्रीष्म ऋतुमें दिवास्वाप ।

श्लेष्मा चादानरूक्षाणां वर्द्धमाने च मारुते ।
रात्रीणां चातिसंक्षेपाद्दिवास्वप्नः प्रशस्यते ॥ ४३ ॥

ग्रीष्मऋतुमें मनुष्योंके शरीर आदानकालके आकर्षणसे रूक्ष होते हैं और वायुका संचय होता है तथा रात्रि बहुत छोटी होती हैं इसलिये गर्मियोंमें दिनका सोना भी उत्तम कहाहै ॥ ४३ ॥

दिवानिद्राका निषेध ।

ग्रीष्मवर्ज्येषु कालेषु दिवास्वप्नात् प्रकुप्यतः ।
श्लेष्मपित्ते दिवास्वप्नस्तस्मात्तेषु न शस्यते ॥ ४४ ॥
मेदस्विनः स्नेहनित्याः श्लेष्मलाः श्लेष्मरोगिणः ।
दूषीविषार्त्ताश्च दिवा न शयीरन् कदाचन ॥ ४५ ॥

गर्मियोंके सिवाय अन्यऋतुओंमें दिनके सोनेसे कफ और पित्त कुपित होते हैं इस लिये अन्यऋतुओंमें दिनका सोना अनुचित कहाहै जो मनुष्य अधिक मेदवाले हैं अथवा स्नेहको सेवन करनेवाले एवं कफप्रधान और कफके रोगवाले तथा दूषीविषसे पीडित हों उन मनुष्योंको किसी कालमें भी दिनमें सोना नहीं चाहिये ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

दिवानिद्राके उपद्रव।

हलीमकः शिरःशूलं स्तैमित्यं गुरुगात्रता।
अङ्गमर्दोऽग्निनाशश्च प्रलेपो हृदयस्य च ॥ ४६॥
शोथारोचकहृल्लासपीनसार्द्धावभेदकाः।
कोठाश्च पिडकाः कण्डूस्तन्द्रा कासो गलामयाः ॥ ४७ ॥
स्मृतिबुद्धिप्रमोहाश्च संरोधः स्रोतसां ज्वरः।
इन्द्रियाणामसामर्थ्यं विषवेगप्रवर्तनम् ॥ ४८ ॥
भवेन्नृणां दिवास्वप्नस्याहितस्य निषेवणात्।
तस्माद्धिताहितं स्वप्नं बुद्ध्वा स्वप्यात्सुखं बुधः ॥ ४९ ॥

बे समय अथवा बहुत सोनेसे मनुष्योंके शरीरमें हलीमक, मस्तकपीडा, स्तैमित्य, भारीपन, अंगमर्द, मंदाग्नि, हृदयका लिपासा होना, शोथ, अरुचि, हल्लास, पीनस, अर्धावभेदक, कोठरोग, पिडका, खुजली, तंद्रा, कास, गलरोग, स्मृति और बुद्धिका नाश, स्रोतोंका अवरोध, ज्वर, इंद्रियोंमें निर्बलता, यदि दूषित विष हो तो उसके वेगकी प्रवृत्ति इतने उपद्रव होते हैं। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि, वह सोने (निद्रा) के विषयमें उचितानुचित एवं हिताहित विचारकर शयन करे॥४६–४९

रात्रौ जागरणं रूक्षं स्निग्धं प्रस्वपनं दिवा।
अरूक्षमनभिष्यन्दि त्वासीनप्रचलायितम् ॥ ५०॥

रात्रिको जागनेसे रूक्षता उत्पन्न होतीहै, दिनमें सोनेसे स्निग्धता उत्पन्न होतीहै एवं आसनपर बैठे बैठे ऊंघनेसे न तो रूक्षता ही होती है और न स्निग्धता प्रगट होती है ॥ ५० ॥

निद्राजनक योग।

देहवृत्तौ यथाहारः तथा स्वप्नः सुखो मतः।
स्वप्नाहारसमुत्थे च स्थौल्यकार्श्ये विशेषतः ॥ ५१ ॥
अभ्यङ्गोत्सादनं स्नानं ग्राम्यानूपौदका रसाः।
शाल्यन्नं सदधि क्षीरं स्नेहो मद्यं मनःसुखम् ॥ ५२ ॥
मनसोऽनुगुणा गन्धाः शब्दाः संवाहनानि च।
चक्षुषस्तर्पणं लेपः शिरसो वदनस्य च ॥ ५३ ॥

स्वास्तीर्णशयनं वेश्मसुखं कालस्तथोचितः ।
आनयन्त्यचिरान्निद्रां प्रनष्टा या निमित्ततः ॥ ५४ ॥

शरीरवृत्तिके निर्वाहके लिये जैसे आहार उपयोगी है वैसे ही निद्रा भी परम उपयोगी है इस लिये प्रायः स्थूलता और कृशता यह दोनों निद्रा और आहारके अधीनही हैं । यदि किसी कारणसे मनुष्यकी निद्राका नाश होगया हो तो अभ्यंग, उद्वर्तन, स्नान और ग्राम्य तथा जलचारी जीवोंके मांसका रस, शालि चावल, दही, दूध, स्नेह, मद्य और मनको सुख देनेवाले कर्म और मनको हरनेवाली सुगंधि तथा प्यारे प्यारे शब्द और देहका मसलना तथा दबाना, नेत्रोंका सन्तर्पण और मस्तक पर सुगंधित लेप तथा शिरके ऊपर पानीकी धारा देना सुखकारक शय्या, समयोचित घरका सुख यह सब शीघ्र निद्राके लानेवाले हैं ॥ ५१–५४ ॥

निद्रा न आनेके हेतु ।

कायस्य शिरसश्चैव विरेकश्छर्दनं भयम् ।
चिन्ता क्रोधस्तथा धूमो व्यायामो रक्तमोक्षणम् ॥ ५५ ॥
उपवासोऽसुखा शय्या सत्त्वौदार्य्यं तमोजयः ।
निद्राप्रसङ्गमहितं वारयन्ति समुत्थितम् ॥ ५६ ॥
एत एव च विज्ञेया निद्रानाशस्य हेतवः ।
कार्य्यं कालो विकारश्च प्रकृतिर्वायुरेव च ॥ ५७ ॥

शिरका और शरीरका विरेचन, वमन, भय, चिन्ता, क्रोध, धूप, परिश्रम, रक्तमोक्षण, उपवास, खराब शय्या, सत्त्वगुणकी अधिकता, तमोगुणकी क्षीणता, इन सबसे प्राप्त हुई निद्रा भी नष्ट होजातीहै काममें लगे रहना, बुढापा, बीमारी, विशेष स्वभाव और वातवृद्धि यह पांच निद्रानाशके कारण हैं ॥ ५५--५७ ॥

निद्राकी उत्पत्ति और गुण ।

तमोभवा श्लेष्मसमुद्भवा च मनःशरीरश्रमसम्भवा च ।
आगन्तुकी व्याध्यनुवर्तिनी च रात्रिस्वभावप्रभवा च निद्रा ॥ ५८ ॥
रात्रिस्वभावप्रभवा मता या तां भूतधात्रीं प्रवदन्ति निद्राम् ।
तमोभवामाहुरघस्य मूलं शेषं पुनर्व्याधिषु निर्दिशन्ति ॥ ५९ ॥

निद्रा तमोगुणसे उत्पन्न होती है तथा कफसे उत्पन्न होती है एवं मन और शरीरके परिश्रमसे निद्रा आती है तथा विष आदि सेवनसे अथवा भूतादि आवेशसे आगन्तुक निद्रा उत्पन्न होती है और किसी किसी रोगमें भी निद्रा उत्पन्न होती है ॥

तथा रात्रिमें स्वाभाविक निद्रा उत्पन्न होती है उस निद्राको भूतधात्री (अर्थात् प्राणियोंकी दाया) भी कहते हैं, तमोभव निद्रा पापका मूल है और बाकी निद्राको व्याधिके प्रति निदर्शन कहते हैं अर्थात् स्वाभाविक निद्रा तो मनुष्योंके लिये प्राणरक्षक है और तमोभव पापका कारण है, अन्य निद्रा रोगरूप है ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

अध्यायका उपसंहार।

तत्र श्लोकाः-निन्दिताः पुरुषास्तेषां यौ विशेषेण निन्दितौ।
वक्ष्यामि कारणं दोषास्तयोर्निन्दितभेषजम् ॥ ६० ॥
येभ्यो यदा हिता निद्रा येभ्यश्चाप्यहिता यदा।
अतिनिद्रानिद्रयोश्च भेषजं यद्भवा च सा ॥ ६१ ॥
या या यथाप्रभावा च निद्रा तत्सर्वमात्रिजः।
अष्टौनिन्दितसंख्याते व्याजहार पुनर्वसुः ॥ ६२ ॥
इति योजनाचतुष्केऽष्टौनिन्दितीयोनामैकविंशोऽध्यायः॥ २०॥

अब अध्यायके उपसंहारमें यह श्लोक हैं इस अष्टौनिन्दितीय अध्यायमें आठ प्रकारके पुरुष निंदनीय और दो प्रकारके विशेष निंदनीय और निंदित होनेका कारण स्थूल और कृशके दोष तथा औषधि, निद्रा हिताहित और जिसको जिस समय हितकर है, अतिनिद्रा, अनिद्रा, निद्राके उत्पन्न होनेके कारण, जो जो निद्रा जिस जिस स्वभावकी है यह सब भगवान् पुनर्वसुजीने कथन किया है ॥ ६०–६२ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां पटियालाराज्यान्तर्गतटकसालनिवासि वैद्यपञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्य-भाषाटीकायामष्टौनिन्दितीयो नामैकविंशोध्यायः ॥ २१ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः।

अथातो लङ्घनबृंहणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम लंघनबृंहणीय नामक अध्यायकी व्याख्या करते हैं। ऐसा भगवान् आत्रेयजी कहने लगे ॥

तपःस्वाध्यायनिरतानात्रेयः शिष्यसत्तमान्।
षडाग्निवेशप्रमुखानुक्तवान् परिचोदयन् ॥ १ ॥

लङ्घनं बृंहणं काले रूक्षणं स्नेहनं तथा ।
स्वेदनं स्तम्भनञ्चैव जानीते यः स वै भिषक् ॥ २ ॥

तप और स्वाध्यायपरायण अग्निवेश आदि अपने ६ शिष्योंको सम्बोधन करके महात्मा आत्रेयजी कहने लगे कि, जो वैद्य समयानुसार लंघन, बृंहण, रूक्षण, स्नेहन, स्वेदन एवं स्तम्भन इन छहोंका प्रयोग करना जानता है उसको ही यथार्थ वैद्य कहते हैं, अन्य वैद्य नहीं कहाजाता ॥ १ ॥ २ ॥

अग्निवेशका प्रश्न ।

इति तमेवमुक्तवन्तं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच ।
भगवँल्लङ्घनं किंस्विल्लङ्घनीयाश्च कीदृशाः ।
बृंहणं बृंहणीयाश्च रूक्षणीयाश्च रूक्षणम् ॥ ३ ॥
स्नेहनं स्नेहनीयाश्च स्वेदाः स्वेद्याश्च के मताः ।
स्तम्भनं स्तम्भनीयाश्च वक्तुमर्हसि तद् गुरो ॥ ४ ॥
लङ्घनप्रभृतीनाञ्च षण्णामेषां समासतः ।
कृताकृतातिवृत्तानां लक्षणं वक्तुमर्हसि ॥ ५ ॥

इस प्रकार कहते हुए भगवान् आत्रेयजीसे आग्निवेश कहने लगे कि हे भगवन् ! लंघन किसको कहते हैं और वह लंघन कैसे मनुष्योंको कराया जाता है। बृंहण किसको कहते हैं और वह कैसे मनुष्योंको कराया जाता है। रूक्षण क्या वस्तु है और कौन २ मनुष्य रूक्षणके योग्य हैं एवम् स्नेहन किसको कहते हैं और स्नेहन किन मनुष्योंको कराना चाहिये। हे गुरो ! स्तम्भन क्या है और किनको कराना चाहिये। इन सबके विषयमें कृपया कथन कीजिये तथा संक्षेपसे लंघन आदि छहोंका योग, अयोग, अतियोगके लक्षणोंका भी वर्णन कीजिये ॥ ३–५ ॥

गुरुरुवाच—यत्किञ्चिल्लाघवकरं देहे तल्लङ्घनं स्मृतम् ।
बृंहत्वं यच्छरीरस्य जनयेत्तच्च बृंहणम् ॥ ६ ॥
रौक्ष्यं खरत्वं वैशद्यं यत् कुर्य्यात्तद्धि रूक्षणम् ।
स्नेहनं स्नेहनिःष्यन्दमार्दवक्लेदकारकम् ॥ ७ ॥
स्तम्भगौरवशीतघ्नं स्वेदनं स्वेदकारकम् ।
स्तम्भनं स्तम्भयति यद्गतिमन्तं चलं ध्रुवम् ॥ ८ ॥

इस प्रकार अग्निवेशके कहे हुए वाक्यको सुनकर आत्रेय भगवान् इस प्रकार कथन करने लगे। जो शरीरमें लघुताका करनेवाला है उसको लंघन कहते हैं। जो शरीरको पुष्ट करनेवाला है, उसको बृंहण कहते हैं एवम् जो शरीरमें रूक्षता, खरत्व विशदता उत्पन्न करे उसको रूक्षण कहते हैं। चिकनाई, अभिष्यंद, मृदुता, क्लेद उत्पन्न करनेवाली क्रियाको स्नेहन कहते हैं। स्तम्भ, गुरुता, शीतता नष्ट करके पसीना लानेवालेको स्वेदन कहते हैं। जो पदार्थ चलनेवाले पतले द्रव्यको रोकदेवे उसको स्तम्भन कहते हैं ॥ ६--८ ॥

लंघन द्रव्य।

लघूष्णं तीक्ष्णविशदं रूक्षं सूक्ष्मं खरं सरम्।
कठिनश्चैव यद्द्रव्यं प्रायस्तल्लङ्घनं स्मृतम् ॥ ९ ॥

जो द्रव्य लघु, उष्ण, तीक्ष्ण, विशद, रूक्ष, सूक्ष्म, खर, सर और कठिन हो वह प्रायः लंघन कहाजाता है, एवं निरशनको भी लंघन कहते हैं ॥ ९ ॥

बृंहण द्रव्य।

गुरु शीतं मृदु स्निग्धं बहुलं सूक्ष्मपिच्छिलम्।
प्रायो मन्दं स्थिरं सूक्ष्मं द्रव्यं बृंहणमुच्यते ॥ १० ॥

जो भारी, शीतल, मृदु, स्निग्ध, घन, सूक्ष्मपिच्छिल, मन्द, स्थिर और सूक्ष्म हो वह द्रव्य प्रायः बृंहण कहाजाता है ॥ १० ॥

रूक्षण द्रव्य।

रूक्षं लघु खरं तीक्ष्णमुष्णं स्थिरमपिच्छिलम्।
प्रायशः कठिनश्चैव यद्द्रव्यं तद्धि रूक्षणम् ॥ ११ ॥

जो द्रव्य रूक्ष, लघु, खर, तीक्ष्ण, उष्ण, स्थिर अपिच्छिल तथा कठिन हो वह प्रायः रूक्षण होता है ॥ ११ ॥

स्नेहन द्रव्यके गुण।

द्रवं सूक्ष्मं सरं स्निग्धं पिच्छिलं गुरु शीतलम्।
प्रायो मन्दं मृदु च यद्द्रव्यं तत्स्नेहनं मतम् ॥ १२ ॥

जो द्रव्य द्रव, सूक्ष्म, सर, स्निग्ध, पिच्छिल, गुरु, शीतल और मन्द तथा मृदु हो वह स्नेहन कहा जाता है ॥ १२ ॥

स्वेदन द्रव्य।

उष्णं तीक्ष्णं सरं स्निग्धं रूक्षं सूक्ष्मं द्रवं स्थिरम्।
द्रव्यं गुरु च यत्प्रायः तद्धि स्वेदनमुच्यते ॥ १३ ॥

जो द्रव्य, उष्ण, तीक्ष्ण, सर, स्निग्ध, रूक्ष, सूक्ष्म, द्रव, स्थिर और गुरु हो उसको प्रायः स्वेदन कहतेहैं ॥ १३ ॥

स्तम्भन द्रव्यके गुण ।

शीतं मन्दं मृदु श्लक्ष्णं रूक्षं सूक्ष्मं द्रवं सरम् ।
यद्द्रव्यं लघु चोद्दिष्टं प्रायस्तत्स्तम्भनं स्मृतम् ॥ १४ ॥

जो द्रव्य शीतल, मन्द, मृदु, श्लक्ष्ण, रूक्ष, सूक्ष्म, द्रव, सर और लघु हो उसको प्रायः स्तम्भन कहतेहैं ॥ १४ ॥

लंघन ।

चतुष्प्रकारा संशुद्धिः पिपासा मारुतातपौ ।
पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लंघनम् ॥ १५ ॥

चारों प्रकारकी संशुद्धि अर्थात् वमन, विरेचन, आस्थापन, शिरोविरेचन (बृंहण होनेके कारण अनुवासन नहीं गिना गया) और प्यास, पवनका सेवन, धूप, पाचन, उपवास एवम् परिश्रम यह लंघन कहे जातेहैं ॥ १५ ॥

लंघनयोग्य प्राणी ।

प्रभूतश्लेष्मपित्तास्रमलाः संदुष्टमारुताः ।
बृहच्छरीरा बलिनो लंघनीया विशुद्धिभिः ॥ १६ ॥

जिनके शरीरमें श्लेष्म, पित्त, रुधिर और मल बढेहुए हों तथा पवन दूषित होगया हो एवम् जो स्थूल और बलवान् होनेसे संशोधनके योग्य हैं वह मनुष्य लंघनीय हैं ॥ १६ ॥

येषां मध्यबला रोगाः कफपित्तसमुत्थिताः ।
वम्यतीसारहृद्रोगविसूच्यलसकज्वराः ॥ १७ ॥
विबन्धगौरवोद्गारहृल्लासारोचकादयः ।
पाचनैस्तान् भिषक् प्राज्ञः प्रायेणादावुपाचरेत् ॥ १८ ॥

जिनके शरीरमें कफ, पित्तसे उत्पन्न हुए रोग मन्दबल हैं उनको तथा जिनको बमन, अतिसार, हृदयरोग, विषूचिका, अलसक, ज्वर, विबन्ध, गुरुता, उद्गार, अरोचक आदि रोग हों उन पाचनयोग्य मनुष्योंको लंघन कराना चाहिये ॥१७॥१८॥

अत एव यथोद्दिष्टा येषामल्पबला गदाः ।
पिपासानिग्रहैस्तेषामुपवासैश्च ताञ्जयेत् ॥ १९ ॥

रोगाञ्जयेन्मध्यबलान् व्यायामातपमारुतैः ।
बलिनां किं पुनर्येषां रोगाणामवरं बलम् ॥ २० ॥

उपरोक्त रोग तथा अन्य भी अल्पबल जो रोग हैं वह सब प्यासके रोकनेसे संयमसे तथा उपवाससे जीतने योग्य हैं ॥ बली पुरुषोंके मध्यबली रोग व्यायाम, धूप और वायुसे लंघन करके जीतजाते हैं, तब अल्पबल रोगोंका तो कहना ही क्या है अर्थात् उनमें तो व्यायामादि कराना ही चाहिये ॥ १९ ॥ २० ॥

त्वग्दोषिणां प्रमीढानां स्निग्धाभिष्यन्दिबृंहिणाम् ।
शिशिरे लंघनं शस्तमपि वातविकारिणाम् ॥ २१ ॥

त्वक्‌रोगी, प्रमेहवाला, स्निग्ध, अभिष्यंदयुक्त, स्थूल और वातरोगीको भी शिशिर ऋतुमें लंघन करना पथ्य है ॥ २१ ॥

बृंहणका वर्णन ।

अदिग्धविद्धमक्लिष्टं वयःस्थं सात्म्यचारिणाम् ।
मृगमत्स्यविहङ्गानां मांसं बृंहणमुच्यते ॥ २२ ॥

जो दुर्बल, किसीका माराहुआ और कठोर, जीर्ण न हों, स्वस्थहों ऐसे सब प्रकारके मृगोंका मांस और मछलियों तथा पक्षियोंका मांस बृंहण कहा जाता है ॥ २२ ॥

क्षीणाः क्षताः कृशा वृद्धा दुर्बला नित्यमध्वगाः ।
स्त्रीमद्यनित्या ग्रीष्मे च बृंहणीया नराः स्मृताः ॥ २३ ॥

जो मनुष्य क्षीण, क्षत, कृश, वृद्ध, दुर्बल तथा रास्ता चलनेसे थकाहुआ हो तथा स्त्रीसंग और मद्यका सेवन करनेवाला हो, ग्रीष्मऋतुमें वह बृंहण करनेके योग्य है ॥

शोषार्शोग्रहणीदोषैर्व्याधिभिः कर्शिताश्च ये ।
तेषां क्रव्यादमांसानां बृंहणा लघवो रसाः ॥ २४ ॥

जो मनुष्य शोष, अर्श, ग्रहणी आदि रोगोंसे क्षीण होगये हों उनको मांस भक्षण करनेवाले जीवोंका मांसरस बृंहण कर्ता तथा लघु कहा गया है ॥ २४ ॥

स्नानमुत्सादनं स्वप्नो मधुराः स्नेहवस्तयः ।
शर्कराक्षीरसर्पींषि सर्वेषां विद्धि बृंहणम् ॥ २५ ॥

स्नान, उत्सादन, निद्रा, मधुर पदार्थ, स्नेहबस्ती, शर्करा, दूध और घी ये सब मनुष्योंके लिये बृंहण (पुष्ट) करनेवाले हैं ॥ २५ ॥

रूक्षण ।

कटुतिक्तकषायाणां सेवनं स्त्रीष्वसंयमः ।
खलीपिण्याकतक्राणां मध्वादीनां च रूक्षणम् ॥ २६ ॥

कडुवे, कषैले, चर्परे रसोंका सेवन, स्त्रियोंका अत्यन्त सेवन, खल, तिलकल्क, छाछ और मधु आदि रूखे पदार्थ सब मनुष्योंको रूक्षणकर्ता कहे जाते हैं ॥ २६ ॥

अभिष्यन्दा महादोषा मर्मस्था व्याधयश्च ये ।
ऊरुस्तम्भप्रभृतयो रूक्षणीया निदर्शिताः ॥ २७ ॥

जिनके शरीरमें अधिक मोटा होनेके कारण अथवा दोषोंकी वृद्धिके कारण गिलगिलाहट उत्पन्न होगई हो और कफ बढाहुआ हो वे तथा मर्मस्थानमें बढे हुए दोष एवम् ऊरुस्तम्भ आदि रोग रूक्षण करनेके योग्य हैं ॥ २७ ॥

स्नेह्यस्वेद्य ।

स्नेहाः स्नेहयितव्याश्च स्वेदाः स्वेद्याश्च ये नराः ।
स्नेहाध्याये मयोक्तास्ते स्वेदाख्ये च सविस्तराः ॥ २८ ॥

सब प्रकारके स्नेह और स्नेहनके योग्य मनुष्य तथा सब प्रकारके स्वेद और स्वेदन योग्य मनुष्य हम स्नेह स्वेदाध्यायमें विस्तारपूर्वक वर्णन कर चुके हैं ॥ २८ ॥

स्तंभनके योग्य ।

द्रवं तनु सरं यावच्छीतीकरणमौषधम् ।
स्वादु तिक्तं कषायञ्च स्तम्भनं सर्वमेव तत् ॥ २९ ॥

द्रव, तनु, सर, शीतल, स्वादु, तिक्त और कषाय द्रव्य स्तम्भन कहेजाते हैं॥२९॥

पित्तक्षाराग्निदग्धा ये वम्यतीसारपीडिताः ।
विषस्वेदातियोगार्त्ताः स्तम्भनीयास्तथापराः ॥ ३० ॥

जो मनुष्य पित्त, क्षार तथा अग्निसे दग्ध हुए हों और वमन तथा अतिसारसे पीडित हों अथवा विष और स्वेदके अतियोगसे क्लेशित हों वह सब स्तम्भन करने योग्य हैं॥३०॥

सम्यक् लंघनके लक्षण ।

वातमूत्रपुरीषाणां विसर्गे गात्रलाघवे ।
हृदयोद्गारकण्ठास्यशुद्धौ तन्द्राक्लमे गते ॥ ३१ ॥
स्वेदे जाते रुचौ चैव क्षुत्पिपासासहोदये ।
कृतं लङ्घनमादेश्यं निर्व्यथे चान्तरात्मनि ॥ ३२ ॥

जब रोगीके वात, मूत्र और मलका त्याग होने लगे, शरीर हलका पडजाय, हृदय शुद्ध होय, डकार शुद्ध आने लगे, कण्ठ और मुख स्वच्छ प्रतीत होने लगे, तंद्रा और क्लम दूर होजाय, शुद्ध पसीना आने लगे, रुचि प्रकट हो, भूख और प्यास लगने लगें, अपना शरीर शुद्ध, हलका और व्यथाहीन प्रतीत होवे तो समझना चाहिये कि उत्तम लंघन होगया ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

अति लंघनके दोष।

पर्वभेदोऽङ्गमर्दश्च कासः शोषो मुखस्य च।
क्षुत्प्रणाशोऽरुचिस्तृष्णा दौर्बल्यं श्रोत्रनेत्रयोः ॥ ३३ ॥
मनसः सम्भ्रमोऽभीक्ष्णमूर्द्धं वायुस्तमो हृदि।
देहाग्निबलनाशश्च लंघनेऽतिकृते भवेत् ॥ ३४ ॥

पर्वभेद, अंगमर्द, खांसी, मुख सूखना, क्षुधा बंद होना, अरुचि, प्यास, श्रोत्र और नेत्रोंमें दुर्बलता, मनमें व्याकुलता, सांस फूलना, भ्रम, मोह, हृदयमें व्याकुलता, मंदाग्नि ये सब लक्षण अतिलंघनके होते हैं ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

सम्यक् बृंहणादिके लक्षण।

बलं पुष्ट्युपलम्भश्च कार्श्यं दोषविवार्जितम्।
लक्षणं बृंहिते स्थौल्यमति चात्यर्थबृंहिते ॥ ३५ ॥
कृताकृतस्य चिह्नं यल्लंघिते तद्धि रूक्षिते।
स्तम्भितः स्याद्बले लब्धे यथोक्तैश्चामयैर्जितैः ॥ ३६ ॥
श्यावता स्तब्धगात्रत्वमुद्वेगो हनुसंग्रहः।
हृद्वर्चोनिग्रहश्च स्यादतिस्तम्भितलक्षणम् ॥ ३७ ॥

बल, पुष्टि, दृढता, अकृशता ये सब लक्षण बृंहणके होते हैं। अत्यन्त बृंहण होनेसे शरीरमें स्थूलता बढजाती है ॥ जैसे लंघनके योग और अयोगसे लक्षण होते हैं वैसेही रूक्षणके योग और मिथ्यायोगसे भी जानने। यथोक्त रोगोंके उपद्रवोंको स्तम्भन द्वारा जीतकर शरीरमें बल प्राप्त हो तो उत्तम स्तम्भन हुआ जानो ॥ अति स्तम्भन होनेसे शरीरका रंग काला पडजाता है और गात्रस्तम्भ, उद्वेग और हनुस्तम्भ, हृदयका उपरोध एवम् मलबद्धता उत्पन्न होजाती है ॥ ३५--३७ ॥

लक्षणं च कृतानां स्यात्षण्णामेषां समासतः।
तदौषधीनां व्याधीनामशमो वृद्धिरेव वा ॥ ३८ ॥
इति षट् सर्वरोगाणां प्रोक्ताः सम्यगुपक्रमाः।
साध्यानां साधने सिद्धा मात्राकालानुरोधिनः ॥ इति ॥ ३९ ॥

इस प्रकार लंघनादि ६ प्रकारके उपयोग होनेसे जो लक्षण होते हैं उनकी औषधि और धातुओंकी अशान्ति और वृद्धि यह सब कह चुके हैं। इस ६ प्रकारकी चिकित्सा द्वारा मनुष्य सब रोगोंको जीत सकता है, परन्तु यह सब मात्रा, काल आदि विचारकर प्रयोग करनेसे सब साध्यरोगोंको नष्ट कर देते हैं ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

भवति चात्र—दोषाणां बहुसंसर्गात् संकीर्य्यन्ते ह्युपक्रमाः ।
षट्त्वं तु नातिवर्त्तन्ते त्रित्वं वातादयो यथा ॥ ४० ॥
इत्यस्मिंल्लङ्घनाध्याये व्याख्याताः षडुपक्रमाः ।
यथाप्रश्नं भगवता चिकित्सार्थे प्रवर्त्तिताः ॥ ४१ ॥

इति योजनाचतुष्के लंघनबृंहणीयो नाम
द्वाविंशोऽध्यायः समाप्तः ॥ २२ ॥

वात, पित्त, कफके बहुतसे प्रकार मिश्रित चिकित्सासे नष्टकरनेयोग्य हैं। जैसे वात, पित्त, कफ इन तीन दोषोंके सिवाय और कोई दूषित करनेवाला नहीं है ऐसे ही लंघन प्रभृति ६ चिकित्सा भी इन वातादिकसे मिश्रित और पृथक् दोषोंको दूर करनेमें परमोपयोगी हैं। इस प्रकार भगवान् पुनर्वसुजीने अग्निवेशके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए इस लंघनबृंहणीयाध्यायमें ६ प्रकारकी चिकित्साका वर्णन किया है ४०-४१

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां पटियालाराज्यांतर्गतटकसालनिवासि वैद्यपंचानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायकृतप्रसादन्याख्यभाषाटीकायां योजना-चतुष्के लंघनबृंहणीयो नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

त्रयोविंशोऽध्यायः ।

अथातः सन्तर्पणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।

अब हम संतर्पणीय नामके अध्यायकी व्याख्या करतेहैं। ऐसा भगवान् आत्रेय कहनेलगे ॥

सन्तर्पणसे होनेवाले रोगोंके सकारण नाम।

सन्तर्पयति यः स्निग्धैर्मधुरैर्गुरुपिच्छिलैः ।
नवान्नैर्नवमद्यैश्च मांसैश्चानूपवारिजैः ॥ १ ॥
गोरसैर्गौडिकैश्चान्नैः पिष्टकैश्चातिमात्रशः ।
चेष्टाद्वेषी दिवास्वप्नशय्यासनसुखे रतः ॥ २ ॥
रोगास्तस्योपजायन्ते सन्तर्पणनिमित्तजाः ।
प्रमेहकण्डूपिडकाः कोठपाण्ड्वामयज्वराः ॥ ३ ॥

कुष्ठान्यामप्रदोषाश्च मूत्रकृच्छ्रमरोचकम् ।
तन्द्रा क्लैव्यमतिस्थौल्यमालस्यं गुरुगात्रता ॥ ४॥
इन्द्रियस्रोतसां रोधो बुद्धेर्मोहः प्रमीलकः ।
शोफाश्चैवंविधाश्चान्ये शीघ्रमप्रतिकुर्वतः ॥ ५ ॥

जिस प्रकार चिकने, मीठे, भारी और पिच्छिल द्रव्य तथा नवीन अन्न, मद्य, अनूपसंचारी जीवोंका मांस, जलचर जीवोंका मांस, दूध और मिठाई, पुष्ट पदार्थ तृप्तिपूर्वक भोजन करनेसे संतर्पण होताहै । उसी प्रकार व्यायाम न करना, दिनमें सोना, सोने बैठनेके सुखमें आरामसे रहना इनसे प्रमेह, खुजली, पिडका, कोष्ठरोग, पाण्डुरोग, ज्वर, कुष्ठ, आमदोष, मूत्रकृच्छ्र, अरुचि, तन्द्रा, नपुंसकता, मेदरोग, आलस्य, भारीपन, इन्द्रियोंके स्रोतोंका अवरोध, बुद्धिनाश, प्रमीलक, सूजन आदि अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न होतेहैं ॥ १-५ ॥

संतर्पणसे उत्पन्नहुए रोगोंमें चिकित्सा क्रम ।

शस्तमुल्लेखनं तेषां विरेको रक्तमोक्षणम् ।
व्यायामश्चोपवासश्च धूमाश्च स्वेदनानि च ॥ ६ ॥
सक्षौद्रश्चाभयाप्राशः प्रायो रूक्षान्नसेवनम् ।
चूर्णप्रदेहा ये चोक्ताः कण्डूकोठविनाशनाः ॥ ७ ॥

अधिक संतर्पणसे उत्पन्न हुए रोगोंमें वमन कराना, विरेचन, रक्तमोक्षण, व्यायाम, उपवास, धूम्रपान, स्वेदन, मधुके साथ हर्डका खाना और रूक्ष अन्नपानका सेवन तथा खाज और कुष्ठके नाश करनेवाले चूर्ण तथा प्रदेह आदिकोंका सेवन करना चाहिये ॥ ६ ॥ ७ ॥

संतर्पणजनित रोगनाशक क्वाथ ।

त्रिफलारग्वधं पाठां सप्तपर्णं सवत्सकम् ।
मुस्तं निम्बं समदनं जलेनोत्क्वथितं पिबेत् ॥ ८ ॥
तेन मोहादयो यान्ति नाशमभ्यस्यतां ध्रुवम् ।
मात्राकालप्रयुक्तेन सन्तर्पणसमुत्थिताः ॥ ९ ॥

त्रिफला, अमलतास, पाटला, सतवन, कुडाकी छाल, नागरमोथा, नीमका छिलका और मैनफल इन सबका क्वाथ (काढा) बनाकर मात्रा और कालको विचारकर सेवन करनेसे संतर्पणसे उत्पन्नहुए मोह (बेहोसी) आदि रोग नष्ट होतेहैं ॥ ८ ॥ ९ ॥

मुस्तमारग्वधः पाठा त्रिफला देवदारु च।

श्वदंष्ट्रा खदिरो निम्बो हरिद्रा त्वक् च वत्सकात् ॥ १० ॥

रसमेषां यथादोषं प्रातः प्रातः पिबेन्नरः।

सन्तर्पणकृतैः सर्वैर्व्याधिभिर्विप्रमुच्यते ॥ ११ ॥

नागरमोथा, अमलतास, पाठा, त्रिफला, देवदारु, गोखरू, कत्था, नीमका छिलका, हल्दी, कुडाकी छाल इन सबका क्काथ (काढा) नित्य प्रातःकाल पीनेसे संतर्पणसे उत्पन्नहुई सब प्रकारकी व्याधियां नष्ट होतींहैं ॥ १० ॥ ११ ॥

एभिश्चोद्वर्त्तनोद्धर्षस्नानयोगोपयोजितैः।

त्वग्दोषाः प्रशमं यान्ति तथा स्नेहोपसंहितैः ॥ १२ ॥

इन ऊपर कही हुई औषधियोंके तैलसे अथवा इन सबका उबटन बना मालिश करनेसे किंवा इनके क्काथमें स्नान करनेसे संतर्पणसे उत्पन्नहुए त्वचाके रोग दूर होतेहैं ॥ १२ ॥

संतर्पणजनित मूत्रदोषोंपर क्काथ।

कुष्ठं गोमेदकं हिङ्गु कौश्चास्थि त्र्यूषणं वचाम्।

वृषकैले श्वदंष्ट्रां च खराह्वाश्माभेदिकम् ॥ १३ ॥

तक्रेण दधिमण्डेन बदराम्लरसेन वा।

मूत्रकृच्छ्रं प्रमेहञ्च पीतमेतद्व्यपोहति ॥ १४ ॥

कडुआ कूट, गोमेदक नामका पत्थर, हींग, कमलगट्टेकी गिरू, सोंठ, पीपल, मिर्च, वच, अडूसा, इलायची, गोखरू, अजमोद, पाषाणभेद इन सब औषधियोंके चूर्णको छाछ अथवा दहीका जल या बेरके क्काथके साथ पीनेसे संतर्पण जनित मूत्र-कृच्छ्र और प्रमेह दूर होतेहैं ॥ १३ ॥ १४ ॥

संतर्पणज प्रमेहादिपर क्काथ।

तक्राभयाप्रयोगैश्च त्रिफलायास्तथैव च।

अरिष्टानां प्रयोगैश्च यान्ति मेहादयः शमम् ॥ १५ ॥

तक्र, हरड, त्रिफला और ऐसे ही अरिष्टोंके प्रयोग करनेसे प्रमेह आदि रोग नाशको प्राप्त होते हैं ॥ १५ ॥

त्र्यूषणं त्रिफला क्षौद्रं क्रिमिघ्नं साजमोदकम्।

मन्थोऽयं सक्तवः सर्पिर्हितो लोहोदकाप्लुतः ॥ १६ ॥

सोंठ, मिर्च, पीपल, त्रिफला, शहद, विडंग, अजमोद इन सबके चूर्णमें अगरका

जल और सत्तू तथा घी इनका मंथ बनाकर पीवे तो संतर्पणसे उत्पन्न हुए सब रोग नष्ट होते हैं ॥ १६ ॥

सन्तर्पणजनितरोगोंकी चिकित्सा।

व्योषं विडङ्गं शिग्रूणि त्रिफला कटुरोहिणी।
बृहत्यौ द्वे हरिद्रे द्वे पाठा सातिविषा स्थिरा ।
हिङ्गु केवुकमूलानि यवानी धान्यचित्रकम् ॥ १७ ॥
सौवर्चलमजाजीश्च हवुषां चेति चूर्णयेत् ।
चूर्णतैलघृतक्षौद्रभागाः स्युर्मानतः समाः ॥ १८ ॥
सक्तूनां षोडशगुणो भागः सन्तर्पणं पिबेत् ।
प्रयोगादस्य शाम्यन्ति रोगाः सन्तर्पणोत्थिताः ॥ १९ ॥
प्रमेहा मूढवाताश्च कुष्ठान्यर्शांसि कामलाः ।
प्लीहापाण्ड्वामयः शोफो मूत्रकृच्छ्रमरोचकः ॥ २० ॥
हृद्रोगो राजयक्ष्मा च कासः श्वासो गलग्रहः ।
क्रिमयो ग्रहणीदोषाः श्वैत्र्यं स्थौल्यमतीव च ।
नराणां दीप्यते चाग्निः स्मृतिर्बुद्धिश्च वर्द्धते ॥ २१ ॥

सोंठ, मिर्च, पीपल, सोहाञ्जनेके बीज, हरड, बहेडा, आमला, कुटकी, दोनों कटेली, हलदी, दारुहलदी, पाठा, अतीश, शालपर्णी, हींग, केवूककी जड, अजवायन, धनियां, चित्रक, संचरनमक, कालाजीरा, हाऊबेर इन सबका चूर्ण करके चूर्णके समान तैल, घी और शहद मिलावे तथा १६ गुना सत्तू मिलावे । इस औषधिके सेवनसे संतर्पणसे उत्पन्न हुआ प्रमेह और ऊर्ध्ववात, कुष्ठ, अर्श, कामला, प्लीहा, पांडु, सूजन, मूत्रकृच्छ्र, अरुचि, हृद्रोग, यक्ष्मा, कास, श्वास, गलग्रह, कृमि, ग्रहणी, स्थूलता, श्वित्रकुष्ठ ये सब नष्ट होते हैं और अग्नि चैतन्य होती है तथा स्मृति और बुद्धिकी वृद्धि होती है ॥ १७-२१ ॥

व्यायामनित्यो जीर्णाशी यवगोधूमभोजनः ।
सन्तर्पणकृतैर्दोषैर्मुक्त्वा स्थौल्याद्विमुच्यते ॥ २२ ॥

नित्य व्यायाम करनेवाला तथा उचित रीति पर भोजन करनेवाला मनुष्य जौ, गेहूं भोजन करते हुए भी संतर्पणसे उत्पन्न हुए रोगोंसे तथा स्थूलतासे छूट जाता है॥२२

उक्तसन्तर्पणोत्थानामपतर्पणमौषधम् ।
वक्ष्यन्ते सौषधाश्चोर्ध्वमपतर्पणजा गदाः ॥ २३ ॥

इस प्रकार संतर्पणसे उत्पन्न हुए रोगोंकी औषधियां वर्णन करचुके हैं। अब लंघनसे उत्पन्न हुए रोगोंकी औषधियां कहते हैं ॥ २३ ॥

अतर्पण जन्य रोगोंके नाम और चिकित्सा।

देहोऽग्निबलवर्णौजःशुक्रमांसबलक्षयः।
ज्वरः कासानुबन्धश्च पार्श्वशूलमरोचकः ॥ २४ ॥
श्रोत्रदौर्बल्यमुन्मादः प्रलापो हृदयव्यथा।
विण्मूत्रसंग्रहः शूलं जंघोरुत्रिकसंश्रयम् ॥ २५ ॥
पर्वास्थिसन्धिभेदश्च ये चान्ये वातजा गदाः।
ऊर्ध्ववातादयः सर्वे जायन्ते तेऽपतर्पणात् ॥ २६ ॥

अत्यन्त लंघन करनेसे अथवा अनुचित रीति पर लंघन करनेसे शरीर, जठराग्नि, बल, वर्ण, ओज, शुक्र, मांस और बलका क्षय होता है और ज्वर, खांसी इनका अनुबन्ध पार्श्वशूल, अरुचि और श्रवणशक्तिकी दुर्बलता, उन्माद, बकवाद, हृदयमें पीडा, मल मूत्रका विबंध, जंघा और ऊरु तथा त्रिकस्थानमें पीडा और पर्व, अस्थि, सन्धि इनमें भेदनकीसी पीडा, ऊर्ध्ववात आदिक बहुतसे रोग उत्पन्न होते हैं २४-२६

तेषां सन्तर्पणं तज्ज्ञैः पुनराख्यातमौषधम्।
यत्तदात्वे समर्थं स्यादभ्यासे वा तदिष्यते ॥ २७ ॥
सद्यः क्षीणो हि सद्यो वै तर्पणेनोपचीयते।
नर्ते सन्तर्पणाभ्यासाच्चिरक्षीणस्तु पुष्यति ॥ २८ ॥
देहाग्निदोषभेषज्यमात्राकालानुवर्त्तिना।
कार्य्यमत्वरमाणेन भेषजं चिरदुर्बले ॥ २९ ॥
हिता मांसरसास्तस्मै पयांसि च घृतानि च ॥
स्नानानि वस्तयोऽभ्यङ्गास्तर्पणास्तर्पणाश्च ये ॥ ३० ॥
ज्वरकासप्रसक्तानां कृशानां मूत्रकृच्छ्रिणाम्।
तृष्यतामूर्द्ध्ववातानां हितं वक्ष्यामि तर्पणम् ॥ ३१ ॥

इन लंघनसे उत्पन्न हुए रोगोंमें संतर्पणके जाननेवाले वैद्योंको उचित रीतिपर हलके संतर्पणसे अभ्यास कराकर सामर्थ्यानुसार संतर्पणकी मात्राको बढाना चाहिये। जो मनुष्य अवतर्पण (लंघन) से शीघ्र क्षीण हुआ हो वह संतर्पणके सेवनसे शीघ्रही पुष्ट होजाता है और जो मनुष्य बहुत दिनका क्षीण है वह कुछ काल पर्यन्त संतर्पणका

अभ्यास करने विना पुष्ट नहीं होसकता ॥ जो मनुष्य बहत दिनसे क्षीण होरहा हो उसके देह, अग्नि, बल और दोषको विचारकर तथा औषध, मात्रा और कालका विचार करते हुए अल्प२ (थोडी २) मात्रासे संतर्पणका अभ्यास करना चाहिये॥ बहुत रोजसे क्षीण हुए मनुष्यके लिये मांसरस, दूध, घृत, स्नान, वस्तिकर्म और अभ्यंग एवम् अनेक प्रकारके तर्पण योग्य रीति पर उपयोग करना चाहिये ॥ जो मनुष्य ज्वर और खांसीसे पीडित हो, कृश हो, मूत्रकृच्छ्र रोगवाला, तृषायुक्त एवम् ऊर्द्ध्ववातवाला हो ऐसे रोगियोंके लिये हितकारी संतर्पणोंका कथन करतेहैं ॥२७-३१ ॥

पुष्टिकर्त्ता मन्थ।

शर्करापिप्पलीतैलघृतक्षौद्रसमांशकैः।
सक्तुद्विगुणितो वृष्यस्तेषां मन्थः प्रशस्यते ॥ ३२ ॥

खांड, पीपल, तैल, घृत, मधु इनको समान भाग लेकर इनमें उनके दूने सत्तू मिलावे यह मंथ सब प्रकारके क्षीण मनुष्योंके लिये परम हितकारी है ॥ ३२ ॥

विण्मूत्रानुलोमी तर्पण।

सक्तवो मदिरा क्षौद्रं शर्करा चेति तर्पणम्।
पिबेन्मारुतविण्मूत्रकफपित्तानुलोमनम् ॥ ३३ ॥

सत्तू, मद्य, शहद, खांड इनका तर्पण सेवन करनेसे वायु, मल मूत्र, और कफ तथा पित्तका अनुलोमन होता है ॥ ३३ ॥

मूत्रकृच्छ्रादिनाशक तर्पण।

फाणितं सक्तवः सर्पिर्दधिमण्डोऽम्लकाञ्जिकम्।
तर्पणं मूत्रकृच्छ्रघ्नमुदावर्त्तहरं पिबेत् ॥ ३४ ॥

फाणित, सत्तू, घृत, दही, मंड, खट्टी कांजी इनका तर्पण पीनेसे मूत्रकृच्छ्र और उदावर्तका नाश होता है ॥ ३४ ॥

मन्थः खर्जूरमृद्वीकावृक्षाम्लाम्लीकदाडिमैः।
परूषकैः सामलकैर्युक्तो मद्यविकारनुत् ॥ ३५ ॥

छुहाडा, मुनक्का, तंतडीक, इमली, अनारदाना,फालसा, आँवले इन सबका बनाया मंथ मद्य पीनेसे हुए विकारोंको नष्ट करता है ॥ ३५ ॥

बलवर्णदायक सन्तर्पण।

स्वादुरम्लो जलकृतः सस्नेहो रूक्ष एव वा।
सद्यः सन्तर्पणो मन्थ स्थैर्य्यवर्णबलप्रदः ॥ ३६ ॥

मीठे और खट्टे पदार्थोंको लेकर जलके संयोगसे मंथ बनावे अथवा मीठे खट्टे पदार्थोंका स्वरस स्नेहनके साथ या रूखा ही पीनेसे शरीरमें स्थिरता होती है और बल तथा वर्णकी वृद्धि होती है ॥ ३६ ॥

तत्र श्लोकः–सन्तर्पणोत्था ये रोगा रोगा ये चापतर्पणात्।
सन्तर्पणीये तेऽध्याये सौषधाः परिकीर्त्तिताः ॥३७॥

इति सन्तर्पणीयोऽध्यायः समाप्तः ॥२३॥

इस संतर्पणीय नामक अध्यायमें संतर्पणसे उत्पन्न हुए रोगोंका और लंघनसे उत्पन्न हुए रोगोंका वर्णन तथा उनकी चिकित्साका वर्णन किया गया है ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदसंहितायां पटियालाराज्यान्तर्गतटकसालनिवासिवैद्यपञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्यभाषाटीकायां सन्तर्पणीयो नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः।

अथातो विधिशोणितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥

अब हम विधिशोणितीय नामके अध्यायकी व्याख्या करते हैं, ऐसा आत्रेय भगवान् कहनेलगे ॥

शुद्ध रक्तके गुण।

विधिना शोणितं जातं शुद्धं भवति देहिनाम्।
देशकालौकसात्म्यानां विधिर्यः संप्रदर्शितः ॥ १ ॥
तद्विशुद्धं हि रुधिरं बलवर्णसुखायुषा।
युनक्ति प्राणिनं प्राणः शोणितं ह्यनुवर्त्तते ॥ २ ॥

देश, काल विचारकर आत्माके अनुकूल व्यवहार करनेवाले मनुष्योंके शरीरमें जिस प्रकार शुद्ध रक्त रहे वह विधि हम प्रकाशित करते हैं, क्योंकि शरीरमें शुद्ध रक्तके रहनेसे बल, वर्ण, सुख और आयुकी वृद्धि होती है कारण कि, मनुष्योंके शरीरोंमें प्राण रुधिरके अनुवर्ती होते हैं ॥ १ ॥ २ ॥

प्रदुष्टबहुतीक्ष्णोष्णैर्मद्यैरन्यैश्च तद्विधैः।
तथातिलवणक्षारैरम्लैः कटुभिरेव च ॥ ३ ॥

कुलत्थमाषनिष्पावातिलतैलनिषेवणैः ।
पिण्डालुमूलकादीनां हरितानाञ्च सर्वशः ॥ ४ ॥
जलजानूपबैलानां प्रसहानां च सेवनात् ।
दध्यम्लमस्तुसक्तूनां सुरासौवीरकस्य च ॥ ५ ॥
विरुद्धानामुपक्लिन्नपूतीनां भक्षणेन च ।
भुक्त्वा दिवा प्रस्वपतां द्रवस्निग्धगुरूणि च ॥ ६ ॥
अत्यादानं तथा क्रोधं भजतां चातपानलौ ।
छर्द्दिवेगप्रतीघातात्काले चानवसेचनात् ॥ ७ ॥
श्रमाभिघातसन्तापैरजीर्णाध्यशनैस्तथा ।
शरत्कालस्वभावाच्च शोणितं संप्रदुष्यति ॥ ८ ॥

अब रुधिरके दूषित करनेवाले कारणोंको कहते हैं। खराब हुए बहुतसे तीक्ष्ण, गर्म पदार्थोंके सेवनसे, मादक द्रव्य, लवण, क्षार, खटाई, चर्परे पदार्थ, कुलथी, उडद, सेम, तिल, तैल, पिंडालु, मूली, सब्जी तथा जलसंचारी और अनूपसंचारी एवम् बिलेशय और प्रसह आदि जीवोंके मांस खानेसे, दही, कांजी, दहीका तोड, सत्तू, सुरा, सौवीर इनके सेवनसे एवम् अपनी आत्माके विरुद्ध आहार करनेसे तथा क्लिन्न, सडाबुसा आहार बहुत सेवन करनेसे शरीरमेंका रक्त दूषित होता है। इसी प्रकार पतले, चिकने और भारी भोजन करनेसे, दिनमें सोनेसे, मात्रासे अधिक भोजन करनेसे और क्रोध, धूप, अग्नि इनके सेवन करनेसे, वमनका वेग रोकनेसे, समयोचित रक्तमोक्षण न करानेसे भी रक्त दूषित होता है। तथा परिश्रम, चोट लगना, अजीर्ण होना, विना पचे भोजन करना इत्यादि कारणोंसे भी रक्त दूषित होता है एवम् शरद ऋतुमें स्वभावसे ही रक्तके दूषित होनेका समय है ॥ ३-८ ॥

दूषितरक्तके उपद्रव ।

ततः शोणितजा रोगाः प्रजायन्ते पृथग्विधाः ।
मुखपाकोऽक्षिरोगश्च पूतिघ्राणास्यगन्धता ॥ ९ ॥
गुल्मोपदंशवीसर्परक्तपित्तप्रमीलकाः ।
विद्रधी रक्तमेहश्च प्रदरो वातशोणितम् ॥ १० ॥
वैवर्ण्यमग्निनाशश्च पिपासा गुरुगात्रता ।
सन्तापश्चातिदौर्बल्यमरुचिः शिरसश्च रुक् ॥ ११ ॥

विदाहश्चान्नपानस्य तिक्ताम्लोद्गरणं क्लमः ।
क्रोधप्रचुरता बुद्धेः संमोहो लवणास्यता ॥ १२ ॥
स्वेदः शरीरदौर्गन्ध्यं मदः कम्पः स्वरक्षयः ।
तन्द्रानिद्रातियोगश्च तमसश्चातिदर्शनम् ॥ १३ ॥
कण्डूरुक्कोठपिडकाः कुष्ठचर्मदलादयः ।
विकाराः सर्व एवैते विज्ञेयाः शोणिताश्रयाः ॥ १४ ॥

फिर वह दुष्ट हुआ रक्त अनेक प्रकारके रोगोंको उत्पन्न करता है। उन रोगोंका यहां वर्णन करते हैं मुखरोग तथा मुख, नाक और नेत्रोंका परिपाक होना, नाकसे और मुखसे दुर्गन्ध आना, गुल्म, उपदंश, विसर्प, रक्तपित्त, प्रमीलक, विद्रधि, रक्तमूत्र (पेशाबमें रक्तका आना), प्रदर, वातरक्त, शरीरकी विवर्णता, मन्दाग्नि, प्यास, भारीपन, सन्ताप, अति दुर्बलता, अरोचक, मस्तकपीडा, अन्नपानका विदाही परिपाक होना, खट्टे तथा कडुए डकार आना, क्लम, क्रोधकी अधिकता, बुद्धिका नाश, मुखका नमकीन स्वाद, दुर्गंधित स्वेद, शरीरमें दुर्गंध, मस्ती, कम्प, स्वरभंग, तन्द्रा, अत्यन्त निद्रा, अन्धकार, खाज, पीडा, कोष्ठरोग, पिडका, कुष्ठ चर्मदल ऐसे २ रोग रक्तके दूषित होनेसे उत्पन्न होते हैं ॥ ९-१४ ॥

शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैरुपक्रान्ताश्च ये गदाः ।
सम्यक् साध्या न सिध्यन्ति रक्तजांस्तान् विभावयेत् ॥ १५ ॥

इसी प्रकार जो रोग साध्य प्रतीत होने पर भी शीतल, उष्ण तथा रूक्ष आदि क्रिया करनेपर भी शांत नहीं होते उनको भी रक्तके विकारसे उत्पन्न हुआ जानना॥

दूषितरक्तमें कर्तव्य कर्म ।

कुर्याच्छोणितरोगेषु रक्तपित्तहरीं क्रियाम् ।
विरेकमुपवासं वा स्रावणं शोणितस्य वा ॥ १६ ॥
बलदोषप्रमाणाद्वा विशुद्ध्या रुधिरस्य वा ।
रुधिरं स्रावयेज्जन्तोराशयं प्रसमीक्ष्य वा ॥ १७ ॥

रक्तके विकारोंमें रक्तपित्तनाशक क्रिया, विरेचन, उपवास एवम् रक्तका निकालना ऐसे २ उपायोंको करे। रक्तमोक्षण (फस्द खुलाना) के समय देश, काल, बल और दोष एवम् शुद्धरक्तका प्रमाण जानकर तथा शारीरिक स्थान परीक्षा करके ही रुधिर निकालना चाहिये ॥ १६ ॥ १७ ॥

वातादिदोषोंसे दूषित रक्तके लक्षण।

अरुणाभं भवेद्वातात्पिच्छिलं फेनिलं तनु।
पित्तात्पीतासितं रक्तं सौष्ण्यात्स्यायति वै चिरात् ॥ १८ ॥
ईषत्पाण्डुकफाद् दुष्टं पिच्छिलं तन्तुमद्घनम्।
द्विदोषलिङ्गं संसर्गात् त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम् ॥ १९ ॥

वायुसे दूषितहुआ रक्त-लाल, झागदार, पिच्छिल और पतला होताहै। पित्तसे दूषित हुआ रक्त-पीला, काला, लाल, गर्म और देरमें जमनेवाला होताहै इसी प्रकार कफसे दूषितहुआ रक्त-कुछ २ पांडुवर्णका, पिच्छिल, तारयुक्त, गाढा होताहै। दो दोषोंके लक्षणोंवाला दो दोषोंसे दूषित जानना एवम् त्रिदोषके लक्षण मिलनेसे तीनों दोषोंसे दूषित समझना चाहिये ॥ १८ ॥ १९ ॥

शुद्धरक्तके लक्षण।

तपनीयेन्द्रगोपाभं पद्मालक्तकसन्निभम्।
गुञ्जाफलसवर्णञ्च विशुद्धं विद्धि शोणितम् ॥ २० ॥

जो रक्त सुवर्णके समान तथा वीरवहूटीके समान लाल वर्णका हो एवम् पद्मराग मणिके समान प्रकाशवाला हो अथवा रत्तक (चिरमटी, घुंघची) के वर्णसमान लाल रंगका हो वह शुद्ध रक्त जानना ॥ २० ॥

रक्तमोक्षणानन्तर कर्तव्य।

नात्युष्णशीतं लघुदीपनीयं रक्तेऽपनीते हितमन्नपानम्।
तदा शरीरं ह्यनवस्थितासृगग्निर्विशेषेण च रक्षितव्यम् ॥ २१ ॥

रक्त निकलवानेके अनन्तर जो अधिक गर्म तथा अधिक शीतल न हो ऐसा हलका और अग्निको उद्दीपन करनेवाला अन्नपान सेवन करना चाहिये। रुधिर निकल जाने पर शरीरमें रक्तकी स्थिरता नहीं रहती इसलिये ऐसे समय पाचन करनेवाली अग्निकी विधिपूर्वक रक्षा करनी चाहिये ॥ २१ ॥

प्रसन्नवर्णेन्द्रियमिन्द्रियार्थानिच्छन्तमव्याहतपक्तृवेगम्।
सुखान्वितं पुष्टिबलोपपन्नं विशुद्धरक्तं पुरुषं वदन्ति ॥ २२ ॥

मनुष्यके शरीरमें रक्तके शुद्ध होजानेसे वर्ण और इन्द्रियोंकी प्रसन्नता होतीहै तथा भोगकी इच्छा, पाचनशक्ति, सुख, पुष्टि और बलकी वृद्धि होतीहै ॥ २२ ॥

मदमूर्छादिके हेतु।

यदा तु रक्तवाहीनि रससंज्ञावहीनि च ॥
पृथक् पृथक् समस्ता वा स्रोतांसि कुपिता मलाः ॥ २३ ॥

मलिनाहारशीलस्य रजोमोहावृतात्मनः।
प्रतिहत्यावतिष्ठन्ते जायन्ते व्याधयस्तदा ॥ २४ ॥
मदमूर्च्छायसंन्यासास्तेषां विद्याद्विचक्षणः।
यथोत्तरं बलाधिक्यं हेतुलिङ्गोपशान्तिषु ॥ २५ ॥

जो मनुष्य सडेबुसे दूषित भोजनको करताहै उसके शरीरमें वात आदि दोष कुपित होकर अलग २ अथवा मिलकर रक्तवाहिनी नसोंको दूषित करके उनमें रहतेहैं तब उस दूषित आहारके करनेवाले मनुष्यके शरीरमें अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं. जैसे--उन्माद, मूर्छा, संन्यास (बेहोशी) इत्यादि इस लिये बुद्धिमान् वैद्यको हेतु, लक्षण, उपशय इनको विचारकर चिकित्सा करना चाहिये। रक्तमें दोषके बलवान् होनेसे मद, मूर्च्छा, संन्यास यह तीनों प्रथमकी अपेक्षा दूसरा, दूसरेकी अपेक्षा तीसरा घोरतर होताहै ॥ २३--२५ ॥

दुर्बले चेतसः स्थानं यदा वायुः प्रपद्यते।
मनो विक्षोभयज्जन्तोः संज्ञां संमोहयेत्तदा ॥ २६ ॥
पित्तमेवं कफश्चैवं मनो विक्षोभयन्नृणाम्।
संज्ञां नयत्याकुलतां विशेषश्चात्र वक्ष्यते ॥ २७ ॥

जब मनुष्यके दुर्बल चित्तमें कुपित होकर वायु प्रवेश करता है उस समय उस मनुष्यके मनको चञ्चल करके ज्ञानको बिगाड देताहै इसी प्रकार कुपित हुआ पित्त और कफ मनुष्योंके मनको चञ्चल करता हुआ ज्ञानको नष्ट करदेताहै। उसीको विशेष रूपसे वर्णन करतेहैं ॥ २६ ॥ २७ ॥

वातादिकृत उन्मादका लक्षण।

सक्तानल्पद्रुताभाषं चलस्खलितचेष्टितम्।
विद्याद्वातमदाविष्टं रूक्षश्यावारुणाकृतिम् ॥ २८ ॥

वातजनित मदरोगमें मनुष्य जल्दी २ और अधिक बकवाद करताहै। उसका स्वभाव चंचल होजाताहै एवम् चेष्टा स्खलित होजाती है तथा आकृति रूखी, काली और लालसी होतीहै। ऐसे मनुष्यको वायुके मदसे दूषित जानना ॥ २८ ॥

सक्रोधपरुषाभाषं संप्रहारकलिप्रियम्।
विद्यात्पित्तमदाविष्टं रक्तपीतासिताकृतिम् ॥ २९ ॥

पित्तजनित मदमें मनुष्य क्रोधयुक्त और कटु भाषण करनेवाला तथा मारनेको दौडनेवाला और कलह करनेवाला होता है। उसका वर्ण लाल, पीला और काले रंगका होता है ॥ २९ ॥

स्वल्पसम्बन्धवचनं तन्द्रालस्यसमन्वितम् ।
विद्यात्कफमदाविष्टं पाण्डुं प्रध्यानतत्परम् ॥ ३० ॥

कफजनित मदरोगमें अंटसंट बकना, तंद्रा, आलस्य इन लक्षणोंवाला होता है और उसका वर्ण पांडुरंगका होता है तथा वह हर समय ध्यान लगाए बैठा रहताहै ॥ ३० ॥

सर्वाण्येतानि रूपाणि सन्निपातकृते मदे ।
जायन्ते शाम्यति त्वाशु मदो मद्यमदाकृतिः ॥ ३१ ॥
यश्च मद्यमदः प्रोक्तो विषजो रौधिरश्च यः ।
सर्व एते मदानर्ते वातपित्तकफाश्रयात् ॥ ३२ ॥

तीन दोषोंके लक्षण मिलनेसे त्रिदोषज मदरोग जानना । मद्यपानसे उत्पन्न हुआ मदरोग शीघ्र ही प्रगट होजाता है । और शीघ्र ही नाशको प्राप्त होता है । अन्य भी जितने प्रकारके मदरोग हैं जैसे—मदजनित,विषजनित, रक्तजनित यह सब वात, पित्त, कफके आश्रय होकर ही होते हैं ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

वातादिजनितमूर्च्छाका लक्षण ।

नीलं वा यदि वा कृष्णमाकाशमथवारुणम् ।
पश्यंस्तमः प्रविशति शीघ्रश्च प्रतिबुध्यते ॥ ३३ ॥
वेपथुश्चाङ्गमर्दश्च प्रपीडा हृदयस्य च ।
कार्श्यं श्यावारुणा छाया मूर्च्छाये वातसम्भवे ॥ ३४ ॥

. जो मनुष्य आकाशको नीला, काला, लाल देखता हुआ झटझट अपने आपको अन्धकारमें प्रवेश होता मालूम करे, शीघ्र ही होशमें आजाय तथा जिसके शरीरमें कम्प, अंगमर्द, हृत्पीडा, कृशता, श्यामता तथा अरुणता प्रतीत हो उसको वातजनित मूर्च्छा जानना चाहिये ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

रक्तं हरितवर्णं वा वियत् पीतमथापि वा ।
पश्यंस्तमः प्रविशति सस्वेदश्च प्रबुध्यते ॥ ३५ ॥
सपिपासः ससन्तापो रक्तपित्ताकुलेक्षणः ।
संभिन्नवर्चाः पीताभो मूर्च्छाये पित्तसम्भवे ॥ ३६ ॥

पित्तकी मूर्च्छामें आकाश लाल, हरित, पीला दिखाई देकर झट अंधकारमें प्रवेश होना प्रतीत होता है और अत्यन्त पसीना आकर फिर होशमें आजाता है फिर उसको प्यास, संताप, लाल पीले नेत्र, दस्त, देहका वर्ण पीला ये लक्षण होते हैं ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

मेघसङ्काशमाकाशमावृतं वा तमो घनैः।
पश्यंस्तमः प्रविशति चिराच्च प्रतिबुध्यते ॥ ३७ ॥
गुरुभिः प्रावृतैरङ्गैर्यथैवार्द्रेण चर्म्मणा।
सप्रसेकः सहृल्लासो मूर्च्छायें कफसम्भवे ॥ ३८ ॥

कफकी मूर्च्छामें मनुष्य आकाशको बादलोंसे ढकाहुआ और अंधेरी छाई हुई देखते २ अंधकारमें प्रवेश करता है बहुत देरमें होश आने पर अपने शरीरको गीले वस्त्रसे ढकासा प्रतीत करता है। मुखसे पानीका बहना और हल्लास (जीमचलाना) यह लक्षण होते हैं ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

सर्वाकृतिः सन्निपातादपस्मार इवागतः।
स जन्तुं पातयत्याशु विना बीभत्सचेष्टितैः ॥ ३९ ॥

सन्निपातकी मूर्च्छामें अपस्मार (मृगी) रोगके समान लक्षण होते हैं वैसेही एकदम गिरजाता है.अन्तर केवल इतनाही होता है कि, अपस्मारमें जो बीभत्स चेष्टा(जैसे मुखसे झाग आदि निकलना) होती है वह सन्निपातकी मूर्च्छामें नहीं होती ॥ ३९ ॥

दोषेषु मदमूर्च्छायाः कृतवेगेषु देहिनाम्।
स्वयमेवोपशाम्यन्ति संन्यासो नौषधैर्विना ॥ ४० ॥

मदसे उत्पन्नहुई मूर्छामें दोषोंका वेग शान्त होनेपर मूर्छा भी स्वयम् शान्त होजाती है। परन्तु संन्यासरोग विना औषधिके कदापि शान्त नहीं होता ॥ ४० ॥

संन्यास रोगका लक्षण।

वाग्देहमनसां चेष्टामाक्षिप्यातिबला मलाः।
संन्यस्यन्त्यबलं जन्तुं प्राणायतनसंश्रिताः ॥ ४१ ॥
स ना संन्याससंन्यस्तः काष्ठीभूतो मृतोपमः।
प्राणैर्वियुज्यते शीघ्रं मुक्त्वा सद्यःफलां क्रियाम् ॥ ४२ ॥

वात, पित्त, कफ अत्यन्त कुपित होनेसे प्राणोंका आश्रय लेते हुए जब देह, मन और वाणीकी क्रियाको नष्ट कर देते हैं तब मनुष्य पृथ्वी पर गिरकर बेहोश पडा रहता है। इस रोगको संन्यास रोग कहते हैं। संन्यासरोगमें मनुष्य गिरकर लकडीके समान मराहुआ सा पडा रहता है। उस समय यदि शीघ्र फल देनेवाली चिकित्सा न की जाय तो वह मनुष्य मृत्युको प्राप्त होजाता है ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

संन्यासरोगकी चिकित्सामें शीघ्रता।

दुर्गेऽम्भसि यथा मज्जद्भाजनं त्वरया बुधः।

गृह्णीयात्तलमप्राप्तं तथा संन्यासपीडितम् ॥ ४३ ॥

जैसे अथाह जलमें डूबते हुए पात्रको डूबजानेसे पहिले ही निकाल लिया जाय तब वह हाथ लग सकता है नहीं तो फिर उसका हाथ आना कठिन होता है। इसी प्रकार संन्यासरोगीका रोग भी जबतक जड न पकडलेवे तबतक उसकी चिकित्सा करनेसे वह अच्छा हो सकता है। नहीं तो उसका बचना भी कठिन है ॥ ४३ ॥

संन्यासरोगमें चिकित्सा।

अञ्जनान्यवपीडाश्च धूमः प्रधमनानि च।
सूचीभिस्तोदनं शस्त्रैर्दाहः पीडा नखान्तरे ॥ ४४ ॥
लुञ्चनं केशलोम्नां च दन्तैर्दशनमेव च।
आत्मगुप्तावघर्षाश्च हितास्तस्यावबोधने ॥ ४५ ॥

अब संन्यासरोगकी चिकित्सा कहते हैं। संन्यास रोगमें होश लानेके लिये अंजन और पीडन, नस्य, धूम्रप्रयोग, प्रधमन, नस्य, सूई चुभाना, शस्त्रसे दागदेना, नखोंका पीडन करना, बालोंको खींचना, दांतोंसे काटना, कौंचकी फली लगाना आदि उपाय करने चाहिये। ऐसा करनेसे संन्यास छूटकर चैतन्यता लाभ होसकती है ४४॥४५

संमूर्छितानि तीक्ष्णानि मद्यानि विविधानि च।
प्रभूतकटुतिक्तानि तस्यास्ये गालयेन्मुहुः ॥ ४६ ॥
मातुलुङ्गरसं तद्वन्महौषधसमायुतम्।
तद्वत्सौवीरकं दद्याद्युक्तं मद्याम्लकाञ्जिकैः ॥ ४७ ॥
हिङ्गूषणसमायुक्तं यावत्संज्ञाप्रबोधनात्।
प्रबुद्धसंज्ञमन्नैश्च लघुभिस्तमुपाचरेत् ॥ ४८ ॥
विस्मापनैः स्मारणैश्च प्रियश्रुतिभिरेव च।
पटुभिर्गीतवादित्रशब्दैश्चित्रैश्च दर्शनैः ॥ ४९ ॥
स्रंसनोल्लेखनैर्धूमैरञ्जनैः कवलग्रहैः।
शोणितस्यावसेकैश्च व्यायामोद्धर्षणैस्तथा ॥ ५० ॥

बेहोश मनुष्यको जब तक होश न आवे तब तक उसके मुखपर अनेक तरहके संमूर्च्छित और तीक्ष्ण मद्य तथा अत्यन्त चरपरे रसयुक्त पतले पदार्थोंके छीटे देने चाहिये ॥ बिजौरेके रसमें सोंठका चूर्ण और काला नमक मिलाकर अथवा संचर नमक मिलाकर मद्य एवम् खट्टी कांजी, हींग और मिर्चका चूर्ण मिलाकर अथवा हींग और मिर्चका चूर्ण ही होश आनेके लिये देना चाहिये। जबतक रोगीको होश

आये उसको हलका अन्न भोजन कराना चाहिये ॥ कौतूहलजनक उपाय और होशके लानेवाली बातोंको एवम् जो प्रिय लगे ऐसे मीठे वचन और गीत, बाजा यह उसको सुनावे। एवम् विचित्र शब्द और नये २ वस्तुयें दिखावे ॥ बुद्धिमान् वैद्यको उचित है कि होश लानेके लिये युक्तिपूर्वक मलको निकाले तथा वमन, धूम्रपान, अञ्जन, कुल्ले, परिश्रम, रक्त मोक्षण, उद्धर्पण आदि कर्मों द्वारा चिकित्सा करे ॥ ४६-५० ॥

प्रबुद्धसंज्ञं मतिमाननुबंद्धमुपाचरेत्।
तस्य संरक्षितव्यं हि मनः प्रलयहेतुतः ॥ ५१ ॥

होश आनेके अनन्तर भी विधिपूर्वक यत्न करते रहना चाहिये और जिस प्रकार उसका मन खराब न हो तथा अन्य रोग अपना अधिकार न करनेपावें वैसा यत्न करता रहे ॥ ५१ ॥

स्नेहस्वेदोपपन्नानां यथादोषं यथाबलम्।
पञ्चकर्माणि कुर्वीत मूर्च्छायिषु मदेषु च ॥ ५२ ॥

मूर्च्छा और मदरोगमें मनुष्यका दोष और बल विचारकर फिर स्नेहन और स्वेदन करके विधिपूर्वक वमन विरेचनादि पंचकर्म द्वारा दोष हरना चाहिये ॥ ५२ ॥

अष्टाविंशत्यौषधस्याथवा तिक्तस्य सर्पिषः।
प्रयोगः शस्यते तद्वन्महतः षट्पलस्य वा ॥ ५३ ॥
त्रिफलायाः प्रयोगो वा सघृतक्षौद्रशर्करः।
शिलाजतुप्रयोगो वा प्रयोगः पयसोऽपि वा ॥ ५४ ॥
पिप्पलीनां प्रयोगो वा प्रयोगश्चित्रकस्य वा।
रसायनानां कौम्भस्यं सर्पिषो वा प्रशस्यते ॥ ५५ ॥

मूर्च्छा और मदात्ययकी निवृत्तिके लिये अठाईस औषधियोंसे सिद्ध किया हुआ कल्याणघृत, तिक्तकघृत, महाषट्पलघृत, अथवा त्रिफलाघृत वा बांसेका घृत या घी और शहद तथा खांडके साथ त्रिफलेका प्रयोग अथवा शीलाजीत, दूध, पीपलका प्रयोग अथवा चित्रकका प्रयोग तथा रसायन प्रयोग और पुराना घृत इन सबका प्रयोग करना चाहिये ॥ ५३-५५ ॥

रक्तावसेकाच्छास्त्राणां सतां सत्त्ववतामपि।
सेवनान्मदमूर्च्छायाः प्रशाम्यन्ति शरीरिणाम् ॥ इति ॥५६॥

---

(१) कौम्भं सर्पिः दशाब्दकम्।

रक्तका निकालना, अच्छे शास्त्रोंका सुनना, श्रेष्ठमहात्माओंका सेवन करना इनसे भी मनुष्योंके मद और मूर्च्छारोगकी शान्ति होतीहै ॥ ५६ ॥

तत्र श्लोकौ--विशुद्धञ्चाविशुद्धं च शोणितं तस्य हेतवः ।
रक्तप्रदोषजा रोगास्तेषु रोगेषु चौषधम् ॥ ५७ ॥
मदमूर्च्छायसंन्यासहेतुलक्षणभेषजम् ।
विधिशोणितकेऽध्याये सर्वमेतत्प्रकाशितम् ॥ ५८ ॥

इति योजनाचतुष्के विधिशोणिताध्यायः समाप्तः ॥२४॥

इस प्रकार इस शोणितीयाध्यायमें शुद्ध और अशुद्ध रक्तके लक्षण और उनके कारण तथा रक्तजन्य रोग और उनके उपाय एवम् मद, मूर्च्छा, संन्यासके हेतु और लक्षण तथा चिकित्सा भगवान् पुनर्वसुजीने वर्णन की है ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

इति श्रीमहर्षिचरक० पं० रामप्रसादवद्य० भाषाटीकायां योजनाचतुष्के विधिशोणिताध्यायश्चतुर्विंशः ॥ २४ ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः ।

अथातो यज्जःपुरुषीयमध्यायं व्याख्यास्यामः
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम यज्जः पुरुषीयनामक अध्यायकी व्याख्या करतेहैं । ऐसा भगवान् आत्रेयजी कहनेलगे ॥

ऋषियोंका आन्दोलन ।

पुरा प्रत्यक्षधर्माणं भगवन्तं पुनर्वसुम् ।
समेतानां महर्षीणां प्रादुरासीदियं कथा ॥ १ ॥
आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां योऽयं पुरुषसंज्ञकः ।
राशिरस्यामयानाञ्च प्रागुत्पत्तिविनिश्चये ॥ २ ॥

पहिले एक समय भूत, भविष्य, वर्त्तमानके जाननेवाले भगवान् पुनर्वसुजीके पास बैठेहुए महर्षि लोग इस प्रकारका आन्दोलन करनेलगे कि आत्मा, मन, इन्द्रिय और इन्द्रियोंके विषय इन सबका समुदायरूप यह पुरुष है सो इस शरीरमें पहिले किस प्रकार रोगोंकी उत्पत्ति होतीहै इस विषयमें कुछ निश्चय करना चाहिये १॥२

काशीनरेश वामकका वाक्य।

अथ काशिपतिर्वाक्यं वामकोऽर्थवदन्तरा।
व्याजहारर्षिसमितिमभिसृत्याभिवाद्य च ॥ ३ ॥
किन्नु स्यात्पुरुषो यज्जस्तज्जास्तस्यामयाः स्मृताः।
न वेत्युक्ते नरेन्द्रेण प्रोवाचर्षीन् पुनर्वसुः ॥ ४ ॥
सर्वं एवामितज्ञानविज्ञानच्छिन्नसंशयाः।
भवन्तश्छेत्तुमर्हन्ति काशिराजस्य संशयम् ॥ ५ ॥

उनमेंसे वामक नामके ऋषि उस सभामें बैठे हुए ऋषियोंमें अग्रणी होकर कहने लगे कि हे भगवन्! जिससे यह पंचभूतात्मा पुरुष उत्पन्न हुआ है क्या रोग भी उसीसे प्रगट हुए हैं अथवा किसी अन्य कारणसे? वामकके इस प्रश्नको सुनकर भगवान् पुनर्वसुजी सब ऋषियोंको सम्बोधन कर कहनेलगे कि, आप सब अपारज्ञानवाले और विज्ञानबलसे संशयरहित हो इसीलिये आपही सब लोग काशीराज महर्षि वामकके सन्देहको दूर कीजिये ॥ ३–५ ॥

मौद्गल्यका मत।

पारीक्षिस्तत्परीक्ष्याग्रे मौद्गल्यो वाक्यमब्रवीत्।
आत्मजः पुरुषो रोगाश्चात्मजाः कारणं हि सः ॥ ६ ॥
स चिनोत्युपभुङ्क्ते च कर्म्म कर्म्मफलानि च।
न ह्यृते चेतनाधातोः प्रवृत्तिः सुखदुःखयोः ॥ ७ ॥

यह सुनकर विचारपूर्वक अग्रस्थित पारीक्षि मौद्गल्य बोले कि, आत्मासे पुरुष और सब रोग प्रगट हुए हैं इसलिये आत्माही इस जगह कारण है. क्योंकि आत्मा कर्मसंचय और कर्मका फल भोगनेवाला है, उस चैतन्य आत्मा विना किसी प्रकार भी सुख और दुःखकी प्रवृत्ति नहीं होसकती ॥ ६ ॥ ७ ॥

शरलोमाका मत।

शरलोमा तु नेत्याह न ह्यात्मात्मानमात्मना।
योजयेद्व्याधिभिर्दुःखैर्दुःखद्वेषी कदाचन ॥ ८ ॥
रजस्तमोभ्यां तु मनः परीतं सत्त्वसंज्ञकम्।
शरीरस्य समुत्पत्तौ विकाराणाञ्च कारणम् ॥ ९ ॥

यह सुनकर शरलोमा ऋषि कहनेलगे कि, यह आपका कहना ठीक नहीं है क्यों कि आत्मा तो स्वभावसे ही दुःखका द्वेषी है, वह तो कभी भी अपनेको व्याधियोंके

दुःखमें दुःखित होना नहीं चाहता । हमारी समझमें रज और तमके अधीन होकर यह सत्त्वसंज्ञक मन ही शरीर और रोगोंको उत्पन्न करनेका कारण है ॥ ८ ॥ ९ ॥

वार्योविदका मत ।

वार्य्योविदस्तु नेत्याह न ह्येकं कारणं मनः ।
नर्ते शरीरं शारीरा रोगा न मनसः स्थितिः ॥ १० ॥
रसजानि तु भूतानि व्याधयश्च पृथग्विधाः ।
आपो हि व्याधिवत्यस्ताः स्मृता निर्वृतिहेतवः ॥ ११ ॥

यह सुनकर महर्षि वार्योविद कहने लगे कि, ऐसा नहीं हो सकता । अकेला मन पुरुषकी उत्पत्ति और रोगोंका कारण नहीं होता है । क्योंकि शरीरके विना शरीरमें होनेवाले रोग और मनकी स्थिति यह दोनों नहीं हो सकते । इसीलिये ऐसा कहना चाहिये कि समस्त प्राणी और अनेक प्रकारके रोग यह सब रससे उत्पन्न होते हैं और वह रसही इनकी उत्पत्तिका कारण है ॥ १० ॥ ११ ॥

हिरण्याक्षका मत ।

हिरण्याक्षस्तु नेत्याह न ह्यात्मा रसजः स्मृतः
नातीन्द्रियं मनः सन्ति रोगाः शब्दादिजास्तथा ॥ १२ ॥
षड्धातुजस्तु पुरुषो रोगाः षड्धातुजास्तथा ।
राशिः षड्धातुजो ह्येष सांख्यैराद्यः परीक्षितः ॥ १३ ॥

यह सुनकर हिरण्याक्ष ऋषि कहनेलगे कि, आत्मा भी कभी रससे उत्पन्न हो सकता है और मन अतीन्द्रिय है वह रससे कैसे उत्पन्न हुआ तथा रोग शब्द सुनने मात्रसे भी उत्पन्न होसकते हैं इसलिये पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश और आत्मा इन ६ पदार्थोंसे पुरुष और रोगोंकी उत्पत्ति माननी चाहिये । इस बातको पहिले सांख्यों (अर्थात् ज्ञानियों) भी कथन किया है और परीक्षा की है ॥ १२ ॥ १३ ॥

शौनकका मत ।

तथा ब्रुवाणं कुशिकमाह तन्नेति शौनकः ।
कस्मान्मातापितृभ्यां हि विना षड्धातुजो भवेत् ॥ १४ ॥
पुरुषः पुरुषाद्गौर्गोरश्वादश्वः प्रजायते ।
पैत्र्या मेहादयश्चोक्ता रोगास्ता एव कारणम् ॥ १५ ॥

इस तरह कुशिक हिरण्याक्ष ऋषिके प्रस्तावको सुनकर शौनक ऋषि कहने लगे कि आपने ६ धातुओंसे पुरुषकी उत्पत्ति मानी है यह ६ धातु माता पिता विना पुरुषको कैसे उत्पन्न कर सकते हैं ? हम देखते हैं जैसे पुरुषसे पुरुष, गौसे गौ, घोडेसे

घोडा, उत्पन्न होते हैं वैसे ही मेह आदि विकार भी पितासे ही उत्पन्न होते हैं इस लिये पुरुषकी उत्पत्तिमें और रोगकी उत्पत्तिमें भी माता पिताहीको कारण मानना चाहिये ॥ १४ ॥ १५ ॥

भद्रकाप्यका मत।

भद्रकाप्यस्तु नेत्याह न ह्यन्धोऽन्धात्प्रजायते।
मातापित्रोश्च ते पूर्वमुत्पत्तिर्नोपपद्यते ॥ १६ ॥
कर्म्मजस्तु मतो जन्तुः कर्म्मजास्तस्य चामयाः।
न ह्यृते कर्मणो जन्म रोगाणां पुरुषस्य च ॥ १७ ॥

यह सुनकर भद्रकाप्य कहने लगे कि, ऐसा नहीं होता। हम देखते हैं कि अंधेकी सन्तान कभी अंधी नहीं होती इस लिये माता पिता पुरुष और रोगकी उत्पत्तिके कारण हैं यह नहीं होसकता। हमारे मतमें तो पुरुष और व्याधियां कर्मसे उत्पन्न होती हैं। कर्मके विना पुरुषका जन्म एवम् रोगोंकी उत्पत्ति होही नहीं सकती ॥१६॥१७॥

भरद्वाजका मत।

भरद्वाजस्तु नेत्याह कर्ता पूर्वं हि कर्मणः।
दृष्टं न चाकृतं कर्म यस्य स्यात्पुरुषः फलम् ॥ १८ ॥
भावे हेतुः स्वभावस्तु व्याधीनां पुरुषस्य च।
खरद्रवचलोष्णत्वं तेजोऽन्तानां यथैव हि ॥ १९ ॥

भरद्वाज कहनेलगे इस तरह नहीं होता क्योंकि कर्म स्वयम् उत्पन्न होनेकी ताकत ही नहीं रखता, वह कर्त्ताके अधीन है। जब कर्म किया ही नहीं गया तो वह पुरुषकी उत्पत्ति और रोगका उत्पत्तिरूपी फल कैसे दे सकता है। इस लिये कर्म पुरुष और रोगोंका कारण कभी नहीं होसकता। पुरुष और रोगोंकी उत्पत्तिका कारण तो स्वभावको ही मानना चाहिये। जैसे—पंच महाभूतोंका खरत्व, द्रवत्व, चरत्व, उष्णत्व, प्रकाशत्व यह धर्म स्वभावसे ही उत्पन्न होता है इसी प्रकार पुरुषका जन्म और रोगकी उत्पत्ति भी स्वाभाविक धर्म है ॥ १८ ॥ १९ ॥

कांकायनका मत।

काङ्कायनस्तु नेत्याह न ह्यारम्भे फलं भवेत्।
भवेत्स्वभावाद्भावानामसिद्धिः सिद्धिरेव वा ॥ २० ॥
स्रष्टा त्वमितसंकल्पो ब्रह्मापत्यं प्रजापतिः।
चेतनाचेतनस्यास्य जगतः सुखदुःखयोः ॥ २१ ॥

यह सुनकर कांकायन ऋषि कहने लगे यह भी नहीं होसकता क्योंकि फल आरंभके बिना नहीं होसकता । हम देखते हैं कर्मका फल कर्म नहीं होता । यदि आप कहें कि स्वभावसे ही जन्मादिकोंकी सिद्धि होती है या असिद्धि होती है यह हम नहीं देखते । क्योंकि रचनेवाला संकल्पविशिष्ट प्रजापतिही पुरुष और उसके सुख दुःखका कारण है । यदि ऐसा न होता तो बिना किसीको कर्ता माने स्वभावाधीन जगत् नियमबद्ध नहीं होता । जगत्में नियम है, नियम नियंताके अधीन होता है सो वह नियंता प्रजापति जगत्का कर्त्ता ही पुरुषके जन्म और सुख दुःखोंका कारण है ॥

भिक्षुआत्रेयका मत ।

तन्नेति भिक्षुरात्रेयो न ह्यपत्यं प्रजापतिः ।
प्रजाहितैषी सततं दुःखैर्युञ्ज्यान्न साधुवत् ॥ २२ ॥
कालजस्त्वेव पुरुषः कालजास्तस्य चामयाः ।
जगत्कालवशं सर्वं कालः सर्वत्र कारणम् ॥ २३ ॥

यह सुनकर भिक्षु आत्रेय कहने लगे कि, ऐसा नहीं होता क्योंकि प्रजाका हित चाहनेवाला और उत्पन्न करनेवाला प्रजापति ऐसा द्वेषी नहीं होसकता जो अपनी रचीहुई प्रजाको दुःखित करे इसलिये यह कहना चाहिये कि, पुरुष कालसे उत्पन्न होता है एवम् व्याधियां भी कालहीसे उत्पन्न होती हैं । और सम्पूर्ण जगत् कालके ही अधीन है सो हमारे मतसे काल ही सबका कारण है ॥ २२ ॥ २३ ॥

पुनर्वसुका वचन ।

तथर्षीणां विवदतामुवाचेदं पुनर्वसुः ।
मैवं वोचत तत्त्वं हि दुष्प्रापं पक्षसंश्रयात् ॥ २४ ॥
वादान् सप्रतिवादान् हि वदन्तो निश्चितानि च ।
पक्षान्तं नैव गच्छन्ति तिलपीडकवद्गतौ ॥ २५ ॥
मुक्त्वैनं वादसंघट्टमध्यात्ममनुचिन्त्यताम् ।
नाविधूते तमः स्कन्धे ज्ञेये ज्ञानं प्रवर्त्तते ॥ २६ ॥
येषामेव हि भावानां सम्पत्सञ्जनयेन्नरम् ।
तेषामेव विपद्व्याधीन्विविधान्समुदीरयेत् ॥ २७ ॥

इस प्रकार ऋषियोंके विवादको सुनकर पुनर्वसु आत्रेयजी कहनेलगे, इस प्रकार झगडा क्यों करते हो ? क्योंकि पक्षपात करनेसे तत्त्वका निश्चय नहीं होसकता । जब एक प्रश्न करता है दूसरा उत्तर देता है तीसरा अपना और ही पक्ष लेलेता है ऐसा

होनेसे वाद प्रतिवाद बढता चला जाता है और जैसे तैलके कोल्हूकी लकडी चारों तरफ घूमघामकर अपनी सीमासे बाहर नहीं जासकती ऐसे ही पक्षपातपूर्वक झगडोंसे भी यथार्थका निश्चय नहीं होता जब तक अन्धकार दूर नहीं होता तब तक जाननेयोग्य पदार्थ पर दृष्टि नहीं पहुंचसकती। यथार्थ बात तो यह है कि, जिन भावोंसे मनुष्योंका यथोचित संयोग होनेसे सुख संपत्ति उत्पन्न होती है उन्हींके अनुचित व्यवहारसे अनेक प्रकारके रोगोंकी उत्पत्ति होती है॥ २४-२७॥

वामकका प्रश्न और आत्रेयका उत्तर।

अथात्रेयस्य भगवतो वचनमनुनिशम्य पुनरेव वामकः काशिपतिरुवाच भगवन्तमात्रेयम्। भगवन् सम्पन्निमित्तजस्य पुरुषस्य विपन्निमित्तजानां च रोगाणां किमभिवृद्धिकारणमिति। तमुवाच भगवानात्रेयः हिताहारोपयोगः एक एव पुरुषस्य अभिवृद्धिकरो भवति। अहिताहारोपयोगः पुनर्व्याधीनां निमित्तमिति॥ २८॥

इस प्रकार भगवान् आत्रेयके कथनको सुनकर काशीपति वामकनामा ऋषि कहने लगे कि हे भगवन्! शुभ भावोंके संयोगसे व्याधिकी उत्पत्ति और अशुभ भावोंके संयोगसे पुरुषकी उत्पत्ति और अशुभभावोंके संयोगसे व्याधिकी उत्पत्ति होनेका कारण क्या है? यह सुनकर आत्रेय भगवान् कहनेलगे कि हितकर आहार विहारके सेवनसे पुरुषोंके सुखकी वृद्धि होती हैं इसी प्रकार अहितकारक आहारादिकके सेवनसे रोग उत्पन्न होते हैं॥ २८॥

अग्निवेशका प्रश्न।

एवं वादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच। कथमिह भगवन् हिताहितानामाहारजातानां लक्षणमनपवादमभिजानीमह। हितसमाख्यातानां चैवाहारजातानामहितसमाख्यातानाञ्च मात्राकालक्रियाभूमिदेहदोषपुरुषावस्थान्तरेषु विपरीतकारित्वमुपलभामहे इति॥ २९॥

इस प्रकार कथन करते हुए आत्रेय भगवान्के प्रति अग्निवेश बोले कि हे भगवन्! हितकर और अहितकर आहारादिकोंका स्पष्ट लक्षण किस प्रकार जानना चाहिये। हित करनेवाले आहारों और अहित करनेवाले आहारोंकी मात्रा, काल, क्रिया, देश, देह, दोष और पुरुषकी अवस्था और पुरुषके लिये विपरीतकारी पदार्थोंको हम किस प्रकार जान सकते हैं सो आप कृपा कर कहिये॥ २९॥

आत्रेयका उत्तर।

तमुवाच भगवानात्रेयः। यदाहारजातमग्निवेश समांश्चैव शरीरधा-

तून् प्रकृतौ स्थापयति विषमांश्च समीकरोति इत्येतद्धितं विद्धि। विपरीतमहितमिति । एतद्धिताहितलक्षणमनपवादं भवति ॥ ३० ॥

यह सुनकर आत्रेयजी कहनेलगे कि, हे अग्निवेश ! जो आहार शरीरके सात्म्य (अनुकूल) होनेसे शारीरिक धातुओंको यथार्थ रखते हैं । और विषम हुए धातुओंको भी समान अवस्थामें कर देता है उसको हितकारी जानना चाहिये। तात्पर्य यह हुआ कि जिस आहारके सेवनसे शरीरके सब धातु ठीक रहें उसको हितकारक आहार जानना, इससे विपरीत अहितकारी समझना चाहिये । बस हितकर और अहितकर आहारके यह निर्विवाद लक्षण समझो ॥ ३० ॥

अग्निवेशका प्रश्न ।

एवं वादिनश्च भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच । भगवन् ! न त्वेतदेवमुपदिष्टं भूयिष्ठकल्पाः सर्वभिषजो विज्ञास्यन्ति ॥ ३१ ॥

अग्निवेश फिर आत्रेय भगवान्से कहने लगे कि संक्षेपसे कहे हुए आपके इस उपदेशको सब वैद्य नहीं समझ सकते इसलिये कृपया विस्तारपूर्वक कथन कीजिये ३१

आत्रेयका उत्तर ।

तमुवाच भगवानात्रेयः । येषां विदितमाहारतत्त्वमग्निवेश गुणतो द्रव्यतः कर्म्मतः सर्वावयवतो मात्रादयो भावास्त एतदेवमुपदिष्टं विज्ञातुमुत्सहन्ते । यथा तु खल्वेतदुपदिष्टं भूयिष्ठकल्पाः सर्वभिषजो विज्ञास्यन्ति तथैतदुपदेक्ष्यामः । मात्रादीन्भावानुदाहरन्तः तेषां हि बहुविधविकल्पा भवन्ति । आहारविधिविशेषांस्तु खलु लक्षणतश्चावयवतश्चानुव्याख्यास्यामः ॥ ३२ ॥

तब आत्रेय भगवान् अग्निवेशसे कहने लगे कि गुणसे, द्रव्यसे, कर्मसे और संपूर्ण अवयवोंसे मात्रादि भावके भेदसे आहार तत्त्वको जो वैद्य जानता है उसके लिये यह संक्षेपसे दियाहुआ उपदेश बोधगम्य होसकता है अर्थात् समझमें आसकता है किन्तु साधारण बुद्धिके मनुष्य इस विचारको नहीं समझ सकते इसलिये साधारण वैद्योंको बोध होनेके लिये मात्रादिकोंका उपदेश करते हैं। मात्रादि भावोंकी अनेक प्रकारसे कल्पना है उनमें जो विशेष २ आहार विधिके लक्षण और विभाग हैं उनका कथन करते हैं सो श्रवण करो ॥ ३२ ॥

आहारोंके भेदवर्णन ।

आहारत्वम् आहारस्यैकविधमर्थाभेदात्। स पुनर्द्वियोनिः स्थावरजङ्गमात्मकत्वात् । द्विविधः प्रभावो हिताहितोदर्कविशेषात् । चतुर्विधो-

पयोगः पानाशनभक्ष्यलेह्योपयोगात्। षडास्वादो रसभेदतः षड्विधत्वात् विंशतिगुणो गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षमन्दतीक्ष्णस्थिरसरमृदुकठिनविशदपिच्छिलश्लक्ष्णखरसूक्ष्मस्थूलसान्द्रद्रवानुगमनात् ॥ ३३ ॥

वह ऐसा है कि अर्थमात्रमें भेद न होनेसे सब प्रकारके आहारोंमें ही आहारत्व है। स्थावर और जंगम भेदसे आहारकी उत्पत्ति दो प्रकारकी है। हितकर और अहितकर इन दो भेदोंसे आहार दो प्रकारका है। पान, भोजन, चर्वण और लेहन इन भेदोंसे आहारका सेवन चार प्रकारका है। रसभेदसे आहारका स्वाद ६ प्रकारका है। गुरु, लघु, शीतल, उष्ण, चिकना, रूक्ष, मन्द, तीक्ष्ण, स्थिर, सर, मृदु, कठिन, विशद, पिच्छिल, श्लक्ष्ण, खर, सूक्ष्म, स्थूल, घन और द्रव इन भेदोंसे आहारके गुण बीस प्रकारके हैं ॥ ३३ ॥

अपरिसंख्येयविकल्पो द्रव्यसंयोगकरणबाहुल्यात्। तस्य ये ये विकारावयवा भूयिष्ठमुपयुज्यन्ते। भूयिष्ठकल्पनाश्च मनुष्याणां प्रकृत्यैव हिततमाश्चाहिततमाश्च तांस्तान्यथावदनुव्याख्यास्यामः ॥ ३४ ॥

द्रव्योंके संयोगवशसे आहारकी कल्पना असंख्य प्रकारकी है। मनुष्योंके वह आहार असंख्य प्रकारके होते हुए हितकर और अहितकर दो प्रकारोंमें विभक्त हैं। उनका अब वर्णन करते हैं ॥ ३४ ॥

श्रेष्ठहितकारी द्रव्योंका वर्णन।

तद्यथा। लोहितशालयः शूकधान्यानां पथ्यतमत्वेन श्रेष्ठतमाः। मुद्गाः शमीधान्यानाम्, आन्तरिक्ष्यमुदकानां, सैन्धवं लवणानां, जीवन्तीशाकं शाकानाम्। ऐणेयं मृगमांसानां, लावः पक्षिणां, गोधा बिलेशयानां, रोहितो मत्स्यानां, गव्यं सर्पिः सर्पिषां, गोक्षीरं क्षीराणां, तिलतैलं स्थावरजातानां स्नेहानां, वराहवसा अनूपमृगवसानां, चुलुकीवसा मत्स्यवसानां, हंसवसा जलचरविहङ्गवसानां, कुक्कुटवसा विष्किरशकुनिवसानाम्। अजमेदः शाखादमेदसां, शृङ्गवेरं कन्दानां, मृद्वीका फलानां, शर्करा इक्षुविकाराणाम्। इति प्रकृत्यैव हिततमानामाहारविकाराणां प्राधान्यतो द्रव्याणि व्याख्यातानि ॥ ३५ ॥

वह इस प्रकार हैं लाल शालिचावल सब शूक धान्योंमें सर्वश्रेष्ठ पथ्य गिने जाते हैं इसी प्रकार सब प्रकारके शमीधान्योंमें मूंग सर्वश्रेष्ठ है। जलोंमें शुद्ध आकाशका

जल सर्वश्रेष्ठ है । नमकोंमें सेंधा नमक श्रेष्ठ है, सागोंमें जीवन्तीका साग श्रेष्ठ है । मृगमांसोंमें काले हिरणका मांस श्रेष्ठ है । पक्षियोंमें लवा, बिलेशयोंमें गोह, मछलियोंमें रोहित, घृतोंमें गोघृत, दूधोंमें गोदूध, स्थावर स्नेहोंमें तिलतैल, अनूपसंचारी जीवोंकी चर्बीमें सूअरकी चर्बी, मछलियोंकी चर्बीमें चुलुकीनामक मछलीकी चर्बी, जलसंचारी पक्षियोंकी चर्बीमें हंस या बतककी चर्बी सर्वोत्तम मानी जाती है । विष्किर पक्षियोंकी चर्बीमें मुर्गेकी चर्बी, शाखापत्र खानेवालोंमें बकरेकी चर्बी उत्तम है । मूलोंमें अदरक, फलोंमें मुनक्का, ईखके विकारोंमें मिश्री सर्वोत्तम कही जाती है । इस प्रकार स्वभावसे ही हितकारी प्रधान २ आहारोंका वर्णन कियागया ॥ ३५ ॥

सामान्यतासे अहित द्रव्य ।

अहिततमानामप्युपदेक्ष्यामः । यवकः शूकधान्यानामपथ्यत्वे प्रकृष्टतमा भवन्ति । माषाः शमीधान्यानां, वर्षानादेयमुदकानाम् । ऊषरं लवणानां, सर्षपशाकं शाकानां, गोमांसं मृगमांसानां, कालकपोतः पक्षिणां, भेको बिलेशयानां, चिलिचिमो मत्स्यानाम् । आविकं सर्पिः सर्पिषाम् । आविक्षीरं क्षीराणां, कुसुम्भस्नेहः स्नेहानां स्थावराणां, महिषवसा आनूपमृगवसानां, कुम्भीरवसा मत्स्यवसानां, काकमद्गुवसा जलचरविहंगवसानां, मूलकं कन्दानां, चाटकवसा विष्किरशकुनिवसानां, हस्तिमेदः शाखादमेदसां, लिकुचं फलानां, फाणितमिक्षुविकाराणामिति प्रकृत्यैव अहिततमानामाहारविकाराणां निकृष्टतमानि द्रव्याणि व्याख्यातानि ॥ ३६ ॥

अब अहितकारक द्रव्योंका वर्णन करते हैं । शूकधान्योंमें जव, शमीधान्योंमें उडद, जलोंमें वर्सातकी नदीका जल, नमकोंमें खारी नमक, सागोंमें सरसोंका साग अहितकर और कुपथ्य होता है । पशुओंके मांसोंमें गोमांस, पक्षियोंमें कालकपोत, बिलेशयोंमें मेंढक, मछलियोंमें चिलचिम मछली, घृतोंमें भेडका घृत, दूधोंमें भेडका दूध, स्थावर स्नेहोंमें करडका तैल अहितकारी होता है । अनूपसंचारी जीवोंकी चर्बीमें भैंसेकी चर्बी, मछलियोंकी चर्बीमें कुम्भीरकी चर्बी, जलचर जीवोंमें जलकौआकी चर्बी अहितकारी होती है । विष्किर पक्षियोंमें चिडियाकी चर्बी, शाखा पत्र खानेवाले जानवरोंमें हाथीकी चर्बी निंदनीय होती है । कंदोंमें पकीहुई मूली, फलोंमें कटहर, ईखके पदार्थोंमें खांडित अहितकारी होता है । इस प्रकार स्वभावसे ही अहितकारी द्रव्योंका वर्णन किया गया है ॥ ३६ ॥

हिताहित द्रव्योंमें प्रधानोंका वर्णन ।

इति हिताहितावयवो व्याख्यात आहारविकाराणाम् । अतो भूयः कर्मौषधानां प्राधान्यतः सानुबन्धानि द्रव्याणि अनुव्याख्यास्यामः। तद्यथा–अन्नं वृत्तिकराणां श्रेष्ठम् । उदकमाश्वासकराणां, सुरा श्रमहराणां, क्षीरं जीवनीयानां, मांसं बृंहणीयानां, रसस्तर्पणीयानां, लवणमन्नद्रव्यरुचिकराणाम्, अम्लं हृद्यानां, कुक्कुटो बल्यानां, नक्ररेतो वृष्याणां, मधु श्लेष्मपित्तप्रशमनानां, सर्पिर्वातपित्तशमनानां, तैलं वातश्लेष्मप्रशमनानां, वमनं श्लेष्महराणां, विरेचनं पित्तहराणां, बस्तिर्वातहराणां,स्वेदो मार्दवकराणां, व्यायामः स्थैर्य्यकराणां, क्षारः पुंस्त्वोपघातिनां, तिन्दुकमन्नद्रव्यारुचिकराणाम्,आमं कपित्थमकण्ठ्यानाम्, आविकं सर्पिरहृद्यानाम्,अजाक्षीरं शोषघ्नस्तन्यसात्म्यरक्तसांग्राहिकरक्तपित्तप्रशमनानाम्,अविक्षीरं श्लेष्मपित्तोपचयकराणां, महिषीक्षीरं स्वप्नजननानाम्, मन्दकं दध्यभिष्यन्दकाणाम्, गवेधुकान्नं कर्षणीयानाम्, उद्दालकान्नं विरूक्षणीयानाम्,इक्षुर्मूत्रजननानां, यवाः पुरीषजननानां, जाम्बवं वातजननानां, शष्कुल्यः श्लेष्मपित्तजननानां, कुलत्था अम्लपित्तजननानां, माषाः श्लेष्मपित्तजननानाम्, मदनफलं वमनास्थापनानुवासनोपयोगिनां, त्रिवृत्सुखविरेचनानां, चतुरङ्गुलं मृदुविरेचनानां, स्नुक्पयस्तीक्ष्णविरेचनानां, प्रत्यक्पुष्पी शिरोविरेचनानां, विडङ्गं क्रिमिघ्नानां, शिरीषो विषघ्नानां, खदिरः कुष्ठघ्नानां, रास्ना वातहराणाम्, आमलकं वयःस्थापनानां, हरीतकी पथ्यानाम् एरण्डमूलं वृष्यवातहराणां, पिप्पलीमूलं दीपनीयपाचनीयानाहप्रशमनानां, चित्रकमूलं दीपनीयगुदशूलशोथहराणां, पुष्करमूलं हिक्काश्वासकासपार्श्वशूलहराणां, मुस्तं संग्राहकदीपनीयपाचनीयानाम् । उदीच्यं निर्वापणियदीपनीयच्छर्द्यतीसारहराणां, कट्वङ्गं संग्राहकदीपनीयपाचनीयानाम् । अनन्ता संग्राहिकदीपनीयरक्तपित्तप्रशमनानाम्,अमृता संग्राहिकवातहरदीपनीयश्लेष्मशोणितविबन्धप्रशमनानां,

बिल्वं संग्राहिकदीपनीयवातकफशमनानाम्, अतिविषा दीपनीयपाचनीयसंग्राहिकसर्वदोषहराणाम्, उत्पलकुमुदपद्मकिञ्जल्काः संग्राहकरक्तपित्तप्रशमनानां, दुरालभा पित्तश्लेष्मोपशोषणानां, गन्धप्रियङ्गुः शोणितपित्तातियोगप्रशमनानाम् ॥ ३७ ॥

यह हितकर और अहितकर आहारका वर्णन करदिया। अब वस्ति आदि कर्म और औषधोंमें उत्तम तथा निकृष्ट आदि द्रव्योंका वर्णन करते हैं, जीवन रखनेवाले पदार्थोंमें अन्न, तृषानाशक पदार्थोंमें जल, परिश्रम हरनेवाले पदार्थोंमें मद्य, जीवनदायक पदार्थोंमें दूध, पुष्ट करनेवाले पदार्थोंमें मांस, तर्पण करनेवालोंमें मांसरस, रुचिकारक पदार्थोंमें नमक, हृदयको प्रिय पदार्थोंमें खट्टा सर्वश्रेष्ठ है। बलकारी पदार्थोंमें मुर्गेका मांस, वीर्यवर्द्धक पदार्थोंमें कुम्भीर (मगरमच्छ) का वीर्य, कफ पित्त नाशकोंमें शहद, वातपित्तहरोंमें घृत, वात कफ नाशकोंमें तैल, कफनाशक कर्मोंमें वमन, पित्तनाशक कर्मोंमें विरेचन, वातनाशक कर्मोंमें वस्तिकर्म, शरीरको नम्र करनेवालोंमें स्वेद, दृढ करनेवालोंमें कसरत, पुरुषत्व नष्ट करनेवालोंमें क्षार, अन्न पर अरुचि करनेवालोंमें तिन्दुकफल सर्वप्रधान माने जाते हैं। स्वर बिगाडनेवालोंमें कैथके कच्चे फल, हृदयको अप्रिय द्रव्योंमें भेडका घृत प्रधान माना जाता है। शोकके हरनेवाले, स्तनोंमें दूध बढानेवाले, रक्तविकार और रक्त पित्तके नाशकोंमें बकरीका दूध सर्वश्रेष्ठ है। पित्त-कफ-वर्द्धकोंमें भेडका दूध, निद्राजनक द्रव्योंमें भैंसका दूध, अभिष्यन्दकारी द्रव्योंमें मन्दक दही, कृशताकारक द्रव्योंमें गवेधुक धान्य, रूक्षकारक द्रव्योंमें उद्दालक धान्य, मूत्रवर्द्धक पदार्थोंमें गन्ना, मलवर्द्धक पदार्थोंमें जव, वायुवर्द्धक पदार्थोंमें जामुन, कफ पित्त वर्द्धक पदार्थोंमें तिलोंकी खल, अम्लपित्तकारक पदार्थोंमें कुल्थी, पित्त-कफ-कारकोंमें उडद एवम् वमन, आस्थापन और अनुवासन कर्ममें मैनफल प्रधान माना जाता है। उत्तम विरेचन करनेवालोंमें निशोथकी जड, मृदु विरेचकोंमें एरंडतैल, तीक्ष्ण विरेचकोंमें थोहरका दूध, शिरोविरेचन करनेवालोंमें अपामार्गके बीज, कृमिनष्ट करनेवालोंमें वायविडंग, विषनाशकोंमें सिरसके बीज, कुष्ठके नाश करनेवालोंमें कत्था, वातनाशकोंमें रासना, आयुके स्थापन करनेवालोंमें आंवला, सब प्रकारके पथ्योंमें हरड, वृष्यकर्त्ता और वायुके हरनेवालोंमें एरंडकी जड, दीपन, पाचन कर्त्ताओंमें तथा आनाह-रोग नाशकोंमें पिपलामूल, दीपनीय और गुदाके शूल तथा शोथनाशकोंमें चित्तेकी छाल, संग्राहक और दीपन तथा पाचन द्रव्योंमें नागरमोथा, हिचकी-श्वास-खांसी तथा पार्श्वशूलनाशक द्रव्योंमें पोहकर मूल, भस्मकनिवारक, दीपनीय, पाचन और वमनके हरनेवाले एवम् अतिसारके नष्ट करनेवालोंमें अनन्तमूल, संग्राहक वातनाशक दीपन कफनाशक कफरक्तनाशक विबन्धनाशक

द्रव्योंमें गिलोय (गुरुच), संग्राहक दीपन वातकफनाशक द्रव्योंमें कच्चा बेलफल, दीपनीय पाचनीय संग्राहक सर्वदोषहारक द्रव्योंमें अतीस, संग्राहक रक्तपित्तनाशक द्रव्योंमें कमलगट्टा नीलोफर और कमलकेशर सर्वोत्तम मानी जाती है। पित्तकफ-नाशकोंमें जवासा सर्वश्रेष्ठ है। रक्तपित्तके शमनकरनेवालोंमें दुरालभा (धंसा) पित्त और कफके उपशोषण करनेवालोंमें गन्धप्रियंगु सर्वश्रेष्ठ माना जाता है ॥ ३७ ॥

कुटजत्वक् श्लेष्मपित्तरक्तसंग्राहकोपशोषणानां, काश्मर्य्यफलं रक्तसं-ग्राहकरक्तपित्तप्रशमनानां, पृश्निपर्णी संग्राहकवातहरदीपनीयवृष्याणां, विदारिगन्धा वृष्यसर्वदोषहराणां, बला संग्राहकबल्यवातहराणां, गोक्षुरको मूत्रकृच्छ्रानिलहराणां, हिङ्गुनिर्य्यासः छेदनीयदीपनीयभे-दनीयानुलोमिकवातकफप्रशमनानाम्, अम्लवेतसो भेदनीयदीपनीया-नुलोमिकवातश्लेष्मप्रशमनानां, यावशूकः स्रंसनीयपाचनीयार्शोघ्ना-नाम्, तक्राभ्यासो ग्रहणीदोषार्शोघृतव्यापत्प्रशमनानां, क्रव्यादमांसा-भ्यासो ग्रहणीदोषशोषार्शोघ्नानां, घृतक्षीराभ्यासो रसायनानां, सम-घृतसक्तुकाभ्यासो वृष्योदावर्त्तहराणां, तैलगण्डूषाभ्यासो दन्तबलरु-चिकराणां, चन्दनोडुम्बरं दाहनिर्वापणानां, रास्नागुरुणी शीतापन-यनप्रलेपनानाम्, लामज्जकोशीरे दाहत्वग्दोषस्वेदापनयनप्रलेपनानां, कुष्ठं वातहराभ्यंगोपनाहयोगिनां, मधुकं चक्षुष्यवृष्यकेश्यकण्ठ्यवर्ण्य-बल्यविरजनीयरोपणीयानाम्, वायुः प्राणसंज्ञाप्रधानहेतूनाम् अग्नि-रामस्तम्भशीतशूलोद्वेपनप्रशमनानाम् ॥ ३८ ॥

कफ पित्त और रक्तको संग्रहण तथा उपशोषण करनेवाले द्रव्योंमें कुडाकी छाल, संग्राहक और रक्तपित्तनाशक द्रव्योंमें काश्मरीके फल, संग्राहक वातनाशक और वृष्योंमें पृष्ठपर्णी, वृष्य और दोषनाशक द्रव्योंमें विदारीकंद, संग्राही बलकारक और वातनाशक द्रव्योंमें खरैटी, मूत्रकृच्छ्र और वातनाशक द्रव्योंमें गोखरू, छेदनीय दीप-नीय अनुलेमकर्त्ता एवम् वातकफनाशक द्रव्योंमें हींग, भेदन—अनुलोमन और दीपन कर्ता एवम् वात कफ हरणकर्त्ता द्रव्योंमें अमलवेत, स्रंसनकर्त्ता पाचनकर्त्ता अर्शहर्ता द्रव्योंमें जवाखार, ग्रहणीविकारनाशक अर्शोघ्न अतिघृतपानजन्य विकार नाशक द्रव्योंमें तक्र, ग्रहणीदोष शोष और अर्शनाशक मांसोंमें मांसभक्षी जीवोंका मांस, रसायन पदार्थोंमें दूध और घीका अभ्यास, वृष्य तथा उदावर्तनाशक द्रव्योंमें

परिमाणसे घृत और सत्तुओंका सेवन, दांतोंको बलदेनेवालोंमें और रुचिकारक पदार्थोंमें तैलको मुखमें धारणकर कुल्ले करना, दाहनाश लेपोंमें चंदनका लेप तथा गूलर, शीतनाशक लेपनोंमें रासना और अगर, दाह त्वग्दोष और स्वेदके हरनेवाले लेपोंमें खस, वातनाशक अभ्यंगों और प्रलेपोंमें कूठ, नेत्रोंको हितकारी वीर्यवर्द्धक केश कण्ठ वर्ण इनको हितकर्त्ता एवम् विरजनीय और रोपणकर्त्ता द्रव्योंमें मुलैठी, बल और प्राणोंमें चैतन्यता प्राप्त करनेवाले पदार्थोंमें उत्तम वायु, आम, स्तम्भ, शीतता, शूल, कम्पनाशक द्रव्योंमें अग्नि सर्वश्रेष्ठ तथा सबमें प्रधान माना जाता है ॥ ३८ ॥

जलं स्तम्भनीयानां, मृद्भृष्टलोष्टनिर्वापितमुदकं तृष्णातियोगप्रशमनानाम्, अतिमात्राशनमामप्रदोषहेतूनां, यथाग्न्यभ्यवहरणोऽग्निसन्धुक्षणानां, यथासात्म्यं चेष्टाभ्यवहारः सेव्यानां, कालभोजनमारोग्यकराणां, वेगसन्धारणमनारोग्यकराणां, तृप्तिराहारगुणानां, मद्यं सौमनस्यजननानां, मद्याक्षेपो धीधृतिस्मृतिहराणां, गुरुभोजनं दुर्विपाकानाम्,एकाशनभोजनं सुखपरिणामकराणां,स्त्रीषु अतिप्रसङ्गः शोषकराणां, शुक्रवेगनिग्रहःषाण्ढ्यकराणां,परायतनमन्नस्याश्रद्धाजननानाम्, अनशनमायुषो ह्रासकराणां, प्रमिताशनं कर्षणीयानाम्, अजीर्णाध्यशनं ग्रहणीदूषणानां, विषमाशनमग्निवैषम्यकराणां, विरुद्धवीर्य्याशनं निन्दितव्याधिकराणां, प्रशमः पथ्यानाम्, आयासः सर्वापथ्यानाम्, मिथ्यायोगो व्याधिकराणां, रजस्वलाभिगमनमलक्ष्मीकाणां, ब्रह्मचर्य्यमायुष्यकराणां, परदारागमनमानायुष्यकराणाम्, सङ्कल्पो वृष्याणां, दौर्मनस्यमवृष्याणाम् । अयथाबलमारम्भः प्राणोपरोधिनां, विषादो रोगवर्द्धनानाम् ॥ ३९ ॥

स्तम्भनीय द्रव्योंमें जल, अति प्यासनाशक द्रव्योंमें तप्त मट्टीके ढेलेसे बुझाया जल, आमदोषकारक पदार्थोंमें बहुत भोजन, अग्निबद्ध आहारोंमें यथाग्निभोजन, सेवनयोग्य कालोंमें अभ्यासके अनुरूप कार्य, आरोग्यकर्त्ता उपायोंमें यथोचित भोजन, व्याधिकारकोंमें मलमूत्रादिकोंका वेग रोकना, आहारके गुणोंमें तृप्ति, मस्त करनेमें मद्य, बुद्धि धारणशक्ति स्मृति इनके नष्टकरनेवालोंमें मद्यका विकार, कठिनतासे पचनेवालोंमें गुरु भोजन, भली प्रकार पचनेवालोंमें एकसमय भोजन, राजयक्ष्माकारकोंमें मैथुन, नपुंसककर्त्ताओंमें शुक्रके वेगको रोकना, अन्नसे घृणा करानेवालोंमें दूसरेके घरका भोजन, आयु घटानेवालोंमें उपवास, कृशता करनेवालोंमें यथासमय

भोजन न मिलना, ग्रहणीरोगकर्त्ता पदार्थोंमें अजीर्णमें भोजन, अग्निविषमकर्त्ताओंमें विषमभोजन, कुष्ठ आदिक निंदित व्याधि करनेवालोंमें मछली दूध आदि विरुद्ध द्रव्योंका एक समय सेवन करना, हितकर्त्ता पदार्थोंमें शान्ति, सब प्रकारके कुपथ्योंमें शक्तिसे अधिक परिश्रम, रोगकारकोंमें आहारविहारका अनुचित योग, अलक्ष्मीकारकोंमें रजस्वलागमन, आयुवर्द्धकोंमें ब्रह्मचर्यपालन, आयुनाशकोंमें परस्त्रीगमन, वृष्योंमें स्वाभीष्टकामिनी आदि संकल्प, अवृष्योंमें मनकी प्रसन्नता न होना, प्राण हरनेवालोंमें सामर्थ्यसे अधिक कार्यका करना, रोग बढानेवालोंमें विषाद प्रधान माना जाता है ॥ ३९ ॥

स्नानं श्रमहराणां, हर्षः प्रीणनानां, शोकः शोषणानां, निर्वृतिः पुष्टिकराणाम्, अतिस्वप्नस्तन्द्राकराणां, सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम्, एकरसाभ्यासो दौर्बल्यकराणाम्,गर्भशल्यमनाहार्य्याणाम्, अजीर्णमुद्धार्य्याणां,बालो मृदुभेषजीयानां,वृद्धो याप्यानां,गर्भिणी तीक्ष्णौषधव्यायामवर्जनीयानां, सौमनस्यं गर्भधारकाणां, सन्निपातो दुश्चिकित्स्यानाम्, आमो विषमचिकित्स्यानां, ज्वरो रोगाणां, कुष्ठं दीर्घरोगाणां, राजयक्ष्मा रोगसमूहानां, प्रमेहोऽनुषङ्गिणाम् ॥ ४० ॥

परिश्रम हरनेवालोंमें स्नान, प्रीति बढानेवालोंमें हर्ष, शोषणकर्त्ताओंमें पत्र शाक- पुष्टिकर्त्ताओंमें संतोष, निद्राकारकोंमें पुष्टता, तंद्राकारकोंमें निद्रा, बलकारकोंमें रसोंका अभ्यास, दुर्बलकर्त्ता पदार्थोंमें एकही रसका सेवन, अनाकर्षणीयोंमें गर्भशल्य, वमन योग्योंमें अजीर्ण, मृदु औषधोंसे चिकित्सा करनेयोग्योंमें बालक, याप्यसाध्योंमें वृद्धपुरुषोंके रोग, तीक्ष्ण औषधियें, व्यायाम, पुरुष संसर्ग इन सबसे वर्जनीयोंमें गर्भवती स्त्री, गर्भधारणमें मनकी प्रसन्नता, दुश्चिकित्स्योंमें सन्निपात, विरुद्ध चिकित्सामें आमचिकित्सा, रोगोंमें ज्वर, दीर्घरोगोंमें कुष्ठ, रोगसमूहोंमें राजयक्ष्मा, अनुषंगी रोगोंमें प्रमेह प्रधान मानेजाते हैं ॥ ४० ॥

जलौकसोऽनुशस्त्राणां, बस्तिस्तन्त्राणां, हिमवानौषधिभूमीनां, मरुभूरारोग्यदेशानाम्, अनूपमहितदेशानां, निर्देशकारित्वमातुरगुणानां, भिषक् चिकित्साङ्गानां, नास्तिको वर्ज्यानां, लौल्यं क्लेशकराणाम्, अनिर्देशकारित्वमरिष्टानाम्, अनिर्वेद आर्त्तलक्षणानां, योगो वैद्यगुणानां, विज्ञानमौषधीनां, शास्त्रसहितस्तर्कः साधनानां, सम्प्रतिपत्तिः कालज्ञानप्रयोजनानाम्, अनुद्योगो व्यवसायकालातिपत्तिहे-

तूनाम्, दृष्टकर्मता निःसंशयकराणाम्, असमर्थता भयकराणाम्, तद्विद्यसम्भाषा बुद्धिवर्द्धनानाम्, आचार्य्यः शास्त्राधिगमहेतूनाम्, आयुर्वेदोऽमृतानां, सद्वचनमनुष्ठेयानाम्, असम्बद्धवचनमसंग्रहणसर्वाहितानां, सर्वसंन्यासः सुखानामिति ॥ ४१ ॥

उपशस्त्रोंमें जलौका, पंचकर्मोंमें वस्ति, औषधियोंके योग्य भूमिमें हिमालय पर्वत, आरोग्यदेशोंमें मरुभूमि, औषधियोंमें सोमलता, अहितकारी देशोंमें अनूपदेश, रोगीके गुणोंमें वैद्यकी आज्ञाका पालन, चिकित्साके चार पादोंमें वैद्य, वर्जनीयोंमें नास्तिक, क्लेशकर्त्ताओंमें-लोभ, मृत्युके लक्षणोंमें रोगीकी अबाध्यता, आर्त्तके लक्षणोंमें अस्थिरता, वैद्यके गुणोंमें उचित रीतिपर प्रयोग करना, निःसंशयकर्त्ताओंमें वैद्यसमूह, औषधियोंमें विज्ञान, साधनोंमें शास्त्रविहित युक्ति, कालज्ञानके प्रयोजनोंमें उत्तमज्ञान, समयनाशक हेतुओंमें आलस्य, निःसंदेहकारकोंमें दृष्टकर्मता (जानकारी) भयकारकोंमें असमर्थता, बुद्धिविवर्द्धकोंमें स्वाध्यायियोंसे शास्त्रार्थ करना, शास्त्रजाननेके हेतुओंमें आचार्य, अमृतोंमें आयुर्वेद, करनेयोग्य कार्योंमें सत्यवचन बोलना, सब तरहसे अहित करनेवालोंमें विना विचारे बकवाद करना, परमानन्ददायकोंमें सर्वत्याग प्रधान माना है ॥ ४१ ॥

भवन्ति चात्र-अग्र्याणां शतमुद्दिष्टं यद्द्विपञ्चाशदुत्तरम् ।
अलमेतद्विकाराणां विघातायोपदिश्यते ॥ ४२ ॥
समानकारिणो येऽर्थास्तेषां श्रेष्ठस्य लक्षणम् ।
ज्यायस्त्वं कार्य्यकारित्वेऽवरत्वं चाप्युदाहृतम् ॥ ४३ ॥

इस प्रकार १५२ प्रधान २ वार्त्ताओंका कथन किया गया है सो रोगशान्तिके लिये इन एकसौ बावन प्रधान बातोंका जानना ही बहुत है । इनमें समान कार्यकर्त्ता द्रव्योंमें श्रेष्ठके लक्षण और प्रधानता तथा कार्यकारिता और निकृष्टता कथन कर दीगई है ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

उपरोक्त उपदेशोंका तत्त्व ।

वातपित्तकफेभ्यश्च यद्यत्प्रशमनं हितम् ।
प्राधान्यतश्च निर्दिष्टं यद्व्याधिहरमुत्तमम् ॥ ४४ ॥
एतन्निशम्य निपुणं चिकित्सां सम्प्रयोजयेत् ।
एवं कुर्वन्सदा वैद्यो धर्मकामौ समश्नुते ॥ ४५ ॥

पथ्यं यथानपेतं यद्यच्चोक्तं मनसः प्रियम् ।
यच्चाप्रियमपथ्यञ्च नियतं तन्न लक्षयेत् ॥ ४६ ॥

वात, पित्त, कफकी शान्ति करनेवालोंमें हितकारी और प्रधान तथा रोगनिवारक द्रव्योंका वर्णन किया गया है बुद्धिमान् वैद्यको यह सब विषय स्मरण रखकर चिकित्सा करना चाहिये । इस प्रकार करनेसे वैद्य धर्म, अर्थ और कामको भली प्रकार प्राप्त होता है । जो पदार्थ पुरुषके लिये सात्म्य (उपयोगी) और मनको हितकारी कहे गये हैं उनको पथ्य समझना चाहिये ।जो असात्म्य और कुपथ्य हैं उनकी ओर ध्यान भी देना नहीं चाहिये ॥ ४४–४६ ॥

मात्राकालक्रियाभूमिदेहदोषगुणान्तरम् ।
प्राप्य तत्तद्धि दृश्यन्ते ततो भावास्तथा तथा ॥ ४७ ॥
तस्मात्स्वभावो निर्दिष्टस्तथा मात्रादिराश्रयः ।
तदपेक्ष्योभयं कर्म प्रयोज्यं सिद्धिमिच्छता ॥ ४८ ॥

मात्रा, काल, क्रिया, देश, देह, दोष और गुण आदिकोंके अन्तर होनेसे अहितकर पथ्य और हितकर कुपथ्य होजाते हैं । इस लिये सब द्रव्योंका स्वभाव मात्रा आदि विचारकर उपयोग करना चाहिये । सिद्धिलाभ करनेवाले वैद्योंको इन सब बातोंको विचारकर ही चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

अग्निवेशका आसवविषयक प्रश्न ।

तदात्रेयस्य भगवतो वचनमनुनिशम्य पुनरपि भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच । यथोद्देशमभिनिर्दिष्टः केवलोऽयमर्थो भगवता । श्रुतस्त्वस्माभिः । आसवद्रव्याणामिदानीं लक्षणमनतिसंक्षेपेणोपदिश्यमानं शुश्रूषामहे इति ॥ ४९ ॥

आत्रेय भगवान्का यह सम्पूर्ण उपदेश सुनकर अग्निवेश कहने लगे कि, हे भगवन् ! जिस २ बातकी जाननेकी हमने इच्छा की वह सब आपने कृपापूर्वक निर्देश कर दिया है । अब हम आसवद्रव्योंकी प्रकृति और लक्षण विस्तारपूर्वक सुनना चाहते हैं, कृपाकर उनका भी विस्तारपूर्वक कथन कीजिये ॥ ४९ ॥

आत्रेयजीका उत्तर (आसवोंका वर्णन) ।

तमुवाच भगवानात्रेयः। धान्यफलसारपुष्पकाण्डपत्रत्वचो भवन्त्यासवयोनयः अग्निवेश ! संग्रहेणाष्टौ शर्करा नवमी। तासु द्रव्यसंयोगकरणतोऽपरिसंख्येयासु यथापथ्यतमानासवानां चतुरशीतिं निबोध ।

सुरासौवीरतुषोदकमैरेयमेदकधान्याम्लषड्धान्यासवाः । मृद्वीका-खर्जूरकाश्मर्यधन्वनराजादनतृणशूल्यपरूषाभयामलकमृगलण्डिका-जाम्बवकपित्थबकुलबदरकर्कन्धुपीलुपियालपनसन्यग्रोधाश्वत्थप्ल-क्षकपीतनोदुम्बराजमोदशृङ्गाटकशंखिनीतिफलासवाः षड्विंशतिः । विदारिगन्धाश्वगन्धाकृष्णगन्धाशतावरीश्यामात्रिवृद्दन्तीद्रवन्तीबि-ल्वोरुबुकचित्रमूलैरेकादश मूलासवाः । शालप्रियकाश्वकर्णचन्दन-स्यन्दनखदिरकदरसप्तपर्णार्जुनासनारिमेदतिन्दुककिणिहीशमीशुक्ति-शिंशपाशिरीषवञ्जुलधन्वनमधूकसारासवा विंशतिः ॥ ५० ॥

यह सुन आत्रेय भगवान् कहनेलगे कि, हे अग्निवेश ! धान्य, फल, मूल, सार, फूल, डंडी, पत्र, छाल इन आठ वस्तुओंसे आसव बनता है और नवम पदार्थ आसव बनानेका खांड है । इन द्रव्योंके परस्पर संयोग विशेषसे असंख्य आसव बन सकते हैं उनमें चौरासी ८४ प्रकारके आसव उत्तम और पथ्य माने जाते हैं । इन आसवोंमें सुरा, सौवीर, तुषोदक, मैरेय, मेदक, धान्याम्ल यह छः प्रकारके आसव धान्योंसे उत्पन्न होते हैं । मुनक्का, खजूर, काश्मरीके फल, धामन, खिरनी, केतकी फल, फालसा, हरडे, आमले, बहेडे, जामुन, कैथ, मौलसरी, बेर, जंगलीबेर, अखरोट, प्रियाल, कट-हर, बडके फल, पीपलके फल, पिलखनेके फल, अमाडा, गूलर, अजमोद, सिंघाडा, शंखिनी यह २६ छव्वीस प्रकारके आसव फलोंसे प्रगट होते हैं । शालपर्णी, अस-गंध, सुहांजना, शतावर, काला निशोथ, लाल निशोथ, दंती, द्रवंती, बिल्व, एरंड, चित्रक इनके मूलोंसे ११ ग्यारह प्रकारके आसव बनते हैं । शालवृक्ष, प्रियंगु, अश्व-कर्णशाल, रक्तचंदन, तिनस, खैर, श्वेतखैर, सप्तपर्ण, अर्जुन, विजयसार, अरिमेद, तिन्दुक, किंरवण, शमीवृक्ष, बेरी, शीशम, सिरस, अशोक, धन्वन, महुआ इन बीस प्रकारके वृक्षोंके सारसे २० बीस प्रकारके आसव बनते हैं ॥ ५० ॥

पद्मोत्पलनलिनकुमुदसौगन्धिकपुण्डरीकशतपत्रमधूकप्रियङ्गुधातकी-पुष्पैर्दश पुष्पासवाः । इक्षुकाण्डेक्षुइक्षुबालिकापुंड्रकचतुर्थाः का-ण्डासवाः । पटोलताडौ पत्रासवौ द्वौ भवतः । तिल्वकलोध्रैलवा-लुकक्रमुकचतुर्थास्त्वगासवा भवन्ति । शर्करासव एक एव । इत्ये-षामासवानामासुतत्त्वादासवसंज्ञा । एवमेषामासवानां चतुरशीतिः परस्परेणासंस्पृष्टानामासवद्रव्याणामुपनिर्दिष्टाः । द्रव्यसंयोगविभाग-

स्त्वेषां बहुविकल्पसंस्कारश्च । यथास्वं योनिसंस्कारसंस्कृताश्चासवाः स्वं कर्म कुर्वन्ति संयोगसंस्कारदेशकालमात्रादयश्च भावास्तेषां तेषामासवानां ते ते समुपदिश्यन्ते तत्तत्कार्यमभिसमीक्ष्येति ॥ ५१ ॥

कमल, उत्पल, नलिन, कुमुद, कह्लार, पुण्डरीक, शतपत्र, महुएका फूल, प्रियंगुके फूल, धावेके फूल इनसे १० दस प्रकारके फूलोंके आसव बनते हैं । पटोलपत्र और देवदालीके पत्रोंसे दो प्रकारके आसव बनते हैं । ईख, कांडेक्षु, इक्षुवालिका, पुण्ड्रक, ये चार प्रकारके आसव डांडरोंसे बनते हैं। तिल्वक, लोध,एलवालुक, सुपारी इन चार ४ वृक्षोंकी छालसे चार प्रकारके आसव बनते हैं । शर्करासे शर्करासव एक प्रकारका बनता है। इन आसवोंकी उन २ पदार्थोंमें व्याप्त रहने और दबाकर निकाले जानेसे आसव संज्ञा है, इस प्रकार ८४ चौरासी प्रकारके आसवोंका उपदेश किया गया है । द्रव्य विशेषके संयोग, विभाग, कल्पना और संस्कारविशेषसे आसव अपने २ कारणोंके अनुसार अनेक प्रकारके गुण करते हैं । संयोग, संस्कार, देश, काल, मात्रा आदिका विचार करके ही आसवोंका उपयोग करना चाहिये । इस प्रकार जो जो आसव जिस २ प्रकार जिस २ पदार्थसे बनता है उसका यथोचित वर्णन किया गया है ॥ ५१ ॥

उपसंहार।

भवंति चात्र--मनःशरीराग्निबलप्रदानामस्वप्नशोकारुचिनाशनानाम् ।
संहर्षणानां प्रवरासवानामशीतिरुक्ता चतुरुत्तरैषा ॥ ५२ ॥
शरीरयोगप्रकृतौ मतानि तत्त्वेन चाहारविनिश्चयो यः ।
उवाच यज्ञःपुरुषादिकेऽस्मिन्मुनिस्तथाग्र्याणि वरासवांश्च॥इति५३

इत्यन्नपानचतुष्के यज्ञःपुरुषीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २५ ॥

इस यज्ञः पुरुषीय अध्यायमें मन, शरीर, अग्नि और बल बढानेवाले और अनिद्रा, शोक तथा अरुचिको नष्ट करनेवाले हर्षके उत्पन्न करनेवाले ८४ चौरासी आसवोंका वर्णन किया गया है तथा शरीरकी रक्षाके लिये सब प्रकारके आहार और उपाय यथोचित रीति पर महर्षि आत्रेयजीने वर्णन किये हैं ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां पटियालाराज्यांतर्गतटकसालनिवासि वैद्यपंचानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्यभाषाटीकायां यज्ञःपुरुषीयो नाम पञ्चविंशोऽध्यायः॥ २५ ॥

षड्विंशोऽध्यायः ॥

अथात आत्रेयभद्रकाप्यीयमध्यायं व्याख्यास्यामः
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम आत्रेयभद्रकाप्यीय नामके अध्यायकी व्याख्या करते हैं ऐसा आत्रेय भगवान् कहने लगे ॥

ऋषियोंका रसविषयक आन्दोलन ।

आत्रेयो भद्रकाप्यश्च शाकुन्तेयस्तथैव च ।
पूर्णाख्यश्चैव मौद्गल्यो हिरण्याक्षश्च कौशिकः ॥ १ ॥
यः कुमारशिरा नाम भरद्वाजः स चानघः ।
श्रीमान्वार्योविदश्चैव राजा मतिमतां वरः ॥ २ ॥
निमिश्च राजा वैदेहो बडिशश्च महामतिः ।
काङ्कायनश्च बाह्लीको बाह्लीकभिषजां वरः ॥ ३ ॥
एते श्रुतवयोवृद्धा जितात्मानो महर्षयः ।
वने चैत्ररथे रम्ये समीयुर्विजिहीर्षवः ॥ ४ ॥
तेषां तत्रोपविष्टानामियमर्थवती कथा ।
बभूवार्थविदां सम्यक् रसाहारविनिश्चये ॥ ५ ॥

एक समय आत्रेय, भद्रकाप्य, शाकुन्तेय, पूर्णाक्ष, मौद्गल्य, हिरण्याक्ष, कौशिक, महात्मा कुमारशिरा भरद्वाज, बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ श्रीमान् राजर्षि वार्योविद, निमिराजर्षि वैदेह, विशालबुद्धि बडिश, कांकायन, बाह्लीक (वैद्योंमें श्रेष्ठ) यह सम्पूर्ण विद्यामें और आयुमें वृद्ध, जितेन्द्रिय, महात्मालोग, रमणकरनेयोग्य चैत्ररथ नामक वनमें विचरण करते हुए एक स्थानमें एकत्रित हुए । उस समय इन ऋषियोंकी सभामें रसाहारसम्बन्धी सिद्धान्त निश्चय करनेके लिये आन्दोलन आरंभ हुआ ॥ १-५ ॥

एक एव रस इत्युवाच भद्रकाप्यः। यं पञ्चानामिन्द्रियार्थानामन्यतमं जिह्वावैषयिकं भावमाचक्षते कुशलाः। स पुनरुदकादनन्य इति ॥ ६ ॥

प्रथम भद्रकाप्य बोले कि, रस एक ही प्रकारका होता है। और यह रस सब प्रकारके इन्द्रियार्थोंमें जिह्वाग्राह्य है और ' जिह्वेन्द्रिय जलीय है इसलिये रस जलके सिवाय और कोई वस्तु नहीं ॥ ६ ॥

द्वौ रसाविति शाकुन्तेयो ब्राह्मणः । छेदनीयश्चोपशमनीयश्चेति ॥७॥

यह सुनकर शाकुन्तेय ब्राह्मण कहनेलगे कि रस दो प्रकारका होता है । १ छेदनकर्ता, २ उपशमनकर्ता ॥ ७ ॥

त्रयो रसा इति पूर्णाक्षः मौद्गल्यः। छेदनीयोपशमनीयौ साधारणश्च॥८॥

पूर्णाक्ष मौद्गल्य कहनेलगे कि, रस तीन प्रकारका होता है। १ छेदन-(शोधन) कर्ता, २ शमनकर्त्ता, ३ साधारण ॥ ८ ॥

चत्वारो रसा इति हिरण्याक्षः कौशिकः । स्वादुर्हितश्च स्वादुरहितश्च अस्वादुराहितश्चास्वादुर्हितश्चेति ॥ ९ ॥

हिरण्यकौशिक कहनेलगे कि हितकर स्वादु, अहितकर स्वादु, अहितकर अस्वादु और हितकर अस्वादु इन भेदोंसे ४ प्रकारका रस है ॥ ९ ॥

पञ्च रसा इति कुमारशिरा भरद्वाजः।भौमौदकाग्नेयवायवीयान्तरिक्षाः १०

कुमारशिरा भरद्वाज कहनेलगे कि भौम, औदक, आग्नेय, वायव्य, आन्तरिक्ष इन भेदोंसे ५ पांच प्रकारका रस होता है ॥ १० ॥

षड्रसा इति वार्योविदो राजर्षिः । गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षाः ॥ ११ ॥

राजर्षि वार्योविद कहनेलगे कि, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष इन भेदोंसे रस छः प्रकारका होता है ॥ ११ ॥

सप्त रसा इति निमिर्वैदेहो मधुराम्ललवणकटुकतिक्तकषायक्षाराः॥ १२॥

निमि वैदेह कहनेलगे कि रस ७ सात प्रकारके होते हैं । जैसे-मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय, क्षार ॥ १२ ॥

अष्टौ रसा इति बडिशो धामार्गवो मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायक्षाराव्यक्ताः ॥ १३ ॥

बडिश धामार्गव कहते हैं कि, मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषाय, क्षार और अव्यक्त इन भेदोंसे रस आठ प्रकारके हैं ॥ १३ ॥

अपरिसंख्येया रसा इति काङ्कायनो बाह्लीकभिषगाश्रयगुणकर्मसंस्कारविशेषाणामपरिमेयत्वात् ॥ १४ ॥

कांकायन कहनेलगे कि रस अपरिसंख्येय हैं क्योंकि आश्रय पञ्चमहाभूतविकार गुण गुर्वादि, कर्म, संस्कार विशेषोंसे तद्युक्त रसोंकी असंख्य कल्पना होसकती है ॥

रसविषयक सिद्धान्त ।

षडेव रसा इत्युवाच भगवानात्रेयः पुनर्वसुः।मधुराम्ललवणकटुतिक्त-

कषायाः। तेषां षण्णां रसानां योनिरुदकम्। छेदनोपशमने द्वे कर्मणी। तयोर्मिश्रीभावात्साधारणत्वं स्वाद्वस्वादुताभक्तिः। द्वौ हिताहितौ प्रभावौ। पञ्च महाभूतविकारास्त्वाश्रयाः ॥ १५ ॥

इस पर भगवान् पुनर्वसु आत्रेयने कहा कि, नहीं रस छही प्रकारके होते हैं। जैसे मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय और इन छहों रसोंका कारण जल है। छेदन और उपशमन यह रसोंके दो कर्म हैं। इन सब रसोंके मिलजुलकर साधारणतासे दो स्वाद माने गये हैं। १ स्वादु और २ अस्वादु। हितकर और अहितकर यह दो प्रकारके रसोंके प्रभाव होते हैं। और पांच महाभूतोंके विकार रसके आश्रय माने जाते हैं ॥ १५ ॥

प्रकृतिविकृतिविचारदेशकालवशास्तेषु आश्रयेषु द्रव्यसंज्ञकेषु गुणा गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्याः ॥ १६ ॥

वह आश्रय-प्रकृति, विकृति, विकार, देश, कालके वश माने जाते हैं। फिर वह द्रव्यनामक आश्रय गुरु, लघु, शीत, उष्ण, रूक्ष आदि गुणोंके आश्रयीभूत हैं॥१६॥

क्षरणात्क्षारो नासौ रसः। द्रव्यं तदनेकरससमुत्पन्नमनेकरसं कटुक-लवणभूयिष्ठमनेकेन्द्रियार्थसमन्वितं करणाभिनिर्वृत्तम् ॥ १७ ॥

क्षरण होनेसे क्षार कहा जाता है इसलिये यह रस नहीं द्रव्य है। क्योंकि, वह अनेक प्रकारके रसोंसे प्रकट होता है। इसीलिये अनेक रसयुक्त है किन्तु क्षारमें कटु और लवण रस अधिकतासे प्रतीत होता है। क्षार रस अनेक विषयोंसे युक्त और करणसे उत्पन्न होता है ॥ १७ ॥

अव्यक्तीभावस्तु खलु रसानां प्रकृतावनुरसे अनुरससमन्विते वा द्रव्ये ॥ १८ ॥

अव्यक्तीभाव (किसी रसका प्रगट न होना-जैसे जलमें कोई रस प्रतीत नहीं होता) किसी अन्य " अव्यक्त " नामक रसके आश्रित नहीं। षड्रसोंकी प्रकृतिमें ही अव्यक्तीभाव विद्यमान है। अर्थात् वह स्वयं ही अव्यक्त हो जाते हैं। जब वह अनुरस या अनुरसमिश्रित द्रव्योंमें हों तो रसोंके स्वादका भास नहीं होता। अनुरस अप्रस्फुट या अव्यक्त रसको ही कहते हैं। जिन द्रव्योंमें रस स्फुट न हो उन्हें अनुरस द्रव्य कहते। तात्पर्य यह है कि, रस स्फुट हो अथवा अस्फुट वह इन छः रसोंसे भिन्न नहीं होता। ' अव्यक्त ' रस कोई ७ वां भिन्न पदार्थ नहीं ॥ १८ ॥

अपरिसंख्येयत्वं पुनर्न तेषामाश्रयादीनां भावानां विशेषापरिसंख्येय-त्वाद्युक्तम् । एकैकोऽपि ह्येषां आश्रयादीनां भावानां विशेषानेवा-श्रयते । न च तस्मादन्यत्वमुपपद्यते परस्परसंसृष्टभूयिष्ठत्वात् ॥१९॥

" अपरि संख्येयत्व " का खण्डन । उन आश्रयादि भावोंके असंख्य होते हुवे भी गुण असंख्य नहीं कहे जासकते । क्योंकि यह आश्रयादि (पञ्चमहाभूतविकारादि) भाव स्वयं विशेषों (भिन्न २ अवस्थाओं) के आश्रय रहकर असंख्य हो जाते हैं, परन्तु फिर भी अन्यत्वको प्राप्त नहीं होते । क्योंकि वह तो केवल परस्पर संसृष्ट (इकट्टे मिलकर) होकर भिन्न २ अवस्थाको प्राप्त होते हैं। संख्या वही रहती है । यद्यपि इक्षुरस, शर्करा और गुड़ तीन भिन्न आश्रय होनेसे तीन भिन्न २ स्वाद मालूम पड़ते हैं परन्तु वास्तवमें सबमें एक ही मधुर रस अवस्थान्तरमें है ॥ १९ ॥

न चैषामभिनिर्वृत्तौ गुणप्रकृतीनामपरिसंख्येयत्वं भवति । तस्मान्न संसृष्टानां रसानां कर्मोपदिशन्ति बुद्धिमन्तः ॥ २० ॥

इन आश्रयादि अथवा गुण आदिकी प्रकृतियें इनके उत्पत्तिकालमें असंख्य नहीं होती । अर्थात् जिस समय गुणादिकी उत्पत्ति होती है तो उनकी प्रकृतियां संख्या-बद्ध होती हैं । रस भी गुण ही हैं इस कारण पीछे अन्य अवस्थाओंसे मिलनेपर भी आरंभ कालमें उनकी ६ प्रकृतियां ही हैं । इसी कारण आचार्योंने संसृष्ट (मिश्रित) रसोंका भिन्नकर्म नहीं बतलाया । क्योंकि जब वह अवस्थान्तरमें भी अपनी षड्गुण प्रकृतिको नहीं छोड़ते तो उनके कर्ममें भी भिन्नता नहीं आती इसी कारण संसृष्ट गुणोंके कर्म्मका अलग उपदेश नहीं किया ॥ २० ॥

तच्चैव कारणमपेक्षमाणाः षण्णां रसानां परस्परेणासंसृष्टानां लक्षणं पृथक्त्वेनोपदेक्ष्यामः । अग्रे तु तावद्द्रव्यभेदमभिप्रेत्य किञ्चिदभिधा-स्यामः । सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकमस्मिन्नेवार्थे । तच्चेतनावदचेतनञ्च । तस्य गुणाः शब्दादयो गुर्वादयश्च द्रवान्ताः । कर्म पञ्चविधमुक्तं वमनादि ॥ २१ ॥

इसी कारणकी अपेक्षा करतेहुए अर्थात् इसी कारणसे छहों रसोंके द्रव्यादिकोंकी सहकारितासे अलग २ लक्षणोंको कहेंगे । परन्तु (रसज्ञान द्रव्य ज्ञानके आधीन है इसलिये) पहले द्रव्यभेदको लेकर कुछ कहते हैं । सम्पूर्ण द्रव्य पांचभौतिक है । फिर इनके चेतन और अचेतन भेदसे दो प्रकार हैं । फिर उनके गुण शब्दादिक और गुरुआदिक द्रवपर्यन्त होते हैं । एवम् पांच प्रकारका वमनादिक कर्म है॥२१॥

पार्थिवद्रव्योंके गुणकर्म ।

तत्र द्रव्याणि । गुरुखरकठिनमन्दस्थिरविशदसान्द्रस्थूलगन्धगुण-बहुलानि पार्थिवानि । तान्युपचयसङ्घातगौरवस्थैर्य्यकराणि ॥२२॥

उन द्रव्योंमें गुरु, खर, कठिन, मन्द, स्थिर, विशद, सान्द्र, स्थूल और गन्ध ये गुण पार्थिव (पृथ्वीसम्बन्धी) होते हैं । पार्थिव द्रव्य शरीरमें पुष्ट, कठिन, गुरुता और स्थिरताके करनेवाले होते हैं ॥ २२ ॥

जलीय द्रव्य ।

द्रवस्निग्धशीतमन्दमृदुपिच्छिलरसगुणबहुलान्याप्यानि । तान्युत्क्लेद-स्नेहबन्धविष्यन्दप्रह्लादकराणि ॥ २३ ॥

जो द्रव्य द्रव, स्निग्ध, शीत, मन्द, मृदु, पिच्छिल, सर तथा रसगुणप्रधान होते हैं उनको जलीयद्रव्य जानना चाहिये । जलीयद्रव्य–क्लेद, स्निग्धता, बन्ध, विष्यन्द और आह्लादता करनेवाले हैं ॥ २३ ॥

आग्नेय द्रव्य ।

उष्णतीक्ष्णसूक्ष्मलघुरूक्षविशदरूपगुणबहुलानि आग्नेयानि । तानि दाहपाकप्रभाप्रकाशवर्णकराणि ॥ २४ ॥

जो द्रव्य उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, लघु, रूक्ष, विशद, एवम् रूप गुण प्रधान होते हैं उनको आग्नेय जानना चाहिये । आग्नेय द्रव्य–शरीरमें दाह, पाक, प्रभा, प्रकाश और वर्णको करते हैं ॥ २४ ॥

वायवीय द्रव्य ।

लघुशीतरूक्षखरविशदसूक्ष्मस्पर्शगुणबहुलानि वायव्यानि । तानि रौक्ष्यग्लानिविचारवैशद्यलाघवकराणि ॥ २५ ॥

जो द्रव्य लघु, शीत, रूक्ष, खर, विशद, सूक्ष्म और स्पर्शगुणप्रधान होते हैं वह वायवीय होते हैं । वायवीयद्रव्य--रूक्षता, ग्लानि, विचार, विशदता तथा लघु-ताको करते हैं ॥ २५ ॥

आकाशीय द्रव्य ।

मृदुलघुसूक्ष्मश्लक्ष्णशब्दगुणबहुलान्याकाशात्मकानि । तानि मार्दव-सौषिर्य्यलाघवकराणि ॥ २६ ॥

जो द्रव्य मृदु, लघु सूक्ष्म, श्लक्ष्ण और शब्दगुणप्रधान होते हैं वह आकाशीय हैं । आकाशीय द्रव्य मृदुता, पित्त तथा लघुताको करते हैं ॥ २६ ॥

द्रव्यविषयक सिद्धान्त ।

अनेनोपदेशेन नानौषधिभूतं जगति किञ्चिद्द्रव्यमुपलभ्यते । तां तां युक्तिमर्थञ्च तं तमभिप्रेत्य ॥ २७ ॥

इस नियमसे यह सिद्ध है कि,संसारमें यत्किंचित् वस्तु हैं उन सबमें ही औषधत्व होता है । यह द्रव्योंका औषधत्व उनकी युक्ति (योजना) और अर्थ (प्रयोजन) के अभिप्रायको लेकर कहा है. अर्थ. योगविशेषकी अपेक्षासे ही कार्यकर्ता होते हैं॥ २७ ॥

न केवलं गुणप्रभावादेव द्रव्याणि कार्मकाणि स्युः । द्रव्याणि हि द्रव्यप्रभावाद्गुणप्रभावाच्च तस्मिंस्तस्मिन्काले तत्तदधिष्ठानमासाद्य तां तां च युक्तिं यत्कुर्वन्ति तत्कर्म येन कुर्वन्ति तद्वीर्य्यम्।यत्र कुर्वन्ति तदधिकरणम् । यदा कुर्वन्ति स कालः । यथा कुर्वन्ति स उपायः । यत्साधयन्ति तत्फलम् ॥ २८ ॥

द्रव्य केवल गुणप्रभाव द्वारा ही क्रिया नहीं करते । परन्तु सम्पूर्ण द्रव्य द्रव्यके प्रभावसे, गुणके प्रभावसे और द्रव्यगुणके प्रभावसे यथासमय, जिस अधिष्ठानको प्राप्त होकर यथोचित रीति पर प्रयोग करनेसे जो कार्य करते हैं, उसको कर्म कहते हैं, तथा जिसके द्वारा करते हैं उसको वीर्य कहते हैं, जहां करते हैं उसे अधिकरण कहते हैं और जिस समय करते हैं उसको काल कहते हैं एवम् जिस प्रकार करते हैं उसको उपाय कहते हैं और कर्मद्वारा जो सिद्ध होता है उसको फल कहते हैं ॥ २८ ॥

रसोंके विकल्पकी संख्या ।

भेदश्चैषां त्रिषष्टिविधिविकल्पो द्रव्यदेशकालप्रभावात्तदुपदेक्ष्यामः॥ २९॥

इन द्रव्योंके--देश, काल और प्रभावविशेषसे ६३ तरेसठ प्रकार होते हैं उनका आगे वर्णन करते हैं ॥ २९ ॥

स्वादुरम्लादिभिर्योगं शेषैरम्लादयः पृथक् ।
यान्ति पञ्चदशैतानि द्रव्याणि हि रसानि तु ॥ ३० ॥
पृथगम्लादियुक्तस्य योगः शेषैः पृथग्भवेत् ।
मधुरस्य तथाम्लस्य लवणस्य कटोस्तथा ॥ ३१ ॥
त्रिरसानि यथासंख्यं द्रव्याण्युक्तानि विंशतिः ।
वक्ष्यन्ते तु चतुष्केण द्रव्याणि दशपञ्च च ॥ ३२ ॥
स्वाद्वम्लौ सहितौ योगं लवणाद्यैः पृथग्गतौ ।

योगं शेषैः पृथग्यातः चतुष्कं रससंख्यया ॥ ३३ ॥
सहितौ स्वादुलवणौ तद्वत्कट्वादिभिः पृथक्।
युक्तौ शेषैः पृथग्योगं यातः स्वादूषणौ यथा ॥ ३४ ॥
कट्वाद्यैरम्ललवणौ संयुक्तौ सहितौ पृथक्।
यातः शेषैः पृथग्योगं शेषैरम्लकटू तथा ॥ ३५ ॥
युज्यते तु कषायेण सतिक्तौ लवणोषणौ।
षट् तु पञ्चरसान्याहुरेकैकस्यापवर्जनात् ॥ ३६ ॥
षट् चैवैकरसानि स्युरेकं षड्रसमेव तु।
इति त्रिषष्टिर्द्रव्याणां निर्दिष्टा रससंख्यया ॥ ३७ ॥
त्रिषष्टिः स्यात्त्वसंख्येया रसानुरसकल्पनात्।
रसास्तरतमाभ्यां तां संख्यामभिपतन्ति हि ॥ ३८ ॥

मधुर आदिक जो छः रस हैं उनमें स्वादुरसका अम्ल आदिके संग दो दोका संयोग करनेसे पांच प्रकार होते हैं। जैसे मधुराम्ल, मधुरलवण, मधुरतिक्त, मधुरकटु, मधुरकषाय। एवम् अम्लरसका दो दोसे संयोग कियाजाय तो चार प्रकार होते हैं। जैसे अम्ललवण, अम्लतिक्त, अम्लकटु, अम्लकषाय यह चार प्रकार हुए, क्योंकि अम्लमधुर पहिले पांच प्रकारोंमें आचुका है इसलिये छः रसोंमेंसे एक रसके दूसरे दूसरेके साथ मिलानेसे जिस रसका मिलान किया जायगा वह कम होनेसे पांच प्रकारके होते हैं। दूसरे रसका मिलान करनेसे चार प्रकार रह जाते हैं। इसी प्रकार लवणरसका मिलान करनेसे तीन प्रकार होते हैं। तिक्तरसका मिलान करनेसे दो प्रकार होते हैं तथा कटुरस केवल एक प्रकारका रहजाता है। इस प्रकार सब मिला १५ प्रकारके हुए। तीन तीनके मिलानेसे मधुर रस १० प्रकारका, अम्लरस ६ प्रकारका, लवणरस ३ प्रकारका होता है। एवम् तिक्तरस १ प्रकारका हुआ। कुल मिलकर २० प्रकार हुए। चार चारके संयोगसे मधुर रस १० प्रकारका, अम्ल रस ४ प्रकारका, लवण रस १ प्रकारका इन सबको जोडदेनेसे १५ होते हैं। पांच पांचके मिलानेसे मधुर ५ प्रकारका, अम्ल १ प्रकारका, दोनोंको मिलानेसे ६ प्रकार हुए। और ६ रसोंको ही एकत्रित करनेसे १ प्रकार हुआ, एवम् मधुर आदि मुख्यरसोंको अलग २ रखनेसे ६ प्रकार हुए। सबका मिलान करनेसे ६३ प्रकारके रस भेद हुए। इन ६३ तिरसठ ही प्रकारोंमें रस और अनुरस ये अंशांश कल्पना करनेसे अत्यंत संख्या बढजाती है ॥ ३०-३८ ॥

संयोगाः सप्तपञ्चाशत्कल्पना तु त्रिषष्टिधा ।
रसानां तत्र योग्यत्वात्कल्पिता रसचिन्तकैः ॥ ३९ ॥
क्वचिदेको रसः कल्प्यः संयुक्ताश्च रसाः क्वचित् ।
दोषौषधादीन्सञ्चिन्त्य भिषजा सिद्धिमिच्छता ॥ ४० ॥
द्रव्याणि द्विरसादीनि संयुक्तांश्च रसान्बुधः ।
रसानैकैकशश्चैव कल्पयन्ति गदान्प्रति ॥ ४१ ॥

इस प्रकार संयोगसे ५७ सत्तावन और (६ असंयुक्त रस मिलाकर) कल्पनासे ६३ तिरसठ रसोंके प्रकार होते हैं । रसचिंतकोंने रसतन्त्रमें इस प्रकार कल्पना की है । सिद्धिकी इच्छा करनेवाले वैद्यको कहीं एक कहीं बहुत रसोंसे युक्त औषधियोंको और दोषोंको विचारलेना चाहिये । बुद्धिमान् वैद्यको चाहिये कि, द्रव्य और द्रव्योंके रस तथा रससंयोग आदि विचारकर रोगोंमें प्रयोग करें ॥ ३९–४१ ॥

रसविकल्पज्ञ वैद्यकी प्रशंसा ।

यः स्याद्रसविकल्पज्ञः स्याच्च दोषविकल्पवित् ।
न स मुह्येद्विकाराणां हेतुलिङ्गोपशान्तिषु ॥ ४२ ॥

जो वैद्य रसोंके विकल्पको जानता है तथा दोषोंके विकल्पको भली प्रकार जानता है वह वैद्य रोगके निदान, लक्षण और उपाय करनेमें मोहको प्राप्त नहीं होता॥४२॥

रस अनुरसके लक्षण ।

व्यक्तः शुष्कस्य चादौ च रसो द्रव्यस्य लक्ष्यते ।
विपर्य्ययेणानुरसो रसो नास्ति हि सप्तमः ॥ ४३ ॥

रस उसको कहते हैं जो शुष्क द्रव्यमें व्यक्त हो और द्रव्यके रसनेन्द्रियसे संबन्ध होते ही प्रत्यक्ष हो । यहां शुष्क लिखनेका तात्पर्य्य यह है कि, कभी आर्द्र द्रव्यमें भिन्न रस होता है और उसी द्रव्यके शुष्क होने पर भिन्न । ऐसी अवस्थामें कौनसा रस है और कौनसा उपरस । जो शुष्क द्रव्यमें व्यक्त है वह रस है क्योंकि वह अधिक परिपक्व है और अन्त तक रहा है । जो आर्द्रमें था वह अनुरस था क्योंकि वह अव्यक्त होगया । फिर प्रश्न उठता है कि यदि एक द्रव्य पहले तो और स्वाद दे पीछे और उसमें कौनसा रस है और कौनसा अनुरस । सो कहते हैं जो द्रव्यके आदिमें हो जैसे हरड जिह्वाको स्पर्श करते ही तिक्त मालूम होती है इस कारण इसका प्रधान रस तिक्त है । पीछे कुछ माधुर्य्य प्रतीत होता है इस कारण वह मधुररस हरीतकीका अनुरस है । रसका विपर्य्यय, अर्थात् अव्यक्त रस अथवा आर्द्र द्रव्यमें व्यक्त होकर फिर अव्यक्त होनेवाला रस, अथवा अन्तमें अनुभूत होनेवाला रस अनुरस कहलाता

है। सप्तम अन्य रस कोई नहीं। यदि इन सब अवस्थाओंमें एक ही व्यक्त रस हो वह तो रस होता ही है ॥ ४३ ॥

परादि १० गुणोंके नाम और लक्षण।

परापरत्वे युक्तिश्च संख्या संयोग एव च।
विभागश्च पृथक्त्वञ्च परिमाणमथापि च ॥ ४४ ॥
संस्कारोऽभ्यास इत्येते गुणा ज्ञेयाः परादयः।
सिद्ध्युपायाश्चिकित्साया लक्षणैस्तान्प्रवक्ष्यते ॥ ४५ ॥

परत्व, अपरत्व, युक्ति, संख्या, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परिमाण, संस्कार और अभ्यास इन सबका यथोचित ज्ञान होनेके विना चिकित्साकी सिद्धि नहीं होती इसलिये अब इनके लक्षणोंको कहते हैं ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

देशकालवयोमानपाकवीर्य्यरसादिषु।
परापरत्वे[1] युक्तिस्तु योजना या च युज्यते ॥ ४६ ॥

देश, काल, अवस्था, मान, पाक, वीर्य, रस आदिकोंमें प्रधानको पर और अप्रधानको अपर समझना चाहिये। इन देश, कालादिकोंका परत्वापरत्व विचार जो प्रयोग किया जाता है उसको युक्ति कहते हैं ॥ ४६ ॥

संख्या स्याद्गणितं योगः सहसंयोग उच्यते।
द्रव्याणां द्वन्द्वसर्वैककर्मजो नित्य एव च ॥ ४७ ॥

द्रव्यकी गणनाको संख्या कहते हैं उसके विधिपूर्वक मिलानको संयोग कहते हैं। वह संयोग तीन प्रकारका होता है। १ द्वन्द्वकर्मज (जैसे मल्लयुद्ध आदि), २ सर्वकर्मज (जैसे वर्तनमें बहुतसे चावलोंका संयोग), ३ एककर्मज। (जैसे वृक्ष पर काकका आ बैठना। यद्यपि यहां वस्तु वृक्ष और काक दो हैं परन्तु कर्म एक काकने ही किया है) वह संयोग अनित्य होता है ॥ ४७ ॥

विभागस्तु विभक्तिः स्यात् वियोगो भागशो ग्रहः।
पृथक्त्वं स्यादसंयोगो वैलक्षण्यमनेकता ॥ ४८ ॥

विभागशब्दका अर्थ हिस्से करना अर्थात् भागपूर्वक वियोग करना है पृथक्त्व एकसे दूसरेमें पृथक्ता प्रतिपादन करना है। जैसे—गौसे भैंस पृथक् होतीहै। घटसे पट पृथक् होता है। विलक्षणता और अनेकता पृथक्त्वके ही पर्य्याय हैं ॥ ४८ ॥

---

१ परत्वं प्रधानत्वम्, अपरत्वम्—अप्रधानत्वमिति चक्रपाणिः।

परिमाणं पुनर्मानं संस्कारः करणं मतम्।
भावाभ्यसनमभ्यासः शीलनं सततक्रिया ॥ ४९ ॥

परिमाण—मान (तोल) के विधानका नाम हैं। द्रव्यादिकोंका संयोग करनेसे जो विशेष रूप प्रगट होता है उसको संस्कार कहते हैं। एक भावका निरन्तर सेवन करना अभ्यास कहा जाता है। शीतल और सतत क्रिया यह अभ्यासके पर्य्याय हैं ॥ ४९ ॥

इति स्वलक्षणैरुक्ता गुणाः सर्वे परादयः।
चिकित्सा यैरविदितैर्न यथावत्प्रवर्त्तते ॥ ५० ॥

इस प्रकार परत्व आदिकोंके लक्षणोंका वर्णन कियागया है इनके यथोचित ज्ञान विना यथार्थ चिकित्सा नहीं होती ॥ ५० ॥

रसगुणविषयक सिद्धान्त।

गुणा गुणाश्रया नोक्तास्तस्माद्रसगुणान् भिषक्।
विद्याद् द्रव्यगुणान्कर्तुरभिप्रायाः पृथग्विधाः ॥ ५१ ॥
अतश्च प्रकृतिं बुद्ध्वा देशकालान्तराणि च।
तन्त्रकर्त्तुरभिप्रायानुपायांश्चार्थमादिशेत् ॥ ५२ ॥

गुण गुणोंके आश्रित नहीं होते किन्तु गुण द्रव्यके आश्रय कहे गये हैं। इसलिये वैद्य रसके गुणोंको द्रव्यके गुणोंमें समझे, क्योंकि रसका गुण अन्य होनेपर भी द्रव्यमें अन्य गुण पाया जाता है। जैसे—कुल्थीका कषाय रसमें कसैला होनेपर भी वातको उत्पन्न नहीं करता बल्कि नाश करता है॥इसलिये तंत्रकर्त्ताका अभिप्राय और प्रकृति देश काल आदिकोंको यथोचित विचारकर उपाय आदि करना चाहिये ॥५१॥५२॥

रसोंकी उत्पत्ति।

पुरस्तात्ः प्रवक्ष्यन्ते रसानां षड्विभक्तयः।
षट् पञ्चभूतप्रभवाः संख्याताश्च यथा रसाः ॥ ५३ ॥

अब फिर रसोंके ६ विभाग तथा इन छःहोंकी पांच महाभूतोंसे उत्पत्तिको कथन करते हैं। जैसे—६ प्रकारके रस पांच महाभूतोंसे उत्पन्न हुए हैं ॥ ५३ ॥

सौम्याः खल्वापोऽन्तरिक्षप्रभवाः प्रकृतिशीता लघ्व्यश्च अव्यक्तरसाश्च। तास्त्वन्तरिक्षाद्भ्रश्यमाना भ्रष्टाश्च पञ्चमहाभूतविकारगुणसमन्विता जङ्गमस्थावराणां भूतानां मूर्त्तीरभिप्रीणयन्ति । तासु मूर्तिषु षड्भिर्मूर्च्छन्ति रसाः ॥ ५४ ॥

अन्तरिक्षका जल प्रायः सौम्य (सोमगुणप्रधान) होता है इसीलिये स्वभावसे ही शीतल और हलका होता है। यह अव्यक्त रस होता है। आकाशसे गिरकर पंच-महाभूतोंके गुणोंसे युक्त होता है और जंगम तथा स्थावरोंकी मूर्त्तिको प्रीणन (तर्पण) करता है इन मूर्त्तिमान् स्थावर जङ्गमोंमें छः ही रस मिलजाते हैं॥ ५४ ॥

तेषां षण्णां रसानां सोमगुणातिरेकान्मधुरो रसः। पृथिव्यग्निभूयिष्ठत्वादम्लः। सलिलाग्निभूयिष्ठत्वाल्लवणो वाय्वग्निभूयिष्ठत्वात्कटुको वाय्वाकाशातिरेकात्तिक्तः पवनपृथिव्यतिरेकात्कषायः॥ ५५ ॥

उन छः रसोंमें मधुर रस सोमगुणविशिष्ट होताहै। पृथ्वी और तेज गुण विशिष्ट अम्लरस होताहै। जल और अग्निगुणविशिष्ट लवण रस होताहै। वायु और अग्नि-गुणविशिष्ट कटु रस होताहै। वायु और आकाशगुण विशिष्ट कषाय रस होताहै॥५५॥

पंचमहाभूतोंके न्यूनाधिक्यका फल।

एवमेषां रसानां षट्त्वमुपपन्नम् न्यूनातिरेकविशेषान्महाभूतानामिव जङ्गमस्थावराणां नानावर्णाकृतिविशेषाः। षड्ऋतुकत्वाच्च कालस्य उत्पन्नो महाभूतानां न्यूनातिरेकविशेषः॥ ५६ ॥

इन पंच महाभूतोंके ही न्यूनाधिक भाव विशेषसे इन छः रसोंके षट्त्वकी उपपत्ति होती है जैसे कि महाभूतोंके न्यूनाधिक भावसे सम्पूर्ण स्थावर जंगम जगत्के वर्ण और आकृतिमें भेद होताहै। एवम् छः ऋतुओंके भेदसे कालजनित कारणोंसे महा-भूतोंके गुणोंमें न्यूनाधिकता होतीहैं॥ ५६ ॥

अग्निमारुतात्मक रसोंके कर्म।

तत्राग्निमारुतात्मका रसाः प्रायेणोर्द्ध्वभाजो लाघवात्प्लवनत्वाच्च वायो-रूर्द्ध्वज्वलनत्वाच्च वह्नेः। सलिलपृथिव्यात्मकास्तु प्रायेणाधोभाजः। पृथिव्या गुरुत्वान्निम्नगत्वाच्चोदकस्य। व्यामिश्रात्मकास्तु पुनरुभयतो भागभाजः॥ ५७ ॥

इन द्रव्योंमें अग्नि और वायुआत्मक रस प्रधान कटुद्रव्य चरगति और लघुता आदि वायुके गुण होनेसे और ऊर्द्ध्वगति आदि अग्निके गुण होनेसे शरीरके ऊपरके भागमें अपने गुणोंको दिखाते हैं। जल और पृथ्वीप्रधान रस जलकी गति नीचे गमन करनेवाली और पृथ्वीके गुण गुरुत्व होनेसे शरीरके नीचेके भागमें अपनी क्रियाको करते हैं ऊपरके भागमें क्रिया करनेवाले और नीचेके भागमें क्रिया कर-नेवाले सब प्रकारके रसोंको मिलानेसे उभयतः क्रिया करते हैं॥ ५७ ॥

मधुरादि ६ रसोंके गुणागुण ।

तेषां षण्णां रसानामेकैकस्य यथाद्रव्यं गुणकर्माण्यनुव्याख्यास्यामः। तत्र मधुरो रसः शरीरसात्म्याद्रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जौजःशुक्राभिवर्द्धनः । आयुष्यः षडिन्द्रियप्रसादनो बलवर्णकरः पित्तविषमारुतघ्नस्तृष्णाप्रशमनस्त्वच्यः केश्यः कण्ठ्यः प्रीणनो जीवनस्तर्पणः स्नेहनः स्थैर्य्यकरः क्षीणक्षतसन्धानकरो घ्राणमुखकण्ठौष्ठताल्वप्रह्लादनो दाहमूर्च्छाप्रशमनः षट्पदपिपीलिकानामिष्टतमः स्निग्धः शीतो गुरुश्च ॥ ५८ ॥

अब उन ६ रसोंमें एक एक द्रव्यमें पृथक् २ होनेसे जो गुण, कर्म होतेहैं उनका वर्णन करते हैं । मधुर रस शरीरके सात्म्य होनेसे रस, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, ओज, शुक्र इन धातुओंकी वृद्धि करताहै तथा आयुको बढाता है। पंचेन्द्रिय और एक अतीन्द्रिय (मनको) प्रसन्नता देताहै, बल तथा वर्णको उत्तम बनाता है। पित्त, विष, वायु, और तृषाको नष्ट करताहै । त्वचा, केश, और कण्ठको उत्तम करताहै तथा प्रीणन (शरीरको पुष्ट करना) जीवन, तर्पण, स्नेहन करताहै तथा आयुको स्थिर करताहै । क्षीण, क्षतपीडित मनुष्योंको सन्धान करता है। नाक, मुख, कण्ठ, ओष्ठ, और तालुको प्रसादन करता है। दाह, तथा मूर्च्छाको शान्त करता है। भ्रमर, चींटी आदिकोंको अत्यन्त प्रिय है। तथा स्निग्ध, शीतल और भारी गुणयुक्त है ॥ ५८ ॥

स एवं गुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानः स्थौल्यं मार्दवमालस्यमतिस्वप्नं गौरवमनन्नाभिलाषमग्नेर्दौर्बल्यमास्यकण्ठमांसाभिवृद्धिं श्वासकासप्रतिश्यायालसकशीतज्वरानाहास्यमाधुर्य्यवमथुसंज्ञास्वरप्रणाशगण्डमालाश्लीपदगलशोफबस्तिधमनीगुदोपलेपाक्ष्यामयानमभिष्यन्दमित्येवंप्रभृतीन्कफजान्विकारानुपजनयति ॥ ५९ ॥

इस प्रकार गुणयुक्त होनेपर भी मधुररसको सदैव और निरंतर सेवन करनेसे मनुष्योंके शरीरमें मोटापन, नम्रता, आलस्य, निद्राधिक्य, गौरवता; मंदाग्नि, अरुचि, मुख तथा कण्ठके मांसकी वृद्धि, श्वास, खांसी, प्रतिश्याय, अलसक, शीतज्वर, अफारा, मुखमें मीठापन, छर्दि, संज्ञा और स्वरका नाश, गलगण्ड, गण्डमाला, श्लीपद, गलशोथ आदि रोगोंको करताहै तथा वस्ति, धमनी और मलद्वारमें दोषका उपलेपसा करताहै । एवम् नेत्रोंके अभिष्यन्द आदि रोगोंको तथा कफके विकारोंको उत्पन्न करताहै ॥ ५९ ॥

अम्लो रसो भक्तं रोचयति, अग्निं दीपयति, देहं बृंहयति, जीर्य्यति, मनो बोधयति, इन्द्रियाणि दृढीकरोति, बलं वर्द्धयति, वातमनुलोमयति, हृदयं तर्पयति, आस्यं संस्रावयति, भुक्तमपकर्षयति, क्लेदं जनयति, प्रीणयति लघुरुष्णः स्निग्धश्च ॥ ६० ॥

खट्टा रस अन्नमें रुचि, अग्निको दीपन, देहमें पुष्टि करताहै। जीर्णकारी है मनको बोधन करताहै, इन्द्रियोंको दृढ करताहै, बलकी वृद्धि करताहै, वायुको अनुलोमन करताहै, हृदयको तृप्त करताहै, मुखको स्रावण करताहै, आहारको नीचेकी ओर खींचताहै, क्लेदको उत्पन्न करताहै, प्रीणन करताहै, एवम् लघु उष्ण तथा तीक्ष्णगुणयुक्त है ॥ ६० ॥

स एवं गुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो दन्तान् हर्षयति, तर्षयति, संमीलयति अक्षिणी, संवीजयति लोमानि, कफं विलापयति, पित्तमभिवर्द्धयति, रक्तं दूषयति, मांसं विदहति, कायं शिथिलीकरोति, क्षीणक्षतकृशदुर्बलानां श्वयथुमापादयति । अपि च क्षताभिहतदष्टभग्नशूलिच्युतावमृदितपरिसर्पितमर्दिताच्छिन्नाविद्धोत्पिष्टादीनि पाचयत्याग्नेयस्वभावात् । परिदहति कण्ठमुरो हृदयञ्च ॥ ६१ ॥

इस प्रकारके गुणवाला अम्लरस अत्यन्त और निरंतर सेवन करनेसे दंतहर्ष रोग करताहै। तृषा, नेत्रसंमीलन और रोमहर्षको उत्पन्न करताहै। अपने स्वभावमें स्थित कफको पतला करताहै, पित्तको बढाताहै, रक्तको दूषित करताहै, मांसको विदग्ध करताहै, शरीरको शिथिल करताहै। क्षीण, क्षत, कृश, तथा दुर्बल मनुष्योंके शरीरमें सूजन उत्पन्न करताहै। यह रस आग्नेय गुण प्रधान होनेसे क्षत, आहत, दष्ट, दग्ध, भग्न, शूलाहत, प्रच्युत, मृदित, परिसर्पित, मर्दित, छिन्न, विद्ध, उत्पिष्ट स्थानोंमें पाकको उत्पन्न करताहै तथा अपने स्वभावसे कण्ठ, छाती एवम् हृदयमें दाहको उत्पन्न करताहै ॥ ६१ ॥

लवणो रसः पाचनः क्लेदनो दीपनश्च्यावनश्छेदनो भेदनस्तीक्ष्णः सरो विकास्यधःस्रंस्यवकाशकरो वातहरः स्तम्भबन्धसंघातविधमनः सर्वरसप्रत्यनीकभूतः आस्यं विस्रावयति, कफं विष्यन्दयति, मार्गाञ्छोधयति, सर्वशरीरावयवान्मृदूकरोति, रोचयत्याहारमाहारयोगी नात्यर्थं गुरुः स्निग्ध उष्णश्च ॥ ६२ ॥

लवण रस--पाचन है, क्लेदन है, दीपन है, च्यावन है, छेदन है, तीक्ष्ण है, सर है, विकाशी है, स्रंसन है, भ्रंसन है, वातनाशक है, स्तम्भनाशक है, विबंधके संघातको नष्ट करताहै, सब रसोंसे विपरीत है, मुखको स्रावण करताहै, कफको पतला करताहै, छिद्रोंको शोधन करताहै शरीरके संपूर्ण अवयवोंको नम्र करताहै, आहारमें रुचि प्रगट करताहै तथा भोजनका अत्यंत उपयोगी है न अत्यर्थ गुरु, न अत्यर्थ स्निग्ध और उष्ण गुणप्रधान है ॥ ६२ ॥

स एवं गुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानः पित्तं कोपयति रक्तं वर्द्धयति, तर्षयति, मूर्च्छयति, तापयति, दाहयति, कुष्णाति मांसानि, प्रगालयति कुष्ठानि, विषं वर्द्धयति, शोफान्स्फोटयति, दन्ताञ्च्यावयति, पुंस्त्वमुपहन्ति, इन्द्रियाण्युपरुणद्धि, वलीपलितखालित्यमापादयति च, लोहितपित्ताम्लपित्तवीसर्पवातरक्तविचर्चिकेन्द्रलुप्तप्रभृतीन्विकारानुपजनयति ॥ ६३ ॥

इन गुणोंवाला होनेपर भी लवण रस अधिक सेवन करनेसे पित्तको कुपित करताहै. रक्तविकारको बढाताहै, और तृषा, मूर्च्छा, ताप, दाह, मांसमें खुजली इनको उत्पन्न करताहै । कुष्ठोंको प्रगलित करताहै,विषके वेगको बढाताहै, सूजनोंको फटीहुईसी बनाताहै, दांतोंको काला करताहै, पुरुषार्थको नष्ट करता है, इन्द्रियोंका उपरोध करताहै, शरीरमें सलवट, केशोंका सफेद होना, शिरमें गंजापन इन रोगोंको उत्पन्न करताहै तथा रक्तपित्त, अम्लपित्त, विसर्प, वातरक्त, विचर्चिका और इन्द्रलुप्त रोगोंको प्रगट करताहै ॥ ६३ ॥

कटुको रसो वक्त्रं शोधयति, अग्निं दीपयति, भुक्तं शोषयति, घ्राणमास्रावयति, चक्षुर्विरेचयति, स्फुटीकरोतीन्द्रियाणि, अलसकश्वयथूपचयोदर्दाभिष्यन्दस्नेहस्वेदक्लेदमलानुपहन्ति, रोचयत्यशनं, कण्डूर्विनाशयति, व्रणानवसादयति, क्रिमीन् हिनस्ति, मांसं विलिखति, शोणितसंघातं भिनत्ति, बन्धांश्छिनत्ति, मार्गान् विवृणोति, श्लेष्माणं शमयति, लघुरुष्णो रूक्षश्च ॥ ६४ ॥

चरपरा रस–मुखको शुद्ध करता है । अग्निको दीप्त करता है । भोजनको शोषण करता है । नासिकाका स्राव करता है । आंखोंसे पानी निकालता है। इन्द्रियोंको स्फुट करता है । अलसक, शोथ, उदर्द, अभिष्यंद, स्नेह, स्वेद, क्लेद और मल इन सबको नष्ट करता है । अन्नमें रुचि प्रगट करता है । खाज, व्रण और कृमियोंका नाश

करता है। मांसको लेखन करता है। रुधिरके जमावको नष्ट करता है। विबन्धका छेदन करता है। स्रोतोंको खोलता है। कफको नष्ट करता है एवम् लघु, उष्ण और रूक्ष गुणसे युक्त है ॥ ६४ ॥

स एवं गुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो विपाकप्रभावात् पौंस्त्वमुपहन्ति। रसवीर्य्यप्रभावान्मोहयति, ग्लापयति, सादयति, कर्षयति, मूर्च्छयति, नमयति, तमयति, भ्रमयति, कण्ठं परिदहति, शरीरतापमुपजनयति, बलं क्षिणोति, तृष्णां जनयति, वाय्वग्निबाहुल्याद् भ्रममदवथुकम्पतोदभेदैश्चरणभुजपार्श्वपृष्ठप्रभृतिषु मारुतजान्विकारानुपजनयति ॥ ६५ ॥

इन गुणोंवाला होनेपर भी चरपरे रसको अधिक सेवन करनेसे तीक्ष्ण रसका तीक्ष्ण विपाक होनेसे पुरुषत्व नष्ट होता है। रस और वीर्यके प्रभावसे मोह करता है, ग्लानि करता है, अवसाद करता है, कृशता करता है, मूर्च्छा करता है, शरीरको नमन करता है, अन्धकारको प्रकट करता है, भ्रम, कण्ठमें जलन, शरीरमें गर्मी उत्पन्न करता है। बलको क्षय करता है। तृषाको प्रकट करता है एवम् वायु और अग्नि-गुण विशिष्ट होनेसे भ्रम, मद, अतिदाह, कम्प, तोदको और भेदको उत्पन्न करता है। भुजा, पार्श्व और पीठ आदि स्थानोंमें वायुके विकारोंको उत्पन्न करता है ॥ ६५ ॥

तिक्तो रसः स्वयमरोचिष्णुररोचकघ्नो विषघ्नः कृमिघ्नो मूर्च्छादाहकण्डूकुष्ठतृष्णाप्रशमनस्त्वङ्मांसयोः स्थिरीकरणो ज्वरघ्नो दीपनः पाचनः स्तन्यशोधनो लेखनः क्लेदमेदोवसामज्जालसिकापूयस्वेदमूत्रपुरीषपित्तश्लेष्मोपशोषणो रूक्षः शीतो लघुश्च ॥ ६६ ॥

तिक्तरस-स्वयम् रोचक नहीं है परन्तु इसके सेवन करनेसे अन्नपर रुचि बढती है। यह रस कृमियोंको नष्ट करता है। विषको नष्ट करता है। मूर्च्छा, दाह, कण्डु, कुष्ठ और तृषाको शांत करता है। त्वचा और मांसको स्थिर करता है, ज्वरको नष्ट करता है, दीपन है, पाचन है, स्तनोंके दूधको शुद्ध करता है, लेखन है, एवम् क्लेद, मेद, वसा, मज्जा, लसिका, राध, पसीना, मूत्र, मल, पित्त और कफको सुखाता है तथा रूक्ष शीत और लघु गुणवाला है ॥ ६६ ॥

स एवं गुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो रौक्ष्यात्खरविशदस्वभावाच्च रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राण्युच्छोषयति। स्रोतसां खरत्व-

सुपपादयति । बलमादत्ते कर्षयति मोहयति वदनमुपशोषयति। अप-
शांश्च वातविकारानुपजनयति ॥ ६७ ॥

इन गुणोंवाला होनेपर भी तिक्त रस अत्यन्त सेवन कियाहुआ रूक्ष, खर और विशद होनेसे, रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्रको सुखाता है। रोममार्गोंको खर्दरा करता है, बलको हरता है, शरीरको कृश करता है, मोहको उत्पन्न करता है, मुखको सुखादेता है, एवम् वात विकारोंको उत्पन्न करता है ॥ ६७ ॥

कषायो रसः संशमनः संग्राही सन्धारणः पीडनो रोपणः शोषणः स्तम्भनः श्लेष्मरक्तपित्तप्रशमनः शरीरक्लेदस्योपयोक्ता रूक्षः शीतो गुरुश्च ॥ ६८ ॥

कषाय रस-संशमन है, संग्राही है, संधारण है तथा पीडन, रोपण, शोषण और स्तम्भन करता है । कफ तथा रक्तपित्तको शान्त करता है, शरीरके क्लेदको हरता है एवम् रूक्ष शीतल और गुरु है ॥ ६८ ॥

स एवं गुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमान आस्यं शोषयति, हृदयं पीडयति, उदरमाध्मापयति, वाचं निगृह्णाति, स्रोतांस्यवबध्नाति, श्यावत्वमापादयति, पौंस्त्वमुपहन्ति, विष्टभ्यजरां गच्छति, वातमूत्र-पुरीषाण्यवगृह्णाति, कर्षयति, ग्लापयति, तर्षयति, स्तम्भयति, खर-विशदरूक्षत्वात्पक्षवधग्रहापतानकार्दितप्रभृतींश्च वातविकारानुपजन-यतीति ॥ ६९ ॥

इन गुणवाला होनेपर भी कषायरस अत्यन्त व्यवहार किये जानेसे मुखको सुखाता है, हृदयको पीडन करता है, पेटमें अफारा करता है, वाणीको जकडता है, स्रोतोंको बन्द करता है, शरीरको काला बनाता है, पुरुषत्वको नष्ट करता है, बुढापेको शीघ्र लाता है, वात, मूत्र और मलको बांधता है, शरीरको कृश करता है ग्लानि तथा तृषाको उत्पन्न करता है एवम् खर विशद तथा रूक्ष स्वभाववाला होनेसे पक्षाघात, हनुस्तम्भ, अपतानक और अर्दित आदि वायुके रोगोंको उत्पन्न करता है ॥ ६९ ॥

एवमेते षड्रसाः पृथक्त्वेन वा मात्रशः सम्यगुपयुज्यमाना उपकार-करा अध्यात्मलोकस्य। अपकारकराः पुनरतोऽन्यथोपयुज्यमानाः। तान् विद्वानुपकारार्थमेव मात्रशः सम्यगुपयोजयेदिति ॥ ७० ॥

इस प्रकार यह छः रस पृथक् २ यथोचित मात्रासे उचित रीतिपर सेवन कियेहुए शरीरका उपकार करते हैं। नहीं तो विकारोंको उत्पन्न करनेवाले होते हैं अतएव

विद्वान् मनुष्य इस लोक और परलोकके हितकी इच्छा करता हुआ रसोंको विधिवत् उचित मात्रासे सेवन करे ॥ ७० ॥

द्रव्योंके वीर्यका वर्णन।

भवन्ति चात्र। शीतं वीर्येण यद्द्रव्यं मधुरं रसपाकयोः।

तयोरम्लं यदुष्णं च यच्चोष्णं कटुकं तयोः ॥ ७१ ॥

उष्ण और शीत भेदसे द्रव्योंके दो प्रकारके वीर्य होते हैं। जो द्रव्य रस और विपाकमें मधुर हो वह शीतवीर्य होता है एवम् जिस द्रव्यका रस और विपाक दोनों अम्ल हों वह उष्णवीर्य होता है एवम् जिस द्रव्यका रस और विपाक कटु हो वह भी उष्णवीर्य होता है ॥ ७१ ॥

तेषां रसोपदेशेन निर्देश्यो गुणसंग्रहः।

वीर्य्यतो विपरीतानां पाकतश्चोपदेक्ष्यते ॥ ७२ ॥

इस प्रकार द्रव्योंके रसके उपदेशसे रसोंके गुणका संग्रह जानना चाहिये। अब वीर्य तथा पाकसे विपरीत नियमोंका कथन करते हैं ॥ ७२ ॥

यथा पयो यथा सर्पिर्यथा वा चव्यचित्रकौ।

एवमादीनि चान्यानि निर्दिशेद्रसतो भिषक् ॥ ७३ ॥

मधुरं किञ्चिदुष्णं स्यात्कषायं तिक्तमेव च।

यथा महत्पञ्चमूलं यथा चानूपमामिषम् ॥ ७४ ॥

वैद्यको दूध, घृत, चव्य, चित्रक आदि द्रव्योंका रसानुसार वीर्य और विपाक जानना चाहिये। कोई २ मधुर द्रव्य तथा कोई कषाय द्रव्य भी उष्णवीर्य होते हैं। जैसे—बृहत्पंचमूलका क्काथ तिक्त होनेपर भी उष्णवीर्य है। और अनूपसंचारी जीवोंका मांस मधुर होनेपर भी उष्णवीर्य होता है ॥ ७३ ॥ ७४ ॥

लवणं सैन्धवं नोष्णमम्लमामलकं तथा।

अर्कागुरुगुडूचीनां तिक्तानामुष्णमुच्यते ॥ ७५ ॥

ऐसे ही सेंधानमक लवणरस होनेपर भी और आमला अम्लरस होनेपर भी उष्णवीर्य नहीं किन्तु शीतवीर्य होता है। और आक, अगर, गिलोय तिक्तरस होनेपर भी उष्णवीर्य कहे जाते हैं ॥ ७५ ॥

रसोंमें प्रधानता।

किञ्चिदम्लं हि संग्राहि किञ्चिदम्लं भिनत्ति च।

यथा कपित्थं संग्राहि भेदि चामलकं तथा।

पिप्पली नागरं वृष्यं कटु चावृष्यमुच्यते ॥ ७६ ॥
कषायः स्तम्भनः शीतः सोऽभयात्वन्यथा मता।
तस्माद्रसोपदेशेन न सर्वं द्रव्यमादिशेत् ॥ ७७ ॥
दृष्टं तुल्यरसेऽप्येवं द्रव्ये द्रव्ये गुणान्तरम्।
रौक्ष्यात्कषायो रूक्षाणामुत्तमो मध्यमः कटुः ॥ ७८ ॥
तिक्तोऽवरस्तथोष्णानामुष्णत्वाल्लवणः परः।
मध्योऽम्लः कटुकश्चान्त्यः स्निग्धानां मधुरः परः।
मध्योऽम्लो लवणश्चान्त्यो रसः स्नेहान्निरुच्यते ॥ ७९ ॥

कोई अम्लरस संग्राही अर्थात् मलको बांधनेवाला होता है और कोई अम्लरस मलको भेदन करनेवाला (दस्त लानेवाला) होता है जैसे–कपित्थका फल संग्राही अर्थात् मलको बांधनेवाला है और आमलाका फल भेदनकर्त्ता होता है। कटुरस–प्रायः वृष्य नहीं होता परन्तु पीपल, सोंठ आदि कटु होनेपर भी वृष्य होते हैं। इसी प्रकार कषायरस मलको रोकनेवाला और शीतल होता है परन्तु हरड कषायरस होने-पर भी दस्तावर और उष्ण है। इसीलिये रसमात्रके गुणसे ही द्रव्योंका गुण नहीं कहना चाहिये क्योंकि एकसे रसवाले द्रव्योंमें भी दो प्रकारके गुण पाये जाते हैं। कषायरस सब प्रकारके रूक्ष रसोंमें प्रधान होता है। कटुरस मध्यम है और तिक्तरस रूक्षतामें कनिष्ठ होता है एवम् सब प्रकारके उष्णतामें लवण रस प्रधान है। अम्ल रस मध्यम है। कटु रस कनिष्ठ है। स्निग्धविशिष्ट रसोंमें मधुर रस प्रधान है। अम्ल रस मध्यम है लवण रस कनिष्ठ होता है ॥ ७६–७९ ॥

मध्यः कट्वावराः शैत्यात्कषायस्वादुतिक्तकाः।
तिक्तात्कषायो मधुरः शीताच्छीततरः परः।
स्वादुर्गुरुत्वादधिकः कषायाल्लवणोऽवरः ॥ ८० ॥

इसी प्रकार शीतलतामें मीठा रस प्रधान है और कषाय रस मध्याम है, तथा कषाय और तिक्त रस कनिष्ठ है जैसे तिक्तसे कषायसे मधुर शीतलताके गुणमें श्रेष्ठ माने जाते हैं। और गुरुतामें मधुररस प्रधान है, कषाय मध्यम है और लवण रस कनिष्ठ होता है ॥ ८० ॥

अम्लात्कटुस्ततस्तिक्तो लघुत्वादुत्तमो मतः।
केचिल्लघूनामवरमिच्छन्ति लवणं रसम् ॥ ८१ ॥

गौरवे लाघवे चैव सोऽवरस्तूभयोरपि।
परश्चातो विपाकानां लक्षणं सम्प्रवक्ष्यते ॥ ८२ ॥

अम्लरससे कटु और कटुसे तिक्त लघुतामें प्रधान होते हैं। कोई कहते हैं कि लवणरस लघुताके विषयमें सबसे निकृष्ट होताहै तथा अम्ल और लवण रसोंमें लवण रस गुरुतामें प्रधान है और लघुतामें कनिष्ठ है। अब इसके उपरान्त विपाकोंके लक्षणोंका वर्णन करते हैं ॥ ८१ ॥ ८२ ॥

विपाकका वर्णन।

कटुतिक्तकषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः।
अम्लोऽम्लं पच्यते स्वादु मधुरं लवणस्तथा ॥ ८३ ॥

कटु, तिक्त और कषाय रसका प्रायः कटु विपाक होताहै। अम्लरसका प्रायः अम्ल विपाक होताहै। मीठे और लवणरसका प्रायः मधुर विपाक होताहै ॥ इस प्रकार कटु, अम्ल और मधुर यह ३ प्रकारका द्रव्योंका विपाक होताहै ॥ ८३ ॥

मधुरो लवणाम्लौ च स्निग्धभावास्त्रयो रसाः।
वातमूत्रपुरीषाणां प्रायो मोक्षे सुखा मताः ॥ ८४ ॥

मधुर, लवण और अम्ल यह तीनों रस स्निग्ध होनेसे वायु, मूत्र और मल इनको सुखपूर्वक निकालते हैं ॥ ८४ ॥

कटुतिक्तकषायास्तु रूक्षभावास्त्रयो रसाः।
दुःखा विमोक्षे दृश्यन्ते वातविण्मूत्ररेतसाम् ॥ ८५ ॥

कटु, तिक्त और कषाय यह तीन रस रूक्ष होनेसे वात, मूत्र, मल और शुक्रको सुखपूर्वक नहीं निकलने देते अर्थात् इनके निकलनेमें रुकावट डालतेहैं ॥ ८५ ॥

शुक्रहा बद्धविण्मूत्रो विपाको वातलः कटुः।
मधुरः सृष्टविण्मूत्रो विपाकः कफशुक्रलः ॥ ८६ ॥

कटु विपाक शुक्रको हरताहै। मल मूत्रको बद्ध करताहै। वायुको उत्पन्न करताहै। मधुर विपाक मल, मूत्रको निकालताहै, कफ तथा वीर्यको उत्पन्न करताहै८६

पित्तकृत्सृष्टविण्मूत्रः पाकेऽम्लः शुक्रनाशनः।
तेषां गुरुः स्यान्मधुरः कटुकाम्लावतोऽन्यथा ॥ ८७ ॥

अम्ल-विपाक पित्तको करताहै, मल, मूत्र निकालताहै, वीर्यको नष्ट करताहै। ऊपर कहेहुए मधुर अम्ल और कटु इन विपाकोंमें मधुर विपाक गुरु है अम्ल मध्यम है और कटु कनिष्ठ है ॥ ८७ ॥

विपाकलक्षणस्याल्पमध्यभूयस्त्वमेव च ।
द्रव्याणां गुणवैशेष्यात्तत्र तत्रोपलक्षयेत् ॥ ८८ ॥

वैद्यको उचित है कि विपाक लक्षणोंकी अल्पता, मध्यता, अधिकताको, गुणकी विशेषता द्वारा जाने ॥ ८८ ॥

वीर्यका वर्णन।

तीक्ष्णं रूक्षं मृदु स्निग्धं लघूष्णं गुरु शीतलम् ।
वीर्य्यमष्टविधं केचित्केचिद् द्विविधमास्थिताः ॥ ८९ ॥
शीतोष्णमिति वीर्यन्तु क्रियते येन या क्रिया ।
नावीर्य्यं कुरुते किंचित्सर्वा वीर्यकृता क्रिया ॥ ९० ॥

किसीके मतसे तीक्ष्ण, रूक्ष, मृदु, स्निग्ध, लघु, उष्ण गुरु और शीतल इन भेदोंसे द्रव्योंका वीर्य आठ प्रकारका होताहै । कोई शीतल और उष्ण इन दो भेदोंसे दो प्रकारका ही मानते हैं । जिस शक्तिद्वारा शरीरमें क्रिया होतीहै उसको वीर्य कहते हैं। जितने द्रव्य हैं विना वीर्यके वह कुछ नहीं करसकते क्योंकि संपूर्ण क्रिया वीर्यके ही अधीन है ॥ ८९ ॥ ९० ॥

रसविपाक वीर्यके लक्षण।

रसो निपाते द्रव्याणां विपाकः कर्म्मनिष्ठया ।
वीर्य्यं यावदधीवासान्निपाताच्चोपलभ्यते ॥ ९१ ॥

---

१ उष्णशीतगुणोत्कर्षाद्बुधैर्वीर्यं द्विधा स्मृतम् । यत्सर्वमग्नीषोमीयं दृश्यते भुवनत्रयम् ॥

२ रसादीनामेकद्रव्यनिविष्टानां भेदज्ञानार्थं लक्षणमाह--रसो निपात इत्यादि । निपात इति रसना योगे, कर्म्मनिष्ठयेति कर्मणो निष्ठा निष्पत्तिः कर्म्मनिष्ठा क्रियापरिसमाप्तिः ॥ रसो योगे सति योन्त्याहारपरिणामकृतः कर्म्मविशेषः कफशुक्राभिवृद्ध्यादिलक्षणः तेन विपाको निश्चीयते अधिवासः सहावस्थानम्, यावदधिवासादिति यावच्छरीरनिवासात्, एतच्च पाकात् पूर्वं निपाताच्चोर्द्ध्वं ज्ञेयम्, निपाताच्चेति शरीरसंयोगमात्रात् तेन किंचिद्वीर्यमधीवासादुपलभ्यते यथा आनूपमांसादेरुष्णत्वम् किंचिच्च निपातादेव लभ्यते यथा मरीचादीनां दीपनीयादीनामेव । एतेन रसः प्रत्यक्षणैव विपाकस्तु नित्यपरोक्षस्तत्कार्येणानुमीयते। वीर्य्यन्तु किंचिदनुमानेन यथा सैन्धवगतं शैत्यं आनूपमांसगतं वा औष्ण्यम् । किंचिच्च वीर्यं प्रत्यक्षेणैव यथा राजिकागतं तैक्ष्ण्यं घ्राणेन पिच्छिलविशदस्निग्धरूक्षादयः चक्षुःस्पर्शनाभ्यां निश्चीयन्ते इति वाक्यार्थः । एतच्च वीर्य्यं सहजं कृत्रिमं च ज्ञेयम् । तत्राद्यं माषाणां गौरवम्, मुद्गानां लाघवमित्यादि । कृत्रिमन्तु लाजादीनां लघुत्वादि। एतच्च यथासम्भवं गुरुलघ्वादिषु वीर्येषु लक्षणं ज्ञेयमुपयुज्यमानद्रव्याणाम्। एतच्च वीर्यलक्षणं पारिभाषिकमेव ।

किसी पदार्थको मुखमें लेनेसे जो आस्वादन होताहै उसको रस कहतेहैं वह रसना-ग्राह्य होनेसे भी रस कहा जाता है । जठराग्निसे परिपक्व होने पर जो प्रथम रसका परिणामभूत अन्य रस बनता है उसको परिपाक कहते हैं रसका परिपाक हो चुकने पर शरीरमें स्थित द्रव्य वीर्य होता है ॥ ९१ ॥

प्रभावका लक्षण।

रसवीर्य्यविपाकानां सामान्यं यस्य लक्ष्यते ।
विशेषः कर्मणाश्चैव प्रभावस्तस्य च स्मृतः ॥ ९२ ॥

जिस द्रव्यके रस, वीर्य, विपाकमें कोई विशेषता प्रतीत न हो किन्तु कर्ममें विशेषरूपसे विशेषता पाई जाय उसको प्रभाव कहतेहैं ॥ ९२ ॥

कटुकः कटुकः पाके वीर्य्योष्णश्चित्रको मतः ।
तद्वद्दन्ती प्रभावात्तु विरेचयति मानवम् ॥ ९३ ॥

जैसे चित्रक, रसमें कटु और पाकमें भी कटु तथा वीर्यमें भी उष्णवीर्य है ऐसे ही दंती (जमालगोटेकी जड) भी स्वाद, विपाक वीर्यमें उसके समान होतेहुए भी विरेचनका प्रभाव चित्रकसे अधिक रखतीहै ॥ ९३ ॥

विषं विषघ्नमुक्तं यत्प्रभावस्तत्र कारणम् ।
ऊर्ध्वानुलोमनं यच्च तत्प्रभावप्रभावितम् ॥ ९४ ॥

विषको विष ही नष्ट करताहै यह जो कहावत है इसमें भी प्रभाव ही कारण होताहै। कुछ द्रव्य जिस प्रकार खायेजानेसे वमनादि ऊर्ध्वविरेचन करतेहैं उसी प्रकार दूसरे द्रव्योंमें अधोविरेचनका प्रभाव देखनेमें आताहै ॥ ९४ ॥

मणीनां धारणीयानां कर्म यद् द्विविधात्मकम् ।
तत्प्रभावकृतं तेषां प्रभावोऽचिन्त्य इष्यते ॥ ९५ ॥

मणि आदि धारण करनेके जो द्रव्य हैं उनमें भी अच्छे और बुरे दो प्रकारके प्रभाव पाये जातेहैं। सो उनमें वह प्रभाव अचिंत्य है ॥ ९५ ॥

रसवीर्यादिका सिद्धान्त।

किञ्चिद्रसेन कुरुते कर्म्म वीर्य्येण चापरम् ।
द्रव्यं गुणेन पाकेन प्रभावेण च किञ्चन ॥ ९६ ॥
रसं विपाकस्तौ वीर्य्यं प्रभावस्तानपोहति ।
गुणसाम्ये रसादीनामिति नैसर्गिकं बलम् ॥ ९७ ॥
सम्यग्विपाकवीर्य्याणि प्रभावश्चाप्युदाहृतः ॥ ९८ ॥

कोई द्रव्य रससे, कोई वीर्यसे, कोई गुणसे, कोई विपाकसे एवम् कोई प्रभावसे अपनी क्रियाको करते हैं इन रस आदिकोंकी साम्यतामें विपाकक्रिया करनेमें रससे बलवान् है। वीर्य-रस, विपाक इन दोनोंसे बलवान् है एवम् प्रभाव-रस, वीर्य, विपाक इन तीनोंसे बलवान् है। इस प्रकार रसादिकोंमें पहिलेसे दूसरी क्रिया करनेमें गुणकी अधिकता रखताहै इस प्रकार विपाक वीर्य और प्रभावका वर्णन किया गया है॥ ९६-९८॥

मधुरादि छः रसोंके स्वरूप।

षण्णां रसानां विज्ञानमुपदेक्ष्याम्यतः परम्।
स्नेहनप्रीणनाह्लादमार्दवैरुपलभ्यते॥ ९९॥
मुखस्थो मधुरश्चास्यं व्याप्नुवँल्लिम्पतीव च।
दन्तहर्षान्मुखस्रावात्स्वेदनान्मुखबोधनात्।
विदाहाचास्यकण्ठस्य[1] प्राश्यैवाम्लं रसं वदेत्॥ १००॥

अब आगे ६ प्रकारके रसोंके विज्ञानका वर्णन करतेहैं। जैसे स्नेहन, प्रीणन, आह्लादन, मार्दव यह गुण मधुर पदार्थके मुखमें रखते ही प्रतीत होने लगतेहैं और ऐसा प्रतीत होताहै कि मुखमें मधुर रस, मानो लिपसा गया। इन लक्षणोंसे मधुर रसका ज्ञान होताहै। अम्लरस--मुखमें धारण करते ही दंतहर्ष होना, मुखसे स्राव होना, पसीने आना, मुखका शोधन क्षालनादि होना, खाते ही कण्ठमेंसे दाहसी होना इन लक्षणोंसे खट्टे रसका विज्ञान होताहै॥ ९९॥ १००॥

प्रलीयन् क्लेदविष्यन्दलाघवं कुरुते मुखे।
यः शीघ्रं लवणो ज्ञेयः स विदाहान्मुखस्य च॥ १०१॥

जो मुखमें देते ही झट लीन होजाय और गीलापन होकर लार बहनेलगेः शीघ्र लाघवताको करे, तथा मुखमें दाहको करे उसको लवणरस कहतेहैं॥ १०१॥

संवेजयेद्यो रसानां निपाते तुदतीव च।
विदहन्मुखनासाक्षिसंस्रावी स कटुः स्मृतः॥ १०२॥

जो रस मुखमें डालते ही घबराहट सी पैदा करे, जीभमें सूईसी चुभे, मुखमें दाह और चरचराहट उत्पन्न करे एवम् मुख, नासिका और नेत्रमेंसे पानीका स्राव करे उसको कटु रस कहतेहैं॥ १०२॥

प्रतिहन्ति निपाते यो रसनं स्वदते न च।
स तिक्तो मुखवैशद्यशोषप्रह्लादकारकः॥ १०३॥

---

१ प्राश्यैवाम्लरसं विद्याद्विदाहाचास्यकण्ठयोः। इति पा०

जो रस जीभ पर गिरते ही जीभको बिगाडे और स्वाद बुरा प्रतीत हो और जीभको तथा मुखको विशद और शोषण करे और रुचि उत्पन्न करे उसको तिक्त रस कहतेहैं ॥ १०३ ॥

वैशद्यस्तम्भजाड्यैर्यो रसनं योजयेद्रसः ।
बध्नातीव च यः कण्ठं कषायः स विकास्यति ॥ १०४ ॥

जो रस जीभको विशद, स्तम्भ, जडतायुक्त करे वाणी और कण्ठको जकडसा देवे एवम् विकाशी हो उसको कषाय (कसैला) रस कहतेहैं ॥ १०४ ॥

विरुद्धाहारविषयक अग्निवेशका प्रश्न ।

एवं वादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच । भगवन् श्रुतमेतदवितथमर्थसम्पद्युक्तं भगवतो यथावद् द्रव्यकर्माधिकारे वचः । परन्त्वाहारविकाराणां वैरोधिकानां लक्षणमनतिसंक्षेपेणोपदिश्यमानं शुश्रूषामहेति ॥ १०५ ॥

इस प्रकार कहतेहुए भगवान् आत्रेयजीसे अग्निवेश कहने लगे कि, हे भगवन्! द्रव्यकर्माधिकारमें आपने जो कुछ उपदेश कियाहै यह यथार्थ और श्रेष्ठ एवम् सर्वगुणसम्पन्न उपदेश श्रवण करलिया है। अब कृपा कर आहारके विषयमें विकारकारक तथा विरुद्ध रसोंका विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये। इस विषयमें आपके उपदेश किये लक्षण श्रवण करनेकी इच्छा है ॥ १०५ ॥

आत्रेयका उत्तर ।

तमुवाच भगवानात्रेयः । देहधातुप्रत्यनीकभूतानि द्रव्याणि देहधातुविरोधमापाद्यन्ते । परस्परविरुद्धानि कानिचित्संयोगात् । संस्कारादपराणि । देशकालमात्रादिभिश्चापराणि । तथा स्वभावादपराणि॥ १०६

यह सुनकर आत्रेय भगवान् अग्निवेशसे कहनेलगे कि, देह और धातुओंसे प्रतिकूल जितने भी द्रव्य हैं वह सब देह और धातुओंसे विरोधको उत्पन्न करतेहैं। बहुतसे द्रव्य ऐसे भी हैं जो आपसमें संयोग विरोधी होनेसे देहधातुओंमें विकारको उत्पन्न करतेहैं एवम् कोई गुणविरुद्ध होनेसे, कोई संयोगविरुद्ध होनेसे, कोई संस्कार विरुद्ध होनेसे रोगोत्पादक होतेहैं, तथा देश, काल, मात्रा आदिके विरुद्ध होनेसे भी द्रव्य शरीर और धातुओंसे विरोधी होताहै। कोई ऐसे द्रव्य भी हैं जो स्वभावसे ही विरुद्ध होतेहैं ॥ १०६ ॥

विरुद्ध आहारोंका वर्णन ।

तत्र यान्याहारमधिकृत्य भूयिष्ठमुपयुज्यन्ते तेषामेकदेशं वैरोधिकमधिकृत्योपदेक्ष्यामः ॥ १०७ ॥

उनमें जो द्रव्य सदैव आहारमें भोजनके उपयोगमें लिये जातेहैं उनके एकांशमें विरोधकारक होनेका वर्णन करतेहैं ॥ १०७ ॥

न मत्स्यान्पयसा सहाभ्यवहरेत् । उभयं ह्येतन्मधुरं मधुरविपाका-न्महाभिष्यन्दि । शीतोष्णत्वाद्विरुद्धवीर्यं विरुद्धवीर्य्यत्वाच्छोणि-तप्रदूषणाय । महाभिष्यन्दित्वान्मार्गोपरोधाय च ॥ १०८ ॥

मछलियोंको दूधके संयोगसे सेवन करनेसे विरोध आजाताहै, क्योंकि यह दोनों मधुर हैं और मधुरविपाकवाले होनेसे महा अभिष्यंदी हैं। परंतु शीत और उष्णवीर्य होनेसे विरोधीभावको प्राप्त हो रक्तको दूषित करतेहैं और महाअभिष्यंदी होनेसे मार्गोंको रोकदेतेहैं। इसीलिये रसमें अविरुद्ध होतेहुए भी वीर्य गुण विरुद्ध होनेसे रक्तको दूषित कर कुष्ठ आदि रोगोंको उत्पन्न करते हैं ॥ १०८ ॥

तदनन्तरमात्रेयवचनमनुनिशम्य भद्रकाप्योऽग्निवेशमुवाच । सर्वानेव मत्स्यान्पयसा सहाभ्यवहरेत्, अन्यत्रैकस्माच्चिलिचिमात् । स पुनः शकली लोहितनयनः सर्वतो लोहितराजिः रोहितप्रकारः प्रायो भूमौ चरति । तच्चेत् पयसा सहाभ्यवहरेन्निःसंशयं शोणितजानां विब-न्धजानां वा व्याधीनामन्यतममथवा मरणं प्राप्नुयादिति ॥ १०९ ॥

इसके उपरान्त आत्रेय भगवान्के इस उपदेशको सुनकर भद्रकाप्य ऋषि अग्नि-वेशसे कहनेलगे कि चिलचिमनामक मछलीके सिवाय और मछलियोंको दूधके संयो-गसे चाहे खाया भी जाय परंतु चिलचिम मछलीको कभी न खाना चाहिये । चिल-चिम मछलीके शरीरमें कांटे लाल नेत्र, और लालवर्णकी रेखा होती हैं तथा लोहित मछलीके आकारकी होतीहै और कीचड पर फिरा करतीहै यदि उसको दूधके साथ सेवन कियाजाय तो निश्चय ही रक्तजन्य अथवा विबंधजनित रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अथवा मृत्यु भी हो जाती है ॥ १०९ ॥

नेति भगवानात्रेयः । सर्वानेव मत्स्यान्न पयसाभ्यवहरेद्विशेषतस्तु चिलिचिमम् । स हि महाभिष्यन्दित्वात् । स्थूललक्षणतमानेतान्व्या-धीनुपजनयत्यामविषमुदीरयति च ॥ ११० ॥

भगवान् आत्रेय कहने लगे कि, किसी भी मछलीको दूधके साथ नहीं खाना चाहिये और चिलचिम मछलीको कभी भूलकर भी दूधके संयोगसे नहीं खाना चाहिये क्योंकि अभिष्यंदी होनेसे महाव्याधियोंको उत्पन्न करती है तथा शरीरमें आमविषका संचार करती है ॥ ११० ॥

ग्राम्यानूपौदकपिशितानि मधुतिलगुडपयोमाषमूलकबिसैर्विरूढधा-न्यैश्च नैकधा अद्यात्। तन्मूलञ्च बाधिर्यान्ध्यवेपथुजाड्यविकलमू-कतामैन्मिण्यमथवा मरणमाप्नोति ॥ १११ ॥

ग्राम्य जीवोंका मांस, अनूपसंचारी जीवोंका मांस, जलचर जीवोंका मांस, शहद, तिल, गुड, दूध, उडद, मूली, बिस, विरूढधान्य इन सबको मिलाकर एक समय भक्षण नहीं करना चाहिये। ऐसा करनेसे मनुष्य बहरापन, अंधता, कम्प, जडता, विकलता, मूकता, मिनमिनता अथवा मृत्युको प्राप्त होता है ॥ १११ ॥

न पौष्करं रोहिणीकं वा शाकं न कपोतान्सर्षपतैलभृष्टान्मधुपयोभ्यां सहाभ्यवहरेत्। तन्मूलं हि शोणिताभिष्यन्दधमनीप्रतिचयापस्मार-शंखकगलगण्डरोहिणीकानामन्यतमं प्राप्नोत्यथवा मरणमिति ॥ ११२॥

शहद और दूधके साथ पुष्करपत्र और रोहिणीका साग नहीं खाना चाहिये। सरसोंके तेलमें भूना कपोतका मांस दूध और शहदके साथ नहीं खाना चाहिये। ऐसा करनेसे मनुष्यके शरीरमें रक्तका क्लेद, धमनियोंका फडकना, अपस्मार, कन-पटीके रोग, गलगण्ड और रोहिणी आदि रोग उत्पन्न होते हैं अथवा मृत्युको प्राप्त होता है ॥ ११२ ॥

न मूलकलशुनकृष्णगन्धार्जकसुमुखसुरसादीनि भक्षयित्वा पयः सेव्यं कुष्ठाबाधभयात् ॥ ११३ ॥

मूली, लहसुन, काली तुलसी, श्वेत तुलसी, वनतुलसी आदि खाकर ऊपरसे दूध पीना कुष्ठरोगको उत्पन्न करता है। इसलिये ऐसा न करे ॥ ११३ ॥

न जातूशाकं न लिकुचं पक्कं मधुपयोभ्यां सहोपयोज्यम्। एतद्धि मरणायाथवा बलवर्णतेजोवीर्य्योपरोधायालघुव्याधये षाण्ढ्याय च ११४

सम्पूर्ण शाक कटहर तथा शहद इन सबको दूधके साथ मिलाकर नहीं खाना चाहिये ऐसा करनेसे मृत्यु होती है अथवा बल, वर्ण, तेज और वीर्य नष्ट होते हैं और महारोग तथा नपुंसकता उत्पन्न होती है। कोई कहते हैं कि मूलमें जातूशाक जो लिखा है वह बांसकी कोंपलका वाचक है॥ ११४ ॥

तदेव लिकुचं पक्कं न माषसूपगुडसार्पिर्भिः सहोपयोज्यं वैरोधकत्वा-त् ॥ ११५ ॥ तथाम्रातकमातुलुङ्गलिकुचकरमर्दमोचदन्तशठब-दरकोशाम्रभव्यजाम्बवकपित्थतिन्तिडीकपारावताक्षोटपनसनालिकेर-

दाडिमामलकान्येवम्प्रकाराणि चान्यानि सर्वं चाम्लं द्रवमद्रवं च पयसा सह विरुद्धम् ॥ ११६ ॥

इसी प्रकार पकेहुए कटहरको उडदकी दाल, गुड और घीके संग नहीं खाना चाहिये। क्योंकि, यह भी विरोधकारक हैं ॥ अम्बाडा, बिजौरा, कटहर, करौंदा, मोच (सहँजनेकी फली), जंभीरी नींबु, बेर कोशाम्र, भव्यफल (कमरख), जामुन, कैथ, इमली, पारावत (लवलीफल) अखरोट, पीलू, बडहर, नारियल, अनार, आँवले एवम् जितने प्रकारके खटाई तथा खट्टे फल तथा खट्टे कांजी आदि द्रवपदार्थ हैं उन्हें दूधके साथ नहीं खाना चाहिये ॥ ११५ ॥ ११६ ॥

कंगुवरकमकुष्ठककुलत्थमाषनिष्पावाः पयसा सह विरुद्धाः। पद्मोत्तरिकाशाकं शार्करो मैरेयो मधु च सहोपयुक्तं विरुद्धम्। वातञ्चाति कोपयति ॥११७॥ हारिद्रकः सर्षपतैलभृष्टो विरुद्धः। पित्तञ्चाति कोपयति। पायसो मन्थानुपानो विरुद्धः। श्लेष्माणं चाति कोपयति। उपोदिका तिलकल्कसिद्धा हेतुरतीसारस्य ॥ ११८ ॥ बलाका वारुण्या सह कुल्माषैरपि विरुद्धा। सैव शूकरवसापरिभृष्टा सद्यो व्यापादयति ॥ ११९ ॥

कंगुधान्य, वरक (चीना) धान्य, मोठ, कुलथी, उडद, मटर इन सबको भी दूधके साथ मिलाकर नहीं खाना चाहिये। कसोंमाका साग, शर्करासे बने मद्य और शहद तथा मैरेय मद्य इन सबको एकसाथ मिलाकर खानेसे विरुद्ध भोजन होता है तथा वायुका अत्यन्त कोपकारक है ॥ हारिद्रक नामक पक्षीको सरसोंके तेलमें भूनकर खाना विरुद्ध है और पित्तको कुपित करता है। जलमें मिले हुए घी और सत्तू खाकर ऊपरसे खीर खाना अनुपान विरुद्ध है तथा कफको अत्यन्त कुपित करता है। तिलके कल्कमें सिद्ध किया हुआ पोईका साग अतिसारको उत्पन्न करता है॥ वारुणी मद्यके साथ एवम् कुल्माषके साथ बगुलेका मांस विरुद्ध है। यदि वह बगुलेका मांस सूअरकी चर्बीमें भूंजकर खायाजाय तो शीघ्र प्राणोंको नष्ट करता है ॥ ११७-११९ ॥

मायूरमांसमेरण्डसीसकासक्तमेरण्डाग्निप्लुष्टं सद्यो व्यापादयति। १२० हारीतकमांसं हारिद्राग्निप्लुष्टं सद्यो व्यापादयति। तदेव भस्मपांसुपरिध्वस्तं सक्षौद्रं मरणाय॥१२१॥ मत्स्यतैलनिस्ताडनसिद्धाः पिप्पल्यस्तथा काकमाची मधु च मरणाय ॥ १२२ ॥ मधु चोष्णमुष्णार्त्तस्य च मधु मरणाय ॥ १२३ ॥

मोरका मांस एरंडतैलमें एरंडकी लकडीके आगसे भूंजाहुआ शीघ्र प्राणोंको नष्ट करता है । हरियलपक्षीका मांस कदम्बकी लकडीकी आगसे भूंजा हुआ प्राणनाशक होता है । एवम् हारियल पक्षीका मांस भस्म और धूल तथा शहदयुक्त होनेसे प्राण-नाशक होता है । मछलीके तेलवाले पात्रमें सिद्ध कीहुई पिपली तथा मकोह शहदके साथ खानेसे मृत्युकारक होते हैं । शहदको गर्मकर खाना अथवा गर्मीसे पीडितको गर्मकर शहद देना मृत्युकारक होता है ॥ १२०-१२३ ॥

मधुसर्पिषी तुल्ये । मधु वारि चान्तरिक्षं समधृतम् । मधु पुष्कर-बीजम् । मधु पीत्वोष्णोदकं भल्लातकोष्णोदकम् ॥ १२४ ॥

शहद और घी दोनों बराबर मिलाकर खाना अथवा शहद और आकाशका जल या शहद और कमलगट्टे अथवा शहद पीकर गर्म जल पीना एवम् भिलावा खाकर गर्म जल पीना विषके समान होता है ॥ १२४ ॥

तक्रसिद्धः कम्पिल्लकः । पर्युषिता काकमाची । अङ्गारशूल्यो भासः इति विरुद्धानीत्येतद्यथाप्रश्नमभिनिर्दिष्टम् ॥ १२५ ॥

कमीलेको छाछमें सिद्ध करके खाना, बासी मकोयका साग और सींखचे (शूलमें तपाया मांस) ये विरुद्ध भोजन हैं । इस प्रकार जैसे तुमने पूंछा वैसा हमने यथोचित रीति पर विरुद्ध आहारका वर्णन करदिया है ॥ १२५ ॥

भवन्ति चात्र । यत्किञ्चिद्दोषमासाद्य न निर्हरति कायतः ।
आहारजातं तत्सर्वमहितायोपपद्यते ॥ १२६ ॥

जो आहार दोषोंको कुपित कर देहसे बाहर नहीं निकालता वह सब अहितकर्त्ता जानना चाहिये ॥ १२६ ॥

यच्चापि देशकालाग्निसात्म्यासात्म्यानिलादिभिः ।
संस्कारतो वीर्य्यतश्च कोष्ठावस्थाक्रमैरपि ॥ १२७ ॥
परिहारोपचाराभ्यां पाकात्संयोगतोऽपि च ।
विरुद्धं तच्च न हितं हृत्संपद्विधिभिश्च यत् ॥ १२८ ॥

जो द्रव्य देश, काल और अग्नि, सात्म्य, असात्म्य इनसे विरुद्ध हो और वायु आदिको बिगाडकर प्रतिकूल हो तथा संस्कारसे अथवा वीर्यसे अथवा परिपाकसे, परिहार अथवा उपचारसे, परिपाकसे अथवा संयोगसे अथवा हार्दिक सम्पत्तिसे विरुद्ध हो वह सब पदार्थ हानिकारक और रोगोत्पादक होते हैं ॥ १२७ ॥ १२८ ॥

विरुद्धं देशतस्तावद्रूक्षतीक्ष्णादि धन्वनि ।
आनूपे स्निग्धशीतादिभेषजं यन्निषेव्यते ॥ १२९ ॥

अब देशविरुद्धोंका वर्णन करते हैं। रूक्ष और तीक्ष्ण पदार्थ मिलाकर सेवन करना धन्व (जलरहित) देशमें विरुद्ध है। स्निग्ध और शीत आदि पदार्थ मिलाकर खाना अनूपदेशमें विरुद्ध है ॥ १२९ ॥

कालतोऽपि विरुद्धं यच्छीतरूक्षादिसेवनम् ।
शीते काले तथोष्णे च कटुकोष्णादिसेवनम् ॥ १३० ॥

शीत और रूक्ष पदार्थोंको मिलाकर शीतकालमें सेवन करना कालविरुद्ध है तथा उष्ण, कटु पदार्थोंका उष्णकालमें सेवन करना कालविरुद्ध होता है ॥ १३० ॥

विरुद्धमनले तद्वदन्नानुरूपं चतुर्विधे ।
मधु सर्पिः समधृतं मात्रया तद्विरुध्यते ॥ १३१ ॥
कटुकोष्णादिसात्म्यस्य स्वादुशीतादिसेवनम् ।
यत्तत्सात्म्यविरुद्धन्तु विरुद्धं त्वनलादिभिः ॥ १३२ ॥

जो ४ प्रकारकी अग्निसे प्रतिकूल हो वह अग्निविरुद्ध होता है। मधु और घृतका समान भागमें मिलाकर खाना मात्राविरुद्ध होता है। उष्ण प्रकृतिके मनुष्योंको चरपरा आदि उष्ण पदार्थ सात्म्य विरुद्ध है। एवम् शीतल और मधुर आदि सेवन असात्म्य विरुद्ध है। जो पदार्थ अग्नि आदिसे विरुद्ध होता है वह सब ही सात्म्य-विरुद्ध जानना ॥ १३१ ॥ १३२ ॥

या समानगुणाभ्यासविरुद्धान्नौषधक्रिया।
संस्कारतो विरुद्धं तद्यद्भोज्यं विषवद् व्रजेत् ॥ १३३ ॥

जो द्रव्य गुणसे अभ्याससे विरुद्ध हो वह औषध क्रियामें नहीं लेना चाहिये क्योंकि गुण, अभ्यास, संस्कार और प्रकृतिसे विरुद्ध पदार्थ विषके समान मनुष्यको मारडालनेवाले होते हैं ॥ १३३ ॥

ऐरण्डसीसकासक्तं शिखिमांसं तथैव हि ।
विरुद्धं वीर्य्यतो ज्ञेयं वीर्य्यतः शीतलात्मकम् ॥ १३४ ॥
तत्संयोज्योष्णवीर्य्येण द्रव्येण सह सेव्यते ।
क्रूरकोष्ठस्य चात्यल्पं मन्दवीर्य्यमभेदनम् ॥ १३५ ॥

मृदुकोष्ठस्य गुरु च भेदनीयं तथा बहु।
एतत्कोष्ठविरुद्धन्तु विरुद्धं स्यादवस्थया ॥ १३६ ॥
श्रमव्यवायव्यायामसक्तस्यानिलकोपनम्।
निद्रालसस्यालसस्य भोजनं श्लेष्मकोपनम् ॥ १३७ ॥

एरंडके तेलमें मिला हुआ मोरका मांस संस्कारविरुद्ध होताहै। उष्णवीर्य द्रव्यके साथ शीतवीर्य द्रव्यको मिलाकर देना वीर्यविरुद्ध कहा जाताहै। क्रूरकोष्ठवालेको मन्द वीर्य अभेदनकर्त्ता पदार्थ एवम् मृदुकोष्ठवालेको भारी और भेदनकर्त्ता पदार्थ तथा बहुतसा पदार्थ कोष्ठविरुद्ध कहा जाताहै। श्रम, मैथुन और व्यायामसे थकेहुए मनुष्यको वातकारक पदार्थ निद्रा और आलसवालेको कफकारक भोजन अवस्थाविरुद्ध कहा जाताहै ॥ १३४--१३७ ॥

यच्चानुत्सृज्य विण्मूत्रं भुंक्ते यश्चानुभुक्षितः।
तच्च कर्मविरुद्धं स्याद्यच्चातिक्षुद्वशानुगः ॥ १३८ ॥

जो मनुष्य मल, मूत्रके त्याग किये विना अथवा विना भूखके भोजन करता है तथा अत्यन्त भूख लगने पर भोजन नहीं करताहै उसको कर्मविरुद्ध कहतेहैं ॥ १३८ ॥

तदाहारविरुद्धन्तु वराहादीन्निषेव्य यत्।
सेवेतोष्णं घृतादींश्च पीत्वा शीतं निषेवते ॥ १३९ ॥

वाराह आदिका मांस खाकर गर्म पदार्थोंका सेवन करना और घृत आदि पदार्थोंको पीकर शीत पदार्थोंका सेवन करना भी आहारविरुद्ध कहा जाता है ॥ १३९ ॥

विरुद्धं पाकतश्चापि दुष्टदुर्दारुसाधितम्।
अपक्वतण्डुलात्यर्थपक्वं दग्धं च यद्भवेत् ॥ १४० ॥

विषैली लकडियोंकी अग्निसे सिद्ध किया पदार्थ एवम् कच्चे, जले भुने चावल आदिक पाकविरुद्ध कहे जातेहैं ॥ १४० ॥

संयोगतो विरुद्धं तद्यथाम्लं पयसा सह।
अमनोरुचितं यच्च हृद्विरुद्धं तदुच्यते ॥ १४१ ॥

खट्टे पदार्थोंको दूधमें मिलाकर खाना संयोगविरुद्ध होताहै। मनको बुरा लगनेवाला पदार्थ हृदयसे विरुद्ध कहा जाताहै ॥ १४१ ॥

सम्पद्विरुद्धं तद्विद्यादसञ्जातरसन्तु तत्।
अतिक्रान्तरसं वापि विपन्नरसमेव वा ॥ १४२ ॥

जिस पदार्थमें यथोचित परिपक्व होकर उचित रस न उत्पन्न हुआ हो उसको सम्पद्विरुद्ध कहतेहैं। एवम् जिसका रस खराब होगयाहो अथवा नष्ट होगयाहो उसको भी सम्पद् विरुद्ध कहतेहैं ॥ १४२ ॥

ज्ञेयं विधिविरुद्धन्तु भुज्यते निभृतेन यत्।
तदेवंविधमन्नं स्याद्विरुद्धमुपयोजितम् ॥ १४३ ॥

जो मनुष्य भोजन किया हुआ होनेपर फिर भोजन करे अथवा कच्चा भोजन करे या स्वेदन आदिसे नम्र होनेपर एकदम अंटसंट भोजन करजाय उसको विधिविरुद्ध कहते हैं। इस प्रकार भोजनकी विरुद्धताका वर्णन कियागया है ॥ १४३ ॥

सात्म्यतोऽल्पतया वापि दीप्ताग्नेस्तरुणस्य च।
स्नेहव्यायामबलिनो विरुद्धं वितथं भवेत् ॥ १४४ ॥

अपनी प्रकृतिसे किंचित् विरुद्ध पदार्थ और बलवान् अग्निवाले पुरुष तथा तरुण पुरुष एवम् स्नेह या व्यायाम आदिसे बलवान् पुरुषको भी प्रकृतिसे किंचित् विरुद्ध होनेपर भी हानिकारक होता है ॥ १४४ ॥

विरुद्ध अन्न सेवन रोगोत्पत्ति।

षांढ्यान्ध्यवीसर्पदकोदराणां विस्फोटकोन्मादभगन्दराणाम्।
मूर्च्छामदाध्मानगलग्रहाणां पाण्ड्वामयस्यामविषस्य चैव ॥ १४५ ॥
किलासकुष्ठग्रहणीगदानां शोषास्रपित्तज्वरपीनसानाम्।
सन्तानदोषस्य तथैव मृत्योर्विरुद्धमन्नं प्रवदन्ति हेतुम् ॥ १४६ ॥

विरुद्ध भोजन करनेसे—नपुंसकता, अंधापन, विसर्प, उदररोग, विस्फोटकरोग, उन्माद, भगन्दर, मूर्च्छा, मद, आध्मान, गलग्रह, पांडु, विषैली आम, किलास, कुष्ठ, ग्रहणी, शोष, रक्तपित्त, ज्वर, अतिश्याय, त्रिदोष तथा सन्तानदोष एवम् मरण होता है ॥ १४५ ॥ १४६ ॥

विरुद्ध अन्नजन्य रोगोंके उपाय।

एषाञ्च खल्वपरेषाञ्च वैरोधिकनिमित्तानां व्याधीनामिमे भावाः प्रतिकाराः। यथा वमनं विरेचनञ्च तद्विरोधिनाञ्च द्रव्याणां संशमनार्थमुपयोगस्तथाविधैश्च द्रव्यैः पूर्वमभिसंस्कारः शरीरस्येति ॥ १४७ ॥

भवति चात्र—विरुद्धाशनजान् रोगान्प्रतिहन्ति विरेचनम्।
वमनं शमनञ्चैव पूर्वं वा हितसेवनम् ॥ १४८ ॥

ऊपर कहेहुए सब रोगोंके तथा विरुद्ध भोजन करनेसे उत्पन्न हुए अन्यरोगोंके भी शान्तिकारक उपाय करनेसे वह सब रोग नष्ट होजाते हैं । वह उपाय यह हैं-वमन, विरेचन एवम् विरोधी भोजनको परिपाक करनेवाले तथा उनके दोषोंको शान्त करनेवाले संशमन हितकर होते हैं । जिस विरुद्ध भोजनका प्रथमसे ही अभ्यास होगया हो वह विरुद्ध भोजन अधिक अनिष्टकारक नहीं होता । इसी लिये संक्षेपसे कहागया है कि, विरुद्ध भोजनसे उत्पन्न हुए जो रोग हैं वह तो--वमन, विरेचन और शमन द्रव्योंद्वारा शान्त होसकते हैं अथवा पहलेसेही हित पदार्थोंका सेवन करना हितकारक होता है और जिस विरुद्ध भोजनका शरीरको सदासे अभ्यास होगया हो वह विशेष हानिकारक नहीं होता ॥ १४७ ॥ १४८ ॥

अध्यायका उपसंहार।

तत्र श्लोकाः—मतिरासीन्महर्षीणां या या रसविनिश्चये ।
द्रव्याणि गुणकर्मभ्यां द्रव्यसंख्या रसाश्रयाः ॥ १४९ ॥
कारणं रससंख्या च रसानुरसलक्षणम् ।
परादीनां गुणानाञ्च लक्षणानि पृथक् पृथक् ॥ १५० ॥
पञ्चात्मकानां षट्त्वञ्च रसानां येन हेतुना ।
उर्ध्वानुलोमभाजश्च यद्गुणातिशयाद्रसाः ॥ १५१ ॥
षण्णां रसानां षट् चैव सुविभक्ता विभक्तयः ।
उद्देशश्चापविद्धश्च द्रव्याणां गुणकर्मणि ॥ १५२ ॥
प्रवरावरमध्यत्वं रसानां गौरवादिषु ।
पाकप्रभावयोर्लिङ्गं वीर्य्यसंख्याविनिश्चयः ॥ १५३ ॥
षण्णामास्वाद्यमानानां रसानां यत्स्वलक्षणम् ।
यद्यद्विरुध्यते तस्माद्येन यत्कारि चैव यत् ॥ १५४ ॥
वैरोधिकनिमित्तानां व्याधीनामौषधञ्च यत् ।
आत्रेयभद्रकाप्यीये तत्सर्वमवदन्मुनिः ॥ १५५॥

इत्यन्नपानचतुष्क आत्रेयभद्रकाप्यीयो नाम
षड्विंशोऽध्यायः समाप्तः ॥ २६ ॥

अब अध्यायका उपसंहार करते हैं—कि इस आत्रेय भद्रकाप्यीय अध्यायमें रसोंके विषयमें महर्षियोंके मत, द्रव्योंके गुण, कर्म, द्रव्यसंख्या, रसका आश्रय, रसोंका

कारण, रससंख्या, रस तथा अनुरसके लक्षण, पर अपरादि विशेष गुणोंका वर्णन, रसोंका पंचभूतात्मक होना और उनके ६ भेद तथा उनका कारण, भूतगुणविशिष्ट रसोंसे ऊर्ध्वशोधन और अनुलोमन ६ रसोंके यथोचित विभाग, द्रव्योंके गुण कर्मके सम्बन्धमें उद्देश और अपवाद, गौरव आदि गुणोंमें रसोंकी प्रधानता, मध्यता एवम् निकृष्टता, विपाक और प्रभावके लक्षण, वीर्य, संख्या आस्वादन द्वारा ६ रसोंके पृथक्पृथक् लक्षण, जो द्रव्य जिससे मिलाये जानेपर विरुद्ध होता है और जो द्रव्य विरुद्ध होनेपर जिस जिस प्रकार विकार करता है एवम् विरुद्ध भोजनसे उत्पन्न हुए रोगोंकी चिकित्सा यह सब भगवान् पुनर्वसुजीने वर्णन किया है ॥ १४९--१९९ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां पटियालाराज्यांतर्गतटकसालनिवासि वैद्यपंचानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायकृतप्रसादन्याख्यभाषाटीकायामात्रेयभद्रकाप्यीयो नाम षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६॥

सप्तविंशोऽध्यायः।

अथातोऽन्नपानविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम अन्नपानविधि नामके अध्यायकी व्याख्या करते हैं ऐसा आत्रेय भगवान् कहने लगे ॥

अन्नपानकी उत्कृष्टता।

इष्टवर्णगन्धरसस्पर्शं विधिविहितमन्नपानं प्राणिनां प्राणिसंज्ञकानां प्राणमाचक्षते कुशलाः । प्रत्यक्षफलदर्शनात् । तदिन्धना ह्यन्तराग्नेः स्थितिस्तदेव सत्त्वमूर्जयति । तच्छरीरधातुव्यूहबलवर्णेन्द्रियप्रसादकरं यथोक्तमुपसेव्यमानं विपरीतमहिताय सम्पद्यते ॥ १ ॥

सुन्दर गंधवर्णवाले तथा सुसंपन्न रसवाले और पवित्र स्पर्शयुक्त एवम् यथार्थरीति पर बनायेहुए अन्नपान प्राणियोंके प्राण मानेजाते हैं बुद्धिमानोंका ऐसा कथन है। क्योंकि प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि, अन्नपानका ही फल जीवित रहना है अन्नपान रूपी इन्धनसे ही अन्तराग्निकी स्थिति है।अन्नपान मनको बल देता है। उचित रीति पर सेवन किया हुआ अन्नपान धातुओंके संघात, बल और वर्णके करनेवाला है। इन्द्रियोंको प्रसन्न करता है और अनुचित रीतिपर सेवन किया हुआ हानिकारक होता है ॥ १ ॥

तस्माद्धिताहितावबोधनार्थमन्नपानविधिमखिलेनोपदेक्ष्यामोऽग्निवेश ॥ २॥

हे अग्निवेश ! अब हम अन्न पानका हित और अहित ज्ञान होनेके लिये संपूर्ण अन्नपान विधिका वर्णन करते हैं ॥ २ ॥

अन्नपानादिके स्वाभाविक कर्म।

तत्स्वभावादुदकं क्लेदयति, लवणं विष्यन्दयति, क्षारः पाचयति, मधु सन्दधाति, सर्पिः स्नेहयति, क्षीरं जीवयति, मांसं बृंहयति, रसः प्रीणयति, सुरा जर्जरीकरोति, शीधु अवधमयति, द्राक्षारसो दीपयति, फाणितमाचिनोति, दधि शोफं जनयति, पिण्याकशाकं ग्लपयति, प्रभूतान्तर्मलो माषसूपः, दृष्टिशुक्रघ्नः क्षारः, प्रायः पित्तलमम्ल-मन्यत्र दाडिमामलकात् । प्रायः श्लेष्मलं मधुरमन्यत्र मधुनः पुराणाच्च शालियवगोधूमात्, प्रायः सर्वं तिक्तं वातलमवृष्यञ्चान्यत्र वेत्राग्रपटोलात्, प्रायः कटुकं वातलमवृष्यञ्चान्यत्र पिप्पलीविश्व-भेषजात् ॥ ३ ॥

सो उस अन्नपानमें जल स्वभावसे ही क्लेदकारक होता है। लवण विष्यंदकारक होता है। क्षार पाचनकर्त्ता होता है। शहद व्रणसंधानकारक होता है। घृत स्नेहन है, दूध जीवन है। मांस बृंहण है। रस प्रीणन है, मद्य जीर्णकारी है। सीधु अवधमन-कारी है। दाख दीपनकर्त्ता है। फाणित दोषोंका संचय करता है, । दही सूजन करता है। पिण्याक तथा शाक ग्लानिकारक होता है। उडदोंका सूप मलको बढानेवाला है। क्षार दृष्टि तथा वीर्यका नाश करता है। अनार और आमलेको छोड कर सब खटाई पित्तको उत्पन्न करती है। शहद, पुराने शालिचावल, यव और गेहूंके सिवाय सब प्रकारके मीठे द्रव्य कफोत्पादक होते हैं। इसी प्रकार बेतकी कोंपल और पटो-लके सिवाय सब कडुए द्रव्य वायुको बढानेवाले और अवृष्य होते हैं। पीपल और सोंठके सिवाय सब प्रकारके चरपरे द्रव्य वीर्यनाशक, कृशकर्त्ता एवम् वातल होतेहैं ३॥

परमतो वर्गसंग्रहेणाहारद्रव्याण्यनुव्याख्यास्यामः ॥ ४ ॥

अब हम आगे वर्गसंग्रहपूर्वक आहारद्रव्योंकी व्याख्या करते हैं ॥ ४ ॥

वर्गोंके नाम।

शूकधान्यशमीधान्यमांसशाकफलाश्रयान् ।
वर्गान् हरितमद्याम्बुगोरसेक्षुविकारीकान् ॥ ५ ॥

दश द्वौ च परौ वर्गौ कृतान्नाहारयोगिनाम्।
रसवीर्य्यविपाकैश्च प्रभावैश्चोपदेक्ष्यते ॥ ३ ॥

जैसे शूकधान्यवर्ग, शमीधान्यवर्ग, मांसवर्ग, शाकवर्ग, फलवर्ग, हरितवर्ग, मद्यवर्ग, जलवर्ग, गोरसवर्ग, इक्षुवर्ग यह अलग अलग दश वर्ग तथा कृतान्नवर्ग, तैलवर्ग और शुण्ठ्यादिवर्ग यह सब आहारके उपयोगी होनेसे रस, वीर्य, विपाक तथा प्रभावोंसहित वर्णन करते हैं ॥ ५ ॥ ६ ॥

अथ शूकधान्यवर्गः।

रक्तशालिर्महाशालिः कलमः शकुनाहृतः।
चूर्णको दीर्घशूकश्च गौरः पाण्डुकलांगुलौ ॥ ७ ॥
सुगन्धिको लोहवालः शालिकाख्याः प्रमोदकाः।
पतङ्गास्तपनीयाश्च ये चान्ये शालयः शुभाः ॥ ८ ॥
शीता रसे विपाके च मधुराः स्वल्पमारुताः।
बद्धाल्पवर्चसः स्निग्धा बृंहणाः शुक्रमूत्रलाः॥ ९ ॥

रक्तशालि, महाशालि, कलमशालि, शकुनाहृत, चूर्णक, दीर्घशूक, गौर, पांडुक, कांगुल, सुगंधिक, लोहवाल, शालिका, शालिव, प्रमोदक, तपनीय, पतंग इनके सिवाय और भी जो उत्तम २ चावलोंकी जातियें हैं वह सब शीतवीर्य, रस और पाकमें मधुर किंचित् वातकारक, मलको बांधनेवाले, अल्पमलकारक, चिकने, बृंहण, वीर्य तथा मूत्रको बढानेवाले होते हैं।प्रायः यह उत्तम जातिके चावलोंके गुण हैं॥७–९

शालिधान्योंके गुण।

रक्तशालिर्वरस्तेषां तृष्णाघ्नस्त्रिमलापहः।
महांस्तस्यानु कलमस्तस्याप्यनु ततः परे ॥ १० ॥

लालरंगके शालिचावल इनमें श्रेष्ठमानेगये हैं तथा तृषा और त्रिदोषको नष्ट करते हैं। रक्तशालि चावलोंकी अपेक्षा मोटे शालिचावल और मोटे शालिचावलोंकी अपेक्षा कलमचावल हीनगुण होते हैं। इसी प्रकार पहिलेसे दूसरे हीनगुण जानने चाहियें१०

यवकादिका वर्णन।

यवका हायनाः पांशुवाप्योनैषधकादयः।
शालीनां शालयः कुर्वन्त्यनुकारं गुणागुणैः॥ ११ ॥

यवकधान्य, हायनधान्य, पांशुधान्य, तालाबके धान्य, नैषधकधान्य यह भी सब चावलोंकी जाति तथा गुणागुणकी अपेक्षासे उत्तरोत्तर हीनगुण जानने चाहियें॥११॥

साठीचावलोंके गुण।

शीतः स्निग्धो गुरुः स्वादुस्त्रिदोषघ्नः स्थिरात्मकः।
षष्टिकः प्रवरो गौरः कृष्णगौरस्ततोऽनु च ॥ १२ ॥

षष्टिकधान्य-शीतल, चिकने, भारी, मधुर एवम् त्रिदोषनाशक, शरीरको स्थिर करनेवाले होतेहैं। इनमें भी श्वेतवर्णके षष्टिक चावल उत्तम और कृष्णवर्णके हीन-गुण होतेहैं ॥ १२ ॥

वरक आदिधान्य।

वरकोद्दालकौ चीनशारदोज्ज्वलदर्दुराः।
गन्धलाः कुरुविन्दाश्च षष्टिकाल्पान्तरा गुणैः ॥ १३ ॥

वरकधान्य, उद्दालक, चीना, शारद, उज्ज्वल, दर्दुर, गंधल, कुरुविन्द आदिक धान्य पाष्टिक चावलोंकी अपेक्षा किंचित् हीनगुण होतेहैं ॥ १३ ॥

व्रीहि और पाटलके गुण।

मधुरश्चाम्लपाकश्च व्रीहिः पित्तकरो गुरुः।
बहुमूत्रपुरीषोष्मा त्रिदोषस्त्वेव पाटलः ॥ १४ ॥

व्रीहिधान्य--मधुर हैं, पाकमें अम्ल हैं, पित्तकारक तथा भारी होतेहैं। पाटलधान्य अधिक मूत्र लानेवाले तथा मलको वढानेवाले एवम् गर्मी प्रकट करनेवाले तथा त्रिदोषको कुपित करनेवाले हैं ॥ १४ ॥

कोरदूष और श्यामाकके गुण।

सकोरदूषः श्यामाकः कषायमधुरो लघुः।
वातलः कफपित्तघ्नः शीतः संग्राहिशोषणः ॥ १५ ॥

कोद्रव और श्यामाक धान्य--कसैले, मधुर, हलके, वातकारक, कफपित्तनाशक, शीतल, संग्राही तथा शोषण करनेवाले हैं ॥ १५ ॥

हस्तिश्यामाकनीवारतोयपर्णीगवेधुकाः।
प्रशातिकाम्भः श्यामाकलौहित्याणुप्रियङ्गवः ॥ १६ ॥
मुकुन्दझिण्टिगर्मूटीचरुकावरकास्तथा।
शिविरोत्कटजूर्णाह्वः श्यामाकसदृशा गुणैः ॥ १७ ॥

हस्तिश्यामाक, नीवार, तोयपर्णी, गवेधुक, प्रशातिक, जलजश्यामाक, लौहित्य-श्यामाक, अनुश्यामाक, कंगुनी, मुकुंद, झिंटी, गर्मुटी, चरुका, वरका, शिविर, उत्कट, जवार इन सबके गुण श्यामाक (सौंक) चावलके समान जानना ॥ १६ ॥ १७ ॥

यवके गुण।

रूक्षः शीतो गुरुः स्वादुः बहुवातशकृद्यवः।
स्थैर्य्यकृत्सकषायस्तु बल्यः श्लेष्मविकारनुत् ॥ १८ ॥

यव--रूखे, शीतल, गुरु, स्वादु, बहुत वायु और बलके करनेवाले, स्थिरताकारक, कषाय, बलकारक एवम् कफविकारनाशक हैं ॥ १८ ॥

वेणुयवके गुण।

रूक्षः कषायानुरसो मधुरः कफपित्तहा।
मेदः क्रिमिविषघ्नश्च बल्यो वेणुयवो मतः ॥ १९ ॥

वेणुयव--रूक्ष, कसैले, मधुर, कफपित्तनाशक, मेदको हरनेवाले, कृमि तथा विषको नाश करनेवाले एवम् बलकारक होतेहैं ॥ १९ ॥

गेहूंके गुण।

सन्धानकृद्वातहरो गोधूमः स्वादुशीतलः।
जीवनो बृंहणो वृष्यः स्निग्धः स्थैर्य्यकरो गुरुः ॥ २० ॥

गोधूम (गेहूं)--संधानकर्त्ता, वातहर, स्वादु, शीतल, जीवनकर्त्ता, पुष्टकर्ता, वीर्य-वर्द्धक, स्निग्ध, दृढकारक एवम् भारी होताहै ॥ २० ॥

नान्दीमुख और मधूलीके गुण।

नान्दीमुखी मधूली च मधुरस्निग्धशीतले।
इत्ययं शूकधान्यानां पूर्वो वर्गः समाप्यते ॥ २१ ॥

इतिशूकधान्यवर्गः।

नान्दीमुखी तथा मधूलिका (गेहूंका भेद)--मधुर स्निग्ध और शीतल होतेहैं। इस प्रकार यह शूकधान्योंका वर्ग समाप्त हुआ ॥ २१ ॥

अथ शमीधान्यवर्गः।

मूंगके गुण।

कषायमधुरो रूक्षः शीतः पाके कटुर्लघुः।
विशदः श्लेष्मपित्तघ्नो मुद्गः सूप्योत्तमो मतः ॥ २२ ॥

सब प्रकारके शमीधान्योंमें मूंग उत्तम होता है। मूंग--कषाय, मधुर, रूक्ष, शीतल, पाकमें कटु, हलका, विशद और कफपित्तनाशक होता है ॥ २२ ॥

राजमाषके गुण।

राजमाषः सरो रुच्यः कफशुक्राम्लपित्तनुत्।
स्वादुश्च वातलो रूक्षः कषायो विशदो गुरुः ॥ २३ ॥

राजमाष (लोबिया)--सर, रुचिकारक, कफ, शुक्र तथा अम्लपित्त नष्ट करनेवाला है। एवम् स्वादु, वातकारक, रूक्ष, कषाय, विशद और गुरु होता है ॥ २३ ॥

उरदके गुण।

वृष्यः परं वातहरः स्निग्धोष्णमधुरो गुरुः।
बल्यो बहुमलः पुंस्त्वं माषः शीघ्रं ददाति च ॥ २४ ॥

उडद--वृष्य, वायुनाशक, स्निग्ध, उष्ण, मधुर, गुरु, बल्य, बहुत मलको करनेवाला, शीघ्र पुरुषत्वको देनेवाला होता है ॥ २४ ॥

कुलथीके गुण।

उष्णाः कषायाः पाकेऽम्लाः कफशुक्रानिलापहाः।
कुलत्था ग्राहिणः कासहिक्काश्वासार्शसां हिताः ॥ २५ ॥

कुलथी--गर्म, कसैली, पाकमें अम्ल, कफ, शुक्र एवम् वायु इन तीनोंको नष्ट करनेवाली है। संग्राही है तथा कास, हिक्का, श्वास, एवम् अर्शरोगमें हितकारक होती है॥२५

मोठके गुण।

मधुरा मधुराः पाके ग्राहिणो रूक्षशीतलाः।
मकुष्ठकाः प्रशस्यन्ते रक्तपित्तज्वरादिषु ॥ २६ ॥

मोठ- रस और पाकमें मधुर, ग्राही, रूखा, शीतल, रक्तपित्तनाशक एवम् ज्वरादिरोगोंमें हितकारक होता है ॥ २६ ॥

चनाके गुण।

चणकाश्च मसूराश्च खण्डिकाः सहरेणवः।
लघवः शीतमधुराः सकषाया विरूक्षणाः ॥ २७ ॥
पित्तश्लेष्माणि शस्यन्ते सूपेष्वालेपनेषु च।
तेषां मसूरः संग्राही कषायो वातलः परम् ॥ २८ ॥

चना, मसुरी दोनों प्रकारके मटर--यह लघु, शीतल, मधुर, कषाय, रूक्ष एवम् पित्तकफके विकारोंमें इनका यूष और आलेपन उत्तम कहाजाता है। इनमें मसूरी संग्राही और कषाय तथा वातल होती है ॥ २७ ॥ २८ ॥

तिलके गुण।

स्निग्धोष्णमधुरस्तीक्ष्णः कषायः कटुकस्तिलः।
त्वच्यः केश्यश्च बल्यश्च वातघ्नः कफपित्तकृत् ॥ २९ ॥

तिल--चिकने, उष्ण, मधुर, तीक्ष्ण, कषाय, कटु, त्वचाको सुन्दर बनानेवाले, केशोंको बढानेवाले, बलकारक, वातनाशक तथा कफपित्तको उत्पन्न करनेवाले हैं ॥२९

शिम्बीके गुण ।

गुर्व्योऽथ मधुराः शीता बलघ्ना रूक्षणात्मिकाः ।
सस्नेहा बलिभिर्भोज्या विविधाः शिम्बिजातयः ॥ ३० ॥
शिम्बी रूक्षा कषाया च कोष्ठे वातप्रकोपनी ।
न च वृष्या न चक्षुष्या विष्टभ्य च विपच्यते ॥ ३१ ॥

सब प्रकारकी शिम्बी (सेम)–भारी, मधुर, शीतल, बलघ्न, रूक्षस्वभाववाली, स्नेहयुक्त, बलवान् पुरुषोंके खानेयोग्य होती है ॥ सेम–रूक्ष, कषाय, कोष्ठमें वायुको कुपित करनेवाली, शरीरको दुर्बल करनेवाली, विष्टम्भकारक, दुर्जर तथा नेत्रोंकी हितकारी नहीं है ॥ ३१ ॥

अरहर आदिके गुण ।

आढकी कफपित्तघ्नी वातला कफवातनुत्[1] ।
अवल्गुजः सैडगजो निष्पावा वातपित्तलाः ॥ ३२ ॥
काकाण्डोलात्मगुप्तानां माषवत्फलमादिशेत् ।
द्वितीयोऽयं शमीधान्यवर्गः प्रोक्तो महर्षिणा ॥ ३३ ॥

इति शमीधान्यवर्गः ।

अरहर–कफ और पित्तको नष्ट करनेवाली और वातकारक होती है। बावचीके बीज–वात और कफको नाश करते हैं। पनवाड (चक्रमर्द) के बीजमें भी यही गुण हैं। निष्पाव (सेमविशेष) वातपित्तको करनेवाला है । कोलसिम्बी और कोंचके बीजोंमें भी उडदोंके समान गुण जानना। इस प्रकार, महर्षि आत्रेयजीने यह शमी-धान्यवर्गनामक दूसरा वर्ग कथन किया ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

अथ मांसवर्गः ।

प्रसह पशु और पक्षियोंके नाम ।

गोखराश्वतरोष्ट्राश्वद्वीपिसिंहर्क्षवानराः ।
वृको व्याघ्रस्तरक्षुश्च बभ्रुमार्जारमूषिकाः ॥ ३४ ॥
लोपाको जम्बुकः श्येनो वान्तादश्चाषवायसौ ।
शशघ्नी मधुहा भासो गृध्रोलूककुलिङ्गकाः ॥ ३५ ॥
धूमिका कुररश्चेति प्रसहा मृगपक्षिणः ॥ ३६ ॥

---

१ कफवातनुदित्यवल्गुजैडगजयोर्बीजस्य गुणः ।

गाय, गदहा, घोडा, ऊंट और शार्दूल, सिंह, रीछ, बन्दर, भेडिया, बघेरा, तरख, नेवला, बिल्ली, मूसा, लोपाक, गीदड, शिकरा, कुत्ता, नीलकंठ, कौआ, बाज, उल्लू, चिडा, झींगर, टटेहरी इन जानवरोंको प्रसह कहाजाता है ॥ ३४-३६ ॥

भूमिशयके नाम।

श्वेतः श्यामश्चित्रपृष्ठः कालकः काकुलीमृगः।
कुचीकाचिल्लटौ भेको गोधा शल्लकगण्डकौ।
कदली नकुलः श्वाविदिति भूमिशयाः स्मृताः ॥ ३७ ॥

सफेदपक्षी, श्याम, चित्रपृष्ठ, कालक (सांपविशेष), काकुली मृग, कुचीक, चिल्लट, मेढक, गोह, सेह, गण्डक, कदली, नकुल श्वावित् इनको भूमिशय (बिलेशय) कहते हैं ॥ ३७ ॥

आनूपजीवोंके नाम।

सृमरश्चमरः खड्गो महिषो गवयो गजः।
न्यङ्कुर्वराहश्चानूपा मृगाः सर्वे रुरुस्तथा ॥ ३८ ॥

जंगली सूअर, चमरगऊ, गेंडा, भैंसा, गवय (गोसदृश एक प्राणी) हाथी, हरिण, ग्रामशूकर, बारहसिंघा इन सबको अनूपसंचारी जीव कहते हैं ॥ ३८ ॥

जलमें सोनेवाले व जलचर पक्षियोंके नाम।

कूर्मः कर्कटको मत्स्यः शिशुमारस्तिमिङ्गिलः।
शुक्तिशंखोद्रकुम्भीरचुलुकीमकरादयः ॥ ३९ ॥
इति वारिशयाः प्रोक्ता वक्ष्यन्ते वारिचारिणः।
हंसः क्रौञ्चो बलाका च बकः कारण्डवः प्लवः ॥ ४० ॥
शरारी पुष्कराह्वश्च केशरी मानतुण्डिकः।
मृणालकण्ठो मद्गुश्च कादम्बः काकतुण्डकः ॥ ४१ ॥
उत्क्रोशः पुण्डरीकाक्षो मेघरावोऽम्बुकुक्कुटी।
आरा नन्दीमुखी वाटी सुमुखाः सहचारिणः ॥ ४२ ॥
रोहिणी कामकाली च सारसो रक्तशीर्षकः।
चक्रवाकास्तथान्ये च खगाः सन्त्यम्बुचारिणः ॥ ४३ ॥

कूर्म, केंकडा, मत्स्य, सूंस (सिनसुमार), तिमिंगल मछली, सीप, शंख, उद्र, कुंभीर (घडियाल), चिरुकी, मगर इन सबको जलेशय जीव कहते हैं। हंस, क्रौंच लबाका, काकबक, बगला, कारण्डव, प्लव, शरारी, पुष्कर, केशरी, मानतुण्डिक, मृणा-

लकंठ, मद्गु, कादम्ब, काकतुण्ड, उत्क्रोश, पुण्डरीक, मेघराव, जलकुक्कुट, आरा, नंदीमुखी, वाटी, सुमुखा, सहचारिण, रोहिणी, कामकाली, सारस, रक्तशीर्षक, चकवा यह सब जलचारी कहे जाते हैं तथा और भी जलमेंसे मछलियें पकडनेवाले पक्षिविशेष जलचारी कहाते हैं ॥ ३९-४३ ॥

जाङ्गल पशुओंके नाम।

पृषतः शरभो वामः श्वदंष्ट्रा मृगमातृकाः।
शशोरणौ कुरङ्गश्च गोकर्णः कोटकारकः ॥ ४४ ॥
चारुष्को हरिणैणौ च शम्बरः कालपुच्छकः।
ऋष्यश्च तरपोतश्च विज्ञेया जाङ्गला मृगाः ॥ ४५ ॥

चित्रहरिण, महाशृंग, हरिण, कस्तूरीमृग, श्वदंष्ट्रा, मृगमात्रिका, खरगोश, उरण, कुरङ्ग, गोकर्ण, कोटकारक, चारुष्क, हरिण, ताम्रवर्णका हरिण, साबर, कालपुच्छक, ऋष्य, तरपोत इन सबको जंगलके मृग कहते हैं ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

विष्किरपक्षियोंके नाम।

लावो वर्तीरकश्चैव वार्तीकः सकपिञ्जलः।
चकोरश्चोपचक्रश्च कुक्कुटो रक्तवर्त्तकः ॥ ४६ ॥
लावाद्या विष्किरास्त्वेते वक्ष्यन्ते वर्त्तकादयः।
वर्त्तको वर्त्तिकश्चैव बर्ही तित्तिरिकुक्कुटौ ॥ ४७ ॥
कङ्कसारपदेन्द्राभगोनर्दगिरिवर्त्तकाः।
क्रकरोऽवकरश्चैव वारडश्चेति[1] विष्किराः ॥ ४८ ॥

लवा, बटेर, वार्तीक, कपिंजल, चकोर, उपचक्र, कुक्कुट, लालवर्त्तक, वर्तिका, बर्ही, तित्तरी, मुर्गा, कंक, सारपद, इन्द्राभ, सारस, गिरिवर्त्तक, कुकर, अवकर, वारड इन सबको विष्किर कहते हैं ॥ ४६-४८ ॥

प्रतुदपक्षियोंके नाम।

शतपत्रो भृङ्गराजः कोयष्टी जीवजीवकः।
कैरातः कोकिलोऽत्यूहो गोपापुत्रः प्रियात्मजः ॥ ४९ ॥
लट्वालट्टषकौ बभ्रुर्वटहा डिण्डिमानकः।
जटीदुन्दुभिवाक्कावलोहपृष्ठकुलिङ्गकाः ॥ ५० ॥

---

१ वारटाश्चेति पाठान्तरम्।

कपोतशुकसारङ्गाश्चिरिटीकंकुयष्टिकाः ।
सारिका कलविङ्कश्च चटकोऽङ्गारचूडकः ।
पारावतः पाण्डविक इत्युक्ताः प्रतुदा द्विजाः ॥ ५१ ॥

शतपत्र, भृंगराज, कोयष्टी, जीवजीवक, कैरात, कोकिल, अत्यूह, गोपापुत्र, प्रियात्मज, लट्वा, लट्टपक, नकुल, वटहा, डिंडिमानक, जटी, दुंदुभिवाक्, अवलोह, पृष्ठकुलिंगक, कपोत, शुक, सारंग, चिरटी, कंकुयष्टी, सारिका, कलविंक, अंगारचूडक, पारावत, पाण्डविक इन सब पक्षियोंको प्रतुद कहते हैं तथा द्विज भी कहते हैं४९-५१

इनके लक्षण।

प्रसह्य भक्षयन्तीति प्रसहास्तेन संज्ञिताः ॥ ५२ ॥
भूशया बिलवासित्वादानूपानूपसंश्रयात् ।
जले निवासाज्जलजा जलचर्य्याज्जलेचराः ।
स्थलजा जाङ्गलाः प्रोक्ता मृगा जाङ्गलचारिणः ॥ ५३ ॥
विकीर्य्य विष्किराश्चेति प्रतुद्य प्रतुदाः स्मृताः ।
योनिरष्टविधा त्वेषां मांसानां परिकीर्त्तिता ॥ ५४ ॥

जो जीव बलपूर्वक अपने भोजनकी सामग्रीको ग्रहण करके खाते हैं उन सबको प्रसह कहते हैं। जो पृथ्वीमें बिल बनाकर रहतेहैं उनको बिलेशय कहते हैं। जलके समीप वास करनेवाले अनूपसंचारी कहेजातेहैं। जलमें रहनेवालोंको जलेशय कहते हैं, जलमें विचरनेवालोंको जलचर कहतेहैं। स्थलचर जीवोंको जो जंगलमें रहतेहैं उनको जांगल कहतेहैं। चोंचसे बखेरकर अथवा पंजोंसे बखेरकर खानेवालोंको विष्किर कहतेहैं। कीट आदिकोंको पंजेसे दबाकर चोंचके साथ खानेवालोंको प्रतुद कहतेहैं इसप्रकार मांसोंकी आठ प्रकारकी योनि वर्णन है॥ ५२-५४ ॥

प्रसहादिके मांसका गुण।

प्रसहा भूशयानूपवारिजा वारिचारिणः ।
गुरूष्णस्निग्धमधुरा बलोपचयवर्द्धनाः ॥ ५५ ॥
वृष्याः परं वातहराः कफपित्ताभिवर्द्धिनः ।
हिता व्यायामनित्यानां नरा दीप्ताग्नयश्च ये ॥ ५६ ॥

इनमें प्रसह, बिलेशय, अनूपसंचारी, जलेशय और जलसंचारी जीवोंका मांस

---

१ जीवोंकी श्रेणीमात्र सामान्यतासे कथन करदीहै। सामान्यतासे प्रायः मांस मनुष्योंको हानिकारक होते हैं और बहुतसे तो विशेष हानिकारक होनेसे सर्वथा अभक्ष्य हैं।

गुरु, उष्ण, स्निग्ध, मधुर, बलवर्द्धक, पुष्टिजनक, वीर्यवर्द्धक, परमवातनाशक, कफपित्त-वर्द्धक होताहै। व्यायाम करनेवाले और दीप्ताग्नि मनुष्योंको हितकारक है ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

प्रसहानां विशेषेण मांसं मांसाशिनां भिषक् ।
जीर्णार्शोग्रहणीदोषशोषार्त्तानां प्रयोजयेत् ॥ ५७ ॥

वैद्यको उचित है कि पुरानी बवासीर और संग्रहणी तथा शोषसे पीडित मांसाशी मनुष्योंको प्रसहजीवोंका मांस उपयोग करे ॥ ५७ ॥

लावाद्यो वैष्किरो वर्गः प्रतुदा जाङ्गला मृगाः ।
लघवः शीतमधुराः सकषाया हिता नृणाम् ॥ ५८ ॥
पित्तोत्तरे वातमध्ये सन्निपाते कफानुगे ।
विष्किरावर्त्तकाद्यास्तु प्रसहाल्पान्तरागुणैः ॥ ५९ ॥

लवासे लेकर विष्किरवर्ग तथा प्रतुद और जांगल जीवोंका मांस, हलका, शीतल मधुर, कषाय होताहै। इन जीवोंके मांसका यूष पित्तप्रधान, वातमध्य, कफहीन सन्निपातमें प्रयोग करना चाहिये। वर्तकसे लेकर विष्किरपक्षियोंतकका मांस प्रसह जातियोंके पक्षियोंसे किंचित् अल्पगुणवाला होता है ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

बकरेके मांसका गुण।

नातिशीतगुरुस्निग्धं मांसमाजमदोषलम् ।
शरीरधातुसामान्यादनभिष्यन्दि बृंहणम् ॥ ६० ॥

बकरेका मांस न तो अधिक शीतल न अधिक भारी एवम् न अधिक स्निग्ध होता है अतएव दोषोंको कुपित नहीं करता। मनुष्योंके शरीर और धातुके अनुकूल होनेसे अनभिष्यन्दी तथा पुष्टकारी होता है ॥ ६० ॥

भेडआदिके मांसके गुण।

मांसं मधुरशीतत्वाद्गुरु बृंहणमाविकम् ।
योनावजाविके मिश्रे गोचरत्वादनिश्चिते ॥ ६१ ॥
सामान्येनोपदिष्टानां मांसानां स्वगुणैः पृथक् ।
केषाञ्चिद् गुणवैशेष्याद्विशेष उपदेक्ष्यते ॥ ६२ ॥

भेडका मांस मधुर शीतल होनेसे भारी तथा बृंहण है। बकरा और मेढा यह देखनेमें मिलेजुलेसे होते हैं और ग्राम्य तथा वन्य भेदसे कई प्रकारके होतेहैं। इस लिये इनके गुणोंको उपरोक्त भेदसे अलग अलग जानना। किसी २ जीवोंके मांसमें गुण विशेष होनेसे विशेषरूपसे वर्णन करते हैं ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

मोरके मांसका गुण।

दर्शनश्रोत्रमेधाग्निवयोवर्णस्वरायुषाम्।
बर्ही हिततमो बल्यो वातघ्नो मांसशुक्रलः ॥ ६३ ॥

मोरका मांस—दृष्टि, कान, बुद्धि, अग्नि, अवस्था, वर्ण, स्वर और आयु इनको हितकारी है तथा बलकारक, वातनाशक, मांसवर्द्धक एवम् वीर्यजनक है ॥ ६३ ॥

हंसके मांसका गुण।

गुरूष्णस्निग्धमधुराः स्वरवर्णबलप्रदाः।
बृंहणाः शुक्रलाश्चोक्ता हंसा मारुतनाशनाः ॥ ६४ ॥

हंसका मांस—भारी, गर्म, स्निग्ध, मधुर, स्वर और वर्णप्रद, बलकारक, बृंहण, शुक्रजनक, वातनाशक होता है ॥ ६४ ॥

मुर्गेके मांसका गुण।

स्निग्धाश्चोष्णाश्च वृष्याश्च बृंहणाः स्वरबोधनाः।
बल्याः परं वातहराः स्वेदनाश्चरणायुधाः ॥ ६५ ॥

मुर्गेका मांस—स्निग्ध, उष्ण, वृष्य, बृंहण, स्वरकारक, बलवर्द्धक, वातनाशक एवम् स्वेदकारक होता है ॥ ६५ ॥

धन्वानूप मांसके गुण।

गुरूष्णमधुरो नाति धन्वानूपनिषेवणात्।
तित्तिरिः सञ्जयेच्छीघ्रं त्रीन्दोषाननिलोल्वणान् ॥ ६६ ॥

अनूपसंचारी जीवोंका मांस तथा जंगलीजीवोंका मांस न अधिक भारी, न अधिक गर्म और न अधिक मधुर होता है। तीतरका मांस वातप्रधान सन्निपातको जीतनेवाला है ॥ ६६ ॥

कपिञ्जलके मांसका गुण।

पित्तश्लेष्मविकारेषु सरक्तेषु कपिञ्जलाः।
मन्दवातेषु शस्यन्ते शैत्यमाधुर्य्यलाघवात् ॥ ६७ ॥

कपिंजलका मांस—थोडे वायुवाले पित्त कफ विकार तथा रक्तविकारोंको जीतनेवाला है। क्योंकि यह शीतल, मधुर और हलका होता है ॥ ६७ ॥

लवाके मांसका गुण।

लावाः कषायमधुरा लघवोऽग्निविवर्द्धनाः।
सन्निपातप्रशमनाः कटुकाश्च विपाकतः ॥ ६८ ॥

लवाका मांस—कषाय, मधुर, हलका, अग्निवर्द्धक होता है तथा सन्निपातको शांत करता है। एवम् विपाकमें कटु होता है ॥ ६८ ॥

कबूतरोंके मांसका गुण ।

कषायमधुराः शीता रक्तपित्तनिबर्हणाः ।
विपाके मधुराश्चैव कपोता गृहवासिनः ॥ ६९ ॥
तेभ्यो लघुतराः किञ्चित् कपोता वनवासिनः ।
शीताः संग्राहिणश्चैव स्वल्पयूषाश्च ते मताः ॥ ७० ॥

घरमें रहनेवाले कबूतरका मांस–कषाय, मधुर, शीतल, रक्तपित्तनाशक तथा वनके रहनेवाले कबूतरोंका मांस–घरके कबूतरोंकी अपेक्षा हलका है, विपाकमें मधुर है, शीतल है, संग्राही है, थोडा यूषवाला है ॥ ६९ ॥ ६७ ॥

शुकमांसके गुण ।

शुकमांसं कषायाम्लं विपाके रूक्षशीतलम् ।
शोषकासक्षयहितं संग्राहि लघु दीपनम् ॥ ७१ ॥

तोतेका मांस–कसैला, विपाकमें अम्ल, रूक्ष तथा शीतल है । शोष, खांसी, क्षयमें अच्छा है, संग्राही, हलका और अग्निवर्द्धक है ॥ ७१ ॥

खरगोशके मांसका गुण ।

कषायविशदो रूक्षः शीतः पाके कटुर्लघुः ।
शशः स्वादुः प्रशस्तश्च सन्निपातेऽनिलावरे ॥ ७२ ॥

खरगोशका मांस–कसैला, विशद, रूक्ष, शीतल, पाकमें कटु, हलका और मधुर होता है । इसका मांसरस, हीनवात सन्निपातमें हितकर होता है ॥ ७२ ॥

चिडियाके मांसके गुण ।

चटका मधुराः स्निग्धा बलशुक्रविवर्द्धनाः ।
सन्निपातप्रशमनाः शमना मारुतस्य च ॥ ७३ ॥

चिडियाका मांस–मधुर, चिकना, बलवर्द्धक, शुक्रजनक, सन्निपातनाशक तथा वायुको शान्त करनेवाला होता है ॥ ७३ ॥

गीदडके मांसका गुण ।

मधुराः कटुकाः पाके त्रिदोषशमनाः शिवाः ।
लघवो बद्धविण्मूत्राः शीताश्चैणाः प्रकीर्त्तिताः ॥ ७४ ॥

गीदडका मांस–मधुर, पाकमें कटु और त्रिदोषको शान्त करनेवाला होता है । काले हरिणका मांस हलका, मल मूत्र विबंधक और शीतल होता है ॥ ७४ ॥

गोहा आदिमांसके गुण ।

गोधा विपाके मधुरा कषायकटुका रसे ।
वातपित्तप्रशमनी बृंहणी बलवर्द्धिनी ॥ ७५ ॥

गोहका मांस विपाकमें मीठा है, रसमें कषाय तथा कटु है एवम् वातपित्तनाशक बृंहण तथा बलवर्द्धक होता है ॥ ७५ ॥

शल्लको मधुराम्लस्तु विपाके कटुकः स्मृतः ।
वातपित्तकफघ्नश्च कासश्वासहरस्तथा ॥ ७६ ॥

सेहका मांस-मधुर है, अम्ल है, विपाकमें कटु है तथा वात, पित्त, कफ इनको नष्ट करता है एवम् कास, श्वासको हरता है ॥ ७६ ॥

रोहूमछलीके मांसके गुण ।

शैवलाहारभोजित्वात्स्वमस्य च विवर्जनात् ।
रोहितो दीपनीयश्च लघुपाको महाबलः ॥ ७७ ॥

रोहूमछली-सिवार खाती है और निद्रा रहित है इस लिये इसका मांस दीपन, लघुपाकी और अत्यन्त बलकारक है ॥ ७७ ॥

गुरूष्णमधुरा बल्या बृंहणाः पवनापहाः ।
मत्स्याः स्निग्धाश्च वृष्याश्च बहुदोषाः प्रकीर्त्तिताः ॥ ७८ ॥

अन्य मछलियां-भारी, उष्ण, मधुर, बलकारक, बृंहण, वातनाशक, स्निग्ध, वीर्यवर्द्धक तथा बहुतेरे दोषोंको करनेवाली होती हैं ॥ ७८ ॥

कछुएके मांसका गुण ।

बल्यो वातहरो वृष्यश्चक्षुष्यो बलवर्द्धनः ।
मेधास्मृतिकरः पथ्यः शोषघ्नः कूर्म उच्यते ॥ ७९ ॥

कूर्मका मांस-बलकारक, वातनाशक, वीर्यवर्द्धक, नेत्रोंको हितकारी, मेधा और स्मृतिका बढानेवाला, पथ्य एवम् शोषनाशक होता है ॥ ७९ ॥

स्नेहनं बृंहणं वृष्यं श्रमघ्नमनिलापहम् ।
वराहपिशितं बल्यं रोचनं स्वेदनं गुरु ॥ ८० ॥

सूअरका मांस-स्नेहन, बृंहण, वीर्यवर्द्धक, श्रमनाशक, वातहर, बलवर्द्धक, रुचिकारक, स्वेदजनक एवम् भारी होता है ॥ ८० ॥

गवयमांसका गुण ।

गवयं केवले वाते पीनसे विषमज्वरे ।
शुष्ककासश्रमात्यग्निमांसक्षयहितञ्च यत् ॥ ८१ ॥

गवेयका मांस–जिस जगह केवल वात ही प्रधान हो और कफ तथा पित्त न हो एवम् प्रतिश्याय एवम् विषमज्वरमें सूखी खांसी, भ्रम, भस्मकाग्नि और यक्ष्मा हो हितकारी होता है ॥ ८१ ॥

महिषमांसका गुण।

स्निग्धोष्णमधुरं वृष्यं माहिषं गुरु तर्पणम्।
दार्ढ्यं बृहत्त्वमुत्साहं स्वप्नञ्च जनयत्यपि ॥ ८२ ॥

भैंसेका मांस--चिकना, उष्ण, मधुर, वृष्य, बृंहण, शरीरको दृढ करनेवाला एवम् बृहत्त्व, साहस, निद्रा इनको उत्पन्न करनेवाला होता है ॥ ८२ ॥

अण्डोंके गुण।

धार्त्तराष्ट्रचकोराणां दक्षाणां शिखिनामपि।
चटकानाञ्च यानि स्युरण्डानि च हितानि च ॥ ८३ ॥
रेतःक्षीणेषु कासेषु हृद्रोगेषु क्षतेषु च।
मधुराण्यवपाकीनि सद्यो बलकराणि च ॥ ८४ ॥

हंस, चकोर, मुर्गा, मोर, चिडे इनके अंडे हृद्रोग और क्षतरोगमें हितकारी हैं तथा मधुर, अविपाकी, शीघ्र बलवर्द्धक होते हैं ॥ ८३–८४ ॥

मांसकी उत्कृष्टता।

शरीरबृंहणे नान्यद् दार्ढ्यं मांसाद्विशिष्यते।
इति वर्गस्तृतीयोऽयं मांसानां परिकीर्त्तितः ॥ ८५ ॥

इति मांसवर्गः।

जितने प्रकारके पदार्थ शरीरको पुष्ट करनेवाले हैं उनमें मांस प्रधान होता है। इस प्रकार यह मांसवर्गनामक तीसरा वर्ग कथन किया गया ॥ ८५ ॥

अथ शाकवर्गः।

पाठातुषाशठीशाकं वास्तुकं सुनिषण्णकम्।
विद्याद् ग्राहि त्रिदोषघ्नं भिन्नवर्चस्तु वास्तुकम् ॥ ८६ ॥

पाठा, ऊषा, साठी, सुनिषण्ण (चौपतिया शाक) यह सब शाक ग्राही तथा त्रिदोषनाशक हैं और बथुवेका शाक मलवेधक और त्रिदोषनाशक होताहै ॥ ८६ ॥

१–सूत्रस्थाने पञ्चविंशेऽध्याये, षड्विंशतितमे सूत्रे अहिततमेषु गोमांसस्य गणना कृता अतः अहिततमः गव्यमांसो विषमज्वरेप्यहिततम एव परं तथापि गव्यमिति पाठान्तरं दृष्टम्।

मकोयके शाकका गुण।

त्रिदोषशमनी वृष्या काकमाची रसायनी ।
नात्युष्णशीतवीर्य्या च भेदनी कुष्ठनाशिनी ॥ ८७ ॥

काकमाची (मकोय) का शाक त्रिदोषको शान्त करनेवाला, वीर्यवर्द्धक, रसायन, वीर्यमें न बहुत गर्म और न बहुत शीतल, मलवेधक एवम् कुष्ठनाशक होताहै ॥८७॥

राजक्षवकके गुण।

राजक्षवकशाकन्तु त्रिदोषशमनं लघु ।
ग्राहिशस्तं विशेषेण ग्रहण्यर्शोविकारिणाम् ॥ ८८ ॥

राजक्षवक, जीवक, सर्सों, दुग्धिकाका शाक त्रिदोषको शान्त करनेवाला, हलका विशेषकर संग्रहणी और अर्शरोगमें हितकारी है ॥ ८८ ॥

कालशाक-करालशाक।

कालशाकन्तु कटुकं दीपनं गरशोफजित् ।
लघूष्णं वातलं रूक्षं करालं शाकमुच्यते ॥ ८९ ॥

कालशाक (नाडीका शाक) कटु, दीपन, विषविकार तथा सूजनको नष्ट करनेवाला होताहै। करालशाक (काली तुलसीका शाक)--हलका, उष्ण, वातकारक तथा रूक्ष होताहै ॥ ८९ ॥

चांगेरीके गुण।

दीपनी चोष्णवीर्या च ग्राहिणी कफमारुते ।
प्रशस्यतेऽम्लचाङ्गेरी ग्रहण्यर्शोहिता च सा ॥ ९० ॥

अम्लचांगेरी (चूका) का शाक अग्निदीपन, उष्णवीर्य, ग्राही तथा कफ और वायुके रोगोंमें, ग्रहणीमें एवम अर्शरोगमें हितकारी होताहै ॥ ९० ॥

पोईका शाक।

मधुरा मधुरा पाके भेदनी श्लेष्मवर्द्धिनी ।
वृष्या स्निग्धा च शीता च मदघ्नी चाप्युपोदका ॥ ९१ ॥

उपोदकी (पोई) का शाक मधुर, पाकमें भी मधुर, मलवेधक, कफवर्द्धक, वृष्य, स्निग्ध, शीतल एवम् मदविनाशक होताहै ॥ ९१ ॥

चौलाईका शाक।

रूक्षो मदविषघ्नश्च प्रशस्तो रक्तपित्तिनाम् ।
मधुरो मधुरः पाके शीतलस्तण्डुलीयकः ॥ ९२ ॥

चौलाईका शाक रूक्ष, मदविकार तथा विषविकारनाशक, रक्तपित्तमें हितकारी, रस तथा पाकमें मधुर एवम् शीतल होताहै ॥ ९२ ॥

मण्डूकपर्ण्यादिशाकोंके गुण।

मण्डूकपर्णी वेत्राग्रं कुचेला वनतिक्तकम्।
कर्कोटकावल्गुजकौ पटोलं शकुलादनी।
वृषपुष्पाणि शार्ङ्गेष्ठा केवूकं सकटिल्लकम् ॥ ९३ ॥
नाडी कलायं गोजिह्वा वार्ताकं तिलपर्णिका।
कुलकं कर्कशं निम्बं शाकं पर्पटकञ्च यत्।
कफपित्तहरं तिक्तं शीतं कटु विपच्यते ॥ ९४ ॥

मण्डूकपर्णी (ब्राह्मी) बेंतकी कोंपल, कुचेला (विद्धकर्णी), वनतिक्तक, ककौडाके फल, वल्गुज (बनमूल), पटोल, शकुलादनी (कंचटशाक), वृष (अडूसा या ऋषभक) के फूल, शार्ङ्गेष्ठा (महाकरंज), केवूक, करैला, नाडी, मटर, गोभी, बडीकटेरीके फल, तिलपर्णी, कुलक (करैलीकी जाति), छोटा ककौडा, नीम, पर्पट ये सब कफपित्तनाशक, कडुए, शीतल एवम् पाकमें कटु होतेहैं ॥ ९३ ॥ ९४ ॥

सूप्य शाकोंके गुण।

सर्वाणि सूप्यशाकानि फञ्जी चिल्लीकतुम्बुकः।
आलुकानि च सर्वाणि सपत्राणि कटिञ्जरः।
शणशाल्मलिपुष्पाणि कर्वुदारः सुवर्चला ॥ ९५ ॥
निष्पावः कोविदारश्च पत्तुरश्चाखुपर्णिका।
कुमारजीवो लोट्टाकः पालङ्क्यो मारिषस्तथा ॥ ९६ ॥
कलम्बीनालिकाश्मर्युः कुसुम्भवृकधूमकौ।
लक्ष्मणश्च प्रपुन्नाडो नालिनीका कुवेरकः ॥ ९७ ॥
लोणिका यवशाकञ्च कूष्माण्डकमवल्गुजः।
यातुकः शालकल्याणी त्रिपर्णी पीलुपर्णिका ॥ ९८ ॥
शाकं गुरु च रूक्षञ्च प्रायो विष्टभ्य जीर्यति।
मधुरं शीतवीर्य्यञ्च पुरीषस्य च भेदनम् ॥ ९९ ॥

सब प्रकारके सूप्यशाक (मटर, सेम आदि), फंजी, चिल्लिक, तुंबा, सब प्रकारके आलू तथा आलुओंके पत्र, कटिंजर, सण तथा सेमरके फूल, सफेद कच-

नारकी कली, सुवर्चला (हुलहुल), सेमरके फूल, लालकचनार, पतूर, मूसाकर्णी, जीवकशाक, नाडीशाक, पालक, रामदानेका शाक (लालपत्तेवाला बड़ावाथु), कलाचशाक, नालिकाशाक, स्मर्यु (कौंचकीफलीका शाक) कसूम, वृकधूमक, लक्ष्मणा, पंमार (पनवाड) कमलकी डण्डी, शहतूत, सलोनक, यवशाक, पेठा, बावची, श्वेत शालपर्णी, जीवन्ती, हंसपदी, पीलुपर्णी इन सबके शाक गुरु, रूक्ष, देरमें पचनेवाले, मीठे, शीतवीर्य तथा मलवेधक होते हैं ॥ ९८–९९ ॥

शाकोंकी साधारण विधि।

स्विन्नं निष्पीडितरसं स्नेहाढ्यं तत्प्रशस्यते।
शणस्य कोविदारस्य कर्बुदारस्य शाल्मलेः ॥ १०० ॥
पुष्पं ग्राहि प्रशस्तञ्च रक्तपित्ते विशेषतः ॥ १०१ ॥

सब सागोंको पहिले उबालकर निचोड़ देना चाहिये फिर उसको घी आदिमें सिद्ध कर खाना उत्तम कहा है। सणके फूल, दोनों प्रकारोंके कचनारोंके फूल, सेमलके फूल ये सब संग्राही तथा रक्तपित्तमें विशेष हितकारी होते हैं ॥ १००॥१०१॥

अन्य नानाविध शाकोंके गुण।

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षपद्मादिपल्लवाः।
कषायाः स्तम्भनाः शीता हिताः पित्तातिसारिणाम् ॥ १०२॥
वायुं वत्सादनी हन्यात्कफं गण्डीरचित्रकौ।
श्रेयसी बिल्वपर्णी च बिल्वपत्रन्तु वातनुत्।
भाण्डी शतावरी शाकं बला जीवन्तिजञ्च यत् ॥ १०३ ॥
पर्वण्याः पर्वपुष्प्याश्च वातपित्तहरं स्मृतम्।
लघु भिन्नशकृत्तिक्तं लाङ्गुलक्युरुवूकयोः ॥ १०४ ॥

बड़, गूलर, पीपल, पिलखन और कमल आदिकोंके पत्र–कसैले, स्तम्भनकर्त्ता, शीतवीर्य तथा पित्तके अतिसारवालोंको हितकारक होते हैं। गिलोयके पत्रोंका शाक वातनाशक होता है। गण्डीर और चित्रकके पत्रोंका शाक कफनाशक होता है। गजपीपल और बिल्वपर्णी तथा बेलके पत्र वातनाशक होते हैं। भाण्डीशाक तथा शतावरीका शाक, बलाकाशाक, जीवन्तीका शाक, पर्वणीशाक, पर्वपुष्प यह सब वात, पित्तनाशक होते हैं। लांगुलीके पत्र और एरंडके पत्र हल्के और मलवेधक होते हैं। (लांगुलीका कन्द तीक्ष्ण विष होता है) ॥ १०२--१०४ ॥

तिलवेतसशाकञ्च शाकं पञ्चांगुलस्य वा।
वातलं कटु तिक्ताम्लमधोमार्गप्रवर्त्तकम् ॥ १०५ ॥

रूक्षाम्लमुष्णं कौसुम्भं कफघ्नं पित्तवर्द्धनम् ।
त्रपुसैर्वारुके स्वादुगुरुविष्टम्भिशीतलम् ॥ १०६॥
मुखप्रियञ्च रूक्षञ्च मूत्रलं त्रपुसं त्वति ।
एर्वारुकञ्च संपक्वं दाहतृष्णाक्लमार्त्तिनुत् ।
वर्चोभेदीन्यलाबूनि रूक्षशीतगुरूणि च ॥ १०७ ॥

तिलशाक तथा बेतका शाक तथा क्षुद्र एरंडका शाक वातल, कटु, तिक्त, अम्ल और मलको निकालनेवाला है ॥ कुसुम्भेका शाक--रूक्ष, अम्ल, उष्ण, कफनाशक तथा पित्तवर्द्धक होता है। खीरे और ककडीका शाक--मधुर, भारी, विष्टम्भकारक, शीतल, सुस्वादु और रूक्ष होता है। इनमें खीरा बहुत मूत्रको लानेवाला और पकी हुई आर्या ककडी-दाह, तृषा और बलगमकी पीडाको शान्त करती है। तुंबेका शाक मलवेधक, रूक्ष और भारी होता है ॥ १०५--१०७ ॥

चिर्भिटयेर्वारुके तद्वद्वर्चोभिदाहिते तु ते ।
कूष्माण्डमुक्तं सक्षारं मधुराम्लं तथा लघु ॥ १०८ ॥
सृष्टमूत्रपुरीषञ्च सर्वदोषनिबर्हणम् ।
केलूटञ्च कदम्बञ्च नदीमाषकमैन्दुकम् ।
विशदं गुरुशीतं च समभिष्यन्दि चोच्यते ॥ १०९ ॥

चिरभिट (चचेंड) और तर्बूजका शाक--मलको वेधन करनेवाला और हितकर्त्ता होता है। कुंभडा (कोंहडा और कद्दू) का शाक--मधुर, अम्ल, क्षार एवं हलका होता है तथा मलमूत्रको निकालनेवाला और सर्व दोषोंको हरनेवाला होता है। केलूट, कदम्ब, नदीमाष, ऐन्दुक ये सब--विशद, भारी, शीतल तथा अभिष्यन्दी होते हैं ॥ १०८ ॥ १०९ ॥

उत्पलानि कषायाणि पित्तरक्तहराणि च ।
तथा तालप्रलम्बञ्च उरःक्षतरुजापहम् ॥ ११० ॥
खर्जूरं तालशस्यञ्च रक्तपित्तक्षयापहम् ॥
भरूटं बिसशालूकं क्रौञ्चादनकशेरुकम् ।
शृङ्गाटकं कलोड्यञ्च गुरु विष्टम्भि शीतलम् ॥ १११ ॥
कुमुदोत्पलनालास्तु सपुष्पाः सफलाः स्मृताः ।
शीताः स्वादुकषायास्तु कफमारुतकोपनाः ॥ ११२ ॥

सब प्रकारके कमल--कसैले और रक्तपित्त नाशक होते हैं। तालजटा (ताडकी कोमल जटा) उरःक्षत विकारको शान्त करता है। खजूरकी कोंपल--रक्तपित्त और क्षयको नष्ट करती है॥ कल्हारका कन्द, भिस, शालूक, पद्मबीज, कसेरू, सिंघाडा, छोटा कमलकन्द ये सब भारी, विष्टंभकर्ता और शीतल होते हैं॥ कुमुद और उत्पलकी नाल और इनके फूल, फल शीतल, मधुर, कषाय तथा कफ वातको कुपित करनेवाले होते हैं॥ ११०-११२॥

कषायमीषद्विष्टम्भि रक्तपित्तहरं स्मृतम्।
पौष्करन्तु भवेद्वीजं मधुरं रसपाकयोः॥ ११३॥

पुष्करनामक कमलके बीज और फूल तथा नाल-विष्टम्भकर्त्ता, रक्तपित्तनाशक, रस तथा विपाकमें मधुर होते हैं॥ ११३॥

बल्यः शीतो गुरुः स्निग्धस्तर्पणो बृंहणात्मकः।
वातपित्तहरः स्वादुर्वृष्यो मुञ्जातकः स्मृतः॥ ११४॥

मुंजातक-बलकारक, शीतल, गुरु, स्निग्ध, बृंहण, तर्पण, वातपित्तनाशक, स्वादु और वीर्यवर्द्धक होता है॥ ११४॥

विदारीकन्दके गुण।

जीवनो बृंहणो वृष्यः कण्ठ्यः शस्तो रसायने।
विदारीकन्दो बल्यश्च मूत्रलः स्वादुशीतलः।
अम्लीकायाः स्मृतः कन्दो ग्रहण्यर्शोहितो लघुः॥ ११५॥
नात्युष्णः कफवातघ्नो ग्राहि शस्तो मदात्यये।
त्रिदोषं बद्धविण्मूत्रं सार्षपं शाकमुच्यते॥ ११६॥

विदारीकंद जीवन, बृंहण, वीर्यवर्द्धक, स्वरकारक और रसायनमें श्रेष्ठ, बलकारक, मूत्र लानेवाला, मधुर, शीतल है। अम्लीका कन्द--ग्रहणी और अर्शमें हितकारी है, हल्का है, अधिक गर्म नहीं है, कफवातको हरता है, संग्राही है, मदात्ययरोगमें हितकारक है। सरसोंका शाक-तीनों दोषोंको कुपित करनेवाला, मलमूत्रको बांधनेवाला होता है॥ ११५॥ ११६॥

तद्वत् पिण्डालुकं विद्यात्कन्दत्वाच्च मुखप्रियम्।
सर्पच्छत्रकवर्ज्यास्तु बह्वयोन्याश्छत्रजातयः॥ ११७॥
शीताः पीनसकर्त्र्यश्च मधुरा गुर्व्य एव च।
चतुर्थः शाकवर्गोऽयं पत्रकन्दफलाश्रयः॥ ११८॥

इति शाकवर्गः।

पिंडआलूका शाक भी सरसोंके समान गुणवाला है परंतु खानेमें इसका कंद मुखको प्रिय मालूम होता है। सर्पछत्रकके सिवाय अन्य सब प्रकारके छत्रजाति (जो बरसातमें लकडी तथा जमीनपर उत्पन्न होते हैं) शीतल, प्रतिश्याय कर्त्ता, मधुर तथा भारी होते हैं। इस प्रकार शाकवर्गनामक पत्र, कन्द, फल शाकाश्रित यह चौथा वर्ग समाप्त हुआ ॥ ११७ ॥ ११८ ॥

अथ फलवर्गः।

दाखके गुण।

तृष्णादाहज्वरश्वासरक्तपित्तक्षतक्षयान्।
वातपित्तमुदावर्तं स्वरभेदं मदात्ययम् ॥ ११९ ॥
तिक्तास्यतामास्यशोषं काशञ्चाशु व्यपोहति।
मृद्वीका बृंहणी वृष्या मधुरास्निग्धशीतला ॥ १२० ॥

मुनक्का--तृषा, दाह, ज्वर, श्वास, रक्तपित्त, क्षत, क्षय, वातपित्त, उदावर्त्त, स्वरभेद, मदात्यय, मुखकी कडुआहट, शोष, खांसी इन सबको नष्ट करता है तथा पुष्टिकारक, वीर्यवर्द्धक, मधुर, स्निग्ध और शीतल है ॥ ११९ ॥ १२० ॥

खजूरके गुण।

मधुरं बृंहणं वृष्यं खर्जूरं गुरु शीतलम्।
क्षयेऽभिघाते दाहे च वातपित्ते च तद्धितम् ॥ १२१ ॥

खजूरका फल--मधुर, पुष्टिकारक, वीर्यवर्द्धक, भारी, शीतल होता है तथा क्षय, अभिघात, दाह और वातपित्तमें हितकारक होता है ॥ १२१ ॥

फल्गु-फालसा-महुआ।

तर्पणं बृंहणं फल्गु गुरु विष्टम्भि शीतलम्।
परूषकं मधूकञ्च वातपित्ते च शस्यते ॥ १२२ ॥

कठूमरका फल--तृप्तिकारक, बृंहण, भारी, विष्टम्भी और शीतल होता है। फालसा और महुआ--वातपित्तमें हितकारी होते हैं ॥ १२२ ॥

आंवडेके गुण।

मधुरं बृंहणं बल्यमाम्रातं तर्पणं गुरु।
सस्नेहं श्लेष्मलं शीतं वृष्यं विष्टभ्य जीर्य्यति ॥ १२३ ॥

पका हुआ आमडाका फल--पुष्टिकारक, बलवर्द्धक, तर्पण, मीठा, कफकारक, शीतल, वृष्य और विष्टम्भ होकर पाचन होनेवाला है ॥ १२३ ॥

ताल-नारियल ।

तालशस्यानि सिद्धानि नारिकेलफलानि च ।
बृंहणस्निग्धशीतानि बल्यानि मधुराणि च ॥ १२४ ॥

सिद्ध किया ताडका फल और नारियलका फल पुष्टिकर्ता, चिकना, शीतल, बलकारक और मधुर होता है ॥ १२४ ॥

भव्यके गुण ।

मधुराम्लकषायञ्च विष्टम्भि गुरु शीतलम् ।
पित्तश्लेष्महरं भव्यं ग्राहि वक्त्रविशोधनम् ॥ १२५ ॥

भव्यफल--मीठा, खट्टा, कसैला, विष्टम्भकर्त्ता, शीतल, भारी, पित्तकफनाशक, संग्राही और मुखका शोधनकर्त्ता है ॥ १२५ ॥

कच्चे फलोंके गुण ।

अम्लं परूषकं द्राक्षा बदर्याण्यारुकाणि च ।
पित्तश्लेष्मप्रकोपीनि कर्कन्धुलकुचान्यपि ॥ १२६ ॥

खट्टा फालसा, दाख, बेर, आड़ू, वनबेर, बडहर यह सब पित्त कफको कुपित करनेवाले होते हैं ॥ १२६ ॥

पके आरुकके गुण ।

नात्युष्णं गुरु सम्पक्कं स्वादुप्रायं मुखप्रियम् ।
बृंहणं जीर्यति क्षिप्रं नातिदोषलमारुकम् ॥ १२७ ॥

पकाहुआ मीठा आड़ू--अधिक गर्म नहीं है, मीठा है, मुखको प्रिय है, पुष्टिकारक है, शीघ्र पचनेवाला है तथा दोषोंको अधिक कुपित करनेवाला नहीं है ॥ १२७ ॥

पालेवतके गुण ।

द्विविधं शीतमुष्णञ्च मधुरञ्चाम्लमेव च ।
गुरु पालेवतं ज्ञेयमरुच्यत्यग्निनाशनम् ॥ १२८ ॥

पारावतफल--शीतल और उष्ण दो प्रकारका होताहै । जो मीठा होताहै वह शीतल है और खट्टा उष्ण होता है । यह दोनों प्रकारके अरुचि तथा भस्मकाग्निको नष्ट करनेवाले हैं ॥ १२८ ॥

खम्भारी-तूद ।

भव्यादल्पान्तरगुणं काश्मर्य्यफलमुच्यते ।
तथैवाल्पान्तरगुणं तूदमम्लं परूषकम् ॥ १२९ ॥

काश्मरी (कंभारी) फल--भव्यफलसे गुणोंमें किंचित् न्यून होताहै एवम् खट्टा शहतूत फालसेसे गुणोंमें न्यून होताहै ॥ १२९ ॥

टंकके गुण।

कषायमधुरं टङ्कं वातलं गुरुशीतलम्।
कपित्थं विषकण्ठघ्नमामं संग्राहि वातलम्॥ १३०॥
मधुराम्लकषायत्वात्सौगन्ध्याच्च रुचिप्रदम्।
परिपक्वं स दोषघ्नं विषघ्नं ग्राहि गुर्वपि॥ १३१॥

टंक (नील कपित्थ) पहाडी कच्चा कैथका फल-कषाय, वातकारक, भारी और शीतल होताहै। कैथका फल-विषनाशक, स्वरको बिगाडनेवाला, संग्राही और वातकारक होताहै। पकाहुआ कैथका फल-मधुर, अम्ल, कषाय, सुगंधयुक्त होनेसे रुचिकारक, त्रिदोषनाशक, विषनाशक, संग्राही और भारी होताहै॥१३०॥१३१॥

बिल्वके गुण।

दुर्जरं बिल्वसिद्धन्तु दोषलं पूतिमारुतम्।
स्निग्धोष्णतीक्ष्णं तद्बालं दीपनं कफवातजित्॥ १३२॥

पकाहुआ बिल्वफल-दुर्जर, दोषयुक्त, वायुमें गन्धका फैलानेवाला, चिकना और गर्म और तीक्ष्ण होता है। कच्चा बिल्वफल--दीपन और कफ वातको जीतनेवाला होता है॥ १३२॥

आमके गुण।

वातपित्तकरं बालमापूर्णं पित्तवर्द्धनम्।
पक्वमाम्रं जयेद्वायुं मांसशुक्रबलप्रदम्॥ १३३॥

बहुत छोटा आम्रका फल रक्तपित्तको करनेवाला होता है। कच्चा आमका फल पित्तको कुपित करताहै। पकाहुआ आमका फल वातनाशक, मांसवर्द्धक, शुक्रजनक तथा बलकारक होता है॥ १३३॥

जामुनके गुण।

कषायमधुरप्रायं गुरु विष्टम्भि शीतलम्।
जाम्बवं कफपित्तघ्नं ग्राहि वातकरं परम्॥ १३४॥

पकेहुए जामुन--कषाय, मधुर, भारी, विष्टम्भकारक, शीतल, कफपित्तनाशक संग्राही और वायुको कुपित करते हैं॥ १३४॥

बेरके गुण।

मधुरं बदरं स्निग्धं भेदनं वातपित्ताजित्।
तच्छुष्कं कफवातघ्नं पित्तेन च विरुध्यते।
कषायमधुरं शीतं ग्राहि सिञ्चितिकाफलम्॥ १३५॥

पके हुए बेर-स्निग्ध, मधुर, भेदनकर्ता, वातपित्तनाशक होते हैं सूखेहुए बेर वात और कफको हरते हैं तथा पित्तके विरोधी नहीं हैं। सिंचितिका फल-कषाय, मधुर, शीतल और संग्राही होताहै ॥ १३५ ॥

गङ्गेरी-करील-बिम्बी-तोदन-धन्वन।

गाङ्गेरुकी करीरं च बिम्बी तोदनधन्वनम्।
मधुरं सकषायञ्च शीतं पित्तकफापहम् ॥ १३६ ॥

गांगेरुकी (नागबला) का फल और करीरके फल तथा कन्दूरी, तोदन, धन्वन यह सब फल मधुर किंचित् कषाय, शीतल और पित्तकफको हरनेवाले हैं ॥ १३६ ॥

खिरनी-पनस-केला-चिरौंजी।

क्षीरिकं पनसं मोचं राजादनफलानि च।
स्वादूनि सकषायाणि स्निग्धशीतगुरूणि च ॥ १३७ ॥

खिरनी, पकाहुआ कटहर, केलेकी फली, चिरौंजी ये सब मीठे, कषाय, स्निग्ध, शीतल और भारी होते हैं ॥ १३७ ॥

लवलीके गुण।

कषायविशदत्वाच्च सौगन्ध्याच्च रुचिप्रदम्।
अवदंशक्षमं रूक्षं वातलं लवलीफलम् ॥ १३८ ॥

लवलीके फल कषाय और विशद होनेसे तथा सुगंधयुक्त होनेसे रुचिकारक होते हैं तथा चटनी आदिमें मिलाने योग्य, रूक्ष तथा वातकारक होते हैं ॥ १३८ ॥

कदम्बादिके गुण।

नीपं सभार्गकं पीलु तृणशून्यं विकङ्कतम्।
प्राचीनामलकञ्चैव दोषघ्नं गरहारि च ॥ १३९ ॥

कदम्ब, भार्ङ्गीके फल, पीलूफल, केतकीफल, विकंकतके फल, प्राचीदिशोद्भव आमलकेके फल यह सब दोषनाशक तथा गरनाशक होते हैं ॥ १३९ ॥

गोंदीफलआदिका गुण।

इंगुदं तिक्तमधुरं स्निग्धोष्णं कफवातजित्।
तिन्दुकं कफपित्तघ्नं कषायमधुरं लघु ॥ १४० ॥

गोंदनीके फल-कड़ुए, मधुर, चिकने, गर्म एवम् कफ और वातको जीतनेवाले होते हैं। तिंदुकफल (तेंदु) कफपित्तनाशक, कषाय, मधुर और हलके होते हैं ॥ १४० ॥

आंवलेका गुण।

विद्यादामलके सर्वान् रसान् लवणवर्जितान्।
रूक्षं स्वादु कषायाम्लं वातपित्तहरं परम् ॥ १४१ ॥

आँवलेमें-लवणरसके विना, मीठा, खट्टा, कडुआ, कसैला, चरपरा ये पांच रस हैं। आँवला रूक्ष, स्वादु, कषाय, अम्ल और कफ पित्तनाशक है ॥ १४१ ॥

बहेडेके गुण।

रसासृङ्मांसमेदोजान्दोषान्हन्ति विभीतकम्।
स्वेदमेदःकफोत्क्लेदपित्तरोगविनाशनम् ॥ १४२ ॥

बहेडा-रस, रक्त, मांस और मेदके सम्पूर्ण दोषोंको नष्ट करता है तथा स्वेद, मेद, कफके उत्क्लेश और पित्त विकारोंको नष्ट करता है ॥ १४२ ॥

अनारका गुण।

अम्लं कषायमधुरं वातघ्नं ग्राहि दीपनम्।
स्निग्धोष्णं दाडिमं हृद्यं कफपित्ताविरोधि च ॥ १४३ ॥

अनार-खट्टा, कषाय, मधुर, वातघ्न, ग्राही, दीपन, स्निग्ध, उष्ण, हृदयको प्रिय तथा कफ और पित्तसे विरोध न करनेवाला होता है ॥ १४३ ॥

रूक्षाम्लं दाडिमं यत्तु तत्पित्तानिलकोपनम्।
मधुरं पित्तनुत्तेषां तद्धि दाडिममुत्तमम् ॥ १४४ ॥

खट्टा अनार-रूक्ष, पित्तजनक और वातको कुपित करनेवाला होता है। मीठा अनार-पित्तको नष्ट करता है। इन दोनों प्रकारके अनारोंमें मीठा अनार उत्तम होता है ॥ १४४ ॥

वृक्षाम्लके गुण।

वृक्षाम्लं ग्राहि रूक्षोष्णं वातश्लेष्मणि शस्यते।
आम्लिकायाः फलं शुष्कं तस्मादल्पान्तरं गुणैः ॥ १४५ ॥

तिंतिडीक-संग्राही, रूक्ष, गर्म एवम् वात, कफको नाश करनेवाला है। पका हुआ इमलीका फल तिंतिडीकसे किंचित् हीनगुण होता है ॥ १४५ ॥

अमलवेत तथा बिजौरेके गुण।

गुणैस्तैरेव संयुक्तं भेदनं त्वम्लवेतसम्।
शूलेऽरुचौ विबन्धे च मन्देऽग्नौ मद्यविक्षये ॥ १४६ ॥
हिक्काकासे च श्वासे च वम्यां वर्चोगदेषु च।
वातश्लेष्मसमुत्थेषु सर्वेष्वेतेषु दिश्यते ॥ १४७ ॥
केशरं मातुलुङ्गस्य लघुशीतमतोऽन्यथा।

रोचनो दीपनो हृद्यः सुगन्धिस्त्वग्निवर्जितः ।
कर्चूरः कफवातघ्नः श्वासहिक्कार्शसां हितः ॥ १४८ ॥

अम्लवेत--तिंतिडीकके समान गुणवाला तथा मलको भेदन करनेवाला होता है बिजौरेकी केशर--शूल, अरुचि, विबन्ध, मन्दाग्नि, मदात्यय, हिचकी, श्वास, खांसी, वमन, मलरोग तथा वात और कफसे उत्पन्न भये संपूर्ण रोग इन सबमें हितकारक है तथा शीतल और हल्की होती है। बिजौरेकी केशरके सिवाय छिलका आदि अन्य २ अंगोंमें अन्य गुण होते हैं। छिला हुआ कचूरका फल रुचिकारक, अग्निदीपन, हृदयको प्रिय, सुगंधित, कफ, वातको नष्ट करनेवाला, हिचकी और बवासीरमें हितकारक होता है ॥ १४६--१४८ ॥

नारंगीके गुण।

मधुरं किञ्चिदम्लं च हृद्यं भक्तप्ररोचनम् ।
दुर्जरं वातशमनं नागरङ्गफलं गुरु ॥ १४९ ॥

नारंगीका फल--दुर्जर, वातनाशक, भारी, मीठा, किंचित् अम्ल, हृदयको प्रिय तथा भोजनमें रुचिका करनेवाला है ॥ १४९ ॥

बादामादिके गुण।

वातामाभिषुकाक्षोटमकूलकनिकोचकाः ॥ १५० ॥
गुरूष्णस्निग्धमधुराः सोरुमाला बलप्रदाः ।
वातघ्ना बृंहणा वृष्याः कफपित्ताभिवर्द्धनाः ॥ १५१ ॥

बादाम, पिस्ता, अखरोट, मकूलक (किसीके मतमें यह भी अखरोटकी जाति है), निकोचक (चिलगोजा), उरुमाणफल इन सब फलोंकी मज्जा गुरु, उष्ण, स्निग्ध, मधुर, बलवर्द्धक, वातनाशक, पुष्टिकारक, वीर्यवर्द्धक एवम् कफ और पित्तको बढानेवाली होती है ॥ १५० ॥ १५१ ॥

पियालके गुण।

पियालमेषां सदृशं विद्यादौष्ण्यं विना गुणैः ।
श्लेष्मलं मधुरं शीतं श्लेष्मातकफलं गुरु ॥ १५२ ॥

चिरौंजी गुणोंमें उपरोक्त फलोंकी मज्जाके समान गुणवाली है परन्तु पित्तको उत्पन्न नहीं करती। लसोढा--कफकारक, मधुर, शीतल और भारी होता है (खुष्क खांसीको निकालनेवाला है) ॥ १५२ ॥

अंकोटके गुण।

श्लेष्मलं गुरु विष्टम्भि चांकोटफलमग्निजित् ।
गुरूष्णमधुरं रूक्षं केशघ्नं च शमीफलम् ॥ १५३ ॥

अंकोटफल--कफकारक, भारी, विष्टम्भी एवम् क्षुधानाशक होता है । (अंकोट नाम ढेराका है)। शमीफल--भारी, गर्म, मधुर, शीतल एवम् केशोंको नष्ट करनेवाला होता है । (कोई शमीफलका अर्थ सेमलके फल करते हैं परन्तु शमी नाम जंडके वृक्षका है) ॥ १५३ ॥

कंजेके गुण ।

विष्टम्भयति कारञ्जं पित्तश्लेष्माविरोधि च ।
आम्रातकं दन्तशठमम्लं सकरमर्दकम् ॥ १५४ ॥
रक्तपित्तकरं विद्यादैरावतकमेव च ।
वातघ्नं दीपनञ्चैव वार्ताकं कटुतिक्तकम् ॥ १५५ ॥

करंजफल--विष्टम्भकर्त्ता और पित्त, कफसे अविरोधी होता है । पहाडी अम्बाडा, जंभीरी, करौंदा ये सब अम्ल, रक्तपित्तकारक होते हैं एवम् पहाडी खट्टे नींबुओंमें भी यही गुण होते हैं । वार्ताकफल--वातनाशक, दीपन, कटु और तिक्त होता है । (वार्ताकनाम वैंगनका है परन्तु यह वार्ताक अन्नफल विशेष है) ॥ १५४ ॥ १५५ ॥

पित्तपापडाका गुण ।

वातलं कफपित्तघ्नं विद्यात् पर्पटकीफलम् ।
पित्तश्लेष्मघ्नमम्लञ्च वातिकञ्चाक्षिकीफलम् ॥ १५६ ॥

पाखरका फल--कफ, पित्तनाशक होता है । अच्छूका फल (हीहर) पित्त, कफनाशक, खट्टा एवम् वातकरक होता है ॥ १५६ ॥

मधुराण्यविपाकीनि वातपित्तहराणि च ।
अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षन्यग्रोधानां फलानि च ॥ १५७ ॥

पीपर, गूलर, पिलखन, बड इनके फल मधुर, देरमें परिपक्व होनेवाले तथा वातपित्त हरनेवाले होते हैं ॥ १५७ ॥

भिलावेकी गुठलीके गुण ।

भल्लातकास्थ्यग्निसमं त्वङ्मांसं स्वादुशीतलम् ॥ १५८ ॥
पञ्चमः फलवर्गोऽयमुक्तः प्रायोपयोगिकः ॥ १५९ ॥

इति फलवर्गः ।

भिलावेके फलोंकी मज्जा--अग्निके समान गर्म है तथा उसकी छाल और गुद्दा विपाकमें मधुर तथा शीतल होताहै । भिलावा विना युक्तिसे खाया त्वचा और मांसमें सूजन प्रगट करता है, दांतोंको गिरादेताहै तथा विषके समान है ।(यदि युक्ति-

पूर्वक सेवन कियाजाय तो अमृतके समान रसायन होताहै) इस प्रकार उपयोगी फलोंसे युक्त फलवर्ग नामक यह पञ्चमवर्ग कहागया ॥ १५८ ॥ १५९ ॥

अथ हरितवर्गः।

अदरख सोंठके गुण।

रोचनं दीपनं वृष्यमार्द्रकं विश्वभेषजम्।
वातश्लेष्मविबन्धेषु रसस्तस्योपदिश्यते ॥ १६० ॥

अदरक और सोंठ रुचिकारक, दीपन और वृष्य है। अदरखका रस-वात और कफके विबंधको फाड देताहै ॥ १६० ॥

जंभीरीके गुण।

रोचनो दीपनस्तीक्ष्णः सुगन्धिर्मुखबोधनः।
जम्बीरः कफवातघ्नः क्रिमिघ्नो भुक्तपाचनः ॥ १६१ ॥

जंभीरी नींबू-रुचिकारक, दीपन, तीक्ष्ण, सुगंधित, मुखको शोधन करनेवाला, कफ और वात तथा कृमियोंको नष्ट करनेवाला और भोजन किये आहारको पचानेवाला होताहै ॥ १६१ ॥

मूलीके गुण।

बालं दोषहरं वृद्धं त्रिदोषं मारुतापहम्।
स्निग्धसिद्धं विशुष्कन्तु मूलकं कफवातजित् ॥ १६२ ॥

कच्चीमूली-त्रिदोषको नष्ट करती है। पकीहुई मूली-त्रिदोषकारक होती है। चिकनाई युक्त सिद्ध किया मूलीका शाक-वातनाशक होताहै। सूखी मूली-वात, कफको हरती है॥ १६२ ॥

तुलसीके गुण।

हिक्काकासविषश्वासपार्श्वशूलविनाशनः।
पित्तकृत्कफवातघ्नः सुरसः पूतिगन्धनुत् ॥ १६३ ॥

तुलसीके पत्र-हिचकी, खांसी, विषविकार, श्वास तथा पार्श्वशूलको नष्ट करते हैं। पित्तकारक, कफ, वातनाशक एवम् दुर्गंधनाशक होते हैं॥ १६३ ॥

अजवायनआदिके गुण।

यवानी चार्जकश्चैव शिग्रु शालेयमृष्टकम्।
हृद्यान्यास्वादनीयानि पित्तमुत्क्लेशयन्ति च ॥ १६४ ॥

अजवायन, अर्जक (नाजवूं, तुलसीका भेद) सुहांजनेकी फली, सौंफ, काली मिर्च ये सब-हृदयको प्रिय तथा अन्नमें स्वादके बढानेवाले होते हैं। परन्तु पित्तको उत्क्लेशित करते हैं॥ १६४ ॥

गण्डीरादिके गुण ।

गण्डीरो जलपिप्पल्यस्तुम्बुरुः शृङ्गवेरिका ।
तीक्ष्णोष्णकटुरूक्षाणि कफवातहराणि च ॥ १६५ ॥

गण्डीर (सुंठियासाग), जलपीपल, काला जीरा, शुंठी ये सब-तीक्ष्ण, उष्ण, कटु, रूक्ष तथा कफ वातनाशक होते हैं ॥ १६५ ॥

भूतृणके गुण ।

पुंस्त्वघ्नः कटुरूक्षोष्णो भूतृणो वक्त्रशोधनः ।
खराह्वा कफवातघ्नी बस्तिरोगरुजापहा ॥ १६६ ॥

भूतृण (शाक विशेष)-पुंस्त्वनाशक, कटु, रूक्ष, उष्ण और मुखशोधक होताहै । अजमोद कफ, वातनाशक, वस्तिके रोगोंको दूर करनेवाला है ॥ १६६ ॥

धनियेआदिके गुण ।

धान्यकं चाजगन्धा च सुमुखाश्चेति रोचनाः ।
सुगन्धा नातिकटुका दोषानुत्क्लेशयन्ति तु ॥ १६७ ॥

धनिया, अजवायन, तुलसी यह सब-अत्यन्त रुचिकारक, सुगंधित, किंचित् कटु, एवम् त्रिदोषको उखाडनेवाले हैं ॥ १६७ ॥

गाजरके गुण ।

ग्राही गृञ्जनकस्तीक्ष्णो वातश्लेष्मार्शसां हितः ।
स्वेदनेऽभ्यवहार्य्ये च योजयेत्तमपित्तिनाम् ॥ १६८ ॥

गृंजन-संग्राही, तीक्ष्ण, वात, कफ एवम् अर्शरोगमें हितकारक है । पसीना देनेके लिये और भोजनमें इसका उपयोग करे । पित्तकी प्रकृतिवाले मनुष्योंको नहीं खाना चाहिये ॥ १६८ ॥

प्याजके गुण ।

श्लेष्मलो मारुतघ्नश्च पलाण्डुर्न च पित्तनुत् ।
आहारयोगी बल्यश्च गुरुर्वृष्योऽथ रोचनः ॥१६९॥

प्याज-कफकर्ता, वातनाशक, किंचित् पित्तकर्त्ता, आहारमें उपयोगी, बलकारक, भारी, पुष्टिकारक और गुरु, वृष्य तथा रुचिकारक होता है ॥ १६९ ॥

लहसनके गुण ।

क्रिमिकुष्ठकिलासघ्नो वातघ्नो गुल्मनाशनः ।
स्निग्धश्चोष्णश्च वृष्यश्च लशुनः कटुको गुरुः ॥ १७० ॥

लहसुन-कृमि, कुष्ठ, किलास तथा वात और गुल्मको नष्ट करता है एवम् स्निग्ध, उष्ण, वृष्य, कटु और भारी है ॥ १७० ॥

शुष्काणि कफवातघ्नान्येतान्येषां फलानि तु।
हरितानामयं चैषां षष्ठो वर्गः समाप्यते ॥ १७१ ॥

इति हरितवर्गः।

यह सूखेहुए तथा इनके बीज यह सब--कफ और वायुके नष्ट करनेवाले होते हैं। इस प्रकार हरितवर्गनामक यह छठा वर्ग समाप्त हुआ ॥ १७१ ॥

अथ मद्यवर्गः।

प्रकृत्या मद्यमम्लोष्णमम्लं चोक्तं विपाकतः।
सर्वं सामान्यतस्तस्य विशेष उपदेक्ष्यते ॥ १७२ ॥

मद्य--प्रायः स्वभावसे ही खट्टा और उष्ण होता है और विपाकमें भी अम्ल ही होता है। पहले सामान्यतासे मद्यके गुणोंका वर्णन करचुके हैं अब विशेषतासे कथन करते हैं ॥ १७२ ॥

सुराके गुण।

कृशानां सक्तमूत्राणां ग्रहण्यर्शोविकारिणाम्।
सुरा प्रशस्ता वातघ्नी स्तन्यरक्तक्षयेषु च ॥ १७३ ॥

जो मनुष्य--कृश, मूत्ररोगी, अर्शपीडित हों उनको तथा क्षयरोगवालोंको, एवम् जिस स्त्रीके स्तनोंमें दूध सूख गयाहो उसको, और रक्तक्षयवालेको सुरा (शराब) पीना हितकारी है। सुरा--वातनाशक होती है ॥ १७३ ॥

मदिराके गुण।

हिक्काश्वासप्रतिश्यायकासवर्चोग्रहारुचौ।
वम्यानाहविबन्धेषु वातघ्नी मदिरा हिता ॥ १७४ ॥

मद्य-वातनाशक होनेसे हिक्का, श्वास, प्रतिश्याय, खांसी, मलग्रह (कब्जी), अरुचि, वमन, आनाह (अफारा), विबंध इन रोगोंमें हितकारक होतीहै ॥ १७४ ॥

जगल अर्थात् मद्यके अधोभाग गुण।

शूलप्रवाहिकाटोपकफवातार्शसां हितः।
जगलो ग्राहिरूक्षोष्णः शोफघ्नो भुक्तपाचनः ॥ १७५ ॥

मद्यकिण्व शूल प्रवाहिका, पेटका फूलना, कफ, वात और अर्शरोगमें हितकारक होतीहै तथा ग्राही, रूक्ष, उष्ण, शोथनाशक और भोजनको पचानेवाली है ॥ १७५ ॥

अरिष्टके गुण।

शोफार्शोग्रहणीदोषपाण्डुरोगारुचिज्वरान् ।
हन्त्यरिष्टः कफकृतान् रोगान् रोचनदीपनः॥ १७६ ॥

अरिष्ट-सूजन, अर्श, पांडुरोग, ग्रहणीरोग, अरुचि, ज्वर एवम् कफके रोगोंको नष्ट करताहै तथा रोचन और दीपन है ॥ १७६ ॥

शर्करामद्यके गुण।

मुखप्रियः सुखमदः सुगन्धिर्बस्तिरोगनुत् ।
जरणीयः परिणतो हृद्यो वर्ण्यश्च शार्करः ॥ १७७ ॥

खांडसे बना अरिष्ट-मुखप्रिय, सुखका देनेवाला, मदकारक, सुगंधित, वस्ति-रोगनाशक, पाचनकर्त्ता यदि पुराना हो तो हृदयको प्रिय और वर्णकारक होताहै१७७

पक्वरसके गुण।

रोचनो दीपनो हृद्यः शोषशोफार्शसां हितः।
स्नेहश्लेष्मविकारघ्नो वर्ण्यः पक्वरसो मतः ॥ १७८ ॥

पक्वरसनामक मद्य-रोचक, दीपन, हृद्य, शोषनाशक, सूजन तथा अर्शरोगमें हितकारी है एवम् स्नेहसे और कफसे उत्पन्न हुए रोगोंको नष्ट करताहै तथा वर्ण-कारक है ॥ १७८ ॥

शीतरसिकका गुण।

जरणीयो विबन्धघ्नः स्वरवर्णविशोधनः ।
लेखनः शीतरसिको हितः शोफोदरार्शसाम् ॥ १७९ ॥

शीतरसिकनामक मद्य--भोजनको जीर्ण करनेवाला, विबंधनाशक, स्वर और वर्णको उत्तम बनानेवाला, लेखन, एवम् उदररोग तथा अर्शरोगवालेको हितकारी है अपक्व (इक्षु आदिके) शीत रसको शीतरसिक कहते हैं ॥ १७९ ॥

गौडके गुण।

सृष्टभिन्नशकृद्वातो गौडस्तर्पणदीपनः ।
पाण्डुरोगव्रणहिता दीपनी चाक्षिकी मता ॥ १८० ॥

गुडसे बना मद्य--मल और अधोवायुको निकालनेवाला, तृप्तिकारक और दीपन होता है। बहेडेके संयोगसे बना मद्य पांडुरोग तथा व्रणविकारमें हितकारी होता है एवम् अग्निको दीपन करता है॥ १८० ॥

सुरासवके गुण।

सुरासवस्तीव्रमदो वातघ्नो वदनप्रियः।
छेदी मध्वासवस्तीक्ष्णो मैरेयो मधुरो गुरुः ॥ १८१ ॥

सुरासे दोबारसे खींचाहुआ मद्य--तीव्रमदको करनेवाला, वातनाशक और मुख-प्रिय होता है। मध्वासव अर्थात् शहदसे बनाहुआ मद्य--छेदन और तीक्ष्ण होता है। मैरेयनामक मद्य मधुर और भारी होता है ॥ १८१ ॥

धातक्यासवके गुण।

धातक्याभिषुतो हृद्यो रूक्षो रोचनदीपनः।
माध्वीकवन्न चात्युष्णो मृद्वीकेक्षुरसासवः ॥ १८२ ॥

धावेके फूलोंके संयोगसे बना मद्य हृदयको प्रिय, रूक्ष, रुचिकारक और दीपन होता है। मुनक्का और ईखके रससे बना आसव मध्वासवके समान गुणवाला होता है किन्तु अधिक गर्म नहीं होता ॥ १८२ ॥

मधुके गुण।

रोचनं दीपनं हृद्यं बल्यं पित्ताविरोधि च।
विबन्धघ्नं कफघ्नञ्च मधु लघ्वल्पमारुतम् ॥ १८३॥

मधुनामकमद्य रुचिकारक, अग्निदीपक, हृदयको प्रिय, बलकारक, पित्तको उत्पन्न करता, विबन्धनाशक, कफनाशक, हल्का एवम् किंचित् वायुकारक होता है १८३॥

जौ गेहूं आदिका मद्य।

सुरा समण्डा रूक्षोष्णा यवानां वातपित्तला।
गुर्वी जीर्य्यति विष्टभ्य श्लेष्मलस्तु मधूलकः ॥ १८४ ॥

जवोंसे बनाहुआ मद्य--तथा उसका मंड-रूक्ष, उष्ण, वातपित्तकारक, भारी तथा देरमें जीर्ण होनेवाला होता है। मधूलकनामक मद्य कफकारक होता है ॥ १८४ ॥

सौवीर--तुषोदकके गुण।

दीपनं जरणीयञ्च हृत्पाण्डुक्रिमिरोगनुत्।
ग्रहण्यर्शोहितं भेदि सौवीरकतुषोदकम् ॥ १८५ ॥

सौवीरक (कांजीका भेद) और तुषोदक यह दोनों दीपन, पाचन, हृद्रोग, पांडुरोग एवम् कृमिरोगनाशक, मलवेधक तथा ग्रहणी और अर्शरोगमें हितकारक होते हैं॥ १८५॥

अम्लकांजिकके गुण।

दाहज्वरापहं स्पर्शात्पानाद्वातकफापहम्।
विबन्धघ्नमविस्रंसि दीपनञ्चाम्लकाञ्जिकम् ॥ १८६ ॥

खट्टी कांजी—स्पर्शसे दाहज्वरनाशक अर्थात् इसमें कपडा भिगोकर रोगीके शरीर-पर लपेटनेसे ज्वरकी दाह शान्त होती है, पीनेसे वात, कफ, विबंध, मलबद्ध इनको नष्ट करती है तथा अग्निको दीपन करती है ॥ १८६ ॥

नवीन और पुराने मद्यके गुण ।

प्रायशोऽभिनवं मद्यं गुरु दोषसमीरणम् ।
स्रोतसां शोधनं जीर्णं दीपनं लघु रोचनम् ॥ १८७ ॥
हर्षणं प्रीणनं बल्यं भयशोकश्रमापहम् ।
प्रागल्भ्यवीर्यप्रतिभातुष्टिपुष्टिबलप्रदम् ॥ १८८ ॥
सात्त्विकैर्विधिवद्युक्त्या पीतं स्यादमृतं यथा ।
वर्गोऽयं सप्तमो मद्यमधिकृत्य प्रकीर्तितः ॥ १८९ ॥

इति मद्यवर्गः ॥

प्रायः नवीन मद्य—भारी और दोषकारक होती है । पुरानी मद्य—स्रोतोंको शुद्ध करनेवाली, पाचन, दीपन, हलकी, रुचिकारक, हर्षकर्ता, पुष्टिजनक, बलवर्द्धक, भय-कारक, शोकोत्पादक, भ्रमनाशक, बकवादकारक, वीर्यवर्द्धक तथा हृष्टपुष्ट करनेवाली होती है । विधिपूर्वक पीनेसे—अमृतके समान होती है । इस प्रकार मद्यवर्गनामक यह सातवाँ वर्ग समाप्त हुआ । इति मद्यवर्गः ॥ १८७--१८९ ॥

अथ जलवर्गः ।

जलमेकविधं सर्वं पतत्यैन्द्रं नभस्तलात् ।
तत् पतत् पतितश्चैव देशकालावपेक्षते ॥ १९० ॥

वर्षाका जल—आकाशसे गिरताहुआ प्रायः सब जगह एकसे गुणवाला होता है परन्तु आकाशसे पृथिवीमें गिरनेपर देश, कालकी अपेक्षासे भिन्न २ गुणोंवाला होजाता है ॥ १९० ॥

खात् पतत् सोमवाय्वर्कैः स्पृष्टं कालानुवर्त्तिभिः ॥
शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्यथासन्नं महीगुणैः ॥ १९१ ॥

आकाशसे गिरता हुआ जल उस समयके अनुवर्त्ती चन्द्रमा, वायु और सूर्य्य द्वारा तथा जैसी भूमिपर गिरे उसके सम्पर्कसे शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्षादि गुणोंसे युक्त होजाता है ॥ १९१ ॥

दिव्यजलको षड्गुणत्व ।

शीतं शुचि शिवं मृष्टं विमलं लघु षड्गुणम् ।
प्रकृत्या दिव्यमुदकं भ्रष्टं पात्रमपेक्षते ॥ १९२ ॥

आकाशका जल--स्वभावसे ही शीतल, स्वच्छ, शुभ, शुद्ध, निर्मल, हलका, मधुरादि षड्गुणसंपन्न होता है। पृथ्वीपर गिरजानेसे जैसे स्थानमें गिरे वैसे गुणवाला होजाता है ॥ १९२ ॥

पात्रभेदसे जलभेद।

श्वेते कषायं भवति पाण्डुरे चैव तिक्तकम्।
कपिले क्षारसंसृष्टमूषरे लवणान्वितम्।
कटु पर्वतविस्रावे मधुरं कृष्णमृत्तिके ॥ १९३ ॥
एतत्षाड्गुण्यमाख्यातं महीस्थस्य जलस्य हि।
तथाव्यक्तरसं विद्यादैन्द्रं कारं हिमञ्च तत् ॥ १९४ ॥

वह अन्तरिक्षसे गिरा जल, श्वेत भूमिमें गिरनेसे कषाय होता है। पांडुरभूमिमें तिक्त होता है। कपिलभूमिमें क्षार होता है। ऊषरभूमिमें लवणान्वित होता है। पर्वतोंमें गिराहुआ कटु होता है, काली भूमिमें मधुर होता है ॥ इस प्रकार पृथ्वीमें गिरे हुए जलके यह ६ गुण कहे हैं। ऐन्द्रजल (वर्षाद्वारा आकाशसे गिरा हुवा जल), कारजल (वर्षोपल जल), और हिमजल यह तीनों अव्यक्त रस हैं॥१९३॥१९४॥

ऐन्द्रजलका गुण।

यदन्तरिक्षात्पततीन्द्रसृष्टञ्चोक्तञ्च पात्रे परिगृह्यतेऽम्भः।
तदैन्द्रमित्येव वदन्ति धीरा नरेन्द्रपेयं सलिलं प्रधानम् ॥१९५॥

जो जल आकाशसे गिरताहुआ पृथ्वीपर गिरने न पाये और पात्रमें ही ग्रहण कियाजाये वह जल राजाओंके पीने योग्य सब जलोंमें प्रधान मानाजाता है॥१९५॥

ऋतुभेदसे जलके गुण।

ऋतावृताविहाख्याताः सर्व एवाम्भसो गुणाः।
ईषत्कषायमधुरं सुसूक्ष्मं विशदं लघु ॥ १९६ ॥
अरूक्षमनभिष्यन्दि सर्वं पानीयमुत्तमम्।
गुर्वभिष्यन्दि पानीयं वार्षिकं मधुरं सरम् ॥ १९७ ॥

ऋतु ऋतुके भेदसे जलोंके अलग गुण कहेजाते हैं। प्रायः सामान्यतासे जल--किंचित् कसैला, मीठा, सूक्ष्म, विशद, हलका, चिकना, अनभिष्यन्दी इन गुणोंसे युक्त सब प्रकारके जलोंमें उत्तम होता है। वर्षाऋतुका जल--भारी, क्लेदकारक, मीठा और दस्तावर होता है ॥ १९६ ॥ १९७ ॥

तनु लघ्वनभिष्यन्दि प्रायः शरदि वर्षति ।
तत्तु ये सुकुमाराः स्युः स्निग्धभूयिष्ठभोजिनः ॥ १९८ ॥
तेषां भक्ष्ये च भोज्ये च लेह्ये पेये च शस्यते ।
हेमन्ते सलिलं स्निग्धं वृष्यं बल्यं हितं गुरु ॥ १९९ ॥

शरदऋतुका जल--सूक्ष्म, हलका, और क्लेदरहित होता है इस लिये यह जल सुकुमार पुरुषोंको चिकना और अधिक भोजन करनेवालोंको भक्ष्य. भोज्य, लेह्य पदार्थोंमें तथा पीनेमें उत्तम कहा है । हेमन्त ऋतुका जल--चिकना, वीर्यवर्द्धक, बलकारक और भारी होता है ॥ १९८ ॥ १९९ ॥

किञ्चित्ततो लघुतरं शिशिरे कफवातजित् ।
कषायमधुरं रूक्षं विद्याद्वासन्तिकं जलम् ।
ग्रैष्मिकं त्वनभिष्यन्दि जलमित्येव निश्चयः ॥ २०० ॥

शिशिरऋतुका जल--किंचित् हलका, कफ और वायुको जीतनेवाला होता है वसन्त ऋतुका जल--कषाय, मधुर और रूक्ष होता है । ग्रीष्म ऋतुका जल--क्लेदरहित और स्वच्छ होता है ॥ २०० ॥

विभ्रान्तेष्वृतुकालेषु यत् प्रयच्छन्ति तोयदाः ।
सलिलं तत्तु दोषाय युज्यते नात्र संशयः ॥ २०१ ॥

इस प्रकार ऋतुभेदसे जलका निश्चय कियागया है । बिना ऋतुसे आगे पीछे बर्साहुआ जल दोषकारक होता है इसमें सन्देह नहीं ॥ २०१ ॥

राजभी राजमात्रैश्च सुकुमारैश्च मानवैः ।
संगृहीताः शरद्यापः प्रयोक्तव्या विशेषतः ॥ २०२ ॥

राजालोग, धनाढ्य पुरुष तथा सुकुमार मनुष्य इनको प्रायः शरदऋतुमें संग्रह किया जल पीना चाहिये ॥ २०२ ॥

हिमालयकी नदियोंके गुण ।

नद्यः पाषाणविच्छिन्नविक्षुब्धा विमलोदकाः ।
हिमवत्प्रभवाः पथ्याः पुण्या देवर्षिसेविताः ॥ २०३ ॥

हिमालय पर्वतसे निकली हुई नदियोंका जल पत्थरोंसे आहत और विक्षोभित होता है तथा निर्मल पुण्य देवर्षियोंसे सेवित एवम पथ्य होता है ॥ २०३ ॥

मलयाचलकी नदियोंका गुण ।

नद्यः पाषाणसिकतावाहिन्यो विमलोदकाः ।
मलय प्रभवायाश्च जलं तास्वमृतोपमम् ॥ २०४ ॥

मलयाचलसे निकली हुई नदियोंका जल पत्थर और रेतमें बहता हुआ निर्मल होता है तथा अमृतके समान होता है ॥ २०४ ॥

पश्चिमकी ओर बहनेवाली नदियोंका गुण।

पश्चिमाभिमुखा याश्च पथ्यास्ता निर्मलोदकाः।
प्रायो मृदुवहा गुर्व्यो याश्च पूर्वसमुद्रगाः ॥ २०५ ॥

पश्चिमके समुद्रमें गिरनेवाली नदियोंका जल पथ्य तथा निर्मल होता है। तथा पूर्वके समुद्रमें गिरनेवाली नदियोंका जल मृदुगामी और भारी होता है ॥ २०५ ॥

अन्य नदियोंका जल।

पारियात्रभवा याश्च विन्ध्यसह्यभवाश्च याः।
शिरोहृद्रोगकुष्ठानां ता हेतुः श्लीपदस्य च ॥ २०६ ॥

पारियात्रपर्वत, विंध्याचल तथा सह्याद्रिसे निकली नदियोंका जल-शिरोरोग, हृद्रोग, श्लीपद तथा कुष्ठोंको करनेवाला होता है ॥ २०६ ॥

वर्षाती नदियोंका जल।

वसु (हु) धा कीटसर्पाखुमलसंदूषितोदकाः।
वर्षाजलवहा नद्यः सर्वदोषसमीरणाः ॥ २०७ ॥

मट्टी तथा कीट, सर्प और मूषक आदियोंके मल इनसे दूषित होनेके कारण बरसाती नदियोंका जल सब दोषोंको कुपित करनेवाला होता है ॥ २०७ ॥

कूपादि जलके गुण।

वापीकूपतडागोत्थसरःप्रस्रवणादिषु।
आनूपशैलधन्वानां गुणदोषैर्विभावयेत् ॥ २०८ ॥

बावडी, कूप, तालाव, सूहा, निर्झर और सरोवर आदिकोंका जल--अनूप शैल और जांगल देशके गुणोंके समान जानना चाहिये। अर्थात् जिस देशमें जो बावडी आदिक होंगे वह उसीके अनुसार होंगे ॥ २०८ ॥

वर्जित जल।

पिच्छिलं क्रिमिलं क्लिन्नं पर्णशैवालकर्दमैः।
विवर्णं विरसं सान्द्रं दुर्गन्धि न हितं जलम् ॥ २०९ ॥

जो जल--गाढा, कृमियुक्त, क्लिन्न, पत्र और सिवार तथा कीचडयुक्त, रस और वर्णसे रहित, सान्द्र और दुर्गंधित हो उसका कभी सेवन नहीं करना चाहिये॥२०९॥

विस्रं त्रिदोषं लवणमम्बु यद्वरुणालयम्।
इत्यम्बुवर्गः प्रोक्तोऽयमष्टमः सुविनिश्चितः ॥ २१० ॥

इति अम्बुवर्गः।

समुद्रका जल--विस्रगंधयुक्त, त्रिदोषकारक, लवणयुक्त होता है। इस प्रकार जल वर्गनामक यह अष्टम वर्ग वर्णन किया गया ॥ २१० ॥

अथ दुग्धवर्गः ।

गोदुग्धके गुण ।

स्वादु शीतं मृदु स्निग्धं बहलं श्लक्ष्णपिच्छिलम् ।
गुरु मन्दं प्रसन्नञ्च गव्यं दशगुणं पयः ॥ २११ ॥
तदेवंगुणमेवौजः सामान्यादभिवर्द्धयेत् ।
प्रवरं जीवनीयानां क्षीरमुक्तं रसायनम् ॥ २१२ ॥

गौका दूध--स्वादु, शीतल, मृदु, स्निग्ध, घन, श्लक्ष्ण, पिच्छिल, गुरु, मन्द, पवित्र इन १० गुणोंवाला होता है तथा इन गुणोंसे संपन्न होनेसे और ओजधातुको बढानेवाला, जीवनदायकोंमें श्रेष्ठ और रसायन होता है ॥ २११ ॥ २१२ ॥

भैंसके दूधके गुण ।

महिषीणां गुरुतरं गव्याच्छीततरं पयः ।
स्नेहन्यूनमनिद्राय हितमत्यग्नये च तत् ॥ २१३ ॥

भैंसका दूध–गोदूधसे भारी, शीतल, अधिकस्नेहयुक्त, जिनको निद्रा नहीं आती और बलवान् अग्निवालोंको परम हितकारक है ॥ २१३ ॥

ऊंटनीके दूधका गुण ।

रूक्षोष्णं क्षीरमुष्ट्रीणामीषत्सलवणं लघु ।
शस्तं वातकफानाहक्रिमिशोफोदरार्शसाम् ॥ २१४ ॥

ऊंटनीका दूध–रूक्ष, गर्म, किंचित् नमकीन और हलका होताहै एवम् वात, कफ, अफारा, कृमि, सूजन, उदररोग और बवासीरमें हितकारी होता है ॥ २१४ ॥

घोडीआदिके दूधका गुण ।

बल्यं स्थैर्य्यकरं सर्वमुष्णञ्चैकशफं पयः।
साम्लं सलवणं रूक्षं शाखावातहरं लघु ॥ २१५ ॥

एक खुरवाले जानवरोंका दूध–जैसे, घोडी, गधा आदिकोंका दूध बलकारक-शरीरको दृढ करनेवाला, उष्ण, किंचित् अम्ल और नमकीन, रूक्ष तथा शाखागत, वायुको नष्ट करताहै ॥ २१५ ॥

बकरीके दूधका गुण ।

छागं कषायमधुरं शीतं ग्राहि पयो लघु।
रक्तपित्तातिसारघ्नं क्षयकासज्वरापहम् ॥ २१६ ॥

बकरीका दूध-कसैला, मधुर, शीतल, ग्राही और हलका है तथा रक्तपित्त और अतिसार, क्षय, कास, ज्वर इनको नष्ट करता है ॥ २१६ ॥

भेड तथा हस्तिनीके दूधका गुण ।

हिक्काश्वासकरं तूष्णं पित्तश्लेष्मलमाविकम् ।
हस्तिनीनां पयो बल्यं गुरु स्थैर्य्यकरं परम् ॥ २१७ ॥

भेडका दूध--गर्म है तथा पित्तकफकारक, हिचकी तथा श्वासको उत्पन्न करनेवाला है । हथिनीका दूध-बलकारक, भारी, शरीरको परमदृढ करनेवाला होताहै॥२१७

स्त्रीके दूधका गुण ।

जीवनं बृंहणं सात्म्यं स्नेहनं मानुषं पयः ।
नावनं रक्तपित्ते च तर्पणञ्चाक्षिशूलिनाम् ॥ २१८ ॥

स्त्रीका दूध-जीवनदायक, पुष्टिकारक, सात्म्य, स्नेहन, रक्तपित्तमें नसवार और नेत्ररोगमें नेत्रतर्पणके लिये परमहितकारक है ॥ २१८ ॥

दहीके गुण ।

रोचनं दीपनं वृष्यं स्नेहनं बलवर्द्धनम् ।
पाकेऽम्लमुष्णं वातघ्नं मङ्गल्यं बृंहणं दधि ॥ २१९ ॥
पीनसे चातिसारे च शीतके विषमज्वरे ।
अरुचौ मूत्रकृच्छ्रे च कार्श्ये च दधि शस्यते ॥ २२० ॥

दही-रुचिकारक, दीपन, वीर्यवर्द्धक, स्नेहन, बलवर्द्धक, पाकमें अम्ल, उष्ण, वातनाशक, मंगलकारक, एवम् पुष्टिजनक होताहै । दही-प्रतिश्याय, अतिसार, शीतकरोग, विषमज्वर, अरुचि, मूत्रकृच्छ्र और कृशतारोगमें परम हितकारक है॥२१९-२२०

दहीका निषेध ।

शरद्ग्रीष्मवसन्तेषु प्रायशो दधि गर्हितम् ।
रक्तपित्तकफोत्थेषु विकारेष्वहितञ्च तत् ॥ २२१ ॥

शरद, ग्रीष्म और वसन्तऋतुमें दही नहीं खाना चाहिये । रक्तपित्त और कफसे उत्पन्नभये रोगोंमें भी दहीका खाना उचित नहीं ॥ २२१ ॥

मन्दकदहीके गुण ।

त्रिदोषं मन्दकं जातं वातघ्नं दधि शुक्रलम् ।
सरः श्लेष्मानिलघ्नस्तु मण्डः स्रोतोविशोधनः ॥ २२२ ॥

मंदक दही अर्थात् विना जमा दूध-त्रिदोपकारक होताहै । दहीकी मलाई वातनाशक और वीर्यवर्द्धक होतीहै । दहीका तोड-दस्तावर, कफवातनाशक एवम् रोममार्गको शुद्ध करनेवाला होताहै ॥ २२२ ॥

तक्रके गुण।

शोफार्शोग्रहणीदोषमूत्रकृच्छ्रोदरारुचि।

स्नेहव्यापदि पाण्डुत्वे तक्रं दद्याद्गरेषु च॥ २२३॥

तक्र-सूजन, अर्श, संग्रहणी, मूत्रकृच्छ्र, उदररोग, अरुचि, स्नेहपानसे उत्पन्न हुआ दोष, पांडुरोग, गरदोष इन सबमें सेवन करना योग्य है॥ २२३॥

नवनीतके गुण।

संग्राहि दीपनं हृद्यं नवनीतं नवोद्धृतम्।

ग्रहण्यर्शोविकारघ्नमर्दितारुचिनाशनम्॥ २२४॥

ताजामक्खन-संग्राही, दीपन, हृदयको हितकारी, ग्रहणीरोगनाशक, बवासीरनाशक, अर्दितरोगनाशक एवम् रुचिकारक है॥ २२४॥

घृतका गुण।

स्मृतिबुद्ध्यग्निशुक्रौजःकफमेदोविवर्द्धनम्।

वातपित्तविषोन्मादशोषालक्ष्मीज्वरापहम्॥ २२५॥

सर्वस्नेहोत्तमं शीतं मधुरं रसपाकयोः।

सहस्रवीर्य्यं विधिभिर्घृतं कर्म्मसहस्रकृत्॥ २२६॥

घृत-स्मृति, बुद्धि, अग्नि, वीर्य, ओज, कफ और मेद इनको बढानेवाला है तथा वात, पित्त, विषविकार, उन्माद, शोष, अलक्ष्मी, स्वरभंग इन सबको नष्ट करता है। संपूर्ण स्नेहोंमें उत्तम है। रस तथा विपाकमें मधुर है घृत सहस्रों द्रव्योंके संयोगसे अलग २ संस्कार किया सहस्र प्रकारके गुणोंको करता है॥ २२५॥ २२६॥

पुराने घृतका गुण।

मदापस्मारमूर्च्छायशोषोन्मादगरज्वरान्।

योनिकर्णशिरःशूलं घृतं जीर्णमपोहति॥ २२७॥

पुराना घी--मदरोग, मृगी, मूर्च्छा, शोष, उन्माद, गर, ज्वर, योनि, कान तथा शिरके शूल इन सबको दूर करता है॥ २२७॥

सर्पींष्यजाविमहिषीक्षीरवत् स्वानि निर्दिशेत्।

पीयूषो मोरटश्चैव किलाटा विविधाश्च ये॥ २२८॥

दीप्ताग्नीनामनिद्राणां सर्वे एते सुखप्रदाः।

गुरवस्तर्पणा वृष्या बृंहणाः पवनापहाः॥ २२९॥

महिषी, भेड, बकरी इनके घृत-इनके दूधके समान गुणवाले जानने। पीयूष

(तत्काल बिआई--गौका दूध), मोरट (रबडी), किलाट (खोआ) ये सब बलवान् अग्निवालेको तथा जिनको निद्रा कम आती हो उनको परम सुखके देनेवाले हैं तथा भारी, तृप्तिकारक, वीर्यवर्द्धक, पुष्टकारक एवम् वातनाशक होते हैं॥२२८॥२२९॥

तक्रपिण्डिकाके गुण।

विशदा गुरवो रूक्षा ग्राहिणस्तक्रपिण्डकाः।
गोरसानामयं वर्गो नवमः परिकीर्त्तितः॥ २३० ॥
इति गोरसवर्गः।

तक्रपिंड (पनीर)--स्वच्छ, भारी, रूक्ष और ग्राही होता है। इस प्रकार दूधवर्ग नामक यह नवम वर्ग समाप्त हुआ॥ २३० ॥

अथेक्षुवर्गः।

ईखके रसका गुण।

वृष्यः शीतः स्थिरः स्निग्धो बृंहणो मधुरो रसः।
श्लेष्मलो भक्षितस्येक्षोर्यान्त्रिकस्तु विदह्यते॥ २३१ ॥

दांतोंसे चूसा हुआ ईखका रस--वीर्यवर्द्धक, शीतल, दस्तावर, स्निग्ध, पुष्टिकारक, मधुर और कफकारक होता है। कोल्हूसे निकाला हुआ ईखका रस--विदग्धपाकी होता है। तथा उपरोक्त संपूर्ण गुणयुक्त भी होता है॥ २३१ ॥

पौंडा--गन्ना तथा गुडके गुण।

शैत्यात्प्रसादान्माधुर्य्यात् पौड्रकाद्वंशकोऽवरः।
प्रभूतक्रिमिमज्जासृङ्मेदोमांसकरो गुडः॥ २३२ ॥

पौंडा--शीतल, स्वच्छ और मीठा होता है। वंशक ईख--गुणमें इससे अधिक है। गुड--कृमिकारक, मज्जा, रुधिर, मेद, मांस इनको करनेवाला होता है॥ २३२ ॥

क्षुद्रो गुडश्चतुर्भागत्रिभागार्द्धार्द्धशोषितः।
रसो गुरुर्यथापूर्वं धौतं स्वल्पमलो गुडः॥ २३३ ॥

गुड पकाते समय जिसमें चारभाग रस हो उस गुडसे जिसमें तीन भाग रस बाकी रहगया वह गुड उससे दो भाग बाकी रहनेवाला तथा जिसमें आधाभाग रस गया हो यह क्रमपूर्वक पहिलेसे दूसरे भारी होते हैं। शुद्ध किया गुड अल्प मलकारक होता है॥ २३३ ॥

मत्स्यण्डिकादिके गुण।

ततो मत्स्यण्डिका खण्डशर्करा विमलाः परम्॥
यथा यथैषां वैमल्यं भवेच्छैत्यं तथा तथा॥ २३४ ॥

गुडकी अपेक्षा राब, राबकी अपेक्षा खांड और खांडकी अपेक्षा बूरा तथा इनमें पूर्वकी अपेक्षा जो जितना निर्मल होगा वह गुणमें उतना ही शीतल होता जाता है॥

गुडशर्करादिके गुण।

वृष्याः क्षीणक्षतहिता सस्नेहा गुडशर्करा।
कषायमधुरा शीता सतिक्ता यासशर्करा॥ २३५॥

गुड शर्करा (यवनाल शर्करा, क्षीरखिस्त)–बलकारक, क्षीण और क्षतमें हितकारी तथा स्निग्ध एवम् शुद्धदस्त लानेवाला है। यासशर्करा,(करंजबीत)–कसैली, मधुर, शीतल, किंचित् तिक्त तथा मलको शोधन करनेवाली होती है॥ २३५॥

मधुशर्कराके गुण।

रूक्षा वम्यतिसारघ्नी छेदनी मधुशर्करा।
तृष्णासृक्पित्तदाहेषु प्रशस्ताः सर्वशर्कराः॥ २३६॥

मधुशर्करा–रूक्ष, वमन और अतिसारनाशक तथा मलको छेदन करनेवाली है। सब प्रकारकी खांड प्यास, रक्तपित्त और दाह इनको शान्त करनेवाली है॥२३६॥

शहतके भेद।

माक्षिकं भ्रामरं क्षौद्रं पौत्तिकं मधुजातयः।
माक्षिकं प्रवरं तेषां विशेषाद् भ्रामरं गुरु॥ २३७॥

मधु–माक्षिकं, भ्रामर, क्षौद्र, पौत्तिक इन भेदोंसे चार प्रकारका होता है। इन सबमें माक्षिक मधु उत्तम है और भ्रामरमधु सबकी अपेक्षा भारी है॥ २३७॥

शहतके रङ्ग।

माक्षिकं तैलवर्णं स्याच्छ्वेतं भ्रामरमुच्यते।
क्षौद्रन्तु कपिलं विद्याद् घृतवर्णन्तु पौत्तिकम्॥ २३८॥

माक्षिकमधु तैलके वर्णका होता है। भ्रामर मधु श्वेत होता है। क्षौद्रमधु कपिलवर्णका होता है। पौत्तिकमधु घृतके वर्णका होता है॥ २३८॥

शहतके गुण।

वातलं गुरु शीतञ्च रक्तपित्तकफापहम्।
सन्धानं छेदनं रूक्षं कषायमधुरं मधु॥ २३९॥

मधु–वातकारक, भारी, शीतल, रक्तपित्तनाशक, कफनाशक, सन्धानकारक, छेदक, रूक्ष, कषाय और मधुर होता है॥ २३९॥

हन्यान्मधूष्णमुष्णार्त्तमथवा सविषान्वयात्।
गुरुरूक्षकषायत्वाच्छैत्याच्चाल्पं हितं मधु॥ २४०॥

क्योंकि मक्खियां सब प्रकारके पुष्पोंमेंसे रस लेती हैं उनमें कुछ ऐसे पुष्प भी होते हैं जो विषके समान हैं इस लिये मधुको विषके सम्पर्क होनेसे गर्म करके गर्म औषधिके साथ गर्मीसे व्याकुल मनुष्योंको नहीं खाना चाहिये. क्योंकि, ऐसा होनेसे मधु विषके समान प्राणनाशक होता है। मधु--भारी, रूक्ष, कषाय तथा शीतल होनेसे थोडा खाना हितकारक होता है ॥ २४० ॥

मधुके गुण।

नातः कष्टतमं किञ्चिन्मध्वामात्तद्धि मानवम् ।
उपक्रमविरोधित्वात्सद्यो हन्याद्यथा विषम् ॥ २४१ ॥
आमे सोष्णा क्रिया कार्य्या सामध्वामे विरुध्यते ।
मध्वामं दारुणं तस्मात्सद्यो हन्याद्यथा विषम् ॥ २४२ ॥

मधुके अधिक सेवन करनेसे यदि पेटमें आम प्रगट होजाय तो उसको मध्वाम कहते हैं। इससे बढकर कष्टदायक दूसरा रोग नहीं है। क्योंकि इसकी चिकित्सामें उपक्रम विरोध होनेसे चिकित्सा करना कठिन पडता है। प्रायः आमरोगमें उष्णक्रिया करना आवश्यक होता है वह उष्णक्रिया मध्वाममें विरोधी पडती है अतएव यह रोग दारुण और विषके समान प्राणनाशक होता है ॥ २४१ ॥ २४२ ॥

मधुके योगवाहित्व।

नानाद्रव्यात्मकत्वाच्च योगवाहि परं मधु ।
इतीक्षुविकृतिप्रायो वर्गोऽयं दशमो मतः ॥ २४३ ॥

इति इक्षुवर्गः।

मधु अनेक गुणवाले द्रव्योंके पुष्पोंसे संग्रह कियाजाता है इसलिये अनेक द्रव्योंके साथ इसका उपयोग करनेमें आता है। यह योगवाही, और शीतल है। इस प्रकार यह इक्षुवर्ग नामक दशमवर्ग समाप्त हुआ ॥ २४३ ॥

अथ कृतान्नवर्गः।

पेया आदिके गुण।

क्षुत्तृष्णाग्लानिदौर्बल्यकुक्षिरोगविनाशिनी ।
स्वेदाग्निजननी पेया वातवर्चोऽनुलोमनी ॥ २४४ ॥

पेया-क्षुधा, तृषा, ग्लानि, दुर्बलता, कुक्षिरोग इन सबको शान्त करती है स्वेद उत्पादक अग्नि एवम् अधोवात और मलको निकालनेवाली है ॥ २४४ ॥

तर्पणी ग्राहिणी लघ्वी हृद्या चापि विलेपिका ॥ २४५ ॥
मण्डस्तु दीपयत्यग्निं वातं चाप्यनुलोमयेत् ॥

मृदूकरोति स्रोतांसि स्वेदं संजनयत्यपि ॥ २४६ ॥
लङ्घितानां विरिक्तानां जीर्णे स्नेहे च तृष्यताम् ॥
दीपनत्वाल्लघुत्वाच्च मण्डः स्यात् प्राणधारणः ॥ २४७ ॥

विलेपी-तृप्तिकर्त्ता, ग्राही, हलकी एवम् हृदयको प्रिय होती है । मांड--अग्नि-दीपक, वायुको अनुलोमनकर्त्ता, स्रोतोंको मृदु करनेवाला और स्वेदजनक होताहै । लंघन करनेवाले मनुष्योंको, विरिक्त मनुष्योंको और स्नेहजीर्ण होनेपर दीपन और हलका होनेसे मंड पिलाना प्राणधारक होता है ॥ २४५-२४७ ॥

लाजमण्डके गुण ।

शृतः पिप्पलिशुण्ठीभ्यां युक्तो लाजाम्लदाडिमैः ।
तृष्णातीसारशमनो धातुसाम्यकरः शिवः ॥
लाजमण्डोऽग्निजननो दाहमूर्च्छानिवारणः ॥ २४८ ॥
मन्दाग्निविषमाग्नीनां बालस्थविरयोषिताम् ।
देयश्च सुकुमाराणां लाजमण्डः सुसंस्कृतः ।
क्षुत्पिपासासहः पथ्यः शुद्धानान्तु मलापहः ॥ २४९ ॥

धानोंकी खीलोंका बनायाहुआ मांड–पीपल, सोंठ और खट्टे अनारोंका रस युक्त कर पीनेसे तृष्णा और अतिसार शान्त करताहै और धातुओंको साम्यावस्थामें लाताहै, शुभ है, अग्निजनक, दाह और मूर्च्छाको निवारण करनेवाला है । यह अच्छे प्रकार बनायाहुआ लाजामंड मंदाग्निवालोंको, विषमाग्निवालोंको, बालकोंको, वृद्धोंको, स्त्रियोंको, सुकुमार पुरुषोंको, क्षुधा, पिपासाके शान्तिके लिये देनाचाहिये । यह संशोधित मनुष्योंको पथ्य है एवम् मलका निकालनेवाला है ॥२४८॥ २४९ ॥

भातके गुण ।

सुधौतः प्रस्रुतः स्विन्नः सन्तप्तश्चौदनो लघुः ।
भृष्टतण्डुलमिच्छन्ति गरश्लेष्मामयेष्वपि ॥ २५० ॥
अधौतः प्रस्रुतः स्विन्नः शीतश्चाप्योदनो गुरुः ॥ २५१ ॥

चावलोंको भले प्रकार धोकर सिद्ध करे और उनकी पीछ वगैरह दूरकर उत्तम तैयार होजानेपर इनका गर्मगर्म भोजन करना हलका और उत्तम कहाहै । विषदोष और कफके विकारमें चावलोंको भूनकर भात सिद्ध होनेपर देनाचाहिये । विना धोयेहुए, विना पीछ निकाले सिद्धकिया भात एवं शीतलभात भक्षण कियाहुआ भारी तथा गुरुपाकी होताहै ॥ २५० ॥ २५१ ॥

मांसादिसिद्ध अन्न।

मांसशाकवसातैलघृतमज्जाफलौदनाः ।
बल्याः सन्तर्पणा हृद्या गुरवो बृंहयन्ति च ॥ २५२ ॥

मांस, शाक, वसा (चर्बी), तैल, घृत, मज्जा एवम् फलोंके साथ सिद्ध किया हुआ अन्न बलकारक, तृप्तिकारक, हृद्य, भारी, पुष्टिकारक होताहै ॥ २५२ ॥

कुल्माषके गुण।

तद्वन्माषतिलक्षीरमुद्गसंयोगसाधिताः ।
कुल्माषा गुरवो रूक्षा वातला भिन्नवर्चसः ॥ २५३ ॥

उसीके समान उडद, तिल, दूध, मूंग इनके संयोगसे सिद्धकिया हुआ अन्न भी उपरोक्त गुणवाला होता है। कुल्माष (गेहूं और चनेका होला)-भारी, रूक्ष वातकारक एवम् मलभेदक होताहै ॥ २५३ ॥

स्विन्नभक्ष्यास्तु ये केचित्सौप्यगौधूमयाविकाः ।
भिषक् तेषां यथाद्रव्यमादिशेद्गुरुलाघवम् ॥ २५४ ॥

दाल, गेहूं, यव इनसे सिद्ध किये भोजनमें उस पदार्थके अनुसार गुरुता और लाघव जानकर वैद्य कथन करे ॥ २५४ ॥

कृताकृतयूषके गुण।

अकृतं कृतयूषं च तनु संस्कारितं रसम् ।
सूपमम्लमनम्लञ्च गुरुं विद्याद्यथोत्तरम् ॥ २५५ ॥

विना घृत, मसालेवाला यूष, एवम् घृत मसालायुक्त यूष, पतला संस्कार किया हुआ रस, खटाई युक्त दाल, खटाई रहित दाल, यह सब क्रमपूर्वक एकसे दूसरा उत्तरोत्तर भारी जानना ॥ २५५ ॥

सत्तूके गुण।

सक्तवो वातला रूक्षा बहुवर्चोऽनुलोमिनः ।
तर्पयन्ति नरं सद्यः पीताः सद्यो बलाश्च ते ॥ २५६ ॥

सत्तू जलमें घोलकर पिये हुए-वातकारक, रूक्ष, मलवर्द्धक, अनुलोमन, भूखे मनुष्यको शीघ्र तृप्त करनेवाले तथा शीघ्र बल देनेवाले होते हैं ॥ २५६ ॥

शालिधान्यका सत्तू।

मधुरा लघवः शीताः सक्तवः शालिसम्भवाः ।
ग्राहिणो रक्तपित्तघ्नास्तृषाछर्दिज्वरापहाः ॥ २५७ ॥

शालीचावलोंके सत्तू--मधुर, हलके, शीतल, ग्राही, रक्तपित्तनाशक, तृषानाशक एवम् वमन तथा ज्वरको शान्त करते हैं ॥ २५७ ॥

जौकी रोटियोंका गुण।

हन्याद्व्याधीन्यवापूपो यावको वाट्य एव च।
उदावर्त्तप्रतिश्यायकासमेहगलग्रहान् ॥ २५८ ॥

यवके पूडे और वाटियें--उदावर्त्त, प्रतिश्याय, खांसी, प्रमेह और गलग्रहको नष्ट करते हैं ॥ २५८ ॥

जौकी धानीके गुण।

धानासंज्ञास्तु ये भक्ष्याः प्रायस्ते लेखनात्मकाः।
शुष्कत्वात्तर्षणाश्चैव विष्टम्भित्वाच्च दुर्जराः ॥ २५९ ॥

धाना (भुने हुए यव या गेहूं)--प्रायः लेखन होते हैं और शुष्क होनेसे तृषाजनक होते हैं तथा विष्टम्भी होनेसे दुर्जर होते हैं ॥ २५९ ॥

विरूढधानाके गुण।

विरूढधानाः शष्कुल्यो मधुक्रोडाः सपिण्डकाः।
सूपाः पूपुलिकाद्याश्च गुरवः पैष्टिकाः परम् ॥ २६० ॥

पिष्ट धान्योंकी शष्कुली, मीठी गुझियें, लड्डू, पूडे, पूडियें और कचौरियें ये सब अत्यन्त भारी होते हैं ॥ २६० ॥

फलादिसंस्कृतके गुण।

फलमांसवसाशाकपललक्षौद्रसंस्कृताः।
भक्ष्या वृष्याश्च बल्याश्च गुरवो बृंहणात्मकाः ॥ २६१ ॥

फल, मांस, चर्बी, शाक, पलल, शहद इन सबके संयोगसे सिद्धकिये भोजनके पदार्थ--वीर्यवर्द्धक, बलकारक, भारी और पुष्टिजनक होते हैं ॥ २६१ ॥

वेशवारके गुण।

वेशवारो गुरुः स्निग्धो बलोपचयवर्द्धनः।
गुरवस्तर्पणा वृष्याः क्षीरेक्षुरसपूपकाः ॥ २६२ ॥

बेसवार (पिष्टमांस)--भारी, स्निग्ध और बलवर्द्धक होता है। दूध और खांडसे बनाईहुई पूडी, भारी तृप्तिकारक एवम् वीर्यवर्द्धक होती है ॥ २६२ ॥

सगुडाः सतिलाश्चैव सक्षीरक्षौद्रशर्कराः।
वृष्या बल्याश्च भक्ष्यास्तु ते परं गुरवः स्मृताः ॥ २६३ ॥

गुड, तिल, दूध, शहद, खांड इनसे बने पदार्थ-वीर्यवर्द्धक, बलकारक, एवम् अत्यन्त भारी होते हैं ॥ २६३ ॥

घृतस्निग्ध गेहूंके पदार्थके गुण।

सस्नेहाः स्नेहसिद्धाश्च भक्ष्या विविधलक्षणाः।
गुरवस्तर्पणा वृष्या हृद्या गोधूमिका मताः॥ २६४ ॥

चिकनाईयुक्त एवम् घृतमें सिद्धकिये हुए गेहूंके आटेके पदार्थ--भारी, तृप्तिकारक, वीर्यवर्द्धक एवम् हृदयको प्रिय होते हैं ॥ २६४ ॥

संस्काराल्लघवः सन्ति भक्ष्या गोधूमपैष्टिकाः।
धानापर्पटपूपाद्यास्तान् बुद्ध्वा निर्दिशेत्तथा ॥ २६५ ॥

संस्कारविशेषसे गेहूंके बने पदार्थ हलके भी होते हैं। जो धानिये, पापड, पूडे आदिक पदार्थ हैं इन सबको संस्कारविशेषसे हलके और भारी कहना चाहिये ॥२६५

पृथुक गुण।

पृथुका गुरवो भृष्टान्भक्षयेदल्पशस्तु तान्।
यावा विष्टभ्य जीर्य्यन्ति सरसा भिन्नवर्चसः॥ २६६ ॥

चूडा-भारी होता है इनको भूनकर थोडा खाना चाहिये। यवके चूडे-विष्टम्भ करके पाचन होते हैं। यदि दूध सहित हों मलके भेदन करनेवाले होते हैं ॥२६६ ॥

यूष गुण।

सूप्यान्यविकृता भक्ष्या वातला रूक्षशीतलाः।
सकटुस्नेहलवणानल्पशो भक्षयेत्तु तान् ॥ २६७ ॥

दालसे बने हुए यूष-रूक्ष, शीतल और वायुकारक होते हैं इस लिये उनको पीपल मिर्च सोंठ मिलाकर तथा घृतयुक्त कर थोडा खाना चाहिये ॥ २६७ ॥

पाकके गुण।

मृदुपाकाश्च ये भक्ष्या स्थूलाश्च कठिनाश्च ये।
गुरवस्तेऽप्यतिक्रान्तपाकाः पुष्टिबलप्रदाः॥ २६८ ॥

स्थूल और कठिनद्रव्य जो मृदुपाकी होते हैं। वह सब भारी, देरमें पचनेवाले, पुष्टिकारक और बलके देनेवाले होते हैं ॥ २६८ ॥

द्रव्यसंयोगसंस्कारं द्रव्यं मानं पृथक्तथा।
भक्ष्याणामादिशेद्बुद्ध्वा यथास्वं गुरुलाघवम् ॥ २६९ ॥

बुद्धिमान् वैद्यको उचित है कि संपूर्ण भक्षण करनेके पदार्थोंको द्रव्य, संयोग, संस्कार, मान विशेषसे यथोचित रीतिपर जानकर उनके अनुसार गुरु, लघु आदि कथन करे ॥ २६९ ॥

रसालाके गुण।

रसाला बृंहणी वृष्या स्निग्धा बल्या रुचिप्रदा।
स्नेहनं तर्पणं हृद्यं वातघ्नं सगुडं दधि ॥ २७० ॥

शिखरन--वीर्यवर्द्धक, पुष्टिकारक, स्निग्ध, बलवर्द्धक एवम् रुचिकारक होता है गुड-युक्त दही--तृप्तिकारक, स्नेहन और वातनाशक होता है ॥ २७० ॥

सर्बत (पानक) के गुण।

द्राक्षाखर्जूरकोलानां गुरु विष्टम्भि पानकम्।
परूषकाणां क्षौद्रस्य यच्चेक्षुविकृतिं प्रति ॥ २७१ ॥
तेषां कट्वम्लसंयोगाः पानकानां पृथक् पृथक्।
द्रव्यमानञ्च विज्ञाय गुणकर्माणि चादिशेत् ॥ २७२ ॥

मुनक्का, खजूर, उन्नाव इनसे बनाया हुआ पानक भारी और विष्टम्भी होती है फालसेका रस और शहदसे बनाया हुआ पानक तथा खांड विशेषसे बनाया हुआ पानक उनके चरपरे, खट्टे आदि गुणोंसे तथा संयोग और द्रव्य मानको जानकर गुण कर्मोंको कथन करे। इसी प्रकार प्रायः सब फलोंके पानक (शरबत) जानने चाहिये ॥ २७१ ॥ २७२ ॥

रागषांडवके गुण।

कट्वम्लस्वादुलवणा लघवो रागषांडवाः।
मुखप्रियाश्च हृद्याश्च दीपना भक्तरोचनाः ॥ २७३ ॥

रागखांडव—चरपरे, अम्ल, मधुर, नमकीन, हलके, मुखप्रिय, हृद्य, दीपन और भोजनमें रुचि करनेवाले होते हैं ॥ २७३ ॥

आम और आंवलेका अवलेह।

आम्रामलकलेहाश्च बृंहणा बलवर्द्धनाः।
रोचनास्तर्पणाश्चोक्ताः स्नेहमाधुर्य्यगौरवात् ॥ २७४ ॥

पके हुए आम और आमलेके संयोगसे बनाई हुई चटनी—चिकनी, मीठी, भारी, बलवर्द्धक, बृंहण, रुचिकारक तथा तृप्तिकारक होती है ॥ २७४ ॥

लेह (चटनी) गुण।

बुद्धा संयोगसंस्कारं द्रव्यमानञ्च तत्स्मृतम्।
गुणकर्माणि लेहानां तेषां तेषां तथा वदेत् ॥ २७५ ॥

जितने प्रकारके लेह पदार्थ हैं वह सब संयोग, संस्कार, द्रव्य, परिमाण इनके भेदसे उनके गुण कर्मोंको कथन करे ॥ २७५ ॥

शुक्तके गुण।

रक्तपित्तकफोत्क्लेदि शुक्तं वातानुलोमनम् ।
कन्दमूलफलाद्यञ्च तद्वद्विद्यात्तदासुतम् ॥ २७६ ॥

कन्द, मूल, फल आदिकोंका अचार–रक्तपित्त, कफ इनको उत्क्लेश करनेवाला तथा वातको अनुलोम करनेवाला होता है। शिरकेमें डाला हुआ अचार भी उन्हींके समान गुणवाला होता है ॥ २७६ ॥

शिण्डाकीका गुण।

शिण्डाकी चासुतश्चान्यत्कालाम्लं रोचनं लघु ।
विद्याद्वर्गं कृतान्नानामेकादशतमं भिषक् ॥ २७७ ॥

इति कृतान्नवर्गः ।

चटनियें, अचार, कांजी आदि सब प्रकारकी खटाई रुचिकारक और हलकी होती है। इस प्रकार कृतान्नवर्ग नामक एकादश वर्ग समाप्त हुआ ॥ २७७ ॥

अथाहारयोगवर्गः ।

तैलके गुण।

कषायानुरसं स्वादु सूक्ष्ममुष्णं व्यवायि च ।
पित्तलं बद्धविण्मूत्रं न च श्लेष्माभिवर्द्धनम् ॥ २७८ ॥
वातघ्नेषूत्तमं बल्यं त्वच्यं मेधाग्निवर्द्धनम् ।
तैलं संयोगसंस्कारात्सर्वरोगापहं मतम् ॥ २७९ ॥

तिलोंका तेल–कषाय, अनुरस, स्वादु, सूक्ष्म, उष्ण, व्यवायी, पित्तवर्द्धक, मल मूत्रको बांधनेवाला तथा कफवर्द्धक नहीं है। वातनाशकोंमें उत्तम, बलकारक, त्वचाको उत्तम बनानेवाला, मेधा और अग्निको बढानेवाला होता है एवम् औषधियोंके संयोगसे सिद्ध किया तैल संपूर्ण रोगोंको नष्ट करता है ॥ २७८ ॥ २७९ ॥

तैलकी उत्कृष्टतामें दृष्टान्त।

तैलप्रयोगादजरा निर्विकारा जितश्रमाः ।
आसन्नतिबलाः संख्ये दैत्याधिपतयः पुरा ॥ २८० ॥

किसी समयमें दैत्योंके राजा तैलके प्रयोगसे अजर, निर्विकार, श्रमरहित एवम् लडनेमें अत्यन्त बलवान् हुए थे। यदि मनुष्यभी विधिवत् तैलका उपयोग करे तो

बलवान् तथा उपरोक्त गुणोंवाला होसकता है परन्तु तैल मर्दन करनेसेही अधिक गुण करता है ॥ २८० ॥

अरण्डतैलके गुण।

ऐरण्डतैलं मधुरं गुरु श्लेष्माभिवर्द्धनम्।

वातासृग्गुल्महृद्रोगजीर्णज्वरहरं परम् ॥ २८१ ॥

एरंड तैल–मधुर, भारी, कफवर्द्धक तथा वात, रक्त, गुल्म, हृद्रोग, जीर्णज्वर इनको हरनेवाला है ॥ २८१ ॥

सरसोंके तैलके गुण।

कटूष्णं सार्षपं तैलं रक्तपित्तप्रदूषणम्।

कफशुक्रानिलहरं कण्डूकोठविनाशनम् ॥ २८२ ॥

सरसोंका तैल–कटु, उष्ण, रक्तपित्तको दूषित करनेवाला, कफ, शुक्र एवम् वायुको हरनेवाला तथा खुजली कोष्ठ आदि त्वचाके रोगोंको नष्ट करता है ॥ २८२ ॥

पियालके तैलके गुण।

पियालतैलं मधुरं गुरु श्लेष्माभिवर्द्धनम्।

हितमिच्छन्ति नात्यौष्ण्यात्संयोगे वातपित्तयोः ॥ २८३ ॥

चिरौंजीका तैल–मीठा, भारी, कफवर्द्धक तथा अत्यन्त गर्म न होनेसे द्रव्यके संयोग द्वारा वातपित्तको नष्ट करता है ॥ २८३ ॥

अलसीके तैलके गुण।

आतस्यं मधुराम्लन्तु विपाके कटुकं तथा।

उष्णवीर्य्यं हितं वाते रक्तपित्तप्रकोपनम् ॥ २८४ ॥

अलसीका तैल–मीठा, अम्ल, विपाकमें कटु, उष्णवीर्य, वातरोगोंमें हित एवम् रक्तपित्तको कुपित करनेवाला है ॥ २८४ ॥

कसूमके तैलके गुण।

कुसुम्भतैलमुष्णञ्च विपाके कटुकं गुरु।

विदाहि च विशेषेण सर्वरोगप्रकोपनम् ॥ २८५ ॥

कुसुम्भके बीजोंका तैल–गर्म, विपाकमें कटु, भारी विशेषकर विदाही एवम् सर्व दोषोंको कुपित करनेवाला है ॥ २८५ ॥

फलोंके तैलके गुण।

फलानां यानि चान्यानि तैलान्याहारसन्निधौ।

युज्यन्ते गुणकर्मभ्यां तानि ब्रूयाद्यथायथम् ॥ २८६ ॥

इसी प्रकार अनेक प्रकारके फलोंके तैलोंको आहारके संयोगमें गुणकर्मों करके उनके गुणोंको कथन करे ॥ २८६ ॥

मज्जा-वसाके गुण।

मधुरो बृंहणो वृष्यो बल्यो मज्जा तथा वसा ।
यथा सत्त्वन्तु शैत्योष्णे वसामज्ज्ञोर्विनिर्दिशेत् ॥ २८७ ॥

मज्जा और चर्बी ये दोनों--मधुर, पुष्टिकारक, वीर्यवर्द्धक, बलकारक होती हैं। शीतगुणविशिष्ट तेलोंको गर्मीमें तथा उष्णगुणविशिष्ट तेलोंको सर्दीमें उपयोग करे॥

सोंठके गुण।

सस्नेहं दीपनं वृष्यमुष्णं वातकफापहम् ।
विपाकमधुरं हृद्यं रोचनं विश्वभेषजम् ॥ २८८ ॥

सोंठ--चिकनी, दीपन, वृष्य, उष्ण, वातकफनाशक, विपाकमें मधुर, हृद्य और रुचिकारक है ॥ २८८ ॥

पीपलके गुण।

श्लेष्मला मधुरा चार्द्रा गुर्वी स्निग्धा च पिप्पली ।
सा शुष्का कफवातघ्नी कटुका वृष्यसम्मता ॥ २८९ ॥

कच्ची पीपल--कफकारक, मधुर, भारी एवम् स्निग्ध होती है। सूखी पीपल--कफ वात नाशक चरपरी एवं वीर्यवर्द्धक होती है ॥ २८९ ॥

मिरचके गुण।

नात्यर्थमुष्णं मरिचमवृष्यं लघु रोचनम् ।
छेदित्वाच्छोषणत्वाच्च दीपनं कफवातजित् ॥ २९० ॥

कालीमिर्च—अधिक गर्म नहीं है। अवृष्य, हलकी एवम् रुचिकारक है तथा छेदी होनेसे और शोषण होनेसे दीप्तिकारक एवम् वातकफनाशक है ॥ २९० ॥

हींगके गुण।

वातश्लेष्मविबन्धघ्नं कटुकं दीपनं लघु ।
हिङ्गु शूलप्रशमनं विद्यात् पाचनरोचनम् ॥ २९१ ॥

हींग—वात, कफ, विबंध इनको नष्ट करनेवाली, कटु, उष्ण, दीपन, लघु, शूल-नाशक, पाचन और रुचिकारक है ॥ २९१ ॥

सेन्धानमकके गुण।

रोचनं दीपनं हृद्यं चक्षुष्यमविदाहि च ।
त्रिदोषघ्नं समधुरं सैन्धवं लवणोत्तमम् ॥ २९२ ॥

सेंधानमक--रुचिकारक, दीपन, हृदयको प्रिय, नेत्रोंको हितकारी, अविदाही, त्रिदोषनाशक, एवम् मधुर होताहै ॥ २९२ ॥

संचलनमकके गुण।

सौक्ष्म्यादौष्ण्याल्लघुत्वाच्च सौगन्ध्याच्च रुचिप्रदम्।
सौवर्चलं विबन्धघ्नं हृद्यमुद्गारशोधि च ॥ २९३ ॥

संचरनमक-सूक्ष्म होनेसे तथा उष्ण होनेसे एवम् हलका और सुगंधित होनेसे रुचिकारक, विबंधनाशक हृद्य तथा उद्गारको शुद्ध करता है ॥ २९३ ॥

विडनमकके गुण।

तैक्ष्ण्यादौष्ण्याद्व्यवायित्वाद्दीपनं शूलनाशनम्।
ऊर्ध्वं चाधश्च वातानामानुलोम्यकरं विडम् ॥ २९४ ॥

विडनमक-तीक्ष्ण होनेसे, उष्ण होनेसे एवम् व्यवायी होनेसे दीपन, शूलनाशक, ऊपर और नीचेके भागोंमें होनेवाली वायुको अनुलोमन करताहै ॥ २९४ ॥

उद्भिदनमकके गुण।

सतिक्तकटु सक्षारं तीक्ष्णमुत्क्लेदि चौद्भिदम् ॥
न काललवणे गन्धः सौवर्चलगुणाश्च ते ॥ २९५ ॥

उद्भिद नमक (खारी नमक)-किंचित् कडुआ, चरपरा, खारा, तीक्ष्ण तथा उत्क्लेदकारक है। कालानमक गन्धहीन होता है और सब गुण संचरनमकके समान होता है ॥ २९५ ॥

समुद्रादिलवणके गुण।

सामुद्रकं समधुरं सतिक्तं कटु पांशुजम्।
रोचनं लवणं सर्वं पाकि स्रंस्यनिलापहम् ॥ २९६ ॥

सामुद्रनमक किञ्चित् मधुर होता है। पांशुलवण किंचित् तिक्त और कटु होता है। प्रायः सब प्रकारके लवण रुचिकारक, पाचन, दस्तावर, एवमू वातनाशक होते हैं ॥ २९६ ॥

जवाखारके गुण।

हृत्पाण्डुग्रहणीदोषप्लीहानाहगलग्रहान्।
कासं कफजमर्शांसि यावशूको व्यपोहति ॥ २९७ ॥

जवाखार-हृद्रोग, पांडुरोग, ग्रहणी, प्लीहा, अफरा, गलग्रह, कफकी खांसी और बवासीरको नष्ट करता है ॥ २९७ ॥

क्षारोंके गुण।

तीक्ष्णोष्णो लघुरूक्षश्च क्लेदी पाकी विदारणः।
दहनो दीपनश्छेत्ता स्वर्जीक्षारोऽग्निसन्निभः॥ २९८॥

प्रायः सब प्रकारके क्षार-तीक्ष्ण, गर्म, लघु, रूक्ष, क्लेदी, पाचनकर्त्ता, विदारण, दाहन, दीपन, छेदन होते हैं और स्वर्जिकाक्षार अग्निके समान होता है॥ २९८॥

जीरा और धनियाका गुण।

कारव्यः कुञ्चिकाजाजी कवरी धान्यतुम्बुरुः।
रोचनं दीपनं वातकफदौर्गन्ध्यनाशनम्॥ २९९॥

कलौंजी, कालाजीरा, अजवायन, सफेदजीरा, मेथी, नैपाली धनिया, तुंबरु, ये सब रुचिकारक, दीपन, वातकफनाशक एवम् दुर्गन्धनाशक होते हैं॥ २९९॥

आहारयोगिनां भक्तिनिश्चयो न तु विद्यते।
समाप्तो द्वादशश्चायं वर्ग आहारयोगिनाम्॥ ३००॥

इत्याहारयोगवर्गः।

आहारके उपयोगी पदार्थोंमें कहांपर कौन वस्तुएं कितनी डालिनी चाहिये इसका कोई यथार्थ नियम नहीं है। इस प्रकार आहारोपयोगी नामक द्वादशवर्ग समाप्त हुआ॥ ३००॥

पुराने धान्यमें विशेषता।

शूकधान्यं शमीधान्यं समातीतं प्रशस्यते।
पुराणं प्रायशो रूक्षं प्रायेणाभिनवं गुरु॥ ३०१॥

शूकधान्य और शमीधान्य एकवर्षके पुराने होनेसे हितकारी होते हैं। पुराने धान्य प्रायः रूक्ष होते हैं और नवीन धान्य भारी होते हैं॥ ३०१॥

यद्यदागच्छति क्षिप्रं तत्तल्लघुतरं स्मृतम्॥ ३०२॥

जो धान्य शीघ्र परिपाकको प्राप्त होते हैं वह उतने ही हलके होते हैं॥ ३०२॥

निस्तुषं युक्तिभृष्टन्तु सूप्यं लघु विपच्यते॥ ३०३॥

तुषरहित युक्तिपूर्वक भुनीहुई दाल लघुपाकी होती है॥ ३०३॥

वर्जित मांस।

मृतं कृशातिमेध्यश्च वृद्धं बालं विषैर्हतम्।
अगोचरमृतं व्यालसूदितं मांसमुत्सृजेत्॥ ३०४॥

अपने आप माराहुआ, कृश, सडाबुसा, वृद्ध, बाल, विष आदिसे माराहुआ, अपरोक्ष माराहुआ, व्याघ्र आदिका माराहुआ ऐसे जीवोंका मांस त्यागदेने योग्य है॥४॥

मांसरसका गुण ।

अतोऽन्यथा हितं मांसं बृंहणं बलवर्द्धनम् ।
प्रीणनः सर्वभूतानां हृद्यो मांसरसः परम् ॥ ३०५॥
शुष्यतां व्याधियुक्तानां कृशानां क्षीणरेतसाम् ॥
बलवर्णार्थिनाञ्चैव रसं विद्याद्यथाऽमृतम् ॥ ३०६ ॥

इनसे सिवाय प्रायः सम्पूर्ण जीवोंका मांस पुष्टिकारक और बलवर्द्धक होता है। मांसरस-सब मनुष्योंके लिये प्रीणन और हृद्य होता है तथा सूखेहुए शरीरवालोंको, अथवा शोषरोगवालोंको, कृश मनुष्योंको, क्षीणवीर्यवालोंको, बल वर्णकी इच्छावालोंको मांसरस अमृतके समान है ॥ ३०५ ॥ ३०६ ॥

सर्वरोगप्रशमनं यथास्वं विहितं रसम् ।
विद्यात् स्वर्य्यं बलकरं वयोबुद्धीन्द्रियायुषाम् ॥ ३०७ ॥
व्यायामनित्याः स्त्रीनित्या मद्यनित्याश्च ये नराः ।
नित्यं मांसरसाहारा नातुराः स्युर्न दुर्बलाः ॥ ३०८ ॥

मांसरस द्रव्यविशेषके संयोगसे सिद्ध किया जानेपर संपूर्ण रोगोंको नष्ट करता है तथा स्वरकारक, बलवर्द्धक, अवस्थास्थापक, बुद्धिवर्द्धक, इन्द्रियोंका बल तथा आयुको बढानेवाला है। व्यायाम करनेवाले मनुष्योंको, स्त्री सेवन करनेवालोंको, सुरापियोंको नित्य मांसरसका आहार करना चाहिये। मांसरस सेवन करनेसे रोगग्रस्त मनुष्य भी दुर्बल नहीं होते ॥ ३०७ ॥ ३०८ ॥

वर्जित शाक ।

क्रिमिवातातपहतं शुष्कं जीर्णमनार्त्तवम् ।
शाकं निःस्नेहसिद्धञ्च वर्ज्यं यच्चापरिस्रुतम् ॥ ३०९॥

कीडेका खाया हुआ, वायुका माराहुआ, सूखा, धूपसे जलाहुआ, पुराना, बेमौसम, बिना चिकनाईसे बनाया हुआ, जिस शाकको उबालकर पानी न निकालाहो अथवा जो साफ न कियागया हो ऐसा शाक खाने योग्य नहीं होता ॥ ३०९ ॥

वर्जित फल ।

पुराणमामं संक्लिष्टं क्रिमिव्यालहिमातपैः ।
अदेशाकालजं क्लिन्नं यत्स्यात्फलमसाधु तत् ॥ ३१० ॥

पुराना, कच्चा, सडाहुआ, कीडे सर्प आदिका खाया हुआ, धूपसे मुर्झाया हुआ, सर्दीसे माराहुआ, खराब भूमिमें उत्पन्न हुआ, बेसमय उत्पन्न हुआ, दुर्गंधयुक्त ऐसे फलको निंदनीय समझ त्याग देवे। अर्थात् कभी न खाये ॥ ३१० ॥

हरितानां यथाशाकं निर्देशः साधनादृते ॥ ३११ ॥

सब प्रकारके सब्जियोंको पत्र शाकोंके समान संस्कार कर खाना चाहिये परन्तु इनको उबालकर शाकोंके समान निचोडना नहीं चाहिये ॥ ३११ ॥

मद्याम्बुगोरसादीनां स्वे स्वे वर्गे विनिश्चयः ॥ ३१२॥

मद्य, जल, दूध आदिकोंके गुणदोष उनके वर्गोंमें कथन कियेगये हैं ॥ ३१२॥

अनुपानका वर्णन ।

यदाहारगुणैः पानं विपरीतं तदिष्यते ।
अम्लांनुपानं धातूनां दृष्टं यन्न विरोधि च॥ ३१३ ॥
आसवानां समुद्दिष्टा अशीतिश्चतुरुत्तराः ॥ ३१४ ॥

जिस गुणवाला आहार हो उससे विपरीत गुणवाला अनुपान करना चाहिये अर्थात् आहार उष्णता प्रधान हो तो अनुपान शीतल होना चाहिये. शीतल आहार हो तो अनुपान गर्म होना चाहिये परन्तु खट्टे पदार्थपरसे मीठा अनुपान नहीं करना चाहिये क्योंकि तीक्ष्ण खट्टेके ऊपरसे मीठा खाना धातुओंमें विकार उत्पन्न करता है अथवा अन्नका इस प्रकारका अनुपान करना चाहिये जो धातुओंका विरोधी न हो ॥ आसव ८४ प्रकारके होते हैं. उनको हम प्रथमही कथनकर आये हैं ॥ ३१३ ॥ ३१४ ॥

जलं पेयमपेयञ्च परीक्ष्यानुपिबेद्धितम् ॥ ३१५ ॥

जल परीक्षा करके, पीने योग्य है या नहीं, ऐसा विचारकर पीना चाहिये॥ ३१५॥

स्निग्धोष्णं मारुते शस्तं पित्ते मधुरशीतलम् ।
कफेऽनुपानं रूक्षोष्णं क्षये मांसरसः परम् ॥ ३१६ ॥

वायुके रोगमें चिकना और गर्म अनुपान करना चाहिये । पित्तजनित रोगमें मधुर और शीतल अनुपान करना चाहिये । कफजनित रोगमें रूक्ष और गर्म अनुपान करना चाहिये । एवम् सब धातुओंकी क्षीणतामें मांसरसका अनुपान करना चाहिये ॥ ३१६ ॥

दूधका अनुपान ।

उपवासाध्वभारस्त्रीमारुतातपकर्म्मभिः ।
क्लान्तानामनुपानार्थं पयः पथ्यं यथाऽमृतम् ॥ ३१७॥

उपवास, मार्गसे थका, बहुत भाषण किया हुआ, स्त्रीसंभोगके अनन्तर, वायु, धूप तथा अन्य कर्मोंसे थके हुए मनुष्योंको दूधका अनुपान पथ्य और अमृत समान है ॥ ३१७ ॥

---

१ अन्नानुपानम् इति पुस्तकान्तरे ।

अन्य अनुपान।

सुरा कृशानां पुष्ट्यर्थमनुपानं प्रशस्यते।
कार्श्यार्थं स्थूलदेहानामनुशस्तं मधूदकम् ॥ ३१८ ॥
अल्पाग्नीनामनिद्राणां तन्द्राशोकभयक्लमैः।
मद्यमांसोचितानाञ्च मद्यमेवानुशस्यते ॥ ३१९ ॥

कृश मनुष्योंको पुष्टिके लिये सुराका अनुपान उत्तम है। एवम् स्थूल मनुष्योंको कृश करनेके लिये शहदयुक्त पानीका अनुपान करना चाहिये। मंदाग्निवालोंको अनिद्रा, तन्द्रा, शोक, भय तथा क्लान्तियुक्त मनुष्योंको और जो मद्यमांसके सेवन करनेवाले हैं उनको मद्यका अनुपान करना उत्तम है ॥ ३१९ ॥

अनुपानके कर्म।

अथानुपानकर्म गुणान् प्रवक्ष्यामि। अनुपानं तर्पयति प्रीणयति ऊर्जयति पर्य्याप्तिमभिनिवर्त्तयति भुक्तमवसादयति अन्नसङ्घातं भिनत्ति मार्दवमापादयति क्लेदयति जरयति सुखपरिणामितामाशु व्यवायितां चाहारस्योपजनयतीति ॥ ३२० ॥

अब अनुपानके गुणोंको कहते हैं:—अनुपान—तर्पणकारक, प्राणदायक, बलवर्द्धक, भोजनको अवसादनकर्त्ता तथा भोजनके संघातको भेदनकर्त्ता, मृदुताकारक, क्लेदकारक, पाचनकर्त्ता, आहारके परिणामको सुखावह करनेवाला तथा किये हुए भोजनको शीघ्र फैला देनेवाला होता है ॥ ३२० ॥

तत्रश्लोकाः—अनुपानं हितं युक्तं तर्पयत्याशु मानवम्।
सुखं पचति चाहारमायुषे च बलाय च ॥ ३२१ ॥

युक्तिपूर्वक अनुपान किया हुआ मनुष्यको शीघ्र तृप्त करता है तथा हितकारक है एवम् सुखपूर्व आहारको पचानेवाला, आयुवर्द्धक और बलदायक होता है ॥ ३२१॥

जलपानका निषेध।

नोर्द्ध्वाङ्गमारुताविष्टा न हिक्काश्वासकासिनः।
न गीतभाषाध्ययनप्रसक्ता नोरसि क्षताः ॥ ३२२ ॥
पिबेयुरुदकं भुक्त्वा तद्धि कण्ठोरसि स्थितम्।
स्नेहमाहारजं हत्वा भूयो दोषाय कल्पते ॥ ३२३ ॥

उर्द्ध्वांगगत वातवालोंको, हिचकी तथा श्वास और खांसीवालोंको एवम् जिनको गायन और भाषण एवम् अध्ययन इनका अधिक काम पडता हो तथा उरक्षत रोग-

वालोंको भोजनके अनन्तर पानी नहीं पीना चाहिये क्योंकि इन पुरुषोंको भोजनके अनन्तर पानी पीनेसे वह पानी कण्ठ और वक्षस्थलमेंसे होकर आहारके स्नेहको नष्ट कर दोषोंको कुपित करता है ॥ ३२२ ॥ ३२३ ॥

उपसंहार।

आनुपानैकदेशोऽयमुक्तः प्रायोपयोगिकः ।
द्रव्यन्तु न हि निर्देष्टुं शक्यं कृत्स्नेन नामभिः ॥ ३२४ ॥
यथानामौषधं किञ्चिद्देशजानां वचो यथा ।
द्रव्यं तत्तत्तथा वाच्यमनुक्तमिह तद्भवेत् ॥ ३२५ ॥

इस प्रकार आहार द्रव्य और अनुपान साधारणरूपसे प्रायः उपयोगी पदार्थोंका वर्णन करदिया है। और संपूर्ण द्रव्योंका संपूर्ण नामों सहित वर्णन होना मुश्किलहै क्योंकि जैसे यावन्मात्र संपूर्ण द्रव्य जाने जा नहीं सकते एवम् उन संपूर्ण द्रव्योंको संपूर्ण भाषाओंमें नाम नहीं जानेजाते इसी प्रकार संपूर्ण द्रव्योंका इस आहार विषयमें कथन करना कठिन प्रतीत होता है. क्योंकि देशभेदसे, क्रमभेदसे, संस्कारभेदसे आहारविशेष द्रव्योंकी कल्पना असंख्य प्रकारसे है ॥ ३२४ ॥ ३२५ ॥

चरादिपरीक्षा।

चराः शरीरावयवाः स्वभावो धातवः क्रिया ।
लिङ्गं प्रमाणं संस्कारो मात्रा चास्मिन् परीक्ष्यते ॥ ३२६ ॥
चरोऽनूपजलाकाशधन्वाद्यो भक्ष्यसंविधौ ।
जलजानूपजाश्चैव जलानूपचराश्च ये ॥ ३२७॥
गुरुभक्ष्याश्च ये सत्त्वाः सर्वे ते गुरवः स्मृताः ।
लघुभक्ष्यास्तु लघवो धन्वजा धन्वचारिणः ॥ ३२८॥

आहारविषयक प्रायः चर और अचर द्रव्योंका कथन करचुके हैं अब यहांपर चर जातीय अर्थात् आहारमें आनेवाले जीवोंका शरीरके अंग, स्वभाव, धातुयें, लक्षण, प्रमाण, संस्कार और मात्रा भी परीक्षा करने योग्य है सो उनका वर्णन करते हैं। जलचर, अनूपचर, आकाशचर एवम् जंगलमें फिरनेवाले तथा जलमें उत्पन्न हुवे और अनूपदेशके रहनेवाले और जो संपूर्ण जीव गुरुपदार्थोंको भक्षण करनेवाले हैं वे सब संपूर्ण अंगोंमें भारी अर्थात् गुरुपाकी होते हैं। इसी प्रकार हलके पदार्थोंके खानेवाले और जंगलमें उत्पन्न हुए तथा जंगलमें फिरनेवाले जानवर हलके अर्थात् लघुपाकी होते हैं ॥ ३२६--३२८ ॥

शरीरावयवका वर्णन ।

शरीरावयवाः सक्थिशिरःस्कन्धादयस्तथा ।
सक्थिमांसाद् गुरुस्कन्धस्ततः क्रोडस्ततश्शिरः ॥ ३२९ ॥
वृषणौ चर्म मेढ्रश्च श्रोर्णावृक्कौ यकृद् गुदम् ।
मांसाद् गुरुतरं विद्याद्यथास्वं मध्यमस्थि च ॥ ३३० ॥

जांघ, मस्तक,कंधा आदिक जो शरीरके अवयव हैं इनमें जंघाके मांससे कन्धेका मांस और कंधेके मांससे छातीका मांस तथा छातीके मांससे मस्तकका मांस और मस्तकके मांससे पैरोंका मांस भारी होता है । दोनों अण्डकोश, चर्म, मेढ्र (गुह्यस्थान), वृक्कस्थान, यकृत् एवम् गुदाका मांस प्रथमकी अपेक्षा दूसरे क्रमपूर्वक भारी होते हैं और अस्थियोंमें लगा हुआ मांस इन सबकी अपेक्षा भारी होता है ॥३२९॥ ३३०॥

स्वभावका वर्णन ।

स्वभावाल्लघवो मुद्गास्तथा लावकपिञ्जलाः ।
स्वभावाद् गुरवो माषा वराहमहिषास्तथा ॥ ३३१ ॥

मूंग, लवा और कपिंजल यह स्वभावसे ही हलके होते हैं एवम् उडद, वराह, भैंसा यह स्वभावसे ही भारी होते हैं ॥ ३३१ ॥

धातुओंका लघुगुरुत्व ।

धातूनां शोणिताद्यानां गुरुं विद्याद्यथोत्तरम् ।
अलसेभ्यो विशिष्यन्ते प्राणिनो ये बहुक्रियाः ॥ ३३२ ॥
गौरवे लिङ्गसामान्ये पुंसां स्त्रीणाञ्च लाघवम् ।
महाप्रमाणा गुरवः स्वजातौ लघवोऽन्यथा ॥ ३३३ ॥

रक्तसे लेकर वीर्यपर्यन्त सब धातुयें प्रथमकी अपेक्षा दूसरी क्रमपूर्वक भारी जाननी चाहियें । सामान्य जातिके पशुओंमें भी आलसियोंकी अपेक्षा बहुत फिरनेवाले पशु उत्तम होते हैं । इसी प्रकार स्त्री और पुरुषजातिके जीवोंमें पुरुषजातिके जीव भारी और स्त्रीजातिके हलके होते हैं । एकजातिमें भी बडे शरीरवाला जीव भारी और छोटे शरीरवाला उसकी अपेक्षा हलका होता है ॥ ३३२ ॥ ३३३ ॥

संस्कार और मात्राकृत गुरुलघुत्व ।

गुरूणां लाघवं विद्यात्संस्कारात् सविपर्ययम् ।
व्रीहेर्लाजा यथा च स्युः सक्तूनां सिद्धपिण्डकाः ॥ ३३४ ॥

संस्कारके भेदसे भारी पदार्थ हलके हो सकते हैं । और हलके भारी हो सकते हैं ।

जैसे चावलोंकी अपेक्षा खील हलकी होती एवम् सत्तुओंकी अपेक्षा घृतपक्व मोदक भारी होजाते हैं ॥॥ ३३४ ॥

अल्पादाने गुरूणाञ्च लघूनां चातिसेवने।
मात्राकारणमुद्दिष्टं द्रव्याणां गुरुलाघवे ॥ ३३५ ॥

भारी पदार्थ थोडा भक्षण करनेसे लघुपाकी अर्थात् हलका होजाता है और हलका पदार्थ भी बहुत खायाजानेसे भारी होजाता है इसलिये द्रव्योंके हलके और भारीपनमें मात्राहीको कारण कहना चाहिये ॥ ३३५ ॥

गुरूणामल्पमादेयं लघूनां तृप्तिरिष्यते।
मात्रामपेक्षते द्रव्यं मात्रा चाग्निमपेक्षते ॥ ३३६ ॥

जो पदार्थ भारी हैं उनको थोडा खाना चाहिये और हलके पदार्थोंको पेटभरकर खालेना चाहिये। आहारकी लघुता और गुरुता मात्राके अधीन है और मात्रा जठराग्निके बलाबलपर निर्भर है ॥ ३३६ ॥

बलमारोग्यमायुश्च प्राणाश्चाग्नौ प्रतिष्ठिताः।
अनुपानेन्धनैश्चाग्निर्दीप्यते शाम्यतेऽन्यथा ॥ ३३७ ॥

बल, आरोग्यता, आयुकी स्थिरता, प्राण ये सब जठराग्निके ही आश्रयभूत हैं सो वह जठराग्नि अनुपानरूपी इंधनसे चैतन्य रहती है। यदि वह अनुपान अनुचितरीतिपर सेवन कियाजाय तो वही उस अग्निको नष्ट करनेवाला होताहै ॥ ३३७ ॥

गुरुलाघवचिन्तेयं प्रायेणाल्पबलान्प्रति।
मन्दकर्मानिनारोग्यान्सुकुमारान्सुखोचितान् ॥ ३३८ ॥

यह गुरु लाघवका विचार प्रायः अल्पबलवालोंको, आलसीपुरुषोंको, रोगियोंको, सुकुमारोंको, सुखपूर्वक रहनेवालोंको विशेषतासे रखना चाहिये ॥ ३३८ ॥

दीप्ताग्नयः खराहाराः कर्मनित्या महोदराः।
ये नराः प्रति तांश्चिन्त्यं नावश्यं गुरुलाघवम् ॥ ३३९ ॥

जिनकी अग्नि बहुत बलवान् है जो अंटसंट, कठोर वस्तुओंके खानेके अभ्यासवाले हैं; जो दिनभर बहुत काम करनेवाले हैं तथा जो बहुत आहार करते हैं उनको गुरु, लाघवका विचार कर आहार करनेकी विशेष आवश्यकता नहीं है ॥ ३३९ ॥

हित कर्म।

हिताभिर्जुहुयान्नित्यमन्तराग्निं समाहितः।
अनुपानसमिद्भिर्ना मात्राकालौ विचारयन् ॥ ३४० ॥

संपूर्ण मनुष्यमात्रको मात्रा और काल विचारकर हितकारक आहाररूपी इंधनद्वारा जठराग्निकी चैतन्य रखना चाहिये ॥ ३४० ॥

आहिताग्निः सदा पथ्यान्यन्तराग्नौ जुहोति यः।
दिवसे दिवसे ब्रह्म जपत्यथ ददाति च।
नरं निःश्रेयसे युक्तं सात्म्यज्ञं पानभोजने ॥ ३४१ ॥
भजन्ते नामयाः केचिद्भाविनोऽप्यन्तरादृते।
षट्त्रिंशच्च सहस्राणि रात्रीणां हितभोजनः।
जीवत्यनातुरो जन्तुर्जितात्मासम्मतः सताम्॥ इति ॥ ३४२ ॥

जो मनुष्य सदैव अंतराग्निमें पथ्यरूपी आहुति देता है और नित्यप्रति भगवान्‌का भजन कर यथाशक्ति दानदेता है, ऐसे कल्याणमें तत्पर और सात्म्य अन्नपान करनेवाले मनुष्यको अवश्यम्भावीके विना कोई रोग या दुःख नहीं सताते अथवा रोगोंके कारण न होनेके सबब रोग होते ही नहीं ऐसे वह जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, श्रेष्ठ पुरुष रोगरहित होकर सौवर्षपर्यन्त जीवित रहताहै ॥ ३४१ ॥ ३४२ ॥

तत्र श्लोकाः—अनुपानगुणाः साध्या वर्गा द्वादश निश्चिताः।
सगुणान्यन्नपानानि गुरुलाघवसंग्रहः॥ ३४३ ॥
अनुपानविधावुक्तं तत्परीक्ष्यं विशेषतः।
प्राणाः प्राणभृतामन्नमन्नं लोकोऽभिधावति ॥ ३४४ ॥
वर्णप्रसादः सौस्वर्यं जीवितं प्रतिभासुखम्।
तुष्टिः पुष्टिर्बलं मेधा सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ॥ ३४५ ॥
लौकिकं कर्म्म यद् वृत्तौ स्वर्गं तौ यच्च वैदिकम्।
कर्मापवर्गे यच्चोक्तं तच्चाप्यन्ने प्रतिष्ठितम् ॥ ३४६ ॥
इत्यन्नपानचतुष्केऽन्नपानविधिरध्यायः ॥ २७ ॥

यहांपर अध्यायके उपसंहारमें श्लोक हैं:—कि इस अन्नपानविधि नामक अध्यायमें अन्नपानके गुण तथा उसकी सामग्रीके विषयमें बारहवर्ग, अन्नपान गुण और उनका गौरव तथा लाघव अन्नपान विधि नियमकी विशेषरूपसे परीक्षा, अन्नमें प्राणियोंके प्राण और अन्नमें ही लोकको प्रतिष्ठा, वर्ण, प्रसन्नता, सुंदरता, जीवन, कांति, सुख, पुष्टि, तुष्टि, बल, मेधा यह सब अन्नमें ही प्रतिष्ठित हैं। इसीमें लौकिक और

पारलौकिक तथा दैवलौकिक और मोक्षसाधन यह संपूर्ण अन्नमें ही प्रतिष्ठित है। इस प्रकार इस अन्नपानविधि नामक अध्यायमें निरूपण किया गया है ॥३४३-३४६ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां पटियालाराज्यान्तर्गतटकसालनिवासिवैद्यपञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्यभाषाटीकायामन्नपानविधिर्नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः।

अथातो विविधाशितपीतीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम विविध अशितपीतीय नामक अध्यायकी व्याख्या करते हैं। ऐसा भगवान् आत्रेयजी कथन करनेलगे ॥

हितकर आहारसे रस रक्तादिकी उत्पत्तिक्रम ।

विविधमशितपीतलीढखादितं जन्तोर्हितमन्नमग्निसन्धुक्षितबलेन यथा स्वेनोष्मणा सम्यग्विपच्यमानं कालवदनवस्थितसर्वधातुपाकमनुपहतसर्वधातूष्ममारुतस्रोतः केवलं शरीरमुपचयबलवर्णसुखायुषा योजयतीति । शरीरधातूनूर्जयन्धातवो हि धात्वाहाराः प्रकृतिमनुवर्त्तन्ते ॥ १ ॥

अनेक प्रकारके हितकारक भोजन करनेके पदार्थ, पीनेके पदार्थ, चाटनेके पदार्थ, खानेके पदार्थ अन्तराग्निकी गर्मीसे यथोचित रीतिपर परिपाक होकर यथा समय रस, रक्त, मांसादि बनकर संपूर्ण धातुओंमें प्राप्त होजाते हैं। इसी लिये शरीरके संपूर्ण धातु वायुके निकलनेवाले छिद्रोंमें व्याघात न करते हुए शरीरके बल, वर्ण, सुख, पुष्टता तथा आयुकी वृद्धि करते हैं। आहारसे बल प्राप्त हुए धातु धातुरूप होते अपनी २ प्रकृतिमें आहारको प्राप्त कर स्वभावानुकूल रहते हैं ॥ १ ॥

आहारद्वारा शरीरोपचयक्रम ।

तत्राहारः प्रसादाख्यो रसः किट्टञ्च मलाख्यमभिनिर्वर्त्तते । किट्टात् मूत्रस्वेदपुरीषवातपित्तश्लेष्माणः कर्णाक्षिनासिकास्यलोमकूपप्रजननमलकेशश्मश्रुलोमनखादयश्चावयवाः पुष्यन्ति ॥ २ ॥

किये हुए आहारका परिपाक होनेपर उसके दो विभाग होजाते हैं । उनमें जो उत्तम सार होता है—उसको रस कहते हैं और जो फोकट बचता है उसको किट्ट अथवा मल कहते हैं उस किट्टसे मूत्र, स्वेद, विष्ठा, वायु, पित्त तथा कफ ये उत्पन्न होते हैं एवम् कान, नेत्र, नाक, मुख, रोमकूप इन सबका मल तथा बाल, श्मश्रु, रोम और नख यह संपूर्ण उस किट्टके अंशोंसे बनते हैं ॥ २ ॥

पुष्यन्ति त्वाहाररसाद् रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रौजांसि पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि धातुप्रसादसंज्ञकानि । शरीरसन्धिबन्धपिच्छादयश्चावयवाः । ते सर्वे एव धातवो मलाख्याः प्रसादाख्याश्च रसमलाभ्यां पुष्यन्तः स्वमानमनुवर्त्तन्ते यथावयःशरीरम् ॥ ३ ॥

उस आहारका जो उत्तम भाग रस है वह शरीरको पुष्ट करता है तथा उस रससे रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र एवम् ओज बनते हैं एवम् इसी रससे पंचेन्द्रियोंमें पुष्टि, प्रसन्नता, धातुओंमें बल, शरीरके संधिबन्धनोंका प्रसाद और दृढता आदिक उत्पन्न होते हैं । यह संपूर्ण धातुएं दो भागोंमें विभक्त हैं—एक प्रसादसंज्ञक, दूसरी मलसंज्ञक यह दोनों साररूप रसोंसे और शरीर रक्षक मलोंसे पुष्ट होती हुई अवस्था और शरीरके अनुसार अपने परिमाणोंकी रक्षा करती हैं ॥ ३ ॥

एवं रसमलौ स्वप्रमाणावस्थितौ आश्रयस्य समधातोर्धातुसाम्यमनुवर्त्तयतः निमित्ततस्तु क्षीणातिवृद्धानां प्रसादाख्यानां धातूनां वृद्धिक्षयाभ्यामाहारमूलाभ्यां रसः साम्यमुत्पादयते आरोग्याय ॥ ४ ॥

इस प्रकार अपने २ प्रमाणमें स्थित हुए रस और मल अपने आश्रित शरीरके धातुओंको साम्यावस्थामें रखते हुए रक्षा करते हैं एवम् कारण विशेषसे प्रसाद संज्ञक जो धातुएं हैं उनकी आहार मूलक वृद्धि क्षीणताको रस साम्यावस्थामें लाता है और यह रस ही मनुष्योंकी आरोग्यताको रखता है ॥ ४ ॥

किट्टञ्च मलानामेवमेव । स्वमानातिरिक्ताः पुनरुत्सर्गिणः शीतोष्णपर्य्यायगुणैश्चोपचर्य्यमाणा मलाः शरीरधातुसाम्यकराः समुपलभ्यन्ते ॥ ५ ॥

जिस प्रकार रस सम्पूर्ण धातुओंको साम्यावस्थामें रखता है उसी प्रकार किट्ट भी सम्पूर्णमलोंको साम्यावस्थामें रखता है । अपने ठीक परिमाणपूर्वक निकलते हुए मल (तथा वात, पित्त, कफ भी) शीत, उष्ण आदि गुणोंसे परिवर्तित होते हुए धातुओंके साम्यावस्थामें करनेवाले होते हैं अर्थात् अपने मानसे क्षीणता और वृद्धिको

प्राप्त हुए मल शीत, उष्ण द्रव्योंद्वारा चिकित्सित होकर साम्यावस्थाको प्राप्त हो धातुओंको साम्यावस्थामें करनेवाले होते हैं ॥ ५ ॥

तेषान्तु मलप्रसादाख्यानां धातूनां स्रोतांस्ययनमुखानि । तानि यथाविभागेन यथास्वं धातूनापूरयन्त्येवमिदं शरीरमशितपीतलीढखादितप्रभवम् । अशितलीढखादितप्रभवाश्चास्मिञ्शरीरे व्याधयो भवन्ति ॥ ६ ॥ हिताहितोपयोगविशेषास्त्वत्र शुभाशुभविशेषकरा भवन्ति ॥ इति ॥ ७ ॥

इन मल और प्रसाद संज्ञक धातुओंके स्रोतस्थान तथा मार्ग अपने उपयोगी धातुओं द्वारा पूर्णताको और पुष्टताको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यह शरीर अशित (भोज्य), पीत, आलीढ और खाद्य पदार्थों द्वारा वृद्धि सम्पन्न होताहै। इसी प्रकार शारीरिक व्याधियां भी खाने, पीने, चूसने और चाटनेके आहारों द्वाराही उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार हित आहारसे शरीरकी उत्पत्ति तथा वृद्धि उत्पन्न होती है अर्थात् हित आहारका सेवन करना सुखकारक होता एवम् अहित आहारका करना दुःखकारक होता है ॥ ६ ॥ ७ ॥

अग्निवेशका प्रश्न।

एवं वादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच । दृश्यन्ते हि भगवन् हितसमाख्यातमप्याहारमुपयुञ्जाना व्याधिमन्तश्चागदाश्च तथैवाहितसमाख्यातमेवं दृष्टे कथं हिताहितोपयोगविशेषात्मकं शुभाशुभविशेषमुपलभामहे ॥ ८ ॥

इस प्रकार कहते हुए भगवान् आत्रेयजीसे अग्निवेश कहनेलगे कि, हे भगवन्! आपने कथन कियाहै कि हित आहारका सेवन करनेसे रोगी पुरुष भी निरोग हो जाते है और निरोग मनुष्योंके शरीर स्वस्थ और बलिष्ठ होते हैं उसी प्रकार अहित आहारके सेवनसे व्याधियां उत्पन्न होती हैं। सो हे गुरो! संसारमें ऐसा भी देखनेमें आताहै कि अहित आहारके सेवन करनेवाले पुरुष नीरोग रहते हैं और हित आहार सेवन करनेवालोंको अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न होजाते हैं इस लिये हित और अहित आहार विशेषात्मक शुभ और अशुभका किस प्रकार हमको ज्ञान होसकताहै सो कृपाकर कथन कीजिये ॥ ८ ॥

हिताहित आहार विषयमें आत्रेयका उत्तर।

तमुवाच भगवानात्रेयः । न हिताहारोपयोगिनामग्निवेश तन्निमित्ता व्याधयो जायन्ते । न च केवलं हिताहारोपयोगादेव सर्वव्याधि-

भयमतिक्रान्तं भवति। सन्ति हि कृतेऽपि हिताहारोपयोगादन्यरोगप्रकृतयः। तद्यथा—कालविपर्य्ययः प्रज्ञापराधः परिणामश्च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्चासात्म्या इति। ताश्च रोगप्रकृतयो रसान्सम्यगुपयुञ्जानं पुरुषमशुभेनोपपादयन्ति। तस्माद्धिताहारोपयोगिनोऽपि दृश्यन्ते व्याधिमन्तः। अहिताहारोपयोगिनां पुनः कारणतो न सद्यो दोषवान् भवत्यपचारो न हि सर्वाण्यपथ्यानि तुल्यदोषकराणि। न च सर्वे दोषास्तुल्यबलाः। न च सर्वाणि शरीराणि व्याधिक्षमत्वे समर्थानि। तदेव ह्यपथ्यं देशकालसंयोगवीर्य्यप्रमाणातियोगाद्भूयस्तरमपथ्यं सम्पद्यते। स एव दोषः संसृष्टयोनिर्विरुद्धोपक्रमो गम्भीरानुगतः प्राणायतनसमुत्थो मर्म्मोपघाती वा भूयान् कष्टतमः क्षिप्रकारितमश्च सम्पद्यते॥ ९॥

यह सुनकर आत्रेय भगवान् कहनेलगे कि हे अग्निवेश! आहारसे उत्पन्न होनेवाले जो रोग हैं हित आहारके सेवन करनेवाले मनुष्यके शरीरमें कभी उत्पन्न नहीं होते परन्तु संपूर्ण व्याधियां हित आहार करनेसेही नहीं होती यह बात नहीं है क्योंकि हित आहारकी उपयोगी आरोग्यताके सिवाय और भी ऐसे कारण हैं, जो रोगोंको उत्पन्न करते हैं। जैसे—कालविपर्यय (कालकी विपरीतता) और प्रज्ञापराध और परिणाम एवम् असात्म्य-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, ये सब हित आहार सेवन करनेवाले मनुष्योंको भी अशुभके करनेवाले होते हैं अर्थात् रोग उत्पन्न करनेके हेतु होतेहैं। इसलिये ही हित और पथ्य भोजन करनेवाले मनुष्यभी व्याधियुक्त दिखाई देतेहैं। और अहित आहारके सेवन करनेवाले मनुष्योंको भी तत्काल रोग ग्रसित नहीं देखा जाता क्योंकि संपूर्ण कुपथ्यही सब दोषोंके तुल्य नहीं होते एवम् सब दोष भी समान बलवाले नहीं होते और व्याधि सहन शक्तिके स्वभावसे सब शरीर भी एकसे नहीं होते। इस प्रकार अपथ्य भोजन—देश, काल, संयोग, वीर्य, प्रमाण इनके अतियोगसे और भी अधिक कुपथ्य होजाताहै और दोषोंको कुपित करदेता है। एक दोष भी अनेक रोगोंको उत्पन्न करनेवाला चिकित्सा विरोधी गंभीरानुगत, प्राणस्थान तथा मर्मस्थानका उपघाती होता हुआ अत्यंत कष्टको उत्पन्न करनेवाला और शीघ्रकारी होजाताहै॥ ९॥

असहन शक्तिवाले शरीरोंका वर्णन।

शरीराणि चातिस्थूलानि अतिकृशानि अनिविष्टमांसशोणितास्थीनि

दुर्बलानि असात्म्याहारोपचितान्यल्पाहाराणि अल्पसत्त्वानि वा भवन्ति अव्याधिसहानि ॥ १० ॥ विपरीतानि पुनर्व्याधिसहानि एभ्यश्चैवापथ्याहारदोषशरीरविशेषेभ्यो व्याधयो मृदवो दारुणाः क्षिप्रसमुत्थाश्चिरकारिणश्च भवन्ति ॥ ११ ॥

स्वभावसेही अतिस्थूल और अतिकृश शरीरवाले जिनके शरीरमें रक्त तथा मांस आदि क्षीण होगया हो, दुर्बल मनुष्य असात्म्य आहारके कारण अल्पभोजन करनेवाले तथा कमजोर मनुष्य व्याधियोंके सहन करनेमें असमर्थ होते हैं। इनसे विपरीत व्याधिसहनकर्त्ता होते हैं। इन अपथ्य, आहार, दोष, शरीर विशेषके प्रभावसे व्याधियें भी मृदु, दारुण, शीघ्रकारी और चिरकारी भी होती हैं ॥ १० ॥ ११ ॥

अत एव च वातपित्तश्लेष्माणः स्थानविशेषेण प्रकुपिता व्याधिविशेषानभिनिर्वर्त्तयन्ति । अग्निवेश ! तत्र रसादिषु स्थानेषु प्रकुपितानां दोषाणां यस्मिन् स्थाने ये ये व्याधयः सम्भवन्ति तांस्तान्यथावदनुव्याख्यास्यामः ॥ १२ ॥

इसलिये हे अग्निवेश ! वात, पित्त, कफ—स्थानविशेषमें कुपित होकर रोगविशेषको करते हैं सो उन रसादि स्थानोंमें कुपित हुए दोष जिस जिस स्थानमें जिस जिस प्रकार जिन जिन रोगोंको उत्पन्न करते हैं उन उन सबको यथाक्रम वर्णन करते हैं॥१२

रसदोषसे उत्पन्न रोग ।

अश्रद्धा चारुचिश्चास्यवैरस्यमरसज्ञता ।
हृल्लासो गौरवं तन्द्रा साङ्गमर्दो ज्वरस्तमः ॥ १३ ॥
पाण्डुत्वं स्रोतसां रोधः क्लैब्यं सादः कृशाङ्गता ।
नाशोऽग्नेरयथाकालं बलयः पलितानि च ।
रसप्रदोषजा रोगा वक्ष्यन्ते रक्तदोषजाः ॥ १४ ॥

दोषों करके रसके दूषित होनेसे भोजनमें अश्रद्धा, अरुचि, मुखकी विसरता, रसका अज्ञान, हृल्लास, गुरुता, तन्द्रा, अंगमर्द, ज्वर, आंखोंके आगे अन्धकार, पांडुपन, स्रोतोंका अवरोध, क्लीबता, अंगोंका अवसाद, कृशता, मन्दाग्नि, बिनाही समयके बालोंका सफेद होजाना, शरीरमें, सरवट पडना यह रोग होते हैं। अब आगे रक्त दूषित होनेसे जो रोग उत्पन्न होते हैं उनको कहते हैं ॥ १३ ॥ १४ ॥

रक्तदोषजरोग।

कुष्ठवीसर्पपिडका रक्तपित्तमसृग्दरः ।

गुदमेढ्रास्यपाकश्च प्लीहागुल्मोऽथ विद्रधी ॥ १५ ॥
नीलिका कामला व्यङ्गं पिप्लवस्तिलकालकाः ।
दद्रुश्चर्मदलं श्वित्रः पामाकोठास्रमण्डलम् ।
रक्तप्रदोषाज्जायन्ते शृणु मांसप्रदोषजान् ॥ १६ ॥

कुष्ठ, विसर्प, पिडका, रक्तपित्त, प्रदर, गुदा, लिंग तथा मुखका पकना, प्लीहा, गुल्म, विद्रधी, नीलिका, कामला, व्यंग, पिप्लव, तिल, कालक, दाद, चर्मदल, श्वेतकुष्ठ, पामा, कोष्ठरोग, रक्तमंडल तथा अन्यरक्तके विकार उत्पन्न होते हैं। यह रक्त दूषित होनेके दोष कहे गये। अब आगे मांस दूषित होनेसे जो रोग होते हैं उनको वर्णन करते हैं ॥ १५ ॥ १६ ॥

मांसदोषजरोग।

अधिमांसार्बुदं कीलं गलशालूकशुण्डिकाः ।
पूतिमांसालजीगण्डगण्डमालोपजिह्विकाः ॥ १७ ॥
विद्यान्मांसाश्रयान् मेदःसंश्रयांस्तु प्रवक्ष्यथ ।
निदानानि प्रमेहाणां पूर्वरूपाणि यानि च ॥ १८ ॥

मांस दूषित होनेसे अधिमांस, अर्बुद, कीलक, गलसारूक, गलशुंडी, पूतिमांस, अलजी, गलगंड, गण्डमाला और उपजिह्विका यह मांसाश्रित रोग होते हैं। अब मद दूषित होनेसे जो रोग होते हैं उनका कथन करते हैं कि अष्टौनिंदितीय अध्यायमें तथा प्रमेहरोगके पूर्वरूपमें दूषित मेदरोगोंका वर्णन कियागया है ॥ १७ ॥ १८ ॥

अस्थिदोषज रोग।

अध्यस्थिदन्तौ दन्तास्थिभेदशूलं विवर्णता ।
केशलोमनखश्मश्रुदोषाश्चास्थिप्रकोपजाः ॥ १९ ॥

अस्थि दूषित होनेसे अध्यास्थि, अधिदन्त, दन्तभेद, अस्थिभेद, दन्तशूल, अस्थिशूल और विवर्णता होते हैं तथा केश, लोम, नख और श्मश्रु इनमें भी अस्थि दूषित होनेसे विकार उत्पन्न होते हैं ॥ १९ ॥

मज्जादोषज रोग।

रुक् पर्वणां भ्रमो मूर्च्छा दर्शनं तमसो मताः ।
अरुषांस्थूलमूलानां पर्वजानाञ्च दर्शनम् ॥ २० ॥

मज्जा दूषित होनेसे पर्वभेद, भ्रम, मूर्च्छा, अन्धकार बडी २ मोटी तथा जडयुक्त अरुंषिका नामक फुंसियें पर्वस्थानमें (सन्धिस्थानमें) उत्पन्न होती हैं ॥ २० ॥

शुक्रदोषज रोग।

मज्जाप्रदोषाच्छुक्रस्य दोषात्क्लैब्यमहर्षणम्।
रोगिणं क्लीबमल्पायुं विरूपं वा प्रजायते ॥ २१ ॥
न वा सञ्जायते गर्भः पतति प्रस्रवत्यपि।
शुक्रं हि दुष्टं सापत्यं सदारं बाधते नरम् ॥ २२ ॥

शुक्र (वीर्य) दूषित होनेसे नपुंसकता, हर्षका न होना एवम् बहुत दिनतक रोगी रहनेके कारण आयुका कम होना, संतानका न होना या कुत्सित संतान होना अथवा गर्भका पतन या स्राव होजाना ऐसे २ उपद्रव होते हैं। दूषित हुआ शुक्र अपने शरीरके सिवाय स्त्री और सन्तानको भी दुःखदायी होता है अर्थात् स्त्री पुत्रों सहित पुरुषको दुःखित रखता है ॥ २१ ॥ २२ ॥

कुपितदोषोंके कर्म।

इन्द्रियाणि समाश्रित्य प्रकुप्यन्ति यदा मलाः।
उपतापोपघाताभ्यां योजयन्तीन्द्रियाणि ते ॥ २३ ॥

यदि कुपितहुए दोष इन्द्रियोंमें आश्रित होजांय तो इन्द्रियोंका उपताप तथा उपघात होता है ॥ २३ ॥

स्नायौ शिराकण्डरयोर्दुष्टाः क्लिश्यन्ति मानवम्।
स्तम्भसंकोचखल्लीभिर्ग्रन्थिस्फुरणसुप्तिभिः ॥ २४ ॥

यदि वातादिदोष—स्नायु, शिरा एवम् कण्डरा आदि नाडियोंमें प्रकुपित होकर व्यापक होजांय तो मनुष्यके शरीरमें स्तम्भ, संकोच, खल्ली, गाठोंका फडकना तथा अंगोंका सोजाना यह उपद्रव होते हैं ॥ २४ ॥

मलानाश्रित्य कुपिता भेददोषप्रदूषणम्।
दोषा मलानां कुर्वन्ति सङ्गोत्सर्गावतीव च ॥ २५ ॥

कुपित हुए वातादि दोष मलस्थानमें व्यापक होनेसे मलोंका बिलकुल रुकजाना या अत्यन्त निकलना आदि उपद्रव होते हैं ॥ २५ ॥

विविधादशितात्पीतादहितालीढखादितात्।
भवन्त्येते मनुष्याणां विकारा य उदाहृताः ॥ २६ ॥

इस प्रकार अहित, भुक्त, पीत, आलीढ, चर्वित अनेक प्रकारके आहारोंके करनेसे मनुष्योंके शरीरोंमें यह विकार उत्पन्न होते हैं ॥ २६ ॥

तेषामिच्छन्ननुत्पत्तिं सेवेत मतिमान्सदा ।
हितान्येवाशितादीनि न स्युस्तज्जास्तथामयाः ॥ २७ ॥

जो मनुष्य अपने शरीरमें दोषोंके प्रकोपको होने देना नहीं चाहते उन बुद्धिमानोंको हित आहारोंको ही सेवन करना चाहिये क्योंकि हित आहार सेवन करनेसे आहारजनित रोग उत्पन्न ही नहीं होनेपाते ॥ २७ ॥

रसरक्त मांस मेदादिगत दोषोंकी चिकित्सा ।

रसजानां विकाराणां सर्वं लंघनमौषधम् ।
विधिशोणितकेऽध्याये रक्तजानां भिषग्जितम् ॥ २८ ॥

रसजन्य विकारोंमें लंघन करना ही सर्वोत्तम औषधि है । रक्तजनित विकारोंमें विविध शोणतीयाध्यायमें कही हुई चिकित्सा द्वारा रक्तविकारोंको जीतना चाहिये ॥

मांसजानान्तु संशुद्धिः शस्त्रक्षाराग्निकर्म्म च ।
अष्टौनिन्दितसंख्याते मेदोजानां चिकित्सितम् ॥ २९ ॥

मांस जनित विकारोंमें शुद्ध शोधन (वमन विरेचन) क्रिया तथा शस्त्रक्रिया अथवा क्षार या अग्निक्रिया हितकारक होती है । मेदजनित विकारोंकी चिकित्सा अष्टौनिन्दितीय अध्यायमें कथन कर आये हैं॥ २९ ॥

अस्थ्याश्रयाणां व्याधीनां पञ्चकर्माणि भेषजम् ।
वस्तयः क्षीरसर्पींषि तिक्तकोपहितानि च ॥ ३० ॥

अस्थिजनित विकारोंमें—वमन, विरेचनादि पंचकर्म, तिक्तकगण तथा दूध, घृतकी वस्तिद्वारा चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ३० ॥

मज्जाशुक्रसमुत्थानामौषधं स्वादु तिक्तकम् ।
अन्नं व्यवायव्यायामौ शुद्धिः काले च मात्रया ॥ ३१ ॥

मज्जा और शुक्रजनित विकारोंमें मधुर और तिक्त औषधियों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये तथा हित अन्न, उचित मैथुन, व्यायाम एवम् यथा समय उचित मात्रासे संशोधन करना चाहिये ॥ ३१ ॥

सम्पूर्ण रोगोंमें सामान्य चिकित्सा क्रम।

शान्तिरिन्द्रियजानान्तु त्रिमर्मीये प्रवक्ष्यते ॥ ३२ ॥

इन्द्रियजनित विकारोंमें आगे त्रिमर्मीय चिकित्सित नामक अध्यायमें चिकित्सा स्थानमें कहेंगे ॥ ३२ ॥

स्नाय्वादिजानां प्रशमो वक्ष्यते वातरोगिके ।

नवेगान्धारणेऽध्याये चिकित्सासंग्रहः कृतः ॥ ३३ ॥
मलजानां विकाराणां सिद्धिश्चोक्ता क्वचित्क्वचित् ॥ ३४ ॥

स्नायु, शिरा, कण्डरा इनके दोषजनित विकारोंमें जो वातव्याधि चिकित्सा अध्यायमें कथन करेंगे वह यत्न करना चाहिये । मलजनित विकारोंकी चिकित्सा नवेगान्धारणीयाध्यायमें कथन कर चुके हैं । तथा अन्य २ स्थानोंमें भी कहीं कहीं कथन कियाजायगा ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

व्यायामादुष्मणस्तैक्ष्ण्याद्धितस्यानवधारणात् ।
कोष्ठाच्छाखा मला यान्ति द्रुतत्वान्मारुतस्य च ॥ ३५ ॥
तत्रस्थाश्च विलम्बते कदाचिन्नासमीरिताः ।
नादेशकाले कुप्यन्ति भूयो हेतुप्रतीक्षिणः ॥ ३६ ॥

हितकारक आचरण न करनेसे, व्यायाम न करनेसे अथवा अहित व्यायाम करनेसे गर्मीकी तीक्ष्णतासे, वायुकी द्रुतगति होनेसे दोष कोष्ठसे शाखा और मर्मस्थानमें गमन करते हैं फिर उन स्थानोंमें पहुंचकर प्रबलता पाने पर्यन्त विलम्बित रहते, हैं फिर विना समय तथा विना देश इनमें अपने हेतुकी प्रतीक्षा करते हुए कुपित नहीं होते और कारण जनित सहायता प्राप्त कर कुपित हो अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न करते हैं ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

वृद्ध्याभिष्यन्दनात्पाकात्स्रोतोमुखविशोधनात् ।
शाखा मुत्क्वा मलाः कोष्ठं यान्ति वायोश्च निग्रहात् ॥ ३७ ॥

वृद्धिको प्राप्त हुए वह दोष–अभिष्यन्दी होजानेसे अथवा स्रोतोंका मुख शुद्ध होनेसे या पाचन औषधियों द्वारा दोषोंके परिपाक होनेसे दोष वायुके निग्रह होनेसे शाखाओंको छोडकर कोष्ठमें आकर प्राप्त होजाते हैं ॥ ३७ ॥

अजातानामनुत्पत्तौ जातानां विनिवृत्तये ।
रोगाणां यो विधिर्दृष्टः सुखार्थी तं समाचरेत् ॥ ३८ ॥

जो रोग उत्पन्न नहीं हुए हैं उनको उत्पन्न न होने देना और उत्पन्न हुए दोषोंको नष्ट करदेना इन दोनोंके लिये शास्त्रमें जो प्रकार लिखा है उसका सेवन करना सुखकी इच्छावाले मनुष्यको अत्यावश्यक है ॥ ३८ ॥

हितकारी उपदेश ।

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः ।
ज्ञानाज्ञानविशेषात्तु मार्गामार्गप्रवृत्तयः ॥ ३९ ॥

संपूर्ण प्राणीमात्र अपने सुखकी इच्छा करते हुए ही सब कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं परन्तु वह प्रवृत्ति सुमार्ग और कुमार्गके भेदसे दो प्रकारकी होजाती है। इस द्विविध प्रवृत्तिका कारण ज्ञान और अज्ञान ही है क्योंकि अज्ञानवश मनुष्य अपने सुखकी इच्छा करता हुआ कुमार्गमें प्रवृत्त होजाता है और ज्ञानवश सुमार्गमें प्रवृत्त होताहै ३९

हितमेवानुरुध्यन्ते प्रसमीक्ष्य परीक्षकाः ।
रजोमोहावृतात्मानः प्रियमेव तु लौकिकाः ॥ ४० ॥

बुद्धिमान् मनुष्य विचारपूर्वक हितकारी वस्तुओंकाही अवलम्बन करता है एवम् रज और मोहसे ढकी हुई आत्मावाले प्यारी वस्तुओंका अवलम्बन करते हैं। प्रायः संसारमें हित और प्रिय भेदसे दो प्रकारके पदार्थ होते हैं। जो पदार्थ न अच्छा लगनेपर भी हितकारी होता है उसको हित कहते हैं जैसे ज्वरमें निम्बादिचूर्ण। इसी प्रकार जो पदार्थ अहितकारी होनेपर भी प्रिय मालुम होता है उसको प्रिय कहते हैं जैसे कफ प्रधान ज्वरमें दही बडे ॥ ४० ॥

श्रुतं बुद्धिः स्मृतिर्दार्ढ्यं धृतिर्हितनिषेवणम् ।
वाक्प्रशुद्धिः शमो धैर्य्यमाश्रयन्ति परीक्षकम् ॥ ४१ ॥
लौकिकं नाश्रयन्त्येते गुणा मोहतमाश्रितम् ।
तन्मूला बहुलाश्चैव रोगाः शारीरमानसाः ॥ ४२ ॥

बुद्धिमान् परीक्षक शास्त्र, बुद्धि, स्मृति, दृढता, धृति, हितसेवन, वाणीकी शुद्धि-शान्ति और धैर्य इनका आश्रय लेकर कार्यमें प्रवृत्त होता है। और लौकिक मनुष्य इन गुणोंका आश्रय न लेकर मोह और तम आदिके वश हो कार्योंमें प्रवृत्त होता है। सो मोह और तममूलकही संपूर्ण शारीरिक और मानसिक रोग होते हैं॥४१--४२॥

प्रज्ञापराधाद्ध्यहितानर्थान् पञ्च निषेवते ।
सन्धारयति वेगांश्च सेवते साहसानि च ॥ ४३ ॥
तदात्वसुखसंज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते ।
रज्यते न तु विज्ञाता विज्ञाने ह्यमलीकृते ॥ ४४ ॥
न रोगान्नाप्यविज्ञानादाहारमुपयोजयेत् ।
परीक्ष्य हितमश्नीयाद्देहो ह्याहारसम्भवः ॥ ४५ ॥

मनुष्य बुद्धिके अपराधसे ही पांच प्रकारके अहित विषयोंका सेवन करता है। अज्ञानता वशही मल आदिके वेगोंको धारण करता है तथा अनुचित साहसको करता है इसी लिये वह अज्ञानी मनुष्य परिणामको न समझता हुआ असुखकारक

अर्थात् दुःखदायी भावोंमें आसक्त होजाता है। परन्तु ज्ञानी मनुष्य निर्मल ज्ञानके प्रभावसे असुखकारी विषयोंमें प्रवृत्त नहीं होता और रागसे तथा अज्ञानसे अहित आहारका सेवन नहीं करता इसलिये हित और अहितका विचार कर हित आहार-काही सेवन करना चाहिये क्योंकि यह शरीर आहारसे ही उत्पन्न होताहै ॥ ४३-४५ ॥

आहारस्य विधावष्टौ विशेषा हेतुसंज्ञकाः ।
शुभाशुभसमुत्पत्तौ तान्परीक्ष्योपयोजयेत् ॥ ४६ ॥
परिहार्य्याण्यपथ्यानि सदा परिहरन्नरः ।
भवत्यनृणतां प्राप्तः साधूनामिह पण्डितः ॥ ४७ ॥

आहारके सम्बन्धमें हेतुसंज्ञक आठप्रकारका विधान किया गयाहै (विमानस्थान देखो)। मनुष्यको उचित है कि शुभ और अशुभकी उत्पत्तिके विषयमें पूर्णरूपसे परीक्षा करताहुआ आहारका उपयोग करे जो पदार्थ त्याग देने योग्य हों उनको त्यागताहुआ पथ्य वस्तुओंका सेवन करे। ऐसा करनेसे बुद्धिमान् मनुष्य त्रिविध ऋणसे विमुक्त होकर सुखको प्राप्त होताहै ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

यत्तु रोगसमुत्थानमशक्यमिह केनचित् ।
परिहर्त्तुं न तत् प्राप्य शोचितव्यं मनीषिणा ॥ ४८ ॥

और जो मनुष्य रोगके कारणरूपी अहित सेवनको त्यागनेमें असमर्थ है वह मूर्ख बुद्धिमानों करके सोचने योग्य है अथवा यदि कोई रोगका ऐसा कारण हो जो किसीप्रकार भी दूर न किया जासकता हो तो बुद्धिमान्को चाहिये कि उसके लिये चिंतित होकर अपने शरीरको और भी कष्ट न बढावे ॥ ४८ ॥

तत्र श्लोकाः—आहारप्रभवो यस्तु रोगाश्चाहारसम्भवाः ।
हिताहितविशेषाश्च विशेषः सुखदुःखयोः ॥ ४९ ॥
सहत्वे चासहत्वे च दुःखानां देहसत्त्वयोः ।
विशेषो रोगसंघाश्च धातुजा ये पृथक् पृथक् ॥ ५० ॥
तेषाञ्चैव प्रशमनं कोष्ठाच्छाखा उपेत्य च ।
दोषा यथा प्रकुप्यन्ति शाखाभ्यः कोष्ठमेत्य च ॥ ५१ ॥
प्राज्ञाज्ञयोर्विशेषश्च स्वस्थातुरहितञ्च यत् ।
विविधाशितपीतीये तत्सर्वं सम्प्रकाशितम् ॥ ५२ ॥

इति अग्निवेशकृते तंत्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने अन्नपानचतुष्के विविधाशितपीतीयो नाम अष्टाविंशोऽध्यायःसमाप्तः ॥२८॥

यहांपर अध्यायकी पूर्त्तिमें श्लोक हैं। आहारसे उत्पन्न होनेवाला रोग और आहारसे उत्पन्न होनेवाला शरीर, शरीरका हित और अहित तथा हित और अहित विशेषसे सुख दुःख विशेष और दुःखके सहन योग्य तथा असहन योग्य शरीर, धातुओंमें होनेवाले विविध प्रकारके रोग समूह, उनके शान्तिके उपाय, दोषोंका कोष्ठाश्रित और शाखाश्रित होना, बुद्धिमान् तथा अज्ञानीका कृत्य, स्वस्थ और आतुरके लिये हितकारक उपदेश यह सब इस विविध अशितपीतीय अध्यायमें वर्णन किया गयाहै ॥ ४९–५२ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां पटियालाराज्यान्तर्गतटकसालनिवासि-वैद्यपञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्य-भाषाटीकायां विविधाशितपीतीयो नामाष्टविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः।

अथातो दशप्राणायतनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम दशप्राणायतनीय अध्यायकी व्याख्या करतेहैं ऐसे भगवान् आत्रेयजी कथन करनेलगे ॥

प्राणस्थान तथा प्राणाभिसर वैद्य।

दशैवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः।
शंखौ मर्म्मत्रयं कण्ठो रक्तं शुक्रौजसी गुदम् ॥ १ ॥
तानीन्द्रियाणि विज्ञानं चेतनाहेतुमामयम्।
जानीते यः स विद्वान् वै प्राणाभिसर उच्यते। इति ॥ २ ॥

जिनमें प्राण आश्रयभूत रहतेहैं वह दश स्थान हैं अर्थात् शरीरमें प्राणोंके रहनेके दश स्थान हैं। जैसे दोनों कनपटी, मस्तक, हृदय, वस्ती, कोष्ठ, रक्त, शुक्र, ओज और गुदा, जिस वैद्यको यह दश प्राणायतन और इन्द्रियें इनका विज्ञान, चेतना, हेतु तथा समस्त रोग इन सबका यथोचित ज्ञान है वह ही प्राणाभिसर अर्थात् प्राणोंका रक्षक वैद्य कहाजाताहै ॥ १ ॥ २ ॥

वैद्योंके भेद।

द्विविधास्तु खलु भिषजो भवन्ति अग्निवेश !। प्राणानामेकेऽभिसरा हन्तारो रोगाणां, रोगाणामेकेऽभिसरा हन्तारः प्राणानामिति ॥ ३॥

संसारमें दो प्रकारके वैद्य होते हैं। हे अग्निवेश ! एक वैद्य तो रोगोंको नष्ट करनेवाले और प्राणोंकी रक्षा करनेवाले होते हैं, दूसरे रोगोंको बढानेवाले और प्राणोंको हनन करनेवाले होते हैं ॥ ३ ॥

अग्निवेशका प्रश्न।

एवं वादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच। भगवन् ! ते कथमस्माभिर्वेदितव्या भवेयुरिति ॥ ४ ॥

इस प्रकार कहतेहुए भगवान् आत्रेयजीसे अग्निवेश कहनेलगे कि हे भगवन् ! हम इन दोनोंको किस प्रकार जानसकते हैं अर्थात् इन दोनोंके जाननेका क्या उपाय है ॥ ४ ॥

सद्वैद्यके लक्षण।

भगवानुवाच य इमे कुलीनाः पर्य्यवदातश्रुताः परिदृष्टकर्माणो दक्षाः शुचयो जितहस्ता जितात्मानः सर्वोपकरणवन्तः सर्वेन्द्रियोपपन्नाः प्रकृतिज्ञाः प्रतिपत्तिज्ञास्ते प्राणिनामभिसरा हन्तारो रोगाणाम्।तथाविधा हि केवले शरीरज्ञाने शरीराभिनिर्वृत्तिज्ञाने प्रकृतिज्ञाने च निःसंशयाः। सुखसाध्यकृच्छ्रसाध्ययाप्यप्रत्याख्येयानाञ्च रोगाणां समुत्थानपूर्वरूपलिङ्गवेदनोपशयविशेषविज्ञाने व्यपगतसन्देहाः त्रिविधस्यायुर्वेदसूत्रस्य ससंग्रहव्याकरणस्य सत्रिविधौषधग्रामस्य प्रवक्तारः॥५॥

यह सुनकर भगवान् आत्रेयजी कहनेलगे कि, जो वैद्य कुलीन, अनुभवसम्पन्न, शास्त्रज्ञ, दृष्टकर्मा, चतुर, पवित्र, सिद्धहस्त, जितात्मा, औषधादि सब उपकरण संयुक्त, सर्वेन्द्रियसम्पन्न तथा प्रकृतिका जाननेवाला होता है उसको प्राणाभिसर अर्थात् प्राणरक्षक वैद्य कहते हैं तथा शारीरिक सम्बन्धमें पूर्णज्ञानी शरीरनाशक रोग तथा द्रव्योंका जाननेवाला, शरीरके उत्पत्तिकारक पदार्थोंको जाननेवाला, प्रकृतिके ज्ञानके विषयमें निःसंशय हो तथा सुखसाध्य, कष्टसाध्य, याप्यसाध्य और असाध्य रोगोंके कारण, पूर्वरूप, रूप, वेदना और उपशय इनके ज्ञानविशेषमें संदेहरहित एवम् हेतु लक्षण औषधि इस त्रिविध आयुर्वेदसूत्रके संग्रह और व्युत्पत्ति एवम् त्रिविध औषधके जाननेमें यथार्थज्ञानी हो उसको प्राणाभिसर रोगहन्ता वैद्य कहते हैं ॥ ५ ॥

पञ्चत्रिंशतश्च मूलफलानां चतुर्णां महास्नेहानां पञ्चानां लवणानामष्टानाञ्च सूत्राणामष्टानाञ्च मूत्राणामष्टानाञ्च क्षीराणां क्षीरत्वक्वृक्षाणाञ्च षण्णां शिरोविरेचनादेश्च पञ्चकर्माश्रयस्यौषधगणस्याष्टाविंश-

तेश्च यवागूनां द्वात्रिंशतश्च चूर्णप्रदेहानां षण्णां विरेचनशतानां पञ्चानाञ्च कषायशतानामिति स्वस्थवृत्तौ च भोजनपाननियमस्थानचङ्क्रमणशय्यासनमात्राद्रव्याञ्जनधूमनावनाभ्यञ्जनपरिमार्जनवेगविधारणाविधारणव्यायामसात्म्येन्द्रियपरीक्षोपक्रमसद्वृत्तकुशलाः ॥ ६ ॥

तथा पैंतीसप्रकारके मूल और फल, चार महास्नेह, पञ्चलवण, अष्टमूत्र, आठप्रकारके दूध, क्षीरप्रधान तथा त्वचाप्रधान वृक्षोंके षट्क (छःप्रकार) शिरोविरेचनादि पंचकर्माश्रित औषधिगण, अट्ठाईसप्रकारकी यवागू, बत्तीसप्रकारके चूर्ण और प्रलेप, छःसौ विरेचन, पांचसौ कषाय, स्वास्थ्यरक्षाके लिये भोजन पानके नियम, स्थान, भ्रमण, शय्या, आसन, मात्रा, द्रव्य, अंजन, धूम्रपान, नस्य, अभ्यंजन, परिमार्जन, वेगोंका धारण और वेगोंका अविधारण, व्यायाम, इन्द्रिय, सात्म्य और पदार्थोंकी परीक्षा एवम् रोगोंका निवृत्तिकारक यत्न आदि श्रेष्ठवृत्तमें कुशल हो उसको ही प्राणाभिसरवैद्य कहते हैं ॥ ६॥ (प्रथमाध्यायसे नवमतकका कथन इसमें कियागया)

चतुष्पादोपगृहीते च भेषजे षोडशकले सविनिश्चये सत्रिपर्य्येषणे सवातकलाकलज्ञाने व्यपगतसन्देहाः । चतुर्विधस्य च स्नेहस्य चतुर्विंशत्यपनयनस्य उपकल्पनीयोक्तचतुःषष्टिपर्य्यन्तस्य व्यवस्थापयितारो बहुविधविधानयुक्तानाञ्च स्नेहस्वेदवम्यविरच्यौषधोपचाराणां कुशलाः । शिरोरोगादेश्च दोषांशविकल्पजस्य व्याधिसंग्रहस्य संक्षयपिडकविद्रधेः त्रयाणाञ्च शोफानां बहुविधशोफानुबन्धानामष्टाचत्वारिंशतश्च रोगाधिकारिणां चत्वारिंशदधिकस्य च नानात्मजस्य व्याधिशतस्य । तथाविगर्हितातिस्थूलातिकृशानां सहेतुलक्षणोपक्रमाणां स्वप्नस्य च हिताहितस्यास्वप्नातिस्वप्नस्य च सहेतूपक्रमस्य षण्णाञ्च लंघनादीनामुपक्रमाणां सन्तर्पणापतर्पणजानां रोगाणां स्वरूपप्रशमनानां शोणितजानाञ्च व्याधीनां मदमूर्च्छायसंन्यासानाञ्च सकारणरूपौषधानां कुशलाः। कुशलाश्चाहारविधिनिश्चयस्य प्रकृत्याहिततमानामाहारविकाराणामग्र्यसंग्रहस्यासवानाञ्च चतुरशीतेः द्रव्यगुणविनिश्चयस्य रसानुरससंश्रयस्य सविकल्पकवैरोधिकस्य द्वादशवर्गाश्रयस्य चान्नपानस्य सगुणप्रभावस्य सानुपानगुणस्य विविध-

स्यान्नसंग्रहस्य आहारगतेश्च हिताहितोपयोगविशेषात्मकस्य च शुभाशुभविशेषस्य धात्वाश्रयाणाञ्च रोगाणामौषधसंग्रहाणाञ्च दशानाञ्च प्राणायतनानां यञ्च वक्ष्याम्यर्थे दशमहामूलीये त्रिंशत्तमाध्याये तत्र च कृत्स्नस्य तन्त्रोद्देशलक्षणस्य तन्त्रस्य च ग्रहणधारणविज्ञानप्रयोगकर्मकार्य्यकालकर्तृकरणकुशलाः ॥ ७ ॥

षोडशकलायुक्त चतुष्पाद औषधका ज्ञान, त्रिविध एषणा, वातकलाकल ज्ञानमें, निःसन्देह, चतुर्विध स्नेह, चौबीस प्रकार स्नेहकी विचारणा, उपकल्पनीय अध्यायमें कहीहुई चौंसठ प्रकारकी व्यवस्थापयिता हो एवम् अनेक प्रकारके विधानसे स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचनके योग्य प्रयोग, औषध, उपचार इनमें कुशल हो उसको ही प्राणाभिसर वैद्य कहना चाहिये। शिरोरोगादिक रोगोंके दोषोंका अंशांश कल्पनाजन्य विकल्प व्याधिसंग्रह, दोष और धातुओंका क्षय, पिडका, विद्रधी, त्रिविध शोथ, शोथके अनेक प्रकारके अनुबन्ध, अडतालीस रोगाधिकरण, चालीस पित्तरोग, बीस कफरोग, अस्सी वातरोग, अतिस्थूल और अतिकृश शरीरोंकी निंदा और उनके कारण तथा लक्षण एवम् चिकित्सा। निद्रा, अनिद्रा, अतिनिद्राका हित और अहित कारण, यत्न। लंघन आदि छःप्रकारकी चिकित्सा, संतर्पण और अपतर्पणजन्य रोगोंके स्वरूप और उपाय, रक्त रोग, मद, मूर्च्छा, संन्यास इनके हेतु रूप और चिकित्सा इन सबमें कुशल हो। एवम् आहारविधिके विनिश्चयमें कुशल स्वभावसे ही हितकारक आहार तथा आहारजन्य विकार और आहारजनित विकोरोंके सिवाय अन्य विकारोंके कारण, चौरासी प्रकारके आसव द्रव्योंके गुणोंका विनिश्चय, रस तथा अनुरसोंका विनिश्चय तथा उनके भेद विरोधकारक आहारोंका वर्णन, अन्नपान विषयक द्वादश वर्गोंका निश्चय, अन्नपान और गुणके प्रभाव तथा उनके अनुपानोंके गुण तथा उनकी विधि, अनेक प्रकारके द्रव्योंकी गुरुता और लघुताका संग्रह, आहार सम्बन्धी हित और अहित पदार्थोंका उपयोग तथा उनसे होनेवाले शुभ अशुभ रसादिक धातुओंके आश्रितरोग और उनके उपाय प्राणोंके दश स्थान और जो कुछ दशमूली नामक तीसवें अध्यायमें कथन करेंगे वह संपूर्ण तथा इस प्रकार शास्त्रका उद्देश्य, लक्षण, ग्रहण धारणका अनेक प्रकारका ज्ञान एवम् प्रयोगज्ञान, कर्म, कार्य, काल, कर्त्ता और करण इन संपूर्ण विषयोंमें कुशल हो (नौसे लेकर तीसवें अध्यायतककी सूची इसमें देदी है) ॥ ७ ॥

कुशलाश्च स्मृतिमतिशास्त्रयुक्तिज्ञानस्यात्मनः शीलगुणैरविसंवादेनन सम्पादनेन सर्वप्राणिषु च चेतसो मैत्रेयस्य मातृपितृभ्रातृबन्धुवदेवं युक्ता भवन्ति अग्निवेश ! प्राणानामभिसरा हन्तारो रोगाणामिति॥८॥

इस प्रकार सूत्रस्थानोक्त तीस अध्यायोंके विषयोंका यथोचित ज्ञान रखता हुआ स्मृति, मति, शास्त्र, युक्ति तथा ज्ञान सम्पन्न हो एवम् आत्माके शील आदि गुणोंसे सब मनुष्योमें मैत्रीभाव रखता हुआ तथा निर्विवाद होकर संपूर्ण मनुष्योंका माता, पिता, भाई और बन्धुवर्गके समान हित करनेवाला हो । इन उपरोक्त सम्पूर्ण गुणोंवाला जो वैद्य होता है हे अग्निवेश ! उसको ही प्राणाभिसर और रोगोंका नाश करनेवाला वैद्य कहना चाहिये ॥ ८ ॥

रोगाभिसरके लक्षण।

अतो विपरीता रोगाणामभिसरा हन्तारः प्राणिनामिति । भिषक्छद्मसुश्चच्छन्नाः कण्टकभूता लोकस्य प्रतिरूपकसहधर्माणो राज्ञां प्रमादाच्चरन्ति राष्ट्राणि । तेषामिदं विशेषविज्ञानमत्यर्थं वैद्यवेशेन श्लाघमाना विशिखान्तरमनुचरन्ति कर्म्मलोभात् । श्रुत्वा च कस्यचिदातुर्य्यमभितः परिपतन्ति संश्रवणे चास्यात्मनो वैद्यगुणानुच्चैर्वदन्ति । यश्चास्य वैद्यः प्रतिकर्म्म करोति तस्य च दोषान्मुहुर्मुहुरुदाहरन्ति । आतुरमित्राणि च प्रहर्षणोपजापोपसेवाभिरिच्छन्ति आत्मीकर्त्तुमल्पेच्छुताञ्चात्मनः ख्यापयन्ति । कर्म्म चासाद्य मुहुर्मुहुरवलोकयन्ति दाक्ष्येणाज्ञानमात्मनः छादयितुकामाः।व्याधिञ्चापवर्त्तयितुमशक्नुवन्तो व्याधितमेवानुपकरणमपचारिकमनात्मवन्तमुद्दिश्यन्ति । अन्तर्गतञ्चाभिसमीक्ष्यान्यमाश्रयन्ति देशमादेशमात्मनः कृत्वा । प्राकृतजनसन्निपाते चात्मनः कौशलमकुशलवद्वर्णयन्ति । अधीरवच्च धैर्य्यमपवदन्ति धीराणाम् । विद्वज्जनसन्निपातञ्चाभिसमीक्ष्य प्रतिभयमिव कान्तारमध्वगाः परिहरन्ति दूरात् ॥ ९ ॥

इन उपरोक्त संपूर्ण लक्षणोंसे विपरीत गुणवालेको रोगाभिसर और प्राणनाशक कहनाचाहिये । जो लोग वैद्यका वेश धारण किये, संसारमें कंटकरूप वैद्योंकेसे रूप धारण कियेहुए राजाओंकी असावधानीसे राज्यके अन्दर फ़िरते हैं उन धूर्तोंकी यही पहिचान है कि वह वैद्यका वेश धारण कियेहुए अपने मुखसे अपनी बडी बडाई करतेहुए रास्तेमें तथा जिस मार्गपर बहुत आदमी फिराकरते हैं उन स्थानोंमें कर्म लोभसे फिरा करते हैं और किसी मनुष्यको बीमार सुनकर झट उसके पास जा पहुँचते हैं और उसके कानके समीप विना ही पूछे अपने बडेभारी वैद्य होनेके गुण वर्णन करने लगजाते हैं और जो वैद्य पहिले उपाय कर रहाहो उसके दोषोंको वारबार

अपने मुखसे कथन करतेहुए अपनी प्रशंसा करते हैं तथा रोगीके मित्रोंको किसी प्रकारकी सेवा आदिसे या अन्य किसी लोभसे प्रसन्न कर अपना बनानेकी इच्छा करतेहैं और अपने आपको निर्लोभ जंचाते हुए रोगीके सम्बन्धियोंसे अपने लेनेके विषयमें बडी युक्तिके साथ थोडीसी इच्छा जंचाते हैं। तथा चिकित्सा करतेहुए पाखण्डसे रोगी और औषधीको वारवार देखतेहुए अपनी औषधीकी तारीफ करतेहैं और चतुराईपूर्वक अपनी मूर्खताको छिपाते जाते हैं। जब रोग बढने लगताहै तो रोगीको कुपथ्य करनेवाला और अजितात्मा बताकर अपनेको निर्दोष ठहरा अपने अवगुणको छिपाना चाहतेहैं। रोगीकी अवस्था बिगडते देख उसके मकानको छोड दूसरे स्थानमें चलेजाते हैं। और हमको कहीं अत्यावश्यक कार्य हैं ऐसा कहकर अन्यस्थानमें चलेजातेहैं। यह दुष्ट साधारण मनुष्योंके समूहमें उन लोगोंको मूर्खसा बनाते हुए अपनी इतनी चतुराई दिखाते हैं और अधीरके समान ऐसी बातें बनाते हैं कि जिनको सुनकर धीरपुरुषोंका भी धैर्य जातारहे। जब किसी विद्वान्को आते देखते हैं तो मारे भयके दूरसे ही उनके आने जानेके रास्तेसे ऐसे दूर रहते हैं जैसे वह रास्ता कोई जङ्गल हो ॥ ९ ॥

यश्चैषां कश्चित्सूत्रावयव उपयुक्तस्तं प्रकृते प्रकृतान्तरे वा सततमुदाहरन्ति। न चानुयोगमिच्छन्ति अनुयोक्तुं वा मृत्योरिव चानुयोगादुद्विजन्ते। न चैषामाचार्य्यः शिष्यो वा सब्रह्मचारी वैवादिको वा कश्चित्प्रज्ञायते। इति॥ १० ॥

यह दुष्ट किसी एकाध वैद्यकके सूत्रके अवयवको याद कररखते हैं उसीको युक्त और अयुक्त हरसमय कहते रहते हैं। न प्रश्नका उत्तर देना चाहते हैं न स्वयं पूछना चाहते हैं। पृच्छासे मृत्युकी तरह डरते हैं। न तो कहीं इनके गुरुका पता होताहै न इनके शिष्य आदिक कहीं होते हैं न कोई इनका स्वाध्यायी दिखाई पडताहै न किसी ऐसे वैद्यका पता लगताहै कि जिससे इन्होंने कभी शास्त्रकी बातचीत की हो॥ १०॥

भिषकछद्म प्रविश्यैवं व्याधितांस्तर्कयन्ति ये।
वीतंसमिव संश्रित्य वने शाकुन्तिको द्विजान्।
श्रुतदृष्टक्रियाकालमात्रास्थानबहिष्कृताः।
वर्ज्जनीया हि ते मृत्योश्चरन्त्यनुचरा भुवि ॥ ११ ॥

जैसे शिकारी पक्षियोंको जालमें फंसानेके लिये वनमें छिपे हुए रहते हैं उसीप्रकार यह दुष्ट भी वैद्योंका स्वरूप बनाये हुए रोगियोंको अपने जालमें फंसानेकी कोशिशमें रहते हैं। शास्त्र, अनुभव, क्रिया, काल, मात्रा, स्थान इन सबके ज्ञानसे

रहित, मृत्युके अनुचररूप जो वैद्यका वेश धारण किये फिरते हैं उनको वैद्यकीय क्रियामें दृष्टिमात्रसे ही त्याग देना चाहिये ॥ ११ ॥

वृत्तिहेतोर्भिषङ्मानपूर्णान्मूर्खविशारदान्।
वर्ज्जयेदातुरो विद्वान् सर्पास्ते पीतमारुताः ॥ १२ ॥

जो मनुष्य सामान्य आजीवनके निमित्त वैद्यवेश धारण किये हुए हैं ऐसे धूर्तोंको बुद्धिमान् रोगी दूरसे ही त्याग देवे। क्योंकि, यह दुष्ट पवन पिये हुए सर्पोंके समान जानने चाहियें ॥ १२ ॥

ये तु शास्त्रविदो दक्षाः शुचयः कर्मकोविदाः।
जितहस्ता जितात्मानस्तेभ्यो नित्यकृतं नमः ॥ १३ ॥

जो वैद्य शास्त्रके जाननेवाले हैं तथा आयुर्वेदके सब विषयोंमें चतुर हैं, शुद्धचित्त हैं, वैद्यकर्ममें विशारद हैं, जिन्होंने हस्तक्रियाको भले प्रकार सीखाहै उन जितात्मा वैद्योंको नित्यप्रति नमस्कार है ॥ १३ ॥

तत्र श्लोकः–दशप्राणायतनिके श्लोकस्थानार्थसंग्रहः।
द्विविधा भिषजश्चोक्ताः प्राणस्यायतनानि च ॥ १४ ॥

इति दशप्राणायतनीयो नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः समाप्तः ॥२९॥

अध्यायकी पूर्त्तिमें यह एक श्लोक है--इस दशप्राणायतनीयनामक अध्यायमें संपूर्ण सूत्रस्थानके विषयोंका संग्रह, दो प्रकारके वैद्य और प्राणोंके दश स्थान वर्णन कियेगये हैं ॥ १४ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां पटियालाराज्यांतर्गतटकसालनिवासिवैद्य-
पञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्यभाषा-
टीकायां दशप्राणायतनीयो नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

त्रिंशत्तमोऽध्यायः।

अथातोऽर्थेदशमूलीयमध्यायं व्याख्यास्यामः इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम अर्थेदशमूलीय नामक अध्यायका वर्णन करते हैं ऐसा आत्रेय भगवान् कहने लगे ॥

अर्थे दश महामूलाः समासक्ता महाफलाः।
महच्चार्थश्च हृदयं पर्य्यायैरुच्यते बुधैः ॥ १ ॥

महत्, हृदय और अर्थ यह तीनों शब्द हृदयके वाचक हैं। हृदयसे दश धमनी संज्ञक नाडी लगी हुई है यह नाडियां महामूला और महाफला कही जाती हैं ॥ १ ॥

हृदयाधीन अङ्गावयव।

षडङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम् ।
आत्मा च सगुणश्चेतः चिन्त्यञ्च हृदि संश्रितम् ॥ २ ॥
प्रतिष्ठार्थं हि भावानामेषां हृदयमिष्यते ।
गोपानसीनामागारकर्णिकेवार्थचिन्तकैः ॥ ३ ॥

दो हाथ, दो पांव, मस्तक और देहका मध्यभाग यह शरीरके ६ अंग कहेजाते हैं। कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका यह ५ इन्द्रियें कही जाती हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध यह ५ इन्द्रियोंके विषय होते हैं। सगुण आत्मा और चेतना शक्ति यह चिन्तनके योग्य हृदयके आश्रित हैं। संपूर्ण शारीरिक भावोंके आश्रयके लिये शरीरमें हृदयरूप खंभा है जैसे—घासके छप्परके नीचे सम्पूर्ण छप्परके अवयवोंको टिकानेके लिये एक स्तम्भ रहता है उसी प्रकार शरीरके संपूर्ण भावोंको टिकानेके लिये हृदयके जाननेवालोंने हृदय कहा है ॥ २ ॥ ३ ॥

महामूलादिनामका कारण।

तस्योपघातान्मूर्च्छायं भेदान्मरणमृच्छति ।
यद्धि तत्स्पर्शविज्ञानं धारि तत् तत्र संश्रितम् ॥ ४ ॥

हृदयमें चोट आदि किसी प्रकारका उपघात होनेसे संपूर्ण शरीरमें मूर्च्छाआजाती है एवम् हृदयके फटजानेसे मृत्यु होजाती है। जो स्पर्शेन्द्रिय आदि इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुई ज्ञानको धारण करनेवाली जीवनी शक्ति है वह हृदयके ही आश्रयीभूत है ॥ ४ ॥

तत्परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः ।
हृदयं महदर्थश्च तस्मादुक्तं चिकित्सकैः ॥ ५ ॥

चैतन्यशक्तिका धारण करनेवाला जो ओजधातु है वह ओज और चैतन्य भी हृदयके ही आश्रय हैं इस लिये चिकित्सकोंने हृदयको महत् और अर्थ कहा है ॥ ५ ॥

ओजोधातुका गुणकर्म।

तेन मूलेन महता महामूला मता दश ।
ओजोवहाः शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः ॥ ६ ॥
येनौजसा वर्त्तयन्ति प्रीणिताः सर्वदेहिनः ।
यदृते सर्वभूतानां जीवितं नावतिष्ठते ॥ ७ ॥

यह हृदय ही उन बडी बडी दश धमनियोंका मूल होनेसे वह नाडियाँ महामूला कहीजाती हैं यह दश धमनियें शरीरमें ओजको वहन करती हुई सम्पूर्ण शरीरमें ध्मायमान होती हैं इसलिये इनको धमनी कहते हैं । उस ओजके द्वारा ही सम्पूर्ण शरीरको पालन करती हुई देहको जीवित रखती है जिस ओजके विना सम्पूर्ण मनुष्योंका जीवन नहीं रहसकता ॥ ६ ॥ ७ ॥

यत् सारमादौ गर्भस्य योऽसौ गर्भरसाद्रसः ।
संवर्तमानं हृदयं समाविशति यत् पुरा ॥ ८ ॥
यस्य नाशात्तु नाशोऽस्ति धारि यद्धृदयाश्रितम् ।
यः शरीररसः स्नेहप्राणा यत्र प्रतिष्ठिताः ॥ ९ ॥

ओज ही आदिमें गर्भका सारभूत हैं तथा गर्भके उत्पन्न करनेवाले रसका भी सार है। यह ओज ही शरीरको उत्पन्न करनेके लिये हृदयमें प्रथम प्रवेश होता है जिस ओजके नष्ट होनेसे शरीर भी नष्ट होजाता है वह ओजही हृदयमें रहकर शरीरको धारण करता है । यही शरीरका बल है, देह और प्राण इसीके आश्रित हैं तथा शरीरके धारण करनेवाले रस और स्नेह यह सब उस ओजके ही आश्रय हैं ॥८॥९॥

महाफलकी निरुक्ति ।

तत्फला विविधा वाताः फलन्तीति महाफलाः ।
ध्मानाद्धमन्यः स्रवणात्स्रोतांसि सरणाच्छिराः ॥ १० ॥
तन्महत्ता महामूलास्तच्चौजः परिरक्षता ॥
परिहार्य्या विशेषेण मनसो दुःखहेतवः ॥ ११ ॥

शरीरको जीवित रखनेवाली अनेक किस्मकी वायुमें हृदयका फल है। उन पवनरूपी फलोंको हृदयसे लगी हुई धमनियें फलती हैं । इसीलिये इनको महाफला कहाजाता है शरीरमें धमन (रससे पूर्ण) करती हैं इसलिये धमनी कहीजाती हैं । स्रवण (पोषणकर्त्ता रसका स्राव करनेसे) स्रोत कहेजाते हैं । इसका सरण (रसका अन्य स्थानमें पहुंचाना) करनेसे इनका नाम सिरा है। उस हृदय तथा उन धमनियों एवम् उस ओजकी रक्षा करते हुए मनुष्यको दुःखोंके हेतुओंसे बचना चाहिये १०-११

हृद्यं यत् स्याद्यदौजस्यं स्रोतसां यत्प्रसादनम् ।
तत्तत् सेव्यं प्रयत्नेन प्रशमो ज्ञानमेव च ॥ १२ ॥

जो पदार्थ हृदयको प्रिय हो तथा ओजको बढानेवाला हो एवम् धमनियोंके स्रोतोंको प्रसन्न करनेवाला हो उसका ही यत्नपूर्वक सेवन करनाचाहिये एवम् यत्नपूर्वक शांति और ज्ञानको धारण करना चाहिये ॥ १२ ॥

ओज बलादि वर्द्धक एक एक उपाय।

अथ खलु एकं प्राणवर्द्धनानामुत्कृष्टतममेकं बलवर्द्धनानामेकं बृंहणानामेकं नन्दनानामेकं हर्षणानामेकमयनानामिति । तत्राहिंसा प्राणिनां प्राणवर्द्धनानामुत्कृष्टतमा । वीर्य्यं बलवर्द्धनानाम् । विद्या बृंहणानाम् । इन्द्रियजयो नन्दनानाम् । तत्त्वावबोधो हर्षणानाम् । ब्रह्मचर्य्यमयनानामित्यायुर्वेदविदो मन्यन्ते ॥ १३ ॥

शरीरकी रक्षाके सम्बन्धमें अनेक उपाय होते हुए भी प्राणोंको बढानेवाला सबमें उत्तम एक उपाय है बलवर्द्धक पदार्थोंमें एक उपाय प्रधान है । बृंहणकर्त्ताओंमें, आनन्द बढानेवालोंमें, हर्षोत्पादकोंमें, सब प्रकारकी गति बढानेवालोंमें एक एक उपाय सर्वोत्तम और प्रधान कहा है । वह इस प्रकार है-किसी प्रकारकी भी हिंसा न करना सबसे उत्तम प्राण बढानेका उपाय है । वीर्यकी रक्षा सबसे बढकर बलवर्द्धक उपाय है । विद्या होना सबसे बढकर बृंहण (पुष्टता) का उपाय है । इन्द्रियोंको अपने वशमें रखना सबसे बढकर आनन्द बढानेका उपाय है । तत्त्वका ज्ञान होना सबसे बढकर हर्ष (प्रसन्नता) के बढानेका उपाय है । ब्रह्मचर्य पालन करना सब प्रकारकी गतिके बढानेका उपाय है।आयुर्वेदके जाननेवाले इस प्रकार मानते हैं ॥१३॥

आयुर्वेदवित्‌के लक्षण।

तत्रायुर्वेदविदस्तन्त्रस्थानाध्यायप्रश्नानां पृथक्त्वेन वाक्यशो वाक्यार्थशोऽर्थावयवशश्च प्रवक्तारो मन्तव्याः ॥ १४ ॥

जिसको इस आयुर्वेद तन्त्रके स्थान, अध्याय, क्रमपूर्वक प्रश्नोंका विभाग, वाक्य, वाक्यार्थ, अर्थावयव अच्छी तरहसे आतेहों अर्थात् इन सबका जाननेवाला हो उसको आयुर्वेदवित् (आयुर्वेदका जाननेवाला) कहते हैं ॥ १४ ॥

तंत्रादिशब्दोंकी व्याख्या।

अत्राह। कथं तन्त्रादीनि वाक्यशो वाक्यार्थशोऽवयवशश्चेति उक्तानि भवन्ति । अत्रोच्यते । तन्त्रमार्षं कार्त्स्न्येन यथास्थानमुच्यमानं वाक्यशो भवत्युक्तम्। बुद्धया सम्यगनुप्रविश्यार्थतत्त्वं वाग्भिर्व्याससमासप्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनयुक्ताभिः त्रिविधशिष्यबुद्धिगम्याभिरुच्यमानं वाक्यार्थशो भवत्युक्तम्। तन्त्रनियतानामर्थदुर्गाणां पुनर्भावनैरुक्तमर्थावयवशो भवत्युक्तम् । तत्र चेत्प्रष्टारः स्युः चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानां कं वेदमुपदिशन्ति आयुर्वेदविदः।

किमायुः। कस्मादायुर्वेदः किञ्चायमायुर्वेदः। शाश्वतोऽशाश्वत इति । कानि चास्याङ्गानि । कैश्चायमध्येतव्यः । किमर्थञ्चेति ॥ १५ ॥

अब कहते हैं कि तन्त्रादिक वाक्यद्वारा तथा वाक्यार्थद्वारा एवम् अर्थावयवद्वारा किस तरह जानेजाते हैं और किनको तन्त्रादि कहते हैं ? सो कहाजाता है कि भूत, भविष्यत्, वर्त्तमानके जाननेवाले ऋषियोंके बनायेहुए ग्रन्थको तन्त्र कहाजाता है। बहुतसे विषयोंके कथनके समुदायको स्थान कहते हैं और वह वेदानुसार कहाहुआ होनेसे वाक्य कहाजाता है। इस प्रकार संपूर्ण तन्त्रको भलेप्रकार जानकर उसके अर्थतत्त्वको प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमनके साथ उत्तम बुद्धिवाले तथा मध्यम बुद्धिवाले एवम् कनिष्ठ बुद्धिवाले शिष्योंकी बुद्धिको जानकर संक्षेपसे अथवा विस्तारसे समझायाजानेवाला उपदेश वाक्यार्थसे कथन करना कहाजाता है। ग्रंथमें कहेहुए कठिन कठिन शब्दोंको फिर अंशांशद्वारा स्पष्ट कर कहना अर्थावयव कहाजाता है। यदि वहांपर कोई ऐसा प्रश्न करनेवाला हो कि ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद इन चारों वेदोंमेंसे किस वेदके कथन करनेवालेको आयुर्वेदके जाननेवाला कहना चाहिये, आयु क्या है, आयुर्वेद कहांसे हुआ और आयुर्वेद किसको कहते हैं? यह आयुर्वेद प्रामाणिक है अथवा अप्रामाणिक एवम् नित्य है या अनित्य ? आयुर्वेदके कौन २ अंग हैं? किन लोगोंको आयुर्वेद पढना चाहिये ? आयुर्वेदके पढनेसे सिद्ध क्या होता है अथवा आयुर्वेद किसलिये बनायागया ? ॥ १५ ॥

तत्र भिषजा पृष्टेनैवञ्चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या । वेदोह्यथर्वणः स्वस्त्ययनबलिमङ्गलहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासमन्त्रादिपरिग्रहाच्चिकित्सां प्राह । चिकित्सा चायुषो हितायोपदिश्यते। वेदमादिश्य आयुर्वाच्यम्। तत्र आयुश्चेतनाप्रवृत्तिर्जीवितमनुबन्धो धारि चेत्येकोऽर्थः। तत्र आयुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः । कथमित्युच्यते । स्वलक्षणतः सुखासुखतो हिताहिततः प्रमाणाप्रमाणतश्च । यतश्चायुष्यानायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि वेदयत्यतोऽप्यायुर्वेदः । तत्र आयुष्याण्यनायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि केवलेनोपदेक्ष्यन्ते ॥ १६ ॥

वैद्यके इस प्रकार प्रश्न करनेपर कहना चाहिये कि ऐसे मत कहो । ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद इन चारों वेदोंमें अथर्ववेद ही आयुर्वेदकी आत्मा कहना चाहिये. क्योंकि, अथर्ववेदमें कहे हुए, स्वस्त्ययन, बलिदान, मंगलकर्म, होम, नियम,

प्रायश्चित्त, उपवास और मंत्र आदिकोंसे ही चिकित्साका निर्देश कियागया है। और आयुके हितके लिये ही चिकित्साका उपदेश कियागया है। इस प्रकार आयुके वेदका कथन कर अब आयुका कथन करते हैं कि आयु, चेतना, प्रवृत्ति, जीवित, अनुबंध यह सब आयुके पर्यायवाचक शब्द हैं इन सब शब्दोंमें आयुशब्द प्रसिद्ध होनेसे मुख्य रक्खा गया है सो आयुको विदित करानेवाला अर्थात् आयुसम्बन्धी ज्ञानके करानेवाले शास्त्रको आयुर्वेद कहते हैं। आयुर्वेद आयुका परिज्ञान किस प्रकार कराता है सो कहते हैं। जैसे–आयुके लक्षण, सुखायु, दुःखायु, हितआयु तथा अहित आयु, आयुका प्रमाण और अप्रमाण, जिस प्रकार आयुके बढानेवाले पदार्थ आयुको बढाते हैं एवम् क्षय करते हैं और द्रव्य, गुण, कर्म इन सबका यथार्थ ज्ञान करानेवाला आयुर्वेद कहा जाता है। इस आयुर्वेदमें–आयुके बढानेवाले और आयुके नष्ट करनेवाले द्रव्य, गुण कर्मोंका ही कथन किया जाता है॥ १६॥

सुखायु और दुःखायुके लक्षण।

तन्त्रेण तन्त्रायुरुक्तं स्वलक्षणतो यथावदिहैव। तत्र शारीरमानसाभ्यां रोगाभ्यामनभिद्रुतस्य विशेषेण यौवनवतः समर्थानुगतबलवीर्य्यपौरुषपराक्रमस्य ज्ञानविज्ञानेन्द्रियार्थबलसमुदाये वर्त्तमानस्य परमर्द्धिरुचिरविविधोपभोगस्य समृद्धसर्वारम्भस्य यथेष्टविचारणात्सुखमायुरुच्यते असुखमतो विपर्य्ययेण॥ १७॥

आयुर्वेद शास्त्र करके आयुर्वेद और आयुका कथन किया जाचुका है अब सुखायु और असुखायुका लक्षण कहते हैं। जो मनुष्य शारीरिक और मानसिक व्याधियोंसे दुःखित नहीं है और पूर्णरूपसे युवावस्थावाला है, जिसके शरीरमें भले प्रकार बल, वीर्य, पुरुषार्थ, पराक्रम प्राप्त है और ज्ञान, विज्ञान, इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ इन सबके बल समुदायसे सम्पन्न हैं एवम् परम ऋद्धि सम्पन्न सुन्दर शोभायुक्त अनेक प्रकारके उपयोगयुक्त जिसके सब आरम्भ यथोचित समृद्ध हैं तथा वह मनुष्य स्वाधीन तथा सुन्दर विचारयुक्त हो उसके जीवितको सुखायु कहते हैं। इससे विपरीत असुखायु (दुःखायु) जानना चाहिये॥ १७॥

हिताहित आयुका वर्णन।

हितैषिणः पुनर्भूतानां परस्वात् उपरतस्य सत्यवादिनः शमपरस्य परीक्ष्यकारिणोऽप्रमत्तस्य त्रिवर्गं परस्परेणानुपहतमुपसेवमानस्य पूजार्हसम्पूजकस्य ज्ञानविज्ञानोपशमशीलवृद्धस्योपसेविनः सुनियतरागेर्ष्यामदमानवेगस्य सततं विविधप्रदानपरस्य तपोज्ञानप्रशमनित्यस्य

अध्यात्मविदस्तत्परस्य लोकमिमञ्चामुञ्चावेक्ष्यमाणस्य स्मृतिमतिमतो हितमायुरुच्यते। अहितमतो विपर्य्ययेण ॥ १८ ॥

जो मनुष्य संपूर्ण प्राणियोंका हित चाहनेवाला, परधनकी इच्छा न रखनेवाला, सत्यवादी, शान्तचित्त, विचारकर करनेवाला, अप्रमत्त, धर्म, अर्थ, काम इन सबको परस्पर अनुपहत विधिसे सेवन करनेवाला, पूज्यजन गुरुजन आदिकोंकी सेवा करनेवाला, ज्ञान, विज्ञान और उपशमशील, वृद्धजनोंकी सेवा करनेवाला, राग, द्वेष, मद और मनके वेगको वशमें रखनेवाला, नित्यप्रति यथाशक्ति दान देनेवाला, तप, ज्ञान, और इन्द्रियोंका शमन इनका अभ्यास करनेवाला, अध्यात्म विद्यायुक्त, ईश्वरपरायण इस लोक और परलोकमें हितका चाहनेवाला तथा स्मृतिसम्पन्न-इन सब गुणोंयुक्त मनुष्यकी आयु हितआयु कही जाती है। और इससे विपरीत गुणोंवालेकी आयु अहित आयु कही जाती है ॥ १८ ॥

आयुका प्रमाण।

प्रमाणमायुषस्त्वर्थेन्द्रियमनोबुद्धिचेष्टादीनां स्वेनाभिभूतस्य विकृतिलक्षणैरुपलभ्यते अनिमित्तैः अयमस्मात्क्षणान्मुहूर्त्ताद्दिवसात् त्रिपञ्चसप्तदशद्वादशाहात्पक्षात् मासात्षण्मासात्संवत्सराद्वा स्वभावमापत्स्यते इति। तत्र स्वभावः प्रवृत्तेरुपरमो मरणमनित्यतानिरोध इत्येकोऽर्थः। इत्यायुषः प्रमाणमतो विपरीतमप्रमाणम् ॥ १९ ॥

अब आयुके प्रमाणको कथन करते हैं। इन्द्रियोंके अर्थ यथा शब्द, स्पर्श आदि इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चेष्टा आदिकोंकी विकृति आदिके लक्षणोंसे आयुका प्रमाण जाना जाता है यदि इनमें अकस्मात् विकृति होजाय तो क्षणभरमें या मुहूर्तमें एक दिनमें अथवा तीन दिन, पाँच दिन, सात दिन, दश दिन, एवम् बारह दिनमें तथा पक्षमें या महीनेमें अथवा छः महीनेमें या एक वर्षमे मनुष्य स्वभावमें स्थित हो जाता है। यहांपर स्वभाव, प्रवृत्तिका उपराम, मरण, अनित्यता, निरोध यह सब एक ही अर्थवाले शब्द हैं। अर्थात् मरणके वाचक हैं बस यही आयुके प्रमाण है इससे विपरीत आयुका अप्रमाण जानना ॥ १९ ॥

आयुर्वेदका नित्यत्व प्रतिपादन।

अरिष्टाधिकारे देहप्रकृतिलक्षणमधिकृत्य चोपादिष्टमायुषः प्रमाणमायुर्वेदे। प्रयोजनञ्चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनम्। सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यतेऽनादित्वात् स्वभावसंसिद्धस्वलक्षणत्वाद्भावस्वभावनित्यत्वाच्च। नहि नाभूत्कदाचिदायुषः

सन्तानो बुद्धिसन्तानो वा शाश्वतश्चायुषो वेदिता । अनादिमच्च सुखदुःखं सद्रव्यहेतुलक्षणमपरापरयोगात्।एष चार्थसंग्रहो विभाव्यते आयुर्वेदलक्षणमिति । यत्पुनः गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षादीनाञ्च द्वंद्वानां सामान्यविशेषाभ्यां वृद्धिह्रासौ यथोक्तं गुरुभिरभ्यस्यमानै-र्गुरूणामुपचयो भवत्यपचयो लघूनाम्। एवमेवेतरेषामिति। एष भाव-स्वभावो नित्यः। स्वस्वलक्षणञ्च द्रव्याणां पृथिव्यादीनाम्। सन्ति तु द्रव्याणि गुणाश्च नित्यानित्याः ॥ २० ॥

इन्द्रियस्थानके अरिष्टाधिकारमें—देह, प्रकृति, लक्षण इनका वर्णन करते हुए आयुका प्रमाण कथन कियागया है । (इसको देखो) इस आयुर्वेदका प्रयोजन स्वस्थ (तन्दुरुस्त) मनुष्यकी आरोग्यावस्था स्थिर रखना और रोगी मनुष्यको रोगसे छोडाना अर्थात् रोगीके रोगका शान्त करना ही है । सो यह आयुर्वेद अनादि होनेसे और स्वभाव संसिद्ध लक्षण होनेसे अर्थात् आयुर्वेद अपने संपूर्ण लक्षणों द्वारा स्वभावके अनुकूल और स्वतःसिद्ध होनेसे एवम् भावोंका स्वभावके नित्य होनेसे आयु-र्वेद नित्य है । आयुका जो प्रभाव है और बुद्धि प्रवाह यह नित्य नहीं है ऐसा नहीं होसकता अर्थात् आयुक्रम और तत्सम्बन्धिज्ञान भी अनादि है इसलिये नित्य है और आयुर्वेदका ज्ञाता (पुरुष, अनादि आत्मा) भी नित्य है अर्थात् आयु, आयु-र्वेद इनका ज्ञान और ज्ञानवाला यह सदासेही नित्य हैं । द्रव्य (औषध), हेतु (निदान), लक्षण (लिंग) इनके साथ सुख (आरोग्य) और दुःख (व्याधि) यह परंपरासे ही अनादि है और इन सबके इस अर्थ संग्रहका ही आयुर्वेद कहते हैं और जो गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष आदिकोंके सामान्य विशेष योगसे वृद्धि और ह्रास होता है (प्रथमाध्यायमें कथन कर चुके हैं सब भावोंकी सामान्य-तासे प्रवृत्ति वृद्धिका कारण और असामान्यतासे प्रवृत्ति ह्रासका कारण होता है, जैसे कि—गुरु वस्तुओंका अभ्यास करनेसे गुरुताका उपचय और लघुताका अपचय होता है इसी प्रकार रूक्ष स्निग्ध आदि भावोंको भी जानना चाहिये) यह भी भावोंका नित्य स्वभाव है । पृथ्वी आदिक पंचमहाभूतोंके गुणविशिष्ट जो द्रव्य हैं उनमें भी अपने२ लक्षणोंसे पृथिव्यादि महाभूतोंके गुण नित्य होते हैं यद्यपि द्रव्योंमें रसादिगुण अनित्य होते हैं परन्तु जिस द्रव्यमें जो आग्नेय या जलीयगुण प्रधान होता है वह कभी नष्ट नहीं होता । इससे स्पष्ट सिद्ध है कि भावोंके स्वभावोंकी नित्यता होनेसे भी आयुर्वेद नित्य ही है ॥ २० ॥

नहि आयुर्वेदस्याभूतोत्पत्तिरुपलभ्यते। अन्यत्रावबोधोपदेशाभ्याम्।

एतद्वै द्वयमधिकृत्य उत्पत्तिमुपदिशन्त्येके । स्वाभाविकञ्चास्य लक्षणमधिकृत्य यदुक्तमिह चाद्ये अध्याये । यथाग्नेरौष्ण्यमपां द्रवत्वम् । भावस्वभावनित्यत्वमपि चास्य । यथोक्तं गुरुभिरभ्यस्यमानैर्गुरूणामुपचयो भवत्यपचयो लघूनामित्येवमादि ॥ २१ ॥

आयुर्वेद उत्पन्न हुआहै ऐसा भी नहीं कहसकते क्योंकि ब्रह्माको आयुर्वेदका ज्ञान हुआ और इन्द्रने आयुर्वेदका उपदेश किया यह दो प्रकारसे आयुर्वेद उत्पन्न हुआ इस कथनसे भी आयुर्वेद अनित्य नहीं होसकता क्योंकि ब्रह्माको ज्ञान होनेसे प्रथम भी आयुर्वेद था यह स्पष्ट प्रतीत होताहै । कोई कहते हैं कि आयुर्वेदका नित्य होना स्वभावसे ही सिद्ध है । जैसे प्रथमाध्यायमें कह आयेहैं कि अग्निमें उष्णता और जलमें द्रवता उनका स्वाभाविक और नित्यधर्म है उसी प्रकार गुरु द्रव्योंके सेवनसे गुरुताका उपचय होना और लघुताका अपचय होना आदि भी स्वभावसिद्ध हैं । सो इन सब प्रमाणोंसे आयुर्वेद स्वभावसिद्ध और नित्य सिद्ध होचुका॥२१॥

आयुर्वेदके आठ अङ्ग तथा उनसे धर्मप्राप्ति ।

तस्यायुर्वेदस्य अङ्गानि अष्टौ । तद्यथा । कायचिकित्सा शालाक्यं शल्यापहर्तृकं विषगरवैरोधिकप्रशमनं भूतविद्या कौमारभृत्यकं रसायनानि वाजीकरणमिति । स चाध्येतव्यो ब्राह्मणराजन्यवैश्यैः । तत्रानुग्रहार्थं प्राणिनां ब्राह्मणैरात्मरक्षार्थं राजन्यैर्वृत्त्यर्थं वैश्यैः सामान्यतो वा धर्मार्थकामपरिग्रहार्थं सर्वैः । तत्र च यदध्यात्मविदां धर्मपथस्थानां धर्मप्रकाशानां वा मातृपितृभ्रातृबन्धुगुरुजनस्य वा विकारप्रशमने प्रयत्नवान्भवति । यश्चायुर्वेदोक्तमध्यात्ममनुध्यायति वेदयत्यनुविधीयते वा सोऽप्यस्य परो धर्मः ॥ २२ ॥

उस आयुर्वेदके आठ अंग हैं जैसे कायचिकित्सा, शालाक्यतन्त्र, शल्यापहर्तृकतन्त्र, विषगरवैरोधिकतन्त्र, भूतविद्या, कौमारभृत्यक, रसायनतन्त्र और वाजीकरण तन्त्र । इन आठ तन्त्रोंसे युक्त आयुर्वेद ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंको पढना चाहिये । सामान्यतासे उनमें ब्राह्मणोंको सम्पूर्ण जीवोंपर दया करनेके लिये, क्षत्रियोंको अपनी आत्मरक्षाके लिये और वैश्योंको अपनी वृत्तिके लिये अध्ययन करना चाहिये । अथवा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सबको इनके साधनके लिये आयुर्वेदका अध्ययन करना चाहिये । उन आत्मज्ञानी, धर्मपरायण, धर्मके प्रकाश करनेवालोंको माता, पिता, भाई, बन्धु और गुरुजनोंके विकार शान्तिके लिये यत्नवान् रहना चाहिये ।

जो मनुष्य आयुर्वेदोक्त अध्यात्म विषयोंको अनुध्यायन करते हैं अर्थात् जानतेहैं अथवा आयुर्वेदीय विषयोंको जानना, मनन करना और संपूर्ण आयुर्वेदके जाननेमें यत्नवान् रहना यह इसका परमधर्म है ॥ २२ ॥

आयुर्वेदसे धर्मादिप्राप्ति ।

या पुनरीश्वराणां वसुमतां वा सकाशात्सुखोपहारनिमित्ता भवत्यर्थलवावाप्तिरवेक्षणञ्च या च स्वपरिगृहीतानां प्राणिनामातुर्य्याद्रक्षाक्षमत्वञ्चास्यार्थः । यत्पुनरस्य विद्वद्ग्रहणं यशः शरण्यत्वं या च संमानशुश्रूषा यच्चेष्टानां जनानामारोग्यमाधत्ते सोऽस्य काम इति ॥ २३ ॥

आयुर्वेद पढनेसे धनिक पुरुषोंसे अथवा राजाओंसे सुखपूर्वक आहार आदिके लिये द्रव्यकी प्राप्ति होना और अपने परिवारकी रोगसे रक्षा करना तथा जो मनुष्य इसके आश्रयीभूत हों उनको रोगसे बचाना यह उसका परमअर्थलाभ है। जो आयुर्वेदीय चिकित्साद्वारा विद्वानोंमें यशका फैलना तथा बडे २ योग्य पुरुषोंको अपने वशीभूत करलेना, अपने समान मनुष्योंमें बडाईका पाना एवम् अपने प्रियपात्रोंको आरोग्यकर चित्तमें आनन्दलाभ करना यह परम कामनाकी प्राप्ति है। इस प्रकार आयुर्वेदके अध्ययनसे धर्म, अर्थ और काम इन सबकी सिद्धि होती है ॥ २३ ॥

शास्त्रविषयक आठ प्रश्न ।

यथाप्रश्नमुक्तमशेषेण । अथ भिषगादित एव भिषजा प्रष्टव्य इति अष्टविधम् । तद्यथा—तन्त्रं तन्त्रार्थं स्थानानि स्थानार्थानध्यायमध्यायार्थान्प्रश्नान् प्रश्नार्थांश्चेति ॥ २४ ॥ पृष्टे चैतद्वक्तव्यमशेषेण वाक्यशो वाक्यार्थशोऽर्थावयवशश्चेति ॥ २५ ॥

इस प्रकार अशेषरूपसे संपूर्ण प्रश्नोंका उत्तर कहा गया । अब कहतेहैं कि वैद्यको वैद्यके ऊपर प्रथम ही यह आठप्रकारके प्रश्न करना चाहिये । जैसे तंत्र क्या है, तंत्रार्थ किसे कहतेहैं, स्थान क्या है, स्थानार्थ किसको कहतेहैं एवम् अध्याय, अध्यायार्थ, प्रश्न और प्रश्नार्थ किसको कहतेहैं इन आठ प्रकारके प्रश्नोंको करना चाहिये। यदि कोई अपने ऊपर इन आठ प्रश्नोंको करे तो वाक्यसे, वाक्यार्थसे एवम् अर्थावयवसे भलेप्रकार वर्णन करदेना चाहिये जैसे इसी अध्यायके पन्द्रहवें सूत्रमें कह-आये हैं ॥ २४ ॥ २५ ॥

क्रमानुसार प्रश्नाष्टकका उत्तर ।

तत्रायुर्वेदः शाखा विद्या सूत्रं ज्ञानं शास्त्रं लक्षणं तन्त्रमित्यनर्थान्तरम्। तन्त्रार्थः पुनः स्वलक्षणेनोपदिष्टः स चार्थः प्रकरणैर्विभाव्यमानो

भूय एव शरीरवृत्तिहेतुव्याधिकर्मकार्य्यकालकर्तृकरणविधिविनिश्च-
योद्देशप्रकरणाः। तानि च प्रकरणानि केवलेनोपदेक्ष्यन्ते तन्त्रेण ॥ २६ ॥

शाखा, विद्या, सूत्र, ज्ञान, शास्त्र, तंत्र, आयुर्वेद यह सब शब्द पर्यायवाचक हैं अर्थात् इन सबमें किसी एकके कहनेसे आयुर्वेदका ही नाम जानना। यह सब शब्द तंत्रके वाचक हुए। तंत्रार्थ उसके लक्षणोंकी व्याख्यामें कथन कियागया है और फिर भी तंत्रका अर्थ अर्थात् विषय इसके प्रकरणोंसे जानाजाता है। जैसे शरीर-वृत्ति, हेतु, व्याधि, कर्म, कार्य, काल, कर्त्ता, करण, विधि, विनिश्चय और कल्पना यह सब तंत्र अर्थात् आयुर्वेदके प्रकरण हैं इनके देखनेसे तंत्रार्थ अर्थात् तंत्रका विषय जानाजाताहै ॥ २६ ॥

आठ स्थानोंके नाम।

तन्त्रमष्टौ स्थानानि। तद्यथा—श्लोकनिदानविमानशारीरेन्द्रियचिकि-
त्सितकल्पसिद्धिस्थानानि। तत्र त्रिंशदध्यायकं श्लोकस्थानम्। अष्टा-
ध्यायकानि निदानविमानशरीरस्थानानि। द्वादशकमिन्द्रियाणाम्।
त्रिंशकं चिकित्सितानाम्। द्वादशके कल्पसिद्धिस्थाने इति ॥ २७ ॥

तंत्रके आठ स्थान हैं। जैसे श्लोक (सूत्र) स्थान, निदानस्थान, विमानस्थान, शारीरस्थान, इन्द्रियस्थान, चिकित्सास्थान, कल्पस्थान और सिद्धिस्थान इन आठोंमें तीस अध्यायोंका सूत्रस्थान है। निदानस्थान, विमानस्थान और शारीरस्थान इन सबमें आठआठ अध्याय हैं। इन्द्रियस्थानमें बारह अध्याय हैं। चिकित्सास्थानमें तीस अध्याय हैं। कल्पस्थानमें बारह अध्याय हैं एवम् सिद्धिस्थानमें बारह अध्याय हैं २७

भवति चात्र—द्वे त्रिंशके द्वादशकं त्रयञ्च त्रीण्यष्टकान्येषु समाप्तिरुक्ता।
श्लोकौषधारिष्टविकल्पसिद्धिनिदानमानाश्रयसंज्ञकेषु ॥ २८ ॥

यहांपर कहाहै कि, दो स्थान तीस तीस अध्यायोंके हुए और तीन बारह अध्यायके हुए एवम् तीन आठ आठ अध्यायोंमें समाप्त कियेगये हैं। इनमें सूत्रस्थान और चिकित्सास्थान तीस तीस अध्यायोंमें, इन्द्रियस्थान और कल्पस्थान एवम् सिद्धि-स्थान बारह बारह अध्यायोंमें तथा निदानस्थान और विमानस्थान एवम् शारीरस्थान आठ आठ अध्यायोंमें वर्णन कियेगयेहैं ॥ २८ ॥

स्वे स्वे स्थाने यथास्वञ्च स्थानार्थ उपदेक्ष्यते।
स विंशमध्यायशतं शृणु नामक्रमागतम् ॥ २९ ॥

सूत्रादिस्थानोंमें उन स्थानोंके स्थानार्थ अर्थात् स्थानोंके विषय कथन कियेहैं। इन सब स्थानोंके१२०अध्याय हुए। उन सब अध्यायोंके क्रमपूर्वक नाम श्रवण करो२९

भेषजाश्रय अध्यायोंके नाम।

दीर्घञ्जीवोऽप्यपामार्गतण्डुलारग्वधादिकौ।
षड्विरेकाश्रयश्चेति चतुष्को भेषजाश्रयः॥ ३०॥

जैसे-दीर्घजीवितीय, अपामार्गतंडुलीय, आरग्वधादि और षड्विरेचनशताश्रितीय इन चार अध्यायोंमें औषधियोंका विषय वर्णन किया गयाहै॥ ३०॥

स्वास्थ्यवृत्तिक अध्यायोंके नाम।

मात्रातस्याशितीयौ च नवेगान्धारणं तथा।
इन्द्रियोपक्रमश्चेति चत्वारःस्वास्थ्यवृत्तिकाः॥ ३१॥

मात्राशितीय, तस्याशितीय, नवेगान्धारणीय और इन्द्रियोपक्रमणीय ये चार अध्याय स्वाथ्यरक्षाके विषयमें कथन कियेगये हैं॥ ३१॥

नैर्देशिक अध्यायोंके नाम।

खुड्डाकश्च चतुष्पादो महांस्त्रिस्रैषणस्तथा।
सह वातकलाख्येन विद्यान्नैर्देशिकान्बुधः॥ ३२॥

खुड्डाकचतुष्पाद, महाचतुष्पाद, त्रिस्रैषणीय और वातकलाकलीय ये चार अध्याय कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यके विषयमें कथन कियेगये हैं॥ ३२॥

उपकल्पना विषयक अध्यायोंके नाम।

स्नेहनस्वेदनाध्यायावुभौ यश्चोपकल्पनः।
चिकित्साप्रभृतश्चैव सर्व एवोपकल्पनः॥ ३३॥

स्नेहाध्याय, स्वेदाध्याय, उपकल्पनीयाध्याय और चिकित्साप्रभृतीय ये चार अध्याय उपकल्पनाके विषयमें कथन किये गये हैं॥ ३३॥

रोगाध्यायोंके नाम।

कियन्तःशिरसीयश्च त्रिशोफाष्टोदरादिकौ।
रोगाध्यायो महांश्चैव रोगाध्यायचतुष्टयम्॥ ३४॥

कियन्तःशिरसीय, त्रिशोफीय, अष्टोदरीय और महारोगाध्याय इन चार अध्यायोंमें रोगोंका विषय है॥ ३४॥

योजनाचतुष्क अध्यायोंके नाम।

अष्टौनिन्दितसंख्यातस्तथा लङ्घनतर्पणौ।
विधिशोणितकश्चेति व्याख्यातास्तत्र योजनाः॥ ३५॥

अष्टौनिन्दितीय, लंघनबृंहणीय, संतर्पणीय और विधिशोणितीय ये चार अध्याय औषधके प्रयोग विषयमें कथन कियेगये हैं॥ ३५॥

अन्नपानचतुष्क अध्यायोंके नाम।

यज्जःपुरुषकः ख्यातो भद्रकाप्योऽन्नपानिकौ।

विविधाशितपीतश्च चत्वारोऽन्नविनिश्चये ॥ ३६ ॥

यज्ञःपुरुषीय, आत्रेयभद्रकाप्यीय, अन्नपानविधि और विविधाशितपीतीय इन चार अध्यायोंमें आहार द्रव्योंका वर्णन कियागया है ॥ ३६ ॥

वैद्यगुणागुणविषयक अध्यायोंके नाम।

दशप्राणायतनिकस्तथार्थेदशमूलकः।
द्वावेतौ प्राणदेहार्थौ प्रोक्तौ वैद्यगुणाश्रयौ ॥ ३७ ॥

दशप्राणायतनीय, अर्थेदशमूलीय ये दो अध्याय वैद्यके गुणोंके विषयमें कथन किये गये हैं ॥ ३७ ॥

सूत्रस्थानके अध्यायोंका संक्षिप्त वर्णन।

औषधस्वस्थनिर्देशकल्पनारोगयोजनाः।
चतुष्काः षट् क्रमेणोक्ताः सप्तमश्चान्नपानिकः ॥ ३८ ॥

औषध, स्वस्थ, निर्देश, कल्पना, रोग और योजना यह छः चतुष्क कथन किये गये और सातवां क्रमपूर्वक अन्नपानिकचतुष्क हुआ ॥ ३८ ॥

द्वौ चान्यौ संग्रहाध्यायाविति त्रिंशकमर्थवत्।
श्लोकस्थानं समुद्दिष्टं तन्त्रस्यास्य शिरःशुभम् ॥ ३९ ॥

बाकी दो अध्याय–संग्रह अर्थात् संपूर्ण तंत्रके संग्रहके विषयमें कथन कियेगये हैं। सम्पूर्ण तंत्रका शिरोभूत यह सूत्रस्थान इस प्रकार तीस अध्यायोंमें सम्पूर्ण हुआ ३९

चतुष्काणां महार्थानां स्थानेऽस्मिन्सञ्चयः कृतः।
श्लोकार्थः संग्रहार्थश्च श्लोकस्थानमतः स्मृतः ॥ ४० ॥

इस प्रकार इस सूत्रस्थानमें परम योग्य अर्थ युक्त चतुष्कोंका संग्रह कियागया है। इसमें समस्त विषयोंका अर्थ सूत्ररूपसे संग्रह कियागया है इसलिये इसको सूत्रस्थान कहते हैं ॥ ४० ॥ इति सूत्रस्थानोक्तत्रिंशकम् ॥

निदान स्थानके अध्यायोंके नाम।

ज्वराणां रक्तपित्तस्य गुल्मानां मेहकुष्ठयोः।
शोषोन्मादनिदाने च स्यादपस्मारणञ्च यत्।
इत्यध्यायाष्टकमिदं निदानस्थानमुच्यते ॥ ४१ ॥

निदानस्थानमें ज्वरनिदान, रक्तपित्तनिदान, गुल्म निदान, प्रमेहनिदान, कुष्ठनिदान, शोषनिदान, उन्मादनिदान एवम् अपस्मारनिदान विषयक आठ अध्याय वर्णन कियेगये हैं ॥ ४१ ॥ इति निदानस्थानोक्ताष्टकम् ॥

विमानस्थानके अध्यायोंके नाम।

रसेषु त्रिविधे कुक्षौ ध्वंसे जनपदस्य च ॥ ४२ ॥

त्रिविधे रोगविज्ञाने स्रोतःस्वपि च वर्त्तते।
रोगानीके व्याधिरूपे रोगाणाञ्च भिषग्जिते।
अष्टौ विमानान्युक्तानि मानार्थानि महर्षिणा ॥ ४३ ॥

विमानस्थानमें—रसविमानाध्याय, त्रिविधकुक्षीय, जनपदोध्वंसनीय, त्रिविध रोग विशेष विज्ञानीय, स्रोतोविमान, रोगानीकविमान, व्याधिरूपीय विमान एवम् रोगभिषग्जितीयविमान ये आठ अध्याय महर्षि आत्रेयजीने वर्णन किये हैं ॥ ४२ ॥४३ ॥

इति विमानाष्टकम्।

शारीरस्थानके अध्यायोंके नाम।

कतिधापुरुषीयञ्च गोत्रेणातुल्यमेव च ॥ ४४ ॥
खुड्डीका महती चैव गर्भावक्रान्तिरुच्यते।
पुरुषस्य शरीरस्य विचयौ द्वौ विनिश्चितौ ॥ ४५ ॥
शरीरसंख्यासूत्रञ्च जातेरष्टम उच्यते।
इत्युद्दिष्टानि मुनिना शारीराण्यात्रिसूनुना ॥ ४६ ॥

शारीरस्थानमें—कतिधापुरुषीय, तुल्यगोत्रीय, खुड्डीका गर्भावक्रान्ती, महती गर्भावक्रान्ती, पुरुषविचय, शरीरविचय, शरीरसंख्या और जातिसूत्रीय यह आठ अध्याय भगवान् आत्रेयजीने वर्णन किये हैं॥४४–४६॥ इति शारीरस्थानोक्ताष्टकम्।

इन्द्रियस्थानके अध्यायोंके नाम।

वर्णस्वरीयं पुष्पाख्यस्तथैव परिमर्षणः।
तथैव चेन्द्रियानीकः पौर्वरूपकमेव च ॥ ४७ ॥
कतमानिशरीरीयः पन्नरूपोऽप्यवाक्शिराः।
यस्यश्यावनिमित्तश्च सद्योमरण एव च ॥ ४८ ॥
अणुज्योतिरिति ख्यातस्तथा गोमयचूर्णवान्।
द्वादशाध्यायकं स्थानमिन्द्रियाणां प्रकीर्त्तितम् ॥ ४९ ॥

इन्द्रियस्थानमें—वर्णस्वरीय और पुष्पाख्य, परिमर्षण, इन्द्रियानीक, पौर्वरूपिक, कतमानिशरीरीय, पन्नरूपीय, अवाक्शिरसीय, यस्यश्यावनिमित्तीय, सद्योमरणीय, अणुज्योतीय और गोमयचूर्णीय ये बारह अध्याय इन्द्रियस्थानमें वर्णन किये गये ४९

इतीन्द्रियस्थानोक्तद्वादशकम्।

चिकित्सास्थानके अध्यायोंके नाम।

अभयामलकीयञ्च प्राणकामीयमेव च।

करप्रचितिकं वेदसमुत्थानं रसायनम् ॥ ५० ॥

चिकित्सास्थानमें–अभयामलकीय, प्राणकामीय, करप्रचितिक, आयुर्वेदसमुत्थानीय यह चार रसायनपाद हैं ॥ ५० ॥

संयोगशरमूलीयमासक्तक्षीरकं तथा ।
माषपर्णतृतीयश्च पुमान् जातबलादिकम् ॥ ५१ ॥

संयोगशरमूलीय, आसक्तक्षीरीय, माषपर्णतृतीय, पुमान् जातबलादिक यह चार पाद वाजीकरण पादके हुए ॥ ५१ ॥

चतुष्कद्वयमप्येतदध्यायद्वयमुच्यते ।
रसायनमिति ज्ञेयं वाजीकरणमेव च ॥ ५२ ॥

यह दो चतुष्क–रसायनपाद और वाजीकरण पाद इन नामोंसे दो अध्याय माने जातेहैं (इन दोनोंके आठ विभाग करनेसे चिकित्सास्थानके छत्तीस अध्याय होजातेहैं इसलिये इन दो चतुष्कोंको दो अध्यायोंमें माना है) ॥ ५२ ॥

ज्वराणां रक्तपित्तस्य गुल्मानां मेहकुष्ठयोः ।
शोषेऽर्शस्यतीसारे वीसर्पे च मदात्यये ॥ ५३ ॥
द्विव्रणीये तथोन्मादे स्यादपस्मार एव च ।
क्षतशोथोदरे चैव ग्रहणीपाण्डुरोगयोः ॥ ५४ ॥
हिक्काश्वासे च कासे च छर्द्दितृष्णाविषेषु च ।
मर्मत्रये चोरुस्तम्भे सवाते वातशोणिते ॥ ५५ ॥
त्रिंशच्चिकित्सितान्येवं योनीनां व्यापदा सह ॥ ५६ ॥

ज्वरचिकित्सित, रक्तपित्त चिकित्सित, गुल्मचिकित्सित, प्रमेह चिकित्सित, कुष्ठचिकित्सित, शोषचिकित्सित, अर्शचिकित्सित, अतिसार चिकित्सित, विसर्पचिकित्सित, मदात्ययचिकित्सित, द्विव्रणीयचिकित्सित, उन्मादचिकित्सित, अपस्मारचिकित्सित, क्षतक्षीणचिकित्सित, शोथचिकित्सित, उदररोगचिकित्सित, ग्रहणीरोगचिकित्सित, पांडुचिकित्सित, हिक्काश्वासाचिकित्सित, काशचिकित्सित, छर्दीचिकित्सित, तृष्णाचिकित्सित, विषचिकित्सित, त्रिमर्मीयचिकित्सित, ऊरुस्तम्भ चिकित्सित, वातव्याधीचीकित्सित, और वातरक्तचिकित्सित एवम् योनिव्यापदचिकित्सित यह सब मिलाकर चिकित्सास्थानोक्त तीस अध्याय हुए अर्थात् इन तीस अध्यायोंसे चिकित्सास्थान पूरितहै ॥ इति चिकित्सास्थानोक्तत्रिंशकम् ।

कल्पस्थानके अध्यायोंके नाम।

फलजीमूतकेक्ष्वाकुकल्पो धामार्गवस्य च।
पञ्चमो वत्सकस्योक्तः षष्ठश्च कृतवेधने ॥ ५७ ॥
श्यामात्रिवृतयोः कल्पस्तथैव चतुरंगुलेः।
तिल्वकस्य सुधायाश्च सप्तलाशंखिनीष्वपि।
दन्तीद्रवन्त्योः कल्पश्च द्वादशोऽयं समाप्यते ॥ ५८ ॥

कल्पस्थानमें—मदनकल्प, जीमूतकल्प, इक्ष्वाकु कल्प, धामार्गव कल्प, वत्सक कल्प, कृतवेधन कल्प, श्यामात्रिवृत् कल्प, चतुरंगुल कल्प, तिल्वक कल्प, महावृक्ष कल्प, सप्तला शंखिनी कल्प और दंती द्रवन्तीकल्प--यह बारह कल्पस्थानोक्त अध्याय समाप्त हुए ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ इति कल्पस्थानोक्तद्वादशकम्।

सिद्धिस्थानके अध्यायोंके नाम।

कल्पना पञ्चकर्माख्या बस्तिसूत्री तथैव च।
स्नेहव्यापादिका सिद्धिर्नेत्रव्यापादिका तथा ॥ ५९ ॥
सिद्धिः शोधनयोश्चैव बस्तिसिद्धिस्तथैव च ॥
प्रासृती मर्मसंख्याता सिद्धिर्बस्त्याश्रया च या ॥ ६० ॥
फलमात्रा तथासिद्धिः सिद्धिश्चोत्तरसंज्ञिता ॥
सिद्धयो द्वादशैवैतास्तन्त्रञ्चासु समाप्यते ॥ ६१ ॥

सिद्धिस्थानमें—कल्पनासिद्धि, पंचकर्मीयसिद्धि, वस्तिसूत्रीयसिद्धि, स्वेदव्यापादिका सिद्धि, नेत्रव्यापादिकासिद्धि,वमन विरेचन व्यापत्सिद्धि, वस्तिव्यापादिका सिद्धि, प्रासृत योगिका सिद्धि,त्रिमर्मीयसिद्धि, वस्तिसिद्धि, फलमात्रासिद्धि और उत्तर सिद्धि इन बारह अध्यायोंसे सिद्धिस्थान समाप्त किया है।।इति सिद्धिस्थानोक्तद्वादशकम्।

स्थानार्थ अध्यायार्थ और प्रश्नका लक्षण।

स्वे स्वे स्थाने तथाध्याये चाध्यायार्थः प्रवक्ष्यते।
तं ब्रूयात्सर्वतः सर्वं यथास्वं ह्यर्थसंग्रहात् ॥
पृच्छा तन्त्राद्यथाम्नायं विधिना प्रश्न उच्यते ॥ ६२॥

हरएक स्थानमें तथा अध्यायमें स्थानार्थ (स्थानका विषय) और अध्यायका विषय वर्णन कियागया है सो उसको उसीउसी अध्याय और उसीउसी स्थानके विषयके अनुसार स्थानार्थ और अध्यायार्थ कथन करना चाहिये। यदि कहीं किसी अध्यायके विषयमें कुछ आगे पीछे हो अथवा नामानुरूप विषयमें कुछ न्यूनता आती हो तो बुद्धिमान् वैद्यको बुद्धि अनुसार विचारकर स्थानार्थ अथवा अध्यायार्थ कहना चाहिये। वेदानुसार प्रसंगक्रमसे तंत्रमें पूछनेको प्रश्न कहते हैं ॥ ६२ ॥

प्रश्नार्थका लक्षण।

प्रश्नार्थो युक्तिमांस्तस्य तन्त्रेणैवार्थनिश्चयः ॥ ६३ ॥

युक्तियुक्त तंत्रद्वाराही उस प्रश्नकी मीमांसा किये जानेको प्रश्नार्थ कहते हैं ॥ ६३ ॥

तन्त्रादिकी निरुक्ति।

निरुक्तं तन्त्रणात्तन्त्रं स्थानमर्थप्रतिष्ठया ।
अधिकृत्यार्थमध्यायो नामसंज्ञाः प्रतिष्ठिताः ॥ ६४ ॥

सब विषयोंको इसमें तन्त्रण कियागया इसलिये इसको तंत्र कहते हैं। अर्थ (विषय) प्रतिष्ठित अर्थात् स्थित होनेसे स्थान कहा जाता है (जैसे सूत्रस्थानादि) ॥ ६४ ॥

इति सर्वं यथाप्रश्नमष्टकं सम्प्रकाशितम् ।
कात्स्न्येन चोक्तस्तन्त्रस्य संग्रहः सुविनिश्चितः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार यह प्रश्नाष्टक कहागया अर्थात् जो पहिले आठ प्रश्नोंको कथन किया था उनके उत्तर रूपमें यह प्रश्नाष्टककी मीमांसा कीगई सो संपूर्णरूपसे यथावत् तन्त्रके संग्रहको कथन कियागया है ॥ ६५ ॥

अज्ञवैद्यके लक्षण।

सन्ति पाल्लविकोत्पाताः संक्षोभं जनयन्ति ये ।
वर्त्तकानामिवोत्पाताः सहसैव विभाविताः ।
तस्मात्तान्पूर्वसंजल्पे सर्वत्राष्टकमादिशेत् ॥ ६६ ॥
परस्परपरीक्षार्थमत्र शास्त्रविदां बलम् ।
शब्दमात्रेण तन्त्रस्य केवलस्यैकदेशिकाः ।
भ्रमन्त्यल्पबलास्तन्त्रे ज्याशब्देनैव वर्त्तकाः ॥ ६७ ॥

बहुतसेलोग इधरउधरसे एकाध बात सीखकर इस प्रकार अभिमान और क्रोध दिखाते हैं जैसे-बटेरपक्षी अपने चोंचसे एक पत्रको उठाकर इधरउधर उलटा और सीधा नाच करता है ठीक उसी प्रकार यह लोग भी किसी ग्रंथकी एकाध मूलबातको याद कर घमण्डी वैद्यराज बन बैठते हैं। इसलिये उनसे बात करतेही प्रथम प्रश्नाष्टक (पूर्वोक्त आठ प्रश्न) कर देनाचाहिये। इसपर यथार्थ और अयथार्थ कथन करनेमें अथवा पर अपरकी परीक्षाके लिये प्रश्नाष्टक किये जानेपर आयुर्वेदके न जाननेवाले मनुष्यका बल स्पष्टरूपसे दिखाई देजाता है। तात्पर्य यह हुआ कि आयुर्वेदका ज्ञाता ही प्रश्नाष्टकका यथोचित उत्तर देसकता है। जो मनुष्य केवल एकदेशका जाननेवाला है वह इस प्रश्नाष्टकको सुनकर इस प्रकार घबराजाता है जैसे-धनुषकी टंकारको सुनकर बटेर उडजाया करते हैं ॥ ६६ ॥ ६७ ॥

पशुः पशूनां दौर्बल्यात्कश्चिन्मध्ये वृकायते।
स सत्त्वं वृकमासाद्य प्रकृतिं भजते पशुः ॥ ६८ ॥
तद्वदज्ञोऽज्ञमध्यस्थः कश्चिन्मौखर्य्यसाधनः।
स्थापयत्याप्तमात्मानमाप्तन्त्वासाद्य भिद्यते ॥ ६९ ॥

जैसे-दुर्बल पशुओंमें बलवान् पशु भेडियेका आकार बनाकर अपने आपको महा-पराक्रमी जंचाता है परन्तु असली भेडियेके आजानेपर जैसा वह पशु होता है,वैसाही होकर भागना पडता है। ठीक उसी प्रकार मूर्खोंके बीचमें बकवाद करनेवाला चपल मनुष्यभी अपने आपको बडाभारी योग्य और प्रामाणिक जंचाता है और किसी योग्य पण्डितके आजानेपर पूर्वोक्त पशुके समान पूंछको छिपाता फिरता है ६८॥६९

बभ्रुर्गूढ इवोर्णाभिरबुद्धिरबहुश्रुतः।
किं वै वक्ष्यति संजल्पे कुण्डभेदी जडो यथा ॥ ७० ॥

जैसे-मूंड मकडीके तारोंसे जकडा जानेपर कुछ नहीं बोल सकता और जैसे नीच जातिका मनुष्य अपने आपको ब्राह्मण बताकर फिर बहुतसे लोगोंमें नीच जाति प्रगट होजानेपर कुछ नहीं कहसकता एवम् जैसे-बुड्ढा नेवला रस्सियोंसे जकडा जाने-पर चुपका बैठारहता है उसी प्रकार ढोंग मारनेवाला मूर्ख वैद्य भी विद्वान् वैद्यको देखकर अपने छलके प्रगट होनेके भयसे भीत हुआ मूढ बनाबैठा रहता है ॥ ७० ॥

सद्वृत्तैर्न विगृह्णीयाद्भिषगल्पश्रुतैरपि।
हन्यात्प्रश्नाष्टकेनादावितरांस्त्वात्ममानिनः ॥ ७१ ॥
दम्भिनो मुखरा ह्यज्ञाः प्रभूता बद्धभाषिणः ॥ ७२ ॥

यदि थोडा पढा हुआ वैद्य भी शुद्ध और पवित्र आचरणवाला हो तो बुद्धिमान्को चाहिये, प्रश्नाष्टक द्वारा हरानेका यत्न न करे। परन्तु मूर्ख, पाखंडी, बकवादी चपल और अभिमानी इनको तो प्रथम ही प्रश्नाष्टकद्वारा हतबुद्धि बनादेना चाहिये७१॥७२

प्रायः प्रायेण सुमुखाः सन्तो युक्ताल्पभाषिणः।
तत्त्वज्ञानप्रकाशार्थमहङ्कारमनाश्रिताः ॥ ७३ ॥
स्वल्पाधाराज्ञमुखरान् दर्शयेन्न विवादिनः ॥
परो भूतेष्वनुक्रोशस्तत्त्वज्ञानपरा दया।
येषां तेषामसद्वादनिग्रहे निरता मतिः ॥ ७४ ॥

प्रायः श्रेष्ठ मनुष्य विनयको ग्रहण करके युक्तियुक्त बहुत थोडा और मीठा बोल-नेवाले होते हैं। वह एकाधबातके जाननेवाले मूर्खोंसे विवाद करको अपने आपको बडा

दिखाना नहीं चाहते. क्योंकि, वह महात्मा अहंकाररहित होकर तत्त्वज्ञानके प्राप्त करनेके लिये अथवा तत्त्वज्ञानका प्रकाश करनेके लिये सद्वृत्तिका अवलम्बन करते हैं। सम्पूर्ण जीवोंपर परमदया करनेमें तथा तत्त्वज्ञानमें जिनकी बुद्धि लगीहुई है वह लोग झूठे बकवादको खण्डन करने या उससे अलग रहनेमें दत्तचित्त रहते हैं७३-७४

असत्पक्षाः क्षणित्वाद्धि दम्भपारुष्यसाधनाः ॥ ७५ ॥

भवन्त्यनाप्ताः स्वे तन्त्रे प्रायः परविकत्थनाः।
तान् कालपाशसदृशान्वर्जयेच्छास्त्रदूषकान् ॥ ७६ ॥

झूठे पक्षका अवलम्बन करनेवाले पाखण्डी, कठोर प्रकृतिवाले, पराई निन्दा करनेवाले इस शास्त्रसे कुछ भी लाभ नहीं उठासकते। अर्थात् ऐसे दुष्टोंको यह शास्त्र नहीं आता और जिनको शास्त्र आता है उनमें यह दुष्ट भाव नहीं होते। इस लिये उन शास्त्रनिंदकोंको कालकी फांसीके समान दूरसे ही त्याग देनाचाहिये॥७५॥७६॥

सेवनीय वैद्य।

प्रशमज्ञानविज्ञानपूर्णाः सेव्या भिषक्तमाः ॥ ७७ ॥

समग्रं दुःखमायातमविज्ञाने द्वयाश्रयम्।
सुखं समग्रं विज्ञाने विमले च प्रतिष्ठितम् ॥ ७८ ॥

जो वैद्य प्रशम अर्थात् रोगनाशक शास्त्रके ज्ञानी हैं एवम् चिकित्सा सम्बन्धी संपूर्ण विषयोंके विज्ञानसे पूर्ण हैं ऐसे योग्य पुरुषोंका नित्य सेवन करना चाहिये। क्योंकि संसारमें संपूर्ण दुःख अज्ञानसे और संपूर्ण सुख निर्मल ज्ञानसे प्राप्त होते हैं तात्पर्य यह हुआ कि, अज्ञानमें संपूर्ण दुःख प्रतिष्ठित रहते हैं और निर्मल ज्ञानमें संपूर्ण सुख प्रतिष्ठित रहते हैं ॥ ७७ ॥ ७८ ॥

इदमेवमुदारार्थमज्ञानां च प्रकाशकम्।
शास्त्रं दृष्टिप्रनष्टानां यथैवादित्यमण्डलम् ॥ इति ॥ ७९ ॥

जैसे नष्टदृष्टि अर्थात् चक्षुहीन मनुष्योंको सूर्यसे प्रकाशके कुछ लाभ नहीं पहुंचसकता उसी प्रकार मूर्खोंको इस बहुमूल्य आयुर्वेदशास्त्रसे कुछ लाभ नहीं पहुंचसकता अथवा जैसे योगदृष्टिहीन मनुष्योंके लिये और धर्मदृष्टिहीन मनुष्योंके लिये सूर्यका प्रकाश उनके कार्यकी सहायताका कारण होता है उसी प्रकार यथार्थ ज्ञानहीन मनुष्योंको आयुर्वेदकी एकाधबात सीखलेना लोगोंको ठगनेमें सहायताकारक होता है ॥ ७९ ॥

तत्र श्लोकाः—अर्थे दश महामूलाः संज्ञा तेषां यथा कृताः।
अयनान्ताः षडग्र्याश्च रूपं वेदविदाञ्च यत् ॥ ८० ॥

सप्तकश्चाष्टकश्चैव परिप्रश्नः सनिर्णयः।
यथावाच्यं यदर्थञ्च षड्विधाश्चैकदेशिकाः॥ ८१॥
अर्थेदशमहामूले सर्वमेतत्प्रकाशितम्।
संग्रहश्चैवमध्यायस्तन्त्रस्यास्यैव केवलः॥ ८२॥

यहांपर अध्यायकी पूर्त्तिमें श्लोक हैं:—इस अर्थदशमूलीय अध्यायमें महादशमूलोंकी संज्ञा, स्थान, छः अंग, आयुर्वेदके जाननेवालोंका स्वरूप, सप्तक तथा अष्टक प्रश्नावलीकी मीमांसा कथन करनेका निर्देश और अर्थ षड्विध तथा एकदेशिक विद्वान् और अध्यायोंका संग्रह तथा स्थानसंग्रह एवं इस तंत्रका विषय वर्णन कियागया है॥

सूत्रस्थानकी निरुक्ति।

यथा सुमनसां सूत्रं संग्रहार्थं विधीयते।
संग्रहार्थे यथार्थानामृषिणा संग्रहः कृतः॥ ८३॥

इति अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने अर्थे
महादशमूलीयो नाम त्रिंशत्तमोऽध्यायः॥ ३०॥

जिस प्रकार फूलोंको गठन करनेकेलिये धागा होताहै अर्थात् जिस प्रकार धागेमें फूल गूंथे जातेहैं उसी प्रकार संपूर्ण संग्रहको इस सूत्रस्थानमें भगवान् आत्रेयजीने गठन कियाहै॥ ८३॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां पटियालाराज्यांतर्गतटकसालनिवासि वैद्यपंचानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायकृतप्रसादन्याख्यभाषाटीकायामर्थेमहादश-मूलीयो नाम त्रिंशत्तमोऽध्यायः॥ ३०॥

अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते।
इयतावधिना सर्वं सूत्रस्थानं समाप्यते॥

महर्षि अग्निवेशके रचेहुए तथा महात्मा चरकद्वारा प्रतिसंस्कार कियेहुए इस आयुर्वेद तंत्रमें यह सूत्रस्थान इन तीस अध्यायोंमें समाप्त हुआ॥

दोहा—इह विधि सूत्रस्थान यह, सूत्रित तंत्र महान।
सो प्रसादनीयुत भयो, लघुमति जैहैं जान॥ १॥

इति सूत्रस्थानं समाप्तम्।

॥ श्रीः ॥

निदानस्थानम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

अथातो ज्वरनिदानं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम ज्वरनिदानकी व्याख्या करते हैं, इस प्रकार भगवान् आत्रेयजी कथन करने लगे ॥

निदानके पर्यायवाची शब्द ।

इह खलु हेतुर्निमित्तमायतनं कर्त्ता कारणं प्रत्ययः समुत्थानं निदानमित्यनर्थान्तरम् ॥ १ ॥

इस शास्त्रमें—हेतु, निमित्त, कर्ता, कारण, प्रत्यय, समुत्थान, निदान इस सब शब्दोंका एक ही अर्थ है अर्थात् यह सब शब्द निदानके वाचक है ॥ १ ॥

त्रिविध निदान ।

तत् त्रिविधम् । असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति ॥ २ ॥

वह निदान तीन प्रकारका है—१ असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, २ प्रज्ञापराध, ३ परिणाम ॥ २

व्याधियोंके भेद ।

अतस्त्रिविधविकल्पा व्याधयः प्रादुर्भवन्त्याग्नेयसौम्यवायव्याः । द्विविधाश्चापरे राजसास्तामसाश्च ॥ ३ ॥

निदान—तीन प्रकारका होनेसे व्याधियां भी तीन प्रकारकी ही होतीहैं। उन तीनोंमें शारीरिकव्याधि—वात, पित्त, कफजनित होनेसे तीन प्रकारकी होते हैं । मानसिक व्याधि—राजस और तामस भेदसे दो प्रकारकी हैं ॥ ३ ॥

व्याधिके पर्याय शब्द ।

तत्र व्याधिरामयो गद आतङ्को यक्ष्मा ज्वरो विकार इत्यनर्थान्तरम् ॥ ४

व्याधि, आमय, गद, आतंक, यक्ष्मा, ज्वर, विकार और रोग यह सब शब्द एक ही अर्थवाले हैं । अर्थात् रोगके वाचक हैं ॥ ४ ॥

रोगकी उपलब्धिके विषय ।

तस्योपलब्धिर्निदानपूर्वरूपलिङ्गोपशयसम्प्राप्तितश्च ॥ ५ ॥

वह रोग निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय, संप्राप्ति इन पांच प्रकारोंसे जाना जासकता है । अर्थात् रोगके बतलानेवाले यह पांच प्रकार हैं ॥ ५ ॥

निदानका लक्षण।

तत्र निदानं कारणमित्युक्तमग्रे ॥ ६ ॥

उनमें निदान कारणको कहते हैं—यह पहिले कथन कर आये हैं। (निदान रोगके उत्पन्न करनेवाले कारणको कहते हैं) ॥ ६ ॥

पूर्वरूपके लक्षण।

रूपं प्रागुत्पत्तिर्लक्षणं व्याधेः ॥ ७ ॥

रोग उत्पन्न होनेसे प्रथम होनेवाले लक्षणोंको पूर्वरूप कहते हैं ॥ ७ ॥

लिङ्गके लक्षण।

प्रादुर्भूतलक्षणं पुनर्लिङ्गम्। तत्र लिङ्गमाकृतिर्लक्षणं चिह्नं संस्थानं व्यञ्जनं रूपमित्यनर्थान्तरम् ॥ ८ ॥

व्याधिके प्रगट हो जानेको रूप अथवा लक्षण कहते हैं। या यों कहिये कि, व्याधिके प्रगट होजाने पर व्याधिके जो लक्षण होते हैं उनको रूप कहते हैं। लिङ्ग, आकृति, लक्षण, चिह्न, संस्थान, व्यंजन और रूप यह सब शब्द एकही अर्थके वाचक हैं ॥ ८ ॥

उपशयके लक्षण।

उपशयः पुनर्हेतुव्याधिविपरीतानां विपरीतार्थकारिणाञ्चौषधाहारविहाराणाम् उपयोगः सुखानुबन्धः ॥ ९ ॥

हेतुसे विपरीत, व्याधिसे विपरीत और हेतु व्याधि इन दोनोंके विपरीत तथा विपरीत अर्थके करनेवाले औषधि आहार विहारका उपयोग करना सुखकारक अर्थात् आरोग्यकारी होता है उसीको उपशय कहते हैं। और उसीको सात्म्य कहते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि, रोगोत्पादक हेतुसे विपरीत और व्याधिसे विपरीत तथा हेतु और व्याधि इन दोनोंसे विपरीत और विपरीत अर्थ करनेवाला अर्थात् व्याधि और व्याधिके कारणको हटानेवाला तथा दोनोंको हटानेवाला औषध अन्न और विहार सुखको देनेवाला होता है उसीको सात्म्य (शरीरके अनुकूल) और उपशय कहते हैं॥

संप्राप्तिके पर्याय।

संप्राप्तिर्जातिरागतिरित्यनर्थान्तरं व्याधेः ॥ १० ॥

रोगकी उत्पत्तिको अर्थात् जिस प्रकार जितने अंशोंसे जिन जिन दोषोंको लेकर शरीरके जिस २ भागमें व्याधि उत्पन्न होती है उसको संप्राप्ति कहते हैं। संप्राप्ति, जाति, आगति ये सब एक ही अर्थके वाचक शब्द हैं ॥ १० ॥

सम्प्राप्तिके भेद।

सा संख्याप्राधान्यविधिविकल्पबलकालविशेषैर्भिद्यते ॥ ११ ॥

संख्या, प्राधान्य, विधि, विकल्प एवम् बल, कालके भेदसे संप्राप्तिके विभाग कियेगये हैं अर्थात् संख्यादि संप्राप्तिके भेद हैं ॥ ११ ॥

संख्यासम्प्राप्तिके लक्षण।

संख्या यथाष्टौ ज्वराः पञ्च गुल्माः सप्त कुष्ठान्येवमादि ॥ १२ ॥

अब संख्याके लक्षणको कहतेहैं--जैसे, आठ प्रकारके ज्वर, पांच प्रकारके गुल्म, सात प्रकारके कुष्ठ इत्यादिक जो गणना है उसको संख्या कहते हैं ॥ १२ ॥

प्राधान्यसम्प्राप्तिके लक्षण।

प्राधान्यं पुनर्दोषाणां तरतमयोगेनोपलभ्यते । तत्र द्वयोस्तरस्त्रिषु तम इति ॥ १३ ॥

वात, पित्त, कफ इन तीन दोषोंमें-वात और पित्त अल्प होनेसे अप्रधान और कफ अधिक होनेसे प्रधान माना जाता है। इस प्रकार दोषके न्यूनाधिक योगद्वारा प्राधान्य जानना चाहिये। जैसे-त्रिदोषज्वरमें वात अल्प हो पित्त मध्य हो और कफ अधिक हो तो उस सन्निपातको अल्पवात, मध्य पित्त और कफ प्रधान कहा-जाताहै। अथवा ज्वरातिसारमें ज्वर प्रधान है कि, अतिसार प्रधान है इस तरह पर एक कालमें एक पुरुषको दो तीन व्याधियोंमेंसे जो व्याधि स्वतंत्र हो उसको प्रधान कहते हैं। और जो परतंत्र हो उसको अप्रधान कहते हैं। इस प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये ॥ १३ ॥

विधिसम्प्राप्तिके लक्षण।

विधिर्नाम द्विविधा व्याधयो निजागन्तुभेदेन। त्रिविधास्त्रिदोषभेदेन। चतुर्विधाः साध्यासाध्यमृदुदारुणभेदेन ॥ १४ ॥

अब विधिके लक्षणोंको कहते हैं। यथा-व्याधि दो प्रकारकी होती है, एक निज, दूसरी आगन्तुक, फिर वह वात, पित्त, कफ भेदसे तीन प्रकारकी है। साध्य, असाध्य, मृदु और दारुण इन भेदोंसे चार प्रकारकी होती है इस प्रकार रोगोंके भेदके क्रमको विधि कहते हैं ॥ १४ ॥

विकल्पसम्प्राप्तिके लक्षण।

विकल्पोनाम समवेतानां पुनर्दोषाणामंशांशबलविकल्पोऽस्मिन्नर्थे ॥ १५ ॥

मिले हुए दोषोंके अंशांश कल्पनाको विकल्प कहते हैं। जैसे-सन्निपात ज्वरके अनेक विकल्प हैं ॥ १५ ॥

बलकालका लक्षण।

बलकालविशेषः पुनर्व्याधीनामृत्वहोरात्राहारकालविधिनियतो भवति १६

व्याधियोंका ऋतु, दिन, रात्रि, आहार, काल और विधि भेदसे बल और कालका जानना बलकाल विशेष संप्राप्ति कहा जाता है। जैसे-वसन्त ऋतुमें कफका कालकृत बल होता है एवम् रात्रिके प्रथम भागमें कफका बल होता है, दिनके प्रथम भागमें कफका बल होता है और भोजनके प्रथम भागमें कफका बल होता है एवम् शरद ऋतुमें, मध्य रात्रिमें, मध्य दिनमें, भोजनके मध्यमें, अथवा भोजनकी परिपाकावस्थामें पित्तका बल होता है। इसी प्रकार वर्षा ऋतुम, रात्रिके अंतमें, दिनके अंतमें, भोजनके अंतमें वातका बल होता है। इसी प्रकार कफकी व्याधिका वसंत ऋतु कोपकाल है, पित्तका शरद, आधी रात, मध्याह्न और भोजनका परिपाक समय कोपकाल जानना। इस प्रकार बल, काल, विशेष, संप्राप्ति जानना ॥ १६ ॥

तस्माद्व्याधीन् भिषगनुपहतसत्त्वबुद्धिर्हेत्वादिभिर्भावैर्यथावदनुबुध्येत १७

इस लिये बुद्धियुक्त वैद्य हेतु आदिक भावोंसे अर्थात् निदानादिकों द्वारा रोगकी यथार्थ परीक्षा करे ॥ १७ ॥

विशेषतासे निदान कथन।

इत्यर्थसंग्रहो निदानस्थानस्योद्दिष्टः भवति। तं विस्तरेण भूयः परमतोऽनुव्याख्यास्यामः ॥ १८ ॥

इस प्रकार संक्षेपसे संपूर्ण निदानको कथन कियाहै। अब फिर विशेषरूपसे कथन करते हैं ॥ १८ ॥

तत्र प्रथम एव तावदाद्याल्लोभाभिद्रोहकोपप्रभवानष्टौ व्याधीन्निदानपूर्वेण क्रमेण अनुव्याख्यास्यामः ॥ १९ ॥

अब क्रमपूर्वक लोभ और अभिद्रोह अथवा मिथ्याआहार और अनाचारसे उत्पन्न हुई आठ प्रकारकी व्याधियोंको निदानादि क्रमसे कथन करते हैं ॥ १९ ॥

तथा सूत्रसंग्रहमात्रं चिकित्सायाः चिकित्सितेषु चोत्तरकालं यथोद्दिष्टं विकारानुव्याख्यास्यामः ॥ २० ॥

और चिकित्साको भी सूत्रसंग्रह मात्रसे अर्थात् संक्षेपरूपसे कथन करते हैं विशेषरूपसे तो संपूर्ण रोगोंका निदान और उपाय यथाक्रम चिकित्सा स्थानमें कथन करेंगे ॥ २० ॥

ज्वरके भेद।

इह खलु ज्वर एवादौ विकाराणामुपदिश्यते। तत्प्रथमत्वाच्छारीराणाम् ॥ २१ ॥

क्योंकि संपूर्ण शारीरिक विकारोंमें ज्वरही प्रधान माना गया है अथवा संपूर्ण विकारोंमें प्रथम ज्वरकी उत्पत्ति हुई है इसलिये इस निदानस्थानमें प्रथम ज्वरका ही कथन करते हैं ॥ २१ ॥

अथ खल्वष्टाभ्यः कारणेभ्यो ज्वरः सञ्जायते मनुष्याणाम्। तद्यथा-वातात् पित्तात्कफाद्वातपित्ताभ्यां पित्तश्लेष्मभ्यां वातश्लेष्मभ्यां वात-पित्तश्लेष्मभ्यः आगन्तोरष्टमात्कारणात्। तस्य निदानपूर्वरूपालि-ङ्गोपचयविशेषानुपदेक्ष्यामः ॥ २२ ॥

ज्वर आठ कारणोंसे मनुष्योंके शरीरमें उत्पन्न होता है। वह आठ कारण इस प्रकार हैं। जैसे-वातसे, पित्तसे, कफसे, वातापित्तसे, पित्तकफसे, वातकफसे एवम् वातपित्तकफसे आठवां आगन्तुक कारणसे सो उस आठ प्रकारके ज्वरको निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और संप्राप्ति विशेषसे कथन करते हैं ॥ २२ ॥

वायुकोपका कारण।

तद्यथा-रूक्षलघुशीतव्यायामवमनाविरेचनास्थापनाशिरोविरेचनाति-योगवेगसन्धारणानशनाभिघातव्यवायोद्वेगशोकशोणितातिसेकजागर-णाविषमशरीरन्यासेभ्योऽतिसेवितेभ्यो वायुः प्रकोपमापद्यते ॥ २३ ॥

वह इस प्रकार है-रूक्ष, लघु, शीतल पदार्थोंके सेवनसे, परिश्रम करनेसे, वमन, विरेचन और आस्थापनके अतियोगसे, मलमूत्रादि वेगोंको रोकनेसे, उपवास करनेसे, चोट लगनेसे, मैथुन करनेसे, उद्वेग और शोच होनेसे, रक्तके अत्यन्त निकलनेसे, रात्रिमें जागनेसे, शरीरको ऊंचा नीचा तिरछा आदि करनेसे इन सब कारणोंके अधिक सेवनसे शरीरमें वायुका कोप होताहै ॥ २३ ॥

अतिकुपितवायुका कर्म।

स यदा प्रकुपितः प्रविश्यामाशयमुष्मणः स्थानमुष्मणा सह मिश्री-भूत आद्यमाहारपरिणामधातुं रसनामानमन्ववेत्य रसस्वेदवहानि च स्रोतांसि पिधायाग्निमुपहत्य पक्तिस्थानादुष्माणं बहिः निरस्य केवलं शरीरमनुपद्यते तदा ज्वरमभिनिर्वर्त्तयति ॥ २४ ॥

वह कुपित हुई वायु आमाशयमें प्रवेश करके आमाशयकी गर्माईमें मिल जाती है। फिर वह आहारके सारभूत रस नामक धातुका आश्रय लेकर रस और स्वेदके वहनेवाले छिद्रोंको रोक देती है। फिर पाचकाग्निको हनन करके पक्तिस्थानकी गर्माईको बाहर निकाल देती है। फिर वह वायु शरीरको यथोचित अग्निबलहीन देखकर बल पा जाती है। वह बल पाया हुआ वात वातज्वरको उत्पन्न करता है२४

वातज्वरके लिंग व अंगविशेषोंमें वेदना विशेष।

तस्येमानि लिङ्गानि भवन्ति । तद्यथा—विषमारम्भाविसर्गित्वमूष्मणो वैषम्यम्।तीव्रतनुभावानवस्थानानि ज्वरस्य । जरणान्ते दिवसान्ते घर्मान्ते वा ज्वराभ्यागमनयभिवृद्धिर्वा । विशेषेण परुषारुणवर्णत्वं नखनयनवदनमूत्रपुरीषत्वचाम्।अत्यर्थं क्लीभावश्च । अनेकविधोपमाश्च चलाचलाश्च वेदनास्तेषां तेषामङ्गावयवानाम् । तद्यथा पादयोः सुप्तता, पिण्डिकयोरुद्वेष्टनम्, जानुनोः केवलानाञ्च सन्धीनां विश्लेषणम्, ऊर्वोः सादः,कटीपार्श्वपृष्ठस्कन्धबाह्वंसोरसाञ्च भग्नरुग्णमृदितमथितचटितावपीडितावतुन्नत्वमिव, हन्वोरप्रसिद्धिः, स्वनश्च कर्णयोः,शंखयोर्निस्तोदः,कषायास्यतम्,आस्यवैरस्यं वा,मुखतालुकण्ठशोषः, पिपासा, हृदयग्रहः शुष्कच्छर्दिः, शुष्ककासः, क्षवथूद्गारविनिग्रहः, अन्नरसखेदः, प्रसेकारोचकाविपाकाः, विषादाविजृम्भाविनामवेपथुश्रमभ्रमप्रलापजागरणलोमहर्षदन्तहर्षाः, तथोष्माभिप्रायता । निदानोक्तानामनुपशयो विपरीतोपशयश्चेति वातज्वरलिङ्गानि स्युः ॥ २५ ॥

उस ज्वरके यह लक्षण होते हैं । जैसे—ज्वरके चढनेके समय और उतरनेके समय शरीरके तापमें विषमता, कभी शरीरका अधिक तपना और कभी थोडा तपना, ज्वरका एकसा न रहना, कभी ज्वर तीक्ष्ण और कभी मंद होना तथा भोजनके पचजानेके अनन्तर सायंकालमें एवम् वर्षा ऋतुमें उत्पत्ति अथवा वृद्धि होना एवम् नख, नेत्र, मुख, मूत्र, मल और त्वचा इन सबका कठोर और शुष्क होजाना तथा लाल वर्णके दिखाई देना शरीरका वर्ण चिकटा सा हो जाना, शरीरके अंगोंमें क्षण-क्षणमें इधर उधर चलनेवाली तथा स्थिर रहनेवाली वायुकी पीडा होना जैसे पैरोंका सोजाना, पिण्डलियोंमें उद्वेष्टन (लपेटनेकीसी पीडा) होना, जानुओंका तथा अन्य संधियोंका ढीले ढीलेसे पड जाना, दोनों जांघोंका रहसा जाना, कटि, पार्श्व, पीठ, कंधे भुजा और कंधेके ऊपरके भागमें एवम् वक्षस्थलमें तोडनेकीसी पीडा तथा मर्दन करनेकीसी पीडा एवम् मथनेकीसी पीडा होना, तथा चटकानेकीसी पीडा, मीडनेकीसी पीडा और सूई चुभानेसी पीडा होना, ठोडीका जकडना कानोंमें शब्द होना, कनपटियोंमें सूई चुभनेकीसी पीडा होना, ठोडीका जकडना कानोंमें शब्द होना, मुखका कसैला होना एवम् विरस होना । मुख, तालु और कण्ठका सूखना, तृषा,

छातीमें दर्द, सूखी छर्दी, सूखी खांसी और छीक इनका होना, डकार न आना, अन्नके रसमें अश्रद्धा, अरुचि, अन्नका न पचना चित्तमें विषाद रहना, जंभाई अधिक आना, शरीरका नमजाना, कंप होना, थकावट मालूम देना, भ्रम होना, बकना, निद्रा न आना, रोमाञ्च होना, दन्तहर्ष होना, गर्मीकी इच्छा होना, वातनाशक, उष्ण, स्निग्ध आदि पदार्थोंसे रोगकी शान्ति होना, एवम् रूक्ष, शीत आदिकोसे रोगका बढना यह सब लक्षण वातज्वरके होते हैं ॥ २५ ॥

पित्तकोपका कारण।

उष्णाम्ललवणक्षारकटुकाजीर्णभोजनेभ्योऽतिसेवितेभ्यस्तथातितीक्ष्णा-तपाग्निसन्तापश्रमक्रोधविषमाहारेभ्यः पित्तं प्रकोपमापद्यते ॥ २६ ॥

अब पित्तकोपके कारणोंको कहते हैं। जैसे–उष्ण, अम्ल, लवण, क्षार, चरपरे पदार्थोंके सेवनसे एवम् अजीर्णकर्त्ता भोजनके अधिक सेवनसे तथा अतितीक्ष्ण, धूप, अग्नि और संतापके सेवनसे, परिश्रम करनेसे तथा विषम भोजन करनेसे इन सब कारणोंसे पित्तका प्रकोप होता है ॥ २६ ॥

प्रकुपितपित्तका कर्म।

तद्यथा–प्रकुपितमामाशयादेवोष्माणमुपसंसृज्याद्यमाहारपरिणामधातुं रसनामानमन्वावेद्य रसस्वेदवहानि च स्रोतांसि पिधाय द्रवत्वादग्निमुपहत्य पक्तिस्थानादूष्माणं बहिर्द्वारं निरस्य प्रपीडयन् केवलं शरीरमुपपद्यते तदा ज्वरमभिनिर्वर्त्तयति ॥ २७ ॥

फिर वह पित्त कुपित होकर आमाशयसे गर्मीको उत्तेजन करताहुआ आहारका परिणामरूप जो रसनामक धातु है उसमें मिलकर स्वेद और रसके बहानेवाले छिद्रोंको रोक देता है। फिर अपने द्रवसे जठराग्निको हनन कर पाचकस्थानकी गर्मीको बाहर निकाल देता है। तब अपना अधिकार पाकर शरीरको पीडन करताहुआ पित्त-ज्वरको उत्पन्न करता है ॥ २७ ॥

पित्तज्वरके लक्षण।

तस्येमानि लिङ्गानि भवन्ति। तद्यथा युगपदेव केवले शरीरे ज्वराभ्यागमनमभिवृद्धिर्वा। भुक्तस्य विदाहकाले मध्यान्दिनेऽर्द्धरात्रे शरदि वा विशेषेण। कटुकास्यता घ्राणमुखकण्ठोष्ठतालुपाकस्तृष्णा-भ्रमो मदो मूर्च्छा पित्तच्छर्द्दनमतीसारोऽन्नद्वेषः सदनं स्वेदः प्रलापो रक्तकोठाभिनिर्वृत्तिः शरीरे हरितहारिद्रत्वं नखनयनवदनमूत्रपुरीष-

त्वचामत्यर्थमुष्मणस्तीव्रभावोऽतिमात्रं दाहः शीताभिप्रायता निदानोक्तानामनुपशयो विपरीतोपशयश्चेति पित्तज्वरलिङ्गानि भवन्ति॥ २८॥

उसके ये लक्षण होते हैं । शरीरमें एकदम ज्वरका वेग होना, भोजनके पाकके समय दिनके मध्यमें, अर्धरात्रिमें, शरदऋतुमें विशेष करके ज्वरकी वृद्धि होना या उत्पन्न होना, मुखमें कटुता, नाक, मुख, कण्ठ, ओष्ठ और तालुका पकना, तृषा, भ्रम, मोह, मूर्च्छा, मुखसे पित्तका निकलना, पतला दस्त होना, आहारमें अरुचि, स्वेद, प्रलाप, शरीरमें लाल वर्णके चकत्ते प्रगट होना, नेत्र, नख, मुख, मूत्र, पुरीष, त्वचा इनका हल्दीके समान पीलावर्ण होना, गर्मी अधिक प्रतीत होना, अधिक दाह होना, शीतल वस्तुकी इच्छा होना एवम् उष्ण वस्तुओंसे रोगका बढना, शीतल वस्तुओंसे शान्त होना यह पित्तज्वरके लक्षण होते हैं ॥ २८ ॥

कफप्रकोपका कारण ।

स्निग्धमधुरगुरुशीतपिच्छिलाम्ललवणदिवास्वप्नहर्षव्यायामेभ्योऽतिसेवितेभ्यः श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते ॥ २९ ॥

चिकने, मधुर, भारी, शीतल, पिच्छिल, अम्ल, एवम् लवण पदार्थोंके खानेसे, दिनमें सोनेसे, हर्षसे, परिश्रम न करनेसे इत्यादि कफवर्द्धक पदार्थोंके अधिक सेवनसे कफका कोप होता है ॥ २९ ॥

प्रकुपितकफका कर्म ।

स यदा प्रकुपितः प्रविश्यामाशयमूष्मणा सह मिश्रीभूतमाद्यमाहारपरिणामधातुं रसनामानमन्ववेत्य रसस्वेदवहानि च स्रोतांसि पिधायाग्निमुपहत्य पंक्तिस्थानादूष्माणं वा बहिःनिरस्य प्रपींडयन् केवलं शरीरमुपपद्यते तदा ज्वरमभिनिर्वर्त्तयति ॥ ३० ॥

वह कुपित हुआ कफ आमाशयमें प्रवेश करके जठराग्निकी गर्मीके साथ मिलकर आहारके परिणामरूप रस नामक धातुके साथ जाकर रस और स्वेदके बहानेवाले छिद्रोंको रोक देता है । तब जठराग्निको हनन करके पाचकाग्निकी गर्मीको बाहर निकाल देता है । फिर अपना अधिकार पाकर शरीरको पीडित करता हुआ कफज्वर उत्पन्न करता है ॥ ३० ॥

कफज्वरके लक्षण ।

तस्येमानि लिङ्गानि भवन्ति । तद्यथा युगपदेव केवले शरीरे ज्वराभ्यागमनमभिवृद्धिर्वा । भुक्तमात्रे पूर्वाह्ले पूर्वरात्रे वसन्तकाले वा विशेषेण । गुरुगात्रत्वमनन्नाभिलाषः श्लेष्मप्रसेको मुखस्य च माधुर्य्यं

हृल्लासो हृदयोपलेपस्तिमितत्वं छर्दि मृद्वग्निता निद्राया आधिक्यं स्तम्भः तन्द्रा श्वासः कासः प्रतिश्यायः शैत्यं श्वैत्यञ्च नयननखवदनमूत्रपुरीषत्वचामत्यर्थशीतपिडका भृशमङ्गेभ्य उत्तिष्ठति। उष्णाभिप्रायता निदानोक्तानामनुपशयो विपरीतोपशयश्चेति श्लेष्मज्वरलिङ्गानि भवन्ति ॥ ३१ ॥

उसके ये लक्षण होते हैं शरीरमें एकदम ज्वरका प्रगट होना, भोजन करतेही पूर्वाह्णमें, रात्रिके प्रथम भागमें एवम् वसन्तऋतुमें ज्वरका अधिक होना अथवा उत्पन्न होना एवम् शरीरमें भारीपन, अन्नमें अरुचि, मुखसे कफका गिरना, मुखका स्वाद मीठा होना, कफकी छर्दी होना, हृदय कफसे लिपासा प्रतीत होना, देहमें गीलापन प्रतीत होना, अग्निकी मन्दता, अधिक निद्रा, स्तंभ, तन्द्रा, श्वास, कास, प्रतिश्याय, शीतता, नेत्र, नख, मुख, मूत्र, पुरीष, त्वचा इनका श्वेत होना, देहमें श्वेतरंगकी पिडकाका होना, गर्मीकी इच्छा होना, चिकने एवम् कफकारक पदार्थोंसे रोगका बढना, रूक्ष, उष्ण आदि पदार्थोंसे शान्त होना यह सब कफज्वरके लक्षण होते हैं ३१

द्वन्द्वजादिज्वरोंका निदान।

विषमाशनादनशनादन्नस्य परिवर्तादृतुव्यापत्तेः असात्म्यागन्धोपघ्राणाद्विषोपहतस्योदकस्य उपयोगाद्गरेभ्यो गिरीणामुपश्लेषात् स्नेहस्वेदवमनविरेचनास्थापनानुवासनशिरोविरेचनानामयथावत् प्रयोगात् स्त्रीणाञ्च विषमप्रजननात् प्रजातानाञ्च मिथ्योपचाराद्यथोक्तानाञ्च हेतूनां मिश्रीभावाद्यथानिदानं द्वन्द्वानामन्यतमः सर्वे वा त्रयो दोषा युगपत्प्रकोपमापद्यन्ते ॥ ३२ ॥

विषम भोजन करनेसे, ऋतुओंके परिवर्तनसे, ऋतुओंके बिगडनेसे, असात्म्य गंधके सूंघनेसे, विषैले जलके पीनेसे, गर (गरसंज्ञक विष) विकारसे, पहाडोंके समीपतासे, स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन और शिरोविरेचन इन सबके मिथ्यायोग होनेसे, स्त्रियोंके बेसमय प्रसव होनेसे अथवा प्रसवके समय कुपथ्य होजानेसे एवम् ऊपर कहेहुए वात, पित्त, कफ, इनमेंसे दो दोषोंके कारणोंके मिलनेसे दो दोष कुपित होतेहैं और तीनों दोषोंके कोप कारक कारणोंके मिलजानेसे तीनों दोष एकही कालमें कुपित होतेहैं ॥ ३२ ॥

द्वन्द्वजादिज्वरोंके लक्षण।

ते प्रकुपितास्तयैवानुपूर्व्या ज्वरमभिनिर्वर्त्तयन्ति। तत्र यथोक्तानां

ज्वरलिङ्गानां मिश्रीभावविशेषदर्शनाद् द्वान्द्विकमन्यतमं ज्वरं सान्निपातिकं वा विद्यात् ॥ ३३ ॥

वे कुपित हुए दोष क्रमपूर्वक द्वन्द्वजज्वरको अथवा सन्निपातज्वरको उत्पन्न करते हैं दो दोष कुपितहुए द्वन्द्वजज्वरको उत्पन्न करतेहैं। तीनों दोष कुपित होनेसे सन्निपात ज्वर उत्पन्न होताहै। दो दोषोंके लक्षण मिलनेसे द्वन्द्वज (द्विदोषज) ज्वर जानना और तीनों दोषोंके लक्षण मिलनेसे त्रिदोषज्वर जानना चाहिये ॥ ३३ ॥

आगन्तुज्वरका कारण व उसमें दोषोत्पत्ति।

अभिघाताभिषङ्गाभिचाराभिशापेभ्य आगन्तुर्व्यथापूर्वो ज्वरोऽष्टमो भवति। स किञ्चित्कालमागन्तुः केवलो भूत्वा पश्चाद्दोषैरनुबध्यते। अभिघातजो वायुना दुष्टशोणिताधिष्ठानेन। अभिषङ्गजः पुनर्वातपित्ताभ्याम्। अभिचाराभिशापजौ तु सन्निपातेन उपनिबध्येते। सप्तविधाज्ज्वराद्विशिष्टलिङ्गोपक्रमसमुत्थितत्वाद्विशिष्टो वेदितव्यः। कर्मणा साधारणेन चोपक्रम्येति अष्टविधा ज्वरप्रकृतिरुक्ता ॥ ३४ ॥

चोट आदिके लगनेसे, काम क्रोधादि अभिषङ्गसे, आभिचार तथा अभिशापसे आगन्तुकज्वर उत्पन्न होताहै। आगन्तुक ज्वरके मिलानेसे ज्वर आठ प्रकारके होते हैं। आगन्तुकज्वर पहिले स्वयं प्रगट होकर पीछे वात, पित्त, कफकी सहायताको प्राप्त होताहै अर्थात् आगन्तुज व्याधिमें पहिले व्याधि उत्पन्न होकर पीछे वातादि दोष कुपित होते हैं। (और निज व्याधिमें पहिले वातादि दोष कुपित होकर पीछे रोग उत्पन्न होता है)। अभिघात निमित्तक आगन्तुजज्वरमें वायुदूषित रुधिरका आश्रय लेकर अभिघातज्वरका सहायक बनताहै। अभिषङ्ग ज्वरमें वात और पित्तका अनुबन्ध होता है। अभिचार और अभिशापजनित ज्वरमें तीनों दोषोंका अनुबन्ध होताहै। आगन्तुजज्वर पूर्वोक्त सात प्रकारके ज्वरोंसे लक्षण, उपाय कारणों द्वारा अलग जानना चाहिये अर्थात् वातादि सात प्रकारके ज्वरोंसे आगन्तुजज्वरके कारण, लक्षण उपाय और प्रकारके होते हैं। क्योंकि आगन्तुजज्वर उसके साधारण कारणकी चिकित्सामात्रसे शान्त होजाताहै। इस प्रकार ज्वरोंकी आठ प्रकारकी प्रकृति कही है ३४॥

ज्वरके भेद।

ज्वरस्त्वेक एव सन्तापलक्षणः। तमेवाभिप्रायविशेषाद् द्विविधमाचक्षते निजागन्तुविशेषाच्च। तत्र निजं द्विविधं त्रिविधं चतुर्विधं सप्तविधञ्चाहुर्वातादिविकल्पात् ॥ ३५ ॥

यद्यपि सन्तापमात्र लक्षणसे अर्थात् शरीरके तपायमान होनेसे ज्वर (ताप) एकही प्रकारका होताहै परन्तु उसीको निज और आगन्तुकभेदसे दो प्रकारका कथन करते हैं। उनमें निजज्वर एक प्रकारका तथा दो प्रकारका एवम् तीन प्रकारका और चार प्रकारका अथवा सात प्रकारका वात आदिके विकल्पसे माना है ॥ ३५ ॥

ज्वरके पूर्वरूप।

तस्येमानि पूर्वरूपाणि। तद्यथा—मुखवैरस्यं गुरुगात्रत्वमनन्नाभिलाषश्चक्षुषोराकुलत्वम् अस्रागमनं निद्राया आधिक्यमरतिर्जृम्भा विनामो वेपथुश्रमभ्रमप्रलापजागरणलोमहर्षशब्दगीतवातातपासहत्वमरोचकाविपाकौ दौर्बल्यमङ्गमर्दः सदनमल्पप्राणता दीर्घसूत्रता आलस्यमुपचितस्य कर्मणो हानिः प्रतीपता स्वकार्येषु गुरूणां वाक्येषु अभ्यसूया बालेषु प्रद्वेषः स्वधर्मेषु अचिन्ता माल्यानुलेपभोजनक्लेशनं मधुरेषु भक्ष्येषु प्रद्वेषोऽम्ललवणकटुकप्रियता चेति ज्वरपूर्वरूपाणि॥ ३६॥

सामान्य ज्वरके यह पूर्वरूप होते हैं जैसे—मुखकी विरसता, अंगोंका भारीपन, अन्नमें अरुचि, आंखोंमें दाह अथवा स्राव होना एवम् आंखोंका लाल होना, अधिक निद्रा आना, चित्त न लगना तथा जंभाई आना, शरीरका ऐंठना एवम् कम्प, श्रम, भ्रम, प्रलाप, जागरण, रोमहर्ष, दन्तहर्ष इन सबका होना तथा शब्द, गीत, पवन, धूप इनकी इच्छा होना और क्षणमात्रमें इनसे द्वेष होना तथा अरुचि, अविपाक, दुर्बलता, अङ्गमर्द, अवसाद, प्राणोंका क्षीण होना, कामको बहुत देरमें करना, आलस्य, उपस्थित कामको छोडदेना, अपने कार्यमें बेपरवाही करना, गुरुजनोंके वाक्योंको न मानना, बालकोंकी बोलचाल बुरी मालूम होना, अपने धर्मका चिन्तन न करना, पुष्पमाला चन्दनादिका लेप और भोजन इनसे भी क्लेश प्रतीत होना, मधुर पदार्थोंसे भी द्वेष होना, खट्टे, नमकीन, चरपरे पदार्थोंकी इच्छा होना यह सब लक्षण ज्वरके पूर्वरूपमें होते हैं ॥ ३६ ॥

ज्वरका रूप।

प्राक्सन्तापादपि चैनं सन्तापार्त्तमनुबध्नन्तीत्येतानि एकैकज्वरलिङ्गानि विस्तरसमासाभ्याम् ॥ ३७ ॥

सन्ताप होनेसे अर्थात् ज्वरसे पहिले प्रगट होनेसे इसको ज्वरका पूर्वरूप कहते हैं और यह लक्षण ज्वर प्रगट होनेके अनन्तर होनेसे ज्वरके रूपमें गिने जाते हैं अर्थात् पूर्वरूपावस्थामें जो सन्ताप प्रगट नहीं था वह प्रगट होजानेपर रूप कहा जाता है। सो यह लक्षण हरएक ज्वरमें संक्षेप और विस्तारसे जान लेना चाहिये ॥ ३७ ॥

स्रोत्पत्तिक ज्वरका वर्णन।

ज्वरस्तु खलु महेश्वरकोपप्रभवः।सर्वप्राणिनां प्राणहरो देहेन्द्रियमनस्तापकरः। प्रज्ञाबलवर्णहर्षोत्साहस्रादनार्तिश्रमक्लममोहाहारोपरोधसञ्जननो ज्वरयति शरीराणि इति ज्वरः। नान्ये व्याधयः तथा दारुणा बहूपद्रवा दुश्चिकित्स्या यथायमिति। सर्वरोगाधिपतिर्ज्वरः नानातिर्य्यग्योनिषु बहुविधैः शब्दैरभिधीयते। सर्वे प्राणभृतश्च सज्वरा एव जायन्ते सज्वरा एव म्रियन्ते। स महामोहः। तेनाभिभूताः प्राग्दैहिकं देहिनः कर्म किञ्चिन्न स्मरन्ति सर्वप्राणिभ्यश्च ज्वर एव प्राणानादत्ते॥ ३८

अब ज्वरकी उत्पत्ति और उसके नामादिकोंका वर्णन करते हैं। ज्वर महादेवके कोपसे उत्पन्न हुआ है। और सब प्राणियोंके प्राणोंको हरनेवाला देह, इन्द्रिय, मन इनको तपायमान करनेवाला बुद्धि, बल, वर्ण, हर्ष, उत्साह इनको नष्ट करनेवाला है। पीडा, थकावट, घबराहट, मोह इनको करनेवाला है तथा आहारका उपरोध करनेवाला है। शरीरको जर्जर करदेता है इसलिये इसको ज्वर कहते हैं। अन्य व्याधियां इस प्रकार दारुण और बहुतसे उपद्रवोंवाली एवम् दुश्चिकित्स्य नहीं होती जिस प्रकार यह ज्वर है। ज्वर सब रोगोंका राजा है और अनेक प्रकारकी पशु आदि योनियोंमें अनेक नामोंसे कहा जाता है। संपूर्ण जीवमात्र ज्वरसहित जन्म लेते हैं और मरनेके समय भी ज्वरसहित प्राणोंको त्यागते हैं ज्वररूप महामोहसे व्याप्त हुआ मनुष्य जन्मके समय पूर्वजन्मकी किसी बातको भी स्मरण नहीं कर सकता यह ज्वरही संपूर्ण प्राणियोंके प्राणोंको आकर्षण करता है अर्थात् ग्रहण करता है॥ ३८॥

ज्वरके पूर्वमें कर्तव्य कर्म।

तत्रास्य पूर्वरूपदर्शने ज्वरादौ वा हितं लघ्वशनमतर्पणं वा ज्वरस्यामाशयसमुत्थत्वात्॥ ३९॥

क्योंकि ज्वर आमाशयसे उत्पन्न होता है इसालिये ज्वरके पूर्वरूप दिखाई देते हीं अथवा ज्वरके आदिमें हित और हलके भोजन अथवा अतर्पण (लंघन) करना चाहिये॥ ३९॥

ज्वरमें कर्तव्य।

ततः कषायपानाभ्यङ्गस्वेदप्रदेहपरिषेकानुलेपनवमनविरेचनास्थापनानुवासनोपशमननस्यकर्मधूपधूमपानाञ्जनक्षीरभोजनविधानम्॥ ४०॥

ज्वर उत्पन्न होनेपर क्वाथ पीना, ज्वरनाशक तेलका मलना, पसीना देना एवम् लेप, परिषेक, अनुलेपन, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, उपशमन, नस्य,

धूप धूम्रपान, अंजन, दूधपान इन सबको जिस जगह जिस विधिसे जिसका प्रयोग करना उचित हो उस प्रकार प्रयोग करे ॥ ४० ॥

ज्वरमें घृतपान।

यथास्वं युक्त्या जीर्णज्वरेषु सर्वेष्वेव सर्पिषः पानं प्रशस्यते यथा स्वमौषधसिद्धस्य। सर्पिर्हि स्नेहाद्वातं शमयति संस्कारात्कफं शैत्यात् पित्तमूष्माणं च। तस्माज्जीर्णज्वरेषु तु सर्वेष्वेव सर्पिर्हितमुदकमिवाग्निप्लुष्टेषु द्रव्येष्विति ॥ ४१ ॥

सब प्रकारके जीर्णज्वरोंमें उनके लक्षणोंके अनुसार युक्तिपूर्वक ज्वरनाशक द्रव्योंद्वारा सिद्ध किये हुए घृतोंका पान करना परमोत्तम कहाहै। यथा लक्षणयुक्त औषधियोंसे सिद्ध किया घृत अपने स्नेहके योगसे वायुको शान्त करताहै। कफनाशक द्रव्योंके संयोगसे कफको शान्त करताहै एवम् शीतल होनेसे पित्तको शान्त करता है। इसलिये संपूर्ण जीर्णज्वरोंमें घृतका पान करना इस प्रकार शान्तिकारक है जैसे अग्नि लगे पदार्थोंपर जलको डालदेना शान्तिकारक होताहै ॥ ४१ ॥

तत्र श्लोकाः—यथा प्रज्वलितं वेश्म परिषिञ्चन्ति वारिणा।
नराः शान्तिमभिप्रेत्य तथा जीर्णज्वरे घृतम् ॥ ४२ ॥

यहांपर श्लोक हैं कि, जैसे—अग्निसे जलते हुए घरको मनुष्य जलसे सींचता है और वह जल शान्तिकारक होताहै उसी प्रकार जीर्णज्वरमें घृत भी शान्तिकारक होताहै ॥ ४२ ॥

स्नेहाद्वातं शमयति शैत्यात्पित्तं नियच्छति।
घृतं तुल्यगुणं दोषं संस्काराच्चु जयेत् कफम् ॥ ४३ ॥

घृत–स्नेहसे वायुको शान्त करताहै और शीततासे पित्तको शान्त करताहै। घृत कफके तुल्यगुण होनेसे औषधियोंके संस्कार द्वारा कफको जीत लेताहै ॥ ४३ ॥

घृतको उत्कृष्टत्व।

नान्यः स्नेहस्तथा कश्चित्संस्कारमनुवर्त्तते।
यथा सर्पिरतः सर्पिः सर्वस्नेहोत्तमं परम् ॥ ४४ ॥

और स्नेह अर्थात् तैल आदिक द्रव्यान्तरसे संस्कार किये हुए द्रव्योंके गुणोंको ग्रहण नहीं करते। जिस प्रकार संस्कारद्वारा घृत औषधियोंके गुणको ग्रहण करलेता है। इसलिये सब प्रकारके स्नेहोंमें घृत परमोत्तम माना जाताहै ॥ ४४ ॥

गद्योक्तो यः पुनः श्लोकैरर्थः समनुगीयते।
तद्व्यक्तिव्यवसायार्थं द्विरुक्तः स न गर्ह्यते ॥ ४५ ॥

गद्योंमें कहाहुआ विषय यदि श्लोकों द्वारा फिर कथन करदियाजाय तो उसमें पुनरुक्ति दोष नहीं माननाचाहिये क्योंकि वह श्लोकोंमें मनुष्योंको याद रहसकता है और प्रिय मालूम होताहै इसलिये कथन कियाजाताहै ॥ ४९ ॥

त्रिविधं नाम पर्य्यायैर्हेतुं पञ्चविधान् गदान् ।
गदलक्षणपर्य्यायान् व्याधेः पञ्चविधं ग्रहम् ॥ ४६ ॥
ज्वरमष्टविधं तस्य प्रकृष्टासन्नकारणम् ।
पूर्वरूपञ्च रूपञ्च संग्रहे भेषजस्य च ॥ ४७ ॥
व्याख्यातवाञ्ज्वरस्याग्रे निदाने विगतज्वरः ।
भगवानग्निवेशाय प्रणताय पुनर्वसुः ॥ ४८ ॥

इति चरकप्रतिसंस्कृते तन्त्रे ज्वरनिदानोनाम प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

अब अध्यायका उपसंहार करते हैं कि, इस ज्वरनिदाननामक अध्यायमें तीन प्रकारका कारण, पांच प्रकारका रोग विज्ञान, पांच प्रकारके रोगोंके लक्षणोंका पर्याय तथा उनका संग्रह, आठ प्रकारके ज्वर, उस ज्वरके विप्रकृष्ट और संनिकृष्ट कारण, पूर्वरूप, रूप, संक्षेपसे औषधिसंग्रह, संतापरहित भगवान् पुनर्वसुजीने इस ज्वरनिदानमें कथन कियेहैं ॥ ४६–४८ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां निदानस्थाने पटियालाराज्यांतर्गतटकसाल-निवासिवैद्यपंचानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्यभाषाटीकायां ज्वरनिदानं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः ।

रक्तपित्तनिदानम् ।

अथातो रक्तपित्तनिदानं व्याख्यास्यामः
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम रक्तपित्तके निदानका कथन करतेहैं । इस प्रकार भगवान् आत्रेयजी कहने लगे ॥

रक्तपित्तका कारण ।

पित्तं यथाभूतं लोहितपित्तमिति संज्ञां लभते तत् तथानुव्याख्यास्यामः। यदा यस्तु जन्तुर्यवकोद्दालकोरदूषकप्रायाणि अन्नानि नित्यं

भुङ्क्ते भृशोष्णतीक्ष्णमपि चान्यदन्नजातं निष्पावमाषकुलत्थक्षारसूपोपहितं दधिमण्डोदश्वित्कट्वरकाञ्जिकोपहितं वा वाराहमाहिषाविकमात्स्यगव्यपिशितं पिण्याकपिण्डालुकशाकोपहितं मूलकसर्षपलशुनकरञ्जशिग्रुकषड्यूषभूस्तृणसुमुखसुरसकुठेरगण्डीरकालमालकपर्णासक्षवकफणिज्झकोपदंशं सुरासौवीरतुषोदकमैरेयमेचकमधूलककुवलबदराम्लप्रायान्नपानं पिष्टान्नोत्तरभूयिष्ठमुष्णाभितप्तोऽतिमात्रमतिवेलं वा पयसा समश्नाति। रोहिणीकालकपोतमांसं वा सर्षपतैलक्षारसिद्धं कुलत्थमाषपिण्याकजाम्बवलकुचपक्वैः शौक्तिकैर्वा सह क्षीरमाममतिमात्रमथवा पिबत्युष्णाभितप्तः। तस्यैवमाचरतः पित्तं प्रकोपमापद्यते। लोहितञ्च स्वप्रमाणमतिवर्तते॥ १॥

पित्त जिस प्रकार रक्तपित्त संज्ञाको प्राप्त होता है उस प्रकारकी उसकी व्याख्या करते हैं। जब मनुष्य—जौ, उद्दालक, कोद्रव आदिक द्रव्योंका निरन्तर सेवन करता है एवम् अत्यन्त उष्ण और तीक्ष्ण अन्नोंको सेवन करता है अथवा निष्पाव उडद, कुलथी दाल आदिमें दहीका मण्ड उदश्वित् मिलाकर खाता है अथवा चरपरे खट्टे, कांजी आदिक पदार्थोंको अधिक सेवन करता है तथा सूअर, भैंसा मेंढा, मछली, गो आदिकोंके मांसको खाता है। तिलोंकी खली, पिंडालुका शाक एवम् पकी मूली, सरसों, लहसुन, कंजा, सुहाँजना, षडयूष, भूतृण, शाक, पर्णाश सुमुख, सुरस (तुलसीके भेद) कुठेर, गण्डीरशाक, कालमालकशाक, फणीझक (मरुआ), उपदंशक (चर्बीमांसविशेषका बना पदार्थ), सुरा, सौवीर, तुषोदक, मैरेय, मेचक, मधूलक, बेर तथा अन्य खट्टे पदार्थोंका अत्यन्त सेवन करता है। मिष्टान्नका अधिक सेवन करता है। गर्माईसे तप्त मनुष्य बहुत भोजन करे एवम् भोजनका समय लंघनकर भोजन करे अथवा रोहिणी नामक मछली वा कालकपोतके मांसको दूधके साथ कालकपोतके मांसको सरसोंके तेल और क्षारके साथ सिद्ध कर खाता है एवम् कुलथी, उडद, तिलकल्क, जामुन, बडहरके साथ पकाये हुए दूधको अथवा इन सब वस्तुओंको कच्चे दूधके साथ वा कांजीके साथ पित्त प्रकृतिवाला मनुष्य निरन्तर सेवन करता है उसके शरीरमें पित्त कोपको प्राप्त होजाता है। एवम् रक्त अपने प्रमाणको छोडकर बढजाता है॥ १॥

रक्तके दूषित होनेका कारण।

तस्मिन्प्रमाणातिप्रवृत्ते पित्तं प्रकुपितं शरीरमनुसर्पद्यदैव यकृत्प्लीहप्र-

भावाणां लोहितवहानां स्रोतसां लोहिताभिष्यन्दगुरूणि मुखान्यासाद्य प्रतिपद्यते तदैव लोहितं दूषयाति ॥ २ ॥

रक्त अपने प्रमाणसे अधिक होकर और पित्त कुपित होकर जब शरीरमें अनुसर्पण (विचरण) करते हैं फिर यकृत और प्लीहासे प्रगट हुई रक्तके बहानेवाली नाडियोंका रक्त संचित होकर उन नाडियोंका मुख भारी होकर रुधिरके जमनेसे गिलगिलासा होजाता है तब वह कुपित हुआ पित्त रक्तको भी दूषित करदेताहै॥ २॥

रक्तपित्तनामका कारण।

संसर्गान्तर्लोहितप्रदूषणाल्लोहितगन्धवर्णानुविधानाच्च पित्तं लोहितमित्याचक्षते ॥ ३ ॥

रक्तके साथ पित्तका संसर्ग होनेसे और दूषित रक्तसे रक्तकी गन्ध' और वर्ण होनेके कारण वह रक्तयुक्त पित्त-रक्तपित्त ऐसा कहाजाता है ॥ ३ ॥

रक्तपित्तके पूर्वरूप।

तस्येमानि पूर्वरूपाणि । तद्यथा-अनन्नाभिलाषो भुक्तस्य विदाहः, शुक्ताम्लरसगन्धस्योद्गारश्छर्देः अभीक्ष्णागमनं, छर्दितस्य बीभत्सता, स्वरभेदो, गात्राणां सदनं, परिदाहश्च, मुखाद्धूमागम इव, लोहलोहितमत्स्यामगन्धित्वमपि चास्यस्य, रक्तहरितहारिद्रत्वमङ्गावयवशकृन्मूत्रस्वेदलालासिंघानकास्यकर्णमलपिडकानाम् । अङ्गसंवेदनालोहितनीलपीतश्यावानामर्चिष्मताञ्च रूपाणां स्वप्ने दर्शनमभीक्ष्णमिति लोहितपित्तपूर्वरूपाणि ॥ ४ ॥

उस रक्तपित्तके यह पूर्वरूप होते हैं। जैसे-अन्नमें अरुचि, भोजनका विदाही परिपाक, कांजी और खट्टे रसकी गन्धयुक्त छर्दी तथा डकार आना, सदा छर्दिका होना, बीभत्सता, स्वरभेद, अंगोंका सदन (सोनेवत् होना) छातीमें दाहजैसी होना, मुखसे धूआंसा निकलना और मुखसे लोहा, रुधिर, आम, मछलीकीसी दुर्गंध आना, हल्दीके रंगके समान अंगोंके अवयव, मल, मूत्र, पसीना, नाकका मैल, मुखको लार, कानका मैल और पिडिकाओंका वर्ण पीला होना अथवा लाल होना और अंगोंमें पीडा होना तथा स्वप्नमें नित्य लाल, नीले, पीले, काले प्रकाशवाले रूपोंको देखना यह सब रक्तपित्त रोग प्रगट होनेसे प्रथम प्रगट (पूर्वरूप) होते हैं ॥ ४ ॥

रक्तपित्तके उपद्रव।

उपद्रवास्तु खलु दौर्बल्यारोचकाविपाकश्वासकासज्वरातीसारशोफशोषपाण्डुरोगस्वरभेदाः ॥ ५ ॥

दुर्बलता, अरुचि, अन्नका न पचना, श्वास, कास, ज्वर, अतिसार, शोथ, शोष, पाण्डु, स्वरभंग यह रक्तपित्तकें उपद्रव होते हैं ॥ ५ ॥

रक्तपित्तके मार्ग।

मार्गौं पुनरस्य द्वौ । ऊर्द्ध्वञ्चाधश्च । तद्बहुश्लेष्मणि शरीरे श्लेष्मसंसर्गा-दूर्द्ध्वं प्रपद्यमानं कर्णनासिकानेत्रास्येभ्यः प्रच्यवते । बहुवाते तु शरीरे वातसंसर्गादधः प्रपद्यमानं मूत्रपुरीषमार्गाभ्यां प्रच्यवते । बहुवातश्ले-ष्मणि तु शरीरे वातसंसर्गाद्वावपि मार्गौ प्रपद्यते । तौ मार्गौ प्रपद्यमानं सर्वेभ्य एव यथोक्तेभ्यः खेभ्यः प्रच्यवते शरीरस्य ॥ ६ ॥

रक्तपित्तके दो मार्ग हैं-एक ऊर्ध्वमार्ग दूसरा अधोमार्ग । वह रक्तपित्त-कफ-प्रधान शरीरमें कफके संसर्गसे ऊपरको गमन करताहुआ कान, नेत्र, नासिका और मुख द्वारा निकलताहै । वातप्रधान शरीरमें वायुके संसर्गसे नीचेको गमन करता हुआ मूत्र और मलके द्वारोंसे निकलताहै। जिसके शरीरमें वायु और कफ इन दोनोंकी अधिकता होताहै उसके शरीरमें वात और कफके संसर्गसे दोनों (उपरके और नीचेके) मार्गों द्वारा निकलताहै । जब दोनों मार्गोंसे प्रवृत्त होताहै तो शरीरके संपूर्ण द्वारोंसे अर्थात् मुख, नासिका, नेत्र, गुदा, लिंग इन सब मार्गोंसे निकलताहै६

रक्तपित्तका साध्यासाध्यत्व।

तत्र यदूर्द्ध्वभागं तत्साध्यं विरेचनोपक्रमणीयत्वाद्बह्वौषधत्वाच्च॥७॥

उनसे ऊपरके मार्गसे प्रवृत्त होनेवाला रक्तपित्त विरेचनद्वारा शान्त होनेसे, एवम् बहुतसी औषधियें ऊर्ध्वगत रक्तपित्त नाशक होनेसे ऊर्ध्वगत रक्तपित्त साध्य हैं ॥७॥

यदधोभागं तद्याप्यम् वमनोपक्रमणीयत्वादल्पौषधत्वाच्च ॥ ८ ॥

अधोमार्गगामी-रक्तपित्त--याप्य साध्य होताहै क्योंकि, उसकी शांति करनेवाली औषधियें बहुत थोडी हैं और उसमें वमनद्वारा शांति होतीहै ॥ ८ ॥

यदुभयभागं तदसाध्यम् । विरेचनायोगित्वादनौषधत्वाच्च ॥ ९ ॥

जो दोनों मार्गोंसे गमन करताहै वह असाध्य है क्योंकि न तो उसमें वमन विर-चन करासकतेहैं न उभयतः शांत करनेमें औषधी यथोचित क्रिया कर सकतीहै ॥९॥

रक्तपित्तकी उत्पत्ति आदि।

रक्तपित्तप्रकोपस्तु खलु पुरा दक्षयज्ञध्वंसे रुद्रकोपामर्षाग्निना प्राणिनां परिगतशरीरप्राणानामनुज्वरमभवत् । तस्याशुकारिणो दावाग्नेरिवा-पतितस्यात्ययिकस्याशुप्रशान्तौ यतितव्यम् ॥ १० ॥

पहले दक्षप्रजापतिका यज्ञ विध्वंस होनेके समय महादेवके कोपरूप अग्निद्वारा ज्वर उत्पन्न होनेके उपरांत रक्तपित्त उत्पन्न हुआ. वह रक्तपित्त शरीरधारियोंके प्राणोंको दावाग्निके समान सर्वतः प्रवेश करताहुआ शीघ्र नष्ट करदेताहै। इसलिये इस शीघ्रकारी रोगकी शांतिका उपाय भी शीघ्रही करना चाहिये ॥ १० ॥

रक्तपित्तमें चिकित्साक्रम ।

मात्रां देशं कालञ्चाभिसमीक्ष्य सन्तर्पणेनापतर्पणेन वा मृदुमधुरशिशिरतिक्तकषायैरभ्यवहार्य्यैः प्रदेहपरिषेकावगाहसंस्पर्शनैर्वमनाद्यैर्वा तत्रावहितेनेति ॥ ११ ॥

मात्रा, देश, काल इन सबको विचारकर संतर्पण अथवा अपतर्पण क्रियाद्वारा एवम् मृदु, मधुर, शीतल, कडुए, कसैले आदि योगोंसे रक्तपित्तको शान्त करे। अथवा लेप, परिषेक, अवगाहन, रत्नआदिका धारण, एवम् वमन आदिकोंसे अथवा अन्य जो क्रिया उचित हो उसके द्वारा रक्तपित्तको शान्त करे ॥ ११ ॥

साध्यासाध्य विवेचन ।

तत्र श्लोकाः-साध्यं लोहितपित्तं तद्यदूर्द्ध्वं प्रतिपद्यते ।
विरेचनस्य योगित्वाद्बहुत्वाद्भेषजस्य च ॥ १२ ॥

ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त विरेचनके योगसे एवम् उसके नाश करनेवाली बहुतसी औषधियां होनेके कारण साध्य होताहै ॥ १२ ॥

वमनं न हि पित्तस्य हरणे श्रेष्ठमुच्यते ।
यश्च तत्रानुगो वायुस्तच्छान्तौ चावरं मतम् ॥ १३ ॥
स्याच्च योगावहं तत्र कषायं तिक्तकानि च ।
तस्माद्याप्यं समाख्यातं यद्रक्तमनुलोमगम् ॥ १४ ॥
रक्तन्तु यदधोभागं तद्याप्यमिति निश्चयः ।
वमनस्याल्पयोगित्वादल्पत्वाद्भेषजस्य च ॥ १५ ॥

क्योंकि पित्तको हरण करनेके लिये वमन कराना श्रेष्ठ नहीं होता और अधोमार्गगामी रक्तपित्तमें वायुका संसर्ग होनेसे उसकी शान्तिके लिये वमन कराना उचित होताहै। एवम् तिक्त, कषाय पदार्थोंद्वारा पित्त शान्त होताहै परन्तु वायु शान्त नहीं होता, इसलिये अधोगामी रक्तपित्त चिकित्सामें कठिनाई पडनेसे याप्यसाध्य होता है क्योंकि अधोगामी रक्तपित्तमें यथोचित रीतिपर वमन भी नहीं करासकते । और तिक्त, कषाय द्रव्योंद्वारा भी यथोचित रीतिपर शान्त नहीं करसकते। इसलिये इसको याप्यसाध्य मानतेहैं ॥ १३-१५ ॥

रक्तपित्तन्तु यन्मार्गौ द्वावपि प्रतिपद्यते।
असाध्यमपि तज्ज्ञेयं पूर्वोक्तादपि कारणात् ॥ १६ ॥
न हि संशोधनं किञ्चिदस्त्यस्य प्रतिमार्गगम्।
प्रतिमार्गश्च हरणं रक्तपित्ते विधीयते।
एवमेवोपशमनं सर्वशो नास्य विद्यते ॥ १७ ॥
संसृष्टेषु च दोषेषु सर्वजिच्छमनं मतम् ॥ १८ ॥

जो रक्तपित्त दोनों मार्गोंसे प्रवृत्त होताहै वह ऊपर कहेहुए कारणोंसे असाध्य होता है। क्योंकि ऊर्ध्वगामी होनेसे इसमें वमन नहीं करासकते और अधोगामी होनेके कारण विरेचन नहीं करासकते इसलिये दोनों मार्गोंद्वारा उभयगामी रक्तपित्तमें शोधन क्रिया नहीं होसकती अतएव सर्वथा इसका कोई उपाय शान्तिकारक नहीं होता। सब दोषोंसे मिलेहुए रक्तपित्तमें सर्वतः शान्तिकारक औषधियोंका सेवन हितकर होता है एवम् सब प्रकारसे उभयगामी रक्तपित्तको जीतनेके लिये औषधियें भी अपना काम नहीं करसकतीं इसलिये इसको असाध्य मानाहै ॥ १६-१८ ॥

इत्युक्तं त्रिविधोदर्कं रक्तं मार्गविशेषतः ॥ १९ ॥

इस प्रकार मार्ग विशेषसे रक्तपित्तके तीन भेद कथन कियेहैं ॥ १९ ॥

साध्यरोगको असाध्य होनेका कारण।

एभ्यस्तु खलु हेतुभ्यः किञ्चित् साध्यं न सिध्यति।
प्रेष्योपकरणाभावाद्दौरात्म्याद्वैद्यदोषतः।
अकर्म्मतश्च साध्यत्वं कश्चिद्रोगोऽतिवर्त्तते ॥ २० ॥

चार हेतुओंके अच्छा न होनेसे कोई भी रोग साध्य नहीं रहता वह चार हेतु यह हैं-परिचारक अच्छा न होनेसे, औषधी आदि उपकरण अच्छा न होनेसे, रोगीका स्वभाव अथवा आचार अच्छा न होनेसे, एवम् वैद्यके दोषसे साध्य रोग भी असाध्य होजातेहैं। तथा यत्न न करनेसे भी साध्यरोग कोई ही शान्त होताहै अर्थात साध्य-रोग भी विना उपाय किये शान्त होना कठिन होताहै ॥ २० ॥

तत्रासाध्यत्वमेकं स्यात् साध्ययाप्यपरिक्रमात्।
रक्तपित्तस्य विज्ञानमिदं तस्योपदेक्ष्यते ॥ २१ ॥

साध्य, याप्यसाध्य और असाध्य इन तीनोंमें असाध्यता सिर्फ एक प्रकारकी होतीहै अर्थात् असाध्यरोगका यत्न नहीं होसकता। साध्य और याप्यसाध्यकी

क्रमपूर्वक चिकित्सा हो सकतीहै । इसलिये रक्तपित्तकी असाध्यताके लक्षण कथन करतेहैं ॥ २१ ॥

असाध्यके विशेष लक्षण ।

यत्कृष्णमथवा नीलं यद्वा शक्रधनुष्प्रभम् ।
रक्तपित्तमसाध्यं तद्वाससोरञ्जनञ्च यत् ॥ २२ ॥

जो रक्तपित्त काला, नीला, इन्द्रधनुषके समान वर्णवाला होताहै वह असाध्य होताहै । एवम् जिसमें रंगाहुआ कपडा फिर स्वच्छ न होसके उसको भी असाध्य जानना चाहिये ॥ २२ ॥

भृशं पूत्यतिमात्रञ्च सर्वोपद्रववच्च यत् ।
बलमांसक्षये यच्च तच्च रक्तमसिद्धिमत् ॥ २३ ॥

जिस रक्तपित्तमें अत्यन्त दुर्गंध आवे तथा संपूर्ण उपद्रवों सहित हो एवम् रोगीका बल और मांस क्षीण हो वह रक्तपित्त भी असाध्य होताहै ॥ २३ ॥

येन चोपहतो रक्तं रक्तपित्तेन मानवः ।
पश्येद् दृश्यं वियच्चैव तच्चासाध्यमसंशयम् ॥ २४ ॥

जिस रक्तपित्तके होनेसे मनुष्य आकाश और संपूर्ण पदार्थोंको लालवर्णका देखे वह भी असाध्य जानना ॥ २४ ॥

रक्तपित्तमें कर्तव्यता ।

तत्रासाध्यं परित्याज्यं याप्यं यत्नेन यापयेत् ।
साध्यञ्चावहितः सिद्धैर्भेषजैः साधयेद्भिषक् ॥ २५ ॥

इनमें असाध्यको त्यागकर याप्यसाध्यकी यत्नपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिये । और साध्यरक्तपित्तको सिद्ध औषधियों द्वारा जीत लेनाचाहिये ॥ २५ ॥

तत्र श्लोकौ—कारणं नामनिर्वृत्तिं पूर्वरूपाण्युपद्रवान् ।
मार्गौ दोषानुबन्धञ्च साध्यत्वं न च हेतुमत् ॥ २६ ॥
निदाने रक्तपित्तस्य व्याजहार पुनर्वसुः ।
वीतमोहरजोदोषलोभमानमदस्पृहः ॥ २७ ॥

इति अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते रक्तपित्त-
निदानं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अब अध्यायका उपसंहार करतेहैं। इस रक्तपित्त निदाननामक अध्यायमें रक्तपित्तके कारण, उत्पत्ति, पूर्वरूप, उपद्रव, ऊर्ध्व और अधोगमन, वातादि दोषोंका अनुबंध, साध्य और असाध्य तथा उनके कारण यह सब मोह, रजोदोष, लोभ, मान, मद और स्पृहारहित भगवान् पुनर्वसुजीने कथन कियेहैं ॥ २६ ॥ २७ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां पटियालाराज्यान्तर्गतटकसालनिवासिवैद्यपञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्यभाषाटीकायां रक्तपित्तनिदानं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः।

अथातो गुल्मनिदानं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम गुल्मनिदानकी व्याख्या करतेहैं—इस प्रकार भगवान् आत्रेयजी कथन करनेलगे ॥

गुल्मोंके भेद।

इह खलु पञ्चगुल्मा भवन्ति। तद्यथा—वातगुल्मः पित्तगुल्मः श्लेष्मगुल्मो निचयगुल्मः शोणितगुल्म इति ॥ १ ॥

गुल्मरोग पांच प्रकारका होता है। जैसे--वातगुल्म, पित्तगुल्म, कफगुल्म और सन्निपातगुल्म तथा रक्तजगुल्म ॥ १ ॥

अग्निवेशका प्रश्न।

एवं वादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच। कथमिह भगवन् पञ्चानां गुल्मानां विशेषमभिजानीमहे। न ह्यविशेषविद्रोगाणामौषधविदपि भिषक् प्रशमनसमर्थ इति ॥ २ ॥

इस प्रकार कथन करते हुए भगवान् आत्रेयजीसे अग्निवेश कहने लगे कि, हे भगवन्! इन पांच प्रकारके गुल्मोंको हम यथोचित रीतिपर कैसे जान सकते हैं अर्थात् इनके जाननेका प्रकार कथन कीजिये. क्योंकि रोगके निदानको यथोचित रीतिपर विना जाने अर्थात् रोगके विना समझे औषध क्रियामें कुशल वैद्य भी रोग शान्त नहीं कर सकता ॥ २ ॥

आत्रेयका उत्तर।

तमुवाच भगवानात्रेयः। समुत्थानपूर्वरूपलिङ्गवेदनोपशयाविशेषेभ्यो विशेषविज्ञानं गुल्मानां भवत्यन्येषाञ्च रोगाणामग्निवेश तत्तु खलु गुल्मेषूच्यमानं निबोध ॥ ३ ॥

यह सुनकर आत्रेय भगवान् कहनेलगे कि हे अग्निवेश ! कारण, पूर्वरूप, रूप, वेदना और उपशयके भेदसे गुल्मोंका विशेषरूपसे अलग २ ज्ञान होसकता है। इसी प्रकार कारणादिद्वारा अन्य रोगोंका भी ज्ञान हो सकता है । सो यहांपर गुल्म-रोगके कारण आदिकोंका श्रवण करो ॥ ३ ॥

वातकुपित होनेका कारण।

यदा पुरुषो वातलो विशेषेण ज्वरवमनविरेचनातीसाराणामन्यतमेन कर्षणेन कर्शितो वातलमाहारमाहरति। शीतं वा विशेषेण। अतिमात्रस्नेहपूर्वे वा वमनविरेचने पिबति। अनुदीर्णान् वा छर्दिमुदीरयति। उदीर्णान् वातमूत्रपुरीषवेगान् विरुणद्धि। अत्याशितो वा पिबति नवोदकमतिमात्रम्। संक्षोभिणा वा यानेन याति। अतिव्यवायव्यायाममद्यरुचिर्वाभिघातमिच्छति। विषमाशनशयनस्थानचंक्रमणसेवी वा भवति। अन्यद्वा किञ्चिदेवंविधम्। अतिमात्रं व्यायामजातं वा आरभते। तस्यापचाराद्वातः प्रकोपमापद्यते ॥ ४ ॥

जब वातप्रधान मनुष्य ज्वर, वमन, विरेचन, अतिसार अथवा अन्य कर्षणद्वारा विशेषरूपसे कृश होजाता है फिर वह वातकारक और शीतल द्रव्योंको विशेषरूपसे सेवन करे अथवा विना स्नेहन किये ही वमन, विरेचनादिकोंका उपयोग करे अथवा विनाही वेगके वमन आदिकोंको करे एवम् मल, मूत्रके वेगोंको रोके अथवा नवीन अन्नोंको और नवीन जलको अधिक मात्रासे सेवन करे या बहुत संक्षोभ (हिलाना) करनेवाली सवारीमें बैठे एवम् मैथुन, व्यायाम, मद्य, इनका अधिक सेवन करे एवम् चोट लगनेसे विषम भोजन और विषम शयन करनेसे ऊंचे नीचे स्थानमें अधिक फिरनेसे अथवा इस प्रकारके अन्य थकावट आदि पैदा करनेवाले कारणोंसे तथा वातकारक कारणोंके उपस्थित होनेसे एवम् उपरोक्त वमन, विरेचनादिकोंमें किसी-प्रकारका अपचार होनेसे वायुका कोप होता है ॥ ४ ॥

प्रकुपित वातसे गुल्मकी उत्पत्ति।

स प्रकुपितो महास्रोतोऽनुप्रविश्य रौक्ष्यात्कठिनीकृत्याप्लुत्य पिण्डितो-

ऽवस्थानं करोति । हृदि वस्तौ पार्श्वयोर्नाभ्यां वा स शूलमुपजनयति । स वातजन्याननेकविधान् वेदनाविशेषान् जनयति । ग्रन्थींश्चानेकविधान् । पिण्डितश्चावतिष्ठते । स पिण्डितत्वाद् गुल्म इत्युपचर्य्यते ॥ ५ ॥

फिर वह कुपित हुई वायु महास्रोतोंमें अर्थात् आमाशय और पक्वाशय आदिमें प्रवेश करके अपने रूक्षतादि गुणोंसे कठोरताको प्राप्त हो चक्कर खाकर एक गोलमोल गोलेको उत्पन्न करदेती है, वह गोला—बस्ती अथवा दोनों पंसवाडे तथा नाभिमें पीडाको उत्पन्न करता है। तथा वातजनित और भी अनेक प्रकारके रोगोंको और अनेक प्रकारकी ग्रन्थियोंको उत्पन्न करता है। और पिण्डित होकर अन्दर स्थित होता है इस कारण उसे गुल्म कहते हैं ॥ ५ ॥

वात गुल्मके लक्षण।

स मुहुराध्मार्ति, मुहुरल्पत्वमापद्यते, अनियतवेदनश्च । चलत्वाद्वायोः पिपीलिकासंप्रकीर्ण इव तोदस्फुरणायामसङ्कोचहर्षप्रलयोदयबहुलः तदातुरश्च सूच्येव शङ्कुनेव चातिविद्धमात्मानं मन्यते । अपि च दिवसान्ते ज्वर्य्यते शुष्यति चास्यास्यमुच्छ्वासश्चोपरुध्यते। हृष्यन्ति रोमाणि । वेदनायाः प्रादुर्भावे प्लीहाटोपान्त्रकूजताविपाकोदावर्त्ताङ्गमर्दमन्याशिरःशंखशूलब्रध्नरोगाश्चैनमुपद्रवन्ति । कृष्णारुणपरुषत्वङ्नखनयनवदनमूत्रपुरीषश्च भवति । निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरत इति वातगुल्मः ॥ ६ ॥

वह गोला वायुकी चलगति होनेसे कभी बडा, कभी छोटा प्रतीत होता है। इसमें पीडा भी कभी अधिक और कभी कम होती है। और चींटिओंके काटनेके समान तोद होता है और स्फुरण एवम् फैलाव तथा संकोच और प्रकटता तथा कभी नष्टप्रायसा हो जाना एवं फिर प्रकट रूपसे दीखना यह लक्षण होते हैं। पीडा होनेकें समय रोगीको सूई चुभने एवम् शूल चुभनेके समान प्रतीत होना, सायंकालमें ज्वर चढना, मुखका सूखजाना, श्वास रुकरुककर आना, रोमोंका खडा होना, पीडाका प्रगट होना, प्लीहा, अफरा, आंतोंका बोलना, अन्नका न पचना, उदावर्त्त, अंगमर्द तथा गर्दन, शिर, कनपट्टी इनमें पीडा होना, बद निकलना आदि उपद्रवोंसे रोगीका पीडित होना एवम् त्वचा, नख, नेत्र, मुख, मूत्र, मल ये सब कालेरंग तथा लालरंग

एवम् कठोर होजाना तथा निदानमें कहे हुए कारणोंसे रोगका वढना उससे विपरीत द्रव्योंके सेवनसे रोगका शान्त होना यह सब लक्षण वातजगुल्मके होते हैं ॥ ६ ॥

पित्तप्रकोपका कारण ।

तैरेव तु कर्षणैः कर्षितस्याम्ललवणकटुकक्षारोष्णतीक्ष्णशुष्कव्याप-न्नमद्यहरितकफलाम्लानां विदाहिनाञ्च शाकमांसानामुपयोगादजी-र्णाध्यशनाद्रौक्ष्यानुगते चामाशये वमनविरेचनमतिवेलसन्धारणं वाता-तपौ चातिसेवमानस्य पित्तं सह मारुतेन प्रकोपमापद्यते ॥ ७ ॥

पूर्वोक्त वमन, विरेचन आदि कर्मणों द्वारा कर्षित हुआ मनुष्य यदि खट्टे, नमकीन, चरपरे, खारे, उष्ण, तीक्ष्ण और शुष्क पदार्थोंको खाता है अथवा सडेहुए मद्य तथा दूषित शाक आदि एवम् खट्टेफल, विदाहकारी पदार्थ, शाक, मांस इनका उपयोग करता है तथा अजीर्णकारी पदार्थ अध्यशन (अधिक भोजन या विषम भोजन) तथा रूक्षता आदि कारणोंसे एवम् वमन, विरेचनके अतियोगसे, मल मूत्र आदि वेगोंको रोकनेसे, पवन और धूपके अत्यन्त सेवनसे पित्त-वायुके साथ कुपित होजाता है ॥७॥

पित्तप्रकोपसे गुल्म ।

तत्प्रकुपितं मारुत आमाशयैकदेशे संवर्त्य तानेव वेदनाप्रकारानुपज-नयति ये उक्ता वातगुल्मे । पित्तं त्वेनं विदहति कुक्षौ हृद्युरसि कण्ठे वा । स विदह्यमानः सधूममिवोद्गारमुद्गिरत्यम्लान्वितम् । गुल्मावका-शश्चास्य दह्यते दूयते धूप्यते उष्मायते स्विद्यति क्लिद्यति मृदुशिथिल इव चास्पर्शासहोऽल्परोमाञ्चो भवति । ज्वरभ्रमदवथुपिपासागलवदन-तालुशोषप्रमोहविड्भेदाश्च भवन्ति । हरितहारिद्रत्वङ्नखनयनवदन-मूत्रपुरीषञ्च भवति । निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते विपरीतानि चास्य चोपशेरत इति पित्तगुल्मः ॥ ८ ॥

उस कुपितहुए पित्तको वायु आमाशयके एकदेशमें अर्थात् ग्रहणीविभागमें प्राप्त कर वातगुल्ममें कही हुई संपूर्ण पीडाओंको प्रगट करता है । और पूर्वोक्त प्रकारसे गुल्मको उत्पन्न करदेता है । फिर वह पित्तगुल्म-कुक्षि, हृदय, छाती, कण्ठ इन सबमें दाहको उत्पन्न करता है, वह गुल्म दाहयुक्त होकर धूएंकीसी तथा खटाईयुक्त डकारको उत्पन्न करता है और गुल्म स्थानमें दाह तथा पीडा होती है एवम् धूआंसा निकलता हुआ प्रतीत होता है, पसीने आते हैं शरीरमें गीलापनसा उत्पन्न होजाता है। वह गीला नरम और शिथिलसा प्रतीत होता है स्पर्शको सह नहीं सकता,

थोडा थोडा रोमाञ्च होता है एवम् ज्वर, भ्रम, दाह, प्यास, मुख, गल, तालू इनका सूखना, मोह तथा दस्तका लगना और त्वचा, नख, नेत्र, मुख, मूत्र, पुरीष इन सबका हल्दीके समान रंग होना, पित्तकारक पदार्थोंसे बढना और उसके विपरीतोंसे शान्त होना यह पित्तगुल्मके लक्षण होते हैं ॥ ८ ॥

कफके प्रकुपित होनेका कारण।

तैरेव तु कर्षणैः कर्षितस्यात्यशनात् स्निग्धगुरुमधुरशीताशनात् पिष्टेक्षुक्षीरमाषतिलगुडविकृतिसेवनमद्यपानाद्धरितकातिप्रीणनयादानूपौदकग्राम्यमांसातिभक्षणात्सन्धारणादतिसुहितस्य चातिप्रगाढमुदकपानात्संक्षोभणाद्वा शरीरस्य श्लेष्मा सह मारुतेन प्रकोपमापद्यते ॥ ९ ॥

उसी प्रकार वमन, विरेचनादि कारणोंसे कर्षित हुए मनुष्यके अधिक भोजन करनेसे तथा स्निग्ध, गुरु, मधुर, शीतल पदार्थोंके खानेसे, मैदा आदि पिष्ट पदार्थ, गुड, दूध, उडद, तिल, मिठाई आदि पदार्थोंके अधिक सेवनसे, गंदी तथा सडी हुई मद्यके पीनेसे, अधिक सब्जियोंके खानेसे, अनूपसंचारी तथा ग्राम्यजीवोंका मांस अधिक खानेसे, मल, मूत्रादि वेगोंको रोकनेसे, प्यारे पदार्थोंको बहुत ज्यादे खानेसे, अधिक जलपीनेसे,शरीरके अधिक हलचल होनेसे कफ वायुके साथ कोपको प्राप्त होता है॥९॥

प्रकुपितकफसे गुल्मकी उत्पत्ति।

तं प्रकुपितं मारुत आमाशयैकदेशे संवर्त्य तानेव वेदनाप्रकारानुपजनयति य उक्ता वातगुल्मे। श्लेष्मा त्वस्य शीतज्वरारोचकाविपाकाङ्गमर्दहर्षहृद्रोगच्छर्दिनिद्रालस्यस्तैमित्यगौरवशिरोऽभितापानुपजनयति। अपि च गुल्मस्य स्थैर्यगौरवकाठिन्यावगाढसुप्तताः। तथा कासश्वासप्रतिश्यायान् राजयक्ष्माणञ्चातिप्रवृद्धः श्वैत्यं त्वङ्नखनयनवदनमूत्रपुरीषेषु उपजनयति । निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते तद्विपरीतानि चोपशेरत इति श्लेष्मगुल्मः ॥ १० ॥

उस कुपित हुए कफको वायु, आमाशयमें ले जाकर चक्कर देकर गोलाकार बना देती है और वातगुल्ममें कहेहुए पीडाके प्रकारोंको उत्पन्न करती है। फिर यह कफसे बना हुआ गुल्म–शीतज्वर, अरुचि, अन्नका अविपाक, अंगमर्द, रोमहर्ष, हृद्रोग, वमन, निद्रा, आलस्य, शरीरका गीलासा होना, गुरुता और शिरमें शूल इन सबको प्रगट करता है तथा वह गुल्म–स्थिर, भारी, कठिन, गाढतायुक्त तथा सुप्तसा होता है। उस गुल्मके बढनेसे–कास, श्वास, प्रतिश्याय, राजयक्ष्मा यह उत्पन्न होवे हैं

एवम् त्वचा, नख, नेत्र, मुख, मूत्र, मल ये सब सफेद वर्णके होते हैं। और निदानमें कहे हुए कारणोंसे रोगका बढना तथा तद्विपरीत कारणोंसे शान्त होना यह सब कफजन्य गुल्मके लक्षण होते हैं ॥ १० ॥

निचयगुल्मका वर्णन।

त्रिदोषहेतुलिङ्गसन्निपातात्तु सान्निपातिकं गुल्ममुपदिशन्ति कुशलाः। स प्रतिषिद्धोपक्रमत्वादसाध्यो निचयगुल्मः ॥ ११ ॥

जिस गुल्ममें गुल्मदोषोंके कारण और लक्षण मिलते हों उस गुल्मको बुद्धिमान् वैद्य सन्निपातसे उत्पन्न हुआ मानते हैं। सन्निपातके गुल्ममें चिकित्साकी विरोधता पडनेसे यह गुल्म असाध्य होता है ॥ ११ ॥

रक्तगुल्म।

शोणितगुल्मस्तु खलु स्त्रिया एव भवति न पुरुषस्य। गर्भकोष्ठार्त्तवागमनवैशेष्यात् ॥ १२ ॥

रक्तजनित गुल्म केवल स्त्रियोंकोही होता है। पुरुषोको नहीं होता. क्योंकि गर्भ कोष्ठ और मासिक ऋतुका बहाव स्त्रियोंके ही होनेसे रक्तगुल्म भी स्त्रियोंके ही होताहै॥

रक्तगुल्मकी उत्पत्तिके कारण।

पारतन्त्र्यादवैशारद्यात् सततमुपचारानुरोधाद्वेगानुदीर्णानुपरुन्धन्त्या आमगर्भे वापि अचिरात् पतिते तथाप्यचिरप्रजाताया ऋतौ वा वातप्रकोपनान्यासेवमानाया वातप्रकोपमापद्यते ॥ १३ ॥

स्त्रियें परतंत्र होनेसे और शारीरिक विषयमें मूर्ख होनेसे निरन्तर अपने घर अथवा सन्तान आदिके काममें लगी हुई रहती हैं और मल मूत्रादिके आये हुए वेगोंको रोकलेती हैं अतएव वेग आदिकोंके रोकनेसे, कच्चे गर्भके पात होजानेसे अथवा प्रसूत कालमेंही या ऋतुकालमें वात--प्रकोप कारक पदार्थके सेवनसे उस स्त्रीके शरीरमें वायु कोपको प्राप्त होजाताहै ॥ १३ ॥

स प्रकुपितो योन्या मुखमनुप्रविश्यार्तवमुपरुणद्धि। मासि मासि तदार्त्तवमुपरुध्यमानं कुक्षिमभिवर्द्धयति ॥ १४ ॥

फिर वह कुपित हुआ वायु योनिके मुखमें प्रवेश करके स्त्रीके मासिक ऋतुका बंद कर देता है फिर महीने २ ऋतुके रजको रोकता हुआ कूखमें वृद्धिको प्राप्त होताहै अर्थात् रक्तका गोलासा बना २ कर कूखमें बंढताजाताहै ॥ १४ ॥

तस्याः शूलकासातीसारछर्दरोचकाविपाकाङ्गमर्दनिद्रालस्यकफप्र-

सेकाः समुपजायन्ते । स्तनयोश्च स्तन्यमोष्ठयोः स्तनमण्डलयोश्च कार्ष्ण्यम् । ग्लानिः चक्षुषोः । मूर्च्छा हृल्लासो दोहदः श्वयथुः पादयोरीषच्चोद्गमो रोमराज्या योन्याश्चाटालत्वमपि च योन्या दौर्गन्ध्यमास्रावश्चोपजायते ॥ १५ ॥ केवलश्चास्या गुल्मः पिण्डित इव स्पन्दते । तामगर्भां गर्भिणीमित्याहुर्मूढाः ॥ १६ ॥

इसके होनेसे उस स्त्रीके--शूल, खांसी, अतिसार, वमन, अरुचि, अन्नका न पचना अंगमर्द, निद्रा. आलस्य, कफका थूकना ये उत्पन्न होतेहैं तथा दोनों स्तनोंमें दूध उत्पन्न होजाताहै । ओष्ठ और स्तनोंके अग्रभाग काले होजातेहैं एवम् ग्लानी नेत्रोंका निकलसाजाना, मूर्च्छा, हृल्लास तथा सब गर्भकेसे लक्षण होना, पावोंपर किंचित् सूजन, रोमाञ्च होना, योनिका गर्भ प्रगट करनेकेसे लक्षण दीखना, योनिका दुर्गंधित तथा स्रावित होना और वह गोला किंचित् फडकताहै । उस गुल्मयुक्त स्त्रीको मूर्ख-लोग गर्भवती समझने लगजातेहैं । ये रक्तजगुल्मके लक्षण हैं ॥ १५ ॥ १६ ॥

गुल्मके पूर्वरूप ।

एषां तु खलु पञ्चानां गुल्मानां प्रागभिनिर्वृत्तेरिमानि पूर्वरूपाणि । तद्यथा—अनन्नाभिलषणमरोचकाविपाकावग्निवैषम्यं विदाहो भुक्तस्य पाककाले चायुक्त्या छर्दिरुद्गारो वातमूत्रपुरीषवेगाणामप्रादुर्भावः । प्रादुर्भूतानाञ्चाप्रवृत्तिः सङ्गः ईषदागमनं वा । वातशूलाटोपान्त्रकूजनपरिहर्षणातिवृत्तपुरीषता अबुभुक्षा दौर्बल्यं सौहित्यस्य चासहत्वमिति गुल्मपूर्वरूपाणि ॥ १७ ॥

इन पांच प्रकारके ही गुल्मोंके प्रगट होनेसे पहिले यह पूर्वरूप होतेहैं । जैसे अन्नकी अभिलाषा न होना, अरोचक, अन्नका न पचना, अग्निकी विषमता, भोजन किये हुएका विदाही विपाक, भोजन पचनेके समय विनाही कारणसे छर्द होजाना, डकारोंका आना, अधोवायु, मूत्र, मल इनके वेगोंका न होना, आयेहुए वेगोंका यथोचित निःसर्ग न होना अथवा वेगोंका निवृत्त होजाना या किंचित् किंचित् आना, शूल, पेटमें वायुका फैलना, अफारा, आंतोंका बोलना, रोमहर्ष, मलका गांठदार होना, भूख थोडी लगना, शरीर दुर्बल होजाना, पेटभरके भोजन न करसकना यह गुल्म रोगके पूर्वरूप होतेहैं ॥ १७ ॥

गुल्ममें चिकित्सा निर्देश।

सर्वेष्वपि च गुल्मेषु न कश्चिद्वातादृते सम्भवति । गुल्मस्तेषां सन्नि-

पातजमसाध्यं ज्ञात्वा नोपक्रमेत । एकदोषजे तु यथास्वमारम्भं प्रणयेत् । संसृष्टांस्तु साधारणेन कर्मणोपचरेत् ॥ १८ ॥

संपूर्ण गुल्म वायुके विना नहीं होसकते अर्थात् वायु ही स्वयम् या अन्यदोषोंसे मिश्रित होकर उत्पन्न करताहै । इन पांच प्रकारके गुल्मोंमें सन्निपात जनित गुल्मवाले रोगीको असाध्य समझकर त्याग देनाचाहिये । एक दोषसे उत्पन्न हुए गुल्मको अर्थात् वातजगुल्मको उसके कारण और लक्षणोंद्वारा जानकर चिकित्सा करे और अन्य तीन प्रकारके गुल्मोंमें यथोचित रीतिसे चिकित्सा करे ॥ १८ ॥

यद्वा अन्यदप्यविरुद्धं मन्येत तदवचारयेद्विभज्य गुरुलाघवमुपद्रवाणां समीक्ष्य गुरूपद्रवांस्त्वरमाणः चिकित्स्येज्जघन्यामितरांस्त्वरमाणस्तु विशेषमुपलभ्य गुल्मेष्वात्ययिके कर्मणि वातचिकित्सितं प्रणयेत्॥ १९॥

यदि सन्निपातज गुल्मको भी चिकित्सा योग्य समझे तो उसमें दोष और उपद्रवोंकी गुरुता और लघुता विचारकर पहिले भारी उपद्रवोंको शीघ्र जीत लेवे फिर मध्यम उपद्रवोंको शान्त करे तदनन्तर बाकीके अंशोंको छांटते हुए अधिक समय व्यतीत होगा ऐसा विचारकर वायुकी चिकित्सा करे क्योंकि भारी उपद्रवोंके नष्ट होनेपर केवल वातमात्रकी चिकित्सा करनेसे रोगीको परमलाभ पहुंच सकता है ॥ १९॥

स्नेहस्वेदौ वातहरौ स्नेहोपसंहितञ्च मृदुविरेचनं बस्तीनम्ललवणमधुरांश्च रसान्युक्तितोऽवचारयेत् । मारुते ह्युपशान्ते स्वल्पेनापि प्रयत्नेन शक्यमन्योऽपि दोषो नियन्तुं गुल्मेष्विति ॥ २० ॥

स्नेहन करना, स्वेदन करना, एवम् स्नेहयुक्त मृदु विरेचन करना तथा अम्ल लवण और मधुर रसयुक्त युक्तिपूर्वक वस्तिकर्म करना इनसे गुल्मरोगमें वायुकी शान्ति होती है । इस प्रकार वायुके शान्त होनेपर अथवा अल्प रहजानेपर यत्नपूर्वक अन्य दोषोंको भी शान्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये । यह सामान्यरूपसे गुल्मोंकी चिकित्साका क्रम है ॥ २० ॥

तत्रश्लोकौ—गुल्मिनामनिलशान्तिरुपायैः सर्वशो विधिवदाचरितव्या ।
मारुते ह्यवजितेऽन्यमुदीर्णं दोषमल्पमपि कर्म निहन्यात् ॥ २१ ॥

उसीको यहां कहते हैं कि गुल्मरोगमें सब तरहसे विधिपूर्वक उपायों द्वारा वायुको शान्त करे । उस वायुके शान्त होनेपर बाकी रहे दोष साधारण क्रियाद्वारा भी शान्त हो जाते हैं ॥ २१ ॥

संख्या निमित्तं रूपाणि पूर्वरूपमथापि च।
दृष्टं निदाने गुल्मानामुपदेशश्च कर्मणाम् ॥ २२ ॥
इति अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते गुल्मनिदानं नाम
तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस गुल्मनिदान नामक अध्यायमें गुल्मोंकी संख्या, निमित्त, पूर्वरूप, रूप और गुल्म रोगमें चिकित्सा कर्मोंका उपदेश किया गया है ॥ २२ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां पटियालाराज्यान्तर्गतटकसालनिवासि-
वैद्यपञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्य-
भाषाटीकायां गुल्मनिदानं नाम तृतीयोध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः।

प्रमेह निदानम्।

अथातः प्रमेहनिदानं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम प्रमेहके निदानकी व्याख्या करते हैं। ऐसा भगवान् आत्रेयजी कथन करनेलगे ॥

प्रमेहोंकी संख्या।

त्रिदोषकोपनिमित्ता विंशतिः प्रमेहविकाराः चापरे अपरिसंख्येयाः।
तत्र यथा त्रिदोषप्रकोपः प्रमेहानभिनिवर्त्तयति तथानुव्याख्यास्यामः ॥

वात, पित्त, कफ इन तीनों दोषोंके निमित्तसे बीस प्रकारके प्रमेह उत्पन्न होते हैं। यद्यपि इन बीस प्रकारोंके सिवाय प्रमेहोंके अन्य प्रकार भी हैं परन्तु वह गणनामें नहीं आसकते। अतएव प्रमेहोंकी बीसप्रकारकी ही संख्या है सो जिस प्रकार तीनों दोष कुपित होकर प्रमेहोंको उत्पन्न करते हैं उनका वर्णन करते हैं ॥ १ ॥

इह खलु निदानदोषदूष्यविशेषेभ्यो विकाराणां विघातभावाभाव-
प्रतिविशेषा भवन्ति ॥ २ ॥

इस स्थानमें हेतु, दोष और दूष्यके भेदसे रोगोंका विघात, भाव और अभावमें भेद होता है ॥ २ ॥

यदा ह्येते त्रयो निदानादिविशेषाः परस्परं नानुबध्नन्ति अयथाप्रकर्षादबलीयांसोवानुबध्नन्ति न तदा विकाराभिनिर्वृत्तिः । चिराद्वाप्यभिनिवर्त्तन्ते तनवो वा भवन्त्यथवाप्ययथोक्तसर्वलिङ्गाविपर्ययेण विपरीता इति सर्वविकारविघातभावाभावप्रतिविशेषाभिनिर्वृत्तिर्हेतुरुक्तः ॥ ३ ॥

जब वातादि तीनों दोषोंके हेतु परस्पर अर्थात् आपसमें एकसे दूसरा प्रतिषेध कारक होनेके कारण रोगोंको उत्पन्न नहीं होनेदेता उसको रोगोंका विघात कहते हैं। जैसें दुर्बलभावसे दोषोंका परस्पर अनुबंध होनेसे रोगोंकी उत्पत्ति नहीं होती इसको रोगोंका विघात कहते हैं । अथवा रोग विलम्बसे उत्पन्न हो या बहुत थोडा उत्पन्न हो अथवा जैसा होनाचाहिये था वैसे लक्षणयुक्त न हो। इस प्रकार रोगोंका विघात, भाव, अभाव, प्रतिनिर्वृत्तिके हेतुओंको कहा है तात्पर्य यह हुआ कि निदान, दोष, दूष्य विशेषों करके जो विकारोंका इकठ्ठा होना है उसको विघात कहते हैं। अथवा वातकारक हेतुसे विपरीत गुणकारक हेतुके मिलजानेसे जो रोगका उत्पन्न न होना है उसको विघात जानना चाहिये । और दो दोषोंका मिल करके अथवा दो हेतुओंका मिल करके रोगका होना भाव कहा जाता है। एकदम रोगोंका हेतु आदि न होनेसे रोगका उत्पन्न न होना अभाव कहा जाता है। हेतु आदिकोंसे रोगका प्रगट होजाना निर्वृत्ति कहा जाता है इन सबके कारणोंको संक्षेपसे कहा है । अथवा निदान, दोष दूष्य विशेषों करके विकारोंका विघात, भाव, अभाव, प्रतिविशेष आदिसे रोगोंके विभाग कियेगये हैं ॥ ३ ॥

प्रमेहनिदान भेद।

तत्र इमे निदानादिविशेषाः श्लेष्मनिमित्तानां प्रमेहाणामाशु अभिनिर्वृत्तिकराः । तद्यथा—हायनकयवचीनकोद्दालकनैषधोत्कटमुकुन्दकमहाव्रीहिप्रमोदकसुगन्धकानां नवान्नानामतिवेलमतिप्रमाणेनोपयोगः। तथा सर्पिष्मतां नवहरेणुमाषसूपानां ग्राम्यानूपौदकानां मांसानां शाकतिलपललपिष्टान्नपायसकृसराविलेपीक्षुविकाराणां क्षीरमन्दकदधिद्रवमधुरतरुणप्रायाणामुपयोगो मृजाव्यायामवर्जनं स्वप्नशयनासनप्रसंगो यश्च कश्चिद्विधिरन्योऽपि श्लेष्ममेदोमूत्रसंजननः सर्वः स निदानविशेषः ॥ ४ ॥

सो यह निदानादि विशेष कफनिमित्तक प्रमेहोंको शीघ्र उत्पन्न करनेवाले होते हैं जैसे—जौ, शालिधान्य, चीना, कोदों, नैषध, मुकुन्दक, महाव्रीहि, प्रमोदक, सुगंधक आदि धान्योंकी जातियोंका निरन्तर अधिक सेवन करना और घृतके साथ नवीन मटर और उडदकी दाल अधिक सेवन करना, ग्रामसंचारी, अनूपसंचारी एवम् जलज-जीवोंका मांस तथा शाक, तिल, पिष्टक, मैदा आदि गरिष्ठ पदार्थ, खीर, खिचडी, विलेपी, शक्कर, गुड आदि ईखके विकार, दूध, मंदक, दही एवम् पतले और मीठे पदार्थ, नवीन पदार्थ इन सबका अधिक सेवन करना तथा देहको सुकुमार बना रखना, कसरत न करना, बहुत सोना, सुन्दर नर्म शय्या और आसन आदिका उपयोग करना इनके सिवाय अन्य भी जो आहार और विहार कफ मेद तथा मूत्रके बढानेवाले हैं वह सब कफजनित प्रमेहोंके निदान (कारण) होते हैं ॥ ४ ॥ (यह कारण कहेगये)

दोषदूष्यका वर्णन।

बहुद्रवः श्लेष्मा दोषे विशेषः। बहुबद्धं मेदो मांसञ्च शरीरक्लेदः शुक्रं शोणितञ्च वसा मज्जा लसीका रसश्चौजःसंख्याता इति दूष्याविशेषाः॥५॥

अब दोष और दूष्योंको कहतेहैं। कफजनित प्रमेहोंमें बहुतसे पतले द्रावयुक्त कफको दोष कहतेहैं। बहुत और बंधीहुई मेद, मांस, शरीरका क्लेद, शुक्र, रक्त, चर्बी, मज्जा, लसीका रस और ओज यह सब प्रमेहरोगमें दूष्य होतेहैं। कफदोषको उपरोक्त कारणोंका सेवन करना कुपित करताहै इसलिये उन कारणोंको कफके कोपका निदान अर्थात् हेतु मानागयाहै। अपने कारणोंसे बढाहुआ कफ मेद आदि धातुओंको दूषित करताहै इसलिये उसको दोष कहतेहैं। उस दोषद्वारा मेद आदि धातुएँ दूषित होती हैं इसलिये उनको दूष्य कहाजाताहै ॥ ५ ॥

प्रकुपित कफके कर्म।

त्रयाणामेषां निदानादिविशेषाणां सन्निपाते क्षिप्रं श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते प्रागतिभूयस्त्वात्।स प्रकुपितः क्षिप्रमेव शरीरे विसृप्तिं लभते। शरीरशैथिल्यात्स विसर्पन् शरीरे मेदसैवादितो मिश्रीभावं गच्छति। मेदसश्चैव बहुबद्धत्वान्मेदसश्च गुणानां गुणैः समानगुणभूयिष्ठत्वात् स मेदसा मिश्रीभावं गच्छन्दूषयत्येतद्विकृतत्वात् सविकृतो दुष्टेन मेदसोपहितः शरीरक्लेदमांसाभ्यां संसर्गं गच्छति। क्लेदमांसयोरतिप्रमाणाभिवृद्धित्वात् स मांसे मांसप्रदोषात् पूतिमांसपिडकाः शराविका-

कच्छपिकाद्याःसंजनयति। अपक्वतिभूतत्वात् शरीरक्लेदं पुनर्दूषयन्मूत्रत्वेन परिणमयति। मूत्रवहाणां स्रोतसां वंक्षणवस्तिप्रभवाणां मेदःक्लेदोपहितानि गुरूणि मुखान्यासाद्य प्रतिरुध्यते। ततः स्थैर्य्यं साध्यतां वा जनयति प्रकृतिविकृतिभूतत्वात् ॥ ६ ॥ शरीरक्लेदस्तु श्लेष्ममेदोमिश्रः प्रविशन्मूत्राशये मूत्रत्वमापद्यमानः श्लैष्मिकैरेभिर्दशभिर्गुणैरुपसृज्यते वैषम्यहानिवृद्धियुक्तैः। तद्यथा—श्वेतशीतमूर्त्तपिच्छिलाच्छस्निग्धगुरुमधुरसान्द्रप्रसादमन्दैः। तत्र येन गुणेनैकेनानेकेन वा भूयस्तरमुपसृज्यते तत् समाख्यं गौणं नाम विशेषं प्राप्नोति ॥ ७ ॥

इन निदान और दोष तथा दूष्योंके संयोगसे कफ कुपित होताहै क्योंकि वह प्रथम ही अधिकतायुक्त होता है। वह कुपित हुआ कफ सम्पूर्ण शरीरमें झट फैल जाता है। शरीरकी शिथिलतासे इधर उधर फिरता हुआ वही कफ पाहिले मेदमें मिलजाताहै फिर मेदके बहुत और बध्य होनेके कारण तथा मेदके समान गुणवाला होनेसे वह कफ मेदमें मिलकर मेदको बिगाड देता है। फिर विकृत हुए मेदके संयोगसे शरीरके क्लेद और मांसमें मिलजाताहै। उस क्लेद और मांसके अत्यन्त बढजानेसे मांसमें—मांसके दोषसे दुर्गंधित मांसकी शराविका कच्छपिका आदि पिडका उत्पन्न होजाती हैं। फिर वह दूषित कफ मेदादिकोंसे मिलाहुआ क्लेदको दूषित करके प्रकृतिस्थमूत्रको बिगाड़ देता है। तब मूत्रवाही स्रोतोंके मुख मेद और क्लेदके द्वारा भारी कर देता है और रोक देता है। तथा वंक्षण और वस्तीके मुखोंको भी भारी कर देताहै। फिर उन छिद्रोंके मुख दृढ होजाते हैं अथवा किसी प्रकार प्रकृतिस्थ होनेसे साध्य भी होजातेहैं। कफ और मेदसे मिश्रित हुआ शरीरका क्लेद—मूत्राशयमें प्राप्त होकर मूत्ररूप होजाताहै फिर वह कफजनित दश प्रकारके विषमता न्यूनता एवम् अधिकता युक्त गुणोंको उत्पन्न करताहै। जैसे-श्वेतता, शीतलता, मूर्तता, पिच्छलता अच्छता, स्निग्धता, गुरुता, मधुरता, सांद्रता एवम् मन्दता इन दश गुणोंको उत्पन्न करताहै। इनमें यदि वह क्लेद एक गुणयुक्त हो तो सम कहा जाताहै और बहुतसे गुणयुक्त होनेसे उन उन गुणोंसे संज्ञाको प्राप्त करताहै ॥ ६ ॥ ७ ॥

प्रमेहोंके नाम।

ते तु खल्विमे दश प्रमेहा नामविशेषेण भवन्ति। तथा—उदकमेहश्चेक्षुमेहश्च सान्द्रमेहश्च सान्द्रप्रसादमेहश्च शुक्लमेहश्च शुक्रमेहश्च शीतमेहश्च सिकतामेहश्च शनैर्मेहश्च लालामेहश्चेति ॥ ८ ॥

फिर उन दश गुणयुक्त होनेसे दश प्रकारके प्रमेहोंको उत्पन्न करताहै । वह दश प्रमेह यह हैं--उदकमेह, इक्षुमेह, सान्द्रमेह, सान्द्रप्रसादमेह, शुक्लमेह, शुक्रमेह, शीतमेह, सिकतामेह, शनैर्मेह और लालामेह ॥ ८ ॥

कफप्रमेहका साध्यत्व ।

ते दश प्रमेहाः साध्याः समानगुणमेदःस्थानत्वात् कफस्य प्राधान्यात् समानक्रियत्वाच्च ॥ ९ ॥

वह दश प्रकारके प्रमेह साध्य होतेहैं, क्योंकि मेदके समान गुण होनेसे, मेदसे कफके प्रधान होनेसे तथा कफ और मेदकी समान चिकित्सा होनेसे साध्य होतेहैं अर्थात् जो चिकित्सा कफनाशक की जायगी वह मेदके विकारोंको भी शान्त करती है । इसलिये चिकित्सामें विरोध न पडनेसे कफजनित प्रमेह साध्य होतेहैं ॥ ९ ॥

उदकमेहका लक्षण ।

तत्र श्लोकाः श्लेष्मप्रमेहविज्ञानार्थाः--

उन कफके प्रमेहोंके विज्ञानके लिये यहांपर श्लोक कहेजातेहैं-

अच्छं बहुसितं शीतं निर्गन्धमुदकोपमम् ।
श्लेष्मकोपान्नरो मूत्रमुदमेही प्रमेहति ॥ १० ॥

उदकमेही मनुष्य--कफके कोपसे स्वच्छ, बहुत, सफेद, शीतल, निर्गंध, जलके समान मूत्रको मूतता है ॥ १० ॥

इक्षुमेहके लक्षण ।

अत्यर्थमधुरं शीतमीषत्पिच्छिलमाविलम् ।
काण्डेक्षुरससङ्काशं श्लेष्मकोपात्प्रमेहति ॥ ११ ॥

इक्षुमेही मनुष्य--अधिक, मधुर, शीतल, किंचित् पिच्छिल, गन्धला, काण्डेक्षुके रसके समान मूतता है ॥ ११ ॥

सान्द्रमेहके लक्षण ।

यस्य पर्य्युषितं मूत्रं सान्द्रीभवति भाजने ।
पुरुषं कफकोपेन तमाहुः सान्द्रमेहिणम् ॥ १२ ॥

सान्द्रमेही मनुष्यका मूत्र--देरतक रक्खा रहनेसे बरतनमें गाढा होजाताहै इसीलिये इस कफजनित प्रमेहको सान्द्रमेह कहते हैं ॥ १२ ॥

सान्द्रप्रसादमेहके लक्षण ।

यस्य संहन्यते मूत्रं किञ्चित्किञ्चित्प्रसीदति ।
सान्द्रप्रसादमेहीति तमाहुः श्लेष्मकोपतः ॥ १३ ॥

जिस मनुष्यका मूत्र--देरतक रक्खा रहनेसे नीचेसे जमजाय और ऊपरसे हिलानेसे कुछ कुछ फैलावयुक्तसा होजाय उसको सान्द्रप्रसादमेही कहतेहैं ॥ १३ ॥

शुक्लमेहके लक्षण।

शुक्लं पिष्टनिभं मूत्रमभीक्ष्णं यः प्रमेहति।
पुरुषं कफकोपेन तमाहुः शुक्लमेहिनम् ॥ १४ ॥

जो मनुष्य--श्वेत और पिट्ठीके धोवनके समान मूत्र करता है उसको शुक्लमेही कहतेहैं ॥ १४ ॥

शुक्रमेहके लक्षण।

शुक्राभं शुक्रमिश्रं वा मुहुर्मेहति यो नरः।
शुक्रमेहिणमेवाहुः पुरुषं श्लेष्मकोपतः ॥ १५ ॥

जिस मनुष्यका मूत्र--शुक्रयुक्त अथवा शुक्रके समान हो तथा वह वारंवार थोडा थोडा मूतता हो उसको कफजनित शुक्रमेह कहतेहैं ॥ १५ ॥

शीतमेहके लक्षण।

अत्यर्थं शीतमधुरं मूत्रं क्षरति यो भृशम्।
शीतमेहिनमाहुस्तं पुरुषं श्लेष्मकोपतः ॥ १६ ॥

जिस मनुष्यका मूत्र--अधिक, शीतल एवम् मधुर उतरता है उसको कफजनित शीतमेही कहतेहैं ॥ १६ ॥

सिकतामेहके लक्षण।

मूर्त्तान्मूत्रगतान् दोषानणून् मेहति यो नरः।
सिकतामेहिनं विद्यान्नरं तं श्लेष्मकोपतः ॥ १७ ॥

जिस मनुष्यका मूत्र--कठिन स्पर्शवाले रेतकेसे कणकोंयुक्त हो उसको सिकतामेही कहतेहैं ॥ १७ ॥

शनैर्मेहके लक्षण।

मन्दं मन्दमवेगन्तु कृच्छ्रं यो मूत्रयेच्छनैः।
शनैर्मेहिनमाहुस्तं पुरुषं श्लेष्मकोपतः ॥ १८ ॥

जिस मनुष्यके कफ कोपके कारण--वेगरहित थोडा २ एवम् शनैः शनैः मूत्र आता हो उसको शनैर्मेही कहते हैं ॥ १८ ॥

आलालमेहके लक्षण।

तन्तुबद्धमिवालालं पिच्छिलं यः प्रमेहति।

आलालमेहिनं विद्यात्तं नरं श्लेष्मकोपतः ॥
इत्येते दश प्रमेहाः श्लेष्मप्रकोपनिमित्ता व्याख्याताः ॥ १९ ॥

जिस मनुष्यको तंतुओंके समान, पिच्छिल, लारयुक्त मूत्र आता हो उसको लालामेही कहतेहैं । इस प्रकार कफकोपसे उत्पन्न हुए दश प्रकारके प्रमेहोंका कथन कियागयाहै ॥ १९ ॥

पित्तप्रमेहका कारण ।

उष्णाम्ललवणक्षारकटुकाजीर्णभोजनोपसेविनस्तथातितीक्ष्णातपाग्निसन्तापश्रमक्रोधविषमाहारोपसेविनश्च तथात्मकशरीरस्यैव क्षिप्रं पित्तं प्रकोपमापद्यते ॥ २० ॥

अब पित्तके प्रमेहोंके कारणोंको कहतेहैं । गर्म, खट्टे, नमकीन, चरपरे एवम् अजीर्णकर्त्ता पदार्थोंके सेवनसे तथा अजीर्णमें भोजनके करनेसे एवम् अत्यन्त तीक्ष्ण, धूप, अग्नि, संताप, श्रम, क्रोध और विषम आहारके सेवनसे पित्तप्रकृति मनुष्यके शरीरमें पित्तका शीघ्र प्रकोप होजाताहै ॥ २० ॥

तत्प्रकुपितं तथैवानुपूर्व्या प्रमेहानिमान्षट् क्षिप्रमभिनिर्वर्त्तयाति ॥२१॥

वह कुपित हुआ पित्त पूर्वोक्त क्रमसे मेदादिकोंको दूषित करता हुआ छः प्रकारके प्रमेहोंको उत्पन्न करताहै ॥ २१ ॥

छः प्रमेहोंके नाम ।

तेषामपि च पित्तगुणविशेषेण नामविशेषाः । तद्यथा—क्षारप्रमेहश्च कालमेहश्च नीलमेहश्च लोहितमेहश्च माञ्जिष्ठामेहश्च हरिद्रामेहश्चेति ते षड्भिरेव क्षाराम्ललवणकटुकाविस्रोष्णैःपित्तगुणैः पूर्ववत्समान्विताः । सर्व एव ते याप्याः विषमगुणमेदःस्थानत्वाद्विरुद्धोपक्रमत्वाच्चेति ॥२२॥

उन छःओंके पित्तगुणके भेदसे छःप्रकारके नाम होतेहैं । जैसे-क्षारमेह, कालमेह, नीलमेह, लोहितमेह, मंजिष्ठामेह, हरिद्रामेह, यह छः प्रकारके ही प्रमेह-क्षार, अम्ल, लवण, कटु, विस्र, उष्ण इन पित्तके गुणोंसे युक्त होतेहैं । यह पित्तके छः प्रकारके प्रमेह-मेदके गुणोंसे विरुद्ध क्रिया द्वारा शान्त होनेवाले होनेसे याप्य साध्य होतेहैं अर्थात् इन पित्तजनित विकारोंको शान्त करनेवाली क्रिया मेदके विकारोंको शमन करनेवाली नहीं होसकती इसलिये चिकित्सामें विषमता पडनेसे इन प्रमेहोंको याप्य साध्य कहाहै ॥ २२ ॥

क्षारमेही केलक्षण।

तत्र श्लोकाः पित्तप्रमेहविज्ञानार्थाः--

गन्धवर्णरसस्पर्शैर्यथा क्षारस्तथात्मकम्।
पित्तकोपान्नरो मूत्रं क्षारमेही प्रमेहति॥ २३॥

उन पित्तके प्रमेहोंके विज्ञानके लिये यहांपर श्लोक कहतेहैं। क्षारप्रमेहमें-पित्तके कोपसे गंध, वर्ण, रस और स्पर्श यह सब क्षारके समान गुणोंसे युक्त मूत्र होताहै२३

कालमेहीके लक्षण।

मसीवर्णमजस्रं यो मूत्रमुष्णं प्रमेहति।
पित्तस्य परिकोपेन तं विद्यात्कालमेहिनम्॥ २४॥

पित्तके कोपसे स्याहीके समान काला और गर्म मूत्र जिसको नित्य आता है उसको कालमेही कहते हैं॥ २४॥

नीलमेहीके लक्षण।

चाषपक्षनिभं मूत्रमम्लं मेहति यो नरः।
पित्तस्य परिकोपेन तं विद्यान्नीलमेहिनम्॥ २५॥

जिसको नीलकंठके पंखके समान-नीलवर्णका मूत्र थोडा थोडा आता है उसको नीलमेही कहते हैं॥ २५॥

रक्तमेहीके लक्षण।

विस्रं लवणमुष्णञ्च रक्तं मेहति यो नरः।
पित्तस्य परिकोपेन तं विद्याद्रक्तमेहिनम्॥ २५॥

रक्तमेही मनुष्यको-आमकीसी गंधयुक्त, नमकीन, गर्म तथा रक्तके समान मूत्र आता है--उसको रक्तमेही कहते हैं॥ २६॥

मंजिष्ठमेहीके लक्षण।

मञ्जिष्ठारूपि योऽजस्रं भृशं विस्रं प्रमेहति।
पित्तस्य परिकोपात् तं विद्यान्माञ्जिष्ठमेहिनम्॥ २७॥

जिस मनुष्यको मंजीठके समान बहुत गंधवाला नित्य मूत्र आता है उसको मंजिष्ठामेही कहते हैं॥ २७॥

हरिद्रामेहीके लक्षण।

हरिद्रोदकसङ्काशं कटुकं यः प्रमेहति।

पित्तस्य परिकोपात्तु विद्याद्धारिद्रमेहिनम् ।
इति षट् प्रमेहाः पित्तप्रकोपनिमित्ता व्याख्याताः ॥ २८ ॥

जिस मनुष्यको हलदीके समान वर्णवाला और कटुमूत्र आता है उसको हरिद्रामेही कहते हैं । इस प्रकार पित्तके कोपसे उत्पन्न हुए छः प्रमेहिओंका कथन किया गया है । इति पित्तजनितषट्प्रमेहाः ॥ २८ ॥

वातप्रमेहहोनेका कारण ।

कटुककषायतिक्तरूक्षलघुशीतव्यवायव्यायामवमनविरेचनास्थापनशिरोविरेचनातियोगसन्धारणानशनाभिघातातपोद्वेगशोकशोणिताभिषेकजागरणविषमशरीरन्यासानभ्युपसेवमानस्य तथात्मकशरीरस्यैव क्षिप्रं वायुः प्रकोपमापद्यते । स प्रकुपितस्तथात्मके शरीरे विसर्पन् यदा वसामादाय मूत्रवहानि स्रोतांसि प्रतिपद्यते तदा वसामेहमभिनिर्वर्त्तयति ॥ २९ ॥

अब वातके प्रमेहोंका कथन करते हैं । कडुए, कसैले, चरपरे, रूखे, हलके, शीतल पदार्थोंके सेवनसे, मैथुन और अधिक परिश्रमके करनेसे, वमन, विरेचन, आस्थापन, शिरोविरेचन इनके अति योगसे, मलमूत्रादि वेगोंको रोकनेसे, लंघन करनेसे, चोट लगनेसे, तप, उद्वेग और शोकके होनेसे, रक्तके निकलनेसे, अधिक जागनेसे, शरीरको विषमावस्थामें रखनेसे तथा अन्य वातकोपकारक कारणोंसे वातप्रधान मनुष्यके शरीरमें शीघ्र वायु कोपको प्राप्त होता है । कुपित हुआ वातात्मक शरीरमें इधर उधर भ्रमण करता हुआ वसाधातु (चर्बी) से मिलकर मूत्रवाहिनी स्रोतोंमें प्रवेशकर वसामेहको उत्पन्न करता है ॥ २९ ॥

मज्जामेहका कारण ।

यदा पुनर्मज्जानं मूत्रबस्तावाकर्षति तदा मज्जामेहमभिनिर्वर्त्तयति ॥ ३० ॥

फिर वह जब मज्जाको आकर्षण करताहुआ मूत्रवस्तिमें प्राप्त होता है तो मज्जामेहको उत्पन्न करता है ॥ ३० ॥

हस्तिमेहका कारण ।

यदा लसीकां मूत्राशयेऽभिवहन्मूत्रमनुबन्धं श्च्योतयति लसीकातिबहुत्वाद्विक्षेपणाच्च वायोः खल्वस्यातिमूत्रप्रवृत्तिसङ्गं करोति, तदा स मत्त इव गजः क्षरत्यजस्रं मूत्रमवेगं तं हस्तिमेहिनमाचक्षते ॥ ३१ ॥

जब वह (कुपितवायु) लसीकामें मिलकर मूत्राशयमें प्रवेश करता है तब लसीकाकी अधिकता होनेसे और वायुका विक्षेपण होनेसे लसीकायुक्त मूत्रकी अधिक प्रवृत्ति होती है। फिर वह मनुष्य मत्तहस्तीके समान निरन्तर विना वेग मूत्रको मूत्र करता रहता है उसको हस्तिमेह कहते हैं ॥ ३१ ॥

मधुमेहका कारण।

ओजः पुनर्मधुरस्वभावं तद् रौक्ष्याद्वायुः कषायत्वेनाभिसंसृज्य मूत्राशयेऽभिवहति तदा मधुमेहिनं करोति ॥ ३२ ॥

ओजधातु स्वभावसे मधुर है। उसको जब वायु रूक्षतासे तथा कषाय स्वभावसे आकर्षण करलेती है और मूत्राशयमें लेजाकर मधुरस्वभाववाले ओजसे प्रमेहको उत्पन्न करताहै उसको मधुमेह कहतेहैं ॥ ३२ ॥

वातप्रमेहोंको असाध्यत्व।

तानिमांश्चतुरः प्रमेहान्वातजानसाध्यानाचक्षते। महात्ययिकाद्विप्रतिषिद्धोपक्रमत्वात् तेषामपि च पूर्ववद् गुणविशेषेण नामविशेषाः ॥ ३३ ॥

इन वातसे उत्पन्न हुए चारों प्रमेहोंको असाध्य कहतेहैं क्योंकि यह प्रमेह चिकित्सामें विरोध पडनेसे और अत्यन्त सांघातिक होनेसे असाध्य होतेहैं। और इनमें वसा और मज्जा आदि गुणयुक्त मूत्रके आनेसे उन्हींके समान नाम रक्खेगयेहैं ॥ ३३ ॥

तद्यथा—वसामेहश्च मज्जमेहश्च हस्तिमेहश्च मधुमेहश्चेति ॥ ३४ ॥

जैसे वसामेह, मज्जामेह, हस्तिमेह और मधुमेह यह चार प्रकारके नाम हैं ॥३४॥

वसामेहीके लक्षण।

तत्र श्लोकाः वातप्रमेहविशेषविज्ञानार्थाः—

वसामिश्रं वसाभञ्च मूत्रं मेहति यो नरः।
वसामेहिनमाहुस्तमसाध्यं वातकोपतः ॥ ३५ ॥

उन वातजनित प्रमेहोंके विशेष ज्ञानके लिये यहांपर श्लोक कहेजातेहैं। जिस मनुष्यको वसा (चर्बी) युक्त तथा वसाके वर्णवाला मूत्र आताहै उसको वातके कोपसे उत्पन्न हुआ वसामेह कहते हैं यह वसामेह असाध्य होताहै ॥ ३५ ॥

मज्जामेहीके लक्षण।

मज्जानं सह मूत्रेण मुहुर्मेहति यो नरः।
मज्जामेहिनमाहुस्तमसाध्यं वातकोपतः ॥ ३६ ॥

जो मनुष्य मज्जायुक्त मूत्रको वारंवार निकालता है उसको मज्जामेही कहतेहैं। यह वातकोपजनित मज्जामेह भी असाध्य होताहै ॥ ३६ ॥

हस्तिमेहीका लक्षण।

हस्ती मत्त इवाजस्रं मूत्रं क्षरति यो भृशम् ।
हस्तिमेहिनमाहुस्तमसाध्यं वातकोपतः ॥ ३७ ॥

जो मनुष्य मत्तहस्तीके समान निरन्तर बहुत मूत्र करताहै उसको हस्तिमेही कहतेहैं । यह वातजनित हस्तिमेह भी असाध्य होताहै ॥ ३७ ॥

मधुमेहीके लक्षण ।

कषायमधुरं पाण्डुं रूक्षं मेहति यो नरः ।
वातकोपादसाध्यं तं प्रतीयान्मधुमेहिनम् ॥ ३८ ॥

जो मनुष्य कषाय, मधुर, रूक्ष एवम् पाण्डुवर्णका मूत्र करता है उसको वातके कोपसे उत्पन्न हुआ असाध्य मधुमेह जानना चाहिये ॥ ३८ ॥

इति चत्वारः प्रमेहा वातप्रकोपनिमित्ताः । ते एवं त्रिदोषप्रकोपनिमित्ता विंशतिप्रमेहा व्याख्याताः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार वायुके कोपसे उत्पन्न हुए चार प्रकारके प्रमेहोंका वर्णन कियाहै । वह सब मिलकर तीनों दोषोंके कोपसे उत्पन्न हुए वीस प्रकारके प्रमेहोंका कथन किया है॥ ३९

त्रिदोषजन्य प्रमेहके पूर्वरूप ।

त्रयस्तु दोषाः प्रकुपिताः प्रमेहानभिनिर्वर्त्तयिष्यन्त इमानि पूर्वरूपाणि दर्शयन्ति । तद्यथा—जटिलीभावं केशेषु, माधुर्यमास्ये, करपादयोः सुप्ततादाहौ, मुखतालुकण्ठशोषं पिपासामालस्यं,मलञ्च काये, कायच्छिद्रेषूपदेहं, परिदाहं, सुप्ततां चाङ्गेषु, षट्पदपिपीलिकाभिः शरीरमूत्राभिसरणं, मूत्रे च मूत्रदोषान्वितं शरीरगन्धं,निद्रां,तन्द्रांञ्च सर्वकालमिति ॥ ४० ॥

यह तीन वातादि दोष ही कुपित होकर प्रमेहोंको उत्पन्न करतेहुए इन पूर्वरूपोंको करतेहैं । उन रूपोंको दिखातेहैं । जैसे बालोंकी जटे बन्धना, मुखमें मीठापन, हाथपैरोंका सोना, दाह, मुख, तालु और कण्ठका सूखना, प्यास, आलस्य, शरीरमें मैलका बहुत बढना, रोममार्गोंका बन्द होना, शरीरमें दाह होना, अंगोंका सोजाना, मक्खियें और चीटियोंका शरीरपर बहुत आना तथा मूत्रमें लगना, शरीरसे मूत्रकीसी गंध आना, सब कालमें निद्रा तथा तन्द्राकी अधिकता रहना यह सब प्रमेहके पूर्वरूप होते हैं ॥

प्रमेहके उपद्रव ।

उपद्रवास्तु खलु प्रमेहिणां तृष्णातीसारज्वरदाहदौर्बल्यारोचकाविपाकाः पूतिमांसपिडकालजीविद्रध्यादयश्च तत्प्रसङ्गाद् भवन्ति ॥ ४१ ॥

अब प्रमेहके उपद्रवोंको कथन करते हैं। प्यास, अतिसार, ज्वर, दाह, दुर्बलता, अरुचि, अन्नका न पचना, मांसमेंसे दुर्गंध आना, शरीरमें पिडका होना तथा अलजी, विद्रधी आदिक प्रमेह पिडकाओंका होना यह प्रमेहके उपद्रव होते हैं ॥४१॥

साध्यप्रमेहोंकी चिकित्साविधि।

तत्र साध्यान् प्रमेहान् संशोधनोपशमनैर्यथार्हमुपपादयेच्चिकित्सेच्चेति॥४२

इनमें साध्य प्रमेहोंमें संशोधन और उपशमन द्रव्योंद्वारा यथोचित रीतिपर करके चिकित्सा करे ॥ ४२ ॥

तत्र श्लोकाः–गृध्नुमभ्यवहार्येषु स्नानचंक्रमणद्विषम्।
प्रमेहः क्षिप्रमभ्येति नीडद्रुममिवाण्डजः ॥ ४३ ॥

यहां कहते हैं कि, जिस प्रकार साधारण वृक्षोंपर उडता हुआ पक्षी विना ही प्रयाससे झट आन बैठता है उसी प्रकार जो मनुष्य नित्य प्रति आहारके लोभमें फंसे रहते हैं और नित्य स्नान तथा भ्रमण आदि नहीं करते उनके शरीरमें प्रमेह भी झट अधिकार जमा बैठता है ॥ ४३ ॥

मन्दोत्साहमतिस्थूलमतिस्निग्धं महाशनम्।
मृत्युः प्रमेहरूपेण क्षिप्रमादाय गच्छति ॥ ४४ ॥

आलस्ययुक्त तथा अत्यन्त स्थूल और अधिक स्निग्ध शरीरवाले एवम् बहुत खानेवाले मनुष्यके शरीरमें प्रमेहके रूपको धारण करके मृत्यु झट प्रवेशकर लेता है॥४४

यस्त्वाहारं शरीरस्य धातुसाम्यकरं नरः।
सेवते विविधाश्चान्याश्चेष्टाः स सुखमश्नुते ॥ ४५ ॥

जो मनुष्य शरीरकी धातुओंको साम्यावस्थामें रखनेवाले आहार विहारोंका सेवन करता है वही मनुष्य परमसुखको भोग करता है ॥ ४५ ॥

तत्र श्लोकाः–हेतुर्व्याधिविशेषाणां प्रमेहाणाञ्च कारणम्।
दोषधातुसमायोगो रूपं विविधमेव च ॥ ४६ ॥
दश श्लेष्मकृता यस्मात्प्रमेहाः षट् च पित्तजाः।
यथा करोति वायुश्च प्रमेहांश्चतुरो बली ॥ ४७ ॥
साध्यासाध्यविशेषाश्च पूर्वरूपाण्युपद्रवाः।
प्रमेहाणां निदानेऽस्मिन् क्रियासूत्रञ्च भाषितम् ॥ ४८ ॥

इति अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते प्रमेहनिदानं
नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अब अध्यायका उपसंहार करते हैं। इस प्रमेह निदान नामक अध्यायमें हेतु और व्याधिविशेषोंको तथा प्रमेहके कारणोंको, दोष, धातुके संयोगको तथा उनके अनेक प्रकारके रूपोंको कथन किया है। और दश प्रकारके कफजनित प्रमेह, छः प्रकारके पित्तजनित प्रमेह और जिस प्रकार बलवान् वायु चार प्रकारके प्रमेहोंको उत्पन्न करता है एवम् प्रमेहोंको साध्य, असाध्यता तथा उनके पूर्वरूप, उपद्रव एवम् चिकित्साका क्रम यह सब कथन किया है॥ ४६-४८॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां पटियालाराज्यांतर्गतटकसालनिवासिवैद्य-पञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्यभाषा-टीकायां प्रमेहनिदानंनाम चतुर्थोऽध्यायः॥ २९॥

पञ्चमोऽध्यायः।

अथातः कुष्ठनिदानं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥

अब हम कुष्ठके निदानकी व्याख्या करते हैं। इस प्रकार भगवान् आत्रेयजी कथन करनेलगे॥

कुष्ठोत्पत्तिका कारण।

सप्त द्रव्याणि कुष्ठानां प्रकृतिर्विकृतिमापन्नानि भवन्ति। तद्यथा--त्रयो दोषा वातपित्तश्लेष्माणः प्रकोपणविकृताः। दूष्याश्च शरीरधातवस्त्वङ्मांसशोणितलसीकाश्चतुर्द्धा दोषोपघातविकृता इति। एतत्सप्तानां सप्तधातुकमेवं गतमाजननं कुष्ठानाम्। अतः प्रभवाण्यभिनिर्वर्त्यमानानि केवलं शरीरमुपतपन्ति। न च किञ्चिदस्ति कुष्ठमेकदोषप्रकोपनिमित्तम्॥ १॥

विकारको प्राप्तहुए सातद्रव्य कुष्ठोंके प्रकृति अर्थात् कारण होते हैं। वह सात इस प्रकार हैं। वात, पित्त, कफ यह तीन दोष अपने कुपितकारी कारणोंसे बिगडते हैं और त्वचा, मांस, रक्त एवं लसीका यह चार वातादि दोषों द्वारा बिगडजाते हैं। बस इन सात प्रकारके द्रव्योंके विकृत होनेसे ही कुष्ठोंकी उत्पत्ति होती है। ऐसा कोई भी कुष्ठ नहीं होता जो केवल एक ही दोषके कोप होनेसे उत्पन्न हो जाताहो १॥

अस्ति तु खलु समानप्रकृतीनामपि सप्तानां कुष्ठानां दोषांशबल-विकल्पानुबन्धस्थानविभागेन वेदनावर्णसंस्थानप्रभावनामचिकित्सितविशेषः ॥ २ ॥

सात प्रकारकेही कुष्ठ समान प्रकृति और समान करणोंसे उत्पन्न होनेपर भी दोष, अंश, बल इनके विकल्पसे और स्थानके विभागसे वेदना, वर्ण, संस्थान और नामके प्रभावसे सबकी अलग २ प्रकारकी चिकित्सा की जाती है ॥ २ ॥

कुष्ठभेद ।

स सप्तविधोऽष्टादशविधोऽपरिसंख्येयविधो वा ॥ ३ ॥

यह कुष्ठ मुख्य सात प्रकारके होते हैं और दोषांश बलके विकल्पसे वह अठारह प्रकारके होते हैं एवम् सूक्ष्म विचार करने लगें तो असंख्य होजाते हैं ॥ ३ ॥

सातप्रकारके कुष्ठ ।

दोषा हि विकल्पनैर्विकल्प्यमाना विकल्पयन्ति विकारान् । अन्यत्रासाध्यभावात् । तेषां विकल्पविकारसंख्यानेऽतिप्रसङ्गमभिसमीक्ष्य सप्तविधमेव कुष्ठविशेषमुपदेक्ष्यामः ॥ ४ ॥

वातादि दोष ही अंशांश कल्पनासे अनेक भेदोंवाले होते हुए असाध्य विकल्प न करते हुए भी अनेक प्रकारके विकारोंको उत्पन्न करते हैं। उनके सूक्ष्म अंशांश कल्पना द्वारा रोगोंकी गणना करनेसे सब विकारोंका वर्णन करना कठिन होजाता है इस लिये विशेषरूपसे कुष्ठ सात प्रकारकेही होते हैं सो उनका वर्णन करते हैं ॥ ४ ॥

कुष्ठोंके भेद और उत्पत्तिके कारण ।

इह वातादिषु त्रिषु प्रकुपितेषु। त्वगादींश्चतुरः प्रदूषयत्सु वातेऽधिकतरे कपालकुष्ठमभिनिर्वर्त्तते। पित्ते त्वौदुम्बरं श्लेष्मणि मण्डलकुष्ठम्॥५॥

यह वातादि तीनों दोष कुपित होकर त्वचाआदि चार प्रकारके दूष्य धातुओंको दूषित करदेते हैं तो इनमें वायुकी अधिकता होनेसे कपालनामक कुष्ठ उत्पन्न होता है। पित्तकी अधिकता होनेसे—उदुम्बरनामक कुष्ठ उत्पन्न होता है एवम् कफकी अधिकता होनेसे मण्डलनाम कुष्ठ उत्पन्न होता है ॥ ५ ॥

वातपित्तयोर्ऋष्यजिह्वम्, पित्तश्लेष्मणोः पुण्डरीकम्, श्लेष्ममारुतयोः सिध्मकुष्ठम्, सर्वदोषातिवृद्धौ काकणकमभिनिर्वर्त्तते। इत्येवमेष सप्तविधः कुष्ठविशेषो भवति ॥ ६ ॥

वात और पित्त इन दोनोंकी अधिकता होनेसे ऋष्यजिह्वनामक कुष्ठ उत्पन्न होता है। पित और कफके कोपकी अधिकता होनेसे पुण्डरीकनामक कुष्ठ उत्पन्न होता है।

एवम् कफ और वायुका कोप अधिक होनेसे सिध्मनामक कुष्ठ उत्पन्न होता है। तथा तीनों दोषोंके मिलकर वृद्धि होनेसे काकणकनामक कुष्ठ उत्पन्न होता है। इन सात प्रकारके कुष्ठोंका कथन किया गया है ॥ ६ ॥

स चैष भूयोऽतः प्रकृतिविकल्पनायां भूयसीं विकारसंख्यामापद्यते ॥ ७॥

सो ये सात प्रकारके ही कुष्ठ कारणादिकोंके विकल्पसे अनेक प्रकारके होजाते हैं ७

कुष्ठका साधारण निदान।

तत्रेदं सर्वकुष्ठनिदानं पुनः समासेन उपदेक्ष्यामः। शीतोष्णव्यत्यास-मलानुपूर्व्योपसेवमानस्य। तथा सन्तर्पणापतर्पणाभ्यवहार्य्यव्यत्यासं च मधुफाणितमत्स्यमूलककाकमाचीः सततमतिमात्रमप्यजीर्णे सम-श्नतः। चिलिचिमञ्च पयसा, हायनकयवकचीनकोद्दालककोरदू-षप्रायाणि चान्नानि क्षीरदधितक्रकोलकुलत्थमाषातसीयूषकुसुम्भ-स्नेहवन्ति। एतैश्चापि सुहितस्य व्यवायव्यायामसन्तापानप्युपसे-वमानस्य। भयश्रमसंतापोपहतस्य सहसा शीतोदकमवतरतः। विदग्ध-माहारमनुल्लिख्य विदाहीन्यभ्यवहरतः। छर्दिञ्च प्रतिघ्नतः स्नेहां-श्चाभिचरतः युगपत्त्रयो दोषाः प्रकोपमापद्यन्ते। त्वगादयश्चत्वारः शैथिल्यमापद्यन्ते। तेषु शिथिलेषु दोषाः प्रकुपिताः स्थानमभिगम्य सन्तिष्ठमानास्तानेव त्वगादीन्दूषयन्तः कुष्ठान्यभिनिर्वर्त्तयन्ति ॥ ८ ॥

सो अब फिर उन संपूर्ण प्रकारके कुष्ठोंका निदान संक्षेपसे कथन करते हैं। सर्दी और गर्मीकी विपरीततासे अथवा विपरीतभावसे सेवन करनेसे या अपने स्वाभाविक आहारविहारादिकोंको विपरीत रीतिपर सेवन करनेसे मलोंके कुपित करनेवाले पदार्थोंको निरन्तर सेवन करनेसे संतर्पण और अपतर्पणकी विपरीततासे भोजन, मधु, फाणित, मछली, मूलियें, मकोहका शाक इनका सदैव अधिक सेवन करनेसे अजीर्णमें भी भोजन करनेसे और अधिक भोजन करनेसे, दूधके साथ चिलिचिमनामक मछली खानेसे तथा हायनक, यवक, चीनक, कोद्रव, उद्दालक आदि धान्योंका दूध मछली आदि संयोग सहित निरन्तर अधिक खानेसे, दूध, दही, छाछ, कुल्थी, बेर, उडद, अलसीका यूष, करडका तैल इन सबके अत्यन्त सेवन करनेसे एवम् अधिक संतर्पण, मैथुन, व्यायाम तथा अन्य संतापकारी वस्तुओंके सेवन करनेसे और भय, श्रम, संताप इनसे व्याकुल हुआ मनुष्य सहसा शीतल जल पीवे अथवा शीतल जलमें तैरने लगजाय उससे, विदग्धकारी आहारके सेवनसे अथवा विदग्ध हुए

आहारको उखाडकरके विदाही पदार्थोंका सेवन करनेसे एवम् आये हुए वमनके वेगको रोकनेसे, शरीरको अत्यन्त स्नेहन करनेसे वातादि तीनों दोष एकसाथ कुपित होजातेहैं। फिर वह कुपित होकर त्वचा आदि चारों धातुओंको शिथिल करदेतेहैं। उन शिथिल धातुओंमें कुपित हुए दोष प्रवेश करके उनके स्थान विशेषोंमें प्राप्त होकर रहतेहुए उन त्वचा, मांस आदिकोंको बिगाडते हुए कुष्ठोंको उत्पन्न करतेहैं॥८॥

कुष्ठके पूर्वरूप।

तत्रेमानि पूर्वरूपाणि। तद्यथा—अस्वेदनमतिस्वेदनं पारुष्यमतिश्लक्ष्णता वैवर्ण्यं कण्डूर्निस्तोदः सुप्तता परिदाहः परिहर्षो लोमहर्षो खरत्वमुष्मायणं गौरवं श्वयथुर्वीसर्पागमनमभीक्ष्णं कायच्छिद्रेषूपदेहः पक्वदग्धदष्टक्षतोपस्खलितेष्वतिमात्रं वेदना स्वल्पानामपि च व्रणानां दुष्टिरसंरोहणञ्चेति तेभ्योऽनन्तरं कुष्ठानि जायन्ते ॥ ९ ॥

उन कुष्ठोंके पूर्वरूप यह हैं। जैसे पसीनाका न आना अथवा अधिक आना, त्वचाका अत्यन्त कठोर होना या अधिक नरम होजाना, एवम् त्वचाका रंग बिगडजाना, खाज, पीडा, शून्यता, दाह और हर्षण इन सबका शरीरमें होना, रोमहर्ष, शरीरका खर्दरापन त्वचामें गर्मीकी अधिकता, शरीरमें भारीपन, सूजन, विसर्परोगका होना, शरीरके रोम मार्गोंमें तथा अन्य छिद्रोंमें निरन्तर गीलापन होना और शरीरमें यदि कोई जखम या आगसे दग्ध अथवा किसी जानवरके काटनेसे जखम होजाय तो उसमें अत्यन्त पीडा होना और छोटी २ फुंसिये होकर उनमें भी काटने तथा दागनेकीसी दाह और पीडा होना और उन छोटे २ व्रणोंका भी दूषितसा होजाना और फिर नहीं भरना ऐसे २ उपद्रव होनेके अनन्तर कुष्ठ उत्पन्न होते हैं अर्थात् यह कुष्ठोंके पूर्व रूप है ॥ ९ ॥

कपालके लक्षण।

तेषामिदं वेदनावर्णसंस्थानप्रभावनामाविशेषाविज्ञानम्। तद्यथा—रूक्षारुणपरुषाणि विषमविसृतानि खरपर्य्यन्तानि तनून्युद्वृत्तबहिस्तनूनि सुप्तसुप्तानि हृषितलोमाचितानि निस्तोदबहुलानि अल्पकण्डूदाहपूयलसीकान्याशु गतिसमुत्थानानि आशु भेदीनि जन्तुमन्ति कृष्णारुणकपालवर्णानि कपालकुष्ठानीति विद्यात् ॥ १० ॥

उन सात प्रकारके कुष्ठोंकी वेदना, वर्ण, स्थान और प्रभावोंके ज्ञानको यथोचित रीतिपर वर्णन करतेहैं। जैसे रूक्ष, अरुण, कठोर, विषम गतिवाले जिसका अंतका

भाग खरदरा हो तथा थोडे २ ऊंचे हों, बाहरके भागमें किंचित् ऊंचे हों, छोटे २ हों, शून्यसे हों, जिनके ऊपर रोम खडे हों, प्रायः अधिक पीडा होती हो, किंचित् खाजयुक्त एवम् दाह, पूय (राध) और लसीका (मांसकासा धोवन) ये उन जख्मोंसे निकलते हों तथा झटपट फैलजानेवाले झट अपनी पीडाको उत्पन्न करनेवाले- कृमियुक्त काले और लालवर्णके तथा कपालके समान वर्ण युक्त हों इन सब लक्ष- णोंवाले कुष्ठको कपालकुष्ठ कहते हैं ॥ १० ॥

उदुम्बरकुष्ठके लक्षण।

ताम्राणि ताम्ररोमराजीभिरवनद्धानि बहुलानि बहुबहलरक्तपूयलसी- कानि कण्डूक्लेदकोथदाहपाकवन्त्याशुगतिसमुत्थानभेदीनि ससन्ताप- क्रिमीण्युदुम्बरफलपक्वपर्णान्युदुम्बरकुष्ठानीति विद्यात् ॥ ११ ॥

तांबेके समान वर्णवाला तथा ताम्रवर्णके रोमयुक्त, सघन और बहुत तथा गाढी राध तथा लसीका युक्त एवम् खाज, क्लेद, सडन, जलन, पाक इनसे युक्त शीघ्र फैलनेवाला, झट प्रगट हो जानेवाला एवम् शीघ्र फटजानेवाला संताप और कृमि- युक्त और पके हुए गूलरके समान वर्णवाला हो इन सब लक्षणोंवाले कुष्ठको उदुम्बर कुष्ठ कहते हैं ॥ ११ ॥

मण्डलकुष्ठके लक्षण।

स्निग्धानि गुरूण्युत्सेधवन्ति श्लक्ष्णस्थिरपीनपर्य्यन्तानि शुक्ल- रक्तावभासानि बहुलबहलशुक्लपिच्छिलस्रावीणि शुक्लरोमराजी- सन्तानानि बहुकण्डूक्रिमीणि सक्तगतिसमुत्थानभेदीनि परिमण्डलानि मण्डलकुष्ठानीति विद्यात् ॥ १२ ॥

चिकना, भारी, ऊंचा, मृदु, दृढ तथा किनारोंपर्यंत मोटा, श्वेत और लालवर्णका बहुत बहाव करनेवाला और वह बहाव श्वेत तथा पिच्छलवर्णका स्रवता हो सुफेद रोमोंसे युक्त हो तथा उसमें अत्यन्त खाज होती हो और कृमि पडे हों एवम् उसके सब मण्डल देरसे फैलनेवाले देरमें उत्पन्न होनेवाले, तथा देरमें फटनेवाले हों इस प्रकारके गोलगोल मण्डलोंवाले कुष्ठको मण्डल कुष्ठ कहते हैं ॥ १२ ॥

ऋष्यजिह्वकुष्ठके लक्षण।

परुषाण्यरुणवर्णानि बहिरन्तः श्यावानि नीलपीतताम्रावभासान्याशु- गतिसमुत्थानान्यल्पकण्डूक्लेदक्रिमीणि दाहभेदनिस्तोदपाकबहुलानि शूकोपहतोपमानवेदनान्युत्सन्नमध्यानि तनुपर्य्यन्तानि कर्कशपिडका-

चितानि दीर्घपरिमण्डलानि ऋष्यजिह्वाकृतीनि ऋष्यजिह्वानीति विद्यात् ॥ १३ ॥

कठोर तथा लालवर्णका बाहरका भाग एवम् भीतरका भाग काला, नीला, पीला एवम् ताम्रवर्णका हो, शीघ्र फैलनेवाला हो, शीघ्र उत्पन्न होनेवाला हो, खाज, कृमि, दाह, भेद, निस्तोद यह हों एवम् अधिक पकनेवाला, सूईसी चुभनेकी पीडायुक्त, बीचका भाग अधिक ऊंचा न हो किनारे पतले हों और छोटी २ कठोर फुंसियोंसे युक्त हों जिसमें लम्बे २ मण्डल हों वह मण्डल रीछकी जीभके समान हों इन सब लक्षणों युक्त कुष्ठको ऋष्यजिह्व कुष्ठ कहते हैं ॥ १३ ॥

पुण्डरीककुष्ठके लक्षण।

शुक्लरक्तावभासानि रक्तपर्य्यन्तानि रक्तशिराराजीसन्ततान्युत्सेधवन्ति बहुबहलरक्तपूयलसीकानि कण्डूकिमिदाहपाकवन्त्याशुगतिसमुत्थानभेदीनि पुण्डरीकपलाशसंकाशानि पुण्डरीकाणीति विद्यात् १४

जो कुष्ठ–सफेद तथा लालवर्णवाले अथवा गुलाबीवर्णवाले हों एवम् किनारे लालवर्णके हों लालरोमयुक्त हो एवम् ऊंचे हों उनमेंसे अधिक रक्त, राध और लसीका निकलती हों एवम् खाज, कृमि, दाह, पाक इन सबसे युक्त हों, शीघ्र फैलने और उत्पन्न होने एवम् फटजानेवाले हों और कमलके फूलकी कंकडीके समान हों इस सब लक्षणयुक्त कुष्ठको पुण्डरीक कुष्ठ कहते हैं ॥ १४ ॥

सिध्मकुष्ठके लक्षण।

परुषारुणविशीर्णबहिस्तनून्यन्तःस्निग्धानि शुक्लरक्तावभासानि बहून्यल्पवेदनान्यल्पकण्डूदाहपूयलसीकानि लघुसमुत्थानान्यल्पभेदक्रिमीण्यलाबुपुष्पसङ्काशानि सिध्मकुष्ठानीति विद्यात् ॥ १५ ॥

जो कुष्ठ बाहरके भागमें कठोर, लाल और फैला हुआसा हो और भीतर हलका हो, तथा चिकना, सफेद और लालवर्णयुक्त हो और बहुतही थोडी पीडावाला हो, जिसमें अल्पखुजली उठती हो एवम् दाह, राध और लसीका इन करके युक्त हो और बहुत छोटेपनसे प्रगट होना और फटना यह लक्षण हों, कृमियुक्त हो घीयाके फूलके समान वर्णवाला हो उसका सिध्मकुष्ठ कहते हैं ॥ १५ ॥

काकणक कुष्ठके लक्षण।

काकणन्तिकावर्णान्यादौ पश्चात्सर्वकुष्ठलिङ्गसमन्वितानि पापीयसां सर्वकुष्ठलिङ्गसम्भवेनानेकवर्णानि काकणकानीति विद्यात् ॥ १६ ॥

काकणकनामक कुष्ठ--पहिले रक्तकके समान वर्णवाले होते हैं फिर संपूर्ण कुष्ठोंके लक्षणोंसे युक्त होजाते हैं। पापीजनोंके शरीरमें यह कुष्ठ होकर सब कुष्ठोंके लक्षणोंको धारण करते हैं तथा अनेक वर्णके होते हैं। इन अनेक लक्षणवाले कुष्ठोंके वर्ण वेदनादियुक्त कुष्ठको काकणककुष्ठ कहते हैं ॥ १६ ॥

कुष्ठोंका साध्यासाध्य वर्णन।

तान्यसाध्यानि। साध्यानि पुनरितराणि। तत्र यदसाध्यं तदसाध्यतां नातिवर्त्तते। साध्यं पुनः किञ्चित् साध्यतामतिवर्त्तते कदाचिदप-चारात् ॥ १७ ॥

वह सब कुष्ठ साध्य और असाध्यके भेदसे दो प्रकारके होतेहैं। उनमें काकणक असाध्य है और बाकी साध्य हैं। इनमें जो असाध्य है वह अपनी असाध्यताको नहीं छोडता जो साध्य है वह किसी प्रकारके कुपथ्यके होजानेसे असाध्यताको प्राप्त होजातेहैं ॥ १७ ॥

साध्यानि हि षट् काकणकवर्ज्यानि । अचिकित्स्यमानानि अप-चारतो वा दोषैरभिष्यन्दमानानि असाध्यतामुपयान्ति ॥ १८ ॥

इनमें काकणक कुष्ठके सिवाय बाकी छः कुष्ठ साध्य मानेगयेहैं। परन्तु चिकि-त्साके दोषसे अथवा चिकित्सा न करनेसे या किसी अपचारके होजानेसे वृद्धिको प्राप्त होकर फैलते हुए असाध्यताको प्राप्त हो जाते हैं ॥ १८॥

उपेक्षितकुष्ठका फल।

साध्यानामपि ह्युपेक्षमाणानामेषां त्वङ्मांसशोणितलसीकाकोथक्लेद-संस्वेदजाः क्रिमयोऽभिमूर्च्छन्ति। ते भक्षयन्तो त्वगादीन् दोषान् पुनर्दूषयन्तः इमानुपद्रवान् पृथक् पृथगुत्थापयन्ति ॥ १९ ॥

साध्य कुष्ठोंमेंभी शीघ्र यत्न न करनेसे त्वचा, मांस, रुधिर और लसीका इन साके सडने और क्लेद तथा पसीने आदिसे कृमि उत्पन्न होजाते हैं। वह कृमि कुष्ठीको हुए फिर त्वचा आदिकोंको दूषित करते हैं और नीचे लिखे हुए इन उप-द्रवोंको अलग २ उत्पन्न करते हैं ॥ १९ ॥

प्रकुपितदोषोंके उपद्रव।

ततो वातः श्यावारुणपरुषवर्णतामपि च रौक्ष्यशूलशोथतोदवेपथुह-र्षसङ्कोचायासस्तम्भसुप्तिभेदभङ्गान्। पित्तं पुनर्दाहस्वेदक्लेदकोथकण्डू-स्रावपाकरागान्। श्लेष्मा त्वस्य श्वैत्यशैत्यस्थैर्यकण्डूगौरवोत्से-

धोपस्नेहोपलेपान् । क्रिमयस्त्वगादींश्चतुरः शिराः स्नायून्यस्थीन्यपि च तरुणानि खादन्ति ॥ २० ॥

इन कृमियोंसे दूषित हुए त्वचा आदिकोंमें वायु कुपित होकर, कृष्णता, अरुणता, कठोरता, रूक्षता एवम् शूल, शोथ, तोद, कम्प, रोमहर्ष, संकोच, आयास, स्तब्धता, शून्यता और भेदनकीसी पीडा तथा भग्नता इनको उत्पन्न करता है। कुपित हुआ पित्त-दाह, स्वेद, क्लेद, सडन, खुजली, स्राव, पाक और लालवर्णता इनको उत्पन्न करता है एवम् कफ कुपित होकर शीतता, स्थिरता, खाज, भारीपन, कुष्ठमें ऊंचापन, चिकनाहट, उपलेप इनको प्रगट करता है। और वह बढे हुए कृमि-त्वचा, मांस, रुधिर, लसीका, शिरा, स्नायु और पुष्टहड्डियोंको भी खाना आरम्भ करदेते हैं ॥ २० ॥

कुपितदोषोंमें उपद्रव।

अस्यामवस्थायामुपद्रवाः कुष्ठिनं स्पृशन्ति । तद्यथा-प्रस्रवणमङ्गभेदः पतनान्यङ्गावयवानां तृष्णाज्वरातीसारदाहदौर्बल्यारोचकाविपाकाश्च तद्विधमसाध्यं विद्यादिति ॥ २१ ॥

ऐसी अवस्थामें कुष्ठीको ये उपद्रव दुःख देते हैं । जैसे राधका स्राव, अंगोंका भेदन अंगुली आदि अंगोंका गिरना, प्यास, ज्वर, अतिसार, दाह, दुर्बलता, अरुचि और अन्नका न पचना इत्यादि असाध्य उपद्रव होजाते हैं ॥ २१ ॥

तत्र श्लोकाः-साध्योऽयमिति यः पूर्वं नरो रोगमुपेक्षते ।
स किञ्चित्कालमासाद्य मृत एवावबुध्यते ॥ २२ ॥

यहांपर श्लोक हैं कि जो मनुष्य रोगको साध्य समझकर उसका यत्न नहीं करते और यह कहते हैं कि अभी क्या है जब अवकाश मिलेगा तब यत्न कर लेंगे। ऐसे मनुष्योंको कुछ कालके अनन्तर मृतप्राय होनेपर ही होश आता है ॥ २२ ॥

यस्तु प्रागेव रोगेभ्यो रोगेषु तरुणेषु च ।
भेषजं कुरुते सम्यक् स चिरं सुखमश्नुते ॥ २३ ॥

जो मनुष्य रोगोंसे प्रथम ही अथवा रोग होनेपर भी शीघ्र यत्न कर लेते हैं वह शरीरके सुखको सुखपूर्वक भोगते हैं ॥ २३ ॥

यथा स्वल्पेन यत्नेन च्छिद्यते तरुणस्तरुः ।
स एवातिप्रवृद्धस्तु न सुच्छेद्यतमो भवेत् ॥ २४ ॥
एवमेव विकारोऽपि तरुणः साध्यते सुखम् ।
विवृद्धः साध्यते कृच्छ्रादसाध्यो वापि जायते ॥ २५ ॥

जैसे छोटासा वृक्ष साधारण यत्न करनेसे झट उखड सकता है और अधिक बडा होजानेसे उखाडना कठिन होजाता है। उसी प्रकार रोग भी बल पानेके पहिले सुखपूर्वक निवृत्त होजाता है। वही रोग वृद्धिको प्राप्त होनेसे कष्टसाध्य अथवा असाध्य होजाता है ॥ २४ ॥ २५ ॥

संख्या द्रव्याणि दोषाश्च हेतवः पूर्वलक्षणम् ।
रूपाण्युपद्रवाश्चोक्ताः कुष्ठानां कौष्ठिके पृथक् ॥ २६ ॥

इति अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते कुष्ठनिदानं
नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अब अध्यायका उपसंहार करते हैं कि, इस कुष्ठनिदान नामक अध्यायमें कुष्ठोंकी संख्या,द्रव्य,दूष्यधातु,दोष,हेतु,पूर्वरूप,रूप,उपद्रव यह सब पृथक्२कथन कियेहैं॥२६॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां पटियालाराज्यांतर्गतटकसालनिवासिवैद्यपंचानन-वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायकृतप्रसादन्याख्यभाषाटीकायां कुष्ठ-निदानं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः ।

शोषनिदानम् ।

अथातः शोषनिदानं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम शोषके निदानकी व्याख्या करते हैं। ऐसे भगवान् आत्रेयजी कथन करनेलगे ॥

शोषोंके आयतनोंकी संख्या।

इह खलु चत्वारि शोषस्यायतनानि । तद्यथा--
साहसं सन्धारणं क्षयो विषमाशनमिति ॥ १ ॥

इस शरीरमें शोषरोग होनेके चार कारण होते हैं। जैसे-अपनी ताकतसे बढकर साहस करना, सन्धारण (मलमूत्रादि वेगोंको रोकना) धातुओंका क्षय होना और विषमभोजन करना ॥ १ ॥

साहसका वर्णन ।

तत्र यदुक्तं साहसं शोषस्यायतनमिति तदनुव्याख्यास्यामः । यदा

पुरुषो दुर्बलो हि सन्बलवता सह विगृह्णाति अतिमहता वा धनुषा व्यायच्छति, जल्पति वातिमात्रमतिमात्रं वा भारमुद्वहति, अप्सु वा प्लवते, चातिदूरमुत्सादनपदाघातेन वातिप्रगाढमासेवते, अतिप्रकृष्टं वाऽध्वानं द्रुतमभिपतति, अभिहन्यते वान्यद्वा किञ्चिदेवंविधं विषममतिमात्रं वा व्यायामजातमारभते, तस्यातिमात्रेण कर्मणा उरः क्षण्यते। तस्य उरः क्षतमुपप्लवते वायुः। स तत्रावस्थितः श्लेष्माणमुरःस्थमुपसंगृह्य शोषयन्विहरत्यूर्द्धमधस्तिर्य्यक् च ॥ २ ॥

उनमें प्रथम साहस जो शोषका कारण कथन कियाहै उसकी व्याख्या करतेहैं। जब दुर्बल मनुष्य बलवान् मनुष्यसे मल्लयुद्ध करताहै अथवा बडे भारी धनुषको अधिक बलसे खींचताहै एवम् बहुत जोरसे बहुत बोलताहै और अपनी सहनशक्तिसे बढकर भारको उठाताहै एवम् जलमें अधिक तैरता है, अत्यन्त बलपूर्वक अपनी छातीमें तैल आदिका मालिश करताहै अथवा लात आदिकी बलवान् चोट लगजानेसे या बहुत ज्यादे पैरोंको हिलाताहै अथवा अत्यन्त कठिन मार्गमें बहुत भागताहै इन कारणोंसे अथवा गिरपडनेसे, चोट आदि लगनेसे, विषम या अत्यन्त व्यायाम करनेसे एवम् अपनी शक्तिसे बढकर काम करनेसे मनुष्यकी छाती (फुप्फुस हृदय आदिमें) घाव अथवा क्षीणता उत्पन्न होजातीहै तब वायु कुपित होकर उस मनुष्यके शरीरमें उरक्षतरोगको उत्पन्न करताहै। फिर वही वायु उर अर्थात् छातीमें स्थित होकर छातीके कफको ग्रहण करके शोष रोगको प्रगट करताहै। और ऊपर, नीचे तथा तिरछा गमन करताहुआ शरीरकी धातुओंको सुखा डालताहै ॥ २ ॥

वायुके कर्म।

योंऽशस्तस्य शरीरसन्धीन् आविशति तेन जृम्भाङ्गमर्दो ज्वरश्चोपजायते। यस्त्वामाशयमुपैति तेनास्य वर्चो भिद्यते यस्तु हृदयमाविशति तेन रोगा भवन्ति उरस्याः यो रसानां तेनास्यारोचकश्च। यः कण्ठं प्रपद्यते कण्ठस्वनमुद्धंसते। स्वरश्चावसीदति। यः प्राणवहानि स्रोतांस्यन्वेति तेन श्वासः प्रतिश्यायश्चोपजायते। यः शिरस्यवतिष्ठते शिरस्तेनोपहन्यते ॥ ३ ॥

उसी वायुके जो अंश शरीरकी संधियोंमें प्रवेश करतेहैं वह जंभाई, अंगमर्द और ज्वर इनको उत्पन्न करतेहैं। जो अंश आमाशयमें प्राप्त होताहै वह छातीके रोगोंको तथा अरुचिको प्रगट करताहै। जो अंश कण्ठमें प्रवेश करताहै वह कण्ठके शब्दको तथा

स्वरको विगाड देताहै। जो अंश प्राणवाहक स्रोतोंमें प्रवेश करताहै उससे श्वास और प्रतिश्यायको उत्पन्न करताहै। जो अंश शिरमें प्रवेश करताहै उससे शिरमें दर्द उत्पन्न होतीहै ॥ ३ ॥

ततः क्षणनाच्चैवोरसो विषमगतित्वाच्च वायोः कण्ठस्योद्ध्वंसनात् कासः संजायते। कासप्रसङ्गादुरसि क्षते सशोणितं ष्ठीवति शोणितागमाच्चास्यदौर्गन्ध्यमुपजायते। एवमेते साहसप्रभवाः साहसिकमुपद्रवाः स्पृशन्ति ॥ ४ ॥

इसके अनन्तर छातीके क्षरण होनेसे तथा वायुकी विषमगति होनेसे एवम् वायुद्वारा कण्ठके रुकजानेसे खांसी उत्पन्न होजातीहै उस खांसीके सबबसे छातीके घावोंका रक्त थूकमें आनेलगजाताहै। उस रक्तके निकलनेसे मुखसे दुर्गंध आने लगजातीहै। इस प्रकार यह साहससे उत्पन्न हुए उपद्रव अधिक साहस करनेवाले मनुष्यको घेर लेतेहैं ॥ ४ ॥

शोषमें उपदेश।

ततः सोऽप्युपशोषणैरेतैरुपद्रवैरुपद्रुतः शनैः शनैरुपशुष्यति। तस्मात्पुरुषो मतिमान्बलमात्मनः समीक्ष्य तदनुरूपाणि कर्माण्यारभेत कर्त्तुम्। बलसमाधानं हि शरीरम्, शरीरमूलश्च पुरुष इति ॥ ५ ॥

फिर वह मनुष्य इन शोषणकर्त्ता उपद्रवोंद्वारा पीडित हुआ धीरे धीरे सूख जाताहै। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको अपने बलकी परीक्षा करके उसके अनुरूप कर्मोंको ही आरम्भ करना चाहिये। क्योंकि बल ही शरीरका आश्रय है और मनुष्यका जीवन शरीरके अधीन होताहै ॥ ५ ॥

तत्र श्लोकः—साहसं वर्जयेत्कर्म रक्षञ्जीवितमात्मनः।
जीवन् हि पुरुषस्त्विष्टं कर्मणः फलमश्नुते ॥ ६ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य अपने जीवनकी रक्षा करताहुआ बहुत साहसके कर्मको त्याग देवे क्योंकि पुरुषोंके वांछित कर्मोंका फल जीवन ही होता है अर्थात् संपूर्ण सुखोंका मूल जीवन है उस जीवनके रहनेपर ही मनुष्य अपने शुभकर्मोंका फल भोग सकताहै ॥ ६ ॥

सन्धारणजन्य शोषका वर्णन।

सन्धारणं शोषस्यायतनमिति यदुक्तं तदनुव्याख्यास्यामः। यदा

पुरुषो राजसमीपे भर्तृसमीपे वा गुरोर्वा पादमूले द्यूतसमाजं स्त्रीमध्यं वानुप्रविश्य यानैर्वाप्युच्चावचैर्गच्छन् भयात्प्रसंगाद्धीमत्वाद् घृणित्वाद्वा निरुणद्धयागतानि वातमूत्रपुरीषाणि तस्य सन्धारणाद्वायुः प्रकोपमापद्यते ॥ ७ ॥

दूसरा कारण संधारण–शोषका कारण कथन कियाहै सो उसकी व्याख्या करतेहैं। जब पुरुष राजाके समीप अथवा मालिकके समीप या गुरु आदिकोंके चरणोंके समीप अथवा जूआ आदि किसी खेलमें बैठे हुए या किसी सभामें एवम् स्त्रियोंमें बैठकर या किसी ऊंची नीची सवारी आदिमें चलते हुए अथवा भयसे या किसी और प्रसंगसे या उपरोक्त सभा आदिकोंमें लज्जाके मारे अथवा घृणासे वात, मूत्र, पुरीष आदिक वेगोंको रोक लेता है तो उसके शरीरमें वायु कोपको प्राप्त होजाताहै ॥ ७ ॥

स प्रकुपितः पित्तश्लेष्माणौ समुदीर्य्योर्ध्वमधस्तिर्य्यक् च विहरति। ततश्चांशविशेषेण पूर्ववच्छरीरावयवविशेषं प्रविश्य शूलं जनयति। भिनत्ति पुरीषमुच्छोषयति वा, पार्श्वे चाभिरुजति। गृह्णात्यंसौ कण्ठमुरश्चावधमति। शिरश्चोपहन्ति। कासं श्वासं ज्वरं स्वरभेदं प्रतिश्यायञ्चोपजनयति ॥ ८ ॥

फिर वह कुपित हुआ वायु पित्त और कफको उठाकर पूर्वोक्त क्रमसे ऊपर, नीचे, तिरछा तथा भिन्न २ अंशोंसे शरीरके भिन्न २ भागोंमें प्रवेश करके पीडाको उत्पन्न करताहै। और मलको पतला करके निकालता है अथवा सुखादेताहै। दोनों पार्श्वभागोंमें शूलको करताहै एवम् अंसनामक कंधोंसे ऊपरके स्थानमें (हंसलीमें) पीडाको करताहै एवम् छातीमें पीडा उत्पन्न करताहै। शिरमें दर्दको करताहै और कण्ठको पीडायुक्त बनाताहै तथा खांसी, श्वास, ज्वर, स्वरभेद, प्रतिश्याय इनको उत्पन्न कर देताहै ॥ ८ ॥

ततः सोऽप्युपशोषणैरेतैरुपद्रवैरुपद्रुतः शनैः शनैरुपशुष्यति। तस्मात्पुरुषो मतिमानात्मनः शरीरेष्वेव योगक्षेमकरेषु प्रयतेत। विशेषेण शरीरं ह्यस्य मूलम्। शरीरमूलश्च पुरुष इति ॥ ९ ॥

फिर वह इन शोषणकर्त्ता उपद्रवोंद्वारा धीरे धीरे शरीरकी सब धातुओंको सुखा डालताहै। इस लिये बुद्धिमान् मनुष्यको अपने शरीरके योग और क्षेमको इच्छा करते हुए मल मूत्रादि वेगोंको नहीं रोकना चाहिये। क्योंकि शरीरके आधार ही पुरुषका जीवन है इसलिये शरीरकी रक्षा करना सबसे मुख्य धर्म है ॥ ९ ॥

तत्र श्लोकः--सर्वमन्यत्परित्यज्य शरीरमनुपालयेत्।
तदभावे हि भावानां सर्वाभावः शरीरिणाम्। इति ॥ १० ॥

अन्य सब आडम्बरोंको छोडकर शरीरको ही पालन करना चाहिये क्योंकि शरीरके नष्ट होनेसे संपूर्ण सम्पत्तियोंका भी अभाव होजाताहै ॥ १० ॥

क्षयशोषका वर्णन।

क्षयः शोषस्यायतनमिति यदुक्तं तदनुव्याख्यास्यामः। यदा पुरुषोऽतिमात्रं शोकचिन्तापरीतहृदयो भवति, ईर्ष्योत्कण्ठाभयक्रोधादिभिर्वा समाविश्यते, कृशो वा सन् रूक्षान्नपानसेवी भवति, दुर्बलप्रकृतिरनाहारोऽल्पाहारो वा आस्ते, तदा तस्य हृदयस्थायी रसः क्षयमुपैति। स तस्योपक्षयात्संशोषं प्राप्नोति। अप्रतीकाराच्चानुबध्यते यक्ष्मणा यथोपदेक्ष्यमाणरूपेण ॥ ११ ॥

तीसरा जो शोषरोगका कारण क्षय कथन कियाहै अब उसकी व्याख्या करतेहैं। जब मनुष्यके हृदयको अत्यन्त शोक एवम् चिन्ता घेर लेते हैं अथवा ईर्षा, उत्कंठा, भय, क्रोध इनको अत्यन्ततासे घिर जाता है अथवा अत्यन्त कृश होनेपर भी रूक्ष अन्नपानोंका सेवन करताहै एवम् दुर्बल शरीरवाला लंघन अथवा बहुत थोडा आहार करताहै तब इसके हृदयमें रहनेवाला रस क्षय होजाताहै। उसके क्षय होनेसे मनुष्यके सब धातु सूख जाते हैं। इसका शीघ्र यत्न न करनेसे आगे कहाहुआ यक्ष्मारोग उत्पन्न होजाताहै ॥ ११ ॥

यक्ष्मा होनेकी रीति।

यदा पुरुषोऽतिहर्षात्प्रसक्तभावः स्त्रीषु अतिप्रसङ्गमारभते। तस्यातिप्रसङ्गाद्रेतः क्षयमुपैति। क्षयमपि चोपगच्छति रेतसि यदि मनः स्त्रीभ्यो नैवास्य निवर्त्तते, अतिप्रवर्त्तते एव, तस्यातिप्रणीतसङ्कल्पस्य मैथुनमापद्यमानस्य शुक्रं न प्रवर्त्तते। अतिमात्रोपक्षीणत्वात्। अथास्य वायुर्व्यायच्छमानस्यैव धमनीरनुप्रविश्य शोणितवाहिनीस्ताभ्यः शोणितं प्रच्यावयति। तच्छुक्रक्षयाच्छुक्रमार्गेण शोणितं प्रवर्त्तते वातानुसृतलिङ्गम् ॥ १२ ॥

जब मनुष्य अत्यंत हर्षसे आसक्त होकर अधिक मैथुन करताहै उस अधिक मैथुन करनेसे उसका वीर्य क्षय होजाताहै। वीर्यके क्षय होनेपर भी जिसका चित्त स्त्री संगसे

निवृत्त नहीं होता बल्कि और भी अधिक प्रवृत्ति होती जाती है। इस प्रकार स्त्री संगमें अधिक प्रवृत्ति होनेसे वीर्यका क्षय होकर पुनः मैथुन करनेपर भी वीर्यके न रहनेसे वीर्यकी प्रवृत्ति नहीं होती क्योंकि वह अत्यन्त क्षीणताको प्राप्त हो लेताहै ऐसा करनेसे फिर उसके शरीरमें वायु प्रवेश हो धमनीय नसोंके बीचमें प्रवेश करके रक्तवाहिनी नसोंमेंसे रक्तको लेकर वीर्यके मार्गसे वीर्यके क्षय होनेके अनन्तर उस रक्तको निकालताहै। और वायु उस रक्तके साथ मिलजाताहै ॥ १२ ॥

अथास्य शुक्रक्षयाच्छोणितप्रवर्तनाच्च सन्धयः शिथिलीभवन्ति। रौक्ष्यमुपजायते। भूयः शरीरे दौर्बल्यमाविशति वायुः प्रकोपमापद्यते। स प्रकुपितोऽरसिकं शरीरमनुसर्पन्परिशोषयति मांसशोणिते, प्रच्यावयति, श्लेष्मपित्ते, संरुजति पार्श्वे, चावगृह्णात्यंसौ, कण्ठमुद्ध्वंसयति, शिरश्लेष्माणमुपक्लिश्य प्रतिपूरयति, श्लेष्मणा सन्धींश्च प्रपीडयन्करोत्यङ्गमर्दमरोचकाविपाकौ च, पित्तश्लेष्मोत्क्लेशात्प्रतिलोमगत्वाच्च वायुर्ज्वरं कासं स्वरभेदं प्रतिश्यायञ्चोपजनयति ॥ १३ ॥

फिर उस मनुष्यके वीर्यके क्षीण होनेसे और रक्तकी प्रवृत्ति होनेसे संधियें शिथिल होजातीहैं तथा शरीरमें रूक्षता उत्पन्न होजाती है। और शरीर दुर्बलताको प्राप्त होजाताहै। शरीरमें वायुका कोप होजाताहै। वह कुपित हुआ वायु उस दुर्बल शरीरमें इधर उधर फिरता हुआ मांस और रुधिरको सुखा देताहै एवम् कफ और पित्तको निकालता है। दोनों पसवाडोंमें तथा दोनों अंसोंमे और कंठमें पीडाको उत्पन्न करताहै। एवम् शिरको पीडन करताहै और कफको बिगाडकर मस्तकमें पूरित करताहै। संधियोंमें पीडा उत्पन्न करताहै एवम् अरोचकता, अंगमर्द, अविपाक इनको उत्पन्न करताहै। पित्त और कफके उत्क्लेशसे वायुकी गति प्रतिलोम होनेसे ज्वर, खांसी, स्वरभंग, प्रतिश्याय इनको प्रगट करताहै ॥ १३ ॥

वीर्यकी रक्षामें उपदेश।

ततः सोऽप्युपशोषणैरेतैरुपद्रवैरुपद्रुतः शनैरुपशुष्यति। तस्मात्पुरुषो मतिमानात्मनः शरीरमनुरक्षञ्शुक्रमनुरक्षेत्। परा ह्येषा फलनिर्वृत्तिराहारस्येति ॥ १४ ॥

फिर वह मनुष्य इन शोषणकारक उपद्रवों द्वारा पीडित हुआ धीरेधीरे सूख जाताहै। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको शरीरकी रक्षाके लिये वीर्यकी भी रक्षा करनी चाहिये। क्योंकि वीर्य शरीरमें आहार द्रव्योंका सर्वोत्तम और अन्तिम फल होताहै ॥ १४ ॥

तत्र श्लोकः—आहारस्य परं धाम शुक्रं तद्रक्ष्यमात्मनः ।
क्षये ह्यस्य बहून् रोगान्मरणं वा नियच्छति ॥ १५ ॥

यहांपर एक श्लोक कहाहै कि, भोजनका परमधाम शुक्र है इसलिये उस शुक्र (वीर्य) की रक्षा करनी चाहिये। क्योंकि उसके क्षय होनेसे अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न होतेहैं अथवा मनुष्य मृत्युको प्राप्त होजाताहै ॥ १५ ॥

विषमाशनका वर्णन।

विषमाशनं शोषस्यायतनमिति यदुक्तं तदनुव्याख्यास्यामः। यदा पुरुषः पानाशनभक्ष्यलेह्योपयोगान् प्रकृतिकरणसंयोगराशिदेशकालोपयोगसंस्थोपशयविषमानासेवते तदा तस्य वातपित्तश्लेष्माणो वैषम्यमापद्यन्ते। ते विषमाः शरीरमनुपसृत्य यदा स्रोतसां मुखानि प्रतिवार्य्यावतिष्ठन्ते तदा जन्तुर्यदाहारजातमाहरति तदस्य मूत्रपुरीषमेवोपचीयते भूयिष्ठम्, नान्यस्तथा शरीरधातुः। स पुरीषोपष्टम्भाद्वर्त्तयति ॥ १६ ॥

विषमाशन जो चौथा कारण कहाहै। अब उसकी व्याख्या करतेहैं। जब मनुष्य पान, अशन, भक्ष्य, लेह्य इन चार प्रकारके पदार्थोंको कारण, करण, संयोग, राशि, देश, काल, भोजन प्रकार, एवम् सात्म्य इन आठ प्रकारके भोजनके स्थानों अर्थात् विधानोंको त्यागकर विषमरीतिसे सेवन करताहै तब उसके शरीरमें वात, पित्त, कफ यह तीनों दोष विषमताको प्राप्त होजातेहैं। वह तीनों दोष विषमताको प्राप्तहुए शरीरके आश्रयीभूत स्रोतोंके मुखोंको ढककर स्थित होतेहैं। फिर यह मनुष्य जो २ पदार्थ खाताहै उससे मल और मूत्रकी ही वृद्धि होतीहै और अन्य शरीरके धातुओंकी वृद्धि नहीं होती और धातुएं क्षीण होकर केवल मलही अधिक निकलता जाताहै ॥ १६ ॥

तस्माच्छुष्यतो विशेषेण पुरीषमनुरक्ष्यम् । तथा सर्वेषामत्यर्थकृशदुर्बलानाम् । तस्यानाप्याय्यमानस्य विषमाशनोपचिता दोषाः पृथक् पृथगुपद्रवैर्युञ्जन्तो भूयः शरीरमुपशोषयन्ति ॥ १७ ॥

क्योंकि मलकी अधिक प्रवृत्ति होनेसे शरीर स्थिर नहीं रह सकता। इसलिये संपूर्ण कृश और दुर्बल मनुष्यके मलकी रक्षा करनी चाहिये। उस विषमाशन करनेवाले मनुष्यके शरीरमें मलकी रक्षा न करनेसे और अन्य धातुओंको पुष्ट कर-

नेका उपाय न करनेसे वह वातादि दोष फिर अलग २ उपद्रवोंको करतेहुए शरीरमें शोषरोग उत्पन्न करतेहैं ॥ १७ ॥

तत्र वातः शूलमङ्गमर्दं कण्ठोद्ध्वंसनं पार्श्वसंरोजनमंसावमर्दनं स्वरभेदं प्रतिश्यायञ्चोपजनयति। पित्तं पुनर्ज्वरमतीसारं सान्तर्दाहञ्च। श्लेष्मा प्रतिश्यायं शिरसो गुरुत्वं कासमरोचकञ्च ॥ १८ ॥

उनमें वायु कोपको प्राप्त होकर शूल, अंगमर्द, कण्ठका बैठना, दोनों पार्श्वोंमें पीडा, मांसका क्षय होना, स्वरभङ्ग और प्रतिश्यायको उत्पन्न करताहै। एवम् पित्त कुपित होकर ज्वर, अतिसार और देहमें अंतर्दाह इनको उत्पन्न करताहै तथा कफ कुपित होकर प्रतिश्याय, शिरका भारीपन, खांसी और अरुचिको उत्पन्न करताहै१८

स कासप्रसङ्गादुरसि क्षते शोणितं ष्ठीवति। शोणितगमनाच्चास्य दौर्बल्यमुपजायते। एवमेते विषमाशनोपचिता दोषा राजयक्ष्माण-मभिनिर्वर्त्तयन्ति ॥ १९ ॥

फिर खांसी होनेके कारण छातीमें घाव उत्पन्न होकर रक्त थूकमें आनेलगताहै। उस रक्तके निकलनेसे मनुष्यके शरीरमें दुर्बलता उत्पन्न होजाती है। इस प्रकार विष-माशनसे संचित हुए दोष राजयक्ष्माको प्रकट करते हैं ॥ १९ ॥

विषमाशनशोषमें कर्तव्यता।

स तैरुपशोषणैरुपद्रवैरुपद्रुतः शनैः शनैरुपशुष्यति। तस्मात् पुरुषो मतिमान् प्रकृतिकरणसंयोगराशिदेशकालोपयोगसंस्थोपशयादविष-माहारमाहरेदिति ॥ २० ॥

फिर वह मनुष्य उन शोषणकर्त्ता उपद्रवों द्वारा धीरे २ सूख जाताहै। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको प्रकृति, करण, संयोग, राशि, देश, काल, उपयोग, संस्था, एवम् उपशय इनसे अविपरीत अर्थात् इनके अनुकूल भोजन करना चाहिये ॥२०॥

तत्र श्लोकः–हिताशी स्यान्मिताशी स्यात् कालभोजी जितेन्द्रियः।
पश्यन् रोगान् बहून् कष्टान् बुद्धिमान् विषमाशनात् ॥ इति ॥ २१ ॥

यहांपर एक श्लोक है कि बुद्धिमान् मनुष्यको हितभोजी, मितभोजी, कालभोजी एवम् जितेन्द्रिय होनाचाहिये। क्योंकि विषमाशनसे अनेक प्रकारके कष्ट उत्पन्न होते हैं ॥ २१ ॥

राजयक्ष्मानामका कारण।

एतैश्चतुर्भिः शोषस्यायतनैरभ्युपसेवितैर्वातपित्तश्लेष्माण एव प्रकोपमा-

पद्यन्ते। ते प्रकुपिता नानाविधैरुपद्रवैः शरीरमुपशोषयन्ति । तं सर्वरोगाणां कष्टतमं मत्वा राजयक्ष्माणमाचक्षते भिषजः। यस्माद्वा पूर्वमासीद्भगवतः सोमस्योडुराजस्य तस्माद्राजयक्ष्मेति ॥ २२ ॥

इस प्रकार इन चार शोषरोगके कारणोंको सेवन करनेसे वात, पित्त, कफ यह तीनों कोपको प्राप्त होते हैं। वह कोपको प्राप्त हुए अनेक प्रकारके उपद्रवों द्वारा शरीरको सुखा देते हैं। इसलिये सब रोगोंमें कष्टतम इस रोगको जानकर वैद्यलोग राजयक्ष्मा कहते हैं। अथवा तारागणोंके पति भगवान् चन्द्रमाके शरीरमें यह रोग पहिले हुआ था इसलिये भी इस शोषरोगको राजयक्ष्मा कहते हैं ॥ २२ ॥

राजयक्ष्माके पूर्वरूप।

तस्येमानि पूर्वरूपाणि। तद्यथा—प्रतिश्यायः,क्षवथुरभीक्ष्णम्, श्लेष्मप्रसेको, मुखमाधुर्य्यमनन्नाभिलाषोऽन्नकाले चायासो, दोषदर्शनमदोषेष्वल्पदोषेषु वा भावेषु, पात्रोदकान्नसूपापूपोपदंशपरिवेशकेषु, भुक्तवतो हृल्लासस्तथोल्लेखनमाहारस्यान्तरान्तरा । मुखस्य पादयोश्च शोषः, पाण्योरवेक्षणमत्यर्थम्, अक्ष्णोः श्वेतता, बाह्वोः प्रमाणजिज्ञासा, स्त्रीकामता, निर्घृणित्वम्, बीभत्सदर्शनता च काये। स्वप्ने हि अभीक्ष्णं दर्शनमनुदकानामुदकस्थानाम्, शून्यानाञ्च ग्रामनगरनिगमजनपदानाम्, शुष्कदग्धभग्नानाञ्च वनानाम्, कृकलासमयूरवानरशुकसर्पकाकोलूकादिभिः संस्पर्शनम्, अधिरोहणं वा अश्वोष्ट्रखरवराहैर्यानञ्च, केशास्थिभस्मतुषाङ्गारराशीनाञ्चाधिरोहणमिति शोषपूर्वरूपाणि भवन्ति ॥ २३ ॥

उस राजयक्ष्माके यह पूर्वरूप होते हैं। जैसे—प्रतिश्याय,छींक आना, निरन्तर कफ गिरना, मुखमें मीठापन, अन्नकी इच्छा न होना, अन्नके समय थकावटसी मालुम देना, दोषरहित वस्तुओंमें भी दोषोंका दिखाई देना अथवा थोडे दोषवाली वस्तुओंमें भी अधिक दोष दिखाना और उनके सेवनसे अनिच्छा एवम् पात्र, जल, अन्न, दाल, पिष्ट पदार्थ, चटनी एवम् मसाले आदि युक्त पदार्थ इन सबमें अनिच्छा, भोजनके पश्चात् सूखी छर्द होना और जो भोजन किया हो उसका वमनमें निकलना, बीचबीचमें मुख और पैरोंका सूखना, हाथोंको नित्यप्रति देखनेकी इच्छा होना, नेत्र सफेद होना, दोनों बाहोंके प्रमाण जाननेकी इच्छा होना एवम् स्त्रीकी कामना

होना तथा अत्यन्त घृणा, देहमें भयंकरताका होना, स्वप्नमें तालाव, सरोवर, नदी आदि जलाशयोंका जलरहित और सूखा हुआ देखना, एवम् ग्राम, नगर, रास्ता, देश इन सबका सूखे हुए अथवा दग्ध होते हुए एवम् टूटे फूटे दीखना तथा वनोंको कटा हुआ देखना, एवम् त्रिफला, मोर, बन्दर, तोता, सांप, कौआ, उल्लू इनका स्वप्नमें स्पर्श करना और घोडा, ऊंट, गधा तथा सूअरयुक्त सवारीमें बैठना और केश, अस्थि, भस्म, तुष, अंगार इनकी ढेरोंपर चढना ऐसा स्वप्नमें दीखना यह सब शोषरोगके पूर्वरूप हैं ॥ २३ ॥

राजयक्ष्माके रूप।

अत उर्द्ध्वमेकादशरूपाणि तस्य भवन्ति। तद्यथा-शिरसः प्रतिपूरणम्, कासः, श्वासः,स्वरभेदः, श्लेष्मणश्छर्दनम्, शोणितष्ठीवनम्,पार्श्वसंरोजनम्, अंसावमर्दो, ज्वरः, अतीसारस्तथा अरोचक इति ॥ २४ ॥

अब शोषरोगके ग्यारह प्रकारके रूपोंका कथन करते हैं। जैसे-मस्तकका बहुत भारी होना अथवा पीडायुक्त होना, खांसी, स्वरभेद, कफका गिरना, श्वास, थूकमें रुधिरका आना, पसलियोंमें पीडा तथा कन्धोंमें पीडा, ज्वर, अतिसार और अरुचि॥

तत्रापरिक्षीणमांसशोणितो बलवानजातारिष्टः सर्वैरपि शोषलिङ्गैरुपद्रुतः साध्यो ज्ञेयः ॥ २५ ॥

अब साध्य असाध्यको कहते हैं। जिस मनुष्यके शरीरमें मांस और रक्त क्षीण न हुए हों और स्वयं बलवान् हो तथा मरणख्यापक लक्षण न हों वह शोषरोगी शोषरोगके लक्षणयुक्त होनेपर भी साध्य होता है ॥ २५ ॥

बलवर्णोपचयोपचितो हि सहिष्णुत्वाद्व्याध्यौषधबलस्य कामं बहुलिङ्गोऽप्यल्पलिङ्ग एव मन्तव्यः ॥ २६ ॥

जो मनुष्य बल और वर्णसे युक्त हो एवम् व्याधि तथा औषधीके बलको सहन करसकता हो ऐसे मनुष्यके शरीरमें राजयक्ष्माके सम्पूर्ण लक्षण मिलनेपर भी साध्य होता है ॥ २६ ॥

दुर्बलन्त्वतिक्षीणमांसशोणितमल्पलिङ्गमप्यजातारिष्टमपि बहुलिङ्गमेव विद्यादसहत्वाद्व्याध्यौषधबलस्य । तं परिवर्जयेत् ॥ २७ ॥

यदि रोगी दुर्बल हो तथा उसके रक्त और मांस क्षीण होगये हों वह मनुष्य अरिष्टकारक सब लक्षण न होनेपर भी असाध्य जानना चाहिये। उसको व्याधि और औषधीका बल न सहन करनेवाला देखकर त्याग देना चाहिये ॥ २७ ॥

क्षणेन हि प्रादुर्भवन्त्यरिष्टानि। अन्यनिमित्तश्चारिष्टप्रादुर्भाव इति ॥२८॥

इस प्रकार राजरोगमें क्षणमात्रमें अरिष्टकारक सब लक्षण प्रगट होजाते हैं तथा अन्य कारणोंसे भी अरिष्टकारक लक्षण उत्पन्न होते हैं ॥ २८ ॥

तत्र श्लोकः—समुत्थानञ्च लिङ्गञ्च यः शोषस्यावबुध्यते ।
पूर्वरूपञ्च तत्त्वेन स राज्ञः कर्तुमर्हति ॥ २९ ॥

इति चरकसंहितायां निदानस्थाने शोषनिदानं समाप्तम् ॥ ६ ॥

अब यहां अध्यायकी पूर्तिमें एक श्लोक है। शोषरोगके कारण, लक्षण और पूर्वरूप इन सबको जो वैद्य विधिपूर्वक जानता है वही राजाओंकी चिकित्सा करनेयोग्य है ॥ २९ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां निदानस्थाने पटियालाराज्यांतर्गतटकसालनिवासिवैद्यपंचानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्यभाषाटीकायां शोषरोगनिदानं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः ।

अथोन्मादनिदानं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम उन्मादके निदानकी व्याख्या करते हैं । इस प्रकार भगवान् आत्रेयजी कथन करनेलगे ॥

उन्मादके भेद ।

इह खलु पञ्च उन्मादा भवन्ति । तद्यथा—वातपित्तकफसन्निपातागन्तुनिमित्ताः ॥ १ ॥

मनुष्यके शरीरमें उन्मादरोग पांच प्रकारसे होता है । वातसे, पित्तसे, कफसे, सन्निपातसे और आगन्तुक कारणोंसे ॥ १ ॥

उन्मादरोगी पुरुष ।

तत्र दोषनिमित्ताश्चत्वारः पुरुषाणामेवंविधानां क्षिप्रमभिनिर्वर्त्तन्ते । तद्यथा—भीरूणामुपक्लिष्टसत्त्वानामुत्सन्नदोषाणाञ्च मलविकृतोपहितान्यनुचितानि आहारजातानि वैषम्ययुक्तेनोपयोगविधिनोपयुञ्जानानां तन्त्रप्रयोगं वा विषममाचरतामन्यां वा चेष्टां विषमां समाचरतामत्युपक्षीणदेहानाञ्च व्याधिवेगसमुद्भ्रमितानामुपहतमनसां वा

कामक्रोधलोभहर्षभयशोकाचिन्तोद्वेगादिभिः पुनरभिघाताभ्याहतानां वा मनसि उपहते बुद्धौ च प्रचलितायामभ्युदीर्णा दोषाः प्रकुपिता हृदयमुपसृत्य मनोवहानि स्रोतांसि आवृत्य जनयन्ति उन्मादम् । उन्मादं पुनर्मनोबुद्धिसंज्ञाज्ञानस्मृतिभक्तिशीलचेष्टाचारविभ्रमं विद्यात्॥

उनमें चार प्रकारके दोषोंसे होनेवाले उन्मादरोग इस प्रकारके पुरुषोंके शरीरमें शीघ्र उत्पन्न होते हैं । जो मनुष्य अधिक डरपोक हैं, जिनका सत्त्वगुण बिगड गया हो, जिनके शरीरमें वात, पित्त, कफ यह अत्यन्त बढे हों, जिनके मल बिगडे हुए हों, जिनके अनुचित आहारके करनेसे एवम् विषमभोजनके करनेसे तथा विषम रीतिसे तन्त्र प्रयोग करनेसे अथवा विषम चेष्टाओंके करनेसे शरीरमें दोष कुपित हुए हों, जिस मनुष्यका शरीर क्षीण होगया हो अथवा व्याधिके वेगसे व्याकुल हो, जिसका चित्त काम, क्रोध, लोभ, हर्ष, भय, शोक, चिन्ता और उद्वेग अन्य मद आदिसे व्याकुल हो अथवा दिमाग आदि स्थानमें चोट लगी हो । ऐसे ऐसे कारणोंसे मनुष्यका मन उपहत होकर बुद्धि चलायमान होजाती है । उस समय बढे हुए दोष कुपित होकर हृदयमें प्रवेश कर मनके बहनेवाले छिद्रोंको रोककर उन्मादरोगको उत्पन्न करते हैं । उस उन्मादके होनेसे—मन, बुद्धि, संज्ञा, ज्ञान, स्मृति, भक्ति, शील, चेष्टा तथा आहार इन सबमें विभ्रम होजाता है ॥ २ ॥

उन्मादके पूर्वरूप ।

तस्येमानि पूर्वरूपाणि । तद्यथा—शिरसः शून्यभावः, चक्षुषोराकुलता, स्वनः कर्णयोरुच्छ्वासस्याधिक्यमास्यसंस्रवणमनन्नाभिलाषोऽरोचकाविपाकौ, हृदयग्रहो, ध्यानायाससम्मोहोद्वेगाश्चास्थाने, सततं लोमहर्षो, ज्वरश्चाभीक्ष्णमुन्मत्तचित्तत्वमुदर्दितत्वमर्दिताकृतिकरणञ्च व्याधेः। स्वप्ने च दर्शनमभीक्ष्णं भ्रान्तचलितावस्थितानवस्थितानाञ्च रूपाणामप्रशस्तानाञ्च तिलपीडकचक्राधिरोहणं वातकुण्डलिकाभिश्चोन्मथनं निमज्जनं कलुषाणामम्भसामावर्त्तेषु चक्षुषोश्चापसर्पणमिति दोषनिमित्तानामुन्मादानां पूर्वरूपाणि ॥ ३ ॥

उस उन्माद रोगके यह पूर्वरूप होते हैं । जैसे—शिरका शून्य होजाना, नेत्रोंका व्याकुल होना, कानोंमें शब्दका होना, ऊपरको श्वास लेनेकी अधिकता होना, मुखसे लारका बहना, अन्नसे द्वेष, अरुचि, अविपाक, हृदयका रुकना, विना किसी कारणके ध्यानसा लगा रहना, शरीरमें थकावट प्रतीत होना एवम् संमोह, उद्वेग, निरन्तर

रोमोंका खडा होना, ज्वर, हरसमय उन्मत्त चित्त होना, उदर्दरोग होना, अर्दितवायुसे पीडित हुए मनुष्यकीसी आकृति बनाये रखना, स्वप्नमें निरन्तर भूलेहुएसा तथा चलित और अतिचंचल तथा अधिक भयानक रूपोंको देखना। अपने आपको तेलीके कोल्हूपर चढे हुए देखना, वात कुण्डलिका (मूत्रकी बिमारी) रोगसे पीडित होना, बिगडे हुए जलोंके चक्रमें अपनेको डूबते हुए देखना, नेत्रोंका चलायमान होजाना यह सब उन्मादरोगके पूर्वरूप होते हैं ॥ ३ ॥

उन्मादकी पहिचान।

ततोऽनन्तरमुन्मादाभिनिर्वृत्तिस्तत्रेदमुन्मादविज्ञानं भवति। तद्यथा—परिसर्पणमक्षिभ्रुवामोष्ठांसहनुहस्तपादविक्षेपणमकस्मात्, अनियतानाञ्च सततं गिरामुत्सर्गः, फेनागमनमास्यात्, स्मितहसितनृत्यगीतवादित्रादिप्रयोगाश्चास्थाने, वीणावंशशङ्खशम्याताल शब्दानुकरणम् असाम्ना। यानमयानैरलङ्करणमलङ्कारिकैर्द्रव्यैर्लोभोऽभ्यवहार्य्येष्वलब्धेषु। लब्धेषु चावमानस्तीव्रं मात्सर्य्यं कार्श्यं पारुष्यमुत्पिण्डतारुणाक्षता वातोपशयविपर्य्यासादनुपशयिता चेति वातोन्मादलिङ्गानि भवन्ति ॥ ४ ॥

उसके उपरान्त उन्मादरोग प्रगट होजाता है सो उसके लक्षणविशेषोंका कथन करते हैं। जैसे—नेत्र और भौंका चलायमान होना, वह रोगी अकस्मात् होठ, कंधा, ठोडी, हाथ और पांव इनको हिलावे, सदैव अंटसंट बकवाद करे, मुखसे झाग गिरे। हर एक जगह विना ही किसी प्रसंगसे मुस्कुराना, हंसना, नाचना, गाना, मुख तथा हाथोंसे बाजे बजाना एवम् वीणा, बांसुरी, शंख, शम्या, ताल, शब्द आदि मुखसे बाजे बजाना अर्थात् असंबद्ध स्वर करना, कुत्ते, गधे आदिकोंपर तथा लकडी पत्थर आदिपर सवारी करना एवम् लकडी, पत्थर, जूते आदिके आभूषण पहिनना, जो चीजें मिल न सकें उनके लिये इच्छा करना, मिलेहुए भोजनादिक पदार्थोंको अपमानित करना, बहुत मत्सरता, कृशता, कठोरपन यह सब होना, नेत्रोंको ऊपरको चढाये-रखना तथा नेत्रोंका लाल रंग होना, वातनाशक द्रव्योंसे उपद्रवोंका शान्त होना और वातकारक द्रव्योंसे रोगका बढना यह लक्षण वातजनित उन्माद रोगके होते हैं ॥ ४ ॥

पित्तोन्मादके लक्षण।

अमर्षः, क्रोधः, संरम्भश्चास्थाने शस्त्रलोष्टकाष्ठमुष्टिभिरभिहननम्। स्वेषां परेषां वा, प्रच्छायशीतोदकान्नाभिलाषः, सन्तापोऽतिवेलः,

ताम्रहरितहारिद्रसंरब्धाक्षता, पित्तोपशयविपर्य्यासादनुपशायिता चेति पित्तोन्मादलिङ्गानि भवन्ति ॥ ५ ॥

किसीकी बातको न सहना, क्रोध, गर्व करना, विना कारणके शस्त्र, मट्टीका डला, लकडी लेकर अथवा मुक्की बांधकर किसीके पीछे दौडना, अपने और पराये मनुष्योंको मारना, शीतलछाया, शीतलजल शीतलअन्न इनकी अभिलाषा होना, शरीरमें अधिक संताप रहना, नेत्र ताम्रवर्णके अथवा हरे वा हल्दीके समान पीले वर्णके हों तथा टेढे और विक्षिप्तसे दिखाईदें एवम् क्रोधयुक्त प्रतीत हों, पित्तनाशक द्रव्योंद्वारा शान्ति प्राप्त हो और पित्तकारक द्रव्योंद्वारा रोगकी वृद्धि हो यह पित्तजनित उन्मादके लक्षण हैं ॥ ५ ॥

कफोन्मादके लक्षण ।

स्थानमेकदेशे तूष्णीम्भावोल्पशश्चंक्रमणम्, लालासिंघाणकप्रस्रवणमनन्नाभिलाषो,रहस्कामता, बीभत्सत्वम्, शौचद्वेषः, स्वल्पनिद्रता, श्वयथुराननें, शुक्लस्तिमितमलोपदिग्धाक्षता, श्लेष्मोपशयविपर्य्यासादनुपशयिता चेति श्लेष्मोन्मादलिङ्गानि भवन्ति ॥ ६ ॥

किसी एक स्थानमें चुपचाप बैठे रहना, इधर उधर बहुत थोडा फिरना, मुखसे लार और नाकसे मलका अधिक गिरना, अन्नमें रुचि न होना, एकान्तमें बैठेरहनेकी इच्छा होना, शरीरकी आकृतिका भयानक होना, शुद्धता बुरी मालूम होना, थोडी २ नींदका आना, मुखपर सूजन होना और नेत्रोंका श्वेत, गिलेगिले, मलयुक्त होना, देहका गीलासा तथा मलयुक्त रहना, कफकारक द्रव्योंसे रोगका बढना और कफनाशक द्रव्योंसे रोगका शान्त होना । यह लक्षण कफजनित उन्मादके हैं ॥ ६ ॥

त्रिदोषलिङ्गसन्निपाते तत्सान्निपातिकं विद्यात् । तमसाध्यमित्याचक्षते कुशलाः ॥ ७ ॥

वात, पित्त, कफ इन तीनों दोषोंके लक्षण एकसाथ मिलनेसे सन्निपातजनित उन्माद जानना । इस उन्मादको वैद्यलोग असाध्य कथन करतेहैं ॥ ७ ॥

साध्योंकी उपक्रमणविधि ।

साध्यानान्तु त्रयाणां साधनानि भवन्ति । तद्यथा—स्नेहस्वेदवमनविरेचनास्थापनानुवासनोपशमननस्तःकर्मधूपधूमपानाञ्जनावपीडप्रधमनाभ्यङ्गप्रदेहपरिषेकानुलेपनवधबन्धनावरोधनवित्रासनविस्मापनविस्मारणापतर्पणशिराव्यधनानि ॥ ८ ॥

सन्निपातके सिवाय और वातादि दोषोंसे उत्पन्न हुए तीन प्रकारके उन्माद साध्य होतेहैं। सो उनके यत्नोंको कथन करतेहैं। उनका क्रम यह है कि, उन्मादरोगमें वातादि दोष भेद विचारकर स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, उपशमन, नस्यकर्म, धूपन, धूम्रपान, अंजन और पीडन, प्रधमन, अभ्यंग, प्रदेह, परिषेक, अनुलेपन, प्रहार, बंधन, अवरोधन, वित्रासन, विस्मयोत्पादन, विस्मारण, अपतर्पण, शिरावेधन यह सब उचित रीतिपर यत्न करना चाहिये ॥ ८ ॥

भोजनविधानञ्च यथास्वं युक्त्या यच्चान्यदपि किञ्चिन्निदानविपरीतमौषधं कार्य्यं तत्स्यादिति ॥ ९ ॥

तथा दोषके अनुसार युक्तिपूर्वक आहार विधिका सेवन कराना एवम् अन्य भी दोषको शान्त करनेवाले जो उपाय प्रतीत हों उनको करना चाहिये ॥ ९ ॥

तत्र श्लोकः—उन्मादान् दोषजान् साध्यान् साधयेद्भिषगुत्तमः ।
अनेन विधियुक्तेन कर्मणा यत् प्रकीर्त्तितम् ॥ इति ॥ १० ॥

यहां एक श्लोक है कि—वात, पित्त, कफसे उत्पन्न हुए उन्माद रोगोंको बुद्धिमान् वैद्य उपरोक्तविधि और क्रियाके अनुसार साधन करे अर्थात् साध्य उन्मादरोगोंको शान्त करे ॥ १० ॥

आगन्तुक उन्मादके लक्षण।

यस्तु दोषनिमित्तेभ्यः उन्मादेभ्यः समुत्थानपूर्वरूपलिङ्गवेदनोपशयविशेषसमन्वितो भवति उन्मादस्तमागन्तुमाचक्षते ॥ ११ ॥

जिस उन्मादरोगमें वातादि दोषोंके लक्षणोंसे अन्य प्रकारके कारण, पूर्वरूप और रूप मिलते हों उसको आगन्तुज उन्मादरोग जानना ॥ ११ ॥

आगन्तुउन्मादकी उत्पत्तिमें भिन्नमत।

केचित्पुनः पूर्वकृतं कर्माप्रशस्तमिच्छन्ति। तस्य निमित्तं प्रज्ञापराध एवेति भगवान् पुनर्वसुरात्रेय उवाच ॥ १२ ॥ प्रज्ञापराधाद्धि अयं देवर्षिपितृगन्धर्वयक्षराक्षसपिशाचगुरुवृद्धसिद्धाचार्य्यपूज्यानवमत्याहितानि आचरति। अन्यद्वा किञ्चित् कर्माप्रशस्तमारभते ॥ १३ ॥

कोई कहतेहैं कि, पूर्वजन्मके कियेहुए पापही मनुष्यके उन्मादरोगके कारण होतेहैं। भगवान् आत्रेयजी कहनेलगे कि, हे अग्निवेश! उन्मादरोगके उत्पन्न होनेमें बुद्धिका ही दोष है क्योंकि बुद्धिका दोष ही संसारमें देवता, ऋषि, पितर, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, पिशाच, गुरु, वृद्ध, सिद्ध, आचार्य और पूज्योंका अपमान कराकर उनसे अहित आचरण करताहै तथा अन्य भी जो कुछ निंदनीय कर्म हैं उनके करानेवाला होताहै ॥ १२ ॥ १३ ॥

आगन्तु उन्मादके पूर्वरूप।

तमात्मनोपहतमुपघ्नन्तो देवाः कुर्वन्त्युन्मत्तम् । तत्र देवादिप्रकोपनिमित्तेनागन्तुकोन्मादेन पुरस्कृतस्य इमानि पूर्वरूपाणि । तद्यथा—देवगोब्राह्मणतपस्विनां हिंसारुचित्वम्, कोपनत्वम्, नृशंसाभिप्रायता, अरतिरोजोवर्णच्छायाबलवपुषाञ्चोपतप्तिः । स्वप्ने च देवादिभिरभिभर्त्सनं प्रवर्त्तनञ्चेति आगन्तुनिमित्तस्य उन्मादस्य पूर्वरूपाणि भवन्ति । ततोऽनन्तरमुन्मादाभिनिर्वृत्तिः ॥ १४ ॥

इसलिये क्रोधितहुए देवता उस हतबुद्धि मनुष्यके शरीरमें उन्मादरोगको उत्पन्न करते हैं। सो उस देवादि प्रकोपसे उत्पन्नहुए उन्मादरोगके यह पूर्वरूप होतेहैं। जैसे देवता, गौ, ब्राह्मण, तपस्वी इनको मारनेकी इच्छा होना तथा इनमें अरुचि होना, एवम् इनपर क्रोध होना और निन्दनीय लज्जारहित कर्मोंके करनेकी इच्छा होना, चित्तका कहीं न लगना, ओज, वर्ण, कांति, बल इन सबका नष्ट होना, शरीरका तपायमान रहना, स्वप्नमें देवता आदि उसको बहुत डरावें और बुरे २ शब्द कहें। यह आगन्तुज उन्मादरोगके पूर्वरूपहैं। इसके उपरान्त उन्मादरोगके लक्षण प्रगट होजाते हैं ॥ १४ ॥

उन्मादोत्पत्तिसे पूर्वचेष्टा।

तत्रायमुन्मादकराणां भूतानामुन्मादयिष्यतामारम्भविशेषः।तद्यथा—अवलोकयन्तो देवा जनयन्ति उन्मादम् । गुरुवृद्धसिद्धर्षयोऽभिशपन्तः । पितरो धर्षयन्तः। स्पृशन्तो गन्धर्वाः। समाविशन्तो यक्षाः । राक्षसास्त्वात्मगन्धमाघ्रापयन्तः । पिशाचाः पुनरधिरुह्य वाहयन्तः॥ १५

आगन्तुक उन्माद प्रगट होनेके समय उन्मादकारक देवादिकोंके अलग २ प्रकार भेदसे उन्मादरोगका आरम्भ होताहै। जैसे-देवता देखनेमात्रसेही उन्माद रोगको उत्पन्न करतेहैं। गुरु, वृद्ध, सिद्ध और ऋषि इनके शाप देनेसे उन्माद रोग होताहै। पितरोंके डरानेसे उन्मादरोग होताहै । गंधर्व शरीरको स्पर्शकर उन्मादको उत्पन्न करतेहैं। यक्ष, शरीरमें प्रवेश होकर उन्मादको उत्पन्न करतेहैं। राक्षस अपनी देहकी गंध सुंघाकर और पिशाच शरीरके ऊपर चढकर उन्माद रोगको उत्पन्न करतेहैं॥ १५॥

उन्मादके रूप।

तस्येमानि रूपाणि । तद्यथा—अमर्त्यबलवीर्य्यपौरुषपराक्रमग्रहणधारणस्मरणज्ञानवचनविज्ञानानि । अनियतश्चोन्मादकालः ॥ १६ ॥

उस उन्माद रोगके यह लक्षण होतेहैं। जो मनुष्योंमें न हों उस प्रकारके अर्थात् अमानुषीय-बल, वीर्य, पराक्रम, पौरुष, ज्ञान और विज्ञान यह सब उस मनुष्यके शरीरमें उन्मादके समय उत्पन्न हो जांय तथा उस उन्मादके होनेका कोई नियत समय न हो॥ १६॥

आघातकाल।

उन्मादयिष्यतामपि खलु देवर्षिपितृगन्धर्वयक्षराक्षसपिशाचानां गुरुवृद्धसिद्धानां वा एषु अन्तरेषु आभिगमनीयाः पुरुषा भवन्ति। तद्यथा-पापस्य कर्मणः समारम्भे, पूर्वकृतस्य वा कर्मणः परिणामकाले, एकस्य वा शून्यगृहवासे, चतुष्पथाधिष्ठाने वा, सन्ध्यावेलायामप्रयतभावे वा पर्वसन्धिषु वा मिथुनीभावे, रजस्वलाभिगमने वा, विगुणे वाध्ययनबलिमङ्गलहोमप्रयोगे, नियमव्रतब्रह्मचर्य्यभङ्गे वा, महाहवे वा, देशकुलपुरविनाशे वा, महाग्रहोपगमने वा, स्त्रियाः प्रजननकाले, विविधभूताशुभाशुचिस्पर्शने वा, वमनविरेचनरुधिरस्रावे वा, अशुचेरप्रयतस्य वा, चैत्यदेवायतनाभिगमने वा मांसमधुतिलगुडमद्योच्छिष्टे वा, दिग्वाससि वा, निशिनगरनिगमचतुष्पथोपवनश्मशानाघ्रायतनाभिगमने वा, द्विजगुरुसुरपूज्याभिधर्षणे वा, धर्माख्यानव्यतिक्रमे वा, अन्यस्य कर्मणोऽप्रशस्तस्यारम्भे वा इत्याघातकालाः॥ १७॥

उन्मादके करनेवाले देवता, ऋषि, पितृगण, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, पिशाच इनका तथा गुरु, वृद्ध, सिद्ध इनका भी उन्मादके उत्पन्न करनेका समय होताहै अर्थात् यह सब भी मनुष्यमें किसी प्रकारका छिद्र पाकर ही उन्माद रोगको उत्पन्न करतेहैं। इनके कुपित होनेके यह समय होतेहैं। पापकर्मके करनेसे अथवा पूर्वजन्मके किये पापोंके फलसे-शून्य घरमें अकेला देखकर, चौराहेमें, दोनों संध्याओंके समय, विना काम कहीं खाली बैठे हुए, पर्वके समय या अपवित्र समय मैथुनके करनेसे, अथवा रजस्वलासे गमन करनेके समय या पर्वसंधियोंमें स्त्रीगमनके समय, अथवा पढने, बलिदान करने एवम् मंगल तथा होम कर्म करनेके समय किसी प्रकारका उपद्रव कर लेनेसे, नियम, व्रत और ब्रह्मचर्य इनमें किसी प्रकारकी विगुणता होजानेके समय, घोर युद्धमें अथवा देश, कुल और नगरके विनाशके समय, या किसी ग्रहण आदि महाग्रहके आगमनके समय, स्त्रियोंके प्रसूत कालके समय, एवम् अनेक

प्रकारके भूत तथा अपवित्र स्पर्शके समय, अथवा वमन तथा रुधिरके स्रावके समय, एवम् अपवित्रावस्थामें तथा बेसमय पीपल आदि देवताके वृक्ष तथा देवमंदिरमें प्रवेश करनेसे, अथवा उच्छिष्ट, मांस, मधु, तिल, गुड, मद्य इनके सेवनसे, बिलकुल नंगा रहनेके समय, रात्रिमें, नगरमें, जनपदमें चौराहेमें, आंधीमें एवम् श्मशानमें अकेला होनेके समय, धर्मकी मर्यादाके बिगाडनेसे अथवा अन्य कोई निंदित कर्म करनेके समय उपरोक्त देवतादि आघात पाकर उन्माद रोगको उत्पन्न करतेहैं ॥१७॥

भूतादिकृत उन्मत्तताके तीन प्रयोजन।

त्रिविधन्तु खलु उन्मादकराणां भूतानामुन्मादने प्रयोजनं भवति। तद्यथा—हिंसारतिरभ्यर्चनञ्चेति। तेषां तत्प्रयोजनमुन्मत्ताचरणविशेषलक्षणैर्विद्यात्। तत्र हिंसार्थमुन्माद्यमानोऽग्निं प्रविशति। अप्सु वा निमज्जति। स्थलात् श्वभ्रे वा निपतति। शस्त्रकशाकाष्ठलोष्टमुष्टिभिर्हन्त्यात्मानमन्यच्च प्राणवधार्थमारभते। हिंसार्थिनमुन्मत्तमसाध्यं विद्यात्। साध्यौ पुनर्द्वावितरौ ॥ १८ ॥

उन्मादकारक देवताओंका उन्मादरोग उत्पन्न करनेमें तीन प्रकारका प्रयोजनहै। १ हिंसा २ अरति ३ अभ्यर्चन। इन तीनों प्रयोजनोंकी उन्मत्त मनुष्यके आचरणोंसे जाना जासकताहै उनमें हिंसा अर्थात् मनुष्यके पापकर्मसे कुपित हुए देवादि जब उसके (हिंसा--मारने) के लिये उन्मादरोगको उत्पन्न करतेहैं तब वह मनुष्य अग्निमें प्रवेश करे अथवा जलमें डूब मरे या ऊंचे स्थानसे नीचे गिर पडे अथवा किसी गढे आदिमें गिरे एवम् शस्त्र, कशा, काष्ठ, पत्थर, मुक्का आदिसे अपने प्राणोंको नष्ट करनेमें लगे। इस प्रकार देवादिकोंसे हिंसाके लिये उन्मादित कियाहुआ मनुष्य असाध्य होताहै। अरति और अभ्यर्चनाके लिये जो दो प्रकारके उन्मादरोग हैं उनको साध्य जानना ॥ १८ ॥

साध्योंका वर्णन।

तयोः साधनानि मन्त्रौषधिमणिमङ्गलबल्युपहारहोमनियमव्रतप्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्ययनप्रणिपातगमनादीनि इति। एवमेते पञ्चोन्मादा व्याख्याता भवन्ति ॥ १९ ॥

उन साध्य उन्मादोंको साधन करनेके यह उपाय हैं। जैसे--मंत्र, औषध, मणि, मंगलकर्म, बलिदान, उपहार (भोजनादि देना), हवन, नियम, व्रत, प्रायश्चित्त, उपवास, स्वस्त्ययन (स्वस्तिवाचन आदि अथवा शान्तिकारक कर्म,), प्रणिपातन

(वंदना) एवम् देवयात्रादि कर्म आगन्तुज उन्माद रोगकी शान्तिके लिये करना चाहिये । इस प्रकार पांच प्रकारके उन्मादका वर्णन कियागयाहै ॥ १९ ॥

उन्मादका द्विविधत्व ।

ते तु खलु निजागन्तुविशेषेण साध्यासाध्यविशेषेण च प्रविभज्यमानाः पञ्च सन्तो द्वौ एव भवतः ॥ २० ॥

वह उन्मादरोग पांच प्रकारके होते हुए भी निज और आगन्तुज भेदसे और साध्य असाध्यके भेदसे दो प्रकारके होतेहैं ॥ २० ॥

तौ परस्परमनुबध्नीतः कदाचिद्यथोक्तहेतुसंसर्गाच्च । तयोः संसृष्टमेव पूर्वरूपं भवति । संसृष्टमेव लिङ्गञ्च । तत्र असाध्यसंयोगं साध्यासाध्यसंयोगं वा असाध्यं विद्यात् । साध्यन्तु साध्यसंयोगम् । तस्य साधनं साधनसंयोगमेव विद्यादिति ॥ २१ ॥

उन आगन्तुज और निज अर्थात् दोषज उन्मादोंका भी आपसमें संबन्ध होता है। निज और आगन्तुज कारणोंका संसर्ग होनेसे पूर्वरूपमें तथा लक्षणोंमें भी संसर्ग होजाताहै वह इस प्रकार निज और आगन्तुज उन्मादोंका संसर्ग हुआ असाध्यताको प्राप्त होजाताहै एवम् साध्य और असाध्योंका संसर्ग होना भी असाध्य ही जानना चाहिये। इस प्रकार मिलेजुले निज और आगन्तुज उन्मादोंमें तथा साध्य और असाध्योंमें चिकित्सा भी मिलीजुली करनी चाहिये ॥ २१ ॥

तत्र श्लोकाः—नैव देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः ।
न चान्ये स्वयमक्लिष्टमुपक्लिश्यन्ति मानवम् ॥ २२ ॥

जो मनुष्य अपने पाप तथा दोषोंसे रहित होताहै उसके शरीरमें कोई देवता, गन्धर्व, पिशाच, राक्षस आदि तथा अन्य भी कोई किसी प्रकारका उपद्रव नहीं करते॥

ये त्वेनमनुवर्त्तन्ते क्लिश्यमानं स्वकर्मणा ।
न तन्निमित्तः क्लेशोऽसौ न ह्यन्यकृतकृत्यता ॥ २३ ॥

जो मनुष्य अपने पापकर्मोंसे कष्टको भोगतेहुए देवता आदिको दोष देतेहैं और अपने किये पापोंको अपने दुःखका कारण नहीं समझते वह संपूर्णरूपसे झूठे हैं और अपने कार्यकी कृतकृत्यताको प्राप्त नहीं होते ॥ २३ ॥

प्रज्ञापराधात् सम्भूते व्याधौ कर्मज आत्मनः ।
नाभिशंसेद्बुधो देवान् न पितॄन् नापि राक्षसान् ॥ २४ ॥

अपनी बुद्धिसे अपराधसे किये हुए कुकर्मोंके फलसे संकट प्राप्त होनेपर बुद्धिमान् मनुष्य देवता तथा पितृगण एवम् राक्षसादिकोंको दोष न देवें ॥ २४ ॥

आत्मानमेव मन्येत कर्त्तारं सुखदुःखयोः ।
तस्माच्छ्रेयस्करं मार्गं प्रतिपद्येत नो त्रसेत् ॥ २५ ॥

बुद्धिमान्‌को उचित है कि अपनेको ही सुखदुःखका कारण माने । इसलिये कल्याणके करनेवाले मार्गपर चलता रहे । ऐसा करनेसे मनुष्य त्रासको प्राप्त नहीं होता॥

देवादीनामपचितिर्हितानामुपसेवनम् ।
न च तेभ्यो विरोधश्च सर्वमायत्तमात्मनि ॥ २६ ॥

हित वस्तुओंका सेवन करना एवम् हित आचरण रखना यही देवतादिकोंका पूजन है क्योंकि देवताओंको प्रसन्न रखना तथा उनसे विरोध उत्पन्न करना यह सब अपने ही आधीन होता है ॥ २६ ॥

संख्या निमित्तं द्विविधं लक्षणं साध्यता न च ।
उन्मादानां निदानेऽस्मिन् क्रियासूत्रञ्च भाषितम् ॥ २७ ॥

इस उन्मादरोग निदान नामक अध्यायमें उन्मादरोगकी संख्या, कारण, उनके दोनों प्रकारोंके लक्षण, साध्यता और असाध्यता तथा संक्षेपसे उनकी चिकित्साके क्रमका वर्णन किया है ॥ २७ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां पटियालराज्यान्तर्गतटकसालनिवासिवैद्यपञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्यभाषाटीकायामुन्मादरोगनिदानं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः ।

अथापस्मारनिदानं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम अपस्मार रोगके निदानको कथन करते हैं । इस प्रकार भगवान् आत्रेयजी कथन करनेलगे ॥

अपस्मारके भेद ।

इह खलु चत्वारोऽपस्माराः । वातपित्तकफसन्निपातनिमित्ताः ॥ १ ॥

इस शरीरमें अपस्माररोग चारप्रकारसे उत्पन्न होता है। जैसे वातसे, पित्तसे कफसे एवम् सन्निपातसे ॥ १ ॥

अपस्मारके योग्यपुरुष।

ते एवंविधानां प्राणभृतां क्षिप्रमभिनिर्वर्त्तन्ते । तद्यथा—रजस्तमोभ्यामुपहतचेतसामुद्भ्रान्तविषमबहुदोषाणां समलविकृतोपहितानि अशुचीनि अभ्यवहारजातानि वैषम्ययुक्तेन उपयोगविधिनोपयुञ्जानानां तन्त्रप्रयोगमपि च विषममाचरतामन्याश्च शरीरचेष्टा विषमाः समाचरतामत्युपक्षीणदेहानां वा दोषाः प्रकुपिता रजस्तमोभ्यामुपहतचेतसामन्तरात्मनः श्रेष्ठतममायतनं हृदयमुपसंगृह्य पर्य्यवतिष्ठन्ते । तथा इन्द्रियायतनानि । तत्र चावस्थिताः सन्तो यदा हृदयमिन्द्रियायतनानि चोरिताः कामक्रोधभयलोभमोहहर्षशोकचिन्तोद्वेगादिभिः भूयः सहसा अभिपूरयन्ति तदा जन्तुरपस्मरति ॥ २ ॥

वह अपस्मार (मृगी) रोग ऐसे मनुष्योंके शरीरमें शीघ्र होता है जिनका नीचे कथन करते हैं। ऐसे रजोगुण और तमोगुणसे ढकेहुए चित्तवाले जिनके शरीरमें वातादिदोष उद्भ्रान्त अथवा विषम, या बढेहुए हों। जो मनुष्य आहार विधिको त्याग कर मलीन, बिगडाहुवा, गतरस, अपवित्र ऐसे २ आहारको करता है। अथवा विषमभोजनको करता है। जो शास्त्रीयविधिके प्रतिकूल अन्यान्य आहारविहारोंको करता है तथा अनेकप्रकारकी विषमचेष्टा करनेवाले एवम् क्षीणदेहवाले ऐसे २ मनुष्योंके शरीरमें वातादि दोष कुपित हो अंतरात्माके श्रेष्ठस्थानरूप चित्तमें प्रवेश करते हैं और उस चित्तको रजोगुण और तमोगुणसे उपहत (बिगाड) कर स्थित रहते हैं। फिर उस मनुष्यके काम, क्रोध, भय, लोभ, मोह, हर्ष, शोक, चिंता और उद्वेग आदिसे सहायता पाकर हृदय और इंद्रियोंके स्थानोंको सहसा पूरण कर अपस्माररोगको उत्पन्न करते हैं ॥ २ ॥

अपस्मारके लक्षण।

अपस्मारं पुनः स्मृतिबुद्धिसत्त्वसंप्लवाद्बीभत्सचेष्टमावस्थिकं तमःप्रवेशमाचक्षते ॥ ३ ॥

स्मरणशक्ति, बुद्धि, सत्व यह सब नष्ट होकर भयानक चेष्टा होकर उस अवस्था (समय) के लिये अन्धकारमें प्रवेश होनेको अपस्मार (मृगी) रोग कहते हैं ॥ ३ ॥

अपस्मारके पूर्वरूप ।

तस्येमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति । तद्यथा—भ्रूव्युदासः, सततमक्ष्णोर्वैकृतम्, अशब्दश्रवणम्, लालाशिंघाणकप्रस्रवणम्, अनन्नाभ्यशनम् अरोचकाविपाकौ, हृदयग्रहः, कुक्षेराटोपो, दौर्बल्यम्, अङ्गमर्दो मोहस्तमसो दर्शनम्, मूर्च्छा भ्रमश्चाभीक्ष्णञ्च, स्वप्ने मदनर्त्तनपीडनवेपनव्यथनपतनादीनि, अपस्मारपूर्वरूपाणि भवन्ति । ततोऽनन्तरमपस्माराभिनिर्वृत्तिः ॥ ४ ॥

उस अपस्माररोगके यह पूर्वरूप होतेहैं । जैसे--दोनों भ्रुकुटियोंका संकोच, नेत्रोंकी निरंतर विकृति(टेढेसे रहना)कानोंमें शब्दसा सुनना, अथवा श्रवणशक्ति नष्ट होजाना, मुखसे लार बहना, नाकसे मैल गिरना, अन्नका न खाना, अरुचि, अविपाक, हृदयका रुकजाना, कूखका फूलना, दुर्बलता, अंगमर्द, मोह, अंधकार दर्शन, मूर्च्छा, भ्रम, सोते हुए मस्त होजाना, नाचना, दोनों हाथोंको मींचना, कांपना, व्यथाका प्राप्तहोना और गिर पडना यह अपस्माररोगके पूर्वरूप हैं इसके अनंतर अपस्माररोग प्रगटहोजाताहै ॥ ४ ॥

वातज अपस्मारके लक्षण ।

तत्रेदमपस्मारविशेषविज्ञानं भवति । तद्यथा—अभीक्ष्णमपस्मरन्तं क्षणे क्षणे संज्ञां प्रतिलभमानमुत्पिण्डिताक्षमसाम्ना वा विलपन्तमुद्वमन्तं फेनमतीवाध्मातग्रीवमाविद्धशिरस्कं विषमविनतांगुलिमनवस्थितसक्थिपाणिपादमरुणपरुषश्यावनखनयनवदनत्वचमनवस्थितचपलपरुषरूक्षरूपदर्शिनम्, वातलानुपशयं विपरीतोपशयं वातेनापस्मारवन्तं विद्यात् ॥ ५ ॥

अब अपस्मारके भेदोंके ज्ञानको कथन करतेहैं वह इस प्रकार हैं । जिसको निरन्तर मूर्छा हो अथवा स्मरणशक्ति नष्ट होजाय और अपस्मार होनेके समय थोडी थोडी देरमें होश आजाताहो जिसके नेत्रकी पुतली सिकुडगईहो जो मनुष्य बकवाद करताहो एवम् मुखसे झाग निकालताहो तथा गर्दन फूली हुईसी हो मस्तक रुका हुआसा हो हाथोंकी अंगुलियें टेढी होगईहों तथा हाथपर अनवस्थित हों एवम् नख, नेत्र, मुख और त्वचा यह सब लाल कठोर और काले होगयेहों, मन चलायमान हो, सब वस्तुयें चपल, कठोर और रूक्ष दिखाई देवें तथा वातकारक पदार्थोंसे रोगकी वृद्धि हो और वातनाशक पदार्थोंके सेवनसे शान्ति हो यह सब लक्षण वातजनित अपस्मारमें होतेहैं ॥ ५ ॥

पित्तजअपस्मारके लक्षण।

अभीक्ष्णमपस्मरन्तं क्षणे क्षणे संज्ञां प्रतिलभमानमनुकूजन्तमास्फालयन्तं च भूमिं, हरितहारिद्रताम्रनखनयनवदनत्वचं, रुधिरोक्षितोग्रभैरवप्रदीप्तरुषितरूपदर्शिनं, पित्तलानुपशयं, विपरीतोपशयं, पित्तेनापस्मारितं विद्यात् ॥ ६ ॥

पित्तके अपस्मारमें निरन्तर अपस्माररोगका होना क्षण२ पर होश आजाना, कण्ठसे कील्हनेकासा शब्द करना, हाथपैरोंको इधर उधर भूमिमें पटकना, नेत्र नख, मुख, त्वचा इन सबका वर्ण हरा पीला तथा ताम्रवर्णका होना और उस मनुष्यको स्वप्नमें अथवा अपस्मार रोग होनेके समय रक्तसे भरे हुए उग्र भयानक प्रकाशयुक्त, क्रोधित रूपोंका देखना तथा पित्तकारक द्रव्योंसे रोगका बढना एवम् पित्तनाशक द्रव्योंसे शान्त होना। यह सब लक्षण पित्तजनित अपस्मारमें होतेहैं ॥ ६ ॥

कफज अपस्मारके लक्षण।

चिरादपस्मरन्तं चिराच्च संज्ञां प्रतिलभमानं, पतन्तमनतिविकृतचेष्टं, लालामुद्वमन्तं, शुक्लनखनयनवदनत्वचं, शुक्लगुरुस्निग्धरूपदर्शिनं, श्लेष्मलानुपशयं विपरीतोपशयं श्लेष्मणापस्मारितं विद्यात् ॥ ७ ॥

जिस अपस्माररोगमें देरदेरमें बेहोशी हो और देरमें ही संज्ञा प्राप्त हो पृथ्वीपर गिरते ही अत्यन्त विकृत चेष्टा न हो, मुखसे लार गिरती हो, नख, नेत्र, मुख, त्वचा यह सब सफेद हों, रोगके समय श्वेत और भारीरूप दिखाई देतेहों अथवा सब वस्तुयें सफेद और भारी दीखती हों कफकारक वस्तुओंसे रोगकी वृद्धि हो और कफनाशक पदार्थोंसे शान्ति होतीहो। इन लक्षणोंसे युक्त अपस्मारको कफजनित अपस्मार जानना ॥ ७ ॥

सान्निपातिक अपस्मारके लक्षण।

समवेतसर्वलिङ्गमपस्मारं सान्निपातिकं विद्यात्। तमसाध्यमाचक्षते। इति चत्वारोऽपस्माराः। तेषामागन्तुरनुबन्धो भवत्येव। कदाचित् स उत्तरकालमुपदेक्ष्यते। तस्य विशेषविज्ञानं यथोक्तैर्लिङ्गैर्लिङ्गाधिक्यमदोषलिङ्गानुरूपं किञ्चित्। हितं तत्तु अपस्मारिभ्यस्तीक्ष्णानि चैव संशोधनानि उपशमनानि यथास्वं मन्त्रादीनि चागन्तुसंयोगे ॥८॥

तीनों दोषोंके लक्षणोंयुक्त अपस्मारको सान्निपातिक जानना। सन्निपातके अपस्मारको असाध्य कथन करते हैं। इस प्रकार अपस्मारके चार भेद होते हैं। इन

चारों प्रकारके अपस्मार होनेमें कोई भी आगन्तुक कारण अवश्य होता है। जिसका विषय चिकित्सास्थानमें कथन किया जायगा, उस आगन्तुज अपस्मारको अन्य अपस्मारोंके कथन किये हुए लक्षणोंसे विशेष लक्षणोंवाला तथा विशेषरूपसे प्रगट होनेवाला और दोषोंके लक्षणोंसे विचित्र लक्षणोंवाला होनेसे जान लेना चाहिये कि, यह आगन्तुज अपस्मार है। इस प्रकार अपस्मारोंके लक्षणोंको जानकर उनमें हित तथा तीक्ष्ण उपशमनों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। आगन्तुज लक्षणके अनुबन्ध होनेपर मन्त्रादिकोंसे शान्ति करनी चाहिये ॥ ८ ॥

रोगोंकी उत्पत्ति।

तस्मिन् हि दक्षाध्वरोध्वंसे देहिनां नानादिक्षु विद्रवतामतिसरणप्लवनलङ्घनाद्यैर्देहविक्षोभणैः पुरा गुल्मोत्पत्तिरभूत् । हविष्प्राशान्मेहकुष्ठानाम् । भयत्रासशोकैरुन्मादानाम्।विविधभूताशुचिसंस्पर्शादपस्माराणाम् ॥ ९ ॥ ज्वरस्तु महेश्वरललाटप्रभवः । तत्सन्तापाद्रक्तपित्तम् । अतिव्यवायात् पुनर्नक्षत्रराजस्य राजयक्ष्मेति ॥ १० ॥

उस दक्षयज्ञकेही नष्ट होनेके समय जब महादेवके भयसे दशोंदिशाओंमें यज्ञस्थ मनुष्य भागने लगे और इधर उधर उछलना, कूदना आदि देहका विक्षेप करते हुए भागने लगे तब उनके शरीरमें पहिले गुल्म रोग उत्पन्न हुआ और उसी यज्ञमें अत्यन्त घृतके खानेसे प्रमेह और कुष्ठ रोगकी उत्पत्ति हुई तथा तप और उपवास एवम् शोकसे उन्मादोंकी उत्पत्ति हुई। उसी यज्ञके नष्ट होते समय भूत गणादिकोंके स्पर्शसे अपस्माररोग पैदा हुआ और महादेवके मस्तकसे ज्वर उत्पन्न हुआ। उसके सन्तापसे रक्तपित्त उत्पन्न हुआ। एवम् मैथुनके प्रभावसे चन्द्रमाके शरीरमें राजयक्ष्मा पैदा हुआ ॥ ९ ॥ १० ॥

तत्र श्लोकाः—अपस्मरति वातेन पित्तेन च कफेन च ।
चतुर्थः सन्निपातेन प्रत्याख्येयस्तथाविधः ॥ ११ ॥

अपस्माररोग वातसे, पित्तसे, कफसे और सन्निपातसे इन चार भेदोंसे कहा गया है। इन अपस्मारोंमें सन्निपात जनित अपस्मार असाध्य है तथा अन्य तीन प्रकारके अपस्मार साध्य हैं ॥ ११ ॥

साध्यांस्तु भिषजः प्राज्ञाः साधयन्ति समाहिताः ।
तीक्ष्णैः संशोधनैश्चैव यथास्वं शमनैरपि ॥ १२ ॥

यदा दोषनिमित्तस्य भवत्यागन्तुरन्वयः ।
तदा साधारणं कर्म प्रवदन्ति भिषग्वराः ॥ १३ ॥

बुद्धिमान् वैद्यको चाहिये कि साध्य अपस्मारोंको सावधान होकर तीक्ष्ण संशोधनों द्वारा तथा उनमें जैसे उचित हों वैसे संशमनों द्वारा चिकित्सा करे । यदि उन दोष-जनित अपस्मारोंमें आगन्तुज कारणोंका संबंध हो तो उस समय दोनोंको उपयोगी साधारण क्रिया करनी चाहिये ॥ १२ ॥ १३ ॥

सर्वरोगविशेषज्ञः सर्वौषधविशेषवित् ।
भिषक् सर्वामयान् हन्ति न च मोहं नियच्छति ।
इत्येतदखिलेनोक्तं निदानस्थानमुत्तमम् ॥ १४ ॥

जो वैद्य संपूर्ण रोगोंको जानता है तथा संपूर्ण औषधियोंके परिज्ञानयुक्त है वह वैद्य संपूर्ण रोगोंको नष्ट करता है और मोहको प्राप्त नहीं होता । इस प्रकार संपूर्णतासे इस उत्तम निदानस्थानको कथन किया है ॥ १४ ॥

एकरोगसे अनेकरोगोंकी उत्पत्ति ।

निदानार्थकरो रोगो रोगस्याप्युपलभ्यते ।
तद्यथा ज्वरसन्तापाद्रक्तपित्तमुदीर्य्यते ॥ १५ ॥
रक्तपित्ताज्ज्वरस्ताभ्यां शोषश्चाप्युपजायते ।
प्लीहाभिवृद्ध्या जठरं जठराच्छोफ एव च ॥ १६ ॥

कोई रोग भी रोगके उत्पन्न करनेका हेतु होता है अर्थात् जैसे कारण रोगको उत्पन्न करता है उसी प्रकार कोई रोग भी रोगको उत्पन्न करनेवाला होता है । उसमें दृष्टान्त देते हैं । जैसे—ज्वरके अत्यन्त संतापसे रक्तपित्त उत्पन्न होजाता है । रक्तपित्त और ज्वर इन दोनोंके होनेसे श्वास उत्पन्न होजाता है । एवम् प्लीहाके बढनेसे उदर-रोग उत्पन्न होता है । उदररोगसे सूजन उत्पन्न होजाती है ॥ १५ ॥ १६ ॥

अर्शोभ्यो जाठरं दुःखं गुल्मश्चाप्युपजायते ।
प्रतिश्यायादथो कासः कासात्संजायते क्षयः ।
क्षयो रोगस्य हेतुत्वे शोषश्चाप्युपजायते ॥ १७ ॥

बवासीरसे जठररोगकी तथा गुल्मरोगकी उत्पत्ति होती है । प्रतिश्यायसे खांसी उत्पन्न होजाती है । खांसीके होनेसे क्षयरोग उत्पन्न होजाता है । क्षयरोगके कारण शोष रोग उत्पन्न होजाता है ॥ १७ ॥

ते पूर्वं केवला रोगाः पश्चाद्धेत्वर्थकारिणः।
उभयार्थकरा दृष्टास्तथैवैकार्थकारिणः॥ १८॥
कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति।
न प्रशाम्यति चाप्यन्यो हेतुत्वं कुरुतेऽपि च॥ १९॥

वह रोग पहिले तो स्वयं रोग होते हैं फिर दूसरे रोगोंको उत्पन्न करनेके कारण बनजाते हैं। कोई रोग आप भी रहता है तथा दूसरे रोगको भी उत्पन्न कर देता है। कोई रोग एक ही अर्थके करनेवाला रहता है। जैसे-कोई रोग दूसरे रोगको उत्पन्न करके स्वयम् शान्त होजाता है और कोई रोग स्वयं भी रहता है तथा दूसरेको भी उत्पन्न कर लेता है॥ १८॥ १९॥

एवं कृच्छ्रतमा नृणां दृश्यन्ते व्याधिसंकराः।
प्रयोगापरिशुद्धत्वात् तथा चान्योन्यसम्भवात्॥ २०॥
प्रयोगः शमयेद्व्याधिं योऽन्यमन्यमुदीरयेत्।
नासौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेद्यो न कोपयेत्॥ २१॥

इस प्रकार मनुष्योंको कष्ट देनेवाले रोगोंका व्याधिसंकर अर्थात् व्याधियोंका मिलना जुलना होनेसे व्याधियें कष्टसाध्य होजाती हैं। एक रोगकी चिकित्सा करते समय दूसरे रोगका उत्पन्न होजाना इसमें चिकित्साके प्रयोगकी अविशुद्धता रोगका कारण होती है। जो औषधी प्रयोग एक रोगको शान्त करे और दूसरेको उत्पन्न करे उसको विशुद्धचिकित्सा नहीं कहते। जो चिकित्सा रोगको शान्त करे तथा अन्य व्याधियोंको भी होने न देवे उसको शुद्ध चिकित्सा कहते हैं॥ २०॥ २१॥

रोगोंके हेतुओंका वर्णन।

एको हेतुरनेकस्य तथैकस्यैक एव हि।
व्याधेरेकस्य चानेको बहूनां बहवोऽपि च॥ २२॥

कहीं कहीं एकही कारण बहुतसे रोगोंको उत्पन्न करता है। कहीं एक कारण एकहीको उत्पन्न करता है। कहीं एक व्याधिके अनेक कारण होते हैं और कहीं बहुतसी व्याधियोंके बहुतसे कारण भी होते हैं॥ २२॥

ज्वरभ्रमप्रलापाद्या दृश्यन्ते रूक्षहेतुजाः।
रूक्षेणैकेन चाप्येको ज्वर एवोपजायते॥ २३॥

जैसे ज्वर, भ्रम, प्रलाप आदिक यह सब रूक्षतासे उत्पन्न होते हैं। कहीं अकेली रूक्षतासे केवल ज्वर ही उत्पन्न होता है॥ २३॥

हेतुभिर्बहुभिश्चैको ज्वरो रूक्षादिभिर्भवेत्।
रूक्षादिभिर्ज्वराद्याश्च व्याधयः सम्भवन्ति हि ॥२४॥

कहीं रूक्ष आदिक बहुतसे हेतुओंसे केवल एक ज्वर ही उत्पन्न होता है। कहीं उन्हीं रूक्ष आदि बहुतसे हेतुओंसे ज्वर आदिक बहुतसे रोग भी उत्पन्न होजाते हैं ॥२४॥

रोगोंमें भ्रमकारक लक्षण।

लिङ्गञ्चैकमनेकस्य तथैकस्यैकमुच्यते।
बहून्येकस्य च व्याधेर्बहूनां स्युर्बहूनि च ॥ २५ ॥

कहीं बहुतसे रोगोंका एक ही लक्षण होता है। कहीं एक रोगका एकही लक्षण होता है। कहीं एक व्याधिके बहु लक्षण होते हैं, कहीं बहुतसी व्याधियोंके बहुतसे लक्षण होते हैं ॥ २५ ॥

विषमारम्भमूलानां लिङ्गमेकं ज्वरो मतः।
ज्वरस्यैकस्य चाप्येकः सन्तापो लिङ्गमुच्यते ॥ २६ ॥
विषमारम्भमूलैश्च ज्वर एको निरुच्यते।
लिङ्गैरेतैर्ज्वरश्वासहिक्काद्याः सन्ति चामयाः ॥ २७ ॥

जैसे बहुतसे विषमारंभ रोगोंका केवल एक ज्वर ही चिह्न दिखाई देता है। कहीं केवल ज्वरका एक संतापमात्र लक्षण दिखाई देता है। कहीं बहुतसे विषमारंभ मूलक लक्षणोंसे केवल ज्वरमात्र दिखाई देता है। कहीं उन्हीं लक्षणोंसे ज्वर, श्वास, हिचकी आदि रोग दिखाई देते हैं ॥ २६ ॥ २७ ॥

रोगोंकी शान्तिका वर्णन।

एका शान्तिरनेकस्य तथैकैकस्य लक्ष्यते।
व्याधेरेकस्य चानेको बहूनां बह्वय एव च ॥ २८ ॥

कहीं अनेक और कहीं एक प्रकारके रोगोंकी एक ही प्रकारकी चिकित्साद्वारा शान्ति होजाती हैं। कहीं एक और कहीं अनेक प्रकारके रोगमें अनेक प्रकारकी चिकित्सा करनी पडती है ॥ २८ ॥

शान्तिरामाशयोत्थानां व्याधीनां लंघनक्रिया।
ज्वरस्यैकस्य चाप्येका शान्तिर्लंघनमुच्यते ॥ २९ ॥

जैसे आमाशयकी खराबीसे उत्पन्नहुए बहुतसे रोगोंकी शान्तिके लिये केवल लंघन करनाही उन सब विकारोंकी शान्तिका एक ही उपाय है। उसी प्रकार ज्वररूप एक व्याधिकी शान्तिके लिये केवल लंघन शान्तिकारक होता है ॥ २९ ॥

तथा लघ्वशनाद्यैश्च ज्वरस्यैकस्य शान्तयः ।
एताश्चैव ज्वरश्वासहिक्कादीनां प्रशान्तयः ॥ ३० ॥

जैसे हलका भोजन आदि एकज्वरकी शान्तिके लिये अनेक उपाय शान्तिकारक होते हैं। वैसे ही ज्वर, श्वास, हिचकी आदि अनेक रोगोंमें भी हलका भोजन आदि अनेक क्रियाद्वारा शान्ति होती है ॥ ३० ॥

सुखसाध्यः सुखोपायः कालेनाल्पेन साध्यते ।
साध्यते कृच्छ्रसाध्यस्तु यत्नेन महता चिरात् ॥ ३१ ॥
याति नाशेषतां व्याधिरसाध्यो याप्यसंज्ञितः ।
परोऽसाध्यः क्रियाः सर्वाः प्रत्याख्येयोऽतिवर्त्तते ॥ ३२ ॥

सुखसाध्यरोग साधारण उपाय करनेसे थोडे ही कालमें शान्त होजाते हैं। कष्ट-साध्य रोग अत्यन्त यत्न करनेपर बहुत कालमें शान्त होते हैं। याप्यसाध्यरोग यद्यपि उत्तम वैद्यके द्वारा चिकित्सा कीजानेपर कुछ कालके लिये थोडी शान्ति रहती है। परन्तु वह रोग समूल नष्ट नही होता। असाध्यरोग सब प्रकारके चिकि-त्साओं द्वारा शान्त नहीं होसकता। इस लिये वह प्रत्याख्येय अर्थात् त्यागदेने योग्य होता है। चिकित्सा करने योग्य नहीं होता ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

नासाध्यः साध्यतां याति साध्यो याति त्वसाध्यताम् ।
पादापचाराद्दैवाद्वा यान्ति भावान्तरं गदाः ॥ ३३ ॥

असाध्यरोग साध्य नहीं होसकते परन्तु साध्यरोगभी चिकित्सामें किसी प्रकारका अन्तर पडनेसे असाध्य होजाते हैं। चिकित्साके पादचतुष्टयका अपचार होनेसे अथवा दैवयोगसे व्याधियां भावान्तरको प्राप्त होजाती हैं अर्थात् साध्य भी असाध्य होजाती हैं। (दैवयोगसे तो असाध्योंका भी साध्य होना सम्भव है) ॥ ३३ ॥

वैद्यको उपदेश।

वृद्धिस्थानक्षयावस्थां दोषाणामुपलक्षयेत् ।
सुसूक्ष्मामपि च प्राज्ञो देहाग्निबलचेतसाम् ॥ ३४ ॥
व्याध्यवस्थाविशेषान् हि ज्ञात्वा ज्ञात्वा विचक्षणः ।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्तच्छ्रेयः प्रपद्यते ॥ ३५ ॥

वैद्यको उचित है कि दोषोंकी वृद्धि और क्षीणावस्थापर भले प्रकार ध्यान रक्खे और वह बुद्धिमान् वैद्य देह, अग्नि, बल तथा चित्तकी वृत्तिको बहुत सूक्ष्मविचार

द्वारा परीक्षा करे। एवम् व्याधिकी अवस्था विशेषको जानकर जैसी जैसी अवस्थाएँ हों वैसी वैसी चिकित्सा करनेसे चतुर वैद्य कल्याणको प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

चिकित्साकी विधि।

प्रायस्तिर्य्यग्गता दोषाः क्लेशयन्त्यातुरांश्चिरम्।
तेषु तु त्वरया कुर्य्याद्देहाग्निबलकृत् क्रियाम् ॥ ३६ ॥
प्रयोगैः क्षपयेद्वा तान्सुखं वा कोष्ठमानयेत्।
ज्ञात्वा कोष्ठप्रपन्नांस्तान्यथास्वं तं हरेद् बुधः ॥ ३७ ॥

दोष प्रायः तिर्यक्गामी होनेसे मनुष्यको बहुत कालतक कष्ट देते हैं उनमें बुद्धिमान् वैद्य शीघ्र देह, बल और अग्निको करनेवाली क्रिया करे। ऐसे समयमें जब कि दोष तिर्यक्गामी हो गये हों औषधी प्रयोगद्वारा उनको पकाकर कोष्ठमें ले आवे। फिर जब वह कोष्ठमें आजाँय तब उनको जो २ जिस प्रकार निकालने योग्य हों उस प्रकार निकाल डाले ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

ज्ञानार्थं यानि चोक्तानि व्याधिलिङ्गानि संग्रहे।
व्याधयस्ते तदात्वे तु लिङ्गानीष्टानि नामयाः ॥ ३८ ॥
विकाराः प्रकृतिश्चैव द्वयं सर्वं समासतः।
तद्धेतुवशगं हेतोरभावान्नानुवर्त्तते ॥ ३९ ॥

रोगके परिज्ञानके लिये संग्रहमें जो लक्षण कथन किये हैं उनको भी अलग २ होनेपर रोग ही जानना चाहिये। जैसे–किसी रोगके लक्षणमें श्वासका होना कथन किया है अथवा अतिसारका होना कथन किया है यदि यह रोगके विना शरीरमें प्रगट हों तो यही रोग होते हैं। परन्तु ज्वरादिकोंके समय ज्वरके वेगसे इनका होना रोग न कहा जाकर ज्वररोगका उपद्रव माना जायगा। रोग और प्रकृति यह दोनों ही संक्षेपसे सब रोगोंमें कथन करनेमें आतेहैं। सो वह प्रकृति अर्थात् रोगजनक कारण और रोग यह दोनोंही अपने हेतुके वश हैं अर्थात् अनुचित आहार विहारके होजानेसेही बलको प्राप्त होतेहैं। यदि अहित आहार आदि रोग और रोगकी प्रकृतिका कारण न होने पावें तो कारणके अभावसे यह दोनों उत्पन्न नहीं हो सकते॥ ३८ ॥ ३९ ॥

तत्र श्लोकाः–हेतवः पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा।
संप्राप्तिः पूर्वमुत्पत्तिः सूत्रमात्रं चिकित्सितम् ॥ ४० ॥
ज्वरादीनां विकाराणामष्टानां साध्यता न च।
पृथगेकैकशश्चोक्ता हेतुलिङ्गोपशान्तयः ॥ ४१ ॥

हेतुपर्य्यायनामानि व्याधीनां लक्षणस्य च ।
निदानस्थानमेतावत्संग्रहेणोपदिश्यते ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतसंहितायां निदानस्थानं सम्पूर्णम् ॥

अब निदानस्थानका उपसंहार करते हैं । इस निदानस्थानमें–हेतु, पूर्वरूप, रूप, उपशय, संप्राप्ति, पूर्व उत्पत्ति तथा चिकित्साका सूत्रपात एवम् ज्वरादिक आठ विकारोंकी साध्यता और असाध्यता इन सबका कथन कियागया है तथा इन सबको अलग २ एकएक करके इनके हेतु, चिह्न तथा उपशान्तिकारक उपाय एवम् हेतुके पर्यायवाचक नाम एवम् व्याधिके पर्यायवाचक नाम तथा लक्षणके पर्यायवाचक नाम यह सब इस निदानस्थानके संग्रहमें कथन कियेगये हैं अर्थात् इन सब विषयोंकरके युक्त यह निदानस्थान समाप्त हुआ ॥ ४०–४२ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां निदानस्थाने पं० रामप्रसादवैद्यविरचितप्रसादन्याख्यभाषाटीकायामपस्मारनिदानं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

दोहा–हेतु रूप आदिक सब, विधिवत् व्याधिज्ञान ।
सो प्रसादनीयुक्त यह, भयो निदान स्थान ॥

समाप्तमिदं निदानस्थानम् ॥



श्रीः ॥

विमानस्थानम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

अथातो रसविमानं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम इस विमानस्थानकी व्याख्या करते हैं, इस प्रकार भगवान् आत्रेयजी कथन करने लगे ॥

इह खलु व्याधीनां निमित्तपूर्वरूपरूपोपशयसंख्याप्राधान्यविधिविकल्पबलकालविशेषाननुप्रविश्यानन्तरं रसद्रव्यदोषविकारभेषजदेशकालबलशरीराहारसारसात्म्यसत्त्वप्रकृतिवयसां मानमवहितमनसा यथावज्ज्ञेयं भवति भिषजा रसादिमानज्ञानायत्तत्वात् क्रियायाः । न हि अमानज्ञो रसादीनां भिषक् व्याधिनिग्रहसमर्थो भवति । तस्माद्रसादिमानज्ञानार्थं विमानस्थानमुपदेक्ष्यामोऽग्निवेश ! तत्रादौ रसद्रव्यदोषविकारप्रभावान् वक्ष्यामः ॥ १ ॥

प्रथम वैद्यको चाहिये कि व्याधियोंके—निमित्त, पूर्वरूप, रूप, उपशय, संख्या, प्राधान्य, अनेक प्रकारका विकल्प, विधि, बल और कालविशेषको यथोचित रीतिसे जानलेवे, तदनन्तर दोष, औषध, देश, काल, बल, शरीर, आहार, सार, सात्म्य, सत्त्व और प्रकृति तथा अवस्थाके मानको सावधानतासे यथोचित रीतिपर जानना चाहिये । क्योंकि जबतक इन दोष आदिकोंका यथोचित ज्ञान न होगा तबतक वैद्यककी क्रियाका आरम्भ नहीं हो सकता । इन सबके प्रमाणको न जाननेवाला वैद्य व्याधिको दूर करनेमें समर्थ नहीं हो सकता । हे अग्निवेश ! इस लिये दोष आदिकोंके यथोचित प्रमाण जाननेके अर्थ विमानस्थानका कथन करते हैं । इनमें प्रथम रस और द्रव्य तथा दोष और विकार इनके विमान (प्रमाण) को कथन करते हैं ॥ १ ॥

रसोंका वर्णन ।

रसास्तावत् षट् मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाः । ते सम्यगुपयुज्यमानाः शरीरं यापयन्ति । मिथ्योपयुज्यमानास्तु खलु दोषप्रकोपनायोपकल्पयन्ति ॥ २ ॥

रस छः प्रकारके होते हैं। जैसे-मीठा, खट्टा, नमकीन, चरपरा, कड़ुआ और कसैला। यह छः रस उत्तम रीतिसे सेवन किये जानेपर शरीरको पालन करते हैं। और यही छः रस अनुचित रीतिसे उपयोग किये हुए दोषोंके प्रकोपके कारण हैं ॥ २ ॥

दोषोंका वर्णन।

दोषाः पुनस्त्रयो वातपित्तश्लेष्माणः। ते प्रकृतिभूताः शरीरोपकारका भवन्ति। विकृतिमापन्नाः खलु नानाविधैर्विकारैः शरीरमुपतापयन्ति ॥ ३ ॥

दोष--तीन प्रकारके होते हैं। वात, पित्त और कफ। वह तीनों दोष परिमाणसे ठीक रहनेपर शरीरको पुष्ट करते हैं और विकृत होनेसे शरीरको अनेक प्रकारके रोगों द्वारा तपायमान करते हैं ॥ ३ ॥

रसों द्वारा दोषोंका चयापचय।

तत्र दोषमेकैकं त्रयस्त्रयो रसा जनयन्ति, त्रयस्त्रयश्चोपशमयन्ति। तद्यथा-कटुतिक्तकषाया वातं जनयन्ति, मधुराम्ललवणास्त्वेनं शमयन्ति। कट्वम्ललवणाः पित्तं जनयन्ति, मधुरतिक्तकषायाः पुनरेनं शमयन्ति। मधुराम्ललवणाः श्लेष्माणं जनयन्ति, कटुतिक्तकषायास्त्वेनं शमयन्ति ॥ ४ ॥

उनमें एक एक दोषको तीनतीन रस उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार तीनतीन रस शान्तिको करते हैं अर्थात् दोषोंको शमन करते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि तीनरस एक दोषको बढाते हैं और अन्य तीन रस उसी दोषको शान्त करते हैं। जैसे--चरपरा, कड़ुआ, कसैला यह तीनरस वायुको उत्पन्न करते हैं। उसी प्रकार मीठा, खट्टा और नमकीन यह तीन रस वायुको शान्त करते हैं। चरपरा, खट्टा और नमकीन यह तीन रस पित्तको उत्पन्न करते हैं और मीठा कड़ुआ, कसैला यह तीन रस पित्तको शान्त करते हैं। मीठा खट्टा, नमकीन यह तीन रस कफको उत्पन्न करते हैं और चरपरा, कड़ुआ, कसैला यह तीन रस कफको शान्त करते हैं ॥ ४ ॥

रसदोषसन्निपाते तु ये रसा यैर्दोषैः समानगुणाः समानगुणभूयिष्ठा वा भवन्ति ते तानभिवर्द्धयन्ति। विपरीतगुणास्तु विपरीतगुणभूयिष्ठा वा शमयन्त्यभ्यस्यमानाः। इत्येतद्व्यवस्थाहेतोः षट्त्वमुपदिश्यते रसानां परस्परेणासंसृष्टानाम्। त्रित्वञ्च दोषाणाम्। संसर्ग-

विकल्पविस्तारो ह्येषामपरिसंख्येयो भवति विकल्पभेदापरिसंख्येयत्वात् ॥ ५ ॥

शरीरमें कई एक रसों तथा दोषोंका मिलाप होनेपर जो रस जिस दोषके समान गुणवाले या अधिकांश समान गुणवाले हों उस दोषको बढाते हैं तथा समान गुणवालोंमें भी जिस दोषके बढानेवालोंकी अधिकता हो वह उसकीही वृद्धि करते हैं। इसी प्रकार विपरीत गुणवाले अथवा अधिकांश विपरीत गुणवाले रस दोषोंको शान्त करते हैं। उनमें भी विशेषतासे विपरीत गुणवाले जिस दोषसे विपरीत गुणवाले हों उसकोही शमन करते हैं। इस प्रकार व्यवस्था स्थापन करनेके लिये अलग अलग छः रसोंका कथन किया है और तीन दोषोंका कथन किया है। रसोंके संसर्ग जनित विकल्पोंसे इनकी संख्या परिमाणसे बढजातीहै अर्थात् असंख्य होजातेहैं। क्योंकि विकल्पद्वारा अंशांश कल्पनाकर भेद विशेषसे असंख्य होजाते हैं ॥ ५ ॥

तत्र खलु अनेकरसेषु द्रव्येष्वनेकदोषात्मकेषु च विकारेषु रसदोषप्रभावमेकैकत्वेनाभिसमीक्ष्य ततो द्रव्यविकारप्रभावतत्त्वं व्यवस्येत्। न त्वेवं खलु सर्वत्र। न हि विकृतिविषमसमवेतानां नानात्मकानां द्रव्याणां परस्परेण चोपहतानामन्यैश्च विकल्पनैर्विकल्पितानामवयवप्रभावानुमानेन समुदायप्रभावतत्त्वमध्यवसितुमशक्यम् ॥ ६ ॥

उन अनेक रसोंवाले अनेक द्रव्योंमें अनेक रस मिले हुए होनेपर उनके एकएक रसको अलग अलग जानकर द्रव्य प्रभाव जान लेना चाहिये। उसी प्रकार अनेक दोषोंके मिले हुए विकारोंमें कौन २ दोष कितने २ अंशसे मिला हुआ है इसको अलग अलग जानकर दोषप्रभाव जानलेना चाहिये। परन्तु सब जगह यही क्रम नहीं होता क्योंकि विकृत भाव तथा विषममानसे मिले हुए अनेक आत्मक द्रव्योंका एकके रससे दूसरेके रसका तथा आपसमें स्वभाव तत्त्वका परस्पर हनन होनेसे रसके समुदाय प्रभावका तत्त्व पृथक् पृथक् नहीं जाना जा सकता। उसी प्रकार विकृत और विषमभावसे मिले हुए दोषोंका आपसमें परस्पर हनन भाव होनेसे विकल्प जनित सूक्ष्म अंशोंका पृथक् पृथक् जान लेना भी कठिन होता है ॥ ६ ॥

तथायुक्ते हि समुदाये समुदायप्रभावतत्त्वमेवोपलभ्य ततो रसद्रव्यविकारप्रभावतत्त्वं व्यवस्येत्। तस्माद्रसप्रभावतश्च द्रव्यप्रभावतश्च दोषप्रभावतश्च विकारप्रभावतश्च तत्त्वमुपदेक्ष्यामः। तत्रैष रसद्रव्यदोषविकारप्रभाव उपदिष्टो भवति ॥ ७ ॥

इसलिये बहुतसे द्रव्य समुदायके मिलनेसे उस समुदायके प्रभावको जानकर फिर रस तथा द्रव्य एवम् विकार इनके प्रभावोंके जाननेका यत्न किया जासकता है। इसलिये रसप्रभावसे, द्रव्यप्रभावसे, दोषप्रभावसे और विकारप्रभावसे तत्त्वको कथन करते हैं ॥ ७ ॥

द्रव्यप्रभावका वर्णन।

द्रव्यप्रभावं पुनरुपदेक्ष्यामः। तैलसर्पिर्मधूनि वातपित्तश्लेष्मप्रशमनानि द्रव्याणि भवन्ति। तत्र तैलं स्नेहौष्ण्याद्गौरवोपपन्नत्वाद्वातं जयति सततमभ्यस्यमानम्। वातो हि रौक्ष्यशैत्यलाघवोपपन्नो विरुद्धगुणो भवति। विरुद्धगुणसन्निपाते हि भूयसाल्पमवजीयते। तस्मात्तैलं वातं जयति सततमभ्यस्यमानम् ॥ ८ ॥

रसके प्रभावको प्रथम कथन करचुके अब यहांपर द्रव्यके प्रभावको कहते हैं। जैसे–तैल, घृत, शहद यह वात, पित्त, कफको शमन करनेवाले द्रव्य होते हैं। इनमें तैल चिकना और गरम होनेसे, एवम् गौरवगुणविशिष्ट होनेसे, निरन्तर मालिश किया हुआ अथवा विधिपूर्वक खाया हुआ वायुको शान्त करता है। क्योंकि वायु तैलके गुणसे विरुद्ध गुणवाला रूक्ष, शीतल और हलकापन युक्त होता है। दो प्रकारके विरुद्धगुण आपसमें मिलनेसे भारी गुण अल्प गुणको जीत लेते हैं। इसलिये अभ्यास किया हुआ तैल अपने स्निग्धादि गुणोंद्वारा वायुको जीतलेता है ॥ ८ ॥

सर्पिः खलु एवमेव पित्तं जयति माधुर्य्याच्छैत्यान्मन्दवीर्य्यत्वाच्च। पित्तं ह्यमधुरमुष्णं तीक्ष्णम् ॥ ९ ॥

इसी प्रकार सेवन किया हुआ घृत भी पित्तको जीतलेताहै। घृत मीठा, शीतल और मंद होनेसे मधुरतारहित उष्ण और तीक्ष्ण इन विपरीत गुणोंवाले पित्तको जीतलेताहै ॥ ९ ॥

मधु च श्लेष्माणं जयति रौक्ष्यात् तैक्ष्ण्यात् कषायत्वाच्च। श्लेष्मा हि स्निग्धो मन्दो मधुरश्च ॥ १० ॥

शहद रूक्ष, कषाय और तीक्ष्ण होनेसे स्निग्ध, मंद, मधुर इन विपरीत गुणोंवाले कफको जीतलेताहै ॥ १० ॥

यच्चान्यदपि किञ्चिद् द्रव्यमेवं वातपित्तकफेभ्यो गुणतो विपरीतं तच्चैताञ्जयत्यभ्यस्यमानम् ॥ ११ ॥

इसी प्रकार अन्य भी जो द्रव्य वात, पित्त, कफसे गुणोंमें विपरीत हो वह भी विधिवत् सेवन किये हुए इनको जीतलेतेहैं ॥ ११ ॥

अथ खलु त्रीणि द्रव्याणि नात्युपयुञ्जीताधिकमन्येभ्यो द्रव्येभ्यः। तद्यथा--पिप्पली क्षारं लवणमिति। पिप्पल्यो हि कटुकाः सत्यो मधुरविपाका गुर्व्यो नात्यर्थम्। स्निग्धोष्णाः प्रक्लेदिन्यो भेषजाभिमताश्च। ताः सद्यः शुभाशुभकारिण्यो भवन्त्यापातभद्राः प्रयोगसमसाद्गुण्याद्दोषसञ्चयानुबन्धाः। सततमुपयुज्यमाना हि गुरुप्रक्लेदित्वात् श्लेष्माणमुत्क्लेशयन्ति। औष्ण्यात् पित्तम्। न च वातप्रशमनायोपकल्पन्ते अल्पस्नेहोष्णभावात्। योगवाहिन्यस्तु खलु भवन्ति। तस्मात् पिप्पलीर्नात्युपयुञ्जीत ॥ १२ ॥

किसी योगमें भी और द्रव्योंसे इन तीन द्रव्योंको अधिक प्रयोग नहीं करना चाहिये। जैसे--पिप्पली, क्षार और लवण। क्योंकि पीपल चरपरी है और शीघ्र मधुर विपाक होजातीहै, अत्यन्त भारी नहीं है एवम् स्निग्ध, उष्ण, क्लेदकर्त्ता तथा औषधियोंमें मुख्य है सो वह पीपली प्रयोग करनेसे शीघ्र ही अपने शुभ और अशुभ गुणोंको करतीहै। किसी रोगमें देते ही हितकारक होजातीहै। इसका निरन्तर प्रयोग करनेसे दोषोंका संचय होताहै। क्योंकि यह भारी और क्लेदी होनेसे कफको उठाती है। गर्म होनेसे पित्तको प्रबल करतीहै। इसमें स्नेह और उष्णता अधिक न रहनेसे वायुको भी शान्त नहीं करती परन्तु किसी योगमें मिलाकर दीहुई योगवाही होनेसे उस योगके समान गुण करनेवाली अवश्य होतीहै। इसलिये पिप्पलीक अधिक और निरन्तर सेवन नहीं करना चाहिये ॥ १२ ॥

क्षारसेवनका निषेध।

क्षारः पुनरौष्ण्यतैक्ष्ण्यलाघवोपपन्नः क्लेदयत्यादौ पश्चात् विशोधयति। स पचनदहनभेदनार्थमुपयुज्यते। सोऽतिप्रयुज्यमानः केशाक्षिहृदयपुंस्त्वोपघातकरः सम्पद्यते। ये ह्येनं ग्रामनगरनिगमजनपदाः सततमुपयुञ्जते ते ह्यान्ध्यषाण्ड्यखालित्यपालित्यभाजो हृदयोपकर्तिनश्च भवन्ति। तद्यथा--प्राच्याश्चीनाश्च। तस्मात् क्षारं नात्युपयुञ्जीत ॥ १३ ॥

क्षार उष्ण, तीक्ष्ण और हलका होता है। प्रथम गीलापन उत्पन्नकर फिर शोधन करदेता है। पाचन, दहन एवम् भेदन करनेके लिये क्षारका प्रयोग कियाजाता है। वह क्षार अत्यन्त सेवन किया जानेसे केश, नेत्र, हृदय और पुंस्त्वशक्तिको नष्ट करने-

वाला होता है । ग्राम, नगर, प्रान्त, देशमें रहनेवाले जो लोग क्षारका अधिक सेवन करते हैं । वह लोग अंधे, नपुंसक, गंजे, सफेदबालोंवाले एवम् हृदयके रोगयुक्त होते हैं । जैसे कि पूर्व और चीनमें रहने वाले लोग । इसलिये क्षारका अधिक प्रयोग नहीं करना चाहिये ॥ १३ ॥

लवणसेवनका निषेध ।

लवणं पुनरौष्ण्यतैक्ष्ण्योपपन्नमनतिगुरु अनतिस्निग्धमुपक्लेदि विस्रंसनसमर्थमन्नद्रव्यरुचिकरमापातभद्रम् । प्रयोगातिरेकाद्दोषसञ्चयानुबन्धम् । तद्रोचनपाचनोपक्लेदनविस्रंसनार्थमुपयुज्यते । तदत्यर्थमुपयुज्यमानं ग्लानिशैथिल्यदौर्बल्याभिनिर्वृत्तिकरं शरीरस्य भवति । ये ह्येतद् ग्रामनगरनिगमजनपदाः सततमुपयुञ्जते, ते भूयिष्ठं ग्लास्नवः शिथिलमांसशोणिता भवन्ति अपरिक्लेशसहाश्च । तद्यथा बाह्लीकसौराष्ट्रिकसैन्धवसौवीरकाः । ते हि पयसापि सदा लवणमश्नन्ति । येऽपीह भूमेरत्यूषरा देशास्तेषु औषधिवीरुद्वनस्पतिवानस्पत्या न जायन्ते । अल्पतेजसो वा भवन्ति लवणोपहतत्वात् । तस्माल्लवणं नात्युपयुञ्जीत । ये ह्यतिलवणसात्म्याः पुरुषास्तेषामपि खालित्येन्द्रलुप्तपालित्यानि तथा वलयश्चाकाले भवन्ति । तस्मात् तेषां तत्सात्म्यतः क्रमेणापगमनं श्रेयः ॥ १४ ॥

लवण गर्म, तीक्ष्ण, किंचित् भारी, किंचित् स्निग्ध, क्लेदकारक, स्रंसन अन्नादि द्रव्योंमें रुचिकारक, किसी द्रव्यमें डालते ही अपने गणको करनेवाला होता है। अत्यन्त सेवन करनेसे दोषोंको संचित करता है। इसलिये यह केवल रुचि उत्पन्न करनेके लिये, पाचनके लिये तथा क्लेदन और स्रंसन होनेसे इसका उचित रीतिपर प्रयोग कियाजाता है । इसके अधिक सेवन करनेसे शरीरमें ग्लानि, शिथिलता, दुर्बलता यह उत्पन्न होते हैं । ग्राम, नगर, प्रान्त तथा देशोंमें जो लोग लवणका अधिक सेवन करते हैं उनके शरीरमें ग्लानि, मांस और रुधिरमें शिथिलता होती है तथा वह सामान्य क्लेशको भी सहन नहीं करसकते । जैसे बाह्लीक, सौराष्ट्र, सिन्ध, सौवीर देशोंके रहनेवाले मनुष्य दूधके साथमें भी लवणको भक्षण करते हैं । जिन देशोंमें अत्यन्त ऊषर भूमि है उनमें क्षारकी अधिकता होनेसे ओषधी, वीरुध, वनस्पती और वानस्पत्य इन चार प्रकारकी औषधियोंमेंसे कोई भी उत्पन्न नहीं होती । यदि कोई हो भी जाय तो उस पृथ्वीके लवणके बलसे उन औषधियोंका तेज माराजाता है ।

इसलिये लवणका अधिक उपयोग नहीं करना चाहिये । जिन मनुष्योंको लवण सात्म्य है उनको भी अधिक सेवन करनेसे गंजापन, बालोंका सफेद होना, बालोंका उखडना, शरीरमें छोटी उमरमें सरवट पडना यह विकार होते हैं । इसलिये लवण जितना रुचि आदिके लिये सेवन करना उचित हो उससे अधिक नहीं खाना चाहिये ॥ १४ ॥

सात्म्यके लक्षण ।

सात्म्यमपि हि क्रमेणोपनिवर्त्त्यमानमदोषमल्पदोषं वा भवति । सात्म्यं नाम तद्यदात्मनि उपशेते । सात्म्यार्थो ह्युपशयार्थः । तत् त्रिविधं प्रवरावरमध्यविभागेन, सप्तविधञ्च रसैकैकत्वेन सर्वरसोपयोगाच्च । तत्र सर्वरसं प्रवरमवरमेकरसम्, मध्यमं तु प्रवरावरमध्यस्थम् । तत्रावरमध्याभ्यां सात्म्याभ्यां क्रमेण प्रवरमुपपादयेत्सात्म्यम् । सर्वरसमपि च द्रव्यं सात्म्यमुपपन्नं सर्वाणि आहारविधिविशेषायतनानि अभिसमीक्ष्य हितमेवानुरुध्यते ॥ १५ ॥

यदि किसी हानिकारक वस्तुके सेवनका अभ्यास होगया हो (जैसे अफीम शंखिया आदि) तो उसको धीरेधीरे क्रमपूर्वक छोडदेना चाहिये । ऐसा करनेसे अल्पदोष अथवा निर्दोष होजाता है । जो पदार्थ अपने शरीरको हितकारी हो उसको सात्म्य कहते हैं । सात्म्यका जो अर्थ है उपशयका भी वही अर्थ है । वह सात्म्य-उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ इन भेदोंसे तीन प्रकारका है । फिर वह मधुर आदि एक एक रसके योगसे तथा एकसाथ सम्पूण रसोंके योग भेदसे सात प्रकारका होता है । उनमें सब रसोंका अभ्यास उत्तम होता है । एक रसका उपयोग कनिष्ठ माना जाता है । कनिष्ठ और उत्तमके मिलनेसे मध्यम सात्म्य होता है । उनमें कनिष्ठ और मध्यम सात्म्योंसे क्रमपूर्वक उत्तम सात्म्यका अभ्यास करना चाहिये । संपूर्ण रसोंको तथा संपूर्ण द्रव्योंको सात्म्य होनेपर एवम् आहार विधिके विशेष आयतनोंको विचारकर अहित पदार्थोंको त्याग देवे एवं हितोंका सेवन करे ॥ १५ ॥

आहारके आयतन ।

तत्र खल्विमानि अष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति । तद्यथा-प्रकृतिकरणसंयोगराशिदेशकालोपयोगसंस्थोपयोक्त्रष्टमानि भवन्ति॥ १६

उनमें आहार विधिक यह अष्टविध आयतन कथन किये हैं । जैसे-प्रकृति, करण, संयोग, राशि, देश, काल, उपयोग, संख्या तथा उपयोगको करनेवाला यह आठ आयतन हैं ॥ १६ ॥

प्रकृतिका वर्णन ।

तत्र प्रकृतेरुच्यते स्वभावो यः । स पुनराहारौषधद्रव्याणां स्वाभाविको गुर्वादिगुणयोगः । तद्यथा—माषमुद्गयोः शूकरैणयोश्च ॥ १७ ॥

इनमें प्रकृति--स्वभावको कहते हैं । आहार और औषध द्रव्योंका जो स्वाभाविक गुरु आदि गुणका योग है उसको प्रकृति कहतेहैं । जैसे–उडद स्वभावसे ही भारी है और मूंग स्वभावसे ही हल्के गुणवाला है । सूअरका मांस–स्वभावसे ही भारी गुणवाला है और हिरनका मांस स्वभावसे ही हलका होताहै ॥ १७ ॥

करणका वर्णन ।

करणं पुनः स्वाभाविकानां द्रव्याणामभिसंस्कारः । संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते । ते गुणाश्च तोयाग्निसन्निकर्षशौचमन्थनदेशकालवशेन भावनादिभिः । कालप्रकर्षभाजनादिभिश्चाभिधीयन्ते ॥ १८ ॥

स्वाभाविक द्रव्योंके संस्कारको करण कहते हैं । संस्कारका अर्थ गुणान्तरको प्राप्त करना है वह गुण–जल और अग्निके सन्निकर्षसे एवम् शौच, मन्थन, देश, काल बल, भावना आदिसे तथा समयके उत्कर्षसे एवम् पात्रादिकोंके संसर्गसे गुणान्तरको प्राप्त होते हैं ॥ १८ ॥

संयोगका वर्णन ।

संयोगस्तु द्वयोर्बहूनां वा द्रव्याणां संहतीभावः । स विशेषमारभते यं पुनर्नैकैकशो द्रव्याणि आरभन्ते । यथामधुसर्पिषोर्मधुमत्स्यपयसाञ्च संयोगः ॥ १९ ॥

दो अथवा बहुतसे द्रव्योंका संसर्ग होना संयोग कहाताहै । द्रव्योंका इकठे (अकेले२ नहीं) संयोग विशेष होनेसे गुण उत्पन्न होताहै । जैसे–शहद और घृतको समान भागमें लानेसे एवम् शहद मछली और दूधके मिलानेसे विषके समान गुण उत्पन्न होजाताहै ॥ १९ ॥

राशिका वर्णन ।

राशिस्तु सर्वग्रहपरिग्रहौ मात्रामात्राफलविनिश्चयार्थः प्रकृतः । तत्र सर्वस्याहारस्य प्रमाणग्रहणमेकपिण्डेन सर्वग्रहः । परिग्रहश्च पुनः प्रमाणग्रहणमेकैकत्वेनाहारद्रव्याणाम् । सर्वस्य हि ग्रहः सर्वग्रहः, सर्वतश्च ग्रहः परिग्रहः उच्यते ॥ २० ॥

राशि–सब द्रव्योंके सर्वग्रह और परिग्रहको कहते हैं । इसका वर्णन मात्रा और अमात्राके फलनिश्चयार्थ किया है उनमें सब प्रकारके भोजन सामग्रीका गोलासा

बनाकर खाना सर्वग्रह कहा जाताहै। व्यंजन आदि आहार द्रव्योंको अलग अलग भक्षण करनेको परिग्रह कहते हैं। सब द्रव्योंको मिला एकसाथ ग्रहण करनेको सर्वग्रह कहते हैं और सबमेंसे किसी एक २ पदार्थके खानेको परिग्रह कहतेहैं ॥ २० ॥

देशका वर्णन ।

देशः पुनः स्थानं द्रव्याणामुत्पत्तिप्रचारौ देशसात्म्यञ्चाचष्टे ॥ २१ ॥

देश स्थानको कहते हैं। वहांके द्रव्योंकी उत्पत्ति और प्रचार देखकर (उनके समान विपरीतादि गुण विचारकर) उसका सात्म्य जान लेना चाहिये ॥ २१ ॥

कालका वर्णन ।

कालो हि नित्यगश्चावस्थिकश्च । तत्रावस्थिको विकारमपेक्ष्यते । नित्यगस्तु खलु ऋतुसात्म्यापेक्षः ॥ २२ ॥

काल दो प्रकारका होता है। नित्यग, आवस्थिक। उनमें आवस्थिककाल विकारकी अपेक्षा करताहै अर्थात् बाल्यावस्थासे विकृति प्राप्त होकर तरुणावस्थामें प्राप्त होना आवस्थिककाल कहा जाता है। नित्यगकाल ऋतु और सात्म्यकी अपेक्षा करताहै। अर्थात् नित्यगकाल क्षण, दिवस, मास, ऋतु आदिके चक्रको कहते हैं ॥ २२ ॥

उपयोगका वर्णन ।

उपयोगसंस्था तूपयोगनियमः । स जीर्णलक्षणापेक्षः ॥ २३ ॥

भोजन आदिके उपयोगके नियमको उपयोग कहते हैं। वह उपयोग विधिवत् होनेसे यथोचित रीतिपर भोजनादि जीर्ण होजाते हैं ॥ २३ ॥

उपयोक्ता और ओकसात्म्यका वर्णन ।

उपयोक्ता पुनर्यस्तमाहारमुपयुंक्ते । यदायत्तमोकसात्म्यम् ॥ २४ ॥

उपयोक्ता भोजनके उपयोग करनेवालेको कहते हैं। भोक्ता मनुष्य अपने आधीन भोजनको करके यथोचित रीतिपर पचावे उसको ओकसात्म्य कहते हैं ॥ २४ ॥

इत्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति । एषां विशेषाः शुभाशुभफलप्रदाः परस्परोपकारका भवन्ति । तान् बुभुत्सेत । बुद्ध्वा च हितेप्सुरेव स्यान्न च मोहात्प्रमादाद्वाप्रियमाहितमसुखोदर्कमुपसेव्यमाहारजातमन्यद्वा ॥ २५ ॥

इस प्रकार आहारविधिके आठ आयतन विशेषोंका कथन किया है। यह आहारका अष्टविध भेद शुभ और अशुभ फलको देनेवाला है एवम् परस्पर उपकारकारक है। इसलिये आहारविधिको यथोचित रीतिपर जानकर हितकी इच्छावाला मनुष्य मोहसे और प्रमादसे भी अपने अहित और सुखके नष्ट करनेवाले पदार्थोंको सेवन न करे ॥ २५ ॥

आहार विधि।

तत्रेदमाहारविधिविधानमरोगाणामपि चातुराणां हितम् । केषाञ्चित्काले प्रकृत्यैव हिततमं भुञ्जानानां भवति । उष्णं स्निग्धं मात्रावज्जीर्णे वीर्य्याविरुद्धं इष्टे देशे इष्टसर्वोपकरणं नातिद्रुतं नातिविलम्बितं न जल्पन्न हसंस्तन्मना भुञ्जीत । आत्मानमभिसमीक्ष्य सम्यक् ॥ २६ ॥

यह आहार विधिसे सेवन करना आरोग्य मनुष्योंके लिये तथा रोगियोंके लिये हितकर होता है। और समयपर भोजन करना स्वभावसे ही भोजनकर्त्ताको हितकारक होता है। तथा किसी २ के लिये कोई नियत समय हितकर होता है। अब आहारकी विधिको कथन करते हैं। गर्म, चिकना और परिमाणका भोजन–प्रथम भोजनके पाचन होनेपर खाना चाहिये। वह भोजन अविरुद्धवीर्य होना चाहिये तथा पवित्रस्थानमें बैठकर वांछित सब पदार्थोंसे युक्त हो, भोजनको न बहुत जल्दी न बहुत देरमें करना चाहिये। और भोजन करते हुए बहुत बोलना और हंसना त्याग कर भोजनमें मन लगाकर अपने शरीरके बलाबलको देखकर भोजन करे ॥ २६ ॥

उष्णभोजनके गुण।

तस्य साद्गुण्यमुपदेक्ष्यामः । उष्णमश्नीयात् । उष्णं हि भुज्यमानं स्वदते । भुक्तञ्चाग्निमौदर्य्यमुदीरयति । क्षिप्रञ्च जरां गच्छति, वातञ्चानुलोमयति, श्लेष्माणञ्च परिशोषयति । तस्मादुष्णमश्नीयात् ॥ २७ ॥

उस भोजनके विधिवत् किये जानेसे जो उत्तम गुण होते हैं उनका वर्णन करते हैं। भोजन सदैव ताजा और गर्म करना चाहिये। क्योंकि उस आहारमें स्वादुशक्ति उत्तम रहती है एवम् उससे अग्नि चैतन्य होकर आहारको पाचन करती है। और वह आहार शीघ्र जीर्ण होजाता है। गर्म आहारके भोजन करनेसे वायुका अनुलोम होता है और कफका परिशोषण होता है। इसलिये गर्म आहारका ही सेवन करना चाहिये ॥ २७ ॥

स्निग्धभोजनके गुण।

स्निग्धमश्नीयात् । स्निग्धं हि भुज्यमानं स्वदते । भुक्तञ्चाग्निमुदीरयति, क्षिप्रं जरां गच्छति, वातमनुलोमयति, दृढीकरोति । शरीरोपचयं बलाभिवृद्धिञ्चोपजनयति, वर्णप्रसादमपि चाभिनिर्वर्त्तयति । तस्मात् स्निग्धमश्नीयात् ॥ २८ ॥

भोजन सदैव चिकना करना चाहिये । चिकने पदार्थोंका स्वादु उत्तम होता है। और भोजन कियेजानेपर अग्निको बलवान् करता है । तथा वायुको अनुलोमन करता है। एवम् शरीरको दृढ तथा पुष्ट करता है और बलकी वृद्धिको उत्पन्न करता है। वर्णको प्रसन्न करता है इसलिये आहारको घृतयुक्त कर खाना चाहिये ॥ २८ ॥

मात्रावत्भोजनका गुण।

मात्रावदश्नीयात् । मात्रावद्धि भुक्तं वातपित्तकफानप्रपीडयदायुरेव विवर्द्धयति केवलम् । सुखं सम्यकपक्कं विड्भूतं गुदमनुपर्य्येति । न चोष्माणमुपहान्ति ।अव्यथश्च परिपाकमेति । तस्मान्मात्रावदश्नीयात् ॥

भोजन सदैव परिमाणसे करना चाहिये। परिमाणसे कियाहुआ भोजन वात, पित्त, कफको साम्यावस्थामें रखताहुआ आयुको बढता है । और सुखपूर्वक पाचन होजाता है । इसका मलभाग मलस्थान द्वारा यथोचित रीतिसे निकल जाता है जठराग्निकी गर्मीमें किसी प्रकारको विघ्न न करके परिपाकको प्राप्त होजाता है । इसलिये भोजन उचित मात्रासे करना चाहिये ॥ २९ ॥

जीर्णभोजनमें भोजनके गुण।

जीर्णेऽश्नीयात् । अजीर्णे हि भुञ्जानस्य पूर्वस्याहारस्य रसमपरिणतमुत्तरेणाहाररसेनोपसृजन् सर्वान् दोषान्प्रकोपयत्याशु । जीर्णे तु भुञ्जानस्य स्वस्थानस्थेषु दोषेषु अग्नौ चोदीर्णे जातायाञ्च बुभुक्षायां विवृतेषु च स्रोतसां मुखेषु चोद्गारे विशुद्धे हृदये विशुद्धे वातानुलोम्ये विसृष्टेषु च वातमूत्रपुरीषवेगेषु जीर्णमभ्यवहृतमाहारजातं सर्वशरीरधातूनप्रदूषयदायुरेवाभिवर्द्धयति केवलम् । तस्माज्जीर्णे अश्नीयात् ॥ ३० ॥

प्रथम दिनका आहार जीर्ण होजानेपर तब भोजन करना चाहिये। अजीर्णमें भोजन करनेसे अर्थात् पहिले किये हुए आहारका रस शरीरमें यथोचित रीतिपर पचजानेके विना भोजन करनेसे उस दूसरे आहारके साथ मिलकर दोषोंको कुपित करता है। और पहिला भोजन पचजानेपर फिर भोजन कियाजाय तो दोष अपने २ स्थानोंमें स्थित रहते हैं। अग्नि चैतन्य होकर भूख लगाती है और नाडियोंके मुख शुद्ध होकर डकार शुद्ध आती है। हृदय शुद्ध रहता है। वायुका अनुलोम होता है। वात, मूत्र, मल ये अपने समयपर ठीक निकलते हैं। वह आहार यथोचित रीतिपर जीर्ण होकर धातुओंको दूषित न करता हुआ केवल आयुको बढाता है ॥ ३० ॥

वीर्य्याविरुद्धभोजनके गुण ।

वीर्य्याविरुद्धमश्नीयात् । अविरुद्धवीर्य्यमश्नन् हि न विरुद्धवीर्य्याहारजैर्विकारैरयमुपसृज्यते । तस्माद्वीर्य्याविरुद्धमश्नीयात् ॥ ३१ ॥

अविरुद्ध वीर्यवाले पदार्थोंका सेवन करना चाहिये । अविरुद्ध वीर्यवाले पदार्थोंके खानेसे जो विकार विरुद्धवीर्य आहारसे उत्पन्न होते हैं वह नहीं होते । इसलिये विरुद्धवीर्य पदार्थोंको न खाना चाहिये ॥ ३१ ॥

इष्टदेशमें भोजनका गुण ।

इष्टे देशेऽश्नीयात् । इष्टे हि देशे भुञ्जानो नानिष्टदेशजैर्मनोविघातकरैर्भावैर्मनोविघातं प्राप्नोति । तथेष्टैः सर्वोपकरणैस्तस्मादिष्टे देशे तथेष्टसर्वोपकरणञ्चाश्नीयात् ॥ ३२ ॥

अर्थात् पवित्रस्थानमें भोजन करना चाहिये । पवित्रस्थानमें भोजन करनेवाले मनुष्यको दुष्टस्थानजनित मनमें ग्लानि आदि उत्पन्न नहीं होती । इसलिये वांछित स्थानमें मनको प्यारे लगनेवाले, उत्तम उपकरणोंके सहित भोजन करे ॥ ३२ ॥

नातिद्रुतभोजनके गुण ।

नातिद्रुतमश्नीयात् । अतिद्रुतं हि भुञ्जानस्य उत्स्नेहनमवसदनं भोजनस्याप्रतिष्ठानम् । भोज्यदोषसाद्गुण्योपलब्धिश्च न नियता । तस्मान्नातिद्रुतमश्नीयात् ॥ ३३ ॥

अत्यन्त जल्दी भोजन नहीं करना चाहिये । अत्यन्त जल्दी भोजन करनेसे शरीरके स्नेहकी ऊर्ध्वगति, देहका रहजाना एवम् किया हुआ आहार यथोचित रीतिपर अपने स्थानमें नहीं पहुंच सकता और जो भोजन किया जाय उसका यथोचित दोष, गुण प्रतीत नहीं होसकता इसलिये भोजनको अत्यन्त शीघ्र नहीं करना चाहिये ॥ ३३ ॥

नातिविलम्बित भोजनके गुण ।

नातिविलम्बितमश्नीयात् । अतिविलम्बितं हि भुञ्जानो न तृप्तिमधिगच्छति, बहुभुंक्ते शीतीभवति चाहारजातं विषमपाकञ्च भवति । तस्मान्नातिविलम्बितमश्नीयात् ॥ ३४ ॥

बहुत देरमें भी भोजन नहीं करना चाहिये । बहुत देरमें भोजन करनेसे मनुष्य तृप्तिको प्राप्त नहीं होता । और बहुत भोजन करता है एवम् भोजनके पदार्थ शीतल होजाते हैं तथा आहारका विषम परिपाक होता है इसलिये अधिक देरमें भोजन नहीं करना चाहिये ॥ ३४ ॥

मौनसे भोजनके गुण।

अजल्पन्नहसंस्तन्मना भुञ्जीत। जल्पतो हसतोऽन्यमनसो वा भुञ्जानस्य त एव हि दोषा भवन्ति य एवातिद्रुतमश्नतः। तस्मादजल्पन्नहसंस्तन्मना भुञ्जीत ॥ ३५ ॥

भोजन करते हुए–हंसना और बहुत बोलना नहीं चाहिये। तथा भोजनमें चित्त लगाकर भोजन करना चाहिये। हंसते हुए और बोलते हुए तथा दूसरी जगह चित्त लगाकर भोजन करनेसे जो अवगुण बहुत शीघ्र भोजन करनेसे होते हैं सोई इनमें भी होते हैं।इसलिये चुपचाप हास्य रहित भोजनमें चित्त लगा भोजन करना चाहिये॥३५॥

आत्माको देखकर भोजनके गुण।

आत्मानमभिसमीक्ष्य भुञ्जीत सम्यक्। इदं ममोपशेते, इदं नोपशेते इति। विदितं हि अस्य आत्मन आत्मसात्म्यं भवति। तस्मादात्मनात्मानमभिसमीक्ष्य भुञ्जीत सम्यक्। इति ॥ ३६ ॥

अपने शरीरके बलाबलको विचारकर ही विधिवत् भोजन करना चाहिये कि यह पदार्थ मुझे सात्म्य है और यह असात्म्य है। इस प्रकार विचारकर भोजन किया हुआ अन्न शरीरके सात्म्य अर्थात् अनुकूल होता है। इस लिये अपनी अग्निका बलाबल विचारकर जो पदार्थ अपने शरीरको हितकर हो वह खाना चाहिये ॥ ३६ ॥

तत्र श्लोकाः–रसान्द्रव्याणि दोषांश्च विकारांश्च प्रभावतः।
वेद यो देशकालौ च शरीरञ्च स ना भिषक् ॥ ३७ ॥
विमानार्थो रसद्रव्यदोषरोगाः प्रभावतः।
द्रव्याणि नातिसेव्यानि त्रिविधं सात्म्यमेव च ॥ ३८ ॥
आहारायतनान्यष्टौ भोज्यसाद्गुण्यमेव च।
विमाने रससंख्याते सर्वमेतत्प्रकाशितम् ॥ ३९ ॥

इति अग्निवेशकृते तंत्रे चरकप्रतिसंस्कृते विमानस्थाने
रसविमानं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अब अध्यायका उपसंहार करते हैं। यहांपर श्लोक हैं–कि जो मनुष्य रस, द्रव्य, दोष और रोगोंके प्रभावको जानता है और देश, काल तथा शारीरिक अवस्थाको जानता है उसीको वैद्य कहना चाहिये ॥ इस रसविमाननामक अध्यायमें विमानका अर्थ, रसके प्रभाव, द्रव्यके प्रभाव, दोषोंके प्रभाव एवम् रोगोंके प्रभाव तथा आहार-

विधि और अत्यन्त न सेवन करनेयोग्य द्रव्य, तीन प्रकारका सात्म्य आठ प्रकारके आहारके आयतन, आहारके गुण ये सब वर्णन किये गये हैं ॥ ३७-३९ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां विमानस्थाने पटियालाराज्यान्तर्गतटकसालनिवासिवैद्यपञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादव्याख्यभाषाटीकायां रसविमानं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः ।

अथातस्त्रिविधकुक्षीयं विमानं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम त्रिविधकुक्षीय विमानका कथन करते हैं । इस प्रकार भगवान् आत्रेयजी कहनेलगे ॥

त्रिविधकुक्षीयका वर्णन ।

त्रिविधं कुक्षौ स्थापयेदवकाशांशमाहारस्याहारमुपयुञ्जानः । तद्यथैकमवकाशांशं मूर्त्तानामाहारविकाराणामेकं द्रवाणामेकं पुनर्वातपित्तश्लेष्मणाम् ॥ १ ॥

भोजन करते समय-उदरमें तीन विभाग करने चाहिये । उनमें उदरके एक भागको पेडा, पूडी आदि गरिष्ठ पदार्थोंसे पूरित करना चाहिये । और एक भागको खीर, दूध आदि पतले पदार्थोंसे पूरित करना चाहिये । तीसरा भाग वात, पित्त, कफके संचारके लिये खाली रखना चाहिये ॥ १ ॥

एतावतीं ह्याहारमात्रामुपयुञ्जानो नामात्राहारजं किञ्चिदशुभं प्राप्नोति । न च केवलं मात्रावत्त्वादेवाहारस्य कृत्स्नमाहारफलसौष्ठवमवाप्तुं शक्यम् । प्रकृत्यादीनामष्टानामाहारविधिविशेषायतनानां प्रविभक्तफलकत्वात् । तत्र तावदाहारराशिमधिकृत्य मात्रामात्राफलविनिश्चयार्थः प्रकृतः । एतावानेव ह्याहारराशिविधिविकल्पो यावन्मात्रावत्त्वममात्रावत्त्वञ्च । तत्र मात्रावत्त्वं पूर्वमुपादिष्टं कुक्ष्यंशविभागेन । तद्भूयो विस्तरेणानुव्याख्यास्यामः ॥ २ ॥

यही आहारकी मात्रा है । इस प्रकार मात्रासे भोजन करनेवाला मनुष्य आहारजनित विकारोंसे बचा रहता है अर्थात् उसको आहारजनित कोई रोग नहीं होता

और यथोचित रीतिपर भोजन करनेके कारण आहार करनेके उत्तम फल होते हैं और शरीरको पुष्टता आदि उत्तम गुण प्राप्त होते हैं । संपूर्ण आहार पूर्वोक्त आहारके आठ आयतनोंको विचारकर फिर मात्रानुसार भोजन करना चाहिये । आहारके समूहमें इतना ही विधि और विकल्प है कि उसको मात्रा और अमात्राको विचारकर भोजन करे । मात्राक्रमसे भोजन करना उदरके अंश विभागसे प्रथम कथन कर चुके हैं । अब उसका विस्तारपूर्वक फिर वर्णन करते हैं ॥ २ ॥

तद्यथा–कुक्षेरप्रपीडनमाहारेण, हृदयस्यानवरोधः, पार्श्वयोरविपाटनमनतिगौरवमुदरस्य, प्रीणनमिन्द्रियाणाम्, क्षुत्पिपासोपरमः, स्थानासनशयनगमनप्रश्वासोच्छ्वासहास्यसंकथासु च सुखानुवृत्तिः, सायं प्रातश्च सुखेन परिणमनम् । बलवर्णोपचयकरत्वञ्चेति मात्रावतो लक्षणमाहारस्य भवति ॥ ३ ॥

आहारको इस प्रकार करना चाहिये जिससे कोखमें पीडा न हो और हृदयका अवरोध न हो । दोनों तरफके पार्श्वभाग फटें नहीं, पेटमें अधिक भारीपन न हो । इस प्रकार मात्रानुसार भोजन करनेसे–इंद्रियें पुष्ट होती हैं । क्षुधा और प्यास शान्त होती है । बैठने, सोने, चलने, श्वास, प्रतिश्वास लेनेमें तथा हंसने और बोलने आदिमें सुख प्राप्त होताहै । सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय आहार पाचन हुआ प्रतीत होताहै तथा मलादि वेग ठीक परिमाणसे ही निकलते हैं । बल और वर्णकी वृद्धि होती है । ठीक मात्रापूर्वक आहार करनेके यह लक्षण होते हैं ॥ ३ ॥

अमात्राके भेद ।

अमात्रावत्त्वं पुनर्द्विविधमाचक्षते । हीनमधिकञ्च । तत्र हीनमात्राहारराशिं बलवर्णोपचयक्षयकरमतृप्तिकरमुदावर्तकरमवृष्यमनायुष्यमनौजस्यं मनोबुद्धीन्द्रियोपघातकरं सारविधमनमलक्ष्म्यावहमशीतेश्च वातविकाराणामायतनमाचक्षते ॥ ४ ॥

अमात्राके दो भेद हैं । १ हीनमात्रा । २ अधिकमात्रा । हीनमात्रासे भोजन किया जाय तो–बल, वर्ण और पुष्टिकी क्षीणता, पेटका नहीं भरना, उदावर्तरोग तथा अवृष्यता होती है । वह आयुको नहीं बढाता, ओज, मन, बुद्धि, इन्द्रिय इन सबकी शक्ति हीन होती है । सारका प्रधमन, (इसी विमानस्थानके आठवें अध्यायमें आठ प्रकारके सारोंका कथन किया जायगा) अलक्ष्मी एवम् अस्सी प्रकारकी वातव्याधियें उत्पन्न होती हैं ॥ ४ ॥

अतिमात्रं पुनः सर्वदोषप्रकोपनमिच्छन्ति सर्वकुशलाः ॥ ५ ॥

अब अधिकमात्रासे भोजनके अवगुणोंको कथन करते हैं। सब दोषोंको जानने-वाले बुद्धिमान् कथन करते हैं कि, अधिक मात्रासे भोजन कियाहुआ आहार संपूर्ण दोषोंको कुपित करताहै ॥ ५ ॥

दोषोंके कुपितहोनेका कारण ।

यो हि मूर्त्तानामाहारविकाराणां सौहित्यं गत्वा पश्चाद्द्रवैस्तृप्तिमापद्यते भूयस्तस्यामाशयगता वातपित्तश्लेष्माणोऽभ्यवहारेण अतिमात्रेणातिप्रपीड्यमानाः सर्वे युगपत्प्रकोपमापद्यन्ते ॥ ६ ॥

जो मनुष्य पूडी आदि कडे पदार्थोंसे पेट भरकर फिर दूध, जल आदिसे पेटको पूर्णकर लेताहै उस मनुष्यके आमाशयमें प्राप्तहुए वात, पित्त, कफ अधिक भोजन कर-नेसे पीडित हुए एककालमें ही सब कोपको प्राप्त होतेहैं ॥ ६ ॥

पृथक् २ दोषोंके उपद्रव ।

ते प्रकुपितास्तमेवाहारराशिमपरिणतमाविश्य कुक्ष्येकदेशमाश्रिता विष्टम्भयन्तः सहसा वापि उत्तराधराभ्यां मार्गाभ्यां प्रच्यावयन्तः पृथक् पृथग्विकारानभिनिर्वर्त्तयन्ति अतिमात्रभोक्तुः ॥ ७ ॥

फिर वह कुपित हुए दोष उसी आहारसमूहमें मिलकर कोखके एक देशमें स्थित होजातेहैं। तब वह विष्टम्भको करते हुए सहसा ऊपरको या नीचेको निकलने आरम्भ होतेहैं। तब वह दोष अत्यन्त भोजन करनेवाले मनुष्यके शरीरमें अपने अलग २ विकारोंको करते हैं ॥ ७ ॥

कुपितवातादि दोषोंके उपद्रव ।

तत्र वातः शूलानाहाङ्गमर्दमुखशोषमूर्च्छाभ्रमाग्निवैषम्यशिरासङ्कोचनसंस्तम्भनानि करोति ॥ ८ ॥

इनके कुपित हुआ वायु-शूल, अफारा, अंगमर्द, मुखशोष, मूर्च्छा, भ्रम, अग्निकी विषमता, सिराओंका संकोच और अंगोंका स्तम्भ आदि उपद्रवोंको करता है ॥ ८॥

पित्तं पुनर्ज्वरमतीसारमन्तर्दाहं तृष्णामदभ्रमप्रलपनानि ॥ ९ ॥

बहुत आहारसे कुपित हुआ पित्त--ज्वर, अतिसार, अन्तर्दाह, तृषा, मद, भ्रम और बकवादको उत्पन्न करता है ॥ ९ ॥

श्लेष्मा तु छर्द्यरोचकाविपाकशीतज्वरालस्यगात्रगौरवाभिनिर्वृत्तिकरः सम्पद्यते ॥ १० ॥

इसी प्रकार कुपित हुआ कफ– छर्दी, अरुचि, अविपाक, शीतज्वर, आलस्य, देहमें भारीपन इनको उत्पन्न करता है ॥ १० ॥

आम दूषित होनेका कारण।

न खलु केवलमतिमात्रमेवाहारराशिमामप्रदोषकारणमिच्छन्ति। अपि तु खलु गुरुरूक्षशीतशुष्कद्विष्टविष्टम्भिविदाह्यशुचिविरुद्धानामकाले अन्नपानानामुपसेवनम्। कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याह्रीशोकलोभोद्वेगभयोपतप्तेन मनसा वा यदन्नपानमुपयुज्यते तदपि आममेव प्रदूषयति॥ ११॥

केवल अधिक मात्रासे आहार करनाही भुक्ताहारको आमदोषादि युक्त करता है यही नहीं किन्तु भारी, रूक्ष, शीतल सूखे, द्वेषी, विष्टम्भकारक, विदाही, अपवित्र और विरुद्ध अन्नपानोंका विना समय सेवन करना भी आमदोषको कुपित करता है इसी प्रकार–काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्षा, लज्जा, शोक, लोभका उद्वेग, भय इनसे उत्तप्त मन होनेपर जो अन्नपान कियाजाता है वह सब आमकोही दूषित करता है ११॥

भवति चात्र–मात्रयाप्यभ्यवहृतं पथ्यञ्चान्नं न जीर्य्यति।
चिन्ताशोकभयक्रोधदुःखशय्याप्रजागरैः ॥ १२ ॥

जो आहार मात्रापूर्वक पथ्य ही कियाजाय वह भी चिंता, शोक, भय, क्रोध, दुःख, सोना और जागना इन कारणोंसे यथोचित परिपाकको प्राप्त नहीं होता॥ १२॥

आमके विसूचिका भेद।

तं द्विविधमामप्रदोषमाचक्षते भिषजः। विसूचिकामलसकञ्च। तत्र विसूचिकामूर्द्ध्वञ्चाधश्च प्रवृत्तामदोषां यथोक्तरूपां विद्यात् ॥ १३ ॥

उस आमदोषको वैद्यलोग दो प्रकारका कथन करते हैं। १ विसूचिका। २ अलसक। उनमें विसूचिकारोग–छर्दद्वारा ऊपरके मार्गसे, दस्तद्वारा नीचेके मार्गसे दोनों ओरसे प्रवृत्त होता है। तथा शरीरमें सूइ चूभनेका तोद और उत्क्लेश होता है। इसको लोकमे हैजा और कौलरा कहते हैं ॥ १३ ॥

अलसकके लक्षण।

अलसकमुपदेक्ष्यामः। दुर्बलस्याल्पाग्नेर्बहुश्लेष्मणो वातमूत्रपुरीषवेगविधारिणः स्थिरगुरुबहुरूक्षशीतशुष्कान्नसेविनस्तदन्नपानमनिलप्रपीडितं श्लेष्मणा च विबद्धमार्गमतिमात्रप्रलीनमलसत्त्वान्न बहिर्मुखी भवति। ततश्छर्द्यतीसारवर्ज्यानि आमप्रदोषलिङ्गानि अभिदर्शयति

अतिमात्राणि। अतिमात्रप्रदुष्टाश्च दोषाः प्रदुष्टामबद्धमार्गास्तिर्य्यग्गच्छन्तः कदाचित्केवलमेवास्य शरीरं दण्डवत् स्तम्भयन्ति। ततस्तमलसकमसाध्यं ब्रुवते ॥ १४ ॥

अब अलसकका वर्णन करते हैं—अल्प अग्निवाला और बढेहुए कफवाला दुर्बल मनुष्य जब मल आदि वेगोंको रोकता है तथा कठोर, भारी, अधिक, रूक्ष, शीतल एवम् शुष्क अन्नपानका सेवन करता है तो उस मनुष्यके शरीरमें वह अन्नपान—वायुसे पीडित होकर कफसे विबद्धमार्ग होकर घिरजाता है और मूर्च्छित तथा अलसीभूत होकर देहसे बाहर नहीं निकल सकता। वह छर्दी और दस्तके सिवाय और संपूर्ण आमके दोषोंके लक्षणोंसे युक्त होता है। फिर अत्यन्त कोपको प्राप्तहुए दोष दुष्टहुए तथा बद्धमार्ग हुए तिरछा गमन करते हैं। कभी उसके शरीरको दण्डके समान स्तम्भन कर देते हैं। इस रोगको अलसकरोग कहते हैं। यह रोग असाध्य है॥१४

आम विषका वर्णन।

विरुद्धाध्यशनाजीर्णाशनशीलिनः पुनरेवं दोषमामविषमित्याचक्षते भिषजो विषसदृशलिङ्गत्वात्। तत्परमसाध्यमाशुकारित्वात्। विरुद्धोपक्रमत्वाच्चेति ॥ १५ ॥

विरुद्ध भोजन करनेवाले और अधिक भोजन करनेवाले तथा अजीर्णमें भोजन करनेवाले मनुष्योंके शरीरमें जो आमदोष होता है वैद्यलोग उसको आमविष कहते हैं। क्योंकि यह आमविषके समान शीघ्र मारकलक्षणवाला होता है। यह रोग शीघ्र नाशकरनेवाला होनेसे तथा चिकित्सामें विरोध पडनेसे यह विषके समान असाध्य होता है ॥ १५ ॥

साध्यआमकी चिकित्सा।

तत्र साध्यमामं प्रदुष्टमलसीभूतमुल्लेखयेदादौ पाययित्वा लवणमुष्णञ्च वारि। ततः स्वेदनवर्त्तिप्रणिधानाभ्यामुपाचरेदुपवासयेच्चैनम् ॥ १६ ॥

यदि उस अलसक रोगमें वह दुष्ट आम अलसीभूत हुई कुछ साध्य प्रतीत हो तो उस आमको नमक और गरमजल पिलाकर वमन द्वारा दोषको निकाल दे। उसके अनन्तर स्वेदन तथा बस्ति प्रयोगद्वारा चिकित्सा करे और लंघन करावे॥१६॥

विषूचिकादि आमदोषकी चिकित्सा।

विषूचिकायां तु लङ्घनमेवाग्रे विरिक्तवच्चानुपूर्वी ॥ १७ ॥

विसूचिकामें तो प्रथम लंघन कराना चाहिये और तदनन्तर जैसा विरेचन होजाने-

पर विरिक्त मनुष्यकी क्रिया कीजातीहै उसी प्रकार क्रमपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १७ ॥

आमप्रदोषेषु त्वन्नकाले जीर्णाहारं पुनर्दोषावलिप्तामाशयं स्तिमितगुरुकोष्ठमनन्नाभिलाषिणमभिसमीक्ष्य पाययेद्दोषशेषपाचनार्थमौषधमग्निसन्धुक्षणार्थञ्च न त्वजीर्णाशनम् । आमप्रदोषदुर्बलो ह्यग्निर्युगपद्दोषमौषधमाहारजातञ्चाशक्तः पक्तुम् ॥ १८ ॥

आमके दूषित होनेपर प्रथम लंघन कराना चाहिये । लंघनद्वारा अन्न जीर्ण होनेपर यदि फिर भी ऐसा देखे कि आमाशयमें दोष लिपायमान है तथा कोष्ठ क्लेदयुक्त है एवम् भारी है तथा अन्नमें रुचि भी नहीं है तो शेष दोषोंके पाचन करनेके लिये तथा अग्निको चैतन्य करनेके लिये पाचन औषधी देवे । परन्तु आमयुक्त अजीर्णमें पाचन औषध देनेकी आवश्यकता नहीं है । क्योंकि आमदोष बलवान् होताहै।उस बढेहुए आमदोषको दुर्बल अग्नि तथा औषधी पाचन नहीं करसकती॥१८॥

अपि चामप्रदोषाहारौषधविभ्रमोऽतिबलत्वादुपरतकायाग्निं सहसैवातुरमबलमभिपातयेत् ॥ १९ ॥

आम, दोष, आहार, औषध, इनका विभ्रम बलवान् होनेसे क्षीणाग्निबल मनुष्यको शीघ्र नष्ट करडालतेहैं इसलिये अजीर्णमें अग्निकी चैतन्यता करनी चाहिये केवल पाचन औषध न देवे ॥ १९ ॥

आमप्रदोषजानां पुनर्विकाराणामपतर्पणेनैवोपरमो भवति । सति त्वनुबन्धे कृतापतर्पणानां व्याधीनां निग्रहे निमित्तविपरीतमपास्यौषधमातङ्कविपरीतमेवावचारयेत् । यथास्वं सर्वविकाराणामपि च निग्रहे हेतुव्याधिविपरीतमौषधमिच्छन्ति कुशलाः तदर्थकारि वा॥२०॥

आमदोषसे उत्पन्नहुए रोग अपतर्पण क्रियाद्वारा शान्त होतेहैं । यदि अपतर्पण करनेपर भी आमदोषजनित विकार बाकी रहजाय तो कारण विपरीत औषध छोडकर रोगके नाश करनेवाले यत्न करनेचाहियें । अर्थात् अपतर्पण करना आमदोषकी चिकित्सा है । यदि अपतर्पण करनेपर भी आमसे उत्पन्नहुए रोग शेष रहजांय तो उन रोगोंकी नाश करनेवाली औषधी करनी चाहिये । जैसे सम्पूर्ण विकारोंकी शान्तिके लिये वैद्यलोग हेतु व्याधिके विपरीत या विपरीतार्थकारी चिकित्सा करतेहैं वैसे ही यहांपरभी करनी चाहिये ॥ २० ॥

विपक्वभुक्तामप्रदोषस्य पुनः परिपक्वदोषस्य दीप्ते चाग्नौ अभ्यङ्गा-स्थापनानुवासनं विधिवत् स्नेहपानञ्च युक्त्या प्रयोज्यम्, प्रसमीक्ष्य दोषभेषजदेशकालबलशरीराहारसात्म्यसत्त्वप्रकृतिवयसामवस्थान्तराणि विकारांश्च सम्यक् । इति ॥ २१ ॥

जब आमदोष पचजाय और दोषके पचनेसे जठराग्नि चैतन्य होजाय फिर विधिपूर्वक अभ्यंजन, अनुवासन और आस्थापन तथा स्नेहपान यह युक्तिपूर्वक कराने चाहिये । तथा दोष, औषधी, देश, काल, बल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्त्व, प्रकृति और अवस्था इन सबको भलीप्रकार विचारकर तथा विकारोंको देखकर विधिवत् चिकित्सा करे ॥ २१ ॥

भवति चात्र–अशितं खादितं पीतं लीढञ्च क्व विपच्यते ।
एतत् त्वां धीर पृच्छामस्तन्न आचक्ष्व बुद्धिमन् ॥ २२ ॥
इत्यग्निवेशप्रमुखैः शिष्यैः पृष्टः पुनर्वसुः ।
आचचक्षे ततस्तेभ्यो यत्राहारो विपच्यते ॥ २३ ॥

यहांपर कहाहै कि खानेके, चाबनेके, पीनेके, चाटनेके योग्य जो पदार्थ हैं वह शरीरके किस स्थानमें प्राप्त होते हैं यह हे धीर ! हम आपसे पूँछते हैं कृपाकर आप कथन कीजिये । इस प्रकार अग्निवेश आदि शिष्योंके पूंछनेपर भगवान् पुनर्वसुजी कथन करनेलगे कि जिस जगह आहार परिपाकको प्राप्त होता है वह तुम सबसे कथन करता हूं ॥ २२ ॥ २३ ॥

आहारपचनेका स्थान।

नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय इति स्मृतः ।
अशितं खादितं पीतं लीढञ्चात्र विपच्यते ॥ २४ ॥
आमाशयगतः पाकमाहारः प्राप्य केवलम् ।
पक्वः सर्वाशयः पश्चाद्धमनीभिः प्रपद्यते ॥ २५ ॥

मनुष्यके नाभि और स्तनके बीचमें अर्थात् नाभिसे ऊपर और छातीसे नीचे आमाशय है उस आमाशयमें ही-भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, लेह्य यह सब पदार्थ परिपाकको प्राप्त होते हैं । आमाशयमें आहार पहिले परिपाकको प्राप्त होकर फिर धमनियोंद्वारा उसका रस सब आशयोंमें पहुंच जाता है ॥ २४॥२५ ॥

तस्य मात्रावतो लिङ्गं फलञ्चोक्तं यथायथम् ।
अमात्रस्य तथा लिङ्गं फलञ्चोक्तं विभागशः॥ २६ ॥

आहारविध्यायतनानि चाष्टौ सम्यक् परीक्ष्यात्महितं विदध्यात् ।
अन्यश्च यः कश्चिदिहास्ति मार्गो हितोपयोगेषु भजेत तञ्च ॥ २७ ॥

इति अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते विमानस्थाने त्रिविध-
कुक्षीयं विमानं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार मात्रासे भोजन करनेवालोंके लक्षण और फल कथन करदियेगये हैं । इसी प्रकार विना मात्रासे भोजन कियेके लक्षण और फल भी यथाक्रम कथन किये गये हैं ॥ सो बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि आहारविधिके आठ आयतनोंको भले प्रकार परीक्षा करके अपनी आत्माके हितके लिये साधन करना चाहिये । इसके सिवाय अपनी आत्माके हित करनेवाले अन्य भी जो हितकारक मार्ग हों उनका सेवन करना चाहिये ॥ २६ ॥ २७॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां पटियालाराज्यांतर्गतटकसालनिवासिवैद्यपंचा-
ननवैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायकृतप्रसादन्याख्यभाषाटीकायां
त्रिविधकुक्षीयो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः ।

अथ जनपदोद्धंसनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम जनपदोध्वंसनीय विमानाध्यायका कथन करतेहैं ऐसे भगवान् आत्रेयजी कहने लगे ॥

पुनर्वसुका प्रस्ताव ।

जनपदमण्डले पाञ्चालक्षेत्रे द्विजातिवराध्युषितायां काम्पिल्यराज-
धान्यां भगवान् पुनर्वसुरात्रेयोऽन्तेवासिगणपरिवृतः पश्चिमे घर्म्ममासे
गङ्गातीरे वनविचारमनुविचरन् शिष्यमग्निवेशमब्रवीत् ॥ १ ॥

पांचालदेशमें द्विजवरोंसे शोभायमान काम्पिल्य राजधानीमें भगवान् पुनर्वसु आत्रेयजी अपने शिष्यगणोंसे परिवृत हुए ग्रीष्मऋतुके अन्तमें गंगाके किनारे वनमें विचरतेहुए अपने शिष्य अग्निवेशसे कहनेलगे ॥ १ ॥

दृश्यन्ते हि खलु सौम्य ! नक्षत्रग्रहचन्द्रसूर्यानिलानलानां दिशाञ्च
प्रकृतिभूतानामृतुवैकारिका भावाः । अचिरादितो भूरपि च न यथा-

वद्रसवीर्य्यविपाकप्रभावमोषधीनां प्रतिविधास्यति। तद्वियोगाच्चातङ्कप्रायता नियता। तस्मात् प्रागुद्ध्वंसात् प्राक् च भूमेर्विरसीभावादुद्धर सौम्य! भैषज्यानि, यावन्नोपहतरसवीर्य्यविपाकप्रभावाणि। वयं चैषां रसवीर्य्यविपाकप्रभावानुपदेक्ष्यामहे ये चास्माननुकाङ्क्षन्ति, यांश्च वयमनुकाङ्क्षामः॥ २॥

हे सौम्य! ऐसा दिखाई देताहै कि नक्षत्र, ग्रह, चन्द्रमा, सूर्य, पवन, अग्नि तथा दिशाओंके स्वभाव विकारको प्राप्त होगये हैं और ऋतुएं भी अपने स्वभावोंसे विपरीत प्रतीत होती हैं और पृथिवीके भी ऐसे लक्षण देख पडते हैं कि, यह भी औषधियोंके यथोचित रस, वीर्य, विपाक और प्रभावोंको नष्ट करडालेगी अर्थात् अब पृथिवीमें जो औषधियें उत्पन्न होंगी वह अपने गुणोंको नहीं करेंगी। जब औषधियें अपने गुणोंको न करेंगी तो मनुष्यभी नित्यप्रति रोगी होंगे और ऋतुआदिकोंके विकारसे रोग उत्पन्न हो देशको नष्ट करडालेंगे। इसलिये उध्वंसकारक रोग उत्पन्न होनेसे पहिले तथा पृथिवीका स्वभाव बिगडजानेसे पहिले ही हे सौम्य! औषधियोंका संग्रह कर लो जबतक इन औषधियोंके रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव नष्ट न हों उससे प्रथम ही इनको संग्रह कर लेना चाहिये जो मनुष्य हमारेपर विश्वास रख हमारे पास आवेंगे तथा जिनके हितके लिये हम इच्छा करते हैं उन सबको रस वीर्य, विपाक, प्रभावयुक्त औषधियोंके उपयोग द्वारा आरोग्य रखसकेंगे॥ २॥

न हि सम्यगुद्धृतेषु भैषज्येषु सम्यग्विहितेषु सम्यग्विचारचारितेषु जनपदोद्ध्वंसकराणां विकाराणां किञ्चित्प्रतीकारगौरवं भवति॥ ३॥

भले प्रकार उखाडी हुइ औषधियोंको उत्तम विधिसे बनाकर यथोचित विचारपूर्वक प्रयोग करनेसे देशके नष्ट करनेवाले रोग अपना जोर न पासकेंगे यदि विना विचारे और विना ही समय उखाडे तथा भले प्रकार संस्कार किये विना औषधियोंका प्रयोग किया जायगा तो वह जनपदोध्वंसनके समय विकारोंमें अपना कुछ भी गुण न दिखा सकेगी॥ ३॥

अग्निवेशका प्रश्न।

एवं वादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच। उद्धृतानि खलु भगवन्! भैषज्यानि सम्यग्विहितानि सम्यग्विचारचारितानि। अपि तु खलु जनपदोद्ध्वंसनमेकेन व्याधिना युगपदसमानप्रकृत्याहारदेहबलसात्म्यासत्त्ववयसां मनुष्याणां कस्माद्भवतीति॥ ४॥

इस प्रकार कथन करते हुए भगवान् आत्रेयजीसे अग्निवेश कहनेलगे कि हे भगवन्! औषधियोंको भले प्रकार उखाड लिया है और विधिपूर्वक संस्कार किया हुआ है तथा उनके प्रयोगके विधानको विचारा हुआ है अथवा यों औषधियोंको भले प्रकार उखाडना तथा संस्कार करना एवं विधिवत् प्रयोग करना यह आपका उपदेश रोगोंमें हितकारक होना बहुत ठीक है परन्तु मनुष्योंकी प्रकृति, आहार, देह, बल, सात्म्य, सत्त्व और अवस्था यह सब अलग २ होतेहुए एक रोग एक समयमें जनपद (देश) को कैसे उध्वंसन (नष्ट) कर सकताहै। सो हमारी समझमें नहीं आया कृपया उसका कथन कीजिये ॥ ४ ॥

आत्रेयका उत्तर।

तमुवाच भगवानात्रेयः। एवमसामान्यानामेभिरपि अग्निवेश ! प्रकृत्यादिभिर्भावैर्मनुष्याणां येऽन्ये भावाः सामान्यास्तद्वैगुण्यात् समानकालाः समानलिङ्गाश्च व्याधयोऽभिनिवर्त्तमाना जनपदमुद्ध्वंसयन्ति। ते तु खलु इमे भावाः सामान्या जनपदेषु भवन्ति। तद्यथा—वायुरुदकं देशः काल इति ॥ ५ ॥

यह सुनकर भगवान् आत्रेयजी कहनेलगे कि हे अग्निवेश ! यद्यपि सब मनुष्योंके प्रकृति आदि भाव समान नहीं होते अर्थात् एकसे दूसरे मनुष्यके स्वभाव आदिक अलग २ होतेहैं। जैसे-कोई मनुष्य शीत प्रकृतिवाला, कोई उष्ण प्रकृतिवाला। पर मनुष्योंके प्रकृति आदि भाव समान न होनेपर भी इनसे पृथक् जो अन्य सामान्य भाव हैं उनकी विगुणतासे अर्थात् उनके विगडजानेसे समानकालमें समानलक्षणोंवाली व्याधियें प्रगट होकर देशको नष्ट कर डालती हैं। वह समानभाव देशमें ये होते हैं। जैसे वायु, जल, देश और काल ॥ ५ ॥

वातको अनारोग्यत्व।

तत्र वातमेवंविधमनारोग्यकरं विद्यात्। तद्यथा—ऋतुविषममतिस्तिमितमतिचलमतिपरुषमतिशीतमत्युष्णमतिरूक्षमत्यभिष्यन्दिनमतिभैरवारावमतिप्रतिहतपरस्परगतिमतिकुण्डलिनमसात्म्यगन्धबाष्पसिकतापांशुधूमोपहतमिति ॥ ६ ॥

उनमें इस प्रकारका वायु होनेसे व्याधियोंके उत्पन्न करनेवाला जानना। जैसे विकृत ऋतुके गुणोंसे मिलाहुआ, अत्यन्त गीला, अत्यन्त वेगयुक्त, अति कठोर, अत्यन्त शीतल, अधिक गर्म, अत्यन्त रूक्ष, क्लेदकारक, अतिभयंकरशब्दयुक्त, दो तीन तरफसे वायु मिलकर टक्कर खानेवाला, अत्यन्त चक्कर खानेवाला, जिसकी गंधसे

लोगाके शरीरमें विकार उत्पन्न हों एवम् भाफ, सिकता, धूल, गर्दा, धूंआं आदिसें मिलाहुआ वायु विकारयुक्त होताहै ॥ ६ ॥

जलको अनारोग्यत्व।

उदकन्तु खलु अत्यर्थविकृतगन्धवर्णरसस्पर्शवत्क्लेदबहुलमपक्रान्त-जलचरविहङ्गमुपक्षीणजलाशयमप्रीतिकरमपगतगुणं विद्यात् ॥ ७ ॥

जल इस प्रकारका रोगकारक होताहै। जैसे दुर्गंधयुक्त विकृतवर्णवाला और जिसका रस तथा स्पर्श बुरा हो, गिलगिला जिसको जलचर पक्षियोंने त्याग दियाहो तथा जिसका जल सूख गयाहो, एवम् जिसका जल हानिकारक हो अथवा जिसके समीप जानेसे चित्त खराब होजाय और जलके गुणोंसे रहित हो ऐसे जलको रोगकारक जानना चाहिये ॥ ७ ॥

देशको अनारोग्यत्व।

देशं पुनः विकृतप्रकृतिवर्णगन्धरससंस्पर्शं क्लेदबहुलमुपसृष्टं सरीसृप-व्यालमशकशलभमक्षिकामूषकोलूकश्माशानिकशकुनिजम्बुकादिभि-स्तृणोलूपोपवनप्रतानादिबहुलमपूर्ववदवपतितशुष्कनष्टशस्यं धूम्रपवनं प्रध्मातपतत्रिगणमुत्क्रुष्टश्वगणमुद्भ्रान्तव्यथितविविधमृगपक्षिसंघमु-त्सृष्टनष्टधर्म्मसत्यलज्जाचारगुणजनपदं शश्वत्क्षुभितोदीर्णसलिलाशयं प्रततोल्कापातनिर्घातभूमिकम्पमतिभयारावरूपं रूक्षताम्रारुणसिता-भ्रजालसंवृतार्कचन्द्रतारकमभीक्ष्णं सम्भ्रमोद्वेगमिव सत्रासरुदितमिव सतमस्कमिव गुह्यकाचरितमिवाक्रन्दितशब्दबहुलञ्चाहितं विद्यात् ॥८॥

देशको ऐसे लक्षण होनेपर रोगकारक जानना चाहिये। जिस देशके स्वभाव, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श यह सब विगडगयेहों तथा संपूर्ण भूमिमें गिलगिलापन हो एवम् सांप, व्याल, मच्छर, टिडी, मक्खी, मूषक, उल्लू, गीध आदि श्मशानमें रहनेवाले जानवर तथा गीदड आदिक बहुत हों। बहुतसे घास और बेलें इनके फैलाव हों एवम् अनेक प्रकारकी बेलें उत्पन्न हों। पहिलेसे सब लक्षण विपरीत प्रतीत हों एवम् अपूर्व लक्षण दिखाई देते हों, विना बोये हुए अंटसंट अनेक प्रकारके घास उत्पन्न हुए हों, खेती सूख या नष्ट होगई हो, पवन धूएंसे युक्त हो, पक्षीगण आकाशमें इधर उधर बहुत उडते हों, गीदड और कुत्ते रोते हों, अनेक प्रकारके मृग और पक्षी व्याकुल हुए इधर उधर फिरते हों, एवम् उस देशमें धर्म, सत्य, लज्जा, आचार, शुभगुण यह सब नष्ट होगये हों तथा जलाशय सहसा क्षुभित हुए हों, और उस देशमें उल्का-

पात हो अर्थात् तारे टूटे, बिजली गिरे। भूकम्प हो, भारी आंधी आवे तथा देशका भयंकर रूप होजाय। चंद्रमा, सूर्य और तारागण कभी रूखे, कभी लाल, कभी सफेद एवम् मेघजालसे ढकेहुए निरन्तर ऐसे २ रूपमें दिखाई दियाकरें और उस देशमें संभ्रम, उद्वेग, त्रास और रोनेकेसे लक्षण दिखाई दियाकरें निरन्तर अन्धकारसा छाया रहे तथा भूत, प्रेतोंका घूमना और शब्द करना प्रतीत हुआ करे ऐसे लक्षणवाला देश भयानक रोगोंको उत्पन्न करनेवाला होत है ॥ ८ ॥

कालको अनारोग्यत्व।

कालं तु खलु यथर्त्तुलिङ्गाद्विपरीतलिङ्गमतिलिङ्गं हीनालिङ्गञ्चाहितं व्यवस्येत् ॥ ९ ॥

अब काल अर्थात् समयके रोगोत्पादक होनेके लक्षण कहते हैं। जैसे-ऋतुओंका अपने लक्षणोंसे विपरीत होना, जैसे जिस ऋतुमें जैसे लक्षण होनेचाहिये उससे अत्यन्त अधिक होना, बहुत कम होना, या न होना अथवा आगे पीछे होना। इस प्रकारके लक्षणवाला समय रोगोंको उत्पन्न करनेवाला होता है ॥ ९ ॥

इमानेवं दोषयुक्तांश्चतुरो भावान् जनपदोद्ध्वंसकरान्वदन्ति कुशलाः। अतोऽन्यथाभूतांस्तु हितानाचक्षते ॥ १० ॥

इस प्रकार वायु, जल, देश और काल इन चारोंके विकृतगुण होनेसे जनपदका उध्वंस होता है। अर्थात् जिस प्रान्त अथवा जिस देश या जिस द्वीपमें उपरोक्त चारों भावोंकी विकृतावस्था होजाती है वह देश, वह प्रान्त, वह द्वीप भयानक रोगयुक्त होकर नष्ट होजाता है। इससे विपरीत अर्थात् अपने ठीक लक्षणवाले-वायु, जल, पृथ्वी, समय होनेसे सब मनुष्योंके लिये हितकारक होते हैं ॥ १० ॥

विगुणेष्वपि तु खलु एतेषु जनपदोद्ध्वंसनकरेषु भावेषु भेषजेनोपपाद्यमानानां न भयं भवति रोगेभ्य इति ॥ ११ ॥

जब यह चारों भाव बिगडकर जनपदका उध्वंसन करतेहुए रोगोंको उत्पन्न करते हैं उस समय भी विधियुक्त संस्कार करीहुई औषधियोंका उपयोग जिन मनुष्योंको कियाजाता है उन मनुष्योंको जनपदोध्वंसनकारक रोगोंका भय नहीं होता ॥ ११ ॥

भवन्ति चात्र-वैगुण्यमुपपन्नानां देशकालानिलाम्भसाम्।
गरीयस्त्वं विशेषेण हेतुमत् संप्रवक्ष्यते ॥ १२ ॥

यहांपर कहा है कि देश, काल, वायु, जल इनका विकृत होजाना रोगोंके उत्पन्न करनेके लिये एक बडा भारी कारण होता है ॥ १२ ॥

वाताज्जलं जलाद्देशं देशात् कालं स्वभावतः ।
विद्याद् दुष्परिहार्य्यत्वाद्गरीयस्तरमर्थवित् ॥ १३ ॥

वायुसे जल, जलसे देश और देशसे काल स्वभावसे ही दुर्निवार और अधिक रोगोत्पादक होते हैं ॥ १३ ॥

वाय्वादिषु यथोक्तानां दोषाणां तु विशेषवित् ।
प्रतीकारस्य सौकर्य्ये विद्याल्लाघवलक्षणम् ॥ १४ ॥

वायु आदिक चारों भावोंके दोषोंकी विशेषताको जाननेवाला और वात, पित्त, कफ इन तीनों दोषोंकी विशेषताको जाननेवाला वैद्य उन रोगोंका प्रतीकार करते-हुए उनके लक्षणोंके हलकेपन आदिको जाने । अथवा इन चारों भावोंमें जलसे वायु, देशसे जल और कालसे देश रोगोत्पादक हेतुओंमें हलके मानना चाहिये ॥ १४ ॥

जनपदोध्वंसकारी भावोंकी चिकित्सा ।

चतुर्ष्वपि तु दुष्टेषु कालान्तेषु यदा नराः ।
भेषजेनोपपाद्यन्ते न भवन्त्यातुरास्तदा ॥ १५ ॥

जब चारों भाव बिगडकर देशको नष्ट करनेके लिये प्रपन्न होते हैं अर्थात् वायु, जल, देश और काल यह चारों बिगडकर जब देशको नष्ट करते हैं तब जिन मनुष्योंको विधिवत् औषधियोंका प्रयोग करा दियागया है अथवा कराया जाता है वह मनुष्य व्याधियोंसे पीडित नहीं होते ॥ १५ ॥

येषां न मृत्युसामान्यं सामान्यं न च कर्मणाम् ।
कर्म पञ्चविधं तेषां भेषजं परमुच्यते ॥ १६ ॥

जिन मनुष्योंके मृत्युसाम्य (पूर्णआयु होकर आवश्यकीय मृत्यु काल) नहीं है एवम् किसी मारक विष आदिका प्रयोग आदि कोई मारक कर्म उपस्थित नहीं है उनको रोगशान्तिके लिये पंचकर्म द्वारा चिकित्सा करना परम उत्तम औषध कहा है१६

रसायनानां विधिवच्चोपयोगः प्रशस्यते ।
शस्यते देहवृत्तिश्च भेषजैः पूर्वमुद्धृतैः ॥ १७ ॥

ऐसे समयपर जब कि जनपदोध्वंसनकारी भाव दिखाई पडे तो कोई उत्तम रसायन औषधीका (लाक्षादि तैलकी नित्य मालिश, विडंगरसायन चयवनप्राश आदि) सेवन करना चाहिये । तथा जनपदोध्वंसनकारी भावोंके होनेसे प्रथम संग्रहाकियेहुए औषधोंद्वारा और हितकर अन्न आदिद्वारा देहकी रक्षा करता रहे ॥ १७ ॥

सत्यं भूते दया दानं बलयो देवतार्चनम् ।
सद्वृत्तस्यानुवृत्तिश्च प्रशमो गुप्तिरात्मनः ॥ १८ ॥
हितं जनपदानाञ्च शिवानामुपसेवनम् ।
सेवनं ब्रह्मचर्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम् ॥ १९ ॥
सङ्कथा धर्मशास्त्राणां महर्षीणां जितात्मनाम् ।
धार्मिकैः सात्त्विकैर्नित्यं सहास्या वृद्धसम्मतैः ॥२०॥
इत्येतद्भेषजं प्रोक्तमायुषः परिपालनम् ।
येषां न नियतो मृत्युस्तस्मिन्काले सुदारुणे ॥ २१ ॥

जब जनपदके उध्वंसनकारी भाव उत्पन्न होते दिखाई दें अथवा उत्पन्न होजायँ तब मनुष्योंको अपनी शरीर रक्षाके लिये एवम् कुटुम्बसम्बन्धी तथा देशकी रक्षाके लिये जो यत्न करना चाहिये उनका वर्णन करतेहैं। वह ये हैं–सत्य भाषण, जीवमात्रपर दया, दान, देवताओंके अर्पण बली देना, देवताओंका पूजन करना, श्रेष्ठ आचरणका धारण करना, मंत्र पाठादिकोंसे अपनी आत्माको रक्षित रखना, देशके हितकारक मंगलाचरण करना, अथवा शिवजीका पूजन करना, ब्रह्मचर्यका पालन अथवा उस देशको त्यागकर अन्य शुभदेशमें रहना,उत्तम शास्त्रोंकी धर्मसंबंधी कथाओंको सुनना, महर्षि महात्मा तथा ऋषियोंके उपदेश श्रवण करना, धर्मात्माओं, सत्पुरुषों तथा वृद्धजनोंकी आज्ञानुसार नित्य आचरण करना और उन्हीं महात्माओंके पास निवास करना पह सब जनपदोध्वंसनके समय मनुष्योंको आयुके देनेवाले परम औषधियोंका कथना किया है । उस दारुण कालमें जिनकी आवश्यकीय नियत मृत्यु नहीं है उनके लिये उपरोक्त कर्मोंका सेवन आयुवर्द्धक और परमहितकर होताहै । तथा अकालमृत्युसे बचानेवाला होता है ॥ १८-२१ ॥

अग्निवेशका प्रश्न।

इति श्रुत्वा जनपदोद्ध्वंसने कारणानि आत्रेयस्य भगवतः पुनरपि भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच । अथ खलु भगवन् ! कुतो मूलमेषां वाय्वादीनां वैगुण्यमुत्पद्यते येनोपपन्ना जनपदमुद्ध्वंसयन्तीति ॥ २२ ॥

इस प्रकार भगवान् आत्रेयजीके मुखसे जनपदोध्वंसनक कारणोंको सुनकर अग्निवेश फिर भगवान् आत्रेयजीसे पूछनेलगे कि, हे भगवन् ! इस वायु आदिक चारों भावोंके बिगड जानेका क्या कारण है ? जिससे यह चारों बिगडकर जनपदका उध्वंसन करते हैं सो कृपाकर कथन कीजिये ॥ २२ ॥

आत्रेयका उत्तर।

तमुवाच भगवानात्रेयः। सर्वेषामग्निवेश ! वाय्वादीनां यद्वैगुण्यमुत्पद्यते तस्य मूलमधर्मस्तन्मूलञ्चासत्कर्म पूर्वकृतम्। तयोर्योनिः प्रज्ञापराध एव ॥ २३ ॥

यह सुनकर आत्रेय भगवान्‌जी कहनेलगे कि हे अग्निवेश ! इन वायु आदिक चारों भावोंके विकारी होनेका कारण अधर्म है। और उस अधर्मका कारण प्रथम बुरे कर्मोंका करना है। वह बुरे कर्म बुद्धिके अपराधसे होते हैं ॥ २३ ॥

तद्यथा—यदा देशनगरनिगमजनपदप्रधानधर्ममुत्क्रम्य अधर्मेण प्रजां प्रवर्त्तयन्ति तदाश्रितोपाश्रिताः पौरजनपदा व्यवहारोपजीविनश्च तमधर्ममभिवर्द्धयन्ति ॥ २४ ॥

उसीको कथन करते हैं—जब देश, नगर, निगम और जनपदके मालिक अर्थात राजा आदि प्रधान पुरुष धर्मको उल्लंघनकर प्रजासे अधर्मका वर्ताव करते हैं तब उनके आश्रित और उपाश्रित अर्थात् मंत्री मुख्याध्यक्ष तथा अन्य अहलकार और ग्रामोंके नम्बरदार आदिक अथवा अन्य ऐसे पुरुष जो कि उन राजा आदिकोंके यहां मुख्य मानेजाते हों उनके आश्रयसे अपना आजीवन करनेवाले(खुशामदखोर) उस अधर्मको लेकर खूब फैला देते हैं अर्थात् राजा आदिदेशके प्रधान पुरुष जब अपनी बुद्धिके अपराधसे थोडा बहुत भी अधर्म करनेलगते हैं तो उनके आश्रय रहकर अपनी आजीविका चलानेवाले खुशामदखोर लोग उस अधर्मको खूब बढादेते हैं२४

ततः सोऽधर्मः प्रसभं धर्ममन्तर्धत्ते। ततस्तेऽन्तर्हितधर्माणो देवताभिरपि त्यज्यन्ते। तेषां तथान्तर्हितधर्माणामधर्मप्रधानानामपक्रान्तदेवतानामृतवो व्यापद्यन्ते। तेन नापो यथाकालं देवो वर्षति। विकृतं वा वर्षति। वाता न सम्यगभिवान्ति, क्षितिर्व्यापद्यते, सलिलानि उपशुष्यन्ति। ओषधयः स्वभावं परिहायापद्यन्ते विकृतिम्। तत उद्ध्वंसन्ते जनपदाः स्पर्शाभ्यवहार्य्यदोषात् ॥ २५ ॥

वह वृद्धिको प्राप्तहुआ तथा सर्वतः फैलाहुआ अधर्म, धर्मको छिपादेता है अर्थात् नष्टप्राय बनादेता है। तब उन लोगोंको धर्मरहित जानकर और अधर्म प्रधान होनेसे उस देशके रक्षक देवतागण उस देशको त्याग जाते हैं फिर उन धर्मरहित और अधर्मप्रधान तथा देवताओंसे त्यागेहुए देशोंमें ऋतुएं विकृत होजाती हैं। तब ऋतुओंके

विकृत होनेसे इन्द्रदेव समयपर वृष्टि नहीं करते अथवा वर्षाकालसे आगे पीछे या विकृतरूपसे वृष्टि होती है और वायु भी हितकारक शुभगतिवाला नहीं रहता। पृथ्वी दोषयुक्त होजाती है, जलाशय सूख जाते हैं, जडी बूटी आदि अपने स्वभावको छोड-कर विकारयुक्त होजाती हैं। तब इन सबके विकृत होनेसे मनुष्योंमें रोग उत्पन्न होते हैं और परस्पर संसर्ग और अन्नपान आदि संसर्गोंसे वह रोग देशमें फैलकर समस्त लोगोंको नष्ट करते हैं ॥ २५ ॥

युद्धका कारण।

तथा शस्त्रप्रभवस्य अपि जनपदोद्ध्वंसस्य अधर्म एव हेतुर्भवति। येऽतिवृद्धलोभक्रोधरोषमानास्ते दुर्बलानवमत्य आत्मस्वजनपरोपघा-ताय शस्त्रेण परस्परमभिक्रामन्ति, परान् वाभिक्रामन्ति, परैर्वाभि-क्राम्यन्ते, रक्षोगणादिभिर्वा विविधैर्भूतसङ्घैस्तमधर्ममन्यद्वाप्यपचा-रान्तरमुपलभ्याभिहन्यन्ते ॥ २६ ॥

तथा राजाओंमें परस्पर शस्त्रयुद्ध होना भी जनपदोध्वंसन कहाजाता है उसका कारण भी अधर्म ही होता है। जब मनुष्योंमें लोभ, क्रोध, रोष और अभिमान बहुत बढजाता है तब वह दुर्बल मनुष्योंका, गरीबोंका, निरपराधोंका अपमान करनेलगते हैं फिर वह अधर्मी लोग अपने और परायेको कुछ न समझकर लोभ और अहंका-रसे अंधे बनेहुए शस्त्रादिकोंसे उनको मारनेके लिये परस्पर आक्रमण करते हैं और दूसरोंको मारनेके लिये आक्रमण करते हैं। तथा उनके ऊपर अन्य मनुष्य भी उसी प्रकार आक्रमण करते हैं। ऐसे समय अनेक प्रकारके भूत, प्रेत, राक्षस आदि भी उन अधर्मके आचरण करनेवालोंको जहां पाते नष्टभ्रष्ट कर डालते हैं ॥ २६ ॥

अभिशापका हेतु।

तथाभिशापस्याप्यधर्म एव हेतुर्भवति। ये लुप्तधर्माणो धर्मादपेताः ते गुरुवृद्धसिद्धर्षिपूज्यानवमत्य अहितानि आचरन्ति। ततस्ताः प्रजा गुर्वादिभिरभिशप्ता भस्मतामुपयान्ति। प्रागप्यभूदनेकपुरुष-कुलविनाशाय ॥ २७ ॥

तथा अभिशापका भी अधर्म ही कारण होता है। जब धर्मरहित मनुष्य अधर्मसे गुरुजन, वृद्धजन, सिद्ध, ऋषि तथा अन्य पूज्य महात्माओंका अपमान करते हैं और अहितकर्मका आचरण करते हैं तब उन गुरुजन आदिकोंके अभिशापसे अधर्मी प्रजा नष्टताको प्राप्त होजाती है। ऐसे गुरुजनोंके अभिशापसे पहिलेके युगमें अनेक पुरुषोंके वंश नष्ट होगये हैं ॥ २७ ॥

संसारमें अधर्मके आनेका क्रम।

प्रागपि चाधर्म्माद्दते नाशुभोत्पत्तिरन्यतोऽभूत् । आदिकाले हि अदितिसुतसमौजसोऽतिविमलविपुलप्रभावाः प्रत्यक्षदेवदेवर्षिधर्म्मयज्ञविधिविधानाः शैलेन्द्रसारसंहतस्थिरशरीराः प्रसन्नवर्णेन्द्रियाः पवनसमबलजवपराक्रमाश्चारुस्फिचोऽभिरूपप्रमाणाकृतिप्रसादोपचयवन्तः सत्यार्जवानृशंस्यदानदमनियमतपउपवासब्रह्मचर्य्यव्रतपरा व्यपगतभयरागद्वेषमोहलोभक्रोधशोकमानरोगनिद्रातन्द्राश्रमक्लमालस्यपरिग्रहाश्च पुरुषा बभूवुरमितायुषः ॥ २८ ॥

पूर्वकाल (सतयुग) में भी अधर्मके बिना कभी किसी अशुभकी उत्पत्ति नहीं होती थी पहिले समयमें मनुष्य देवताओं (दैत्यों)के समान बलवान् होते थे अत्यन्त विमल और विपुल प्रभावशाली होते थे देवता तथा देवर्षि उनको प्रत्यक्ष मिलते थे, वह लोग धर्म और यज्ञोंको विधिपूर्वक किया करते थे, उनके शरीर पहाडोंके समान सारयुक्त संगठित और स्थिर रहते थे, वर्ण और इन्द्रियें सब प्रसन्न होती थीं, पवनके समान बल और वेग तथा पराक्रमयुक्त होते थे। उनके नितम्ब तथा अन्य शरीरके अंग उत्तम होते थे,उनके शरीर सुंदर गठनयुक्त तथा उचित प्रमाणवाले और सुन्दर आकार तथा प्रसन्नता एवम् पुष्टियुक्त होते थे। वह लोग सत्य, आचार, दयालुता, लज्जा, दान, दम, नियम, तप, उपवास, ब्रह्मचर्य और व्रत इनका भलेप्रकार पालन करते थे अर्थात् इनका सेवन करना ही अपना परम कर्त्तव्य मानते थे। उस समय उनके समीप भय, राग, द्वेष, मोह, लोभ, क्रोध, शोक, अहंकार, रोग, निद्रा, तन्द्रा, श्रम, क्लम और आलस्य नहीं आते थे और वह अन्यकी वस्तुके हरनेकी कभी इच्छा नहीं रखते थे। इसीलिये उनकी आयु भी बहुत बडी होती थी ॥ २८ ॥

तेषामुदारसत्त्वगुणकर्म्मणामचिन्त्यत्वात् रसवीर्य्यविपाकप्रभावगुणसमुदितानि प्रादुर्बभूवुः शस्यानि सर्वगुणसमुदितत्वात् पृथिव्यादीनां कृतयुगस्यादौ। भ्रश्यति तु कृतयुगे केषाञ्चिदत्यादानात् साम्पन्निकानां शरीरगौरवमासीत् । सत्त्वानां गौरवाच्छ्रमः श्रमादालस्यमालस्यात्सञ्चयः सञ्चयात् परिग्रहः परिग्रहाल्लोभः प्रादुर्भूतः ॥ २९ ॥

उनके उदारभाव तथा सत्त्वगुण एवम् शुभकर्मोंके फलसे रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव इन उत्तम गुणोंयुक्त खेतियें तथा औषधियें उत्पन्न होती थीं। उस समयकी

अवस्था अब स्मरण भी नहीं की जासकती। क्योंकि तब सत्ययुगके प्रारंभमें पृथ्वी आदिक सर्वगुणसम्पन्न होते थे। सत्ययुगके व्यतीत होजानेपर कुछ मनुष्योंके अत्यन्त आदान (ग्रहण) करनेसे सम्पन्न होकर शरीरमें गौरव उत्पन्न हुआ। गौरव होनेसे श्रम उत्पन्न हुआ, श्रमसे आलस्य, आलस्यसे सञ्चय और सञ्चयसे परिग्रह तथा परिग्रहसे लोभ उत्पन्न हुआ ॥ २९ ॥

ततः कृतयुगे गते त्रेतायां लोभादभिद्रोहः। अभिद्रोहादनृतवचनमनृतवचनात् कामक्रोधमानद्वेषपारुष्याभिघातभयतापशोकचित्तोद्वेगादयः प्रवृत्ताः ॥ ३० ॥

सत्ययुगके चलेजानेपर त्रेतायुगमें लोभके होनेसे अभिद्रोह उत्पन्न हुआ। अभिद्रोहसे असत्यभाषण उत्पन्न हुआ। असत्यभाषणसे काम, कामसे क्रोध, क्रोधसे मान, मानसे द्वेष, द्वेषसे कठोरपन, कठोरपनसे अभिघात, अभिघातसे भय, ताप, शोक, चित्तमें उद्वेग आदिक उत्पन्न हुए ॥ ३० ॥

ततस्त्रेतायां धर्म्मपादोऽन्तर्द्धानमगमत्। तस्यान्तर्द्धानात् पृथिव्यादीनां गुणपादप्रणाशोऽभूत् ॥ ३१ ॥ तत्प्रणाशकृतश्च शस्यानां स्नेहवैमल्यरसवीर्य्यविपाकप्रभावगुणपादभ्रंशः ॥ ३२ ॥

ऐसा होनेसे त्रेतायुगमें धर्मका एक पाद अन्तर्धान होगया। उसके अन्तर्धानसे पृथ्वी आदिके गुणोंमें भी एक पादकी न्यूनता उत्पन्न होगयी है। पृथिवी आदिमें गुणोंके एकपाद नष्ट होनेसे औषधी, अन्न आदिकोंके स्नेह, विमलता, रस, वीर्य, विपाक प्रभाव आदि गुणोंका एकपाद नष्ट होगया ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

ततस्तानि प्रजाशरीराणि हीनगुणपादैर्हीयमानगुणैश्चाहारविहारैरयथापूर्वमुपष्टभ्यमानानि अग्निमारुतपरीतानि प्रागुव्याधिभिर्ज्वरादिभिराक्रान्तानि। अतः प्राणिनो ह्रासमवापुरायुषः क्रमश इति ॥ ३३ ॥

जब द्रव्योंके गुणोंका एक पाद नष्ट होगया तो इन द्रव्यादिकोंके और पृथिव्यादिकोंके एकपाद गुणहीन होनेसे संपूर्ण प्रजागणोंके शरीरमें भी एकपाद गुणकी हीनता होगई। तब एकपाद गुणसे हीन शरीर होनेसे आहार विहारादिकोंमें भी यथाक्रम न्यूनता प्राप्त होगई तथा अग्नि और वायुके व्यतिक्रमसे पहिले ज्वरादि रोगोंसे शरीर आक्रान्त हुआ फिर क्रमपूर्वक मनुष्योंकी आयुका भी ह्रास होनेलगा ॥ ३३ ॥

---

१ परिग्रह परवस्तुके ग्रहणको कहते हैं।

भवति चात्र-युगे युगे धर्म्मपादः क्रमेणानेन हीयते।
गुणपादश्च भूतानामेवं लोकः प्रलीयते ॥ ३४ ॥

यहांपर कहा है कि, युगयुगमें धर्मका एकएक पाद इसी क्रमसे क्षीण होता रहा और उसके क्षीण होनेसे पृथिव्यादिके गुणोंमें द्रव्योंके प्रभावोंमें एवम् मनुष्योंके शरीरमें क्रमसे क्षीणता होती रही ॥ ३४ ॥

संवत्सरशते पूर्णे याति संवत्सरः क्षयम्।
देहिनामायुषः काले यत्र यन्मानमिष्यते ॥ ३५ ॥

सौवर्ष व्यतीत होजानेपर एक शताब्दी क्षय होजाती है इसी प्रकार मनुष्योंकी आयु भी सौवर्ष व्यतीत होनेपर क्षीण होजाती है कलियुगमें आयुका सौवर्षपर्यन्त ही प्रमाण है ॥ ३५ ॥

इति विकाराणां प्रागुत्पत्तिहेतुरुक्तो भवति ॥ ३६ ॥

इस प्रकार रोगोंकी प्रथम उत्पत्तिके कारणको कथन कियागया है ॥ ३६ ॥

एवं वादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच । किन्नु खलु भगवन्! नियतकालप्रमाणमायुः सर्वं न वेति । भगवानुवाच इह अग्निवेश! भूतानामायुर्युक्तिमपेक्षते ॥ ३७ ॥

इस प्रकार कथन करतेहुए भगवान् आत्रेयजीसे अग्निवेश कहने लगे कि हे भगवन्! क्या आयुका प्रमाण सौवर्षका निश्चयात्मक है या नहीं? अर्थात् सब मनुष्योंकी आयु सौवर्षकी नियत है या नहीं। यह सुनकर भगवान् आत्रेयजी कहने लगे कि, हे अग्निवेश! संपूर्ण मनुष्योंकी आयु युक्तिकी अपेक्षा करती है (प्रारब्ध और पुरुषार्थके योगाधीन आयुका प्रमाण है) ॥ ३७ ॥

कर्मोंका वर्णन।

दैवे पुरुषकारे च स्थितं ह्यस्य बलाबलम्।
दैवमात्मकृतं विद्यात्कर्म यत्पूर्वदैहिकम् ॥ ३८ ॥
स्मृतः पुरुषकारस्तु क्रियते यदिहापरम्।
बलाबलविशेषोऽस्ति तयोरपि च कर्म्मणोः ॥ ३९ ॥

आयुका बलाबल दैव और पुरुषकारके आधीन है। मनुष्यके पूर्वजन्मके लियेहुए कर्मको दैव कहते हैं और इस जन्मके कियेहुए कर्मको पुरुषकार कहते हैं। इन दोनों प्रकारके कर्मोंमें भी बलाबलकी विशेषता होती है ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

कर्मके भेद ।

दृष्टं हि त्रिविधं कर्म्म हीनं मध्यममुत्तमम् ।
तयोरुदारयोर्युक्तिर्दीर्घस्य स्वसुखस्य च ॥ ४० ॥

यह द्विविध कर्म तीन प्रकारका होता है हीन, मध्यम और उत्तम । इनमें दैव और पुरुषार्थ दोनों उत्तम होनेसे मनुष्यके सुख और आयुकी नियत अवस्था होती है अर्थात् जिस मनुष्यका दैव और पुरुषकार यह दोनों उत्तम होते हैं वह सुखपूर्वक सौवर्ष जीता रहता है ॥ ४० ॥

नियतस्यायुषो हेतुर्विपरीतस्य चेतरा ।
मध्यमामध्यमस्येष्टा कारणं शृणु चापरम् ॥ ४१ ॥

यह तो हुआ आयुके सौवर्षका प्रमाण । और इससे विपरीत अर्थात् दैव और पुरुषकारके हीनबल होनेसे मनुष्योंकी आयु भी अल्प होती है । दैव और पुरुषकार मध्यम होनेसे आयु भी मध्यम होती है । अब दैव और पुरुषकारमें भी विशेषताको श्रवण करो ॥ ४१ ॥

आयुके नियतानियतपर विचार।

दैवं पुरुषकारेण दुर्बलं ह्युपहन्यते ।
दैवेन चेतरत्कर्म्म विशिष्टेनोपहन्यते ॥ ४२ ॥
दृष्ट्वा यदेके मन्यन्ते नियतं मानमायुषः ।
कर्म किञ्चित्कचित्काले विपाके नियतं महत् ।
किञ्चित्त्वकालनियतं प्रत्ययैः प्रतिबोध्यते । इति ॥ ४३ ॥

यदि दैव दुर्बल हो और मनुष्यका कियाहुआ यह लौकिककर्म (पुरुषकार) बलवान् हो तो पुरुषकार दैवको नष्ट कर देता है । यदि दैव बलवान् हो और पुरुषकार दुर्बल हो तो दैव (प्रारब्धकर्म) पुरुषकारको नष्ट कर देता है ॥ यह देखकर कुछ पुरुष वायुका मान नियत मानते हैं । कोई महाफलवाला कर्म्म नियत कालपर विपाकको प्राप्त हो जाता है । परन्तु हीनबल कर्म्मका काल नियत नहीं होता । परन्तु अन्य किसी प्रत्ययकी सहायता हो और विपाक काल भी आजाए तो वह फल दिखादेता है ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

तस्मादुभयदृष्टत्वादेकान्तग्रहणमसाधु । निदर्शनमपि चात्र उदाहरिष्यामः । यदि हि नियतकालप्रमाणमायुःसर्वं स्यात् तदायुष्कामाणां

न मन्त्रौषधिमणिमङ्गलबल्युपहारहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्ययनप्रणिपातगमनाद्याः क्रिया इष्टयश्च प्रयुज्येरन् ॥ ४४ ॥

इसलिये इन सब पक्षोंको देखकर विना प्रमाण किसी एकको मानलेना अन्याय है सो सब प्रमाण निश्चयात्मक आयुके विषयका उदाहरण देकर कथन करते हैं। यदि विधाताका रचाहुआ ही प्रत्येक व्यक्तिकी आयुका प्रमाण नियत है तो संपूर्ण आयुकी कामनावाले मनुष्यको मंत्र, औषधी, मणि, मंगलकर्म, बलिदान, उपहार, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास, स्वस्त्ययन, नम्रता, शुभ आचरण आदि करनेकी कोई आवश्यकता न होती। अर्थात् दीर्घायुकी कामनासे इन सब शुभकर्मोंको तथा यज्ञादिकोंको कोई भी नहीं किया करता। क्योंकि आयुका प्रमाण तो नियत था ही फिर शुभकर्मोंकी क्या आवश्यकता थी ॥ ४४ ॥

न उद्भ्रान्तचण्डचपलगोगजोष्ट्रखरतुरगमहिषादयः पवनादयश्च दुष्टाः परिहार्य्याः स्युः न प्रपातगिरिविषमदुर्गाम्बुवेगाः। तथा न प्रमत्तोन्मत्तोद्भ्रान्तचण्डचपलमोहलोभाकुलमतयो नारयो, न प्रवृद्धोऽग्निर्न च विविधविषाश्रयाः सरीसृपोरगादयः। न साहसं, न देशकालचर्य्या, न नरेन्द्रप्रकोपः, इत्येवमादयो भावा नाभावकराः स्युः आयुषः सर्वस्य नियतकालप्रमाणत्वात् ॥ ४५ ॥

तथा उद्भ्रांत, चंड, चपल हुए गौ, हाथी, ऊंट, गधा, घोडा, भैंसा तथा दुष्ट पवन आंधी आदिसे बचनेकी कोई आवश्यकता न होती। एवम् पहाड आदिसे गिरनेका विषमस्थानोंमें जानेका, वेगवान् नदी आदिमें बहनेका भी कोई भय न होता और न उपरोक्त कारणोंसे आयु नष्ट हुआ करती। इसीप्रकार प्रमत्त, उन्मत्त, उद्भ्रांत, चंड, चपल, मोह तथा लोभसे व्याकुल मतिवाले शत्रुओंसे भी कोई भय न होता। और प्रबल अग्नि, अनेक प्रकारके विषभरे सर्प आदिकोंसे बचनेकी भी कोई आवश्यकता न होती और साहस तथा देश, कालका विचार, राजाओंके क्रोधका भय आदिक मनुष्योंकी आयुमें हानिकारक न होते। यदि सब मनुष्योंकी आयु नियत समयपर निश्चित होती। इसलिये आयुका नियत मानना ठीक नहीं है ॥ ४५ ॥

न चानभ्यस्ताकालमरणभयनिवारकाणामकालमरणभयमागच्छेत् प्राणिनाम्। व्यर्थाश्चारम्भकथाप्रयोगबुद्धयः स्युर्महर्षीणां रसायनाधिकारे ॥ ४६ ॥

यदि अकालमृत्युका अभाव है तो अकालमृत्यु निवारक भावोंका अभ्यास करनेवाले मनुष्योंके हृदयमें अकाल मृत्युका भय भी नहीं होनाचाहिये। और आयुके बढानेवाले कथा रसायनप्रयोग आदि जो रसायनाधिकारमें महर्षियोंके कथन कियेहैं वह सब भी वृथा और झूठे मानेजायंगे ॥ ४६ ॥

नापीन्द्रो नियतायुषं शत्रुं वज्रेणाभिहन्यात्। नाश्विनावार्त्तं भेषजेनोपपादयेताम्। नर्षयो यथेष्टम् आयुस्तपसा प्राप्नुयुर्न च विदितवेदितव्या महर्षयः ससुरेशाः सम्यक् पश्येयुरुपदिशेयुराचरेयुर्वा ॥ ४७॥

तथा इन्द्र नियत आयुवाले अपने शत्रुओंको वज्रसे नहीं मारसकता और न अश्विनीकुमार औषधियोंद्वारा किसीको आरोग्य कर सकते अर्थात् उनकी चिकित्सा ही वृथा जाती और ऋषिलोग तपके प्रभावसे दीर्घायुको प्राप्त न होते। तथा प्रत्यक्षदर्शी महर्षिगण और इन्द्र भूत, भविष्य, वर्तमानको जानतेहुए आयुर्वर्द्धक और हितकारक आयुर्वेदका उपदेश न करते। एवम् स्वयं भी यज्ञादिक न किया करते ४७॥

अपि च सर्वचक्षुषामेतत्परं यद्दिव्यं चक्षुरिदञ्चास्माकं तेन प्रत्यक्षं यथा पुरुषसहस्राणामुत्थायोत्थायाहवं कुर्वतामकुर्वताञ्चातुल्यायुष्ट्वम् तथा जातमात्राणामप्रतीकारात्प्रतीकाराच्च अविषाविषप्राशिनां चापि अतुल्यायुष्ट्वम्, न च तुल्यो योगक्षेम उदपानघटानां चित्रघटानाञ्चोत्सीदताम् ॥ ४८ ॥

सब प्रमाणोंसे अच्छा प्रमाण हमारी दिव्य आंखेहै। हम लोग प्रत्यक्ष देखते हैं कि सहस्रों मनुष्योंमें जो मनुष्य–लडाई युद्ध आदिमें जाते हैं और जो कभी किसी लडाई, दंगेमें शामिल न होते उनकी आयुमें भी तुल्यता नहीं है अर्थात् संग्राम आदिमें जानेवाले शीघ्र मृत्युको प्राप्त होते हैं और जो संग्राममें नहीं जाते वह उस तात्कालिक मृत्युसे बचे रहते हैं। इसीप्रकार जो मनुष्य जन्म लेते ही औषधादि द्वारा रक्षित रहते हैं और जो नहीं रहते उनकी आयुमें भी तुल्यता नहीं होती। जिन मनुष्योंने प्राणनाशक विष खाया है और जिन्होंने नहीं खाया उनकी आयु भी तुल्य नहीं होती। जो जल पीनेके पात्र नित्यप्रति वर्तनेमें आते हैं और जो चित्रयुक्त पात्र बिना वर्त्ते रक्खे रहते हैं उनकी आयुमें तुल्यता नहीं है अर्थात् नित्य वर्त्ते हुए पात्र शीघ्र घिसकर टूट जाते हैं और जो रक्खे रहते हैं वह चिरकालतक वैसे ही पडे रहते हैं ॥ ४८ ॥

---

(१) यहां चक्षुका अर्थ प्रमाण और दिव्यका अर्थ श्लाघनीय है। सर्वचक्षुषाम्–सर्वप्रमाणानां मध्ये एतत् परं-श्रेष्ठं यदिदं अस्माकं दिव्यं चक्षुरिति चरकोपस्कारः।

तस्माद्धितोपचारमूलं जीवितमतो विपर्य्ययान्मृत्युः ॥ अपि च देश-कालात्मगुणविपरीतानां कर्मणामाहारविकाराणाञ्च क्रियोपयोगः ४९॥

इसलिये मनुष्यका जीवन हित उपचारके आश्रित है । इससे विपरीत अर्थात् अहित सेवनसे आयु नष्ट होती है । तथा देश, काल और सात्म्यके विपरीत कर्मोंके करनेसे एवम् आहारविहारके अनुचित उपयोगसे भी अकालमें आयु नष्ट होती है॥४९॥

सम्यक् सर्वातियोगसन्धारणमसन्धारणमुदीर्णानाञ्च गतिमतां साहसानाञ्च वर्जनमारोग्यानुवृत्तौ उपलभामहे हेतुमुपदिशामः सम्यक् पश्यामश्चेति ॥ ५० ॥

सब प्रकारके अतियोगोंको न करना तथा मलमूत्रादि वेगोंको न रोकना और उचित रीतिपर नित्य भ्रमण करना, खोटे साहसोंको त्याग देना यह सब मनुष्योंको आरोग्यरखनेवाले कारण हैं । यह हमको निश्चय है और ऐसा ही हम देखते भी हैं तथा ऐसा ही कथन करते हैं ॥ ५० ॥

अग्निवेशका प्रश्न ।

अतः परमग्निवेश उवाच । एवं सति अनियतकालप्रमाणायुषां भगवन् ! कथं कालमृत्युरकालमृत्युर्भवतीति ॥ ५१ ॥

इसके उपरान्त अग्निवेश कहनेलगे कि हे भगवन् ! यदि आयुका प्रमाण निश्चित नहीं है तो कालमृत्यु और अकालमृत्यु कैसे होती है अर्थात् कालमृत्यु और अकालमृत्युमें क्या भेद है ॥ ५१ ॥

काल तथा अकालमृत्युका वर्णन ।

तमुवाच भगवानात्रेयः । श्रूयतामग्निवेश ! यथा यानसमायुक्तोऽक्षः प्रकृत्यैवाक्षगुणैरुपेतः स्यात् । स च सर्वगुणोपपन्नो वाह्यमानो यथाकालं स्वप्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छेत् । तथायुः शरीरोपगतबलवतः प्रकृत्या यथावदुपचर्य्यमाणं स्वप्रमाणक्षयादेव अवसानं गच्छति स मृत्युः काले ॥ ५२ ॥ यथा च स एवाक्षोऽतिभाराधिष्ठितत्वाद्विषमपथादपथादक्षचक्रभङ्गाद्वाह्यवाहकदोषादनिर्मोक्षात् पर्य्यसनादनुपाङ्गाच्चान्तराव्यसनमापद्यते । तथायुरप्ययथाबलमारम्भादयथाग्न्यभ्यवहरणाद्विषमाभ्यवहरणाद्विषमशरीरन्यासादतिमैथुनादसत्संश्रयादुदीर्णवेगविनिग्रहात् विधार्य्यवेगाविधारणाद्भूत-

विषवाय्वग्न्युपतापादभिघातादाहारप्रतीकारविवर्जनाच्चान्तराव्यसनमापद्यते। स मृत्युरकाले॥ ५३॥ ५४॥

यह सुनकर भगवान् आत्रेयजी कहनेलगे कि हे अग्निवेश! सुनो जैसे–रथमें लगा हुआ रथचक्रका मध्यमभाग (अक्ष) अपने स्वाभाविक गुणोंसे युक्त हुआ सर्वगुण सम्पन्न होनेपर भी चलते चलते जीर्ण होजानेपर यथासमय अपनी शक्तिके क्षय होजानेसे नष्टभ्रष्ट होजाता है वैसे ही इस शरीरकी आयु भी बलवान् मनुष्यकी प्रकृतिके गुणोंसे यथायोग्य निर्वाहित होतीहुई अपने प्रमाणके क्षय होनेसे नाशको प्राप्त होजाती है। वही इसका मृत्युकाल है अर्थात् उसको कालमृत्यु कहते हैं। और जैसे–उस रथचक्रका अक्ष अत्यन्त भार लादेनेसे अथवा ऊंचेनीचे विषम रास्तेपर चलानेसे, कुमार्ग लेजानेसे अथवा चक्रके कोई अंगभंग होजानेसे या चलानेवाले वाहक आदिके दोषसे तथा उसकी कील आदि उखडजानेसे वह चक्रमण्डल नष्टभ्रष्ट होजाता है वही उसकी अकालमृत्यु है। उसी प्रकार आयु और बलसे विपरीत शरीरकी चेष्टाओंको करनेसे अग्निके बलसे अधिक भोजन करनेसे, विषम आहारके शरीरकी विषमावस्था होनेसे, अधिक मैथुन करनेसे, दुष्टोंके संगसे आयेहुए मलादि वेगोंको रोकनेसे, काम, क्रोधादि वेगोंको न रोकनेसे, भूत, विष, अग्नि, उपताप, चोट इनके संयोगसे, आहारके न करनेसे मनुष्य पूर्णआयुको प्राप्त न होकर बीचमें ही मृत्युको प्राप्त होजाता है। इसीको अकालमृत्यु कहते हैं॥ ९२–९४॥

तथा ज्वरादीनप्यातङ्कान्मिथ्योपचरितानकालमृत्यून् पश्याम इति॥५५

तथा ज्वरादिरोगोंका मिथ्या उपचार करनेसे भी अकालमृत्यु देखनेमें आतीहै ९५

अग्निवेशका प्रश्न।

अथाग्निवेशः पप्रच्छ, किन्नु खलु भगवन्! ज्वरितेभ्यः पानीयमुष्णं भूयिष्ठं प्रयच्छन्ति भिषजो न तथा शीतम्। अस्ति च शीतसाध्यो धातुर्ज्वरकर इति॥ ५६॥

इसके उपरान्त अग्निवेश कहने लगे कि हे भगवन्! प्रायः ऐसा देखनेमें आता है कि जैसे ज्वरार्दित मनुष्योंको प्रायः गर्मजलही पीनेके लिये दियाजाता है वैसे शीतल जल नहीं दियाजाता। और शीतक्रिया साध्य धातु भी ज्वरको उत्पन्न करनेवाली होती है इसलिये उन ज्वरोंमें शीतल जल क्यों नहीं दियाजाता॥ ९६॥

ज्वरमें उष्णजलका विधान।

तमुवाच भगवानात्रेयो ज्वरितस्य कायसमुत्थानदेशकालानभिसमीक्ष्य पाचनार्थं पानीयमुष्णं प्रयच्छन्ति भिषजः। ज्वरो ह्यामा-

शयसमुत्थः प्रायो भेषजानि चामाशयसमुत्थानां विकाराणां पाचन-वमनापतर्पणानि शमनानि भवन्ति पाचनार्थञ्च पानीयमुष्णम्,तस्मा-देतज्ज्वरितेभ्यः प्रयच्छन्ति भिषजो भूयिष्ठम् ॥ ५७ ॥

तब भगवान् आत्रेयजी अग्निवेशसे कहनेलगे कि ज्वरवाले मनुष्यके शरीर, कारण, देश, काल इन सबको विचारकर आमदोषको पचानेके लिये वैद्यलोग गर्मजल पीनेको देते हैं। इसका कारण यह है कि ज्वर-आमाशयसे उत्पन्न होता है और प्रायः आमाशयसे प्रगट होनेवाले रोगमात्रको पाचन, वमन, लंघन आदिकोंसे शान्त करते हैं। और आमके पचानेके लिये गर्म जलका देना उत्तम माना है। इसलिये वैद्यलोग ज्वरवाले मनुष्यको अधिकतर गर्मजल ही पिलाते हैं ॥ ५७ ॥

उष्णजलके गुण।

तद्ध्येषां पीतं वातमनुलोमयति,अग्निमुदर्य्यमुदीरयति। क्षिप्रं जरां गच्छति, श्लेष्माणञ्च परिशोषयति, स्वल्पमपि च पीतं तृष्णाप्रश-मनायोपपद्यते तथायुक्तमपि चैतन्नात्यर्थोत्सन्नपित्ते ज्वरे सदाहभ्रम-प्रलापातिसारे वा प्रदेयम्। उष्णेन हि दाहभ्रमप्रलापातिसारा भूयो-ऽभिवर्द्धन्ते, शीतेनोपशाम्यन्तीति ॥ ५८ ॥

ज्वरार्दित मनुष्योंको गर्मजल पिलानेसे उनके शरीरमें वह जल-वायुको अनु-लोमन करता है, अग्निको दीपन, शीघ्र पाचन होजाता है, कफको परिशोषण करता है तथा थोडाही पीनेसे तृषा शान्त होजाती है। परन्तु यह गर्मजल-इस प्रकार युक्ति-सम्पन्न और गुणकारी होनेपर भी अत्यन्त बढेहुए पित्तके कोपवालेको तथा दाह, भ्रम और प्रलाप एवम् अतिसारयुक्त ज्वरोंमें देना उचित नहीं। क्योंकि इस ज्वरोंमें गरमजल देनेसे-दाह, भ्रम, प्रलाप और अतिसार अधिक बढजाते हैं। और शीतल क्रिया करनेसे तथा शीतल जल देनेसे शान्तिको प्राप्त होते हैं ॥ ५८ ॥

भवति चात्र-शीतेनोष्णकृतान् रोगान् शमयन्ति भिषग्विदः।
ये तु शीतकृता रोगास्तेषाञ्चोष्णं भिषग्जितम् ॥ ५९ ॥

यहांपर कहा है कि, चिकित्साके जाननेवाले वैद्य-गरमीके रोगोंको शीतलक्रिया-द्वारा और शीतसे उत्पन्नहुए रोगोंको उष्ण क्रियाद्वारा शान्त करते हैं ॥ ५९ ॥

एवमितरेषामपि व्याधीनां निदानविपरीतमौषधं कार्य्यम् ॥ ६० ॥

इसी प्रकार अन्य व्याधियोंमें भी कारणसे विपरीत औषधादि द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ६० ॥

तथा तर्पणनिमित्तानामपि व्याधीनां नान्तरेण पूरणमस्ति शान्तिः। तथा पूरणनिमित्तानां नान्तरेणापतर्पणम् ॥ ६१ ॥

जैसे अपतर्पणसे उत्पन्न हुए रोगोंकी तर्पणके विना शान्ति नहीं हो सकती। तर्पणसे उत्पन्न हुए रोगोंकी अपतर्पणके विना शान्ति नहीं होसकती ॥ ॥ ६१ ॥

अपतर्पणके भेद।

अपतर्पणमपि च त्रिविधम्—लङ्घनं, लङ्घनपाचनं, दोषावसेचनञ्चेति। तत्र लङ्घनमल्पदोषाणाम्। लङ्घनेन ह्यग्निमारुतवृद्ध्या वातातपपरीतमिवाल्पमुदकमल्पदोषः प्रशोषमापद्यते ॥ ६२ ॥

अपतर्पणके तीन भेद हैं—लंघन और लंघनपाचन तथा दोषावसेचन। इनमें अल्पदोषवाले मनुष्यको लंघन कराना चाहिये। लंघनके करनेसे जठराग्नि और वायुकी वृद्धि होकर जैसे—पवन और धूपके योगसे अल्पजल सूख जाता है उसी प्रकार अल्पदोष शोषणको प्राप्त होजाते हैं अर्थात् नष्ट होजाते हैं ॥ ६२ ॥

लंघनपाचनके गुण।

लङ्घनपाचनाभ्यां मध्यबलः सूर्य्यसन्तापमारुताभ्यां पांशुभस्मावकिरणैरिव चानतिबहूदकं मध्यदोषः प्रशोषमापद्यते ॥ ६३ ॥

यदि दोष मध्यबल हो तो उसको लंघन पाचन कराना चाहिये। जैसे—सूर्यके संतापसे और वायुके वेगसे तथा गर्दा, मिट्टी आदि डालनेसे मध्यमजल सूखजाता है वैसेही लंघन और पाचनद्वारा मध्यम दोष भी शोषण होजाते हैं ॥ ६३ ॥

दोषावसेचनके गुण।

बहुदोषाणां पुनर्दोषावसेचनमेव कार्य्यम्। न ह्यभिन्ने केदारसेतौ पल्वलप्रसेकोऽस्ति। तद्वद्दोषावसेचनम्। दोषावसेचनन्तु खलु अन्यद्वा भेषजं प्राप्तकालमप्यातुरस्य नैवंविधस्य कुर्य्यात् ॥ ६४ ॥

बढे हुए दोषोंमें दोषावसेचन अर्थात् वमनादि द्वारा विधिपूर्वक दोषोंको निकाल देना चाहिये। जैसे—किसी खेतमें बहुतसा जल इकट्टा हो एक तरफसे खेतकी डौल (सीमा) तोड देनेसे वह जल सब बाहर निकलजाता है। उसी प्रकार दोषावसेचनद्वारा दोषोंको निकाल डालना चाहिये। परन्तु यह दोषावसेचन वा अन्य उत्कट औषधियोंका प्रयोग एवम् शीघ्रकारी औषधी आगे कथन कियेहुए रोगियोंको नहीं देना चाहिये ॥ ६४ ॥

अयोग्यरोगीके लक्षण।

अनपवादप्रतीकारस्य अधनस्यापरिचारकस्य, वैद्यमानिनश्चण्डस्या-

सूयकस्य, तीव्राधर्म्मरुचेरतिक्षीणबलमांसशोणितस्य, असाध्यरोगोपहतस्य,मुमूर्षुलिङ्गान्वितस्य चेति। एवंविधं ह्यातुरमुपचरन् भिषक् पापीयसा अयशसा योगं गच्छतीति ॥ ६५ ॥

जैसे-जिस रोगीको अपने अपयशका भय न हो, जो निर्धन हों, जिसकी कोई सेवा करनेवाला न हो, जो अपने आपको वैद्य मान रहाहो, जो कठोर स्वभाववाला हो, जो निंदक हो, जो अत्यंत पापी हो, जो अतिक्षीण होगयाहो, जो स्वयम् मरनेकी इच्छा रखता हो। इतने प्रकारके रोगियोंकी चिकित्सा करनेसे वैद्य पापी और अपयश अर्थात् बदनामीको प्राप्त होता है ॥ ६५ ॥

तत्र श्लोकाः-अल्पोदकद्रुमो यस्तु प्रवातः प्रचुरातपः।
ज्ञेयः सजाङ्गलो देशः स्वल्परोगतमोऽपि च ॥ ६६ ॥

यहांपर श्लोक हैं-जिन देशोंमें जल और वृक्ष थोडे होतेहैं, वायु बडे वेगसे चलती है, धूप अधिक पडती है उस देशको जांगल देश कहते हैं। ऐसे देशोंमें रोग बहुत कम होतेहैं ॥ ६६ ॥

प्रचुरोदकवृक्षो यो निवातो दुर्लभातपः।
अरूपोऽबहुदोषश्च समः साधारणो मतः ॥ ६७ ॥

जिस देशमें जल और वृक्ष बहुत होते हैं, वायु और धूप बहुत कम लगती है उस देशको आनूप देश कहते हैं। इस देशमें रोग अधिक होतेहैं। जिस देशमें यह दोनों बातें सामान्य हों उसको साधारण देश कहते हैं ॥ ६७ ॥

तदात्वे चानुबन्धो वा यस्य स्यादशुभं फलम्।
कर्म्मणस्तन्न कर्तव्यमेतद् बुद्धिमतां मतम् ॥ ६८ ॥

जिस कर्मके करनेसे उसी समय अथवा कुछ काल पाकर अशुभफल हो वह कर्म कभी भी न करना चाहिये। यह बुद्धिमानोंका मंतव्य है ॥ ६८ ॥

पूर्वरूपाणि सामान्या हेतवः स्वस्वलक्षणाः।
देशोद्ध्वंसस्य भैषज्यं हेतूनां मूलमेव च ॥ ६९ ॥
प्राग्विकारसमुत्पत्तिरायुषश्च क्षयक्रमः।
मरणं प्रतिभूतानां कालाकालविनिश्चयः ॥ ७० ॥
यथा चाकालमरणं यथा युक्तञ्च भेषजम्।
सिद्धिं यात्यौषधं येषां न कुर्य्याद्येन हेतुना ॥ ७१ ॥

तदग्निवेशायात्रेयो निखिलं सर्वमुक्तवान् ।
देशोद्ध्वंसनिमित्तीये विमाने मुनिसत्तमः ॥ ७२ ॥

इति च० सं० जनपदोद्ध्वंसनीयविमानं समाप्तम् ॥ ३ ॥

इस जनपदोद्ध्वंसनीयविमाननामक अध्यायमें जनपद उध्वंसनके पूर्वरूप, सामान्य हेतु और उन सब भावोंके अलग २ लक्षण देशोध्वंसकी चिकित्सा, उसके कारण तथा पूर्वक्रमसे विकारोंकी उत्पत्ति, आयुके क्षय होनेका क्रम तथा मनुष्योंकी काल और अकाल मृत्युका निश्चय, जैसे अकाल मरण होताहै जैसे उनकी औषधी करना चाहिये, जिनको औषधी फलदायक होतींहै, जिनको जिन हेतुओंसे औषधी लाभदायक नहीं होती यह सब भगवान् पुनर्वसु आत्रेयजीने अग्निवेशके प्रति कथन किया है ॥ ६९-७२ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां विमानस्थाने पटियालाराज्यांतर्गतटकसाल-निवासिवैद्यपंचानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्यभाषा-टीकायां जनपदोद्ध्वंसनीयविमानं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः ।

अथातस्त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीयविमानं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीयविमान नामक अध्यायका कथन करते हैं इस प्रकार भगवान् आत्रेयजी कथन करने लगे ॥

रोगविशेषज्ञानके भेद ।

त्रिविधं खलु रोगविशेषज्ञानं भवति । तद्यथा—आप्तोपदेशः, प्रत्यक्ष-मनुमानश्चेति ॥ १ ॥

आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान इन तीन प्रमाणों द्वारा ही सम्पूर्ण रोगोंका विशेष ज्ञान होताहै ॥ १ ॥

आप्तोपदेशका लक्षण ।

तत्राप्तोपदेशो नाम आप्तवचनम् । आप्ता ह्यवितर्कस्मृतिविभागविदो निष्प्रीत्युपतापदर्शिनश्च । तेषामेवंगुणयोगाद्यद्वचनं तत्प्रमाणम् । अप्रमाणं पुनर्मत्तोन्मत्तमूर्खरक्तदुष्टान्तःकरणवचनमिति ॥ २ ॥

इनमें आप्तोपदेश—आप्त पुरुषोंके वचनको कहते हैं । जिन महर्षियोंको सम्पूण विषयोंमें तर्करहित यथार्थ निश्चयात्मक ज्ञान हो । जो भूत, भविष्यत्, वर्त्तमानके ज्ञानको जाननेवाले हैं । जिनकी स्मरणशक्ति कभी नष्ट नहीं होती । जिनको किसीसे राग, द्वेष नहीं है तथा पक्षपात रहित हैं । उन ऋषियोंको आप्त कहते हैं । इस प्रकारके गुणवाले ऋषियोंके वचनको आप्तोपदेश कहते हैं और वह आप्तोपदेश वितर्करहित प्रमाण होता है । जो मनुष्य-मत्त, उन्मत्त, मूर्ख और पक्षपाती है तथा जिनका अन्तःकरण दुष्ट है उनका वचन अप्रामाणिक होता है ॥ २ ॥

प्रत्यक्ष और अनुमान ।

प्रत्यक्षन्तु खलु तद्यत् स्वयमिन्द्रियैर्मनसा चोपलभ्यते ।
अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्षः ॥ ३ ॥

इन्द्रिय और मनके संयोगसे जो अस्मदादिकोंका यह घट है, यह पट है, यह स्थाणु है, यह पुरुष है इस प्रकारका जो निश्चयात्मक ज्ञान होता है उसको प्रत्यक्ष कहते हैं । तर्क और युक्तिसे जो ज्ञान होता है उसको अनुमान कहते हैं ॥ ३ ॥

त्रिविधेन खल्वनेन ज्ञानसमुदयेन पूर्वं परीक्ष्य रोगं सर्वथा सर्वमेवोत्तरकालमध्यवसानमदोषं भवति ॥ ४ ॥

इन तीन प्रकारके प्रमाणों द्वारा अर्थात् ज्ञान समुदाय द्वारा रोगोंकी परीक्षा करके तदनन्तर उनकी चिकित्सा करनी चाहिये। इस प्रकार करनेसे प्रथम मध्यम और उत्तरकाल पर्यन्त सब प्रकार वैद्य निर्दोषी रहता है ॥ ४ ॥

न हि ज्ञानावयवेन कृत्स्ने ज्ञेये ज्ञानमुत्पद्यते । त्रिविधे त्वस्मिञ्ज्ञानसमुदाये पूर्वमाप्तोपदेशाज्ज्ञानम् । ततः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षोपपद्यते । किं ह्यनुपदिष्टपूर्वं प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्ष्यमाणो विद्यात् । तस्माद् द्विविधा परीक्षा ज्ञानवताम्, प्रत्यक्षमनुमानञ्चेति । त्रिविधा वा सहोपदेशेन । तत्रेदमुपदिशन्ति बुद्धिमन्तो रोगमेकैकमेवंप्रकोपमेवंयोनिमेवात्मानमेवमधिष्ठानमेवंवेदनमेवंसंस्थानमेवंशब्दस्पर्शरूपरसगन्धमेवमुपद्रवमेवंवृद्धिस्थानक्षयसमन्वितमेवमुदर्कमेवंनामानमेवंयोगं विद्यात् । तस्मिन्निय प्रतीकारार्था प्रवृत्तिरथवा निवृत्तिरित्युपदेशाज्ज्ञायते ॥ ५ ॥

उपरोक्त तीनों प्रमाणोंमेंसे एकही प्रमाण द्वारा सम्पूर्ण रोगोंका ज्ञान नहीं हो सकता इसालिये इन तीन प्रकारके ज्ञानसमुदायमें व्याधिको प्रथम आप्तोपदेश द्वारा

जानना चाहिये। उसके अनन्तर प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा परीक्षा उपपन्न होती है। तात्पर्य यह हुआ कि, वैद्यक परीक्षा शास्त्रमें पहिले आप्तोपदेश द्वारा व्याधि तथा द्रव्योंके प्रभावको जानकर पीछे प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा निश्चय करना चाहिये। यदि मानुषी बुद्धिके कारण प्रथम ही प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा द्रव्योंकी तथा व्याधियोंकी परीक्षा कीजायगी तो अनेक मनुष्योंके प्राणोंका घात होना संभव है जैसे कोई तत्काल प्राणहारक विषोंको लेकर उससे प्रत्यक्षानुमानकी सिद्धि करना चाहे तो जिस प्राणीपर उसकी परीक्षा कीजायगी उसकी हिंसाका भार वैद्यपरही होगा। इसलिये वैद्यक शास्त्रमें प्रथम आप्तोपदेश द्वारा ज्ञेय विषयको जानकर तदनन्तर प्रत्यक्ष और अनुमानसे जानलेना चाहिये। अब शंका करते हैं कि, जिस विषयका प्रथम आप्तोपदेश द्वारा नहीं जाना है उसको प्रत्यक्ष और अनुमानसे भी जानसकते हैं कि नहीं? सो कहते हैं कि, जिस पदार्थके ज्ञानके लिये प्रथम आप्तोपदेश नहीं हुआ है उसको प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा जानना चाहिये। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्योंने प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रकारकी परीक्षा मानी है। उन दोनोंमें आप्तोपदेश मिलादेनेसे परीक्षा तीन प्रकारकी होती है परन्तु वैद्यक शास्त्रमें प्रत्यक्ष और अनुमान, आप्तोपदेशका आश्रय लेकर ही प्रवृत्त होता है। सो बुद्धिमान् यहां इस प्रकार उपदेश करते हैं कि प्रत्येक रोग इस प्रकार होता है उनके यह २ लक्षण होते हैं। दोषोंका प्रकोपन इस प्रकार होता है। रोगोंके कारण इस प्रकार होते हैं। वातादिकोंके तथा ज्वरादिकोंके स्वरूप इस प्रकारके होते हैं। अधिष्ठान इसको कहते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इस प्रकारके होते हैं। उपद्रव इनको कहते हैं। दोषोंकी तथा रोगोंकी वृद्धि इस प्रकार होती है। दोष साम्यावस्थामें इस प्रकार रहते हैं। धातु आदि क्षीण इस प्रकार होते हैं, रोगोंका उत्तरकाल इस प्रकार जानना, रोगोंका नाम इस प्रकार जानाजाता है। रोगके जाननेका यह प्रकार है ऐसे स्थानमें चिकित्सा करनी चाहिये अथवा नहीं करनी इत्यादि सब ज्ञान आप्तोपदेशसेही होते हैं। इसलिये वैद्यकमें प्रत्यक्ष और अनुमान आप्तोपदेशको पूर्व लिये विना चलही नहीं सकता॥५॥

प्रत्यक्षज्ञानका लक्षण।

प्रत्यक्षतस्तु खलु रोगतत्त्वं बुभुत्सुः सर्वैरिन्द्रियैः सर्वानिन्द्रियार्थानातुरशरीरगतान्परीक्षेतान्यत्र रसज्ञानात्। तद्यथा—अन्त्रकूजनं सन्धिस्फोटनमङ्गुलीपर्वणां च स्वरविशेषांश्च, ये चान्येऽपि केचिच्छरीरोपगताः शब्दाः स्युस्ताञ्श्रोत्रेण परीक्षेत। वर्णसंस्थानप्रमाणच्छायाशरीरप्रकृतिविकारौ चक्षुर्वैषयिकाणि चान्यानि कानि च तानि चक्षुषा परीक्षेत॥ ६॥

प्रत्यक्ष द्वारा रोगके तत्त्वको जाननेकी इच्छावाला वैद्य रसज्ञानके बिना सब इन्द्रियों द्वारा रोगीके शरीरगत इन्द्रियार्थोंकी परीक्षा करे उसीको दिखाते हैं। जैसे—आंतोंका गूंजना, संधियोंका स्फोटन, अंगुलियोंका तथा पर्वोंका मटकना, स्वरभंग होना इनके सिवाय अन्यभी रोगीके शरीरमें होनेवाले जितने प्रकारके शब्द हों उनको वैद्य अपनी कर्णेन्द्रिय द्वारा परीक्षा करे तथा हृदय और धमनी आदिकोंकी गति तथा शब्दज्ञानकारक यन्त्रद्वारा परीक्षा करे। शरीर तथा नेत्र, जिह्वा, नख आदिकोंका वर्ण, मूत्र आकार, प्रमाण, कांति, शरीरकी प्रकृति और विकृति आदिकोंका वर्ण तथा अन्यभी देखने योग्य जो विषय हों उनकी चक्षुइन्द्रिय-द्वारा परीक्षा करे ॥ ६ ॥

अनुमानज्ञानका लक्षण ।

रसन्तु खलु आतुरशरीरगतमिन्द्रियवैषयिकमप्यनुमानादवगच्छेत् । न ह्यस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणमुपपद्यते । तस्मादातुरपरिप्रश्नेनैवातुरमुखरसं विद्यात् । यूकापसर्पणेन त्वस्य शरीरवैरस्यं मक्षिकोपदर्शनेन शरीरमाधुर्य्यम् । लोहितपित्तसन्देहे तु किन्धारि लोहितं लोहितपित्तं वेति, श्वकाकभक्षणात् धारि लोहितम्, अभक्षणाल्लोहितपित्तमित्यनुमातव्यम् । एवमन्यानप्यातुरशरीरगतान् रसाननुमिमीत । गन्धांस्तु खलु सर्वशरीरगतानातुरस्य प्रकृतिवैकारिकान् घ्राणेन परीक्षेत, स्पर्शञ्च पाणिना प्रकृतियुक्तमिति प्रत्यक्षतोऽनुमानैकदेशतश्च परीक्षणमुक्तम् ॥ ७ ॥

परन्तु रोगीके शरीरगत रसनेन्द्रियका विषय होनेपरभी अनुमान द्वारा जानना चाहिये। क्योंकि रसका नेत्रोंद्वारा प्रत्यक्ष हो नहीं सकता और जिह्वाद्वारा उसको कोई जान नहीं सकता इसलिये रोगीसे प्रश्नद्वारा उसके मुखके रसादिकोंको जानना चाहिये। शरीरपर यूका आदिके चलनेसे शरीरकी विरसताको जानने चाहिये, मक्खियोंके शरीरपर पडनेसे शरीरके मीठेरसका अनुमान होसकता है। रक्तपित्त रोगवालेका रक्त तथा विना रक्तपित्तवालेके रक्तमें सन्देह हो तो कुत्ते और कागको भक्षण करानेसे जान सकते हैं यदि उसको श्वान आदि भक्षण करे तो आरोग्य पुरुषका रक्त समझना चाहिये और यदि वह श्वान आदिक उस रक्तको न छुएं तो रक्तपित्त है ऐसा जानना चाहिये इसी प्रकार रोगीके शरीरगत अन्य रसोंका भी अनुमान करे रोगीके शरीरगत गन्धोंको स्वाभाविक प्रकृतिसे विकारको प्राप्त हुए गन्धको घ्राणेन्द्रिय-द्वारा परीक्षा करे। शरीरकी प्रकृति, विकृति, उष्णता, शीतता आदि एवम् धमनीकी

गति आदि-हाथके स्पर्शद्वारा परीक्षा करे इस प्रकार प्रत्यक्षसे तथा अनुमानके एकदेशसे परीक्षाका कथन किया गया है ॥ ७ ॥

अन्य अनुमान ज्ञेय भावोंका वर्णन ।

इमे तु खलु अन्येऽप्येवमेव भूयोऽनुमानज्ञेया भवन्ति भावाः। तद्यथा—अग्निं जरणशक्त्या, बलं व्यायामशक्त्या, श्रोत्रादीञ्छब्दादिग्रहणेन, मनोऽर्थाव्यभिचारेण, विज्ञानं व्यवसायेन, रजः सङ्गेन, मोहमविज्ञानेन, क्रोधमभिद्रोहेण, शोकं दैन्येन, हर्षमामोदेन, प्रीतिं तोषेण, भयं विषादेन, धैर्यमविषादेन, वीर्य्यमुत्साहेन, स्थानमविभ्रमेण, श्रद्धामभिप्रायेण, मेधां ग्रहणेन, संज्ञां नामग्रहणेन, स्मृतिं स्मरणेन, ह्रियमपत्रपेण, शीलमनुशीलनेन, द्वेषं प्रतिषेधेन, उपाधिमनुबन्धेन, धृतिमलौल्येन, वश्यतां विधेयतया, वयोभक्तिसात्म्यव्याधिसमुत्थानानि कालदेशोपशयवेदनाविशेषेण, गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्याम्, दोषप्रमाणविशेषमपचारविशेषेण, आयुषः क्षयमरिष्टैः, उपस्थितश्रेयस्त्वं कल्याणाभिनिवेशेन, अमलं सत्त्वमविकारेणेति। ग्रहण्यास्तु मृदुदारुणत्वं दुःस्वप्नदर्शनमभिप्रायं द्विष्टेष्टसुखदुःखानि चातुरपरिप्रश्नेनैव विद्यादिति ॥ ८ ॥

यह आगे कथन किये हुए विषयों तथा उनके सिवाय और भी जो भाव हैं उनकी अनुमान द्वारा परीक्षा करनी चाहिये । जैसे भोजनके परिपाक द्वारा जठराग्निकी परीक्षा, परिश्रम आदिसे बलकी परीक्षा, शब्दादिकसे कर्णादिकोंकी परीक्षा, मनके विषयोंके अव्यभिचारसे मनकी परीक्षा, व्यवसाय—अर्थात् बुद्धिके कार्योंसे विज्ञानकी परीक्षा, संगद्वारा रजोगुणकी परीक्षा, नष्टज्ञानद्वारा मोहकी परीक्षा, अभिद्रोह द्वारा क्रोधकी परीक्षा, दीनताद्वारा शोककी परीक्षा, प्रसन्नतासे हर्षकी परीक्षा, संतोषसे प्रीतिकी परीक्षा, विषादसे भयकी परीक्षा, अविषादसे धैर्यकी परीक्षा, उत्साहसे पराक्रमकी परीक्षा, अभ्रान्तिसे स्थिरताकी परीक्षाका अनुमान करना चाहिये । एवम् मनके अभिप्रायसे श्रद्धा, धारणासे मेधा, नाम लेनेसे संज्ञा, स्मरणसे स्मृति, संकोचसे लज्जा, शीलतासे स्वभाव, त्यागसे द्वेष, अनुबंधसे उपाधि, चपलता न होनेसे धृति और विधेयतासे वशीभूतकी परीक्षाका अनुमान किया जाता है । इसी प्रकार—काल, देश, उपशय और वेदनाविशेषसे यथाक्रम, अवस्था, भक्ति, सात्म्य, व्याधि तथा निदानका अनुमान किया जाता है । उपशय और अनुपशय द्वारा गूढ लक्षणवाली

व्याधियोंका अनुमान किया जाता है। अपचारविशेषसे दोषका प्रमाण विशेष जाना जाता है, अरिष्टद्वारा आयुके क्षयका अनुमान किया जाता है। कल्याणकारक योगोंमें चित्तके लगनेसे शुभका अनुमान कियाजाता है और विकाररहित होनेसे विमल सतोगुणका अनुमान कियाजाता है। ग्रहणीकी नम्रता और कठोरता दुःस्वप्न दर्शन, अभिप्राय, द्वेष, इष्ट, सुख, दुःख यह सब विषय रोगीसे प्रश्नद्वारा जानने चाहिये॥८॥

भवन्ति चात्र—आप्ततश्चोपदेशेन प्रत्यक्षकरणेन च ।
अनुमानेन च व्याधीन्सम्यग्विद्याद्विचक्षणः ॥ ९ ॥

चतुर वैद्य आप्तोंके उपदेशसे, प्रत्यक्ष करणसे एवम् अनुमानसे व्याधियोंको भली प्रकार जाने ॥ ९ ॥

सर्वथा सर्वमालोच्य यथासम्भवमर्थवित् ।
अथाध्यवस्येत्तत्त्वे च कार्य्ये च तदनन्तरम् ॥ १० ॥

अर्थको जाननेवाला वैद्य सब प्रकारसे सब विषयोंको विचारकर यथासंभव कारण और कार्यको जान लेवे। जब संपूर्ण कारणादिका निश्चय करलेवे तदनन्तर कार्यके विषयमें निश्चय करे ॥ १० ॥

कार्य्यतत्त्वविशेषज्ञः प्रतिपत्तौ न मुह्यति ।
अमूढः फलमाप्नोति यदमोहनिमित्तजम् ॥ ११ ॥

कार्यके तत्त्वके निश्चयज्ञानवाला वैद्य समय प्राप्त होनेपर मोहको प्राप्त नहीं होता। मोहको प्राप्त न होनेसे यथार्थ फलको प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन यो नाविशति तत्त्ववित् ।
आतुरस्यान्तरात्मानं न स रोगांश्चिकित्सति ॥ १२ ॥

जिस वैद्यने कारणादि ज्ञान तथा बुद्धिरूप दीपकसे रोगीके शरीरमें प्रवेश नहीं किया है वह वैद्य रोगोंकी चिकित्सा नहीं कर सकता ॥ १२ ॥

सर्वरोगविशेषाणां त्रिविधं ज्ञानसंग्रहम् ।
यथा चोपदिशन्त्याप्ताः प्रत्यक्षं गृह्यते यथा ॥ १३ ॥
ये यथा चानुमानेन ज्ञेयास्तांश्चात्युदारधीः ।
भावांस्त्रिरोगविज्ञाने विमाने मुनिरुक्तवान् ॥ १४ ॥

इति श्रीमच्चरकसंहितायां त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीयं
नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अब अध्यायका उपसंहार करते हैं कि, त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीय अध्यायमें सम्पूर्ण रोगविशेषको जाननेके लिये तीन प्रकारके ज्ञानका संग्रह जैसे आप्त पुरुष उपदेश करते हैं। जैसे प्रत्यक्षका ग्रहण होता है। जो विषय अनुमान द्वारा जैसे जानेजाते हैं। इन सब भावोंको उदार बुद्धि भगवान् आत्रेयजीने वर्णन किया है ॥१३॥१४॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां पटियालाराज्यान्तर्गतटकसालनिवासिवैद्यपञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्यभाषाटीकायां त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीयविमानं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः।

अथातः स्रोतोविमानं नामाध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम स्रोतोविमाननामक अध्यायकी व्याख्या करते हैं। इस प्रकार भगवान् आत्रेयजी कथन करने लगे ॥

स्रोतोंका वर्णन ।

यावन्तः पुरुषे मूर्तिमन्तो भावविशेषास्तावन्त एवास्मिन् स्रोतसां प्रकारविशेषाः । सर्वे भावा हि पुरुषेणान्तरेण स्रोतांस्यभिनिवर्तन्ते क्षयं वा न गच्छन्ति । स्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनामभिवाहीनि भवन्ति अयनार्थेन । अपि चैके महर्षयः स्रोतसामेव समुदयं पुरुषमिच्छन्ति । सर्वगतत्वात् सर्वसरत्वाच्च दोषप्रकोपणप्रशमनानाम् । न त्वेतदेवं, यस्य स्रोतांसि यच्च वहन्ति यच्चावहन्ति यत्र चावस्थितानि सर्वं तदन्यत्तेभ्यः ॥ १ ॥

पुरुषके शरीरमें शिरा, कोष्ठ आदि स्थूल पदार्थ हैं वह सब स्रोतोंके ही प्रकारान्तर हैं क्योंकि पुरुषके शरीरमें संपूर्णभाव स्रोतोंद्वाराही उत्पन्न होते हैं और क्षय नहीं होते। स्रोत ही परिणामको प्राप्तहुए सम्पूर्ण धातुओंको वहन करतेहैं अर्थात् यथास्थानमें पहुंचा देते हैं। स्रोत ही अयनार्थ होते हैं क्योंकि संपूर्ण शरीरमें सर्वगामी होनेसे तथा दोषोंके प्रकोपकारक अथवा शमनकारक किये हुए आहारादिकोंको सम्पूर्ण शरीरमें व्यापक करदेते हैं। इसलिये कोई २ स्रोतोंके समुदायको ही पुरुष

मानते हैं। परन्तु स्त्रोतोंका समुदाय पुरुष नहीं होता। स्त्रोतोंके समुदायका जो अधिष्ठाता है स्त्रोत जिसके आश्रित हैं, जिसके लिये स्त्रोत रसादिकोंको वहन करते हैं वह पुरुष है तथा स्त्रोत जिसको वहन करते हैं और जिसका आवहन करते हैं वह स्त्रोतोंसे पृथक् पुरुष हैं ॥ १॥

अतिबहुत्वात् तु खलु केचिदपरिसंख्येयानि आचक्षते स्त्रोतांसि, परिसंख्येयानि पुनरन्ये। तेषां स्त्रोतसां यथास्थानं कतिचित्प्रकारान् मूलतश्च प्रकोपविज्ञानतश्चानुव्याख्यास्यामः। ये भविष्यन्त्यलमनुक्तार्थं ज्ञानवते विज्ञानाय चाज्ञानाय। तद्यथा--प्राणोदकान्नरसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रमूत्रपुरीषस्वेदवहानि। वातपित्तश्लेष्मणां पुनः सर्वशरीरचराणां सर्वस्त्रोतांसि अयनभूतानि ॥ २ ॥

अत्यन्त अधिक होनेसे कोई २ स्त्रोतोंको असंख्य कहते हैं। कोई कहते हैं कि स्त्रोतोंकी संख्या होसकती है। उन स्त्रोतोंको प्रकार भेदसे तथा मूलभेदसे और उनके प्रकोप विज्ञानसे यथा स्थान आगे कथन करेंगे। क्योंकि सम्पूर्ण स्त्रोतोंका विषय जानलेनेसे जिन स्त्रोतोंका कथन नहीं भी कियागया उनको भी ज्ञानवान् मनुष्य जान सकताहै। तथा यथोचित उपदेश द्वारा अज्ञानी भी जानसकेंगे। वह इस प्रकार हैं प्राणवाही, उदकवाही, अन्नवाही, रसवाही, रक्तवाही, मांसवाही, मेदवाही एवम् अस्थि, मज्जा, शुक्र, मूत्र, मल, स्वेद इनके वहन करनेवालोंको स्त्रोत कहते हैं तथा वात, पित्त और कफ सम्पूर्ण शरीरमें गमन करानेवाले होनेके कारण सब स्त्रोत इन तीनोंके अपने अयन अर्थात् मार्ग होते हैं ॥ २ ॥

तद्वदतीन्द्रियाणां पुनः सत्त्वादीनां केवलं चेतनावच्छरीरमयनभूतमधिष्ठानभूतञ्च। तदेतत् स्त्रोतसां प्रकृतिभूतत्वान्न विकारैरुपसृज्यते शरीरम्। तत्र प्राणवहानां स्त्रोतसां हृदयं मूलं महास्त्रोतश्च। प्रदुष्टानामिदं विशेषज्ञानं भवति। अतिसृष्टकुपितं सप्रतिबन्धमल्पाल्पमभीक्ष्णं वा सशब्दशूलमुच्छ्वसन्तं दृष्ट्वा प्राणवहान्यस्य स्त्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात् ॥ ३ ॥

उसी प्रकार चेतनायुक्त केवल शरीर-इन्द्रियोंका तथा मन आदिकोंका गतिस्थान मार्गरूप एवम् अधिष्ठान होता है। यही कारण है कि सम्पूर्ण स्त्रोत प्रकृतिभूत होनेसे शरीरमें विकारको नहीं होनेदेते। इनमें प्राणोंके वहन करनेवाले स्त्रोतोंका मूल हृदय

है और उसको महास्रोत भी कहते हैं। यह स्रोत जब दूषित होते हैं तब इनमें यह विशेषता होती है कि उच्छ्वासको अधिक छोडे, बहुत तेज या रुककर थोडा २ अथवा शब्दयुक्त शूलके साथ श्वास आवे। इन लक्षणोंसे प्राणवाहक स्रोतोंको दूषित हुआ जानें ॥ ३ ॥

दूषित उदकवाही स्रोतके लक्षण।

उदकवहानां स्रोतसां तालुमूलं क्लोम च। प्रदुष्टानामिदं विज्ञानम्। तद्यथा जिह्वाताल्वोष्ठकण्ठक्लोमशोषं पिपासाञ्चातिप्रवृद्धां दृष्ट्वोदकवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात् ॥ ४ ॥

जलके वहन करनेवाले स्रोतोंका मूल तालु और क्लोम होता है। यदि यह स्रोत दूषित होजांय तो इनके ये लक्षण होते हैं। जैसे–जिह्वा, तालु, ओष्ठ और क्लोम, (प्यास लगानेवाली कारणभूत स्थान) ये सूखने लगें प्यास अधिक लगे। इन लक्षणोंसे जलके वहन करनेवाले स्रोतोंको दूषित हुआ जाने ॥ ४ ॥

दूषित अन्नवाही स्रोतके लक्षण।

अन्नवहानां स्रोतसामामाशयो मूलं वामञ्च पार्श्वम्। प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति। तद्यथा–अनन्नाभिलषणमरोचकाविपाकौ छर्दिश्च दृष्ट्वा अन्नवहानि स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्॥५॥

अन्नके वहन करनेवाले स्रोतोंका मूल–आमाशय और वामपार्श्वभाग है। इन स्रोतोंके दूषित होनेसे यह लक्षण होते हैं। जैसे–अन्नकी अभिलाषा न होना, अरुचि होना, अन्नका परिपाक न होना, छर्दि होना इन लक्षणोंसे अन्नके वहन करनेवाले स्रोतोंको दूषित हुआ जानना चाहिये ॥ ५ ॥

रसवहादिस्रोतोंका वर्णन।

रसवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं दश च धमन्यः। शोणितवहानां स्रोतसां यकृत् मूलं प्लीहा च। मांसवहानाञ्च स्रोतसां स्नायुमूलं त्वक् च। मज्जावहानां स्रोतसामस्थीनि मूलं सक्थयश्च। शुक्रवहानां स्रोतसां वृषणौ मूलं शेफश्च। प्रदुष्टानां तु रसादिस्रोतसां खलु एषां विज्ञानान्युक्तानि विविधाशितीये अध्याये। यान्येव हि धातूनां प्रदोषविज्ञानानि तान्येव यथास्वं धातुस्रोतसाम् ॥ ६ ॥

रसके वहन करनेवाले स्रोतोंका मूल हृदय और दश धमनियें हैं। रक्तवाहक स्रोतोंका मूल–यकृत् (जिगर) और प्लीहा (तिल्ली) होते हैं। मांसके वहन करने-

वाले स्रोतोंका मूल स्नायु, नसें और त्वचा हैं । मज्जाके वहन करनेवाले स्रोतोंका मूल अस्थियें और सक्थि हैं । वीर्यके वहन करनेवाले स्रोतोंका मूल दोनों वृषण और लिंग हैं । इन रसादिक वहन करनेवाले स्रोतोंके बिगडनेसे जो लक्षण होते हैं वह विविधाशितपीतीय अध्यायमें वर्णन कियागया है ॥ ६ ॥

मूत्रवाही स्रोतोंके लक्षण ।

मूत्रवहानां स्रोतसां बस्तिर्मूलं वंक्षणौ च । प्रदुष्टानां खल्वेषामिदं विज्ञानमतिसृष्टं प्रतिबद्धं कुपितमल्पाल्पमभीक्ष्णं वा सशूलं मूत्रं मूत्रवन्तं दृष्ट्वा मूत्रवहाण्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात् ॥ ७ ॥

मूत्रको वहन करनेवाले स्रोतोंका मूल-बस्ति और वंक्षण हैं । इनको दूषित हुए जाननेके ये लक्षण होते हैं । जैसे-मूत्रका अधिक आना अथवा मूत्रका बद्ध होजाना मूत्रका बिगडाहुआ होना मूत्रका लगकर आना थोडा २ आना वा दर्दके साथ आना इस प्रकारके मूत्रके लक्षणोंको देखकर मूत्रवाहक स्रोतोंको दूषित जानना चाहिये॥७॥

पुरीषवाही स्रोतोंके लक्षण ।

पुरीषवहानां स्रोतसां पक्वाशयो मूलं स्थूलगुदश्च । प्रदुष्टानां खलु एषामिदं विज्ञानम्, कृच्छ्रेण अल्पाल्पं सशूलमतिद्रवं कुपितमतिवृद्धं चोपविशन्तं दृष्ट्वा पुरीषवहाण्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात् ॥ ८ ॥

पुरीष (मल) के वहन करनेवाले स्रोतोंका मूल पक्वाशय, स्थूल अंतडी और गुदा हैं । उनके दूषित होनेसे यह लक्षण होते हैं जैसे -कष्टके साथ थोडा २ मल उतरना, दर्दके साथ मल उतरना, बहुत पतला मल आना, तेजगर्मीके साथ मल आना, रुककर अत्यन्त सूखा मल आना । इन लक्षणोंको देखकर मलके वहन करनेवाले स्रोतोंको दूषित जानना ॥ ८ ॥

स्वेदवाही स्रोतोंके लक्षण ।

स्वेदवहानां स्रोतसां मेदो मूलं रोमकूपाश्च । प्रदुष्टानां खल्वेषामिदं विज्ञानमस्वेदनमतिस्वेदनं पारुष्यमतिश्लक्ष्णतां परिदाहं लोमहर्षञ्च दृष्ट्वा स्वेदवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात् ॥ ९ ॥

स्वेदके वहन करनेवाले स्रोतोंका मूल मेद तथा रोमकूप हैं । इनको दूषित हुए जाननेके ये लक्षण हैं । पसीना न आना अथवा अधिक आना, रोमकूपोंका कठोर होना या अत्यंत नरम होना, शरीरमें दाह होना, रोमोंका खडा होना इन लक्षणोंको देखकर स्वेदवाहक स्रोतोंका दूषितहुआ जानना ॥ ९ ॥

शरीरधात्ववकाशोंके नाम।

स्रोतांसि शिरा धमन्यो रसवाहिन्यो नाड्यः पन्थानो मार्गाः शरीरच्छिद्राणि संवृतासंवृतानि स्थानानि आशयाः आलयाः निकेताश्चेति शरीरधात्ववकाशानां लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि ॥ १० ॥

स्रोत, शिरा, धमनियें, रसवाहनी नाडियें, पथसमूह, मार्ग, शरीरछिद्र, संवृतस्थान, असंवृतस्थान, आशय, निकेतन, आलय यह सब नाम शरीरके धातुओंके लक्ष्य तथा अलक्ष्य स्थानोंके हैं ॥ १० ॥

तेषां प्रकोपात्स्थानस्थाश्चैव मार्गगाश्चैव शरीरधातवः प्रकोपमापद्यन्ते ११

उनके कुपित होनेसे स्थानमें स्थित तथा मार्गमें गमन करनेवाली शारीरिक धातुयें भी कोपको प्राप्त होजाती हैं ॥ ११ ॥

इतरेषां वा प्रकोपादितराणि ॥ १२ ॥

अन्य स्रोतोंके कोपसे अन्य स्रोत भी कुपित होजाते हैं ॥ १२ ॥

स्रोतांसि स्रोतांस्येव धातवश्च धातून्प्रदूषयन्ति ॥ १३ ॥

एक धातु दूषित होकर दूसरी धातुको दूषित करदेती है स्रोत दूषित होकर अन्य स्रोतोंभी दूषित कर देते हैं ॥ १३ ॥

एषां सर्वेषामेव वातपित्तश्लेष्माणो दुष्टा दूषयितारो भवन्ति दोषस्वभावादिति ॥ १४ ॥

वात, पित्त कफ दूषित होकर इन सब स्रोतोंको अपने दोष स्वभावसे दूषित करदेते हैं ॥ १४ ॥

प्राणवाही स्रोतोंके दूषित होनेका कारण।

भवति चात्र–क्षयात्सन्धारणाद्रौक्ष्याद्व्यायामात्क्षुधितस्य च।
प्राणवाहीनि दुष्यन्ति स्रोतांस्यन्यैश्च दारुणैः ॥ १५ ॥

प्राणोंको वहन करनेवाले स्रोत–धातुओंके क्षीण होनेसे, वेगोंको धारण करनेसे, रूक्षतासे, अधिक परिश्रम करनेसे, बहुत क्षुधा लगनेसे तथा अन्य दुष्ट कारणोंसे दूषित होते हैं ॥ १५ ॥

उदकवाही स्रोतोंके दूषित होनेका कारण।

औष्ण्यादामाद्भयात्पानादतिशुष्कान्नसेवनात्।
अम्बुवाहीनि दुष्यन्ति तृषायाश्चातिपीडनात् ॥ १६ ॥

उष्णतासे, आमदोषसे, भयसे, मद्य आदि पीनेसे, अधिक शुष्क अन्न सेवनसे, अत्यन्त प्यास लगनेसे जलके वहन करनेवाले स्रोत दूषित होते हैं ॥ १६ ॥

अन्नवाही स्रोतोंके दूषित होनेका कारण।

अतिमात्रस्य चाकाले चाहितस्य च भोजनात्।
अन्नवाहीनि दुष्यन्ति वैगुण्यात्पावकस्य च ॥ १७ ॥

अधिक भोजन करनेसे, वेसमय भोजन करनेसे, विषम भोजन करनेसे, अहित भोजन करनेसे, जठराग्निकी विगुणतासे अन्नके वहन करनेवाले स्रोत दूषित होते हैं ॥ १७॥

रसवाही स्रोतोंके दूषित होनेका कारण।

गुरुशीतमतिस्निग्धमतिमात्रनिषेवणात्।
रसवाहीनि दुष्यन्ति चिन्त्यानाञ्चातिचिन्तनात् ॥ १८ ॥

भारी, शीतल और अत्यन्त स्निग्ध पदार्थोंके अधिक सेवनसे बहुत चिन्ताके करनेसे रसके वहन करनेवाले स्रोत दूषित होते हैं ॥ १८ ॥

रक्तवाही स्रोतोंके दूषित होनेका कारण।

विदाहीन्यन्नपानानि स्निग्धोष्णानि द्रवाणि च।
रक्तवाहीनि दुष्यन्ति भजताञ्चातपानलौ ॥ १९ ॥

विदाही अन्नपानके सेवनसे तथा स्निग्ध, उष्ण और द्रव पदार्थोंके सेवनसे, धूप, अग्नि इनके सेवनसे रक्तवाही स्रोत दूषित होते हैं ॥ १९. ॥

मांसवाही स्रोतोंके दूषित होनेका कारण।

अभिष्यन्दीनि भोज्यानि स्थूलानि च गुरूणि च।
मांसवाहीनि दुष्यन्ति भुक्त्वा च स्वपतो दिवा ॥ २० ॥

अभिष्यन्दी, स्थूल और भारी पदार्थोंके भोजन करनेसे, भोजन कर दिनमें सोजानेसे मांसवाही स्रोत दूषित होते हैं ॥ २० ॥

मेदोवाही स्रोतोंके दूषित होनेका कारण।

अव्यायामाद्दिवास्वप्नान्मेध्यानाञ्चातिभक्षणात्।
मेदोवाहीनि दुष्यन्ति वारुण्याश्चातिसेवनात् ॥ २१ ॥

व्यायाम न करनेसे, दिनमें सोनेसे, चिकने पदार्थोंके अधिक खानेसे और मद्यके अधिक पीनेसे, मेदको वहन करनेवाले स्रोत दूषित होते हैं ॥ २१ ॥

अस्थिवाही स्रोतोंके दूषित होनेका कारण।

व्यायामादतिसंक्षोभादस्थ्नामाति च भक्षणात्।
अस्थिवाहीनि दुष्यन्ति वातलानाञ्च सेवनात् ॥ २२ ॥

अधिक व्यायामके करनेसे, अत्यन्त संक्षेपणसे, अस्थियोंके चबानेसे तथा वातवर्द्धक पदार्थोंके सेवनसे अस्थिवाही स्रोत दूषित होजाते हैं ॥ २२ ॥

मज्जावाही स्रोतोंके दूषित होनेका कारण।

उत्पेषादत्यभिष्यन्दादभिघातात् प्रपीडनात् ।
मज्जावाहीनि दुष्यन्ति विरुद्धानाञ्च सेवनात् ॥ २३ ॥

किसी वस्तुके नीचे दबजानेसे, अभिष्यंदी पदार्थोंके सेवनसे, चोटके लगनेसे, शरीरके प्रपीडनसे, एवम् विरुद्ध पदार्थोंके सेवनसे मज्जाके वहन करनेवाले स्रोत दूषित होते हैं ॥ २३ ॥

शुक्रवाही स्रोतोंके दूषित होनेका कारण।

अकालायोनिगमनान्निग्रहादतिमैथुनात् ।
शुक्रवाहीनि दुष्यन्ति शस्त्रक्षाराग्निभिस्तथा ॥ २४ ॥

विना समय मैथुन करनेसे, अयोग्य मैथुन करनेसे, बिलकुल मैथुन न करनेसे, अधिक मैथुन करनेसे, शस्त्र, क्षार तथा अग्निके संयोगसे वीर्यवाही स्रोत दूषित होते हैं ॥ २४ ॥

मूत्रवाही स्रोतोंके दूषित होनेका कारण।

मूत्रितोदकभक्षस्त्रीसेवनान्मूत्रनिग्रहात् ।
मूत्रवाहीनि दुष्यन्ति क्षीणस्याथ कृशस्य च ॥ २५ ॥

मूत्रके वेग आयेहुएपर मूत्रको रोककर पानी पीनेसे एवम् मूत्रके वेगको रोककर स्त्रीगमन करनेसे मूत्रको रोकनेसे तथा क्षीणता और कृशता होनेसे मूत्रवाही स्रोत दूषित होजाते हैं ॥ २५ ॥

मलके स्रोतोंके दूषित होनेका कारण।

विधारणादत्यशनादजीर्णाध्यशनात्तथा ।
वर्चोवाहीनि दुष्यन्ति दुर्बलाग्नेः कृशस्य च ॥ २६ ॥

मलके वेगको रोकनेसे, अधिक भोजन करनेसे, अजीर्णमें भोजन करनेसे, दुर्बल अग्निके होनेसे तथा कृशताके कारण मलवाही स्रोत दूषित होते हैं ॥ २६ ॥

स्वेदवाही स्रोतोंके दूषित होनेका कारण।

व्यायामादतिसन्तापाच्छीतोष्णाक्रमसेवनात् ।
स्वेदवाहीनि दुष्यन्ति क्रोधशोकभयैस्तथा ॥ २७ ॥

अधिक व्यायाम करनेसे, अधिक धूप, तथा तापके सहनेसे, विकृतभावसे, सर्दी गर्मीके सेवनसे, शोक तथा भयसे, स्वेदके वहन करनेवाले स्रोत दूषित होजाते हैं २७

अन्य कारण।

आहारश्च विहारश्च यः स्याद्दोषगुणैः समः।
धातुभिर्विगुणश्चापि स्रोतसां स प्रदूषकः ॥ २८ ॥

जो आहार विहार—वात, पित्त, कफके साम्यगुणकारी हैं वह स्त्रोतोंको दूषित करते हैं जो आहार विहार रसरक्तादि धातुओंके असमान गुण करनेवाले हैं वह भी स्त्रोतोंको दूषित करते हैं ॥ २८ ॥

अतिप्रवृत्तिः सङ्गो वा शिराणां ग्रन्थयोऽपि वा।
विमार्गगमनं वापि स्रोतसां दुष्टलक्षणम् ॥ २९ ॥

मलादिकोंकी अधिक वृद्धि अथवा विरोध होना तथा नसोंमें गांठका पडना और मलोंको अपने मार्ग त्यागकर दूसरे मार्गद्वारा निकलना यह दूषितहुए स्त्रोतोंके लक्षण होते हैं ॥ २९ ॥

स्त्रोतोंकी आकृति।

स्वधातुसमवर्णानि वृत्तस्थूलान्यणूनि च।
स्रोतांसि दीर्घाण्याकृत्या प्रतानसदृशानि च ॥ ३० ॥

संपूर्ण स्त्रोत अपने २ धातुके समान वर्णवाले गोलाकार मुखवाले, स्थूल अथवा सूक्ष्म आकारके होतेहैं ॥ ३० ॥

दूषित स्त्रोतोंकी चिकित्साका विधान।

प्राणोदकान्नवाहानां दुष्टानां श्वासिकी क्रिया।
कार्य्या तृष्णोपशमनी तथैवामप्रदोषिकी ॥ ३१ ॥

प्राणवाही स्त्रोत,जलवाही स्त्रोत,और अन्नवाही स्त्रोतोंके दूषित होनेपर श्वास रोगके समान चिकित्सा करनी चाहिये तथा तृषानाशक और आमनाशक चिकित्सा करनी चाहिये। अर्थात् प्राणवाही स्त्रोतोंके दूषित होनेसे श्वासचिकित्सा, जलवाही स्त्रोतोंके दूषित होनेसे तृषानाशक चिकित्सा, अन्नवाही स्त्रोतोंके दूषित होनेसे आमदोषनाशक चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ३१ ॥

विविधाशितपीतीये रसादीनां यदौषधम्।
दूषितस्रोतसां कुर्य्यात्तद्यथास्वमुपक्रमम् ॥ ३२ ॥

रस आदि धातुओंके वहन करनेवाले स्त्रोतोंके दूषित होनेपर विविधाशितपीतीय-अध्यायमें कथन की हुई रस रक्तादिकोंकी चिकित्सा क्रमपूर्वक करनी चाहिये ३२॥

मूत्रविट्स्वेदवाहानां चिकित्सा मौत्रकृच्छ्रिकी।
तथातिसारिकी कार्य्या तथा ज्वरचिकित्सिकी ॥ इति॥ ३३ ॥

मूत्रवाही स्रोतोंके दूषित होनेपर मूत्रकृच्छ्रमें कही चिकित्सा करनी चाहिये । मलवाही स्रोतोंके दूषित होनेपर अतिसार रोगके समान चिकित्सा करनी चाहिये । स्वेदवाही स्रोतोंके दूषित होनेपर ज्वरके समान चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ३३ ॥

तत्र श्लोकाः—त्रयोदशानां मूलानि स्रोतसां दुष्टलक्षणम् ।
सामान्यं नाम पर्य्यायाः कोपनानि परस्परम् ॥ ३४ ॥
दोषहेतुः पृथक्कृत्वेन भेषजोद्देश एव च ।
स्रोतोविमाने निर्दिष्टस्तथा चादौ विनिश्चयः ॥ ३५ ॥

अब अध्यायकी पूर्त्तिमें श्लोक कहते हैं कि इस स्रोतोविमान नामक अध्यायमें स्रोतोंके मूल, उनके दूषित होनेके लक्षण, सामान्यनाम, पर्यायवाचक शब्द परस्पर कोपक्रम, पृथक् २ दोषोंके हेतु और औषध उद्देश और औषध उद्देश तथा स्रोतोंका निश्चय इनका वर्णन कियागया है ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

केवलं विहितं यस्य शरीरं सर्वभावतः ।
शारीराः सर्वरोगाश्च स कर्म्मसु न मुह्यति ॥ ३६ ॥
इति चरकसंहितायां विमानस्थाने स्रोतोविमानम् ॥ ५ ॥

जिस वैद्यको संपूर्ण मात्रोंसे शरीरका ज्ञान है तथा शरीरके संपूर्ण रोगोंको जानता है वह वैद्य चिकित्सा क्रममें मोहको प्राप्त नहीं होता ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां पटियालाराज्यांतर्गतटकसालनिवासिवैद्यपञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्यभाषाटीकायां स्रोतोनिदानं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः ।

अथातो रोगानीकं विमानं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम रोगानीक विमानकी व्याख्या करते हैं । इस प्रकार भगवान् आत्रेयजी कथन करनेलगे ॥

रोगोंके विभाग ।

द्वे रोगानीके भवतः प्रभावभेदेन, साध्यश्चासाध्यश्च, । द्वे रोगानीके बलभेदेन, मृदु च दारुणश्च । द्वे रोगानीके अधिष्ठानभेदेन, मनोऽधि-

ष्ठानं शरीराधिष्ठानञ्च । रोगानीके द्वे निमित्तभेदेन, स्वधातुवैषम्य-निमित्तञ्चागन्तुनिमित्तञ्च । द्वे रोगानीके आशयभेदेन, आमाशय-समुत्थञ्च पक्वाशयसमुत्थञ्च ॥ १ ॥

रोगोंके समूह प्रभावके भेदसे दो प्रकारके होते हैं—प्रथम साध्य। द्वितीय असाध्य। रोग समूह बलके भेदसे दो भेद होते हैं, मृदु और दारुण । अधिष्ठान भेदसे दो प्रकारके हैं, मनोधिष्ठान और शरीराधिष्ठान। निमित्त भेदसे दो प्रकारके हैं, निजधातु वैषम्यनिमित्तक और आगन्तुक निमित्तक। आशयभेदसे दो प्रकारके हैं, आमाशयसे उत्पन्न होनेवाले और पक्वाशयसे उत्पन्न होनेवाले ॥ १ ॥

रोगोंको संख्यासंख्येयत्व ।

एवमेतत्प्रभावबलाधिष्ठाननिमित्ताशयद्वैधं समुद्भेदप्रकृत्यन्तरेण भिद्य-मानमथवा सन्धीयमानं स्यादेकत्वं वा बहुत्वं वा । एकत्वं तावदेक-मेव रोगानीकं दुःखसामान्यात् । बहुत्वन्तु दशरोगानीकानि प्रभा-वभेदादीनि । बहुत्वमपि संख्येयं वा स्यादसंख्येयम् । संख्येयं यथो-क्तम् अष्टोदरीये, असंख्येयं यथा महतिरोगाध्याये रुग्वर्णसमुत्था-नादीनामसंख्येयत्वात् ॥ २ ॥

इस प्रकार प्रभाव, बल, अधिष्ठान, निमित्त और आशयभेदसे दो दो प्रकारके होते हुए भी निदान और प्रकृतिके भेदसे सब रोग पृथक् २ अथवा मिलेहुए होते हैं इस प्रकार संपूर्ण रोगोंको एकत्व अथवा बहुत्व कथन किया है । जैसे—संपूर्णरोग दुःख देनेवाले होनेसे अर्थात् दुःखदायित्व होनेसे संपूर्ण रोगसमूहको एकत्व कथन किया है अब बहुत्वको कथन करते हैं। प्रभाव भेदादिकोंसे रोगसमूह दश भेदमें विभक्त हैं। रोगोंके बहुत्वकी संख्या हो भी सकती है और सूक्ष्म अंशांश विकल्पना-द्वारा इनकी संख्या होसकती। जैसे—अष्टोदरीयाध्यायमें रोगोंकी संख्या और महारोगा-ध्यायमें असंख्यता वर्णन की है। संपूर्ण रोगसमूह पीडा, वर्ण, कारण आदि भेदोंसे कल्पना कियेजानेपर असंख्यताको प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

न च संख्येयाग्रेषु भेदप्रकृत्यन्तरीयेषु विगीतिरित्यतो दोषवती स्या-दत्र काचित्प्रतिज्ञा । न चाविगीतिरित्यतः स्याददोषवती। भेत्ता हि भेद्यमन्यथा भिनत्त्यन्यथा पुरस्ताद्भिन्नम् । भेदप्रकृत्यन्तरेण भिन्दन् भेदसंख्याविशेषमापादयत्यनेकधा । न च पूर्वं भेदाग्रमुपहन्ति ॥ ३ ॥

जो रोगादि संख्येयाग्र हों (अर्थात् जिनकी संख्या की जा रही हो) उनके भेद-प्रकृतिमें अन्तर होनेसे भिन्न संख्यावाले भेद किये जाएं तो विरुद्धभाषण समझकर प्रतिज्ञा दोषवती नहीं होसकती। नहीं अविरुद्ध भाषणसे प्रतिज्ञाका अदोषवती होना आवश्यक है। (तात्पर्य यह है कि यदि एकबार कहा कि रोग दो प्रकारके होते हैं निज और आगन्तुज, फिर कहा कि तीन प्रकारके होते हैं जैसे वातज, पित्तज, कफज तो इसमें एकबार दो प्रकारके और दूसरी बार तीन प्रकारके कहनेमें कोई विरुद्ध भाषण हुआ ऐसा नहीं समझना चाहिये क्योंकि यहां भेदकी प्रकृतिमें ही भेद है। ऐसे ही निजागन्तुज भेदसे और दोष भेदसे ज्वरको एक प्रकारका ही मानना। यद्यपि एक दूसरेसे अविरुद्ध है परन्तु असत्य होनेके कारण अविरुद्ध होते हुए भी दोषयुक्त है) भेद करनेवाला अपनी इच्छासे एक वस्तुको एक प्रकारका कथन कर दूसरे समय उसी वस्तुके अनेक भेद दिखा सकता है। और प्रकारान्तरसे भेद संख्याको अनेक प्रकारकी करते हुए प्रथम कथन किये हुए एक प्रकारके भेदमें किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं होने देता ॥ ३ ॥

समानायामपि खलु भेदप्रकृतौ प्रकृतानुपयोगान्तरमपेक्ष्यम् । सन्ति ह्यर्थान्तराणि समानशब्दाभिहितानि । समानो हि रोगशब्दो दोषेषु व्याधिषु च वर्त्तते । दोषा अपि रोगशब्दमातङ्कशब्दं यक्ष्मशब्दं दोषप्रकृतिशब्दं विकारशब्दञ्च लभन्ते । तत्र दोषेषु चैव व्याधिषु च रोगशब्दः समानः शेषेषु तु विशेषवान् ॥ ४ ॥

भेदके कारणके समान होनेपर भी कहीं कहीं प्रयोगान्तरकी अपेक्षा करते हुए समान शब्दसे कहे हुए शब्दोंके अर्थ अलग २ ग्रहण किये जाते हैं। जैसे-रोग शब्दसे दोष और व्याधि इन दोनोंकाही बोध होता है अर्थात् रोगशब्द दोषों और व्याधियोंमें सामान्यरूपसे व्यापक है। दोषभी रोगशब्द,आतंकशब्द, यक्ष्मशब्द, दोष-प्रकृति शब्द एवम् विकारशब्दसे ग्रहण किये जाते हैं। इनमें रोगशब्द दोषोंमें तथा व्याधियोंमें समान है और अन्य स्थलोंमें विशेष अर्थात् असमान होताहै ॥ ४ ॥

तत्र व्याधयोऽपरिसंख्येया भवन्त्यतिबहुत्वात् । दोषास्तु परिसंख्येया अनतिबहुत्वात् । तस्माद्यथोचितं विकारा उदाहरणार्थमनवशेषेण च दोषा व्याख्यास्यन्ते ॥ ५ ॥

इनमें व्याधियें अपरिसंख्येय अर्थात् अगण्य होतीहैं क्योंकि वह बहुत तथा अंशांश कल्पना द्वारा अत्यंत ही बहुत हैं परंतु दोष संख्यावान् हैं क्योंकि यह बहुत

नहीं हैं । इसलिये उदाहरणके लिये विकारोंको तथा दोषोंको विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं ॥ ५ ॥

दोषोंका वर्णन ।

रजस्तमश्च मानसौ दोषौ, तयोर्विकाराः कामक्रोधलोभमोहेर्ष्यामान-मदशोकचित्तोद्वेगभयहर्षादयः ॥ ६ ॥

रजोगुण और तमोगुण मनके दोष हैं । काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्षा, अभिमान मद, शोक, चित्तका उद्वेग, भय और हर्ष आदिक इन मनके दोषोंके विकार हैं । अर्थात् मनके रोग हैं ॥ ६ ॥

वातपित्तश्लेष्माणस्तु शारीरा दोषास्तेषामपि च विकारा ज्वरातीसार-शोथशोषमेहकुष्ठादय इति ॥ ७ ॥

वात, पित्त और कफ यह शरीरमें रहनेवाले दोष हैं । ज्वर, आतिसार, शोथ,शोष, प्रमेह, कुष्ठ आदिक उन दोषोंके विकार हैं ॥ ७ ॥

दोषाश्च केवला व्याख्याताः, विकारैकदेशश्च ॥ ८ ॥

यहांपर केवल दोषोंका कथन किया है और विकारोंके एकदेशका कथन कियाहै॥

दोषोंका त्रिविध कोप ।

तत्र तु खल्वेषां द्वयानामपि दोषाणां त्रिविधं प्रकोपणमसात्म्येन्द्रि-यार्थसंयोगः प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति ॥ प्रकुपितास्तु प्रकोपणवि-शेषात् द्रव्यविशेषाच्च विकारविशेषानभिनिर्वर्त्तयन्ति ॥ अपरिसंख्ये-यास्ते विकाराः परस्परमनुवर्तमानाः कदाचिदनुबध्नन्ति कामादयो ज्वरादयश्च । नियतस्त्वनुबन्धो रजस्तमसोः परस्परम् । न ह्यरज-स्कं तमः ॥ ९ ॥

इन शारीरिक और मानासिक दोनों प्रकारके दोषोंके ही कुपित करनेवाले तीन प्रकारके कारण होतेहैं । जैसे असात्म्य विषयोंका सेवन, प्रज्ञापराध और परिणाम (समय) इनमें पृथक् २ प्रकोपके कारणोंसे तथा द्रव्यविशेषके बलसे कुपित हुए दोष अनेक प्रकारके विकारोंको उत्पन्न करतेहैं । वह विकार असंख्य होते हैं । कामादिक मानसिक विकार, ज्वरादिक शारीरिक विकार कभी २ आपसमें एक दूसरेके आश्रयीभूत होजाते हैं अर्थात् एक दूसरेके सहायक होजाते हैं या आपसमें मिलजाते हैं क्योंकि रजोगुण और तमोगुणका आपसमें परस्पर अनुबंध है । तमोगुण रजोगुणके विना रह नहीं सकता ॥ ९ ॥

प्रायः शरीरदोषाणामेकाधिष्ठीयमानानां सन्निपातः संसर्गो वा समान-
गुणत्वाद्दोषा हि दूषणैः समानाः ॥ १० ॥

शारीरिक दोषोंका एक ही अधिष्ठान (रहनेका स्थान) होता है अर्थात् वात, पित्त और कफका अधिष्ठान शरीर है इसलिये प्रायः उनका संसर्ग और सन्निपात हो जाता है। क्योंकि उष्ण, शीत आदि तथा रूक्ष, स्निग्ध आदि दोषोंके पृथक् पृथक् गुण होनेपर भी दूषण करनेवाला गुण तीनों दोषोंमें समान होनेसे एक दोष दूसरेको भी दूषित करलेताहै। अर्थात् दूषणस्वभाववाले होनेसे दोष एक दूसरेके सहायक होजातेहैं और दूषण स्वभावसे समानगुणवाले होजातेहैं ॥ १० ॥

अनुबन्ध्यानुबन्ध भेद।

तत्रानुबन्ध्यानुबन्ध्यकृतो विशेषः। स्वतन्त्रो व्यक्तलिङ्गो यथोक्त-
समुत्थानप्रशमो भवत्यनुबन्ध्यस्तद्विपरीतलक्षणोऽनुबन्धः ॥ ११ ॥

उनमें अनुबन्ध्य और अनुबन्धकी विशेषता यह है कि, अनुबन्ध्य स्वतन्त्र और प्रकटलक्षणवाला होताहै और उसका प्रकट होना तथा शमन होना भी यथोक्त प्रकारसे होताहै अर्थात् स्वतन्त्र होताहै। अनुबन्ध परतन्त्र तथा छिपेहुए लक्षणवाला होताहै इसके समुत्थान और प्रशमन भी पूर्वोक्त क्रमसे नहीं होते। तात्पर्य यह हुआ कि दूषित हुए वायुने अपने साथमें पित्तको भी दूषित करलिया। इस जगह वायु अनुबन्ध्य और पित्त अनुबन्ध होताहै। इसलिये वायु स्वतन्त्र और प्रकटलक्षणवाला तथा अपने कारणोंसे कुपित हुआ और वातनाशक द्रव्योंद्वारा शांतहोनेवाला होताहै। पित्त अनुबन्ध होनेसे परतंत्रादि गुणवाला जानना ॥ ११ ॥

सन्निपातादि दोष भेद।

अनुबंध्यानुबन्धलक्षणसमन्वितास्तत्र यदि दोषा भवन्ति तं त्रिकं
सन्निपातमाचक्षते, द्वयं वा संसर्गम् । अनुबन्ध्यानुबन्धविशेषकृ-
तस्तु बहुविधो दोषभेदः। एवमेष संज्ञा प्रकृतो भिषजां दोषेषु च
व्याधिषु च नानाप्रकृतिविशेषाद्व्यूहः ॥ १२ ॥

यदि किसी ज्वरमें-वात,पित्त, कफ अनुबन्ध्य तथा स्वतंत्र और प्रगट लक्षणवाले हो तो उन तीनों दोषोंके मिलापको सन्निपात कहा जाताहै। यदि दो दोष स्वतन्त्र होकर और प्रगट लक्षणोंद्वारा मिले हुएहों तो उनको संसर्ग कहतेहैं। इस प्रकार अनुबन्ध्य और अनुबंध विशेषके किये हुए रोगोंके बहुत प्रकारके भेद होजातेहैं इस तरह वैद्योंके कथन किये हुए संज्ञा और प्रकृतिके भेदसे दोषोंमें तथा व्याधियोंमें अनेक प्रकारके भेद होजाते हैं ॥ १२ ॥

अग्निभेद ।

अग्निषु तु शरीरेषु चतुर्विधो विशेषो बलभेदेन भवति । तद्यथा—तीक्ष्णो मन्दः समो विषम इति । तत्र तीक्ष्णोऽग्निः सर्वापचारसहस्तद्विपरीतलक्षणो मन्दः । समस्तु खलु अपचारतः विकृतिमापद्यते, अनपचारतः प्रकृतावयतिष्ठते । समलक्षणविपरीतलक्षणस्तु विषम इत्येते चतुर्विधा अग्नयः चतुर्विधानामेव पुरुषाणाम् ॥ १३ ॥

शारीरिक अग्निके बल भेदसे चार प्रकार होतेहैं । जैसे—तीक्ष्णाग्नि, मंदाग्नि, समाग्नि और विषमाग्नि । इनमें तीक्ष्णाग्नि सब प्रकारके कुपथ्योंको सहन करसकती है । और मंदाग्नि तीक्ष्णाग्निसे विपरीत लक्षणवाली होती है अर्थात् यह किंचित् कुपथ्यको भी सहन नहीं कर सकती । जो अग्नि कुपथ्यादि अपचार करनेसे विकृत होजाय और कुपथ्य न करनेसे अपनी ठीक अवस्थामें रहे उसको समाग्नि कहतेहैं । एवम् समाग्निसे विपरीत लक्षणवालीको विषमाग्नि कहतेहैं । इस प्रकार चार प्रकारके पुरुषोंकी चार प्रकारकी अग्नि होती हैं ॥ १३ ॥

दोषोंकी साम्यावस्था या प्रकृति ।

तत्र समवातपित्तश्लेष्मणां प्रकृतिस्थानां समा भवन्ति अग्नयः ॥ वातलानान्तु वाताभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने विषमा भवन्ति अग्नयः ॥ पित्तलानान्तु पित्ताभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने तीक्ष्णा भवन्ति अग्नयः ॥ श्लेष्मलानान्तु श्लेष्माभिभूते ह्यग्न्यधिष्ठाने मन्दा भवन्ति अग्नयः ॥ तत्र केचिदाहुर्न समवातपित्तश्लेष्माणो जन्तवः सन्ति विषमाहारोपयोगित्वान्मनुष्याणाम् । तस्माच्च केचिद्वातप्रकृतयः, केचित् पित्तप्रकृतयः, केचित्पुनः श्लेष्मप्रकृतयो भवन्तीति । तच्चानुपपन्नं कस्मात् कारणात् समवातपित्तश्लेष्माणं ह्यरोगमिच्छन्ति भिषजः,

---

१ दोषभेदविकारभेदमाभिधाय शरीरस्थितेः प्रधानकारणस्याग्नेर्भेदमाह--अग्निष्वित्यादि । शरीरेष्विति सामान्यवचनेन सर्वशरीरगतानग्नीन् ग्राहयति । विवरणे तु जठराग्निरेव "तीक्ष्णः सर्वापचारसहः" इत्यादिना यच्चातुर्विध्यमुक्तम्, तज्जठराग्नितीक्ष्णतादिमूलत्वगग्न्यादितीक्ष्णत्वादेरेवेति ज्ञेयम् । वचनं हि—"तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मकाः" इति । तीक्ष्णः सर्वापचारसहत्वेन प्रधानम् ।

२ समवातपित्तश्लेष्मणामित्युक्तेऽपि 'प्रकृतिस्थानाम्' इति पदं वृद्धानां समवातपित्तश्लेष्मणां प्रतिषेधार्थम् ।

यतः प्रकृतिश्चारोग्यम्, आरोग्यार्था च भेषजप्रवृत्तिः, सा चेष्टारूपा, तस्माद्भवन्ति समवातपित्तश्लेष्माणः। न तु खलु सन्ति वातप्रकृतयः पित्तप्रकृतयः श्लेष्मप्रकृतयो वा। तस्य तस्य किल दोषस्य हि आधिक्भावात् सा दोषप्रकृतिरुच्यते मनुष्याणाम् ॥ १४ ॥

इनमें वात, पित्त कफकी प्रकृतिस्थ साम्यावस्था रहनेसे अर्थात् अपने २ स्वभावमें स्थित रहनेसे अग्नि सम रहती है। वातप्रधान मनुष्योंके वायुद्वारा अग्निस्थान व्याप्त होनेसे अग्नि विषम होती है॥ यहांपर कोई कहते हैं कि वात, पित्त, कफ किसी मनुष्यके शरीरमें साम्यावस्थामें नहीं रहते. क्योंकि, सब मनुष्योंका आहार एक प्रकारका और वात, पित्त, कफको समान रखनेवाला नहीं होता। इसीलिये कोई मनुष्य वातप्रकृति कोई पित्तप्रकृति और कोई कफप्रकृतिवाले होते हैं। सो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि जिसके शरीरमें वात, पित्त और कफ साम्यावस्थामें हैं अर्थात् अपने २ परिमाणमें स्थित हैं उन्हीं मनुष्योंको वैद्य आरोग्य अर्थात् निरोगी कहते हैं। आरोग्यताही मनुष्योंकी प्रकृति है। आरोग्यताके लियेही औषध आदिकोंका प्रयोग किया जाता है इसीलिये वात, पित्त कफकी साम्यावस्थावाले मनुष्य ही आरोग्य कहे-जाते हैं और उनको वातप्रकृति पित्तप्रकृति अथवा कफप्रकृति नहीं कहा जाता। जिस २ दोषकी अधिकता जिस मनुष्यमें होतीहै उसको उसी दोषकी प्रकृतिवाला कहा जायगा॥

न च विकृतेषु दोषेषु प्रकृतिस्थत्वमुपपद्यते, तस्मान्नैताः प्रकृतयः सन्ति, सन्ति तु खलु वातलाः पित्तलाः श्लेष्मलाश्चाप्रकृतिस्थास्तु ते ज्ञेयाः ॥ १५ ॥

अब कहते हैं कि, यदि किसी मनुष्यके शरीरमें वायु अधिक हो तो उसको वातप्रकृति नहीं कहना चाहिये क्योंकि प्रकृतिनाम अपने ठीक स्वभावमें स्थित रहनेका है। वायुकी अधिकता होनेसे वायुकी विकृति माननी चाहिये। इस लिये विकृत हुए दोषोंको प्रकृति नहीं कहना चाहिये। सो वातल, पित्तल, श्लेष्मल अर्थात् वातप्रधान कफप्रधान और पित्तप्रधान मनुष्य प्रकृतिस्थ नहीं होते ॥ १५ ॥

चार प्रकारके अन्नप्रणिधान।

तेषान्तु खलु चतुर्विधानां पुरुषाणां चत्वार्य्यन्नप्रणिधानानि श्रेयस्कराणि। तत्र समसर्वधातूनां सर्वाकारसमम्। अधिकदोषाणान्तु त्रयाणां यथास्वं दोषाधिक्यमभिसमीक्ष्य दोषप्रतिकूलयोगीनि त्रीणि अन्नप्रणिधानानि श्रेयस्कराणि यावदग्नेः समीभावात्। समे तु सम-

मेव कार्य्यमेवं चेष्टा भेषजप्रयोगाश्चापरे। तद्विस्तरेणानुव्याख्यास्यन्ते। त्रयस्तु पुरुषा भवन्त्यातुरास्ते अनातुरास्तन्त्रान्तरीयाणां भिषजाम्। तद्यथा—वातलः श्लेष्मलः पित्तल इति ॥ १६ ॥

उन चार प्रकारके पुरुषोंके लिये अग्निके अनुसार चार प्रकारके ही आहार हितकारक होते हैं उनमें जिस मनुष्यके शरीरकी सब धातुयें साम्यावस्थामें हों तथा तीनों दोष पूर्णरूपसे बढे हुए हों उनमें तीनों दोषोंके लक्षणोंकी अधिकताको देखकर दोषोंके प्रतिकूल अर्थके करनेवाले अर्थात् दोषोंको साम्यावस्थामें लानेवाले औषध अन्नपानादिकोंको दे अथवा यों कहिये कि जिस मनुष्यके शरीरमें वातादि कोई दोष बढा हुआ हो उसको साम्यावस्थामें करनेवाले अन्नपानादि देवे जब उस मनुष्यकी अग्नि दोषोंकी साम्यावस्था होनेसे समअवस्थामें आजाय तब उसको त्रिविध आहारोंको समरीतिपर उपयोग करावे। जिस प्रकार अन्नपान तथा अन्यान्य क्रिया और औषधादिक प्रयोग दोषोंको तथा अग्निको साम्यावस्थामें करनेके लिये किये जाने चाहिये। उनका विस्तारपूर्वक आगे वर्णन करते हैं। तीन प्रकारके पुरुष रोगी होते हैं परन्तु अन्य शास्त्रोंके माननेवाले वैद्य उनको रोगी नहीं मानते। वह तीन प्रकारके पुरुष यह हैं। जैसे—वातप्रधान, पित्तप्रधान और कफप्रधान ॥ १६ ॥

तेषां विशेषविज्ञानं वातलस्य वातनिमित्ताः पित्तलस्य पित्तनिमित्ताः श्लेष्मलस्य श्लेष्मनिमित्ता व्याधयः प्रायेण बलवन्तश्च ॥ १७ ॥

उनका विशेष विज्ञान इस प्रकार है कि वातप्रधान मनुष्यको वातके रोग अधिक होते हैं। पित्तप्रधान मनुष्यको पित्तके रोग अधिक होते हैं। तथा कफप्रधान मनुष्यको कफके रोग प्रायः अधिक होते हैं ॥ १७ ॥

वातप्रकृतिके रोग।

तत्र वातलस्य प्रकोपणोक्तान्यासेवमानस्य क्षिप्रं वातः प्रकोपमापद्यते न तथेतरौ[1] ॥ १८ ॥

इनमें वातप्रधान मनुष्यके शरीरमें वातकारक पदार्थोंको खानेसे वायु शीघ्र कोपको प्राप्त होता है। इस प्रकार पित्तकारक और कफकारक पदार्थोंको अधिक खानेसे वातप्रधान मनुष्यके शरीरमें पित्त और कफका कोप नहीं होता ॥ १८ ॥

स तस्य प्रकोपमापन्नो यथोक्तैर्विकारैः शरीरमुपतपति। बलवर्णसुखायुषामुपघाताय ॥ १९ ॥

---

१ न तथेतराविति सत्यपि हेतुसेवयेत्यर्थः। अन्यथा वातप्रकोपणसेवया पित्तश्लेष्मणोर्वृद्धिरेव नास्ति। यद्यपि वित्रासनादयो वातप्रकोपकरास्तथापि वातजनितोन्मादविनाशकत्वेन चोक्ताः।

वातप्रधान मनुष्यके शरीरमें वायुका कोप होनेसे-वायुके रोग उत्पन्न होकर शरीरको दुःखित कर देते हैं तथा बल, वर्ण, सुख और आयुको भी नष्ट कर डालते हैं॥

वायुके जीतनेका उपाय।

तस्यावजयनम्-स्नेहस्वेदौ विधियुक्तौ, मृदूनि च संशोधनानि स्नेहोष्णमधुराम्ललवणयुक्तानि, तद्वदभ्यवहार्याण्युपनाहनोपवेष्टनोन्मर्दनपरिषेकावगाहनसंवाहनावपीडनवित्रासनविस्मापनविस्मारणानि, सुरासवविधानम्, स्नेहाश्च अनेकयोनयो दीपनीयपाचनीयवातहरविरेचनीयोपहिताः, शतपाकाः सहस्रपाकाः सर्वशः प्रयोगार्था बस्तयो, बस्तिनियमः सुखशीलता चेति ॥ २० ॥

उस मनुष्यके शरीरमें-वायुको जीतनेवाली स्नेहन और स्वेदन क्रिया विधिपूर्वक करे। एवम् चिकने, गरम, मधुर, खट्टे लवणयुक्त पदार्थोंद्वारा मृदु संशोधन करे। तथा चिकने, गर्म आदि आहार करावे और वातनाशक लेप, बंधन, मर्दन, परिषेक, अवगाहन, संवाहन और पीडन, वित्रासन, विस्मापन, विस्मारण, मद्य और आसव आदिकोंका तथा अनेक वातनाशक द्रव्योंका उपयोग करना चाहिये। एवम् वातनाशक स्नेह और दीपन तथा पाचन एवम् वायुके हरनेवाले रेचक द्रव्योंसे शतपाकी तथा सहस्रपाकी घृतों और तैलोंका सेवन करावे। अथवा वातनाशक द्रव्यों द्वारा सौवार अथवा सहस्रवार पकाये हुए घृत तथा तैलों द्वारा बस्तिकर्म या अन्य प्रकारसे सुखदायक प्रयोग कर वायुको जीतना चाहिये ॥ २० ॥

पित्तका प्रकोप और जीतनेका क्रम।

पित्तलस्यापि पित्तप्रकोपणोक्तान्यासेवमानस्य क्षिप्रं पित्तं प्रकोपमापद्यते, तथा नेतरौ ॥ २१ ॥

पित्तप्रधान मनुष्योंके शरीरमें पित्तकारक पदार्थोंके खानेसे पित्तका शीघ्र कोप होजाताहै तथा वात और कफका कोप इस प्रकार नहीं होता ॥ २१ ॥

तदस्य प्रकोपमापन्नं यथोक्तैर्विकारैः शरीरमुपतपति बलवर्णसुखायुषामुपघाताय ॥ २२ ॥

तब पित्तप्रधान मनुष्यके शरीरमें कोपको प्राप्त हुआ पित्त शरीरको पित्तके विकारोंसे तपायमान करता है तथा बल, वर्ण, सुख और आयुको भी नष्ट कर डालता है२२

तस्यावजयनम्-सर्पिष्पानं सर्पिषा च स्नेहनम्, अधश्च दोषहरणम्, मधुरतिक्तकषायशीतानाञ्चौषधानामभ्यवहार्य्याणामुपयोगो, मृदुमधुरसु-

रभिशीतहृद्यानां गन्धानाञ्चोपसेवा, मुक्तामणिहारावलीनाञ्च पवन-शिशिरवारिसंस्थितानां धारणमुरसा, क्षणे क्षणे अग्र्यचन्दनप्रियङ्गु-कालीयमृणालशीतवातवारिभिरुत्पलकुमुदकोकनदसौगन्धिकपद्मानु-गतैश्च वारिभिरभिप्रोक्षणं,श्रुतिसुखमृदुमधुरमनोऽनुगानाञ्च गीतवादि-त्राणां श्रवणं,श्रवणञ्चाभ्युदयानां,सुहृद्भिश्च संयोगः, संयोगश्च इष्टाभिः स्त्रीभिः शीतोपहितांशुकस्रग्धारिणीभिः निशाकरांशुशीतप्रवातहर्म्य-वासः, शैलान्तरपुलिनशिशिरसदनवसनव्यजनपवनानां सेवा, रम्या-णाञ्चोपवनानां सुखशिशिरसुरभिमारुतोपवातानामुपसेवनम्, सेवनञ्च नलिनोत्पलपद्मकुमुदसौगन्धिकपुण्डरीकशतपत्रहस्तानां सौम्यानाञ्च सर्वभावानामिति ॥ २३ ॥

उस पित्तको जीतनेके लिये पित्तनाशक घृतका पीना तथा पित्तनाशक घृतोंद्वारा स्नेहन करना, विरेचन कराना एवम् मधुर, तिक्त, कषाय, शीतल औषधियोंका सेवन करना तथा मृदु, मधुर, सुगंधित, शीतल हृदयको प्रिय ऐसे आहारोंका सेवन करना सुगंधिका लेना तथा चंदन आदि शीतल गंधोंका लगाना, मोती और मणियोंकी माला पहिनना, शीतल पवन तथा शीतल जलके छींटे छातीपर लेना, क्षणक्षणमें चंदन, अगर, प्रियंगु, कमलकी डण्डी, शीतल और सुगंधित कमल, कुमोदिनी, कोकनद, कल्हार आदिक कमलोंको शीतल जल और पवनसे ठण्डे करके उनसे शीतल जल अपने शरीरपर छिडकना, कानोंको सुखदायक मृदु मधुर, मनोहर गीत और बाजोंका सुनना, उत्तम शब्दोंको सुनना, अपने प्यारे मित्रोंसे मिलना, शीतल सुगन्धित पुष्पमाला आदि धारण कियेहुए सुशोभित स्त्रियोंसे सहवास करना, शीतल वायुयुक्त चंद्रमाकी चांदनीको महलकी छतपर लेटकर सेवन करना, पहाडमें बहने-वाली नदियोंके किनारे तथा ठण्डे मकानोंमें रहना, शीतल वस्त्र धारण करना, शीतल पंखेकी पवन लेना, रमणीय सुगंधित शीतल बागोंमें शीतल सुगंधित पवनका सेवन करना, नलिनी, उत्पल, पद्म, कुमुद, कह्लार, पुण्डरीक, शतपत्र आदि पुष्पोंको धारण किये सब प्रकारके सौम्यभावोंका सेवन करना पित्तके कोपको शान्त करता है॥२३॥

कफका प्रकोप और जीतनेका क्रम ।

श्लेष्मलस्यापि श्लेष्मप्रकोपणोक्तान्यासेवमानस्य क्षिप्रं श्लेष्मा प्रकोप-मापद्यते, न तथेतरौ दोषौ ॥ २४ ॥ तदस्य प्रकोपमापन्नो यथोक्तै-र्विकारैः शरीरमुपतपति बलवर्णसुखायुषामुपघाताय ॥ २५ ॥

कफप्रधान मनुष्योंके शरीरमें–कफकोपकारक पदार्थोंके सेवनसे कफ शीघ्र प्रकोपको प्राप्त होजाताहै। उस प्रकार वात, पित्त नहीं होते। फिर इसके शरीरमें यह कोपको प्राप्त हुआ कफ अपने विकारों द्वारा शरीरको कष्ट देता है तथा बल, वर्ण सुख और आयुको भी नष्ट कर डालता है॥ २४॥ २५॥

तस्यावजयनम्--विधियुक्तानि तीक्ष्णोष्णानि संशोधनानि रूक्षप्रायाणि चाभ्यवहार्य्याणि कटुतिक्तकषायोपहितानि। तथैव धावनलङ्घनप्लवनपरिसरणजागरणानि युद्धव्यवायव्यायामोन्मर्दनस्नानोत्सादनानि। विशेषतस्तीक्ष्णानां दीर्घकालस्थितानां मद्यानामुपयोगः। सर्वशश्चोपवासस्तथोष्णवासः, सधूमपानः, सुखप्रतिषेधश्च सुखार्थमेवेति २६

उस कफके जीतनेके लिये अनेक प्रकारके विधिपूर्वक तीक्ष्ण और उष्ण संशोधनोंको करे और प्रायः रूक्ष पदार्थोंका तथा कटु, तिक्त, कषाय रसवाले द्रव्योंका सेवन करे। एवम् भागना, लंघन करना, उछलना, कूदना, परिसर्पण करना, जागना तथा कुश्ती, मैथुन, व्यायाम, मर्दन, स्नान और उत्सादन आदिका उपयोग करना विशेषतासे तीक्ष्ण और पुराने मद्यका सेवन करना, सब प्रकारसे उपवास करना गर्म स्थानोंमें रहना, गर्म वस्त्र पहनना, धूम्रपान करना, आलस्यके नष्ट करनेवाले पदार्थोंका उपयोग करना चाहिये इनके करनेसे कफके विकार नष्ट होते हैं॥ २६॥

अध्यायका उपसंहार।

भवति चात्र–सर्वरोगविशेषज्ञः सर्वकार्यविशेषवित्।
सर्वभेषजतत्त्वज्ञो राज्ञः प्राणपतिर्भवेत्॥ २७॥

संपूर्ण रोगविशेषको जाननेवाला तथा संपूर्ण कार्य विशेषोंको समझनेवाला एवम् संपूर्ण औषधियोंके तत्त्वको जाननेवाला वैद्य राजाओंका प्राणपति होताहै॥ २७॥

अध्यायका संक्षेप।

तत्र श्लोकाः--प्रकृत्यन्तरभेदेन रोगानीकविकल्पनम्।
परस्पराविरोधश्च सामान्यं रोगदोषयोः॥ २८॥
दोषसंख्याविकाराणामेकदोषप्रकोपनम्।
जरणं प्रतिचिन्ता च कायाग्नेर्धुक्षणानि च॥ २९॥
नराणां वातलादीनां प्रकृतिस्थापनानि च।

---

१ श्लेष्माऽवजयनार्थे–रूक्षस्यैव हितत्वेन रूक्षाणीति वक्तव्ये यद्रूक्षप्रायाणीति निगदितं तदत्यर्थरूक्षान्नस्य वातानुगुणत्वेन धात्वपोषकत्वेन चासेव्यत्वं दर्शयति।

रोगानीके विमानेऽस्मिन् व्याहृतानि महर्षिणा ॥ ३० ॥

इति श्रीचरकसंहितायां विमानखण्डे रोगानीकं विमानम् ॥६॥

अध्यायके उपसंहारमें यहांपर श्लोक हैं। इस रोगानीक विमाननामक अध्यायमें प्रकृतिके भेद, रोगसमूहोंके विभाग, रोगोंका परस्पर अविरोध, रोगसामान्यता तथा दोषसामान्यता एवम् दोषों और विकारोंकी संख्या एक एक दोषका प्रकोपन, भोजनके पचनेकी अवस्था, जठराग्निकी चैतन्यता, वातप्रधान आदि मनुष्योंका प्रकृतिस्थ करना यह सब महर्षि आत्रेयजीने कथन कियाहै ॥ २८-३० ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां विमानस्थाने पं०रामप्रसादवैद्यविरचितप्रसादन्याख्यभाषाटीकायां रोगानीकं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः।

अथातो व्याधितरूपीयं विमानं व्याख्यास्यामः ।

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम व्याधितरूपीय विमानकी व्याख्या करते हैं इस प्रकार भगवान् आत्रेयजी कहनेलगे ॥

रोगीके भेद।

इह खलु द्वौ पुरुषौ व्याधितरूपौ भवतः, तद्यथा--गुरुव्याधित एकः सत्त्वबलशरीरसम्पदुपेतत्वाल्लघुव्याधित इव दृश्यते। लघुव्याधितोऽपरः सत्त्वादीनामधमत्वाद्गुरुव्याधित इव दृश्यते ॥ १ ॥

दो प्रकारके पुरुष व्याधितरूप अर्थात् रोगी देखनेमें आते हैं। उनमें एक तो इस प्रकारके होते हैं कि अत्यन्त व्याधियुक्त होनेपर भी सत्व, बल और शारीरिक सम्पत्तिके सामर्थ्ययुक्त होनेसे थोडी व्याधिवाले दिखाई देते हैं। दूसरे इस प्रकारके होते हैं कि जो थोडी व्याधियुक्त होनेपर भी सत्व, बलादिकोंकी हीनतासे भारी व्याधिवाले दिखाई देते हैं इनमें पहलेको गुरुव्याधित और दूसरेको लघुव्याधित कहते हैं॥

अज्ञानियोंका भ्रम।

तयोरकुशलाः केवलं चक्षुषैव रूपं दृष्ट्वा व्यवस्यन्तो व्याधिगुरुलाघवे विप्रतिपद्यन्ते। न हि ज्ञानावयवेन कृत्स्ने ज्ञेये ज्ञानमुत्पद्यते॥२॥

---

१ व्याधिं प्रतिपाद्य व्याधितस्य भेदं चिकित्सोपयोगितया प्रतिपादयितुं तत्प्रसंगाच्च कृमीन् प्रतिपादयितुं व्याधितरूपीयोऽभिधीयते।

इन दोनों प्रकारके पुरुषोंकी चिकित्सा करते समय अनभिज्ञ वैद्य केवल नेत्रोंसे रोगीकी आकृतिको देखकर ही व्याधिके गौरव और लाघवका निश्चय मान लेते हैं। पर वह रोगके यथार्थ ज्ञानको सम्पूर्ण रूपसे नहीं जान सकते क्योंकि ज्ञेयके एक अवयवके ज्ञानसे सर्व ज्ञेयका संपूर्ण ज्ञान नहीं होजाता॥ २॥

विप्रतिपन्नास्तु खलु रोगज्ञाने उपक्रमयुक्तिज्ञाने च अपि विप्रतिपद्यन्ते। ते यदा गुरुव्याधितं लघुव्याधितरूपमासादयन्ति तदा तमल्पदोषं मत्वा संशोधनकालेऽस्मै मृदुसंशोधनं प्रयच्छन्तो भूय एवास्य दोषमुदीरयन्ति। यदा तु लघुव्याधितं गुरुव्याधितरूपमासादयन्ति तं महादोषं मत्वा संशोधनकालेऽस्मै तीक्ष्णं संशोधनं प्रयच्छन्तो दोषानतिनिर्हृत्य शरीरमस्य क्षिण्वन्ति॥ ३॥

रोगका यथार्थ ज्ञान न होनेसे उस रोगकी चिकित्सा भी मूर्खतासे करने लगते हैं। जब वह किसी भारी व्याधिवाले मनुष्यके सत्व. बल शरीर आदिको देखकर व्याधिको लघु मान लेते हैं तब रोगीको अल्प दोषवाला समझकर बहुत नर्मशोधन आदि करते हैं। ऐसा करनेसे दोषोंको उलटा उत्तेजित कर देते हैं। जब यह अनभिज्ञ किसी लघु व्याधिवाले मनुष्यको उसका रंगढंग देखकर भारी व्याधिवाला मानलेते हैं तो उसको तीक्ष्ण संशोधनादि प्रयोग करते हैं जिससे दोषोंको अत्यन्त हरण करके शरीरको क्षीण कर देते हैं॥ ३॥

एवमवयवेन ज्ञानस्य कृत्स्ने ज्ञेये ज्ञानमिति मन्यमानाः स्खलन्ति, विदितवेदितव्यास्तु भिषजः सर्वं सर्वथा यथासम्भवं परीक्ष्यं परीक्ष्याध्यवस्यन्तो न क्वचन विप्रतिपद्यन्ते, यथेष्टमर्थमभिनिर्वर्त्तयन्ति चेति॥ ४॥

केवल ज्ञानके अवयव मात्रसे ही हमने सम्पूर्ण रोगके संपूर्ण ज्ञानको प्राप्तकर लिया है ऐसा माननेवाले मर्ख वैद्य चिकित्साके मार्गसे पतित होजाते हैं। सुज्ञ वैद्य तो ज्ञातव्य विषयको यथोचित रीतिपर जानकर संपूर्ण भागोंमें सर्वथा उचित रीतिपर परीक्षा करके व्याधिका यथार्थ निश्चय कर लेते हैं। तब उचित रीतिसे चिकित्सा करनेमें प्रवृत्त होते हैं। इसी प्रकार चिकित्सा करते हुए किसी स्थानमें भी विफल नहीं होते अर्थात् अपने कार्यमें कहीं भी निष्फलताको प्राप्त नहीं होते किन्तु अपने अभीष्ट कार्यको साधन कर लेते हैं॥ ४॥

तत्र श्लोकाः—सत्त्वादीनां विकल्पेन व्याधितं रूपमातुरे।
दृष्ट्वा विप्रतिपद्यन्ते बाला व्याधिबलाबले॥ ५॥

ते भेषजप्रयोगेन कुर्वन्त्यज्ञानमोहिताः ।
व्याधितानां विनाशाय क्लेशाय महतेऽपि वा ॥ ६ ॥

जो मूर्ख वैद्य सत्वादिकोंके भेदसे ही रोगीके रूपको देखकर व्याधिका बलाबल समझ लिया मान लेते हैं और उसी प्रकार चिकित्सा करने लगजाते हैं वह अज्ञानसे मोहित हुए वैद्य औषधियोंके प्रयोगद्वारा रोगी मनुष्योंको महान् कष्ट देते हैं अथवा मृत्युको प्राप्त कर देते हैं ॥ ५ ॥ ६ ॥

प्रज्ञास्तु सर्वमाज्ञाय परीक्ष्यमिह सर्वथा ।
न स्खलन्ति प्रयोगेषु भेषजानां कदाचन ॥ ७ ॥

बुद्धिमान् वैद्य तो संपूर्ण विषयोंको जानकर तथा सर्वथा संपूर्णरूपसे परीक्षा करके तदनन्तर औषधियोंका यथोचितरूपसे प्रयोग करते हैं इसीलिये कभी भी चिकित्सा क्रममें धोखा नहीं खाते ॥ ७ ॥

इति व्याधितरूपाधिकारे श्रुत्वा व्याधितरूपसंख्याग्रसम्भवं व्याधितरूपहेतुविप्रतिपत्तौ च कारणं सापवादं सम्प्रतिपत्तिकारणञ्चानपवादं निशम्य भगवन्तमात्रेयमग्निवेशोऽतःपरं सर्वक्रिमीणां पुरुषसंश्रयाणां समुत्थानस्थानसंस्थानवर्णनामप्रभावचिकित्सितविशेषान्पप्रच्छोपसंगृह्य पादावथास्मै प्रोवाच भगवानात्रेयः । इह खलु अग्निवेश ! विंशतिविधाः क्रिमयः पूर्वमुक्ता नानाविधेन प्रविभागेनान्यत्र सहजेभ्यः॥८॥

इस प्रकार व्याधितरूपीय अधिकारमें व्याधिके दो प्रकारके रूपोंकी संख्या, उनमें होनेवाला विषय, व्याधितरूपके कारण उनमें वैद्यके विप्रतिपन्न अर्थात् न समझनेके कारण साथही अपवादके तथा स्खलित होनेके कारण एवम् योग्य वैद्यद्वारा निरपवाद चिकित्सा होनेके कारणोंको सुनकर अग्निवेश आत्रेय भगवान्के दोनों चरणोंको पकडकर पूछनेलगे कि हे भगवन् ! शरीरमें होनेवाले सब प्रकारके कृमियोंके निदान, स्थान, आकृति, वर्ण, नाम और प्रभाव तथा चिकित्साका वर्णन कीजिये । यह सुनकर अग्निवेशके प्रति आत्रेय भगवान् कहनेलगे कि हे अग्निवेश ! सहज कृमियोंके सिवाय अन्य बीस प्रकारके कृमियोंका विभागपूर्वक अलग २ पहिले कथन करचुके हैं ॥ ८ ॥

४ प्रकारके सहजकृमि ।

ते पुनः प्रकृतिभिर्भिद्यमानाश्चतुर्विधास्तद्यथा—पुरीषजाः श्लेष्मजाः शोणितजा मलजाश्चेति । तत्र मलो बाह्यश्चाभ्यन्तरश्च । तत्र बाह्ये

मले जातान्मलजान्संचक्ष्महे। तेषां समुत्थानं मृजावर्जनम्॥ स्थानं केशश्मश्रुलोमपक्ष्मवासांसि। संस्थानमणवस्तिलाकृतयो बहुपादाः। वर्णस्तु कृष्णः शुक्लश्च। नामानि चैषां यूकाः पिपीलिकाश्चेति। प्रभावः कण्डूजननं कोठपिडकाभिनिर्वर्त्तनञ्च। चिकित्सितन्त्वेषामपकर्षणं मलोपघातो मलकराणाञ्च भावानामनुपसेवनमिति॥ ९॥

उनमें सहज कृमि प्रकृतिभेदसे चार प्रकारके होते हैं। जैसे पुरीषज, श्लेष्मज, शोणितज और मलज। उनमें मल दो प्रकारका होता है। एक बाह्यमल और द्वितीय भीतरीमल। उनमें बाहरके मलमें उत्पन्न होनेवाले क्रिमियोंका वर्णन करते हैं। बाहिरके कृमि उत्पन्न होनेका कारण शरीरको शुद्ध न रखना है अर्थात् शरीरको शुद्ध न रखनेसे बाह्यकृमि उत्पन्न होते हैं। केश, श्मश्रु, लोम, पक्ष्म और वस्त्र यह बाह्य कृमियोंके स्थान हैं। इनका आकार और स्वरूप बहुत छोटा और तिलके समान होता है तथा बहुतसे पांवयुक्त और काले तथा सफेद वर्णके होते हैं। नाम इनके यूका और पिपीलिका होते हैं। यह कृमि खुजली, चकत्ते और फुंसियोंको उत्पन्न करते हैं यही इनका प्रभाव है। यत्न इनका कंघी आदिसे खींचकर निकालदेना, शारीरिक मैलको दूर करना, मलके उत्पन्न करनेवाले उपयोगोंको नहीं करना यही इनकी चिकित्सा है। आमलोग इनको जूं और लीख कहते हैं॥ ९॥

रुधिरजकृमि।

शोणितजानान्तु कुष्ठैः समानं समुत्थानम्, स्थानं रक्तवाहिन्यो धनन्यः, संस्थानमणवो वृत्ताश्चापादाश्च सूक्ष्मत्वाच्चैके भवन्त्यदृश्याः, वर्णस्ताम्रः। नामानि केशादा लोमादा लोमद्वीपाः सौरसा औदुम्बरा जन्तुमातर इति। प्रभावः केशश्मश्रुनखलोमपक्ष्मापध्वंसो व्रणगतानाञ्च हर्षकण्डूतोदसंसर्पणानि, अतिवृद्धानाञ्च त्वक्शिरास्नायुमांसतरुणास्थिभक्षणमिति, चिकित्सितमप्येषां कुष्ठैः समानं तदुत्तरकालमुपदेक्ष्यामः॥ १०॥

शोणितज अर्थात् रक्तसे उत्पन्न होनेवाले कृमियोंका समुत्थान कुष्ठके समान जानना। रक्तवाहिनी धमनियोंमें इनके रहनेका स्थान है। पांवरहित और बहुत बारीक होते हैं। अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण दिखाई नहीं देते। तांबेके समान उनका वर्ण होता है। केशाद, लोमाद, लोमद्वीप, सौरस औदुम्बर और जन्तुमाता ये इनके नाम

हैं। केश, मोंछ, दाढी, नाखून रोम इनको नष्ट करना इनका प्रभाव है। जब यह किसी जख्म (व्रण) में पड जाते हैं तो उस व्रणमें हर्ष, खुजली, तोद और इधर उधर चलनेसे सरसराहट उत्पन्न होते हैं। जब यह अत्यन्त बढजाते हैं तो त्वचा, शिरा, स्नायु, मांस और नरम हड्डियें इनको खाते हैं। चिकित्सा इनकी कुष्ठरोगके समान करनी चाहिये उसको आगे कथन भी करेंगे ॥ १० ॥

कफजकृमि।

श्लेष्मजाः क्षीरगुडतिलमत्स्यानूपमांसपिष्टान्नपरमान्नकुसुम्भस्नेहाजीर्णपूतिक्लिन्नसंकीर्णविरुद्धासात्म्यभोजनसमुत्थानाः। तेषामामाशयः स्थानम्, प्रभावस्तु ते प्रवर्द्धमानास्तूर्द्धमधो वा विसर्पन्ति, उभयतो वा। संस्थानवर्णविशेषास्तु श्वेताः पृथुब्रध्नसंस्थानाः केचित्, केचिद्वृत्तपरिणाहाः, गण्डूपदाकृतयश्च श्वेताः। श्वेतास्ताम्रावभासाः, केचिदणवो दीर्घास्तन्त्वाकृतयः श्वेताः। तेषां त्रिविधानां श्लेष्मनिमित्तानां क्रिमीणां नामानि अन्त्रादाः, उदरादा, हृदयादाश्चुरवो, दर्भपुष्पाः, सौगन्धिकाः, महागुदाश्च इति। प्रभावो हृल्लासास्यसंस्रवणमरोचकाविपाकौ ज्वरो मूर्च्छा जृम्भा क्षवथुरानाहोऽङ्गमर्दः छर्दिः कार्श्यं पारुष्यमिति ॥ ११ ॥

श्लेष्मज कफजानित कृमियोंके निदानको कहते हैं। दूध, गुड, तिल, मछली, अनूपदेशके जीवोंका मांस, पीठी अथवा मैदा आदि पिसेहुए अन्न खीर आदि उत्तम पकवान, कुसुम्भका तेल, अजीर्णके करनेवाले सडेबुसे क्लेदकारक, संकीर्ण तथा विरुद्ध पदार्थोंके सेवन करनेसे एवम् असात्म्य पदार्थोंके सेवन करनेसे श्लेष्मज कृमि उत्पन्न होते हैं। आमाशय इनके रहनेका स्थान है। जब यह बढजाते हैं तो ऊपर अथवा नीचे या दोनों तरफ फिरते हैं। वर्ण विशेष इनका सफेद होता है। आकारमें गोल, लम्बे होते हैं। कोई केंचुएके समान आकारवाले होते हैं। कोई श्वेत, कोई ताम्रवर्णके, कोई बहुत छोटे, कोई बहुत लम्बे धागेके आकारके होतेहैं उन तीन प्रकारके कफजनित कृमियोंके नाम यह होते हैं। जैसे अंत्राद, उदराद, हृदयाद, चुरू, दर्भपुष्प, सौगन्धिक, महागुद। प्रभाव इनका जी मचलाना, मुखसे पानी बहना, अरुचि, अन्नका परिपाक न होना, ज्वर, मूर्च्छा, जंभाई, छींक, अफारा, अंगमर्द, छर्दि, शरीरका कृश होना एवम् शरीर अथवा कोष्ठका कठोर होना है। यह कफजनित कृमियोंका कार्य वर्णन कियागया ॥ ११ ॥

विष्ठाके कृमि।

पुरीषजास्तुल्यसमुत्थानाः श्लेष्मजैस्तेषां संस्थानं पक्काशयः। प्रभावास्तु ते प्रवर्द्धमानास्त्वधो विसर्पन्ति। यस्य पुनरामाशयाभिमुखाः स्युस्तदनन्तरं तस्योद्गारनिश्वासाः पुरीषगंधिनः स्युः। संस्थानवर्णविशेषास्तु सूक्ष्मवृत्तपरीणाहाः श्वेता दीर्घोर्णांशुकसङ्काशाः केचित् केचित्पुनः स्थूलवृत्तपरीणाहाः श्यावनीलहरितपीताः। तेषां नामानि ककेरुका मकेरुका लेलिहाः शालूवकाः सौसुरादाश्चेति। प्रभावः पुरीषभेदः कार्श्यं पारुष्यं लोमहर्षाभिनिर्वर्त्तनञ्च। तत्रैवास्य गुदमुखं परितुदन्तः कण्डूश्चोपजनयन्तो गुदमुखं पर्य्यासते। स जातहर्षो गुदान्निष्क्रमणमतिवेलं करोति ॥ १२ ॥

पुरीष अर्थात् मलजनित कृमियोंका निदान कफके कृमियोंके सदृश जानना। इनके रहनेका स्थान पक्वाशय (मलाशय) है जब यह मलके कृमि अत्यन्त बढ़जाते हैं तो नीचेकी ओर गमन करते हैं तथा आमाशयकी ओर ऊपरको गमन करतेहैं इनके ऊपरको गमन करनेसे डकार और श्वासमें विष्ठाकीसी गन्ध आने लगती है। इनका आकार और वर्ण विशेष सूक्ष्म, गोल तथा श्वेत लम्बा, ऊनके धागेके समान होताहै। इनमें कोई बडे स्थूल, कोई बत्तीके समान आकारवाले तथा काले, पीले, नीले एवम् हरेवर्णके होते हैं,। नाम इनके इस प्रकार हैं ककेरुक, मकेरुक, लेलिह, शालूवक और सौसुराद्। प्रभाव अर्थात् कार्य इनका इस प्रकार है–मलका पतला होना, शरीरका कृश होना, कोष्ठका कठोर होना और रोमहर्ष होना तथा जब यह गुदाके मुखपर आते हैं तो गुदामें सूई चुभनेकीसी पीडा और खुजलीको उत्पन्न करतेहुए गुदाके मुखमें व्यापक रहतेहैं। गुदासे बाहर निकलते समय सरसराहटसी उत्पन्न करतेहैं। यह पुरीषज कृमियोंके लक्षण हैं ॥ १२ ॥

इत्येष श्लेष्मजानां पुरीषजानाञ्च क्रिमीणां समुत्थानादिविशेषः। चिकित्सितन्तु खल्वेषां समासेनोपदिश्य पश्चाद्विस्तरेणोपदेक्ष्यते। तत्र सर्वक्रिमीणामपकर्षणमेवादितः कार्य्यम्। ततः प्रकृतिविघातोऽनन्तरं निदानोक्तानां भावानामनुपसेवनमिति ॥ १३ ॥

इस प्रकार कफजनित और पुरीषजनित कृमियोंके निदान आदिकोंको कथन कियागया है। इनकी संक्षेपसे चिकित्साका कथन करके फिर विस्तारपूर्वक वर्णन

करेंगे। सब प्रकारके कृमियोंमें कृमियोंको निकाल डालना मुख्य कार्य है। फिर कृमियोंको नाश करनेवाले द्रव्यों द्वारा कृमियोंका प्रकृति विघात अर्थात् कृमिनाशक द्रव्योंद्वारा उनको नष्ट कर तदनन्तर कृमियोंको उत्पन्न करनेवाले कारणोंको त्याग देना चाहिये ॥ १३ ॥

क्रिमिचिकित्सा।

तत्रापकर्षणं हस्तेनाभिमृश्यापनयनमुपकरणवतामुपकरणेन वा । स्थानगतानान्तु क्रिमीणां भेषजेनापकर्षणं न्यायतश्चतुर्विधम् । तद्यथा–शिरोविरेचनं वमनं विरेचनमास्थापनमित्यपकर्षणविधिः १४

अब कृमियोंके अपकर्षण अर्थात् निकालनेका क्रम कथन करते हैं। कृमियोंको हाथसे मसलकर अथवा पकडकर या किसी यंत्रद्वारा दबाकर निकाल देना अथवा चूर देनाचाहिये। जो कृमि आमाशय आदि तथा अन्य किसी भीतरी स्थानमें हों उनको औषधी द्वारा निकाल देनाचाहिये। औषधी द्वारा कृमियोंको निकालनेकी चार विधि हैं जैसे शिरोविरेचन, धमन, विरेचन और आस्थापन इस प्रकार कृमियोंका अपकर्षण अर्थात् निकालनेकी विधिका कथन कियागया ॥ १४ ॥

प्रकृतिविघातस्त्वेषां कटुतिक्तकषायक्षारोष्णानां द्रव्याणामुपयोगो यच्चान्यदपि किञ्चिच्छ्लेष्मपुरीषप्रत्यनीकभूतं तत्स्यादिति प्रकृतिविघातः ॥ १५ ॥

अब प्रकृतिविघातको कहतेहैं–कटु, तिक्त, कषाय, क्षार तथा उष्ण द्रव्योंका उपयोग करना और इनके सिवाय अन्य भी जो द्रव्य कफ और मलके विरोधी हों अथवा शुद्ध करनेवाले हों उनका सेवन करना एवम् कृमियोंके उत्पन्न करनेवाले कारणोंको नष्ट करनेवाले द्रव्योंका सेवन करना कृमियोंका प्रकृतिविघात कहाजाताहै ॥ १५ ॥

अनन्तरं निदानोक्तानां भावानामनुपसेवनं यदुक्तं निदानविधौ तस्य वर्जनं तथाविधप्रायाणाञ्चापरेषां द्रव्याणामिति लक्षणतश्चिकित्सितमनुव्याख्यातमेतदेव पुनर्विस्तरेणोपदेक्ष्यते ॥ १६ ॥

इसके अनन्तर निदानमें कहेहुए भावोंका अर्थात् कृमियोंके उत्पन्न करनेवाले पदार्थोंका सेवन नहीं करना और इनके उत्पन्न करनेवाले भावोंको त्याग देना निदानमें कथन कियेहुए भावोंके सिवाय और भी जो कृमियोंके उत्पन्न करनेके कारण हों उनको त्याग देनाचाहिये। यह कृमियोंकी संक्षेपसे चिकित्सा कथन कीगई है अब विस्तारसे कथन करते हैं ॥ १६ ॥

पेटके कीडोंकी चिकित्सा।

अथैनं क्रिमिकोष्ठमातुरमग्रे षड्रात्रं सप्तरात्रं वा स्नेहस्वेदाभ्यामुपपाद्य श्वोभूते एनं संशोधनं पाययितास्मीति, क्षीरदधिगुडतिलमत्स्यानूपमांसपिष्टान्नपरमान्नकुसुम्भस्नेहसम्प्रयुक्तैर्भोज्यैः सायं प्रातरुपपादयेत्समुदीरणार्थञ्चैव क्रिमीणाम्, कोष्ठाभिसरणार्थं च भिषक् ॥ १७॥ अथ व्युष्टायां रजन्यां सुखोषितं सुप्रजीर्णभुक्तञ्च विज्ञायास्थापनवमनविरेचनैस्तदहरेवोपपादयेत् ॥ १८ ॥

जिस मनुष्यके कोष्ठमें कृमि हों उसको पहिले छः दिन या सात दिन स्नेहन और स्वेदन करना चाहिये । फिर स्नेहन स्वेदन करके जब देखे कि कल प्रातःकाल संशोधन करावेंगे तो प्रथम दिन रात्रिके समय दूध, दही गुड, तिल, मछली, अनूपसंचारी जीवोंका मांस, पिष्टान्न, खीर आदि पकवान, कसूंभेकी चिकनाई आदि खूब पेटभर खिला देना चाहिये ऐसा करनेसे सब कृमि इधर उधरसे आकर अपने स्थानोंको छोडकर कोष्ठमें आजाते हैं और आहार द्रव्यके साथ मिलकर कुलबुलाने लगते हैं फिर रात्रि बीतजानेपर प्रातःकाल ही अन्नको पाचन हुआ जान योग्य वैद्य आस्थापन, वमन तथा विरेचन द्वारा कृमियोंको निकाल डाले ॥ १७ ॥ १८ ॥

उपपादनीयश्चेत्स्यात्सर्वान्परीक्ष्यविशेषान् समीक्ष्य सम्यक् । अथाहरेति ब्रूयात् । मूलकसर्षपलशुनकरञ्जशिग्रुमधुशिग्रुखरपुष्पभूस्तृणसुमुखसुरसकुठेरकगण्डीरकालमालकपर्णासक्षवकफणिज्झकानि सर्वाणि। अथवा यथालाभम् । तानि आहृतानि अभिसमीक्ष्य खण्डशश्छेदयित्वा प्रक्षाल्य पानीयेन सुप्रक्षालितायां स्थाल्यां समवाप्य गोमूत्रेणार्द्धोदकेनाभ्यासिच्य साधयेत् । सततमवघट्टयेत् दर्व्या तस्मिन् शीतीभूते तु उपयुक्तभूयिष्ठेऽम्भसि गतरसेषु औषधीषु स्थालीमवतार्य्य सुपरिपूतं कषायं सुखोष्णं मदनफलपिप्पलीविडङ्गकल्कतैलोपहितं सर्जिकालवणमभ्यासिच्य बस्तौ विधिवदास्थापयेदेनम् ॥ १९

यदि वह रोगी फिर भी ऐसा करनेके योग्य हो तो सब प्रकारसे उसकी परीक्षा करके तथा सम्पूर्ण विशेषरूपसे जानकर उचित रीतिपर फिर संशोधन करे । अब संशोधन द्रव्योंको कथन करते हैं-मूली, सरसों, लहसुन, करंज, सहिंजना, अजवायन, भूतृण, सुमुख, (तुलसीका भेद) सुफेद तुलसी, वनतुलसी, गण्डीर, काल-

मालक, पर्णास, क्षवक और फणिज्झक (मरुएके भेद) इन सबको अथवा जो मिल-सके उनको विधिवत् परीक्षा कर छोटे २ टुकडे कर डाले फिर पानीके साथ धोकर शुद्ध वर्तनमें डाल दे और उस वर्तनमें गोमूत्र और गोमूत्रसे आधा पानी मिलाकर पकावे और कडछीसे बराबर हिलाता जावे। जब सब पानी सूखकर गोमूत्र भी चतुर्थभाग रहजाय तब उसको उतारकर कपडेसे छान डाले फिर उस शुद्ध स्वच्छ काढेमें मैनफल, पीपल और वायविडंग इनका कल्क मिला दे तथा सज्जीखार और सेंधानमकको थोडा डाले फिर उसमें तेल और उचित समझे तो थोडा गर्म जल मिलाकर सहती २ आस्थापन, बस्तिकर्म करे॥ १९॥

संशोधन औषधकी विधि।

तथार्कालर्ककुटजाढकीकुष्ठकैटर्य्यकषायेण। तथा शिग्रुपीलुकुस्तुम्बुरुकटुकसर्षपकषायेण। तथामलकशृङ्गवेरदारुहरिद्रापिचुमर्दकषायेण। मदनफलसंयोगसंयोजितेन त्रिरात्रं सप्तरात्रं वास्थापयेत् ॥२०॥

अथवा इसी प्रकार लाल तथा सफेद आक, कुडा, अरहर, कूठ और कायफल इनके क्वाथमें मैनफलका कल्क मिलाकर आस्थापन वस्तिकर्म करे। अथवा सहिंजना, पीलु, धनियाँ, कुटकी और सरसोंके काढेमें अथवा इसीप्रकार आमले, सोंठ, दारुहल्दी, नीमकी छालके काढेमें मैनफलका कल्क मिलाकर तीन रात्रि अथवा सात रात्रि आस्थापन वस्तिकर्म करे॥ २०॥

प्रत्यागते च पश्चिमे बस्तौ प्रत्याश्वस्तं तदहरेवोभयतो भागहरणं संशोधनं पाययेत् युक्त्या, तस्य विधिरुपदेक्ष्यते ॥ २१ ॥

जब पिछली बस्ति गुदाद्वारा उलटकर बाहर निकलजाय तब उससे दूसरे दिन प्रातःकाल शोधनकर्त्ता द्रव्योंद्वारा विधिपूर्वक वमन विरेचन करावे। उसकी विधिको कथन करते हैं॥ २१॥

मदनफलपिप्पलीकषायेषु अञ्जलिमात्रेण त्रिवृत्कल्काक्षमात्रमालोड्य पातुमस्मै प्रयच्छेत्। तदस्य दोषमुभयतो निर्हरति साधु ॥२२॥

मैनफल और पीपलके सोलह तोला क्वाथमें एक तोला निशोथका कल्क मिलाकर रोगीको पिलावे। इसके पीनेसे वमन और विरेचन द्वारा ऊपर और नीचेके दोष भली प्रकार निकल जाते हैं॥ २२॥

एवमेव कल्पोक्तानि वमनविरेचनानि संसृज्य पाययेदेनं बुद्ध्या सर्वविशेषानवेक्ष्यमाणः ॥ २३ ॥

इसी प्रकार कल्पस्थानमें कहेहुए वमन विरेचन द्रव्योंको विधिवत् सम्पादन कर यथोचित रीतिसे दोषादिकोंको तथा बलादि व्यवस्था देखकर रोगीको पिलावे ॥२३॥

विरेचन होजानेपर कर्म।

अथैनं सम्यग्विरिक्तं विज्ञायापराह्णे शैखरिककषायेण सुखोष्णेन परिषेचयेत्। तेनैव च कषायेण बाह्याभ्यन्तरान्सर्वोदकार्थान्कारयेत् शश्वत्। तदभावे वा कटुतिक्तकषायाणामौषधानां क्वाथैर्मूत्रक्षारैर्वा परिषेचयेत्। परिषिक्तश्च एनं निवातमागारमनुप्रवेश्य पिप्पली-पिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेरसिद्धेन यवाग्वादिना क्रमेण उपक्रा-मयेत् विलेपीक्रमागतश्चैनमनुवासयेद्विडङ्गतैलेनैकान्तरं द्विस्त्रिर्वा ॥२४॥

जब देखे कि यह रोगी यथोचित विरिक्त (वमन विरेचन द्वारा शुद्ध) होगया तब दिनकी पिछले प्रहरमें अपामार्गके सुखोष्ण क्वाथ द्वारा परिसेचन करे। और उसी क्वाथ द्वारा बाह्य और आभ्यन्तर सम्पूर्ण जलके कार्योंको साधन करे। अर्थात् अपामार्गके क्वाथसे ही हाथ, पांव धोना, कुल्ला, स्नान आदि सब काम करे। यदि उस समय अपामार्गका क्वाथ न मिल सके तो कटु, तिक्त द्रव्योंके कषायसे अथवा गोमूत्र और क्षार मिलेहुए सुखोष्ण जलसे स्नान आदि करावे। स्नान करनेके अनन्तर निर्वात स्थानमें रक्खे और पिप्पली, पिपलामूल, चव्य, चित्रक और अदरख इनके संयोगसे सिद्ध की हुई यवागू पीनेको देवे। तथा विधिवत् सब उपचार करे उस यवागू पीनेके अनन्तर क्रमपूर्वक विलेपी सेवन करावे। फिर दो तीन दिनके अनन्तर वायविडंगके तेलसे अनुवासन कर्म करे ॥ २४ ॥

यदि पुनरस्यातिप्रवृद्धाञ्छीर्षादीन्क्रिमीन्मन्येत शिरस्येव अभिसर्पतः कदाचित्ततः स्नेहस्वेदाभ्यामस्य शिर उपपाद्य विरेचयेदपामार्गत-ण्डुलादिना शिरोविरेचनेन ॥ २५ ॥

फिर यदि देखे कि इसके शिर आदि अंगोंमें कृमि बढे हुए हें तो शिरोविरेचन करानेके लिये पहिले शिरको स्नेहन और स्वेदन करके फिर अपामार्ग तण्डुल आदि शिरोविरेचन द्रव्योंद्वारा शिरका विरेचन करे ॥ २५ ॥

कृमिनाशक औषधि।

यस्त्वभ्याहार्य्यो विधिः प्रकृतिविघातायोक्तः क्रिमीणाम्, सोऽनुव्या-ख्यास्यते। मूषिकपर्णीं समूलाग्रप्रतानामपहृत्य खण्डशश्छेदयित्वा उलूखले क्षोदयित्वा पाणिभ्यां पीडयित्वा च रसं गृह्णीयात्। तेन

रसेन लोहितशालितण्डुलपिष्टं समालोडच पूपलिकां कृत्वा विधूमेषु अङ्गारेषु विपाच्य विडङ्गतैललवणोपहितां क्रिमिकोष्ठाय भक्षयितुं प्रयच्छेत् । तदनन्तरञ्च अम्लकाञ्जिकमुदश्विद्वा पिप्पल्यादिपञ्चवर्ग-संसृष्टं सलवणमनुपाययेत् ॥ २६ ॥

जो कृमिनाशक पथ्यादि कृमियोंके प्रकृति विघातक कथन कर आयेहैं अब उनकी व्याख्या करते हैं । जैसे मूषिकपर्णीको जडसहित तथा अग्रभागसहित लेकर उसके छोटे २ टुकडे कर डाले फिर उसको उखलीमें कूटकर दोनों हाथोंसे दबा उसका रस निचोड ले । उस रसमें लालचावलोंके आटेको मिलाकर विधिवत् पूडियें बनाले इन पूडियोंको निर्धूम अग्निपर पका विडंगका तैल और सेंधानमक मिलाकर जिस मनुष्यके कोष्ठमें कृमि हों उसको यह खानेको देवे । इसके ऊपर खट्टी कांजीका जल अथवा दहीका पानी सेंधेनमकयुक्त पंचकोलका चूर्ण मिलाकर पीनेके लिये देवे२६॥

अनेन कल्पेन मार्कवार्कसहचरनीपनिर्गुण्डीसुमुखसुरसकुठेरककण्डी-रकालमालकपर्णासक्षवकफणिज्झकबकुलकुटजसुवर्णक्षीरीसुरसाना-मन्यतमे कारयेत् पूपलिकानि । तथा किणिहीकिराततिक्तकसुवहाम-लकहरीतकीविभीतकस्वरसेषु कारयेत् पूपलिकाः । स्वरसांश्चैताने-कैकशो द्वन्द्वशः सर्वशो वा मधुविलुलितान्प्रातरनन्नाय पातुं प्रय-च्छेत् ॥ २७ ॥

इसी प्रकारसे भांगरा, आक, कठसरइया, कदंब, निर्गुण्डी और सुमुख, सुरस (तुलसीकी जाति), बनतुलसी, काण्डीर, कालमालक, पर्णास, क्षवक और फणि-ज्झक (यह मरुएंकी जातियें हैं) मौलसरी, कुडा, सत्यानाशी, तुलसी इनमेंसे किसी-एकके स्वरसको पूर्वोक्त रीतिपर निकालकर उस रसमें लालचावलोंके आटेको मांड-कर पूडियें बनावे उन पूडियोंको जंगली उपलोंकी निर्धूम अग्निपर पकाकर पूर्वोक्त रीतिसे कृमि कोष्ठवाले मनुष्यको खिलावे अथवा अपामार्ग, चिरायता, सुवहा, हरड, बहेडे, आमले इन सबमेंसे किसी एकके स्वरसमें तथा दोनोंके स्वरसको मिलाकर अथवा सबके रसमें लालचावलके आटेकी पूडियें बनावे उनको शहद लपेटकर प्रातः-काल कृमियोंवाले रोगीको खिलावे अथवा उपरोक्त सब औषधियोंके रसमें या किसी एकके स्वरसमें शहद मिलाकर भोजनसे प्रथम प्रातःकाल पीनेके लिये देवे ॥ २७ ॥

अथाश्वशकृदाहृत्य महति किलिञ्चे प्रस्तीर्य्यातपे शोषयित्वोलूखले

क्षोदयित्वा दृषदि पुनः सूक्ष्मचूर्णानि कारयित्वा विडङ्गकषायेण त्रिफलाकषायेण वा अष्टकृत्वो दशकृत्वो वा आतपे सुपरिभावितानि भावयित्वा दृषदि पुनः सूक्ष्मचूर्णानि कारयित्वा नवे कलशे समवाप्यानुगुप्तं निधापयेत्। तेषां तु खलु चूर्णानां पाणितलं यावद्वा साधु मन्येत क्षौद्रेण संसृज्य क्रिमिकोष्ठाय लेढुं यच्छेत् ॥ २८ ॥

अथवा घोडेकी ताजी लीद लेकर किसी बडे टाट या चटाईपर डाल सुखा लेवे फिर उस सूखी लीदको ऊखलीमें डालकर बारीक चूर्ण करे फिर उसको सिलपर पीस कर अत्यन्त महीन बनाले इसके अनन्तर बायबिडंगके क्वाथकी आठ भावना अथवा त्रिफलेके क्वाथकी दश भावना या दोनोंकी भावना देवे और प्रत्येक भावनोंके अनन्तर धूपमें सुखाता जावे फिर इसको सुखाकर कपडछान कर लेवे और एक नये मट्टीके पात्रमें भरकर अलग रख देवे और इसका किसीको भेद न बतावें। इसमेंसे एक तोलाभर चूर्ण अथवा दो या तीन तोलाभर जितना उचित समझे शहदमें मिलाकर जिस मनुष्यके कोष्ठमें कृमि हों उसको चटादियाकरे ॥ २८ ॥

तथा भल्लातकास्थीन्याहार्य्य कलशप्रमाणेन सम्पोथ्य स्नेहभाविते दृढे कलशे सूक्ष्मानेकच्छिद्रब्रध्ने मृदावलिप्ते समवाप्योडुपेन पिधाय भूमौ आकण्ठं निखातस्य स्नेहभावितस्यैव अन्यस्य दृढस्य कुम्भस्य उपरि समारोप्य समन्तात् गोमयैरुपचित्य दाहयेत् । स यदा जानीयात्साधु दग्धानि गोमयानि गलितस्नेहानि भल्लातकास्थीनि, ततस्तं कुम्भमुद्धारयेत् अथ तस्माद् द्वितीयात् कुम्भात्तं स्नेहमादाय विडङ्गतण्डुलचूर्णैः स्नेहार्द्धमात्रैः प्रतिसंसृज्यातपे सर्वमहः स्थापयित्वा ततोऽस्मै मात्रां प्रयच्छेत्पानाय । तेन साधु विरिच्यते । विरिक्तस्य चानुपूर्वी यथोक्ता ॥ २९ ॥

अथवा भेलावेकी १६ सेर गुठलियोंको लेकर थोडा कूट लेवे फिर किसी पक्के चिकने घडेमें भरदेवे और उस घडेके नीचे बारीक बारीक छिद्र रहने देवे तथा उसके मुखको सरावसे ढककर कपडमट्टी करदेवे और उस घडेके नीचे जिस जगह छिद्र हों एक खुले मुखका चिकना पात्र रखदेवे अर्थात् नीचेके खाली चिकने पात्रके मुखपर औषधीवाले घडेके छिद्रोंको टिका कपडमिट्टीसे बंद करदेवे फिर जमीनमें एक गढा खोदकर उसमें नीचेके सम्पूर्ण पात्रको दबा देवे और थोडासा हिस्सा

उपरले घडेका भी मट्टीमें आजाना चाहिये। फिर इस घडेके चारोंतरफसे मट्टीको दबा इसके ऊपर चारोंओर सूखे जंगली उपले लगाकर आग लगादेवे। जब जाने कि ऊपरके घडेके भेलावोंका आगकी गर्मीसे सब तेल नीचेके पात्रमें टपक चुकाहै तो शीतल होजानेपर घडेके ऊपरकी राख मट्टी सावधानीसे हटाकर नीचेके पात्रमें आये हुए तेलको निकाल लेवे। और किसी दूसरे उत्तम पात्रमें भरकर रक्खे फिर इसमेंसे थोडा तेल लेकर उसमें तेलसे आधा वायविडंगका चूर्ण मिला देवे और उसको धूपमें रखदेवे। तमाम दिन धूपमें रखकर इसमेंसे यथोचित मात्रा खिलाकर ऊपरसे गर्मपानी पिलावे। जब इससे ठीक विरेचन होचुके तब संशोधन किये मनुष्यका जिस प्रकार उपचार करना चाहिये उस विधिसे इसकी रक्षा करे। (भेलावेके फलका तेल लगजानेसे मनुष्यके शरीरमें खुजली, सूजन, घाव आदि अनेक उपद्रव होजातेहैं। विना विधिसे भेलावेका सेवन करना विषके समान होता है। परन्तु यह विकार भेलावेके फलके रसमें होतेहैं। फलोंके गुठलियोंमेंसे निकाले तेलमें नहीं होते। तो भी भेलावेका तथा अन्य किसी विषैले पदार्थका उपयोग सुयोग्य वैद्यके ही हाथसे करनाचाहिये विना जाने स्वयं करनेसे मनुष्य अपने शरीरको भी नष्ट कर वैठताहै)॥ २९॥

एवमेव भद्रदारुसरलकाष्ठस्नेहानुपकल्प्य पातुं प्रयच्छेत्। अनुवासयेच्चैनमनुवासनकाले॥ ३०॥

इसी प्रकार देवदारु तथा सरलकाष्ठका तेल निकालकर उसमें वायविडंगका चूर्ण मिलाकर १ दिन धूपमें रक्खे और दूसरे दिन गर्मजलके योगसे पिलावे। देवदारू और सरलके तेल द्वारा अनुवासनके समय अनुवासनवस्ति करना हितकर होता है। (परन्तु भेलावेके तेलसे अनुवासनवस्ति नहीं करनी चाहिये)॥ ३०॥

विडंगतैलम्।

अथाहरेति ब्रूयात्। शारदान्नवांस्तिलान्सम्पदुपेतानाहृत्य सुनिष्पूतान्निष्पूय सुशुद्धाञ्छोधयित्वा विडङ्गकषाये सुखोष्णे प्रक्षिप्य सुनिर्वापितान्निर्वापयेदादोषगमनात्। गतदोषानभिसमीक्ष्य सुप्रलूनान् प्रलुच्य पुनरेव सुनिष्पूतान्निष्पूय सुशुद्धाञ्छोधयित्वा विडङ्गकषायेण त्रिःसप्तकृत्वः सुपरिभावितान् भावयित्वातपे शोषयित्वोलूखले संक्षुद्य दृषदि पुनः श्लक्ष्णपिष्टान्कारयित्वा द्रोण्यामभ्यवधाय विडङ्गकषायेण मुहुर्मुहुरवसिञ्चन्पाणिमर्दं मर्दयेत्॥ तस्मिन्

खलु प्रपीड्यमाने यत् तैलमुदीयात् तत् पाणिभ्यां पर्य्यादाय शुचौ दृढे कलशे समासिच्यानुगुप्तं निधापयेत्। अथाहरेति ब्रूयात्। तिल्वकोद्दालकयोर्द्वौ बिल्वमात्रौ पिण्डौ श्लक्ष्णपिष्टौ विडङ्गकषायेण, ततोऽर्द्धमात्रौ श्यामात्रिवृतयोः। अतोऽर्द्धमात्रौ दन्तीद्रवन्त्योः, अतोऽर्द्धमात्रौ चव्यचित्रकयोरित्येतत्सम्भारं विडङ्गकषायस्यार्द्धाढकमात्रेण प्रतिसंसृज्य ततस्तैलप्रस्थमावाप्य सर्वमालोड्य महति उपयोगे समासिच्याग्नावधिश्रित्य महत्यासने सुखोपविष्टः सर्वतः स्नेहमवलोकयन् अजस्रं मृद्वग्निना साधयेद्दर्व्या सततमवघट्टयन्। स यदा जानीयाद्विरमति शब्दः, प्रशाम्यति च फेनः, प्रसादमापद्यते स्नेहो, यथास्वं गन्धवर्णरसोत्पत्तिः संवर्त्तते च, भेषजमङ्गुलिभ्यां मृद्यमानमनतिमृदुमनतिदारुणमनङ्गुलिग्राहि चेति। स कालस्तस्यावतारणाय। ततस्तमवतीर्णं हृतं शीतीभूतमहतेन वाससा परिपूय शुचौ दृढे कलशे समासिच्य पिधानेन पिधाय शुक्लेन वस्त्रपट्टेन आच्छाद्य सूत्रेण सुबद्धं सुनिगुप्तं निधापयेत्। ततोऽस्मै मात्रां प्रयच्छेत् पानाय ॥ २१ ॥

अब बिडंगतैलकी विधि कथन करतेहैं। पहिले रोगीसे कहे कि, तू शरदृऋतुके अर्थात् नवीन और उत्तम तिलोंको इकट्ठे कर। जब वह तिलोंको इकट्ठे करलेवे तो उन तिलोंको फटक तथा संवार कर एवम् उनमें मट्टी पत्थर आदि चुनकर स्वच्छ बनावे फिर उनको सुन्दर रीतिसे धोकर धूपमें सुखा लेवे। जब सूख जाय फिर उन तिलोंको बायविडंगके क्वाथकी भावना देकर धूपमें सुखाता जावे। इसी प्रकार बायविडंगके क्वाथकी इक्कीस भावना देवे। जब सूख जाये तो ऊखलीमें कूटकर फिर सिलपर बारीक पीस डाले। फिर उस बारीक तिलोंके चूर्णको किसी चिकनेपात्रमें भरकर उसमें वायविडंगका गर्मगर्म क्वाथ छिडकता जाय और हाथोंसे उन तिलोंको मीडताजाय जो उनमेंसे तेल हाथोंको लगे अथवा पात्रमें निकले उस तेलको हाथसे किसी स्वच्छ पात्रमें पोंछता जायँ जब सब तैल निकल आवे तो उस तेलको किसी स्वच्छ पात्रमें भरकर रखदेवे। फिर पठानी लोध, कोद्रव (कोदाअन्न) यह दोनों चार चार तोला लेवे। इनको वायविडंगके क्वाथके साथ पीसकर दो पिंड बनालेवे। इसके अनन्तर दो दो तोला दक्षिणी और पहाडी निशोथ दो दो तोला दोनों प्रकारकी दंती एक एक तोला चव्य और चित्रक इन सबको चार सेर वायविडंगके क्वाथमें मिलाकर पूर्वोक्त चार सेर तेलमें मिलादेवे। फिर सब औषधि-

योंको एक बडी कडाहीमें चढाकर भट्टीपर रक्खे। स्वयं एक ऊंचे आसनपर बैठकर उस कडाहीमें तेलको सब तरहसे देखताहुआ मन्दमन्द अग्निसे पकावे। जब देखे कि पानी जल चुका है और औषधियोंके पकनेका शब्द शान्त होगया। फेन भी जाता रहा। तैल स्वच्छ होगया। जैसे-द्रव्यादिक उसमें डाले हैं उन सबका गन्ध, रस, वर्ण तेलमें आगया तब उस तेलमें पडी औषधियोंके कल्कको निकालकर अंगुलियोंसे मसलताहुआ बत्ती बनाकर देखे। यदि उस कल्कद्रव्यकी बत्ती बनजाय और तेलको छोडने लगजाय और अंगुलियोंसे न चिपटे तो जाने कि तेल अब सिद्ध होगया और यह समय उस तेलके उतारनेका है। फिर उसको उतारकर जब वह ठण्डा होजाय किसी अच्छे वस्त्रसे विधिपूर्वक छानकर शुद्ध और दृढ कलशमें भरकर ऊपरसे किसी पात्रद्वारा ढकदेवे तथा श्वेत और नये वस्त्रसे उसके मुखको बांधकर किसी उत्तम स्थानमें रखदेवे फिर जब आवश्यकता हो तो इस तैलमेंसे रोगीको यथोचित मात्रा पान करावे ॥ ३१ ॥

तेन साधु विरिच्यते। सम्यगपहृतदोषस्य चास्यानुपूर्वी यथोक्ता। ततश्चैनमनुवासयेदनुवासनकाले ॥ ३२ ॥

इस तैलके उपयोगसे उत्तम विरेचन होता है। जब उत्तम विरेचन होकर दोष निकलनेसे मनुष्य शुद्ध देह होजाय तब इसको विधिवत् यवागू आदि पथ्य सेवन करावे। और अनुवासनके समय अनुवासन कर्म करे ॥ ३२ ॥

एतेनैव च पाकविधिना सर्षपकरञ्जकोषातकीस्नेहानुपकल्प्य पाययेत् सर्वविशेषानवेक्ष्यमाणः। तेनागदो भवति ॥ ३३ ॥

इसी तैलपाकविधिसे-सरसों, करंज और कडवी तोरीके बीजोंका भी तैल बनाना चाहिये। फिर विचारपूर्वक कृमिनाश करनेके लिये इन तेलोंका उपयोग करे। ऐसा करनेसे मनुष्य कृमिरोगसे छूटकर नीरोग होजाता है ॥ ३३ ॥

इत्येतद् द्वयानां श्लेष्मपुरीषसम्भवानां क्रिमीणां समुत्थानस्थानसंस्थानवर्णनामप्रभावचिकित्सितविशेषा व्याख्याताः सामान्यतः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार-कफजन्य और पुरीषजन्य कृमियोंके निदान, लक्षण, वर्ण, प्रभाव, नाम और चिकित्साविशेषका सामान्यरूपसे कथन कियागया है ॥ ३४ ॥

विशेषतस्तु अल्पमात्रमास्थापनानुवासनानुलोमहरणभूयिष्ठं तेष्वौषधिषु पुरीषजानां क्रिमीणां चिकित्सितं कार्य्यम्, मात्राधिकं पुनः शिरोविरेचनवमनोपशमनभूयिष्ठम्, तेष्वौषधेषु श्लेष्मजानां क्रिमीणां

चिकित्सितं कार्य्यम् । इत्येवं क्रिमिघ्नो भेषजविधिरनुव्याख्यातो भवति ॥ ३५ ॥

विशेषतासे ध्यान देने योग्य यह बात है कि पुरीषजन्य कृमियोंकी चिकित्सा प्रायः यही है कि स्वल्पमात्रासे आस्थापन तथा अनुवासनबस्ति करना और अनुलोमताके हरण करनेवाली औषधियोंका प्रयोग करना । यह पुरीषज कृमियोंकी चिकित्सा है। कफजन्य कृमियोंमें अधिक मात्रासे वमन, शिरोविरेचन तथा उपशमन औषधियोंका प्रयोग करना चाहिये। यह कफजनित कृमियोंका चिकित्साका वर्णन कियागया। इस प्रकार कृमिनाशक औषधविधिका वर्णन कियागया है ॥३५॥

तमनुतिष्ठता यथास्वं हेतुवर्जने प्रयतितव्यम् । यथोद्देशमेवमिदं क्रिमिकोष्ठचिकित्सितं यथावदनुव्याख्यातं भवतीति ॥ ३६ ॥

कृमिनाशक औषधियोंके सेवन करनेवाला मनुष्य कृमियोंके उत्पन्न करनेवाले कारणोंको त्यागनेमें विशेष यत्नवान् रहे। इस प्रकार यथा उद्देश कृमिकोष्ठकी चिकित्साका क्रमपूर्वक वर्णन कियागया ॥ ३६ ॥

तत्र श्लोकाः—अपकर्षणमेवादौ क्रिमीणां भेषजं स्मृतम् ।
ततो विघातः प्रकृतेर्निदानस्य च वर्जनम् ॥ ३७ ॥
एतावद्भिषजा कार्य्यं रोगे रोगे यथाविधि ।
अयमेव विकाराणां सर्वेषामपि निग्रहे ॥ ३८ ॥

पहिले कृमियोंका आकर्षण करनाही उत्तम चिकित्सा है। उसके अनन्तर कृमियोंकी प्रकृतिका नाश करना तथा कृमिकारक पदार्थोंका त्याग देना। इस प्रकार वैद्यको प्रत्येक रोगमें विधिपूर्वक करना चाहिये। संपूर्ण विकारोंके शान्त करनेका यही क्रम है ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

विधिर्दृष्टस्त्रिधा योऽयं क्रिमीनुद्दिश्य कीर्त्तितः ।
संशोधनं संशमनं निदानस्य च वर्जनम् ॥ ३९ ॥

कृमियोंके उद्देशसे संशोधन, संशमन और निदानका परिवर्ज्जन इस तीन प्रकारकी विधिका कथन किया है ॥ ३९ ॥

अध्यायका संक्षेप ।

व्याधितौ पुरुषौ ज्ञाज्ञौ भिषजौ सप्रयोजनौ ।
विंशतिः क्रिमयस्त्वेषां हेत्वादिः सप्तको गणः ॥ ४० ॥

उक्तो व्याधितरूपीये विमाने परमर्षिणा ।
शिष्यसंबोधनार्थञ्च व्याधिप्रशमनाय च ॥ ४१ ॥

इति व्याधितरूपीयं विमानं समाप्तम् ॥ ७ ॥

इस व्याधितरूपीय विमानमें शिष्यके सम्बोधनके लिये और व्याधिकी शांतिके लिये दो प्रकारके व्याधितपुरुष, सुज्ञ और अज्ञ दो प्रकारके वैद्य और उनके प्रयोगके भेद, बीस प्रकारके कृमि और उनके कारण आदि सातगण, महर्पि आत्रेयजीने कथन किये हैं ॥ ४० ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां विमानस्थाने पटियालाराज्यान्तर्गतटक्सालनिवासिवैद्यपञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्यभाषाटीकायां व्याधितरूपीयविमानं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः ।

अथातो रोगभिषग्जितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम रोगभिषग्जितीय अध्यायकी व्याख्या करते हैं इस प्रकार भगवान् आत्रेयजी कथन करनेलगे ॥

शास्त्रपरीक्षा ।

बुद्धिमानात्मनः कार्य्यगुरुलाघवे कर्मफलमनुबन्धं देशकालौ च विदित्वा युक्तिदर्शनाद्भिषग्बुभूषुः शास्त्रमेवादितः परीक्षेत । विविधानि हि शास्त्राणि भिषजां प्रचरन्ति लोके । तत्र यन्मन्येत महद्यशस्विधीरपुरुषानुमोदितमर्थबहुलमाप्तजनपूजितं त्रिविधशिष्यबुद्धिहितमपगतपुनरुक्तदोषमार्षं सुप्रणीतसूत्रभाष्यसंग्रहक्रमं स्वाधारमनवपतितशब्दमकष्टशब्दं पुष्कलाभिधानं क्रमागतार्थमर्थतत्त्वनिश्चयप्रधानं सङ्गतार्थमसंकुलप्रकरणमाशु प्रबोधकं लक्षणवच्चोदाहरणवच्च,तदभि-

---

१ व्याधितरूपभ्रान्तज्ञानं बुद्धिदोषाद्भवति तस्मात् विशुद्धबुद्ध्युत्पादनार्थमध्ययनमध्यापनतद्विद्यसम्भाषणां रोगभिषग्जितीयेऽभिधीयते ।

प्रपद्येत शास्त्रम् शास्त्रं ह्येवंविधममल इवादित्यस्तमो विधूय प्रकाशयति सर्वम् ॥ १ ॥

वैद्य होनेकी इच्छावाला बुद्धिमान् मनुष्य प्रथम अपनी कार्यकी गुरुता, लघुता, कर्म, उसका फल तथा सहायता आदि संयोग देश और कालको विचारकर एवम् युक्ति अर्थात् अनुमानसे अपने पूर्वापरको विचारता हुआ इन संपूर्ण भावोंपर दृष्टि देकर जिस शास्त्रको पढना हो पहिले उसकी परीक्षा करे अर्थात् यह देखे कि यह ग्रंथ पढनेयोग्यहै या नहीं क्योंकि वैद्यकके अनेक ग्रंथ वैद्यलोगोंके रचेहुए लोकमें प्रचलित हैं। उन सबमें जिस ग्रंथका लोकमें यश छाया हुआ हो और योग्य पुरुष उसकी प्रशंसा करते हों, जिसके पढनेसे वैद्यकका यथोचित ज्ञान प्राप्त होता हो, जिसमें अर्थ बहुत हों जो प्रामाणिक पुरुषोंका माना हुवा, उत्तम, मध्यम, अधम इन तीनों प्रकारके शिष्योंकी बुद्धिमें आसकता हो पुनरुक्त दोषसे रहित हो, ऋषिप्रणीत हो, सूत्र, भाष्य, संग्रहक्रम विधिवत् बना हुआ हो, अपने आधार हो अर्थात् उसमें ऐसी बातें न हों जिनको जाननेके लिये अन्य ग्रंथोंके देखनेकी आवश्यकता होती हो, जिसमें भ्रष्टशब्द न हों, तथा कठिन शब्द न हों, जिसका कथन स्पष्ट और बहुत अर्थको बतानेवाला हो,जिसमें क्रमपूर्वक विषय चलता हो और अर्थ तत्त्वका निश्चय ही मुख्य माना हो, सब विषय संगत हों,शीघ्र बोधको करानेवाला हो एवम् लक्षण और उदाहरण देकर विषयको स्पष्टरूपसे वर्णन करता हो ऐसे ग्रंथको पढनेके लिये ग्रहण करना चाहिये। ऐसा शास्त्र सूर्यके समान अंधकारको दूर कर सब अर्थोंका अर्थात् अर्थ, धर्म, यश आदिकोंका प्रकाश करता है ॥ १ ॥

आचार्यकी परीक्षा।

ततोऽनन्तरमाचार्य्यं परीक्षेत। तद्यथा—पर्यवदातश्रुतं परिदृष्टकर्माणं दक्षं दाक्षिणं शुचिं जितहस्तमुपकरणवन्तं सर्वेन्द्रियोपपन्नं प्रकृतिज्ञं प्रतिपत्तिज्ञमनुपस्कृतविद्यमनहंकृतमनसूयकमकोपनं क्लेशक्षमं शिष्यवत्सलमध्यापकं ज्ञापनसमर्थं च इत्येवंगुणो ह्याचार्य्यः सुक्षेत्रमार्त्तवो मेघ इव शस्यगुणैः सुशिष्यमाशु वैद्यगुणैः सम्पादयति। तमुपसृत्याऽरिराधयिषुरुपचरेदग्निवच्च देववच्च राजवच्च पितृवच्च भर्तृवच्चाप्रमत्तस्ततस्तत्प्रसादात्कृत्स्नं शास्त्रमधिगम्य शास्त्रस्य दृढतायामभिधानसौष्ठवस्यार्थस्य विज्ञाने वचनशक्तौ च भूयः प्रयतेत सम्यक् ॥ २ ॥

इसके अनन्तर पढानेवाले आचार्यकी परीक्षा करना चाहिये। वह इस प्रकार है—जो वेदोंके अथवा आयुर्वेदके संपूर्ण रूपसे सर्वांशको जाननेवाला हो, जिसने आयु-

वेद संबंधी संपूर्ण कर्मोंको गुरुसे सीखा हो और स्वयं भी यथोचित रीतिपर संपूर्ण कर्मोंको अनेक वार किया हुआ हो । सब कर्मोंमें चतुर हो, संपूर्ण आयुर्वेद विद्याको जाननेवाला हो, पवित्र हो, जिसका हाथ हरएक कार्यके करनेमें हलका और स्पष्ट हो, जो आयुर्वेदीय यंत्र, शस्त्र, क्षार, औषध आदि संपूर्ण सामग्री रखता हो, सर्वेन्द्रिय-सम्पन्न हो, जिसके शरीरके संपूर्ण अंग उत्तम हों, सब मनुष्योंकी प्रवृत्ति तथा भेदका जाननवाला हो आयुर्वेदके संपूर्ण सिद्धान्तोंको ठीक जाननेवाला हो, जिसने संपूर्ण शास्त्र पढे हों, वह याद हों, अहंकाररहित हो, निंदक और क्रोधी न हो, क्लेशोंको सहन करनेवाला हो, शिष्यपर प्रेम करनेवाला हो और प्रेमपूर्वक पढानेवाला हो, जिस विषयको पढावे उसको उदाहरण आदि द्वारा स्पष्टरूपसे समझानेवाला हो। इस प्रकार आचार्य-जैसे ऋतुकालमें अच्छी भूमिमें मेघ बरसकर उत्तम खेतीको उत्पन्न करता है उसीप्रकार अपने शिष्यको शीघ्र वैद्यकके गुणोंसे सम्पन्न कर देता है । वैद्य होनेकी इच्छावाले शिष्यको उचित है कि ऐसे गुरुके समीप जाकर उसको अग्निके समान, देवताके समान, राजाके समान, पिताके समान तथा स्वामीके समान जानकर अप्रमत्त होकर सेवा करे । ऐसे गुरुकी कृपासे संपूर्ण शास्त्रको पढकर शास्त्रमें दृढता उत्पन्न करनेके लिये तथा कथन करनेमें चतुराई उत्पन्न करनेके लिये शास्त्रीय विषयका यथोचित ज्ञान प्राप्त करनेके लिये और जाने हुए विषयको वर्णन करनेके लिये उत्तम शक्ति उत्पन्न करनेका यत्नवान् रहे ॥ २ ॥

तत्रोपाया व्याख्यास्यन्ते-अध्ययनमध्यापनं तद्विद्यासम्भाषेत्युपायाः ॥ ३ ॥

अब उन उपायोंका अर्थात् योग्य वैद्य बननेके उपायोंका कथन करते हैं । जैसे पढना (अध्ययन करना) पढाना और उसी शास्त्रमें शास्त्रार्थ आदि सम्भाषण करना यह तीन उपाय शास्त्रमें व्युतपन्न होनेके हैं ॥ ३ ॥

अध्ययनकी विधि ।

तत्रायमध्ययनविधिः-कल्यः कृतक्षणःप्रातरुत्थायोपव्युषं वा कृत्वावश्यकमुपस्पृश्योदकं देवगोब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धाचार्य्येभ्यो नमस्कृत्य समे शुचौ देशे सुखोपविष्टो मनःपुरःसराभिर्वाग्भिः सूत्रमनुक्रामन् पुनः पुनरावर्त्तयेद् बुद्ध्या सम्यगनुप्रविश्यार्थतत्त्वं स्वदोषपरिहारार्थं परदोषप्रमाणार्थम् ॥ एवं मध्यन्दिनेऽपराह्णे रात्रौ च शश्वदपरिहापयन्नध्ययनमभ्यसेत्यध्ययनविधिः ॥ ४ ॥

---

१ उपव्युपमिति किञ्चिच्छेपायां रात्रौ ।

अब प्रथम अध्ययन विधि अर्थात् पढनेके क्रमको कथन करते हैं-पढनेकी इच्छावाला निरोग ब्रह्मचारी नियत समयपर प्रातःकाल अथवा सूर्य उदय होनेके चार घडी प्रथम उठकर परमेश्वरका स्मरण करे और मलमूत्रादि त्यागन करनेके अनन्तर स्नान आदि कर पवित्र हो देवता, गौ, ब्राह्मण, गुरु,वृद्ध, सिद्ध और आचार्य आदिकोंको प्रणाम कर शुद्ध, समान, पवित्र स्थानमें सुखपूर्वक बैठाहुआ शास्त्रमें मन लगाये हुए जिन सूत्रोंको पढाहो उन सूत्रोंमें चित्त लगाकर स्पष्ट स्वरसे उनको उच्चारण करताहुआ बारबार पाठ करता जाय फिर उस सब पाठको अपनी बुद्धिमें जमाकर उस पाठमें अथवा उस विषयमें जो दोष अथवा अदोष एवम् तर्क वितर्क जो कुछ उत्पन्न हो उसको निश्चय करनेके लिये मध्यदिनमें अथवा अपराह्णमें या रात्रिके समय अथवा उसी समय गुरुके समीप जा अपनी शंकाओंको निवृत्त कर लेवे। और इसी विधिसे नित्य पढता रहे। यह अध्ययनकी विधि है ॥ ४ ॥

अध्यापनविधि।

अथाध्यापनविधिः-अध्यापने कृतबुद्धिराचार्य्यः शिष्यमादितः परीक्षेत। तद्यथा-प्रशान्तमार्य्यप्रकृतिकमक्षुद्रकर्म्माणमृजुचक्षुर्मुखनासावंशं तनुरक्तविशदजिह्वमविकृतदन्तौष्ठम् अमिन्मिणं धृतिमन्तम् अनहंकृतं मेधाविनं वितर्कस्मृतिसम्पन्नमुदारसत्त्वं तद्विद्यकुलजमथवा तत्त्वाभिनिवेशिनमव्यङ्गमव्यापन्नेन्द्रियं निभृतमनुद्धतमव्यसनिनं शीलशौचाचारानुरागदाक्ष्यप्रादक्षिण्योपपन्नमध्ययनाभिकाममत्यर्थविज्ञाने कर्मदर्शने चानन्यकार्य्यमलुब्धमनलसं सर्वभूतहितैषिणमाचार्य्यसर्वानुशिष्टिप्रतिकरमनुरक्तम्। एवं गुणसमुदितमध्याप्यमेवमाहुः। एवं चिरमाचार्य्यश्चाध्ययनार्थमुपस्थितमारिराधयिषुमनुभाषेत ॥ ५ ॥

अब अध्यापन (पढाने) की विधिका कथन करते हैं-पढानेकी इच्छावाला वैद्य प्रथम शिष्यकी परीक्षा करे शिष्य ऐसा होना चाहिये। जो शान्तचित्त और श्रेष्ठ स्वभाववाला हो, नीच कर्मोंको करनेवाला तथा नीच आशयवाला न हो, जिसके नेत्र, मुख, नासिका यह सब सुन्दर और सुडौल हों, जिसकी पतली, लाल, सुन्दर जीभ हो, दंतपंक्ति ओर औष्ठ उत्तम हों तथा धारण शक्तिवाला हो, अहंकार रहित हो, मेधायुक्त हो, तर्क शक्ति और स्मरण शक्तिवाला हो, उदार स्वभाववाला हो और उनके कुलमें परम्परासे विद्या पढने, पढानेकी प्रथा चली आती हो अथवा उस विद्याको पढना चाहता हो। उस विद्यासे अपने लाभकी इच्छा करता हो, जो विद्याके तत्त्वको जाननेमें चित्त लगाये हुए हो, जिसके शरीरके सम्पूर्ण अङ्ग उत्तम

हों, सर्वेन्द्रिय सम्पन्न हो, विनीत हो, अकड रहित हो, दुर्व्यसन रहित हो, सुशील हो, पवित्र हो, अनुरागी हो, चतुर हो, हरएक कार्य बुद्धिमत्तासे करनेवाला हो, पढनेमें चित्त लगाये हुए हो, अर्थके जानने और वैद्यकर्म सीखनेमें तथा देखनेमें चित्त लगाये हुए हो, गुरुकी आज्ञा पालन करनेवाला हो और गुरुमें प्रेमभाव रखनेवाला हो। इस प्रकारके गुणोंसे सम्पन्न शिष्य पढाने योग्य होता है। इन सम्पूर्ण गुणोंयुक्त शिष्य बहुत कालतक पढनेकी इच्छासे आवे तो ऐसे शिष्यको गुरु विधिवत् शास्त्रका उपदेश कर देवे ॥ ५ ॥

उपदेश।

उदगयने शुक्लपक्षे प्रशस्तेऽहानि पुष्यहस्तश्रवणाश्वयुजामन्यतमेन नक्षत्रेण योगमुपगते भगवति शशिनि कल्याणे मुहूर्त्ते स्नातः कृतोपवासो मुण्डः कषायवस्त्रसंवीतः समिधोऽग्निमाज्यमुपलेपनमुदककुम्भांश्च सुगन्धिहस्तः माल्यदामहिरण्यहेमरजतमणिमुक्ताविद्रुमक्षौमपरिधींश्च कुशलाजसर्षपाक्षतांश्च शुक्लांश्च सुमनसो ग्रथिताग्रथितांश्च मेध्यांश्च भक्ष्यान् गन्धांश्च पिष्टापिष्टानादायोपतिष्ठस्वेति। स तथा कुर्य्यात् ॥ ६ ॥

जब शिष्यको अध्ययन कराना हो तो आचार्य कहे कि तुम उत्तरायणमें, शुक्लपक्षमें और शुभदिनमें पुष्य, हस्त, श्रवण, अश्विनी इन नक्षत्रोंमेंसे किसी नक्षत्रयुक्त चन्द्रमा होनेपर सुमुहूर्त और शुभलग्नमें--स्नान और उपवास करके मुण्डन करा, कषाय वस्त्रोंको धारणकर यज्ञकी समिधा, अग्नि, घृत, उपलेपन द्रव्य, जल, घट, सुगन्धित द्रव्य, स्रक्, माला, नेती, मृगछाला, सुवर्ण, रजत, मणि, मुक्ता, मूंगा, रेशमी धोती, कुशा, लाजा, सरसों, अक्षत, श्वेतपुष्प और पुष्पोंकी माला, पवित्र भक्ष्य पदार्थ, केशर चन्दनादि उत्तम गन्ध पिसे हुए और विना पिसे हुए लेकर हमारे पास आओ। शिष्य उसीप्रकार करे ॥ ६ ॥

तमुपस्थितमाज्ञाय समे शुचौ देशे प्राक्प्रवणे वा चतुष्किष्कुमात्रं चतुरस्रं स्थण्डिलं गोमयोदकेनोपलिप्तं कुशास्तीर्णं सुपरिहितं परिधिभिश्चतुर्दिशं यथोक्तचन्दनोदककुम्भक्षौमहेमाहिरण्यरजतमणिमुक्ताविद्रुमालंकृतं मेध्यभक्ष्यगन्धशुक्लपुष्पलाजासर्षपाक्षतोपशोभितं कृत्वा तत्र पालाशीभिरैङ्गुदीभिरौदुम्बरीभिर्माधुकीभिर्वा समिद्भि-

१ प्राक्प्लवने इति पाठान्तरम्। प्लवनं निम्नमिति संस्कारतन्त्रे।

रग्निमुपसमाधाय प्राङ्मुखः शुचिरध्ययनविधिमनुविधाय मधुसर्पिर्भ्यां त्रिस्त्रिर्जुहुयादग्निम्। आशीःसंप्रयुक्तैर्मन्त्रैर्ब्राह्मणमग्निं धन्वन्तारिं प्रजापतिमश्विनाविन्द्रमृषींश्च सूत्रकारानभिमन्त्रयमाणः पूर्वं स्वाहेति। शिष्यश्चैनमन्वारभेत। हुत्वा च प्रदक्षिणमग्निमनुपरिक्रामेत्। ततोऽनुपरिक्राम्य ब्राह्मणान्स्वस्तिवाचयेत्। भिषजश्चाभिपूजयेत् ॥७॥

जब इन सम्पूर्ण वस्तुओंको लेकर शिष्य गुरुके पास आवे तब गुरु उस आये हुएको देखकर सम और पवित्र भूमिमें,पूर्व अथवा उत्तरकी ओर चार हाथकी चौकोनी वेदी बनावे उसको गोबर और जलसे लिपाकर उसके ऊपर विधिवत् कुशाको बिछावे और वेदीके चारों ओर चार परिधि बनावे फिर शास्त्रोक्त रीतिसे चंदन जलके कुंभ, रेशमी वस्त्र, सुनहरीवस्तु, हिरण्य, रजत, मणि, मोती, मूंगा इनसे यथाविधि स्थानको विभूषित करे फिर पवित्र, भक्ष्य पदार्थ, कर्पूर, केशर चन्दनादि गंधद्रव्य, श्वेतपुष्प, लाजा (धानकी खील) सरसों, अक्षत आदिको यथाक्रम स्थापन करे तथा पलाश, इंगुदी, गूलर, महुआ इनकी समिधाओंसे अग्निको विधिवत् प्रज्वलित करे फिर पूर्वाभिमुख होकर शिष्यको शुद्धभावसे अध्ययन विधिके अनुसार बिठाकर शहद और घीसे तीनतीन आहुतियें अग्निमें हवन करे। फिर वेदोक्त आशीर्वादके मंत्रोंद्वारा ब्रह्मा, अग्नि, धन्वन्तारि, प्रजापति, अश्विनीकुमार, इन्द्र, ऋषियों तथा सूत्रकारोंको आवाहन करताहुआ पहिले आप स्वाहा कहकर आहुति देवे फिर शिष्य भी उसीप्रकार हवन करे। हवन करनेके अनन्तर अग्निकी प्रदक्षिणा करे और ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन करावे तथा वैद्योंका पूजन करे ॥ ७ ॥

अथैनमग्निसकाशे ब्राह्मणसकाशे भिषक्सकाशे चानुशिष्यात्। ब्रह्मचारिणा श्मश्रुधारिणा सत्यवादिना अमांसादेन मेध्यसेविना निर्मत्सरेण शास्त्रधारिणा भवितव्यम्। न च ते मद्वचनात्किञ्चिदकार्यं स्यादन्यत्र राजद्विष्टात्प्राणहराद्विपुलादधर्म्यादनर्थसंप्रयुक्ताद्वाप्यर्थात् मदर्पणेन मत्प्रधानेन मदधीनेन मत्प्रियहितानुवर्त्तिना च शश्वद्भवितव्यम्। पुत्रवद्दासवदर्थिवच्चोपचरतानुसर्त्तव्योऽहम् अनुत्सुकेनावहितेनावेक्ष्यावेक्ष्यकारिणा अनसूयकेन चाऽभ्यनुज्ञातेन प्रविचरितव्यम्, अनुज्ञातेन च प्रविचरता ॥ ८ ॥

फिर शिष्यको अग्निके समीपे, ब्राह्मणोंके समीप और वैद्योंके समीप बिठाकर इस प्रकार शिक्षा देवे कि हे शिष्य ! तुमको ब्रह्मचारी बनकर श्मश्रु धारणकर, सत्य-

वादी रहना होगा तथा निरामिषभोजी और पवित्रभोजन करना मत्सर (ईर्षा, द्वेष) रहित और शास्त्रोंको धारण करना होगा, मेरी आज्ञासे बाहर किंचित् काम भी नहीं करना। राजाका द्वेष, हिंसा, अधर्म, अनर्थ, अनर्थसे धन प्राप्त करना इनको छोडकर और संपूर्ण काम मेरी आज्ञानुसार करना। मेरे आगे नम्रतापूर्वक हरएक काममें मुझे प्रधान मानताहुआ मेरे आधीन, और मेरी प्रियता, मेरा हित तथा मेरा अनुवर्त्ती बनकर निरन्तर रहनाचाहिये। जैसे पिताकी सेवा पुत्र करताहै मालिककी सेवा नौकर करताहै, जैसे अर्थकी इच्छासे अर्थीपुरुष धनिककी आज्ञा पालन करताहै, उसी प्रकार सब स्थानमें तुमको मेरा अनुसरण करनाहोगा। उत्सुकतारहित होकर सावधानीसे अनन्यमन होकर विनीतभावसे हरएक कामको विचार विचारकर करतेहुए ईर्षा, अभिमान, निंदा आदिको त्यागकर मेरी आज्ञाके अनुसार सब काम करने होंगे। मेरी आज्ञा लेकर इधरउधर जानाहोगा ॥ ८ ॥

वैद्यको उपदेश।

पूर्वं गुर्वर्थोपाहरणे यथाशक्ति प्रयतितव्यम् । कर्मसिद्धिमर्थसिद्धिम् यशोलाभं च प्रेत्य च सर्वमिच्छता भिषजा गोब्राह्मणमादौ कृत्वा सर्वप्राणभृतां शर्मण्याशासितव्यम् । अहरहरुत्तिष्ठता चोपविशता च सर्वात्मना चातुराणामारोग्ये प्रयतितव्यम् । जीवितहेतोरपि चातुरेभ्यो नाभिद्रोग्धव्यम् । मनसापि च परस्त्रियो नाभिगमनीयाः । तथा सर्वमेव परस्वम् । निभृतवेशपरिच्छदेन च भवितव्यम् । अशौण्डेन अपापेन अपापसहायेन च श्लक्ष्णशुक्लधर्म्यशर्म्यधन्यसत्यहितमितवचसा देशकालविचारिणा स्मृतिमता ज्ञानोत्थानोपकरणसम्पत्सु नित्यं यत्नवता ॥ न च कदाचिद्राजद्विष्टानां राजद्वेषिणां वा महाजनद्विष्टानां महाजनद्वेषिणां वा औषधमनुविधातव्यम्। एवं सर्वेषामत्यर्थविकृतदुष्टदुःखशीलाचारोपचाराणामनपवादप्रतिकरादीनां मुमूर्षुताञ्च तथैवासन्निहितेश्वराणां स्त्रीणामनध्यक्षाणां वा ॥ ९ ॥

पहिले गुरुके लिये धन इकट्ठा करनेमें यत्न करनाहोगा कर्मसिद्धिके लिये, अर्थसिद्धिके लिये, यश प्राप्त करनेके लिये, मरकर मोक्ष प्राप्तिके लिये इच्छा करनेवाला वैद्य पहिले गौ ब्राह्मणोंको आदि लेकर संपूर्ण प्राणियोंके कल्याण करनेमें यत्नवान् रहना। नित्यप्राति उठते बैठते संपूर्णरूपसे रोगियोंके आरोग्य करनेमें यत्नवान् रहना। अपने आजीवनके लिये भी रोगियोंको दिक्क कर द्रव्य प्राप्त न करना। मनसे

भी परस्त्रीकी इच्छा न करना तथा किसी भी पराई वस्तुके लेनेकी इच्छा न करना। स्वच्छ, साधारण, उत्तम वेश धारण रखना, मद्य न पीना, पापी न बनना, पापरहित मनुष्योंके साथ रहना, पवित्र, उत्तम, धर्मात्माओंकी संगति करना, शरण आये-हुएकी रक्षा करना, धन्य, सत्य, हित और देश, काल विचार कर मितभाषण करना, देशकालसे विचारवान् रहना, स्मृतिमान् होकर ज्ञान साधनकी सामग्रीको नित्य संग्रह करना, और राजद्रोही तथा जिनसे राजा द्वेष करताहो, जो बडे पुरुषोंके द्वेषी हों अथव जिनसे बडे पुरुष द्वेष रखतेहों ऐसे पुरुषोंको औषधि नहीं देना इसी प्रकार सबका बुरा करनेवाले दुष्ट तथा खोटे आचारवाले रुषोंको भी औषधि न देना एवम् जो स्वयं मरना चाहताहै, जिसको अपने अपवादका भय नहीं, जो कुपथ्यकारी है उनकी तथा जिन स्त्रियोंके पति, पुत्र आदि कोई समीप न हों ऐसी अकेली स्त्रियोंकी चिकित्सा नहीं करना ॥ ९ ॥

न च कदाचित्स्त्रीदत्तमामिषमादातव्यमननुज्ञातं भर्त्रा अथवा अध्यक्षेण। आतुरकुलश्चानुप्रविशता त्वया विदितेनानुमतप्रवेशिना सार्द्धं पुरुषेण सुसंवीतेनावाकूशिरसा स्मृतिमता स्तिमितेन अवेक्ष्यावेक्ष्य बुद्ध्या मनसा सर्वमाचरता सम्यगनुप्रवेष्टव्यम् । अनुप्रविश्य च वाङ्मनोबुद्धीन्द्रियाणि न क्वचित्प्रणिधातव्यानि अन्यत्रातुरोपकारार्थाद्वा आतुरगतेष्वन्येषु वा भावेषु । न चातुरकुलप्रवृत्तयो बहिर्निश्चारयितव्याः । ह्रासितश्चायुषः प्रमाणमातुरस्य न वर्णयितव्यं जानतापि च। तत्र यत्रोच्यमानमातुरस्य अन्यस्य वाप्युपघाताय सम्पद्यते । ज्ञानवतापि च नात्यर्थमात्मनो ज्ञानेन विकत्थितव्यम् । आप्तादपि हि । आप्तादपि विकत्थमानादत्यर्थमुद्विजन्ति अनेके ॥ १० ॥

यदि कोई स्त्री अपने पति अथवा अध्यक्षकी आज्ञा विना आमिष अथवा कोई अन्य वस्तुएं देवे तो नहीं लेना चाहिये। जब किसी रोगीको देखनेके लिये जावे तो जो मनुष्य उनके घरमें आनेजानेवाला हो उसके संगमें अथवा पहिले खबर वैद्यके आनेकी देकर जानकार पुरुषके साथ स्वच्छ वस्त्रोंको पहिनेहुए शिरको नीचा किये हुए, विना कुछ बोले स्मृतिमान् होकर सावधानीसे पूर्वापरको विचारते हुए बुद्धि और मनसे उत्तम विधिका विचार करतेहुए रोगीके घरमें प्रवेश करना फिर घरमें जाकरभी अपने मन, वाणी, बुद्धि और इन्द्रियोंको रोगीके उपकार तथा उसके निदान,

कारणादि द्वारा रोगके सम्पूर्ण भावोंको जाननेमें लगावे। किन्तु अन्य उनके घरकी किसी वस्तु तथा स्त्री आदिकोंपर न तो दृष्टि डाले और न उनका विचारतक करे। रोगीके कुलकी प्रवृत्तियें रहस्य आदि घरसे बाहर न निकाले। यदि देखे कि रोगीकी आयु बहुत कम शेष है अर्थात् मरजानेवालाहै तब भी अपने मुखसे न कहे क्योंकि इधर उधरसे अपने मरनेकी बात सुनकर रोगी शीघ्र घबडाकर मृत्युके वश होजाताहै एवम् इनके कुटुम्बी आदि सुनकर भी बडा भारी दुःख मानतेहैं। स्वयं बुद्धिमान् होते हुए भी और वैद्यकका योग्य ज्ञानी होते हुए भी अपने मुखसे अपनी प्रशंसा न करे। यदि योग्य बुद्धिमान् भी अपने मुखसे अपनी बडाई करने लगजाता है तो उसको सुनकर बहुतसे लोगोंको उसमें अश्रद्धा उत्पन्न होजातीहै ॥ १० ॥

न चैव हि अस्ति आयुर्वेदस्य पारम्, तस्मादप्रमत्तः शश्वदभियोगमस्मिन् गच्छेत्। तदेवं कार्य्यमेवं भूयश्च प्रवृत्तस्य सौष्ठवमनसूयता परेभ्योऽप्यगमयितव्यम्। कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः, शत्रुश्चाबुद्धिमतामेतच्चाभिसमीक्ष्य बुद्धिमता अमित्रस्यापि धन्यं यशस्यमायुष्यं पौष्टिकं लौकिकमभ्युपदिशतो वचः श्रोतव्यमनुविधातव्यञ्चेति ॥ ११ ॥

आयुर्वेद शास्त्रका पार नहीं है। इसलिये सदैव अप्रमत्त होकर इसमें चित्त लगा योग्यता प्राप्त करे। और यह जानकर कि अमुकस्थलमें अमुकप्रकारसे रोग शान्ति करना चाहिये इत्यादि वैद्यकशास्त्रके प्रकारोंको अपने गुरुके सिवाय और योग्य वैद्योंसे भी सीखतारहे तथा निंदा आदिको त्याग देवे। बुद्धिमान् मनुष्यके लिये सम्पूर्ण संसार ही शिक्षा देनेवाला गुरु है और मूर्खोंके लिये शत्रु है। ऐसा विचारकर बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि शत्रुका कहाहुआ भी वाक्य सुनना, यदि प्रशंसाके योग्य हो, हितकारी हो और यशको बढानेवाला हो तथा आयुवर्द्धक हो, तो उसको विचार कर मान लेना और उसके अनुकूल आचरण करना चाहिये ॥ ११ ॥

अतः परमिदं ब्रूयाद्देवताग्निद्विजातिगुरुवृद्धसिद्धाचार्य्येषु ते सम्यग्वर्त्तितव्यम्। तेषु ते सम्यग्वर्त्तमानस्यायमग्निः सर्वगन्धरसरत्नबीजानि यथेरिताश्च देवताः शिवाय स्युः, अतोऽन्यथा चावर्त्तमानस्याशिवायेति। एवं ब्रुवति चाचार्य्ये शिष्यस्तथेति ब्रूयात्। यथोपदेशञ्च कुर्वन्नध्याप्यः अतोऽन्यथा तु अनध्याप्यः। अध्याप्यमध्यापयन् हि आचार्य्यो यथोक्तैश्चाध्यापनफलैर्योगमाप्नोति।

अन्यैश्चानुक्तैः श्रेयस्करैर्गुणैः शिष्यमात्मानञ्च युनक्ति । इति अध्यापनविधिरुक्तः ॥ १२ ॥

इसके अनन्तर आचार्य शिष्यसे यह और कहे कि देवता, अग्नि, ब्राह्मण, गुरु, वृद्धजन, सिद्ध और आचार्य इनसे सदैव भले प्रकार विनीतभावसे वर्ताव रखना। इन सबके साथ विनयपूर्वक उत्तम वर्ताव करनेसे यह सब तथा अग्नि और सब प्रकारके गंध, रस, रत्नादिक और देवता तथा वृद्ध, सिद्ध, आचार्य आदिक तेरे कल्याणको करेंगे। इसके विपरीत करनेसे तुम्हारा अमंगल होगा। शिष्य यह सुनकर हाथ जोडकर कहे बहुत अच्छा ऐसा ही करूंगा तथा जैसे गुरुने उपदेश किया है उसीके अनुसार सम्पूर्ण कार्योंको करे। ऐसा शिष्य पढानेके योग्य है इससे विपरीत पढानेके योग्य नहीं है। पढानेके योग्य शिष्यको पढाताहुआ आचार्य अध्यापनके संपूर्ण फलोंको प्राप्त होताहै। शिष्यको चाहिये कि इनके सिवाय अन्य भी जो हितकर कल्याणकारी गुण हों उनको ग्रहण करे। इस प्रकार अध्यापन विधिका कथन कियागया ॥ १२ ॥

सम्भाषणविधि ।

अध्ययनाध्यापनविधिवत्सम्भाषाविधिमत ऊर्द्ध्वं व्याख्यास्यामः। भिषग्भिषजा सह सम्भाषेत। तद्विद्यसम्भाषा हि ज्ञानाभियोगसंहर्षकरी भवति। वैशारद्यमपि चाभिनिर्वर्त्तयति। वचनशक्तिमपि चाधत्ते। यशश्चाभिदीपयति। पूर्वश्रुते च सन्देहवतः पुनः श्रवणाच्छ्रुतसंशयमपकर्षति। श्रुते चासन्देहवतो भूयोऽध्यवसायमभिनिर्वर्तयति। अश्रुतमपि च कश्चिदर्थं श्रोत्रविषयमापादयति। यच्चाचार्य्यः शिष्याय शुश्रूषवे प्रसन्नक्रमेणोपदिशति गुह्याभिमतमर्थजातम्, तत् परस्परेण सह जल्पन् पण्डेन विजिगीषुराह संहर्षात्तस्मात्तद्विद्यसम्भाषामभिप्रशंसन्ति कुशलाः ॥ १३ ॥

इसके उपरान्त अध्ययन और अध्यापन विधिके समान अब संभाषण विधिका कथन करते हैं। वैद्यको वैद्यसे संभाषण करना चाहिये क्योंकि वैद्यसे वैद्य संभाषण करता हुआ आयुर्वेदके संबंधमें तर्क वितर्ककी सामर्थ्यवाला होजाता है और उसकी ज्ञानशक्ति तथा कथनशक्ति बढजाती है एवम् बोलनेकी चतुराई उत्पन्न होजाती है यश बढता है, पहिले सुने हुए विषय जिनमें सन्देह होगया हो वह परस्पर शास्त्रार्थ द्वारा सुननेसे उनका संशय दूर होजाता है और सन्देह रहित वाक्य भी बोले और

सुने जानेसे निश्चयात्मक और याद होजाते हैं। जो विषय कभी सुननेमें नहीं भी आये वह भी शास्त्रार्थमें श्रवणगोचर होजाते हैं। जिन गुह्य विषयोंको आचार्य शिष्यसे प्रसन्न होकर भी क्रमपूर्वक कथन करते हुए इस विचारमें रहता है कि किसी समय योग्य शिष्यको बतलावेंगे या बडे प्रेमी शिष्यको और अत्यन्त शुश्रूषा करनेवालेको क्रमसे बतलाता है वह गुह्य विषय भी शास्त्रार्थके समय एक दूसरेको जीतनेकी इच्छा करता हुआ और अपने पक्षको पुष्ट करनेके लिये तथा अपने पांडित्यको दिखाता हुआ झट आवेशमें आ प्रगट करदेता है। इसलिये तद्विद्य संभाषा अर्थात् वैद्यको वैद्यसे वैद्यक विषयमें संभापण करनेकी बुद्धिमान् प्रशंसा करते हैं॥ १३॥

द्विविधा तु खलु तद्विद्यसम्भाषा भवति। सन्धायसम्भाषा विगृह्यसम्भाषा च। तत्र ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनशक्तिसम्पन्नेनाकोपनेन अनुपस्कृतविद्येनानसूयकेन अनुनयकोविदेन क्लेशक्षमेण प्रियसम्भाषणेन च सह सन्धाय सम्भाषा विधीयते। तथाविधेन सह कथयन्विश्रब्धः कथयेत्। पृच्छेदपि च विश्रब्धः। पृच्छते चास्मै विश्रब्धाय विशदमर्थं ब्रूयात्। न च निग्रहभयादुद्विजेत। निगृह्य चैनं न हृष्येत्, न च परेषु विकत्थेत। न च मोहादेकान्तग्राही स्यात्, न चाप्रस्तुतमर्थमनुवर्णयेत्। सम्यक् चानुनयेनानुनयेत, अनुनयाच्च परं तत्र चावहितः स्यादित्यनुलोमसम्भाषाविधिः॥ १४॥

वह तद्विद्यसंभाषा दो प्रकारकी होती है। १ संधायसंभाषा। २ विगृह्यसंभाषा। उनमें ज्ञान और विज्ञानयुक्त वचन और प्रतिवचनमें सम्पन्न क्रोधरहित, बहुत विद्याको जाननेवाला, निंदारहित, नम्रतायुक्त, कष्टको सहनेवाला, एवम् प्रिय भाषण करनेवाला जो विद्वान् हो उसके साथ ऐसे ही गुणोंवाला योग्य वैद्य मिलकर मित्रताके भावसे प्रीतिपूर्वक संभाषण करे। ऐसे वैद्यके साथ शास्त्रार्थ करते हुए शान्तिपूर्वक भाषण करे और शान्तस्वभावसे उसके प्रश्नोंका उत्तर देवे तथा स्पष्ट अर्थोंवाले शब्दोंको उच्चारण करे और हारनेके भयसे उद्विग्न न हो, एवम् उसको जीतकर मनमें प्रसन्न भी न हो, तथा दूसरोंके पास कथन न करे, और तर्क वितर्कके समय मोहसे उन्मत्त न होजाय, अर्थात् एकान्तग्राही न बने, एवम् झूठे तथा जिनकी आवश्यकता न हो ऐसे शब्दोंको उच्चारण न करे और दोनों आपसमें नम्रतापूर्वक प्रेमसे भाषण करें। इस प्रकारकी प्रेममयी संभाषाको अनुलोम (संधाय) संभाषा कहते हैं॥ १४॥

विगृह्यसंभाषणविधि।

अत ऊर्द्ध्वमितरेण सह विगृह्य सम्भाषेत श्रेयसा योगमात्मनः पश्यन्।

प्रागेव च जल्पाज्जल्पान्तरं परावरान्तरं परिषद्विशेषांश्च सम्यक् परीक्षेत । सम्यक् परीक्षा हि बुद्धिमतां कार्य्यप्रवृत्तिनिवृत्तिकालौ च शंसति । तस्मात् परीक्षामभिप्रशंसन्ति कुशलाः । परीक्षमाणस्तु खलु परावरान्तरमिमाञ्जल्पकगुणाञ्छ्रेयस्करांश्च दोषवतश्च परीक्षेत सम्यक् । तद्यथा-श्रुतं विज्ञानं धारणं प्रतिभानं वचनशक्तिरित्येतान्गुणाञ्छ्रेयस्करानाहुः । इमान्पुनर्दोषवतः कोपनत्वमवैशारद्यं भीरुत्वमनवहितत्वमिति । एतान्द्वयानपि गुणान्गुरुलाघवतः परस्य चैवात्मनश्च तोलयेत् ॥ १५ ॥

इसके उपरान्त विगृह्य संभाषाका कथन करते हैं । जब वैद्य दूसरे वैद्योंसे अपने कल्याण अर्थात् जीतनेकी इच्छासे एवम् दूसरे वैद्यको पराजय करनेकी इच्छासे शास्त्रार्थ करना चाहे तो प्रथम संभाषण करनेसे पहिले ही परावरान्तर (अपना और दूसरे वैद्यका शास्त्रमें बल) तथा परिषद् (सभा) विशेषको उचित रीतिपर परीक्षा कर लेवै । प्रथम भले प्रकार परीक्षा करलेनाही बुद्धिमानोंको कार्यमें प्रवृत्त होनेका तथा निवृत्त होनेका समय दिखादेता है । इसलिये प्रथम परीक्षा करलेनेकी प्रशंसा करते हैं । परीक्षा करतेहुए अपने और दूसरेके शास्त्रबलमें अन्तरको तथा जल्प (जीतनेकी इच्छासे शास्त्रार्थ) करनेवालेके गुणोंको उसके और अपने कल्याणकारी भावोंको एवम् दोषोंको भलेप्रकार परीक्षा करे । वह गुण और दोष इस प्रकार होते हैं । जैसे श्रुत, विज्ञान, धारणा, स्फुरणा, तेजस्विता, वाक्यशक्ति यह शास्त्रार्थ करनेवालेके श्रेयस्कर अर्थात् कल्याणकारी गुण कहे जाते हैं । क्रोधित होना, बोलनेमें चतुराई न होना, डरना, असावधान रहना यह शास्त्रार्थ करनेवालेके दोष होते हैं । प्रथम अपने और दूसरेके इन दोनों प्रकारके गुणदोषोंको बुद्धिमें तोल लेवे ॥ १५॥

प्रतिवादीके भेद ।

तत्र त्रिविधः परः सम्पद्यते । प्रवरः प्रत्यवरः समो वा गुणविनिक्षेपतो न त्वेवं कात्स्न्र्येन ॥ १६ ॥

प्रतिवादी तीन प्रकारका होता है । १ अपनेसे उत्तम गुणवाला । २ अपनेसे हीन गुणवाला । ३ अपनेसे समान गुणवाला । यह तीन प्रकारका भेद केवल गुण निक्षेपसे ही कहा है संपूर्ण विषयोंमें नहीं ॥ १६ ॥

सभाके भेद ।

परिषच्च खलु द्विविधा, ज्ञानवती मूढपरिषच्च, सैव द्विविधा सती

त्रिविधा पुनरनेन कारणविभागेन सुहृत्परिषत्, उदासीनपरिषत् प्रतिनिविष्टपारिषच्चेति ॥ १७॥

परिषद् अर्थात् सभा दो प्रकारकी होती है। १ ज्ञानवती सभा। २ मूढसभा। यह दो प्रकारकी होती हुई भी इस प्रकार कारणभेदसे प्रत्येक सभा तीनतीन प्रकारकी होती है। जैसे—सुहृद परिषद् (अपने मित्रोंकी सभा), उदासीन परिषद् (सामान्य पुरुषोंकी सभा) और प्रतिनिविष्ट परिषद् (शत्रुओंकी सभा) ॥ १७ ॥

तत्र प्रतिनिविष्टायां परिषदि ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनशक्तिसम्पन्नायां मूढायां वा न कथञ्चित् केनचित् सह जल्पो विधीयते। मूढायान्तु सुहृत्परिषदि उदासीनायां वा ज्ञानविज्ञानमन्तरेणाप्यदीप्तयशसा महाजनद्विष्टेन सह जल्पो विधीयते। तद्विधेन च सह कथयता आविद्धदीर्घसूत्रसंकुलैर्वाक्यदण्डकैः कथयितव्यम्। अतिहृष्टं मुहुर्मुहुरुपहसता परं निरूपयता च परिषदमाकारैर्ब्रुवतश्चास्य वाक्यावकाशो न देयः। कष्टं शब्दञ्च ब्रुवन्वक्तव्यो नोच्यत इति। अथवा पुनर्हीना ते प्रतिज्ञेति पुनश्चाह्वयमानः प्रतिवक्तव्यः। परिसंवत्सरो भवान् शिक्षतां तावत् गुरुमुपासितो नूनम्। अथवा पर्य्याप्तमेतावत्ते सकृदेव हि पारिक्षेपिकं निहितं निहतमाहुरिति। नास्य योगः कर्त्तव्यः कथञ्चिदप्येवं श्रेयसा सह विगृह्य वक्तव्यमित्याहुरेके। न त्वेवं ज्यायसा सह विग्रहं प्रशसन्ति कुशलाः॥ १८ ॥

शत्रुओंकी सभा चाहे ज्ञान, विज्ञान, प्रतिवचनकी शक्तिवाली हो चाहे मूढ हों उसमें किसीसे किसी प्रकारका जल्प करना उचित नहीं है। सुहृद्सभा और उदासीन सभा यदि मूढ भी हो तो उसमें कोई दूसरा वैद्य अपने ऊपर जीतनेकी इच्छासे आवे तो ज्ञान, विज्ञानके विना भी अपने यशकी इच्छासे उसको जीतनेके लिये शास्त्रार्थ करे। ऐसे पुरुषके साथ संभाषण करते हुए कठिन तथा दीर्घ संकुलीदार गूढार्थ सूत्रोंद्वारा पेचीदा बातोंसे उसको जीतनेका यत्न करे और अति प्रसन्न मुख होकर हंसता हुआ प्रतिवादीसे मसखरी करता हुआ सभाके आकारको जानकर उसको बोलनेका अवकाश न दे और यदि वह कठिन शब्दोंको बोले तो उसको कहे भाई अन्टसन्ट क्या बकते हो फिर तो कहो क्या कहते हो यदि वह उत्तर देवे तो कहे कि भाई ऐसा मत कहो इसमें तो तुम्हारे ही पक्षका खण्डन होगया अभी तुम एकवर्ष

और पढो फिर आकर शास्त्रार्थ करना अथवा ऐसा कहे कि, बस हमने जानलिया आपको जो कुछ आता है। हमने आपकी भले प्रकार परीक्षा करली है इतना ही बहुत है। यदि वह अपने ऊपर कोई आक्षेप करे तो झट कठिन संस्कृत बोलकर यह लो तुम्हारा यह पक्ष भी खण्डन होगया। मित्र! अभी और पढिये। परन्तु इस प्रकारका प्रयोग विद्वानोंकी सभामें अथवा किसी भले पुरुषके साथ नहीं करना चाहिये। इस प्रकारके संभाषण करनेका किसी २ आचार्यका मत है। हमारे मतमें यह अन्याय है। बुद्धिमान्‌को इस प्रकारका शास्त्रार्थ पंडितोंके सन्मुख और किसी योग्य पुरुषसे नहीं करना चाहिये ऐसा बुद्धिमानोंका मत है॥ १८॥

प्रत्यवरेण तु सह समानाभिमतेन वा विगृह्य जल्पता सुहृत्परिषदि कथयितव्यम्। अथवाप्युदासीनपरिषदि अनवधानश्रवणज्ञानविज्ञानोपधारणवचनशक्तिसम्पन्नायां कथयता चावहितेन परस्य साद्‌गुण्यदोषबलमवेक्षितव्यम्। समवेक्ष्य च यत्रैनं श्रेष्ठं मन्येत नास्य तत्र जल्पं योजयेत् अनाविष्कृतमयोगं कुर्वन्। यत्र त्वेनमवरं मन्येत, तत्रैवैनमाशु निगृह्णीयात्॥ १९॥

सुहृद् सभामें हीन समान और उत्तम गुणवालोंसे अर्थात् तीनों प्रकारके पुरुषोंसे शास्त्रार्थ कर लेना अनुचित नहीं। अथवा उदासीन सभामें अर्थात् जिस सभामें अप्रमत्त, श्रवण, ज्ञान, विज्ञान, उपधारण और वचन शक्ति सम्पन्न पुरुष बैठे हुए हों ऐसी सभामें प्रतिवादीके सद्‌गुणों और दोषोंको सावधानीसे परीक्षा कर लेवे। यदि प्रतिवादी गुणोंमें अपनेसे बलवान् हो तो उससे शास्त्रार्थ न करे और एकाध शास्त्रकी बात इस प्रकार कहकर चुप होजावे जिससे सभाके मनुष्य इसको प्रतिवादीसे हीन न समझें यदि प्रतिवादी गुणोंमें अपनेसे हीन प्रतीत हो तो उसको झट शास्त्रार्थमें दवालेवे॥ १९॥

तत्र खल्विमे प्रत्यवराणामाशु निग्रहे भवन्ति उपायाः। तद्यथा, श्रुतहीनं महता सूत्रपाठेनाभिभवेत्। विज्ञानहीनं पुनः कष्टशब्देन वाक्येन, वाक्यधारणाहीनमाविद्धदीर्घसंकुलैर्वाक्यदण्डकैः, प्रतिभाहीनं पुनर्वचनेनानेकविधानानेकार्थवाचिना, वचनशक्तिहीनमर्द्धोक्तस्य वाक्यस्याक्षेपेण, अविशारदमपत्रपेण, कोपनमायासेन, भीरुं वित्रासनेन, अनवहितं नियमनेन इत्येवमेतैरुपायैरवरमभिभवेत्॥ २०॥

शास्त्रार्थमें प्रतिपक्षीको जीतनेके लिये ये उपाय हैं। जैसे यदि वह शास्त्रमें हीन हो तो उसके आगे बडे २ सूत्र और बहुतसा संस्कृतका पाठ उच्चारण करे। यदि वह विज्ञान शक्तिमें हीन हो तो कठिन शब्दोंसे उसको जीते। यदि उसमें वाक्य धारण करनेकी शक्ति न हो तो बंधेहुए संकुलीदार बहुत लम्बे २ दण्डकवाक्यों द्वारा शास्त्रार्थ करे। यदि वह तेजहीन और स्फुरणाहीन हो तो अनेक प्रकारसे अनेकार्थ शब्दों द्वारा पराजय करे। और वक्तृताशक्तिहीनको उपरोक्त वाक्योंके आक्षेपद्वारा अर्थात् एक पंक्तिपर दूसरी पंक्ति बोलबोलकर मुग्ध बनादेवे। चातुर्य रहितको लज्जित करनेवाले वाक्योंद्वारा पराजित करे। यदि वह क्रोधी हो तो उसके आगे इस प्रकारके कटाक्ष करे जिससे वह बोलना ही छोड देवे। डरनेवालेको शास्त्रीय धर्षणाद्वारा परास्त करे। असावधानको नियममें फंसाकर परास्त करे। इन उपायों-द्वारा प्रतिवादीको पराजय करना चाहिये ॥ २० ॥

विगृह्य कथयेद्युक्त्या युक्तञ्च न निवारयन् ।
विगृह्य भाषा तीव्रं हि केषाञ्चिद् द्रोहमावहेत् ॥ २१॥
नाकार्य्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यमपि विद्यते ।
कुशला नाभिनन्दन्ति कलहं समितौ सताम् ॥ २२ ॥

शास्त्रार्थ करते समय युक्तियुक्त वाक्योंको बोलना चाहिये अर्थात् अन्टसन्ट झूठा पक्ष न लेवे और प्रतिपक्षीके कहे हुए युक्तिसंमत सच्चे वाक्यको भी न माननेका झगडा न करे क्योंकि परस्पर जीतनेकी इच्छासे शास्त्रार्थ करते समय बहुतसे पुरुषोंके चित्तमें तीव्र द्रोह उत्पन्न हो जाताहै। क्रोधित मनुष्यके लिये कुछ भी, अवाच्य और अकार्य नहीं होता अर्थात् क्रोधमें भराहुआ मनुष्य जो कुछ आगे आये सो उचितानुचित बक देता है और लडाई आदि वृथा उपद्रव उत्पन्न होजाताहै। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य कलहको अच्छा नहीं समझते क्योंकि कलह करना सज्जन पुरुषोंका काम नहीं है ॥ २१ ॥ २२ ॥

एवं प्रवृत्ते तु वादे प्रागेव वादात् तावदिदं कर्त्तुं यतेत ; सन्धाय परिषदाऽयनभूतमात्मनः प्रकरणमादेशयितव्यम् । यद्वा परस्य भृशदुर्गं स्यात् । पक्षमथवा परस्य भृशं विमुखमानयेत् । परिषदि चोपसंहितायामशक्यमस्माभिर्वक्तुमिति तूष्णीमासीत् । एषैव च ते परिषद्यथेष्टं यथायोग्यं यथाभिप्रायं वादं वादमर्य्यादाञ्च स्थापयि-ष्यतीत्युक्त्वा ॥ २३ ॥

जब प्रतिवादीसे शास्त्रार्थ करनेके लिये प्रवृत्त हो तो शास्त्रार्थ करनेसे प्रथम ही सभामें जो सभासद बैठे हों उनकी अनुमतिसे जिस विषयमें अपना अभ्यास और बल हो उस विषयमें शास्त्रार्थ करना प्रारम्भ करना चाहिये अर्थात् सभासदोंकी अनुमतिसे अपना पूर्वपक्ष करना चाहिये अथवा ऐसे पक्षको छेडे जो प्रतिवादीको अत्यन्त कठिन प्रतीत हो अथवा पूर्वपक्ष द्वारा प्रतिवादीको अत्यन्त विमुख बनादेवे। जब देखे कि, यह सभासे विमुख है अथवा सभा उससे विमुख हो तब सभामें इस प्रकार प्रतिवाद उठावे कि मैं आपसे बोलनेकी ताकत नहीं रखता यह सज्जन पुरुषोंकी सभा ही तुम्हारे अभिप्रायके अनुसार अथवा जैसा उचित समझेगी वैसा हमारे तुम्हारे वादकी मर्यादाको स्थापनकर देगी। यह कहकर चुप हो जाय ॥२३॥

वादमर्यादाके लक्षण।

तत्रेदं वाद[1]मर्य्यादालक्षणं भवति। इदं वाच्यमिदमवाच्यमेवं सति पराजितो भवतीति। इमानि खलु पदानि भिषग्वादमार्गज्ञानार्थमधिगम्यानि भवन्ति! तद्यथा वादो, द्रव्यं, गुणाः, कर्म्म, सामान्यं, विशेषः, समवायः, प्रतिज्ञा, स्थापना, प्रतिष्ठापना, हेतुः, उपनयः, निगमनम्, उत्तरम्, दृष्टान्तः, सिद्धान्तः, शब्दः, प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, औपम्यम्, ऐतिह्यं, संशयः, प्रयोजनं, सव्यभिचारं, जिज्ञासा, व्यवसायः, अर्थप्राप्तिः, सम्भवः, अनुयोज्यम्, अननुयोज्यम्, अनुयोगः, प्रत्यनुयोगः, वाक्यदोषः, वाक्यप्रशंसा, छलम्, अहेतुः, अतीतकालम्, उपालम्भः, परिहारः, प्रतिज्ञाहानिः, अभ्यनुज्ञा, हेत्वन्तरम्, अर्थान्तरं, निग्रहस्थानामिति ॥ २४ ॥

वाद प्रतिवादमें अर्थात् शास्त्रार्थ करते समय प्रथम शास्त्रार्थकी मर्यादाको स्थापितकर लेना चाहिये कि, यह बात कहना और यह नहीं कहना। इस प्रकार मर्यादामें बांध लेनेसे प्रतिवादी परास्त होजाता है। वैद्यको शास्त्रार्थका मार्ग जाननेके लिये इन आगे कहेहुए वाक्योंको भली प्रकार याद करलेना चाहिये। जैसे-वाद, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, प्रतिज्ञा, स्थापना, प्रतिष्ठापना, हेतु, उपनय, निगमन, उत्तर, दृष्टांत, सिद्धांत, शब्द, प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य, ऐतिह्य, संशय, प्रयोजन, सव्यभिचार, जिज्ञासा, व्यवसाय, अर्थप्राप्ति, संभव, अनुयोज्य, अननुयोज्य, अनुयोग,

१ वादशब्देन चेह विगृह्य पक्षप्रतिपक्षवचनमात्रमुच्यते, सन्धायसम्भाषयैव तत्त्वबुभुत्सोर्वाद उक्तः।

प्रत्यनुयोग, वाक्यदोष, वाक्यप्रशंसा, छल, अहेतु, अतिकाल, उपालंभ, परिहार, प्रतिज्ञाहानि, अभ्यनुज्ञा, हेत्वंतर, अर्थांतर, निग्रहस्थान । इन सब शब्दार्थोंको यथोचित रीतिपर जानलेना चाहिये । आगे इन प्रत्येकका कथन करते हैं ॥ २४ ॥

वादका लक्षण ।

तत्र वादो नाम यत्परस्परेण सह शास्त्रपूर्वकं विगृह्य कथयति । स वादो द्विविधः संग्रहेण, जल्पो वितण्डा च ॥ तत्र पक्षाश्रितयोर्वचनं जल्पः । जल्पविपर्य्ययो वितण्डा । यथैकस्य पक्षः पुनर्भवोऽस्तीति नास्तीत्यपरस्य । तौ च स्वपक्षं स्वहेतुभिः स्वस्वपक्षं स्थापयतः परपक्षमुद्भावयतः, एष जल्पः । जल्पविपर्य्ययो वितण्डा । वितण्डा नाम परपक्षे दोषवचनमात्रमेव ॥ २५ ॥

जीतनेकी इच्छासे शास्त्रार्थमें क्रमपूर्वक परस्पर तर्क वितर्क करनेको वाद कहते हैं। उस वादके संग्रहक्रमसे दो भेद हैं । १ जल्प । २ वितण्डा । उनमें अपने पक्षको लेकर शास्त्रसम्मत उक्तिद्वारा अपने २ पक्षके जयकी इच्छासे संभाषण करना जल्प कहाता है । जल्पसे विपरीत अर्थात् अपने पक्षको स्थापन न करके दूसरेके पक्षमें दोष देते जानेको वितण्डा कहते हैं । जैसे—एकका पक्ष है कि पुनर्जन्म होता है, दूसरेका पक्ष है कि पुनर्जन्म नहीं होता । यह दोनों अपने २ पक्षको स्थापन करतेहुए और हेतुओं द्वारा पुष्ट करते हुए परस्पर दूसरेके पक्षमें दोष दिखातेहुए जो शास्त्रार्थ होता है उसको जल्प कहते हैं। इससे विपरीत वितण्डा होती है । वितण्डा केवल दूसरेके पक्षमें दोष निकालनेका ही नाम है अर्थात् दूसरेमें दोष निकालनेके सिवाय अपना कोई विशेष पक्ष न रखना वितण्डा कहाती है ॥ २५ ॥

द्रव्यादि लक्षण ।

द्रव्यगुणकर्म्मसामान्यविशेषसमवायाः स्वलक्षणैः श्लोकस्थाने पूर्वमुक्ताः ॥ २६ ॥

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन सबको इनके लक्षणोंके द्वारा पहिले सूत्रस्थानमें कथन कर चुके हैं ॥ २६ ॥

अथ प्रतिज्ञा ।

प्रतिज्ञा नाम साध्यवचनम्, यथा नित्यः पुरुष इति ॥ २७ ॥

अब प्रतिज्ञादिकोंका कथन करते हैं । साध्यवचनका कथन करता प्रतिज्ञा कहा जाता है । जैसे—पुरुष नित्य है इस जगह किसी हेतु आदिसे प्रथम जिस बातको

सिद्धकरना हो उसको दृढतासे कथन करना प्रतिज्ञा कहाता है। इस स्थानमें " पुरुष नित्य है "। इस वाक्यके कथन करनेको प्रतिज्ञा कहते हैं ॥ २७ ॥

अथ स्थापना।

स्थापना नाम तस्या एव प्रतिज्ञायाः हेतुदृष्टान्तोपनयनिगमैः स्थापना, पूर्वं हि प्रतिज्ञा, पश्चात्स्थापना। किं ह्यप्रतिज्ञातं स्थापयिष्यति। यथा नित्यः पुरुष इति प्रतिज्ञा। हेतुरकृतकत्वादिति। दृष्टान्तो यथाऽऽकाशं तच्च नित्यम्। उपनयो यथा कृतकमाकाशं तथा पुरुषः। निगमनं तस्मान्नित्य इति ॥ २८ ॥

पहिले कीहुई प्रतिज्ञाको-हेतु, दृष्टांत, उपनय और निगमन द्वारा सिद्ध करना स्थापना कहाता है। पहिले प्रतिज्ञा कहकर पीछे उसको स्थापन किया जाता है क्योंकि प्रतिज्ञा किये विना स्थापना होही नहीं सकती। जैसे पुरुष नित्य है यह प्रतिज्ञा की। अकृत होनेसे अर्थात् किसीका बनायाहुआ न होनेसे, यह हेतु हुआ। जैसे-आकाश अकृत होनेसे अर्थात् किसीका बनाया हुआ न होनेसे नित्य है, यह दृष्टान्त हुआ। जैसे-आकाश किसीका बनाया न होनेसे नित्य है उसी प्रकार पुरुष भी किसीका बनाया न होनेसे नित्य है यह उपनय हुआ ॥ इसलिये पुरुष नित्य है यह निगमन हुआ ॥ २८ ॥

अथ प्रतिष्ठापना।

प्रतिष्ठापना नाम या परप्रतिज्ञायाः प्रतिविपरीतार्थस्थापना। यथा अनित्यः पुरुष इति प्रतिज्ञा। हेतुरैन्द्रियकत्वात्। दृष्टान्तो यथा घट ऐन्द्रियकः स चानित्यः। उपनयो यथा घटस्तथा पुरुषः। तस्मादनित्य इति ॥ २९ ॥

जो पर प्रतिज्ञासे विपरीत अर्थवाली प्रतिज्ञाका स्थापन करना है उसको प्रतिष्ठापना कहते हैं। जैसे-पुरुष नित्य नहीं अनित्य है यह प्रतिज्ञा हुइ। इसके अनित्य होनेमें हेतु यह है कि यह इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष होता है। दृष्टान्त यह है कि जैसे-इन्द्रियों द्वारा घटका ज्ञान होताहै सो घट अनित्य है जैसे घट अनित्य है वैसेही पुरुष भी अनित्य है यह उपनय हुआ। इसलिये पुरुष अनित्यहै यह निगमन हुआ ॥ २९ ॥

अथ हेतुः।

हेतुर्नामोपलब्धिकारणं तत्प्रत्यक्षमनुमानमैतिह्यमौपम्यमित्येभिर्हे-तुभिर्यदुपलभ्यते तत्तत्त्वम् ॥ ३० ॥

---

१ हेतुशब्देनात्र लिंगग्राहकाणि प्रत्यक्षादिप्रमाणान्येव।

जिसके द्वारा उपलब्धि हो उसको हेतु कहते हैं। हेतुओं द्वारा जो प्राप्त हो वह तत्त्व है। वह तत्त्व--प्रत्यक्ष, अनुमान, ऐतिह्य और उपमान द्वारा प्राप्त होताहै॥३०॥

उपनयो निगमनञ्चोक्तं स्थापनाप्रतिष्ठापनाव्याख्यायाम् ॥ ३१ ॥

उपनय अर्थात् उपमान और निगमनको स्थापनाकी व्याख्यामें कथनकर चुकेहैं३१

अथ उत्तरम्।

उत्तरं नाम साधर्म्योपदिष्टे हेतौ वैधर्म्यं वचनं, वैधर्म्योपदिष्टे वा हेतौ साधर्म्यवचनं यथा हेतुसधर्म्माणो विकाराः। शीतकस्य हि व्याधेर्हेतुसाधर्म्यं हिमशिशिरवातसंस्पर्शा इति ब्रुवतः परो ब्रूयात्। हेतुविधर्म्माणो विकाराः, यथा शरीरावयवानां दाहौष्ण्यकोथप्रवचने हेतुवैधर्म्यं हिमशिरवातसंस्पर्शा इति। एतत्सविपर्य्ययमुत्तरम् ॥ ३२ ॥

साधर्म्यमें कहे हुए हेतुसे विपरीत हेतुको दिखाना अर्थात् उससे विपरीत वचनको कहना वैधर्म्यसे कहे हुए हेतुओंके विपरीत साधर्म्य वचनको कथन करना उत्तर कहा जाता है। जैसे--किसीने कहा कि जो धर्म हेतुके होते हैं व्याधिके भी वही धर्म होते हैं। जैसे--शीतसे उत्पन्न हुई वातव्याधिके जो धर्म होते हैं उसके हेतुभूत हिम, शिशिर और वायुके संस्पर्शके भी वही धर्म होते हैं। इस प्रकार कहतेहुएको प्रतिवादी कहे कि जिस हेतुसे व्याधि उत्पन्न होती है उस हेतुके जो धर्म होते हैं वह व्याधिके नहीं होते क्योंकि देखनेमें आता है कि दाह, उष्णता, कोथ(सडन) शीतके धर्म न होनेपर भी शरीरके अवयवोंमें दाह, उष्णता आदि उत्पन्न करते हैं। और उन दाह उष्णतादिकोंके हिम शिशिर आदि विधर्मी गुणवाले कारण होतेहैं। इसलिये हेतु और व्याधिके गुणोंमें साधर्म्यता नहीं होती। इस प्रकार विपरीतवाक्यके कथन करनेको " उत्तर " कहते हैं ॥ ३२ ॥

अथ दृष्टान्तः।

दृष्टान्तो नाम यत्र मूर्खविदुषां बुद्धिसाम्यम्। यो वर्ण्यं वर्णयति। यथाग्निरुष्णो, द्रवमुदकम्, स्थिरा पृथिवी, आदित्यः प्रकाशक इति। यथादित्यः प्रकाशकस्तथा सांख्यवचनं प्रकाशकमिति ॥ ३३ ॥

जिस कथनमें मूर्ख और विद्वानोंकी बुद्धिकी साम्यता हो अर्थात् जिसको मूर्ख और पंडित दोनों एकरूपसे मानजांय इस प्रकारके कथनको दृष्टान्त कहते हैं। जैसे--

---

१अत्र उत्तरशब्देन--जात्युत्तरमुत्तराभासमीप्सितम्। "साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः"

आग्नि उष्ण है, जल पतला है, पृथ्वी स्थिर होती है, आदित्य प्रकाशमान है अथवा जैसे आदित्य प्रकाशमान है वैसे ही सांख्यके वचन भी प्रकाशको करनेवाले हैं। इसको दृष्टान्त कहते हैं ॥ ३३ ॥

अथ सिद्धान्तः ।

सिद्धान्तो नाम यः परीक्षकैर्बहुविधं परीक्ष्य हेतुभिः साधयित्वा स्थाप्यते निर्णयः स सिद्धान्तः। स चोक्तश्चतुर्विधः। सर्वतंत्रसिद्धांतः प्रतितन्त्रसिद्धान्तोऽधिकरणसिद्धान्तोऽभ्युपगमसिद्धान्त इति ॥ ३४ ॥

जो परीक्षकोंने अनेक प्रकारसे परीक्षा कर हेतुओंद्वारा साधन करके स्थापन किया हो अर्थात् निर्णय किया हो उसको सिद्धान्त कहते हैं । वह सिद्धान्त--सर्वतंत्र सिद्धान्त, प्रतितंत्र सिद्धान्त, अधिकरण सिद्धान्त और अभ्युपगमसिद्धान्त इन भेदोंसे चार प्रकारका कहा है ॥ ३४ ॥

सर्वतन्त्रसिद्धान्तः ।

तत्र सर्वतन्त्रसिद्धान्तो नाम तस्मिंस्तस्मिन् सर्वस्मिंस्तन्त्रे तत्तत्प्रसिद्धम्। सन्ति निदानानि सन्ति व्याधयः सन्ति सिद्ध्युपायाः साध्यानामिति ॥ ३५ ॥

उनमें जो सिद्धान्त संपूर्ण तंत्रों (ग्रंथों) में एक समान हो और उसको सब मानते हों उसको सर्वतंत्र सिद्धान्त कहते हैं। जैसे--व्याधिका कारण और व्याधि तथा साध्यव्याधिकी चिकित्सा इसको सब तन्त्रोंमें कहा है और सब मानते हैं । इसलिये यह सर्वतंत्र सिद्धान्त है ॥ ३५ ॥

प्रतितन्त्रसिद्धान्तः ।

प्रतितन्त्रसिद्धान्तो नाम तस्मिंस्तस्मिन्नेकैकस्मिंस्तन्त्रे तत्तत्प्रसिद्धम्। यथान्यत्राष्टौ रसाः, षडन्यत्र। पञ्चेन्द्रियाणि यथान्यत्र षडिन्द्रियाणि । वातादिकृताः सर्वविकारा यथान्यत्र वातादिकृता भूतकृताश्च प्रसिद्धाः ॥ ३६ ॥

प्रतितंत्र सिद्धान्त उसको कहते हैं जो एक २ तंत्रमें अपने अपने रूपसे प्रसिद्ध हो और उसको वही वही तंत्रकार मानते हों । जैसे--किसीके मतमें रस आठ प्रकारके हैं और कोई रसको छः प्रकारका कहते हैं एवम् कोई कहते हैं कि इन्द्रियें पांच हैं

और किसी तंत्रमें इन्द्रियोंको छः माना है। कोई मानता है कि संपूर्ण व्याधियें वातादिकोंसे उत्पन्न होती हैं और किसीके मतमें संपूर्ण रोग भूत प्रेत आदिकोंके किये होते हैं इस प्रकार अपने २ तंत्रमें माने हुए सिद्धान्तको प्रतितंत्र सिद्धान्त कहते हैं ॥३६॥

अधिकरणसिद्धान्तः।

अधिकरणसिद्धान्तो नाम स यस्मिन्नधिकरणे संस्तूयमाने सिद्धान्यन्यान्यपि अधिकरणानि भवन्ति । यथा न मुक्तः कर्म्मानुबन्धिकं कुरुते निस्पृहत्वादिति प्रस्तुते सिद्धाः कर्म्मफलमोक्षपुरुषप्रेत्यभावा भवन्ति ॥ ३७ ॥

किसी एक पक्षको लेकर निर्णय करते करते बीचमें किसी अन्य विपयका निश्चय होजाना अधिकरण सिद्धान्त कहाता है। जैसे--जिन मनुष्योंकी मोक्ष हो चुकी है। वह निस्पृही मनुष्य आगेको होनेवाले जन्मके अनुबंध करनेवाले कर्मको नहीं करते क्योंकि वह आगेके लिये अपने किसी कर्मके फलकी इच्छा नहीं रखते इस प्रकारके प्रस्तावमें कर्मका फल, मोक्ष पुरुप और उसके होनेवाले जन्मादिकोंका निश्चय होजाना यह अधिकरण सिद्धान्त कहा जाता है ॥ ३७ ॥

अभ्युपगमसिद्धान्तः।

अभ्युपगमसिद्धान्तो नाम यमर्थमसिद्धमपरीक्षितमनुपदिष्टमहेतुकं वा वादकालेऽभ्युपगच्छन्ति भिषजः। तद्यथा—द्रव्यं न प्रधानमिति कृत्वा वक्ष्यामः। गुणः प्रधानम् इति कृत्वा वक्ष्याम इत्येवमादिश्चतुर्विधः सिद्धान्तः ॥ ३८ ॥

शास्त्रार्थके समय किसी असिद्ध विना परीक्षा किये तथा आप्तजनोंके विना उपदेश किये अर्थको विना ही हेतुसे थोडी देरके लिये मानलेना अभ्युपगम सिद्धान्त कहा जाता है। जैसे "द्रव्य प्रधान नहीं यह मान कर शास्त्रार्थ करेंगे" अथवा "गुणको प्रधान मानकर शास्त्रार्थ करेंगे" इत्यादि थोडी देरके लिये एक सिद्धान्त बनालेनेको अभ्युपगम सिद्धान्त कहते हैं। यह चार प्रकारके सिद्धान्त कहे गये हैं ॥३८॥

शब्दः।

शब्दो नाम वर्णसमाम्नायः स चतुर्विधः, दृष्टार्थश्चादृष्टार्थश्च सत्यश्चानृतश्चेति। तत्र दृष्टार्थस्त्रिभिर्हेतुभिर्दोषाः प्रकुप्यन्ति. षड्भि-

रूपक्रमैश्च प्रशाम्यन्ति। सति श्रोत्रादिसद्भावे शब्दादिग्रहणमिति॥ अदृष्टार्थः पुनरस्ति प्रेत्यभावोऽस्ति मोक्ष इति। सत्यो नाम यथार्थभूतः। सन्त्यायुर्वेदोपदेशाः। सन्त्युपायाः साध्यानाम्। सन्त्यारम्भफलानीति। सत्यविपर्य्ययाच्चानृतम्॥ ३९॥

शब्द-इस स्थानमें वर्णके उच्चारणको कहते हैं। वह शब्द दृष्टार्थक, अदृष्टार्थक, सत्य और अनृत इन भेदोंसे चार प्रकारका है। दृष्टार्थक-उस शब्दको कहते हैं जो स्पष्ट और प्रत्यक्ष अर्थको बोध करै। जैसे-प्रज्ञापराधादि तीन हेतुओंसे तीन दोष कुपित होते हैं और लंघनादि छः प्रकारके उपक्रमोंसे शान्त होते हैं। कर्णादि द्वारा शब्दादिका ग्रहण होना अदृष्टार्थक शब्द कहाजाताहै। जैसे-फिर जन्म होता है, ज्ञानसे मोक्ष होजाताहै यह अदृष्टार्थक शब्द है। यथार्थ शब्दको सत्य शब्द कहते हैं। जैसे-आयुर्वेदके उपदेश सत्य हैं, साध्य रोग उपाय द्वारा शान्त हो सकते हैं, आरम्भका फल अवश्य होताहै। इन सबको सत्य शब्द कहते हैं। सत्यसे विपरीत अर्थात् मिथ्या शब्दको अनृत शब्द कहते हैं॥ ३९॥

अथ प्रत्यक्षम्।

प्रत्यक्षं नाम तद्यदात्मना[1] पञ्चेन्द्रियैश्च स्वयमुपलभ्यते। तत्रात्मप्रत्यक्षाः सुखदुःखेच्छाद्वेषादयः। शब्दादयस्त्विन्द्रियप्रत्यक्षाः॥४०॥

जो विषय आत्मद्वारा अथवा पंचेन्द्रिय द्वारा निश्चयात्मकरूपसे जाना जाय उसको प्रत्यक्ष कहते हैं। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष आदिक आत्माके प्रत्यक्ष हैं और शब्दादिक इन्द्रियोंके प्रत्यक्ष हैं॥ ४०॥

अनुमानम्।

अनुमानं नाम तर्को युक्त्यपेक्षः। यथोक्तमग्निं जरणशक्त्या; बलं व्यायामशक्त्या, श्रोत्रादीनि शब्दादिग्रहणेनेत्येवमादिः॥ ४१॥

युक्तियुक्त तर्कको अनुमान कहतेहैं। जैसे-पाचनशक्तिसे जठराग्निका अनुमान करना, व्यायामकी शक्तिसे बलका अनुभव करना, शब्दादिक ग्रहणसे श्रोत्रादिक इन्द्रियोंका अनुमान करना॥ ४१॥

अथ औपम्यम्।

औपम्यं नाम यदन्येनान्यस्य सादृश्यमधिकृत्य प्रकाशनम्। यथा दण्डेन दण्डकस्य, धनुषा धनुष्टम्भस्य इष्वासिना आरोग्यदस्येति॥४२॥

---

१ आत्मनेति मनसा अनेन मानसप्रत्यक्षसुखाद्यमवरुध्यत इति चक्रपाणिः।

जो विषय दूसरेसे दूसरेकी सादृश्यताको प्रकाश करता है उपमान कहा जाता है। जैसे—दण्डक रोग—दण्डेके समान होता है । धनुष्टंभ रोगमें मनुष्य धनुपके आकार टेढ़ा होजाता है। जो औषधी रोगको शीघ्र नष्ट कर डाले उसको तीरकी उपमा दी जाती है । इसको उपमान कहते हैं ॥ ४२ ॥

अथ ऐतिह्यम् ।

ऐतिह्यं नाम आप्तोपदेशो वेदादिः ॥ ४३ ॥

ऐतिह्य—आप्तोपदेशको ऐतिह्य कहते हैं जैसे वेद और आर्ष ग्रंथ आप्त प्रमाण है४३

अथ संशयः ।

संशयो नाम सन्दिग्धेष्वर्थेष्वनिश्चयः । यथा किमकालमृत्युरस्ति । उत नास्तीति ॥ ४४ ॥

संदिग्ध अर्थोंके अनिश्चयको संशय कहते हैं । जैसे—अकालमृत्यु है या नहीं इस संशयात्मक अनिश्चित ज्ञानको संशय कहते हैं ॥ ४४ ॥

अथ प्रयोजनम् ।

प्रयोजनं नाम यदर्थमारभ्यन्त आरम्भाः । यथा यद्यकालमृत्युरस्ति ततोऽहमात्मानमायुष्यैरुपचरिष्यामि । अनायुष्याणि च परिहरिष्यामि । कथं मामकालमृत्युः प्रसहेतेति ॥ ४५ ॥

जिस अर्थके लिये आरम्भ कियाजाताहै उस अर्थको प्रयोजन कहते हैं । जैसे—यदि अकालमृत्यु है तो मैं अपनेको आयुवर्द्धक उपचारों द्वारा रक्षित रक्खूंगा और आयुनाशक पदार्थोंका त्याग करूंगा । क्योंकि मैं अकालमृत्युद्वारा मरना नहीं चाहता। इस स्थानमें दीर्घायु होनेके लिये प्रयत्न करना "प्रयोजन" कहाताहै ॥ ४५ ॥

अथ सव्यभिचारम् ।

सव्यभिचारं नाम यद्व्यभिचरणं यथा भवेदिदमौषधं तस्मिन् व्याधौ यौगिकमथवा नेति ॥ ४६ ॥

किसी विषयका एक जगहसे दूसरी जगह भी व्यापक होजाना सव्यभिचार कहाता है । जैसे—यह औषधी इस रोगमें हितकारक है और नहीं भी है ॥ ४६ ॥

अथ जिज्ञासा ।

जिज्ञासा नाम परीक्षा । यथा भेषजपरीक्षोत्तरकालमुपदेक्ष्यते ॥ ४७ ॥

किसी विषयकी परीक्षा करना अर्थात् उसके जाननेका यत्न करना जिज्ञासा कहाती है । जैसे—औषधकी परीक्षा आगे कथन करेंगे ॥ ४७ ॥

अथ व्यवसाय।

व्यवसायो नाम निश्चयः यथा वातिक एवायं व्याधिरिदमेवास्य भेषजमिति ॥ ४८ ॥

निश्चयात्मक अर्थका कथन करना अथवा निश्चय कर लेना व्यवसाय कहा जाता है। जैसे—यह व्याधि वायुसेही उत्पन्न हुई है और इसकी यही औषधि है ॥ ४८ ॥

अथार्थप्राप्तिः।

अर्थप्राप्तिर्नाम यत्रैकेनार्थेनोक्तेनापरस्यार्थस्यानुक्तस्य सिद्धिः। यथा नायं संतर्पणसाध्यो व्याधिरित्युक्ते भवत्यर्थप्राप्तिरपतर्पणसाध्योऽयमिति। नानेन दिवा भोक्तव्यमित्युक्ते भवत्यर्थप्राप्तिर्निशि भोक्तव्यमिति ॥ ४९ ॥

कहे हुए अर्थसे विना कहेहुए दूसरे अर्थकी सिद्धि होजाना अर्थप्राप्ति कहाजाता है। जैसे--यह व्याधि सन्तर्पणद्वारा साध्य नहीं हो सकती इससे यह अर्थ निकल आया कि अपतर्पणद्वारा साध्य हो सकती है। इस मनुष्यको दिनमें भोजन नहीं करना चाहिये इससे यह अर्थ निकल आया कि रात्रिको करना चाहिये इसको अर्थप्राप्ति कहते हैं ॥ ४९ ॥

अथ सम्भवः।

सम्भवो नाम यो यतः सम्भवति स तस्य सम्भवः। यथा षड्धातवो गर्भस्य व्याधेरहितं हितमारोग्यस्येति ॥ ५० ॥

जो जिससे होसकताहो उसको संभव कहते हैं। जैसे षड्धातु गर्भका सम्भव अर्थात् गर्भ होनेका कारण है। तात्पर्य यह हुआ कि छः धातुओंसे गर्भ हो सकता है। अहित सेवनसे व्याधिका होना संभव है और हितपदार्थके सेवनसे आरोग्य रहना संभव है ॥ ५० ॥

अथानुयोज्यम्।

अनुयोज्यं नाम यद्वाक्यं वाक्यदोषयुक्तं तदनुयोज्यमुच्यते। सामान्यांदाहृतेष्वर्थेषु वा विशेषग्रहणार्थं तद्वाक्यमनुयोज्यम्। यथा संशोधनसाध्योऽयं व्याधिरित्युक्ते किं वमनासाध्यः किं विरेचनसाध्यः इत्यनुयुज्यते ॥ ५१ ॥

जो वाक्य दोषयुक्त हो उसको अनुयोज्य कहते हैं। जहां सामान्यतासे थोडासा कहना उचित हो उस स्थानमें बडी लम्बी कथाको छेडदेना अनुयोज्य कहाता है। जैसे किसीको कहागया कि, यह रोगी संशोधन द्वारा साध्य होसकता है उसमें यह पूछना क्या इसको वमन और विरेचन भी कराना होगा इत्यादि वाक्योंको पूछना अनुयोज्य कहाता है ॥ ५१ ॥

अथाननुयोज्यम्।

अननुयोज्यं नामातो विपर्य्ययेण यथायमसाध्यः ॥ ५२ ॥

अनुयोज्यसे विपरीत, दोषहीन वाक्यको अननुयोज्य कहते हैं। जैसे यह व्याधि असाध्य है ॥ ५२ ॥

अथानुयोगः।

अनुयोगो नाम यत् तद्विद्यानां तद्विद्यैरेव सार्द्धं तन्त्रे तन्त्रैकदेशे वा प्रश्नः प्रश्नैकदेशो वा ज्ञानविज्ञानवचनपरीक्षार्थमादिश्यते। यथा नित्यः पुरुष इति प्रतिज्ञाते यत् परः को हेतुरित्याह सोऽनुयोगः ५३॥

वैद्य वैद्यके साथ परस्पर वैद्यकशास्त्रमें अथवा वैद्यकशास्त्रके एक अंशमें प्रश्न करे अथवा प्रश्नके एक देशको करता हुआ ज्ञान, विज्ञान, वचन इनकी परीक्षाके लिये बराबरीवालेसे जो प्रवृत्ति करे उसको अनुयोग कहते हैं। जैसे एकने कहा कि पुरुष नित्य है उसमें यह कहना कि पुरुषके नित्य होनेमें हेतु क्या है अनुयोग कहाता है ५३

अथ प्रत्यनुयोगः।

प्रत्यनुयोगो नामानुयोगस्यानुयोगः। यथानुयोगस्य पुनः को हेतुरिति ॥ ५४ ॥

अनुयोगमें अनुयोग करनेको प्रत्यनुयोग कहते हैं जैसे आप ऐसा प्रश्न हमारे ऊपर कैसे करसकते हैं यह कहना प्रत्यनुयोग कहाजाता है ॥ ५४ ॥

अथ वाक्यदोषः।

वाक्यदोषो नाम यथा खल्वस्मिन्नर्थे न्यूनमधिकमनर्थकमपार्थकं विरुद्धञ्चेति ॥ ५५ ॥

जिस विषयमें कथन करनेलगे उसमें न्यून, अधिक, अनर्थक, अपार्थक और विरुद्धताका कथन करना वाक्यदोष कहाता है छल हेत्वाभासादि सब वाक्यदोषमेंही जानने ॥ ५५ ॥

वाक्यन्यूनता।

अत्र प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानामन्यतमेनापि न्यूनं न्यूनं भवति। यद्वा बहूपदिष्टहेतुकमेकेन साध्यते हेतुना तच्च न्यूनम्। एतानि ह्यन्तरेण प्रकृतोऽप्यर्थः प्रणश्येत् ॥ ५६ ॥

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपमा, निगमन इनमेंसे किसी एकका अभाव होना न्यून कहाता है। अथवा जिस विषयको बहुतसे हेतुओंसे पुष्ट करना उचित हो उसको अल्पहेतु द्वारा कथन करना न्यून कहाता है। न्यूनतासे अर्थका कथन करना प्रकृत अर्थको भी नष्ट करदेता है ॥ ५६ ॥

अथाधिक्यम्।

आधिक्यं नाम यदायुर्वेदे भाष्यमाणे बार्हस्पत्यमौशनसमन्यद्वाप्रतिसम्बद्धार्थमुच्यते। यद्वा पुनः प्रतिसम्बद्धार्थमपि द्विरभिधीयते, तत्पुनरुक्तत्वादधिकम्। तच्च पुनरुक्तं द्विविधमर्थपुनरुक्तं शब्दपुनरुक्तञ्च। तत्रार्थपुनरुक्तं नाम यथा भेषजमौषधं साधनमिति, शब्दपुनरुक्तञ्च भेषजं भेषजमिति ॥ ५७ ॥

आयुर्वेदमें संभाषण करते हुए बार्हस्पत्य तथा औशनस अथवा अन्य अप्रासंगिक इधर उधरकी कथा कहानियोंको छेड देना तथा एक वाक्यको अनेक प्रकारसे कई-बार उच्चारण करना अथवा एक वाक्यको दोहराकर कहना वाक्यकी अधिकता कही जाती है। उनमें एक बातको दोहराकर कहना पुनरुक्त कहाता है। उसके दो भेद हैं—१ अर्थसे पुनरुक्त। २ शब्दपुनरुक्त। जैसे औषधको—भेषज, औषध, साधन इन तीन नामोंसे उच्चारण करना, यह अर्थपुनरुक्त कहा जाता है तथा भेषज भेषज बार-बार कहना शब्दपुनरुक्त कहा जाता है ॥ ५७ ॥

अनर्थक।

अनर्थकं नाम यद्वचनमक्षरग्राममात्रमेव स्यात्पञ्चवर्गवन्न चार्थतो गृह्यते ५८

जिस वचनसे किसी भी अर्थकी प्राप्ति न हो केवल जिह्वासे उच्चारण तो किया जाय परन्तु उसमेंसे अर्थ कुछ न निकले उसको अनर्थक कहते हैं। जैसे, क, च, ट, आदि वर्गोंका उच्चारण करना कुछ भी अर्थवाला नहीं होता ॥ ५८ ॥

अपार्थक।

अपार्थकं नाम यदर्थवच्च परस्परेण चायुज्यमानार्थं यथा तक्रनक्रवंशवज्रनिशाकरा इति ॥ ५९ ॥

पृथक् २ अर्थोंवाले शब्दोंको वाक्यक्रमसे न मिलते हुए भी उच्चारण कर देना अपार्थक कहाता है । जैसे—तक्र, नक्र, वंश, वज्र, निशाकर आदि ॥ ५९ ॥

विरुद्ध ।

विरुद्धं नाम यद्दृष्टान्तसिद्धान्तसमयैर्विरुद्धम् । तत्र पूर्वं दृष्टान्तसिद्धान्तावुक्तौ । समयः पुनस्त्रिधा भवति । यथायुर्वैदिकसमयो याज्ञिकसमयो मोक्षशास्त्रिकसमय इति । तत्रायुर्वैदिकसमयश्चतुष्पादसिद्धिः । आलभ्या यजमानैः पशव इति याज्ञिकसमयः।सर्वभूतेष्वहिंसेति मोक्षशास्त्रिकसमयस्तत्र स्वसमयविपरीतमुच्यमानं विरुद्धमिति वाक्यदोषाः ६०

जो वाक्य दृष्टान्त और सिद्धांत तथा समयसे विरुद्ध हो उसको विरुद्ध अथवा विरुद्धता दोषयुक्त कहते हैं । इनमें दृष्टान्त और सिद्धान्तको पाहिले कथन कर चुके हैं ॥ समय--तीन प्रकारका होता है । जैसे—आयुर्वैदिक समय, याज्ञिक समय और मोक्षशास्त्रिक समय । आयुर्वैदिक समयकी चार पदोंसे सिद्धि है । जैसे—वैद्य, रोगी, परिचारक और औषधी ॥ यजमानों द्वारा पशु आलंभनीय है यह याज्ञिक समय है ॥ संपूर्ण जीवमात्रकी हिंसा नहीं करना यह मोक्षशास्त्रिक समय है। अपने समयमें दूसरेके समयका उच्चारण कर देना अर्थात् आयुर्वैदिक चतुष्पाद सिद्धिमें याज्ञिक, यजमान, पशु आदिकोंका प्रयोग करना समयविरुद्ध वाक्यदोष कहाजाता है ॥ ६० ॥

वाक्यप्रशंसा ।

वाक्यप्रशंसा नाम यथाऽन्यूनमनधिकमर्थवदनपार्थकमविरुद्धमधिगतपदार्थञ्च तद्वाक्यमननुयोज्यमिति प्रशस्यते ॥ ६१ ॥

जो न्यूनतारहित, अनधिक, अर्थवाला, अनपार्थक, अविरुद्ध, पदार्थके अर्थको यथार्थ करनेवाला वाक्य हो उसको वाक्यप्रशंसा अर्थात् प्रशंसनीय वाक्य कहते हैं ६१

वाक्छल ।

छलं नाम परिशठमर्थाभासमनर्थकं वाग्वस्तुमात्रमेव । तद् द्विविधम्, वाक्छलं सामान्यछलञ्च । वाक्छलं नाम यथा कश्चिद् ब्रूयात् नवतन्त्रोऽयं भिषगिति, भिषग्ब्रूयान्नाहं नवतन्त्र एकतन्त्रोऽहमिति । परो ब्रूयान्नाहं ब्रवीमि नवतन्त्राणि तवेति, अथ तु नवाभ्यस्तं ते तन्त्रमिति, भिषक् ब्रूयान्न मया नवाभ्यस्तं तन्त्रमनेकशताभ्यस्तं मया तन्त्रमिति वाक्छलम् ॥ ६२ ॥

किसी अर्थको शठतासे दूसरे रूपमें प्रकाश करके वादीके लक्ष्य विषयका दूसरी ओर अर्थ लेजाना छल कहाता है छल वाणीके फेर मात्रको कहते हैं। वह छल दो प्रकारका है। १ वाक् छल। २ सामान्य छल। वाक्छल जैसे-कोई कहे कि, यह वैद्य नवतंत्र है अर्थात् नवीन शास्त्रका जाननेवाला है इस जगह नवशब्दका अर्थ छलपूर्वक नौ संख्याका वाचक बनाकर कहे कि, मैं नौ तंत्र नहीं केवल एकही तंत्र हूं अर्थात् नौ तंत्रोंको नहीं जानता, एक ही तंत्रको जानता हूं। फिर पूर्वपक्षवाला कहे कि मैंने यह नहीं कहा कि, आप नौ तंत्रोंको जानते हैं मैंने तो यही कहा है कि आपने नया शास्त्र पढा है अर्थात् आपने नवीन अभ्यास किया है उसपर वैद्य फिर कहे कि मैंने शास्त्रको नौवार अभ्यास नहीं किया किन्तु अनेक सौवार अभ्यास किया है इस प्रकार दूसरेके लक्ष्यको छलसे दूसरी ओर डाल देना वाक्छल कहाजाताहै६२

सामान्यछल।

सामान्यच्छलं नाम यथा व्याधिप्रशमनायौषधमित्युक्ते परो ब्रूयात् सत्सत्प्रशमनायेति किन्न भवानाह सद्रोगः सदौषधं यदि च सत्स-त्प्रशमनाय भवति। तत्र सत्कासः सत्क्षयः सत्सामान्यात्कासः क्षय-प्रशमनाय भविष्यतीति एतत्सामान्यच्छलम् ॥ ६३ ॥

जैसे किसी वैद्यने कहा कि,व्याधीकी शान्तिके लिये औषध होती है अर्थात् औष-धसे रोगनाश होता है। इसपर प्रतिवादी मनुष्य कहे कि, क्या सत्-सत्को शान्त करता है आप ऐसा कहते हैं? यदि सत्को सत् शान्त करताहै अर्थात् सत् वस्तुद्वारा सत्की शान्ति होती है, जैसे रोग भी सत् है औषधी भी सत् है सो सत्रोगको सत् औषधी शान्त करती है ऐसा आप कहते हैं तो खांसी भी सत् है और क्षयरोग भी सत् है। बस सत् सामान्य खांसी सत् क्षयरोगको शान्त करनेवाली आपके मतसे सिद्ध होगई। इस प्रकारके कथनको सामान्यछल कहते हैं ॥ ६३ ॥

अहेतुः।

अहेतुर्नाम प्रकरणसमः संशयसमो वर्ण्यसम इति। तत्र प्रकरण-समो नामाहेतुर्यथान्यः शरीरादात्मा नित्य इति पक्षे परो ब्रूयाच्छ-रीरादन्य आत्मा, तस्मान्नित्यः शरीरमनित्यमतो विधर्मिणानेन च भवितव्यम् एष चाहेतुर्न हि य एव पक्षः स एव हेतुः ॥ ६४ ॥

अहेतु प्रकरणसम, संशयसम, वर्ण्यसम इन भेदोंसे तीन प्रकारका होता है। प्रक-रणसम अहेतु,जैसे-किसीने कहा कि, आत्मा शरीरसे भिन्न है और नित्य है। उस-

पर प्रतिवादी यह कहे कि–आत्मा शरीरसे भिन्न है इसलिये नित्य है और शरीर अनित्य है तो आत्मा विधर्मी होनेसे अर्थात् शरीरसे विरुद्धधर्मवाला होनेसे शरीर तो अनित्य होना ही चाहिये। इस प्रकारका कथन अहेतु कहाता है। क्योंकि जो पक्ष है वही नहीं होसकता ॥ ६४ ॥

संशयसमअहेतु।

संशयसमो नामाहेतुर्य एव संशयहेतुः स एव संशयच्छेदहेतुर्यथा अयमायुर्वेदैकदेशमाह किन्वयं चिकित्सकः स्यान्नवेति संशये परो ब्रूयाद्यस्मादयमायुर्वेदैकदेशमाह तस्माच्चिकित्सकोऽयमिति । न च संशयस्थहेतुं विशेषयत्येष चाहेतुः। न हि य एव संशयहेतुः स एव संशयच्छेदहेतुः ॥ ६५ ॥

संशयके हेतुको संशयके छेदनका हेतु कर लेना संशयसम अहेतु कहाता है। जैसे–यह आयुर्वेदका एकदेश कथन कर रहा है इसलिये यह वैद्य है कि नहीं ? ऐसा संशय उत्पन्न होनेपर कोई कहे कि, जिससे यह आयुर्वेदका एकदेश कथन कर-ताहै इसीसे यह सिद्ध होगया कि यह वैद्य है। इस स्थानमें संशयमें जो हेतु था उसको ही संशय छेद करनेमें हेतु बनाया गया। जो संशयमें हेतु होताहै वह संशयके छेद करनेमें हेतु नहीं होसकता! इसलिये यह संशयसम अहेतु हुआ ॥ ६५ ॥

वर्ण्यसम अहेतु।

वर्ण्यसमो नामाहेतुर्यो हेतुर्वर्ण्याविशिष्टः। यथा परो ब्रूयादस्पर्शत्वाद् बुद्धिरनित्या शब्दवदिति। तत्र वर्ण्यः शब्दो बुद्धिरपि वर्ण्या तदुभ-यवर्ण्याविशिष्टत्वाद्वर्ण्यसमोऽप्यहेतुः ॥ ६६ ॥

दो वस्तुओंको समानरूपसे वर्णन किया गया फिर उनमें अभेद दिखाया जाय उसको वर्ण्यसम अहेतु कहते हैं। जैसे कोई कहे कि, स्पर्श न होनेसे बुद्धि अनित्य है क्योंकि शब्दका भी स्पर्श नहीं किया जाता वह स्पर्शवाला न होनेसे अनित्य है उसी प्रकार बुद्धि भी स्पर्शवाली न होनेसे अनित्य है। इस प्रकार कथन करना वर्ण्यसम अहेतु होता है ॥ ६६ ॥

अतीतकालम्।

अतीतकालं नाम यत्पूर्वं वाच्यं तत्पश्चादुच्यते। तत्कालातीतत्वाद-ग्राह्यं भवति। परं वा निग्रहप्राप्तमनिगृह्य परिगृह्य पक्षान्तरितं पश्चा-न्निगृहीते तत्तस्यातीतकालत्वान्निग्रहवचनसमर्थं भवतीति ॥ ६७॥

जिस विषयको पहिले कथन करना हो उसका पीछे कथन किया जाना अतीतकाल होता है। अतीतकाल होनेसे वह वचन अग्राह्य होजाता है। अथवा निग्रहस्थानको प्राप्त होकर दूसरे पक्षको मान लेना फिर अपने पहिले पक्षकी पुष्टिके लिये कथन करना कालातीत होताहै। इस लिये वह निग्रहमेंही गिनाजाताहै ॥ ६७ ॥

उपालम्भ।

उपालम्भो नाम हेतोर्दोषवचनम् । यथा पूर्वमहेतवो हेत्वाभासा व्याख्याताः ॥ ६८ ॥

हेतुमें दोष वर्णन करना उपालम्भ कहाताहै। यह अहेतुमें वर्णन कियाजाचुका है। इसको हेत्वाभास भी कहते हैं ॥ ६८ ॥

परिहार।

परिहारो नाम तस्यैव दोषवचनस्य परिहरणं यथा नित्यमात्मनि शरीरस्थे जीवलिङ्गान्युपलभ्यन्ते । तस्य चापगमान्नोपलभ्यन्ते तस्मादन्यः शरीरादात्मा नित्यः शरीराच्चेति ॥ ६९ ॥

प्रतिवादीके दोषयुक्त वाक्यको परिहरण करतेहुए जो सत्यताका प्रतिपादन कियाजाय उसको परिहार कहतेहैं। जैसे कहाजाय कि शरीरमें स्थित हुआ आत्मा जीवके लक्षणोंसे उपलब्ध होताहै, जब आत्मा शरीरको त्यागकर अलग होजाताहै तब जीवन लक्षण नहीं दिखाई देते। इससे सिद्ध है कि, आत्मा नित्य हैं और शरीरसे भिन्न है। इस प्रकार प्रतिवादीके वाक्यदोषका परिहार कियाजाताहै ॥ ६९ ॥

प्रतिज्ञाहानि।

प्रतिज्ञाहानिर्नाम यः पूर्वप्रतिगृहीतां प्रतिज्ञां पर्य्यनुयुक्तः परित्यजति। यथा प्राक् प्रतिज्ञां कृत्वा नित्यः पुरुष इति पर्य्यनुयुक्तस्त्वाह अनित्य इति ॥ ७० ॥

दूसरेके दोषोंको दिखाते हुए अपनी प्रतिज्ञाको त्याग देना प्रतिज्ञाहानि कही जातीहै। जैसे पहिले यह प्रतिज्ञा करे कि पुरुष नित्य है फिर प्रतिपक्षीकी युक्तियों द्वारा दूषित होकर यह कहदेवे कि हां पुरुष अनित्य होताहै। इसको प्रतिज्ञाहानि कहते हैं ॥ ७० ॥

अभ्यनुज्ञा।

अभ्यनुज्ञा नाम य इष्टानिष्टाभ्युपगमः ॥ ७१ ॥

प्रतिवादीके इष्ट अनिष्ट वाक्योंको स्वीकार करलेना अर्थात् वादीके स्वपक्षमें निकाले हुवे दोषका परिहार न करके यह कहना कि यह दोष तुम्हारे पक्षमें भी है, यह अभ्यनुज्ञा कहाताहै ॥ ७१ ॥

हेत्वन्तर।

हेत्वन्तरं नाम प्रकृतहेतौ वाच्ये यद्विकारहेतुमाह ॥ ७२ ॥

प्रकृति हेतुको कथन करते समय विकारहेतुको कथन कर देना हेत्वन्तर कहाहै७२

अर्थान्तर।

अर्थान्तरं नाम ज्वरलक्षणे वाच्ये प्रमेहलक्षणमाह ॥ ७३ ॥

ज्वरके लक्षणोंको कथन करनेके समय प्रमेहके लक्षणोंको कथन करना अर्थान्तर कहाता है ॥ ७३ ॥

निग्रहस्थान।

निग्रहस्थानं नाम पराजयप्राप्तिः। तच्च त्रिरुक्तस्य वाक्यस्य अविज्ञानं परिषदि विज्ञानवत्याम्, यद्वा अननुयोज्यस्यानुयोगः अनुयोज्यस्य चाननुयोगः ॥ ७४ ॥

सभामें बैठकर जो वाक्य तीनवार उच्चारण कियाजाय उसको भी वह न समझे और सभासद् समझते हों इस प्रकार उस (प्रतिपक्षी) को सभामें बात नहीं करने-देना अर्थात् पराजित करदेना निग्रहस्थान कहाता है। अथवा अनुयोज्य वाक्योंका अनुयोग न करना और अननुयोज्योंका अनुयोग करना भी निग्रहस्थान (हारजाना) कहाता है ॥ ७४ ॥

प्रतिज्ञाहानिरभ्यनुज्ञा कालातीतवचनमहेतुः न्यूनमधिकं व्यर्थमनर्थकं पुनरुक्तं विरुद्धं हेत्वन्तरमर्थान्तरं निग्रहस्थानमिति वादमर्य्यादा-पदानि यथोद्देशमभिनिर्दिष्टानि ॥ ७५ ॥

प्रतिज्ञाहानि, अभ्यनुज्ञा, कालातीत, वचन, अहेतु, न्यूनता, अधिकता, व्यर्थ, अपार्थक, पुनरुक्त, विरुद्ध, हेत्वन्तर यह सब ही निग्रहस्थान हैं ॥ यह सब वाद-मार्गके पदोंको यथोद्देश निर्दिष्ट करचुके हैं ॥ ७५ ॥

वादविषयक उपदेश।

वादस्तु खलु भिषजां वर्त्तमानो वर्त्तेतायुर्वेद एव नान्यत्र ॥ ७६ ॥

वादानुवाद वैद्योंको आयुर्वेद शास्त्रमें ही करना चाहिये अन्यशास्त्रोंमें नहीं ७६ ॥

तत्र हि वाक्यप्रतिवाक्यविस्ताराः केवलाश्चोपपत्तयश्च सर्वाधिकरणेषु।

ताः सर्वाः सम्यगवेक्ष्यावेक्ष्य सर्वं वाक्यं ब्रूयान्नाप्रकृतिकमशास्त्रम-परीक्षितमसाधकमाकुलमज्ञापकं वा। सर्वञ्च हेतुमद् ब्रूयात्॥ हेतुमन्तो ह्यकलुषाः सर्व एव वादविग्रहाश्चिकित्सिते कारणभूताः। प्रशस्तबुद्धिवर्द्धकत्वात्। सर्वारम्भसिद्धिं ह्यावहति अनुपहता बुद्धिः ७७

इस स्थानमें वाक्य प्रतिवाक्यका ही विस्तार कियागया है। इनके सिवाय शास्त्रमें जो २ उपपत्तियें हैं उन सबको अच्छीतरह विचार कर वादानुवाद करना चाहिये। अर्थात् सब उपपत्तियोंको भले प्रकार विचारकर ही सभामें बोलना चाहिये। तथा अप्रकृत, अशास्त्र, अपरीक्षित, अप्रमाण, आकुल और अज्ञापक शब्दोंको कभी उच्चारण करना नहीं चाहिये। सब शब्द हेतुमान् बोलना चाहिये। हेतुयुक्त शब्दोंका बोलना, निर्दोष शब्दोंका उच्चारण करना, शास्त्रार्थ करना यह सब वैद्यकी बुद्धिके बढानेवाले होते हैं। बुद्धि निर्मल तथा अनुपहत एवं स्वच्छ होनेसे सम्पूर्ण कार्योंकी सिद्धि होती है॥ ७७॥

इमानि खलु तावदिह कानिचित्प्रकरणानि ब्रूमः। ज्ञानपूर्वकं कर्मणां समारम्भं प्रशंसन्ति कुशलाः॥ ७८॥

यहांपर हम इन और प्रकरणोंका कथन करते हैं। क्योंकि, बुद्धिमान् सब कर्मोंके आरम्भको ज्ञानपूर्वक करनेकी ही प्रशंसा करते हैं॥ ७८॥

ज्ञात्वा हि कारणकरणकार्य्ययोनिकार्य्यकार्य्यफलानुबन्धदेशकाल-प्रवृत्त्युपायान्सम्यगभिनिर्वर्त्यमानः कार्य्याभिनिर्वृत्ताविष्टफलानुब-न्धम्। कार्य्यमभिनिर्वर्तयत्यनतिमहता प्रयत्नेन कर्त्ता॥ ७९॥

कारण, करण, कार्ययोनि, कार्य, कार्यफल, अनुबन्ध, देश, काल, प्रवृत्ति और उपाय इन सबको भले प्रकार जानकर, कार्यके करनेमें प्रवृत्त होनेसे इष्ट फलकी प्राप्ति होती है और कर्त्ता थोडा ही यत्न करनेपर कार्यकी सिद्धिको प्राप्त होता है॥७९

कारण।

तत्र कारणं नाम तद्यत्करोति स एव हेतुः स कर्त्ता॥ ८०॥

कार्यके करनेवालेको कारण कहते हैं। और उसीको हेतु तथा कर्त्ता भी कहते हैं८०

करण।

करणं पुनस्तद्यदुपकरणायोपकल्पते। कर्त्तुः कार्य्याभिनिर्वृत्तौ प्रयतमानस्य॥ ८१॥

---

१ कारणशब्देनात्र स्वतन्त्रकारणं कर्तृलक्षणम् इति चक्रपाणिः।

कार्यसिद्धिमें कर्त्ता जिस उपकरणद्वारा कार्यको करे उसको करण कहते हैं। अर्थात कर्त्ता जिस सामग्रीको लेकर कार्यसिद्धिमें प्रवृत्त हो उस सामग्रीका नाम करण है८१

कार्ययोनि।

कार्य्ययोनिस्तु सा या विक्रियमाणा कार्य्यत्वमापद्यते ॥ ८२ ॥

जो पदार्थ विकृत होकर कार्यरूपमें परिणत होजाय उसको कार्ययोनि कहते हैं८२

कार्य।

कार्य्यन्तु तद्यस्याभिनिर्वृत्तिमभिसन्धाय प्रवर्त्तते कर्त्ता ॥ ८३ ॥

जिसकी उत्पत्तिको लक्ष्यकर कर्त्ता प्रवृत्त होता है उसको कार्य कहते हैं ॥ ८३ ॥

कार्यफल।

कार्यफलं पुनस्तद्यत्प्रयोजना कार्य्याभिनिर्वृत्तिरिष्यते ॥ ८४ ॥

जिस प्रयोजनसे कार्य कियाजाय उसी प्रयोजनकी सिद्धिको कार्यफल कहते हैं८४

अनुबन्ध।

अनुबन्धस्तु कर्त्तारमवश्यमनुबध्नाति कार्यादुत्तरकालं कार्य्यनिमित्तः शुभो वाप्यशुभो वा भावः ॥ ८५ ॥

कर्ताको अवश्य बंधनमें लानेवाला कार्यके अंतमें होनेवाला अवश्यंभावी शुभाशुभभाव अनुबंध कहाजाता है ॥ ८५ ॥

देश।

देशस्त्वधिष्ठानम् ॥ ८६ ॥

कार्यके (स्थान) अधिष्ठानको देश कहते हैं ॥ ८६ ॥

काल।

कालः पुनः परिणामः ॥ ८७ ॥

और ऋत्वादिरूप परिणामको काल कहते हैं ॥ ८७ ॥

प्रवृत्ति।

प्रवृत्तिस्तु खलु चेष्टा कार्य्यार्था, सैव क्रिया कर्म यत्नः कार्य्यसमारम्भश्च ॥ ८८ ॥

कार्यके सम्पादन करनेके लिये जो कर्ताकी चेष्टा है उसको प्रवृत्ति कहते है। वही क्रिया, कर्म, यत्न और कार्यसमारंभ भी कहीजाती है ॥ ८८ ॥

उपाय।

उपायाः पुनः कारणादीनां सौष्ठवमभिसन्धानञ्च सम्यक्। कार्य्य-

फलानुबन्धोपायवर्ज्यानां कार्य्याणामभिनिर्वर्त्तक इत्यतोऽप्युपायः कृतेनोपायार्थोऽस्ति न च विद्यते तदात्वे कृताच्चोत्तरकालं फलम्, फलाच्चानुबन्धः, इति व्याख्यातं दशविधम् ॥ ८९ ॥

कार्यके उत्पादन करनेमें कारण, करण, समवायिकारण, देश, काल और प्रवृत्ति आदिकोंकी कार्यफल उत्पन्न करनेमें जिसके जिस प्रकार जिससे अनुकूलता हो उसको उपाय कहते हैं। और कारणादिकोंको भी उपाय कहते हैं क्योंकि कारणादिक न होनेसे भी कार्यसिद्धि नहीं होती। फल और अनुबंध उपाय कहे नहीं जा सकते क्योंकि यह कार्य होजानेपर उत्पन्न होते हैं। इस दश प्रकारके कारणादिकोंका वर्णन किया गया ॥ ८९ ॥

परीक्ष्य।

अग्रे परीक्ष्यम्, ततोऽनन्तरं कार्य्यार्था प्रवृत्तिरिष्टा । तस्माद्भिषक् कार्य्यचिकीर्षुः प्राक् कार्य्यसमारम्भात्परीक्षया केवलं परीक्ष्यं परीक्ष्य कर्म समारभेत कर्त्तुम् ॥ ९० ॥

पहिले परीक्षा करके तदनन्तर कार्यार्थके लिये प्रवृत्ति करना चाहिये। इसलिये चिकित्सा करनेकी इच्छावाला वैद्य चिकित्सा आरम्भ करनेसे प्रथम परीक्ष्य विषयको परीक्षा करके फिर चिकित्सा करनेमें प्रवृत्त हो ॥ ९० ॥

तत्र चेद्भिषगभिषग् वा भिषजं कश्चित्पृच्छेत् वमनविरेचनास्थापनानुवासनाशिरोविरेचनानि प्रयोक्तुकामेन भिषजा कतिविधया परीक्षया कतिविधमेव परीक्ष्यम् कश्चात्र परीक्ष्यविशेषः। कथञ्च परीक्षितव्यम् किं प्रयोजना च परीक्षा।क्व च वमनादीनां प्रवृत्तिः। क्व च निवृत्तिः।प्रवृत्तिनिवृत्तिसंयोगे च किं नैष्ठिकम्।कानिच वमनादीनां भेषजद्रव्याणि उपयोगं गच्छन्तीति॥ स एवं पृष्टो यदि मोहयितुमिच्छेद् ब्रूयादेनं, बहुविधा हि परीक्षा,तथा परिक्ष्यविधिभेदः। कतमेन विधिभेदप्रकृत्यन्तरेण परीक्ष्यस्य भिन्नस्य भेदाग्रं भवान्पृच्छति आख्यायमानम् । नेदानीं भवतोऽन्येन विधिभेदप्रकृत्यन्तरेण भिन्नया परीक्षया अन्येन वा विधिभेदप्रकृत्यन्तरेण परीक्ष्यस्य भिन्नस्या-

भिलषितमर्थं श्रोतुमहमन्येन परीक्षाविधिभेदेन अन्येन वा विधिभेद-प्रकृत्यन्तरेण परीक्ष्यं भित्त्वार्थमाचक्षाण इच्छां प्रपूरयेयमिति ॥ ९१ ॥

यदि वैद्य अथवा कोई अन्य मनुष्य प्रश्न करे कि--वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन और शिरोविरेचन इनका प्रयोग करनेकी इच्छावाले वैद्यको कितने प्रकारकी परीक्षासे कितने प्रकारके परीक्ष्य विषय परीक्षा करने चाहिये । और इस स्थानमें परीक्ष्य विशेष क्या है कैसे परीक्षा करनी चाहिये परीक्षाका प्रयोजन क्या है और वमनादिकोंकी कहा२प्रवृत्ति और निवृत्ति है।प्रवृत्ति और निवृत्तिके लक्षण दिखाई देनेपर क्या करना चाहिये, वमन, विरेचनादिकोंमें कौन २ द्रव्य उपयोगी होते हैं । इस प्रकार प्रश्न करनेपर यदि देखे कि प्रश्नकर्त्ताको परास्त कर देना और मुग्ध कर देना उचित है तो उससे कहे कि परीक्षा बहुत प्रकारकी होती है और परीक्षणीय विषय भी अनेक प्रकारके होते हैं । आप किस प्रकारकी परीक्षाके भेदको पूछना चाहते हैं और परीक्षाके एवम् परीक्षणीय विषयके किन २ भेदोंको जानना चाहते हैं । क्योंकि यदि आप जिस परीक्ष्य विषयको जिस प्रकार जानना चाहते हैं हम उस विधि भेद प्रकारसे कथन न करके यदि अन्य प्रकारसे कथन करनेलगेंगे तो आपकी इच्छा परिपूर्ण न होगी ॥ ९१ ॥

स यदुत्तरं ब्रूयात्तत्परीक्ष्योत्तरं वाच्यं स्याद्यथोक्तं प्रतिवचनमवेक्ष्य सम्यक् । यदि तु न चैनं मोहयितुमिच्छेत्प्राप्तन्तु वचनकालं मन्येत काममस्मै ब्रूयादाप्तमेव निखिलेन ॥ ९२ ॥

इस प्रकार कथन करनेसे वह जो कुछ उत्तर देवें उसकी परीक्षा कर लेना चाहिये । यदि पराजय करनेकी इच्छासे उत्तर देवे तो पूर्वोक्त विधानसे निरुत्तर कर डाले ॥ यदि उसको मुग्ध करनेकी इच्छा न होतो उससे यथार्थ विधिवत् प्रामाणिक रीतिसे संपूर्ण कथनको करे ॥ ९२ ॥

परीक्षाके भेद ।

द्विविधा परीक्षा ज्ञानवताम् । प्रत्यक्षमनुमानञ्च । एतत्तु द्वयमुपदेशश्च परीक्षात्रयम् । एवमेषा द्विविधा परीक्षा त्रिविधा वा सहोपदेशेन ॥ ९३ ॥

परीक्षा दो प्रकारकी होतीहै । १ प्रत्यक्ष । २ अनुमान और आप्तोपदेशके मिला देनेसे तीन प्रकारकी होजाती है ॥ ९३ ॥

दशविधन्तु परीक्ष्यं कारणादि यदुक्तमग्रे । तदिह भिषगादिषु संसार्य्य सन्दर्शयिष्यामः । इह कार्य्यप्राप्तौ कारणं भिषक्, करणं पुनर्भेष-

जन्म। कार्य्ययोनिर्धातुवैषम्यम्। कार्यं धातुसाम्यम्। कार्य्यफलं सुखावाप्तिः। अनुबन्ध आयुः। देशो भूमिरातुरश्च। कालः संवत्सरश्चातुरावस्था च। प्रवृत्तिः प्रतिकर्मसमारम्भः। उपायो भिषगादीनां सौष्ठवमभिसन्धानञ्च सम्यक्। इहापि अस्योपायस्य विषयः पूर्वेणैवोपायविशेषेण व्याख्यात इति कारणादीनि दश दशसु भिषगादिषु संसार्य्य सन्दर्शितानि, तथैवानुपूर्व्या। एतद्दशविधं परीक्ष्यमुक्तञ्च॥ ९४॥

परीक्ष्य विषय दश प्रकारके होतेहैं। उन दश प्रकारके कारणादिकोंको पहिले कथन कर चुकेहैं। अब उन्हींको विस्तारपूर्वक वैद्य आदिकोंमें दिखाते हैं। वैद्यकशास्त्रमें चिकित्सारूपी कार्यका कारण अथवा कर्त्ता वैद्य है और औषधी करण है धातुओंकी विषमता कार्ययोनि कहाती है। धातुओंकी साम्यावस्था कार्य है। आरोग्यताके सुखकी प्राप्ति होना कार्यफल है। आयु अनुबंध है। देश भूमि और रोगीका शरीर है। काल संवत्सर और अवस्थाको कहतेहैं। प्रत्येक कर्मके आरंभको प्रवृत्ति कहतेहैं। कार्य करनेकी इच्छासे वैद्यादिकोंका उचित भावसे योग होना उपाय कहाजाताहै। तथा औषधादिकोंका प्रयोग करना भी उपाय कहाजाताहै। विषय पहिले उपाय विशेषसे कथन करचुके हैं इस प्रकार यह करणादिक दश परीक्षणीय विषय वैद्यादिकोंमें संभार करके दिखादिये गये हैं इसप्रकार आनुपूर्व्या दशविध परीक्षणीय विषयोंका कथन कियागया है॥ ९४॥

वैद्यपरीक्षा।

तस्य यो यः परीक्ष्यविशेषो यथा यथा च परीक्षितव्यः स स तथा तथा व्याख्यास्यते। कारणं भिषगित्युक्तमग्रे, तस्य परीक्षा, भिषङ् नाम स यो भिषज्यति, यः सूत्रार्थप्रयोगकुशलः, यस्य चायुः सर्वथा विदितम्॥ ९५॥

उन परीक्ष्य विषयोंमें जो२परीक्षणीय विषय जैसे जैसै परीक्षा करनी चाहिये उसका वैसा२वर्णन करते हैं। उनमें कारण वैद्य कहा गयाहै। सो उस वैद्यकी परीक्षा यह है कि जो भेषज अर्थात् औषध क्रिया करताहै उसको भिषक् अर्थात् वैद्य कहते हैं। वह वैद्य सूत्र, अर्थ और प्रयोगमें कुशल तथा आयुका सम्पूर्णरूपसे ज्ञाता होनाचाहिये॥९५॥

यथावत्सर्वधातुसाम्यं चिकीर्षन्नात्मानमेवादितः परीक्षेत। गुणिषु गुणतः कार्य्याभिनिर्वृत्तिं पश्यन् कच्चिदहमस्य कार्य्यस्य अभिनिर्वर्त्तने समर्थो न वेति॥ ९६॥

वैद्यको चाहिये कि, संपूर्ण धातुओंको साम्यावस्थामें करनेकी इच्छा करताहुआ प्रथम अपनी परीक्षा करे। गुणवाले भिषगादि चारोंमें गुणोंको देखताहुआ यह विचार करे कि मैं इस कार्यको समर्थन करनेके योग्य हूं या नहीं ॥ ९६ ॥

तत्रेमे भिषग्गुणा यैरुपपन्नो भिषग्धातुसाम्याभिनिर्वर्त्तने समर्थो भवति। तद्यथा–पर्य्यवदातश्रुतता, परिदृष्टकर्मता, दाक्ष्यं, शौचं जितहस्तता, उपकरणवत्ता, सर्वेन्द्रियोपपन्नता, प्रकृतिज्ञता, प्रतिपत्तिज्ञता चेति॥

जिस वैद्यमें यह आगे कहेहुए संपूर्ण गुण विद्यमान हों वह ही धातुओंको साम्यावस्थामें लानेके लिये समर्थ होता है वह गुण इस प्रकार हैं। जैसे–शास्त्रमें पारंगत होना, बहुश्रुत होना, आयुर्वेदीय कर्मोंमें चतुर होना, बहुदर्शी होना, पवित्र होना, जितहस्त होना, औषधादि संपूर्ण उपकरणयुक्त (सामग्रीयुक्त) होना। सर्वेन्द्रियसम्पन्न होना, प्रकृति विशेषका ज्ञाता होना, चिकित्सा कर्मके फल विशेष जाननेमें तथा चिकित्सा क्रमके जाननेमें चतुर होना इन गुणोंसे युक्त वैद्य उत्तम होता है ९७

भेषजपरीक्षा।

करणं पुनर्भेषजम्। भेषजं नाम तद्यदुपकरणायोपकल्प्यते, भिषजो धातुसाम्याभिनिर्वृत्तौ प्रयतमानस्य, विशेषतश्चोपायान्तरेभ्यः॥ तद्द्विविधं व्यपाश्रयभेदाद्दैवव्यपाश्रयं युक्तिव्यपाश्रयञ्च। तत्र दैवव्यपाश्रयं मन्त्रौषधिमणिमङ्गलबल्युपहारहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासदानस्वस्त्ययनप्रणिपातगमनादि। युक्तिव्यपाश्रयं संशोधनोपशमने चेष्टाश्च दृष्टफलाः। एतच्चैव भेषजमङ्गभेदादपि द्विविधं, द्रव्यभूतमद्रव्यभूतञ्च। तत्र यद् द्रव्यभूतं तदुपायाभिप्लुतम्। उपायो नाम भयदर्शनविस्मापनक्षोभणहर्षणभर्त्सनवधबन्धस्वप्नसंवाहनादिरमूर्त्तो भावो यथोक्ताः सिद्ध्युपायाश्च। यत्तु द्रव्यभूतं तद्वमनादिषु योगमुपैति ॥९८॥

करण औषधिही हैं। जब वैद्य धातुसाम्य करनेका प्रयत्न करने लगे। उस समयके सब उपायोंमेंसे जो विशेष उपकरण धातुसाम्यके लिये प्रयोग करता है उसे भेषज कहते हैं॥ वह औषध दो प्रकारके होते हैं। १ दैवव्यपाश्रय। २ युक्तिव्यपाश्रय। उनमें–मणि, मंत्र, औषध, मंगलक्रिया, बलिदान, उपहार, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास, स्वस्त्ययन, प्रणिपातन और देवयात्रा आदि दैवव्यपाश्रय औषध कहा जाता है। और संशोधन, संशमन तथा दृष्टफलकी चेष्टा आदिको युक्तिव्यपाश्रय औषध कहते हैं। वह औषध अंगभेदसे भी दो प्रकारकी होती है। १ द्रव्यभूत।

२ अद्रव्यभूत (उपायभूत)। उनमें--जो अद्रव्यभूत औषधी है वह उपाययुक्त होती है। जैसे--भय दिखाना विस्मापन, क्षोभण, हर्षण, भर्त्सन, प्रहार, बंधन, निद्रा और संवाहन आदि। यह सब प्रत्यक्षरूपसे चिकित्साकी सिद्धिके उपाय हैं। जो द्रव्यभूत हैं उनका वमनादि कार्योंमें उपयोग किया जाता है ॥ ९८ ॥

औषधपरीक्षा।

तस्यापि इयं परीक्षा। इदमेवं प्रकृत्या एवं गुणमेवं प्रभावमस्मिन्देशे जातमस्मिन्नृतौ एवं गृहीतमेवंनिहितमेवमुपस्कृतमनया मात्रया युक्त-मस्मिन् रोगे एवंविधस्य पुरुषस्यैतावन्तं दोषमपकर्षयति उपशमयति वान्यदपि चैवंविधं भेषजं भवेत्तच्चानेनान्येन वा विशेषेण युक्तमिति ९९

उसकी इस प्रकार परीक्षा करनी चाहिये। जैसे–इस द्रव्यकी प्रकृति ऐसी है इसमें यह गुण होते हैं और इसका यह प्रभाव है इसके उत्पन्न होनेका यह स्थान है इस ऋतुमें यह उत्पन्न होती तथा उसके उखाडनेका समय यह है। संयोगविशेषसे ऐसा गुण करती है, मात्रा उतनी है, ऐसे रोगोंमें ऐसे समयमें एवम् ऐसे पुरुषके लिये तथा ऐसे दोषोंको अपकर्षण करनेके लिये एवम् ऐसे दोषोंको शान्त करनेके लिये इसका उपयोग कियाजाता है। इत्यादिक और भी औषध सम्बन्धी जो विचार हैं अथवा इस प्रकारके अन्य द्रव्य इसके समान हैं अथवा इससे गुणोंमें न्यून और अधिक हैं इत्यादिक विषयोंकी समालोचना करतेहुए द्रव्यकी परीक्षा करनी चाहिये९९

कार्ययोनिपरीक्षा।

कार्य्ययोनिर्धातुवैषम्यम्। तस्य लक्षणविकारागमः। परीक्षा त्वस्य विकारप्रकृतेश्चैवोनातिरिक्तलिङ्गविशेषावेक्षणम्, विकारस्य च साध्यासाध्यमृदुदारुणलिङ्गविशेषावेक्षणमिति ॥ १०० ॥

कार्ययोनि–धातुओंकी विषमताको कहते हैं। रोगोंका प्रगट होना धातुओंकी विषमताका लक्षण है। विकार प्रकृति अर्थात् विकारोंके कारणीभूत वात, पित्त, कफ जो हैं उनकी हीनता और अधिकताकी परीक्षा द्वारा इनकी परीक्षा होती है। एवम् विकारोंकी साध्यता, असाध्यता, मृदुता और दारुणताको भी लक्षण विशेषसे परीक्षा करनी चाहिये ॥ १०० ॥

कार्यपरीक्षा।

कार्य्यं धातुसाम्यम्, तस्य लक्षणं विकारोपशमः, परीक्षा त्वस्य रुगप-शमनम्, स्वरवर्णयोगः, शरीरोपचयः, बलवृद्धिरभ्यवहार्य्याभिलाषो

रुचिराहारकाले, अभ्यवहृतस्य चाहृतस्य चाहारस्य सम्यग्जरणम्, निद्रालाभो यथाकालं,वैकारिकाणां स्वप्नानामदर्शनं,सुखेन च प्रतिबोधनं, वातमूत्रपुरीषरेतसां मुक्तिः । सर्वाकारैर्मनोबुद्धीन्द्रियाणां चाव्यापत्तिरिति ॥ १०१ ॥

धातुओंकी साम्यावस्था रखना या होना अथवा साम्यावस्था उत्पन्न करना चिकित्साका कार्य है। तथा विकारोंकी शान्ति होना उसका लक्षण है। पीडा आदिका शान्त होना, स्वर, वर्णका पूर्ववत् उत्तम होना, शरीरका पुष्ट होना एवम् बलकी वृद्धि, आहारकी अभिलाषा, आहारकी रुचि, भोजनका समयपर पचजाना, समयपर क्षुधा लगना, सुखपूर्वक निद्रा आना, बुरे स्वप्नोंका न दीखना, सुखपूर्वक इच्छानुसार जागृत होना, समयपर सुखपूर्वक वात, मूत्र, पुरीष और वीर्यका मुक्त उचित रीतिपर होना। संपूर्ण आकारोंसे मन, बुद्धि और इन्द्रियोंका स्वास्थ्य अर्थात् विकार रहित होना यह सब विकार शान्तिके लक्षण होते हैं॥ १०१ ॥

कार्यफलपरीक्षा।

कार्य्यफलं सुखावाप्तिस्तस्य लक्षणं मनोबुद्धीन्द्रियशरीरतुष्टिः ॥ १०२॥

चिकित्सा कार्यका फल-सुख अर्थात् आरोग्यताकी प्राप्ति है। मन, बुद्धि, इंद्रिय और शरीरकी तुष्टि ही उसका लक्षण है ॥ १०२ ॥

अनुबन्धस्तु खल्वायुस्तस्य लक्षणं प्राणैः संयोगः ॥ १०३॥

अनुबंध-अर्थात् आरोग्यताका फल दीर्घायु होना है। प्राणोंका शरीरके साथ संयोग रहना आयुका लक्षण है॥ १०३ ॥

देशलक्षण।

देशस्तु भूमिरातुरश्च तत्र भूमिपरीक्षा आतुरस्य परिज्ञानहेतोर्वा स्यादौषधपरिज्ञानहेतोर्वा। तत्र तावदियमातुरपरिज्ञानहेतोः। तद्यथा- अयं कस्मिन्भूमिदेशे जातः, संवृद्धो, व्याधितो वेति। तस्मिंश्च भूमिदेशे मनुष्याणामिदमाहारजातमिदं विहारजातमेतद्बलमेवंविधं सत्त्वमेवंविधं सात्म्यमेवंविधो दोषो भक्तिरियमिमे व्याधयो हितमिदमहितमिदमिति ॥ १०४ ॥

देश-भूमिको और रोगीके शरीरको कहते हैं। उनमें भूमिकी परीक्षा करना आतुरके परिज्ञानके लिये और औषधके परिज्ञानके लिये होताहै । उनमें भूमिकी

परीक्षा और रोगीकी परीक्षा इस प्रकार करना। जैसे-यह किस भूमि अर्थात् किस देशमें उत्पन्न हुआ, किस देशमें वृद्धिको प्राप्त हुआ, किस देशमें रोगग्रस्त हुआ, जिस देशमें यह उत्पन्न हुआ और पला है उस देशके मनुष्योंका आहार, विहार और बल तथा सत्त्व एवम् सात्म्य किस प्रकारके होतेहैं। उस देशमें दोष भेद इस प्रकार होते हैं। इस प्रकारके पदार्थ इनको हितकर होतेहैं, व्याधियें इस प्रकारकी होती हैं ये पदार्थ हितकर और अहितकर होते हैं। इस प्रकार रोग परिज्ञानके लिये भूमिकी परीक्षा करनी चाहिये ॥ १०४ ॥

औषधपरिज्ञानहेतोस्तु कल्पेषु भूमिपरीक्षा वक्ष्यते ॥ १०५ ॥

औषध परिज्ञानके लिये भूमिकी परीक्षा करना चाहिये सो कल्पस्थानमें कथन करेंगे ॥ १०५ ॥

रोगिपरीक्षा।

आतुरस्तु खलु कार्य्यदेशस्तस्य परीक्षा आयुषः प्रमाणज्ञानहेतोर्वा स्याद्बलदोषप्रमाणज्ञानहेतोर्वा ॥ १०६ ॥

चिकित्साका देश-अर्थात् चिकित्सा कार्यकी भूमि रोगी कथन कियाहै सो उस रोगीकी आयु, बल, दोषोंका प्रमाण आदिकी परीक्षा करना आतुरपरीक्षा है॥ १०६ ॥

तत्र तावदियं बलदोषविशेषप्रमाणापेक्षा। सहसा हि अतिबलमौषधमपरीक्षकप्रयुक्तमल्पबलमातुरमभिघातयेत्। न ह्यतिबलान्याग्नेयसौम्यवायवीयान्यौषधान्यग्निक्षारशस्त्रकर्माणि वा शक्यन्तेऽल्पबलैः सोढुम्। अतितीक्ष्णवेगत्वाद्धि सद्यःप्राणहराणि स्युः ॥ १०७ ॥

चिकित्सा-रोगीके बल तथा दोषविशेषके प्रमाणकी अपेक्षा रखती है। जब वैद्य अल्प बलवाले रोगीको विनाही परीक्षा किये बलवान् औषधीका प्रयोग करता है तो उसके प्राणोंको नष्ट करदेताहै। बलहीन रोगीको अतिबलवान्, अत्यंत उष्ण, अत्यंतशीतल तथा अत्यंतवातप्रधान औषध प्रयोग करना तथा जो रोगी सहन नहीं करसकता उसको दागना, शस्त्रकर्म करना और क्षारकर्म (तेजाब आदिसे दग्ध करना) आदि तीक्ष्णकर्म और तीक्ष्ण औषध असह्य और तीक्ष्ण होनेसे उसके प्राणोंको शीघ्र नष्ट करदेती है॥ १०७॥

दुर्बलरोगीको औषध।

एतच्चैव कारणमवेक्ष्यमाणा हीनबलमातुरमविषादकरैर्मृदुसुकुमारप्रायैरुत्तरोत्तरगुरुभिराविभ्रमैरनात्यायिकैश्चोपचरन्त्यौषधैः। विशेषतश्च

नारीस्ता ह्यनवस्थितमृदुविवृतविक्लवहृदयाः प्रायः सुकुमारा नार्य्योऽबलाः परमसंस्तभ्याश्च ॥ १०८ ॥

इसलिये इन सब कारणोंकी अपेक्षा करताहुआ वैद्य हीनबल रोगीको कष्ट न देने वाली मृदु तथा सुकुमार औषधों द्वारा साधन करे। यदि प्रबल औषधीकी भी आवश्यकता हो तो उसको क्रमपूर्वक जैसे वह सहन करसके वैसे उपयोग करे। जिससे वह कोई उपद्रव न करसके विशेषतासे स्त्रियोंकी नर्म औषधीद्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। क्योंकि उनका हृदय अस्थिर, नर्म, विवृत्त, विकल (डरपोक) होता है। प्रायः सुकुमार स्त्रियें निर्बल होती हैं और परकृत सांत्वनाकी अपेक्षा रखती हैं॥१०८॥

अल्पबल औषधकी व्यर्थता।

तथा बलवति बलवद्व्याधिपरिगते स्वल्पबलमौषधमपरीक्षकप्रयुक्तमसाधकं भवति । तस्मादातुरं परीक्षेत प्रकृतितश्च विकृतितश्च सारतश्च संहननतश्च प्रमाणतश्च सात्म्यतश्च सत्त्वतश्चाहारशक्तितश्च व्यायामशक्तितश्च वयस्तश्चेति ॥ १०९ ॥

इसी प्रकार बलवान् व्याधिमें एवम् बलवान् रोगीको विना परीक्षा किये अल्पबल औषधीका प्रयोग हानिकारक होता है। इसलिये रोगीकी प्रकृतिसे, विकृतिसे, सारसे, शरीरसे सब प्रकार परीक्षा करे एवम् सात्म्य, सत्त्व, आहारशक्ति,परिश्रम शक्ति और अवस्था इन सबकी परीक्षा करनी चाहिये ॥ १०९ ॥

बलप्रमाण ग्रहणके कारण।

बलप्रमाणविशेषग्रहणहेतोः तत्रामी प्रकृत्यादयो भावाः । तद्यथा– शुक्रशोणितप्रकृतिं कालगर्भाशयप्रकृतिमातुराहारविहारप्रकृतिं महाभूतविकारप्रकृतिञ्च गर्भशरीरमपेक्षते। एता हि येन येन दोषेणाधिकतमेनैकेनानेकतमेन वा समनुबध्यन्ते, तेन तेन दोषेण गर्भोऽनुबध्यते। ततः सा सा दोषप्रकृतिरुच्यते मनुष्याणां गर्भादिप्रवृत्ता। तस्माद्वातलाः प्रकृत्या केचित्, पित्तलाः केचिच्छ्लेष्मलाः केचित्संसृष्टाः समधातवः प्रकृत्या केचित् भवन्ति।तेषां हि लक्षणानि व्याख्यास्यामः११०

बलका प्रमाण जाननेके लिये प्रकृति आदि भावोंकी इस प्रकार परीक्षा करे। जैसे शुक्र और शोणितकी प्रकृति, कालप्रकृति, गर्भाशयकी प्रकृति, रोगीके आहार विहारकी प्रकृति, पंचमहाभूतोंके विकारकी प्रकृतिकी परीक्षा करे । यह सब प्रकृति

गर्भशरीरकी अपेक्षा करतीहैं। जैसे पिताके शुक्र और माताके रुधिरमें गर्भाधानके समय जिस जिस दोषकी अधिकता होतीहै गर्भमें भी उन्हीं उन्हीं दोषोंकी अधिकता अर्थात् अनुबन्ध होता है। इसीलिये गर्भसे ही लेकर अर्थात् जन्मकालसे ही किसी २ की वातप्रकृति, किसीकी पित्तप्रकृति और किसीकी कफप्रकृति, किसीकी मिली हुई प्रकृति एवम् किसी २ की समधातु प्रकृति होती है। उन सब वातादि प्रकृतिवाले मनुष्योंके लक्षणोंको कथन करते हैं॥ ११०॥

कफप्रकृति।

श्लेष्मा हि स्निग्धश्लक्ष्णमृदुमधुरसारसान्द्रमन्दस्तिमितगुरुशीतविज्जलाच्छः। अस्य स्नेहाच्छ्लेष्मलाः स्निग्धाङ्गाः, श्लक्ष्णत्वाच्छ्लक्ष्णाङ्गाः, मृदुत्वाद् दृष्टिसुखसुकुमारावदातशरीराः, माधुर्य्यात्प्रभूतशुक्रव्यवायापत्याः, सारत्वात् सारसंहतस्थिरशरीराः, सान्द्रत्वादुपचितपरिपूर्णसर्वगात्राः, मन्दत्वान्मन्दचेष्टाहारविहाराः, स्तैमित्यादशीघ्रारम्भक्षोभविकाराः, गुरुत्वात्साराधिष्ठितगतयः, शैत्यादल्पक्षुत्तृष्णासन्तापस्वेददोषाः, विज्जलत्वात् सुश्लिष्टसारबन्धसन्धानाः, तथाच्छत्वात्प्रसन्नदर्शनाननाः, प्रसन्नस्निग्धवर्णस्वराश्च भवन्ति। त एवंगुणयोगाच्छ्लेष्मला बलवन्तो वसुमन्तो विद्यावन्त ओजस्विनः शान्ता आयुष्मन्तश्च भवन्ति॥ १११॥

कफ-चिकना, श्लक्ष्ण, मधुर, मृदु, सार, सांद्र, मन्द, स्तिमित, भारी, शीतल, पिच्छल और स्वच्छ गुणवाला होता है। कफप्रकृति मनुष्यका शरीर कफके चिकने गुणसे चिकना होता है, श्लक्ष्णसे गठनदार होता है, मृदु होनेसे नम्र होता है और सुन्दर तथा सुकुमार होता है। सार होनेसे संहत और स्थिर होता है, सांद्र होनेसे सर्वांग परिपूर्ण और पुष्ट होते हैं। कफके मंद स्वभावसे मंद चेष्टा और आहार विहार मंद होते हैं। स्तैमित्य होनेसे-उद्योग, क्षोभ और विकार यह सब विलंबसे होते हैं। भारी होनेसे सारवान् और स्थिरगति होता है। शैत्य होनेसे-क्षुधा, तृषा, संताप, स्वेद आदि दोष अल्प होते हैं। पिच्छलगुण होनेसे-शरीरके सब बंधन दृढ होते हैं एवम् कफका स्वच्छ गुण होनेसे कफप्रकृति मनुष्यके-दृष्टि, मुख, वर्ण और स्वर यह सब स्निग्ध तथा प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार इन गुणोंके कारण कफप्रकृति मनुष्य बलवान्, सम्पत्तियुक्त विद्यावाला, ओजस्वी, शान्तस्वभाव तथा दीर्घायु होते हैं १११

पित्तप्रकृतिके लक्षण।

पित्तमुष्णं तीक्ष्णं द्रवं विस्रमम्लं कटुकञ्च। तस्यौष्ण्यात् पित्तला

भवन्ति उष्णासहाः उष्णमुखाः सुकुमारावदातगात्राः प्रभूतपिप्लु-
व्यङ्गतिलकपिडकाः क्षुत्पिपासावन्तः क्षिप्रवलीपलितखालित्यदोषाः
प्रायो मृद्वल्पकपिलश्मश्रुलोमकेशाः। तैक्ष्ण्यात्तीक्ष्णपराक्रमाः तीक्ष्णा-
ग्नयः प्रभूताशनपानाः क्लेशसहिष्णवो दन्दशूकाः । द्रवत्वाच्छिथिल-
मृदुसन्धिबन्धमांसाः प्रभूतसृष्टस्वेदमूत्रपुरीषाश्च। विस्रत्वात् प्रभूतपू-
तिवक्षःकक्षस्कन्धास्यशिरःशरीरगन्धाः । कट्वम्लत्वादल्पशुक्रव्यवा-
यापत्याः । त एवंगुणयोगात्पित्तला मध्यबला मध्यायुषो मध्यज्ञान-
विज्ञानवित्तोपकरणवन्तश्च भवन्ति ॥ ११२ ॥

पित्तप्रकृति–पित्तका स्वभाव गर्म, तीक्ष्ण, द्रव, विस्र अम्ल और चरपरे गुणवाला होता है। पित्तप्रकृति मनुष्य–पित्तके उष्णगुण होनेसे गर्मी सहन नहीं करसकता तथा मुख मस्तक गरम रहता है। और उनका शरीर कोमल और स्वच्छ होता है। शरीरमें पिपलू, झाईं, तिल तथा फुनसी आदि अधिक होते हैं। क्षुधा, प्यास अधिक लगती है। शरीरमें सलवट पडना, बालोंका सफेद होजाना, सिरमें गंज होजाना यह सब छोटी ही अवस्थामें होजाते हैं, डाढी, मूछ, रोम और केश प्रायः नरम, छोटे २ और भूरे रंगके होते, पित्तके तीक्ष्ण गुण होनेसे पित्तप्रकृति मनुष्य तीक्ष्ण पराक्रमवाले, तीक्ष्ण अग्निवाले अन्नजलको शीघ्र पचाजानेवाले या अधिक खानेवाले, क्लेश सहन करनेकी सामर्थ्यवाले तथा दंदशूक अर्थात् खानेके लोभी होते हैं। पित्तके पतले स्वभाववाले होनेसे उनके संधि और मांस नरम तथा शिथिल होते हैं और मल मूत्र तथा पसीना अधिक आते हैं। पित्तके विस्र अर्थात् दुर्गन्धयुक्त होनेसे उनके वक्षस्थल, कांख, मुख, मस्तक और शरीरसे दुर्गंध आती है। पित्तके चरपरे गुणसे और अम्लताके कारण अल्पशुक्र और अल्प मैथुन एवम् अल्प संतान होती है। इस प्रकार इन गुणोंवाले होनेसे पित्तप्रकृति मनुष्य मध्य आयु तथा मध्यमबलवाले और ज्ञान, विज्ञान तथा धनसामग्रीवाले होते हैं ॥ ११२ ॥

वातप्रकृतिके लक्षण।

वातस्तु रूक्षलघुचलबहुशीघ्रशीतपरुषविशदः तस्य रौक्ष्याद्वातला
रूक्षापचिताल्पशरीराः प्रततरूक्षक्षामभिन्नसक्तजर्जरस्वरा जागरूकाश्च
भवन्ति। लघुत्वाच्च लघुचपलगतिचेष्टाहारविहाराः। चलत्वादनवस्थि-
तसन्ध्यक्षिभ्रूहन्वोष्ठजिह्वाशिरःस्कन्धपाणिपादाः । बहुत्वाद्बहुप्रलाप-
कण्डराशिराप्रतानाः । शीघ्रत्वाच्छीघ्रसमारम्भक्षोभविकाराः शीघ्रो-

त्रासरागविरागाः श्रुतग्राहिणः अल्पस्मृतयश्च। शैत्याच्छीतासहिष्णवः प्रततशीतकोद्वेपकस्तम्भाः। पारुष्यात्परुषकेशश्मश्रुरोमनखदशनवदनपाणिपादाङ्गाः। वैशद्यात्स्फुटिताङ्गावयवाः सततसन्धिशब्दगामिनश्च भवन्ति। त एवंगुणयोगाद्वातलाः प्रायेणाल्पबलाश्चाल्पायुषश्चाल्पापत्याश्चाल्पसाधनाश्चाधन्याश्च ॥ ११३ ॥

वातप्रकृति–वायुका स्वभाव रूक्ष, हलका, चल, बहुल, शीघ्र, शीत, परुष और विशद गुणवाला होता है। वातप्रकृतिमनुष्यका शरीर वायुके रूक्षगुण होनेसे रूखा गिराहुआसा और कृश होता है। स्वर अत्यंत रूक्ष, तीक्ष्ण, सक्त, भिन्न और जर्जरसा होता है। निद्रा कम आती है। वायुका हलका गुण होनेसे उनकी गति, चेष्टा, आहार और व्यवहार लघु तथा चपल होते हैं। वायुके चलगुण होनेसे उनकी संधि, अस्थि, भौंहें, ठोडी, होठ, जिह्वा, शिर, कंधे, हाथ, पांव यह अस्थिर अर्थात् ताकतवर नहीं होते तथा कभी फडकते हैं। वायुके बहुत्व गुण होनेसे बहुत बोलनेवाला होता है तथा कंडरा और नसोंके जालसे संपूर्ण शरीर व्याप्त होता है। वायुकी शीघ्र गति होनेसे आरम्भ, क्षोभ, विकार यह चित्तमें शीघ्र उत्पन्न होते हैं एवम् त्रास, रोग, वैराग्य यह शीघ्र उत्पन्न होते हैं। तथा शीघ्र श्रुतको शीघ्र ग्रहण करलेना और भूलजाना यह गुण होते हैं। वायुके शीतगुण होनेसे शीतको सहन न करसके तथा उनके शरीरमें शीत, कम्प और जडता अधिक होते हैं। वायुके परुष अर्थात् कठोर गुण होनेसे केश, श्मश्रु, रोम नख, दांत, मुख, हाथ पांव, अंग यह सब कठोर होते हैं। तथा वायुके विशद गुणसे अंगावयव फटेहुए होते हैं। एवम् नित्य संधियें मटका करती हैं। यह सब गुण होनेसे वातप्रधान मनुष्य अल्पायु अल्पसंतानवाले और अल्पसाधनवाले तथा निर्धन होते हैं ॥ ११३ ॥

मिलीहुई तथा समप्रकृति।

संसार्गात्सृष्टलक्षणाः सर्वगुणसमुंदितास्तु समधातवः इत्येवं प्रकृतितः परीक्षेत ॥ ११४ ॥

दो दोषोंके संसर्गसे दो दोषोंके मिले जुले लक्षण होते हैं। सम्पूर्ण दोषोंके समान होनेसे मनुष्य समधातु अर्थात् सम प्रकृतिवाला कहा जाताहै। इस प्रकार पुरुषकी प्रकृतिकी परीक्षा करनी चाहिये ॥ ११४ ॥

विकृतिपरीक्षा।

विकृतितश्चेति। विकृतिरुच्यते विकारः। तत्र विकारहेतुदोषदूष्य-

१ सर्वगुणसमुदिताः सर्वप्रकृतियुक्ताः प्रशस्तगुणयुक्ता इत्यर्थः।

प्रकृतिदेशकालबलविशेषैर्लिङ्गतश्च परीक्षेत। न ह्यन्तरेण हेत्वादीनां बलविशेषं व्याधिबलविशेषोपलब्धिः। यस्य हि व्याधेर्दूष्यदोषप्रकृतिदेशकालसाम्यं भवति महच्च हेतुलिङ्गबलं स व्याधिर्बलवान् तद्विपर्य्ययाच्चाल्पबलः। मध्यबलस्तु दूष्यादीनामन्यतमसामान्याद्धेतुलिङ्गमध्यबलत्वाच्च उपलभ्यते ॥ ११५ ॥

अब विकृतिकी परीक्षाको कथन करते हैं—विकृति विकारको कहते हैं, सो विकारको हेतु, दूष्य, दोष, प्रकृति, देश और काल तथा बल इनसे एवम् लक्षणसे परीक्षा करे। क्योंकि हेतु आदिकोंके बलविशेषको बिनाजाने व्याधिके बलविशेषकी उपलब्धि नहीं होसकती। इनमें जिस व्याधिके दूष्य, दोष, प्रकृति, देश और काल समान हों अर्थात् एकही स्वभाववाले हों तथा हेतु आदिकोंके लक्षण बलवान् हों तो उस व्याधिको बलवान् व्याधि जानना। इससे विपरीत लक्षण होनेसे अल्पबल जानना। हेतु और दूष्य आदिकोंकी तुल्यता न होनेसे अन्य दोषोंकी किंचित् साम्यता होतेहुए भी हेतुओंके लक्षण, मध्यबल होनेसे व्याधिको मध्यबल जानना चाहिये ११५

सारद्वारा परीक्षा। त्वक्सार।

सारतश्चेति। साराण्यष्टौ[1] पुरुषाणां बलमानविशेषज्ञानार्थमुपदिश्यन्ते। तद्यथा—त्वग्रक्तमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रसत्त्वानि। तत्र स्निग्धश्लक्ष्णमृदुप्रसन्नसूक्ष्माल्पगम्भीरसुकुमारलोमा सप्रभा च त्वक् त्वक्साराणाम्। सा सारता सुखसौभाग्यैश्वर्य्योपभोगबुद्धिविद्यारोग्यप्रहर्षणान्यायुष्यत्वञ्चाचष्टे ॥ ११६ ॥

अब सारसे परीक्षा कहते हैं। मनुष्योंका सार आठ प्रकारका होता है। पुरुषके बलविशेषको जाननेके लिये आठ प्रकारके सारोंकी परीक्षा करे। वह इस प्रकार है। जैसे त्वचा, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र और सत्त्व यह आठ प्रकारके सार हैं॥ इनमें त्वचासारवाले पुरुषकी त्वचा चिकनी, श्लक्ष्ण, मृदु, प्रसन्न, सूक्ष्म, किंचित् गंभीर, सुकुमार, रोम तथा कांतियुक्त होती है। इस सारताके होनेसे मनुष्य सुखी, सौभाग्ययुक्त, ऐश्वर्य तथा भोग और बुद्धियुक्त होता है। एवम् विद्वान्, निरोग, हर्षयुक्त और दीर्घायु होता है॥ ११६ ॥

रक्तसार।

कर्णाक्षिमुखजिह्वानासौष्ठपाणिपादतलनखललाटमेहनानि स्निग्ध-

---

१ सारशब्देन विशुद्धतरो धातुरुच्यते इति चक्रपाणिः।

रक्तानि श्रीमन्ति भ्राजिष्णूनि रक्तसाराणाम् । सा सारता सुखमुदग्रतां मेधां मनस्वित्वं सौकुमार्य्यमनतिबलमक्लेशसहिष्णुत्वञ्चाचष्टे॥ ११७

रक्तमें सारता होनेसे मनुष्योंके कान, नेत्र, मुख, जीभ, नाक, ओठ, हाथ, पांव, नख, मस्तक, लिंग ये सब चिकने और लालवर्णके होतेहैं तथा शोभा और कांतियुक्त होतेहैं। रक्तमें सारता होनेसे मनुष्य सुख, उन्नति और मेधायुक्त तथा मनस्वी सुकुमार, साधारण बलवाला और क्लेशके न सहनेवाला होताहै ॥ ११७ ॥

मांससार।

शंखललाटकृकाटिकाक्षिगण्डहनुग्रीवास्कन्धोरःकक्षवक्षःपाणिपादसंधयः स्थिरगुरुशुभमांसोपचिता मांससाराणाम् । सा सारता क्षमां धृतिमलौल्यं वित्तं विद्यां सुखमार्जवमारोग्यं बलमायुश्च दीर्घमाचष्टे ॥ ११८

मांसमें सारता होनेसे मनुष्योंके कनपटी, मस्तक, गर्दनका पिछलाभाग, नेत्र, कपोल, ठोडी, गर्दन, कंधे, छाती वक्षस्थल, कांख, हाथ, पांव और संधियें दृढ तथा मांसयुक्त पुष्ट होती हैं। और मांससार होनेसे मनुष्य क्षमा, धृति, निर्लोभ, धन, विद्या, सुख, नम्रता, आरोग्यता और बल तथा दीर्घायुवाला होता है ॥ ११८ ॥

मेदस्सार।

वर्णस्वरनेत्रकेशलोमनखदन्तौष्ठमूत्रपुरीषेषु विशेषतः स्नेहो मेदःसाराणाम् । सा सारता वित्तैश्वर्य्यसुखोपभोगप्रदानान्यार्जवं सुकुमारोपचारतामाचष्टे ॥ ११९ ॥

मेदसार मनुष्योंके वर्ण, स्वर, नेत्र, केश, लोम, नख, दन्त, होठ मूत्र और मल ये सब विशेष चिकने होते हैं और यह पुरुष धन, ऐश्वर्य, सुख, भोग, दातृभाववाला होता है तथा सरलतायुक्त, सुकुमार और उपकरणयुक्त होता है ॥ ११९ ॥

अस्थिसार।

पार्ष्णिगुल्फजान्वरत्निजत्रुचिबुकशिरःपर्वस्थूलाः स्थूलास्थिनखदन्ताश्चास्थिसारास्ते महोत्साहाः क्रियावन्तश्च क्लेशसहाः सारस्थिरशरीरा भवन्ति आयुष्मन्तश्च ॥ १२० ॥

अस्थिसार मनुष्योंके गुल्फ, जानु, अरत्नि, अंस, चिबुक, मस्तक और संपूर्ण सन्धियें तथा अस्थि, नख और दांत यह सब स्थूल होते हैं। वह मनुष्य महोत्साही, क्रियावान्, क्लेश सहन करनेवाला, सारयुक्त तथा दृढ शरीरवाला और दीर्घायु होता है ॥ १२० ॥

---

१ अरत्नि–कफोणिका।

मज्जासार।

तन्वङ्गा बलवन्तः स्निग्धवर्णस्वराः स्थूलदीर्घवृत्तसन्धयश्च मज्जासारास्ते दीर्घायुषो बलवन्तः ॥ १२१ ॥

मज्जासार मनुष्य पतली देहवाले, बलवान् चिकनेवर्ण और स्वरवाले होते हैं। इनकी संपूर्ण सन्धियें दृढ, स्थूल, लम्बी और गोल होती हैं। यह मनुष्य दीर्घायु और बलवान् होते हैं ॥ १२१ ॥

शुक्रसार।

श्रुतविज्ञानवित्तापत्यसम्मानभाजश्च सौम्याः सौम्यप्रेक्षिणश्च क्षीरपूर्णलोचना इव प्रहर्षबहुलाः स्निग्धवृत्तसारसमसंहतशिखरिदशनाः प्रसन्नस्निग्धवर्णस्वरा भ्राजिष्णवो महास्फिचश्च शुक्रसाराः। ते स्त्रीप्रियाः प्रियोपभोगा बलवन्तः ॥ १२२ ॥

शुक्रसार मनुष्य शास्त्र, ज्ञान, धन, सन्तानयुक्त और सन्मानके योग्य होता है। तथा सौम्य, सुन्दरस्वरूप,दूधकीसी कांतिवाला, पूर्ण और प्रसन्न नेत्रोंवाला होता है। चिकने शरीरवाला, धनयुक्त, सुन्दर, सुडौल शरीर तथा खूबसूरत दन्तपंक्तीवाला होता है। एवम् स्वर, वर्ण, उत्तम, चिकने होते हैं तथा यह कांतिवान् और बडे नितम्बोंवाला अधिक वीर्ययुक्त, स्त्रियोंका प्यारा, कामी तथा बलवान् होता है ॥१२२॥

सत्त्वसार।

सुखैश्वर्य्यारोग्यवित्तसम्मानापत्यभाजः स्मृतिमन्तो भक्तिमन्तः कृतज्ञाः प्राज्ञाः शुचयो महोत्साहा दक्षा धीराः समरविक्रान्तयोधिनः त्यक्तविषादाः सुव्यवस्थिता गम्भीरबुद्धिचेतसः कल्याणाभिनिवेशिनश्च सत्त्वसाराः ॥ १२३ ॥

सत्त्वसार मनुष्य सुख, ऐश्वर्य, आरोग्यता, वित्त, सन्मान और सन्तानवाला होता है तथा स्मृतिमान, भक्तिमान, कृतज्ञ, बुद्धिमान्, शुद्ध, महोत्साही, चतुर और धीर होते हैं। एवम् युद्धके समय पराक्रमके साथ युद्ध करनेवाले, विषादरहित, स्थिरस्वभाव, गंभीरबुद्धि और गंभीरचित्त तथा कल्याणकी इच्छावाले होते हैं ॥ १२३ ॥

तेषां स्वलक्षणैरेव गुणा व्याख्याताः ॥ १२४ ॥

इस प्रकार लक्षणों सहित त्वक्सार आदि आठ प्रकारके सारवाले पुरुषोंके लक्षण और गुणोंका वर्णन कर दिया गया है ॥ १२४ ॥

सर्वसार।

तत्र सर्वैः सारैरुपेताः पुरुषा भवन्त्यतिबलाः परं गौरवयुक्ताः क्लेशसहाः सर्वारंभेष्वात्मनि जातप्रत्ययाः कल्याणाभिनिवेशिनः स्थिरसमाहितशरीराः सुसमाहितगतयः सानुनादस्निग्धगम्भीरमहास्वराः सुखैश्वर्य्यवित्तोपभोगसम्मानभाजो मन्दजरसो मन्दविकाराः प्रायस्तुल्यगुणविस्तीर्णापत्याः चिरजीविनश्च ॥ १२५ ॥

जो मनुष्य इन संपूर्ण सारोंसे युक्त होते हैं वह अत्यन्त बलवान्, गौरवयुक्त, क्लेश सहन करनेकी सामर्थ्यवाले, संपूर्ण कामोंको अपने आप करनेकी इच्छावाले, कल्याण करनेकी इच्छावाले, स्थिर और दृढशरीरवाले सुसमाहित गतिवाले. अनुनादसहित स्निग्ध, गंभीर और महास्वरवाले, सुख, ऐश्वर्य, वित्त उपभोगवाले, सम्मान पात्र और उनको बुढापा शीघ्र नहीं आता, विकार शीघ्र उत्पन्न नहीं होते, उनकी संतान उन्हींके समान गुणवाली, वंशके विस्तार करनेवाली और चिरंजीवी होती है ॥ १२५ ॥

अतो विपरीतास्त्वसाराः ॥ १२६ ॥

इससे विपरीत गुणोंवाले मनुष्य असार अर्थात् सारहीन होते हैं ॥ १२६ ॥

मध्यानां मध्यः सारविशेषैर्गुणविशेषा व्याख्याताः। इति साराण्यष्टौ पुरुषाणां बलप्रमाणविशेषज्ञानार्थानि ॥ १२७ ॥

मध्यमसार मनुष्यके शरीरमें संपूर्ण लक्षण मध्यम होते हैं। इस प्रकार मनुष्योंके बल, प्रमाण, विशेषके ज्ञानके लिये आठ प्रकारके सारोंका वर्णन कियागया ॥ १२७ ॥

कथं नु शरीरमात्रदर्शनादेव भिषङ्मुह्येदयमुपचितत्वाद्बलवान् अयमल्पबलः कृशत्वात्, महाबलवानयं महाशरीरत्वात्, अयमल्पशरीरत्वादल्पबल इति। दृश्यन्ते ह्यल्पशरीराः कृशाश्चैके बलवन्तः। तत्र पिपीलिकाभारहरणवत्सिद्धिः। अतश्च सारतः परीक्षेत इत्युक्तम् १२८॥

वैद्य रोगीके शरीरमात्रकोही देखकर मोहित न होजाय। जैसे—हृष्टपुष्ट शरीरको देखकर यह बलवान् है। कृश शरीरको देखकर यह दुर्बल है। बडे शरीरको देखकर बडा शरीर होनेसे बलवान् समझ लेना, छोटा शरीर देखकर निर्बल समझ लेना इत्यादि मोहको न प्राप्त होजाय। क्योंकि छोटे शरीरवाले और कृश शरीरवाले भी बहुतसे बलवान् देखनेमें आते हैं। जैसे पिपीलिका(चींटी) बहुत छोटी और कृश शरीर होते

हुए भी अपनेसे अधिक भारको उठालेती है। इसी प्रकार सारवान् मनुष्य भी जानना। इसलिये सारद्वारा मनुष्यकी परीक्षा करनी चाहिये यह वर्णन कियागया है ॥ १२८ ॥

समुदायद्वारा परीक्षा।

संहननतश्चेति संहननं संघातः संयोजनमित्येकोऽर्थः ॥ १२९ ॥

वैद्यको चाहिये कि, शरीरकी संहननसे भी परीक्षा करे । संहनन, संघात और संयोजन इन तीनों शब्दोंका एक ही अर्थ है।यह शब्द शरीरके संगठनके वाचक हैं॥१२९॥

तत्र समसुविभक्तास्थि सुबद्धसन्धि सुनिविष्टमांसशोणितं सुसंहतं शरीरमित्युच्यते । तत्र सुसंहतशरीराः पुरुषा बलवन्तो, विपर्य्ययेणाल्पबलाः । प्रवरावरमध्यत्वात् संहननस्य मध्यबला भवन्ति॥ १३०॥

जिसके शरीरमें हड्डियें सब बराबर और सुविभक्त और संधियें भले प्रकार सुबद्ध हों और मांस तथा रुधिर शरीरमें सुडौल और उचित रीतिपर पूरित हो उस शरीरको सुसंहत कहते हैं । वह सुसंहत शरीरवाले पुरुष बलवान् होते हैं । इससे विपरीत गुणवाले दुर्बल होते हैं । मध्यम लक्षणवाले मध्य बल होते हैं ॥ १३० ॥

प्रमाणसे परीक्षा।

प्रमाणतश्चेति । शरीरप्रमाणं पुनर्यथास्वेनांगुलिप्रमाणेनोपदेक्ष्यते । उत्सेधविस्तारायामैर्यथाक्रमम्॥ १३१ ॥

शरीरके प्रमाणके अनुसार भी परीक्षा करनी चाहिये । प्रत्येक मनुष्यका प्रमाण उसकी अंगुलियों द्वारा प्रमाण कियाजाता है । अर्थात् प्रत्येक मनुष्यकी लंबाई, चौडाई और ऊंचाईको उसकी अंगुलियों द्वारा प्रमाणित जानना । उसको यथाक्रम वर्णन करते हैं ॥ १३१ ॥

तत्र पादौ चत्वारि षट् चतुर्दश चाङ्गुलानि, जंघे त्वष्टादशांगुले षोडशांगुलिपरिक्षेपे, जानुनी चतुरंगुले षोडशांगुलिपरिक्षेपे, त्रिंशदंगुलपरिक्षेपावष्टादशांगुलावूरू, वृषणौ षडंगुलदीर्घावष्टांगुलपरिणाहौ, शेफः षडंगुलदीर्घं पञ्चांगुलपरिणाहम्, द्वादशांगुलपरिणाहो भगः, षोडशांगुलविस्तारा कटी, दशांगुलं बस्तिशिरः, दशांगुलविस्तारं द्वादशांगुलमुदरम्, दशांगुलविस्तीर्णे द्वादशांगुलायामे पार्श्वे, द्वादशांगुलविस्तारं स्तनान्तरं द्व्यंगुलं स्तनपर्य्यन्तम्, चतुर्विंशत्यंगुलविशालं द्वादशांगुलोत्सेधमुरः, द्व्यंगुलं हृदयम्, अष्टांगुलौ

स्कन्धौ, षडंगुलावंसौ, षोडशांगुलौ बाहू, पञ्चदशांगुलौ पाणी, हस्तौ द्वादशांगुलौ, कक्षावष्टांगुलौ, त्रिकं द्वादशांगुलोत्सेधम्, अष्टादशांगुलोत्सेधं पृष्ठम्, चतुरंगुलोत्सेधा द्वाविंशत्यंगुलपरिणाहा शिरोधरा, द्वादशांगुलोत्सेधं चतुर्विंशत्यंगुलपरिणाहमाननम्, पञ्चांगुलमास्यम्,चिबुकौष्ठकर्णाक्षिमध्यनासिकाललाटानि चतुरंगुलानि, षोडशांगुलोत्सेधं द्वात्रिंशदंगुलपरिणाहं शिरः, इति पृथक्त्वेनाङ्गावयवानां मानमुक्तं केवलं पुनः शरीरमंगुलिपर्वाणि चतुरशीतिस्तदायामविस्तारसमं समुच्यते ॥ १३२ ॥

पैरोंकी--ऊंचाई चार अंगुल, चौडाई छः अंगुल और लंबाई चौदह अंगुल होती है ॥ घुटनेसे नीचे–टांगों (पिंडालियों) की लंबाई–अठारह अंगुल और घेर सोलह अंगुल होता है। जानुकी लंबाई–चार अंगुल और वेष्टन सोलह अंगुल होता है। जानुसे ऊपर ऊरूस्थल अर्थात् मोटी जांघकी लंबाई तीस अंगुल, और घेर अठारह अंगुल होताहै । वृषण अर्थात् फोतेके नसोंकी लंबाई छः अंगुल, और वेष्टन आठ अंगुलका होता है । शिश्न इंद्रियकी लंबाई छः अंगुल और वेष्टन पांच अंगुलका होता है। भगकी गहराई--बारह अंगुल होती है । कमर सोलह अंगुल चौडी होती है । मूत्रवस्ती दश अंगुलके विस्तारवाली होती है। उदरका बारह अंगुल विस्तार है। दोनों पार्श्वोंका दशदश अंगुल विस्तार और बारह बारह अंगुल लम्बाई है । दोनों स्तनोंका बारह अंगुलका अन्तर और दो दो अंगुलकी सीमा होती है। छाती–चौबीस अंगुल चौडी और बारह अंगुल लम्बी होती है । हृदय--दो अंगुल कन्धे–आठ २ अंगुल । दोनों अंस–छः अंगुल होते हैं। सोलह अंगुल बाहोंका ऊपरका भाग पन्द्रह अंगुल कोहनीसे नीचेका भाग । दश अंगुल हाथ और आठ अंगुल कांख होती है। त्रिकस्थान–बारह अंगुल ऊंचा । पृष्ठस्थान–आठ अंगुल ऊंचा । गर्दन चार अंगुल ऊंची और बारह अंगुल घेरमें होती है। बारह अंगुल ऊंचा और चौबीस अंगुलमें चेहरा होताहै । पांच अंगुलका मुख । चिबुक, ओष्ठ, दोनों कान दोनों नेत्र, नाक और मस्तक चार २ अंगुल विस्तारमें होते हैं । शिरकी लंबाई सोलह अंगुल और घेर बत्तीस अंगुल होता है । इस प्रकार शरीरके पृथक् २ अवयवोंका परिमाण वर्णन

---

(१) यश्च मानविरोधः सुश्रुतेन सोत्राङ्गुलिमानभेदात् शमायितव्यः। तत्र हि सविंशमंगुलिशतं पुरुषमानम्, तेन तत्राङ्गुलिमानमेवाल्पं ज्ञेयम् । आयामविस्तारसममिति यथोक्तप्रत्यवयवायामविस्तारयुक्तम् ।

किया गया है ॥ सम्पूर्ण शरीरकी ऊंचाई चौरासी अंगुल होती है शरीरकी ऊंचाई और घेर प्रायः बराबर होताहै। यह लक्षण सामान्यतासे कथन किया गया है॥१३२

तत्रायुर्बलमोजःसुखमैश्वर्य्यं वित्तमिष्टाश्चापरे भावा भवन्त्यायत्ताः प्रमाणवति शरीरे। विपर्य्ययस्तु हीनेऽधिके वा ॥ १३३ ॥

जो शरीर प्रमाणयुक्त यथार्थ होता है उस शरीरवाले मनुष्यकी, आयु, बल, ओज, सुख, ऐश्वर्य वित्त और अन्य भी सम्पूर्ण भाव स्वाधीन होते हैं। हीन वा अधिक होनेसे विपरीत होते हैं॥ १३३ ॥

सात्म्यद्वारा परीक्षा।

सात्म्यतश्चेति। सात्म्यं नाम तद्यत्सातत्येनोपयुज्यमानमुपशेते। तत्र ये घृतक्षीरतैलमांसरससात्म्याः सर्वरससात्म्याश्च ते बलवन्तः क्लेशसहाश्चिरजीविनश्च भवन्ति। रूक्षनित्याः पुनरेकरससात्म्याश्च ये ते प्रायोणाल्पबलाश्चाक्लेशसहा अल्पायुषोऽल्पसाधनाश्च भवन्ति॥ १३४॥

मनुष्योंके सात्म्यकी भी परीक्षा करनी चाहिये। जो पदार्थ निरन्तर सेवन किया जानेपरभी शरीरके अनुकूल अर्थात् हितकारी प्रतीत हो उसको सात्म्य कहते हैं। जिन मनुष्योंको—घृत, दूध, तैल, मांसरस तथा मधुर आदि सम्पूर्ण रस सात्म्य होते हैं वह मनुष्य बलवान् और क्लेश सहन करनेमें समर्थ तथा दीर्घजीवी होते हैं। जो मनुष्य निरन्तर रूक्ष पदार्थोंको सेवन करते हैं तथा जिनको एक रस ही सात्म्य है वह मनुष्य प्रायः अल्पबलवाले क्लेश सहन करनेमें असमर्थ, अल्पायु और अल्पसाधनवाले होते हैं॥ १३४ ॥

व्यामिश्रसात्म्यास्तु ये ते मध्यबलाः सात्म्यनिमित्ततः ॥ १३५ ॥

जिन मनुष्योंको मिले जुले रस सात्म्य हों और पृथक् २ सात्म्य न हों अथवा उपरोक्त दोनों प्रकारके मनुष्यके कुछ २ लक्षण मिलते हों वह मनुष्य सात्म्यके निमित्तसे मध्यमबलवाले होते हैं॥ १३५ ॥

सत्त्वसे परीक्षा।

सत्त्वतश्चेति। सत्त्वमुच्यते मनस्तच्छरीरस्य तन्त्रकमात्मयोगात्तत्त्रिविधं बलभेदेन प्रवरं मध्यममवरमिति। अतश्च प्रवरमध्यावरसत्त्वाश्च पुरुषा भवन्ति। तत्र प्रवरसत्त्वाः सत्त्वसाराः सारेषु उपदिष्टाः। स्वल्प-

---

१ तन्त्रकमिति प्रेरकं धारकं च।

शरीरा ह्यपि ते निजागन्तुनिमित्तासु महतीष्वपि पीडास्वव्यथा दृश्यन्ते सत्त्वगुणवैशेष्यात् ॥ १३६ ॥

मनुष्यके सत्त्वकी भी परीक्षा करनी चाहिये। सत्व नाम मनका है। वह मन आत्माके संयोगसे शरीरका तंत्रक है अर्थात् शरीरको अपने भावोंसे तंत्रण और धारण करनेवाला होता है वह बलके भेदसे उत्तम मध्यम और कनिष्ठ इन तीन प्रकारका होता है इसीलिये मनुष्य उत्तमसत्त्व, मध्यमसत्त्व और अधमसत्त्व होते हैं उनमें उत्तमसत्त्व पुरुष सत्त्वसारोंमें कथन कर चुके हैं वह उत्तमसत्त्वसार मनुष्य अल्प शरीर होनेपर तथा निज और आगन्तुक महाकष्ट उपस्थित होनेपर भी व्यग्रचित्त नहीं होते क्योंकि इनमें सत्त्वगुणकी विशेषता होती है ॥ १३६ ॥

मध्यसत्त्वादिपुरुष।

मध्यसत्त्वास्तु परानात्मन्युपनिधाय संस्तम्भयन्त्यात्मनात्मानम्, परैर्वापि संस्तभ्यन्ते। हीनसत्त्वास्तु नात्मना न च परैः सत्त्वबलं शक्यन्ते उपस्तम्भयितुम् । महाशरीरा ह्यपि ते स्वल्पानामपि वेदनानामसहा दृश्यन्ते । सन्निहितभयशोकलोभमोहमाना रौद्रभैरवद्विष्टबीभत्सविकृतसंकथास्वपि च पशुपुरुषमांसशोणितानि चावेक्ष्य विषादवैवर्ण्यमूर्च्छोन्मादभ्रमप्रपतनानामन्यतममाप्नुवन्त्यथवा मरणमिति ॥ १३७ ॥

मध्यमसत्त्ववाले मनुष्य-अन्य मनुष्योंको कष्ट सहते देखकर स्वयं भी उनके सहारेसे अथवा दूसरोंकी सहायतासे या दूसरोंके धैर्य देने आदिपर किसी प्रकार कष्ट सहन कर सकते हैं। हीनसत्त्व पुरुष-न तो स्वयं कष्ट सहन कर सकते हैं और न दूसरेकी सहायता देनेपर भी धैर्य धारण करते हैं। यह मनुष्य बडे भारी शरीरवालेभी अल्पकष्टको सहन नहीं कर सकते। और सदैव इनके चित्तमें भय, शोक, लोभ, मोह स्थित रहते हैं। एवम् लडाई अथवा भयानक बात और द्वेषकारक बातोंको सुनकर तथा पशु, पुरुषादिकोंके मांस रक्त आदि देखकर ही विषाद, विवर्णता, मूर्च्छा, उन्माद, गिरजाना अथवा अन्य किसी प्रकारका विकार होना या मृत्युतकको प्राप्त होना ऐसे उपद्रव होते हैं ॥ १३७ ॥

भोजनशक्तिद्वारा परीक्षा।

आहारशक्तितश्चेति। आहारशक्तिरभ्यवहरणशक्त्या जरणशक्त्या च परीक्ष्या। बलायुषी ह्याहारायत्ते ॥ १३८ ॥

मनुष्यकी आहारशक्तिसे भी परीक्षा करनी चाहिये । भोजन करनेकी शक्तिसे आहारके परिमाणसे, आहारकी परिपाक शक्तिसे आहार शक्तिकी परीक्षा की जाती है। मनुष्योंका बल और आयु आहारके ही आधीन है ॥ १३८ ॥

व्यायामशक्तिद्वारा परीक्षा ।

व्यायामशक्तितश्चेति । व्यायामशक्तिरपि कर्मशक्त्या परीक्ष्या । कर्मशक्त्या ह्यनुमीयते बलं त्रिविधम् ॥ १३९ ॥

व्यायामशक्तिद्वारा भी परीक्षा करनी चाहिये । कर्मशक्तिसे व्यायाम शक्तिकी परीक्षा हो सकती है । कर्मशक्तिसे ही मनुष्यके उत्तम मध्यम और हीनबलकी परीक्षा कीजासकती है ॥ १३९ ॥

अवस्थासे परीक्षा ।

वयस्तश्चेति । कालप्रमाणविशेषापेक्षिणी हि शरीरावस्था वयोऽभिधीयते । तद्वयो यथावस्थानभेदेन त्रिविधं बालं मध्यं जीर्णमिति ॥ १४०॥

वय अर्थात् अवस्था विशेषकी भी परीक्षा करनी चाहिये ।काल प्रमाणकी अपेक्षा करनेवाली जो शरीरकी अवस्था है उसको वय कहते हैं । वह वय स्थूल भेदसे बाल मध्य और जीर्ण अर्थात् बाल्यावस्था, तरुणावस्था और वृद्धावस्था इन तीन भेदोंवाली होती है ॥ १४० ॥

बाल आदि अवस्था ।

तत्र बालमपरिपक्वधातुगुणमजातव्यञ्जनं सुकुमारमक्लेशसहमसम्पूर्णबलं श्लेष्मधातुप्रायमाषोडशवर्षम् । विवर्द्धमानधातुगुणं पुनः प्रायेणानवस्थितसत्त्वमात्रिंशद्वर्षमुपदिष्टम् । मध्यं पुनः समर्थागतबलवीर्य्यपौरुषपराक्रमग्रहणधारणस्मरणवचनविज्ञानसर्वधातुगुणं बलस्थितमवस्थितसत्त्वमविशीर्य्यमाणधातुगुणं पित्तधातुप्रायमाषष्टिवर्षमुद्दिष्टम् । अतः परं परिहीयमाणधात्विन्द्रियबलपौरुषपराक्रमग्रहणधारणस्मरणवचनविज्ञानं भ्रश्यमानधातुगुणं वातधातुप्रायं क्रमेण प्रजीर्णमुच्यते आवर्षशतम् ॥ १४१ ॥

उनमें बाल्यावस्थामें सब धातु विना पकी होती हैं और मोछ, दाढी, आदि धातुओंके गुण प्रगट नहीं होते । शरीर सुकुमार, कष्ट सहनेके अयोग्य असंपूर्ण बल और कफ प्रधान होता है । सोलह वर्ष पर्यन्त बाल्यावस्था होती है ॥ सोलह वर्षसे तीस वर्ष पर्यन्त सम्पूर्ण धातुओंके बल और गुण बढते हैं और मन प्रायः अनव-

स्थित होता है (इस अवस्थाको युवावस्था तथा किसीके मतमें बाल, वृद्धि, संपूर्णता और हानि यह चार अवस्था हैं)। तीस वर्षके उपरान्त साठ वर्षकी अवस्थातक मध्य अवस्था होती है। इस अवस्थामें बल, वीर्य, पुरुषार्थ, पराक्रम, ग्रहणशक्ति, धारणा, स्मरणशक्ति, वचनशक्ति और विज्ञान परिपूर्ण होते हैं तथा सम्पूर्ण धातुओंके गुण भी पूर्णतायुक्त होते हैं। यह अवस्था पित्तप्रधान होती है। इसके उपरान्त मनुष्यकी धातु, इन्द्रिय, बल, पुरुषार्थ, पराक्रम, ग्रहणशक्ति, स्मरणशक्ति, वचनशक्ति और विज्ञानशक्ति घटने लगजाती है। सम्पूर्ण धातुयें अपने गुणोंसे भ्रश्यमान होजाती हैं इस अवस्थाको वृद्धावस्था कहते हैं। इसमें वायुकी प्रधानता होती है। साठसे सौवर्षतक वृद्धावस्था कहीजाती है॥ १४१॥

वयःक्रमसे औषधप्रयोग।

वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमस्मिन्काले। सन्ति पुनरधिकोनवर्षशतजीविनो मनुष्याः। तेषां विकृतिवर्ज्यैः प्रकृत्यादिबलविशेषैरायुषो लक्षणतश्च प्रमाणमुपलभ्य वयसस्त्रित्वं विभजेत। एवं प्रकृत्यादीनां विकृतिवर्ज्यानां भावानां प्रवरमध्यावरविभागेन बलविशेषं विभजेत्। विकृतिबलत्रैविध्येन तु दोषबलं त्रिविधमनुमीयते। ततो भैषज्यस्य तीक्ष्णमृदुमध्यविभागेन त्रित्वं विभज्य यथादोषं भैषज्यमवचारयेदिति॥ १४२॥

आयुका प्रमाण इस कालमें प्रायः सौवर्षका होता है। किन्तु बहुतसे मनुष्य सत्त्वादि गुणविशेषसे और पुण्यशाली होनेसे सौवर्षसे आधिक भी जीते हैं। परन्तु आयुका प्रमाण सौवर्षसे अधिक नहीं है। मनुष्यके जीवनकी विकृतिको त्यागकर प्रकृति आदिके बल विशेषसे और आयुके लक्षणोंसे आयुके प्रमाणको जानकर अवस्थाके तीन भेद करने चाहिये। इसी प्रकार विकृतिको त्यागकर प्रकृत्यादिक भावोंका उत्तम, मध्यम और अधम विभाग करनेसे तीन प्रकारका बलविशेष जानना चाहिये। विकृतिके तीन प्रकारके बलसे दोषोंके बलका तीन प्रकारका अनुमान कियाजाता है। इसी प्रकार इन सबका विचार करनेके अनन्तर औषधीको तीक्ष्ण मध्यम और मृदु विभागकर बलवान् दोषमें तीक्ष्ण औषधी, मध्यम दोषमें मध्य औषधी और थोडे दोषमें मृदु औषधीका उपयोग करना चाहिये॥ १४२॥

आयुषः प्रमाणज्ञानहेतोः पुनरिन्द्रियेषु जातिसूत्रीये च लक्षणान्युपदेक्ष्यन्ते॥ १४३॥

आयुका प्रमाण जाननेके लिये, इन्द्रिय स्थानके जातिसूत्रीयाध्यायमें लक्षणोंको कथन करेंगे ॥ १४३ ॥

कालभेद।

कालः पुनः संवत्सरश्चातुरावस्था च। तत्र संवत्सरो द्विधा त्रिधा षोढा द्वादशधा भवश्चातः प्रविभज्यते तत्तत्कार्य्यमभिसमीक्ष्य ॥१४४॥

काल, संवत्सर और आतुरकी अवस्थाको कहते हैं। इनमें संवत्सर काल अयन विभागसे दो प्रकारका और सर्दी, गर्मी, वर्षा इन भेदोंसे तीन प्रकारका, ऋतुभेदसे छः प्रकारका, महीनोंके विभागसे बारह भागोंमें विभक्त होताहै। इसके उपरान्त कार्यविभागसे और भी विभक्त होता जाता है ॥ १४४ ॥

षड्ऋतुविभाग।

तत्र खलु तावत्षोढा प्रविभज्य कार्य्यमुपदेक्ष्यते। हेमन्तो ग्रीष्मो वर्षाश्चेति शीतोष्णवर्षलक्षणास्त्रयः ऋतवो भवन्ति। तेषामन्तरेष्वितरे साधारणलक्षणास्त्रयः ऋतवः प्रावृट्शरद्वसन्ता इति। प्रावृट् इति प्रथमः प्रवृष्टेः कालस्तस्यानुबन्धो वर्षा। एवमेते संशोधनमधिकृत्य षड्विभज्यन्ते ऋतवः ॥ १४५ ॥

उस संवत्सर कालके छः विभागकर कार्योंको कथन करते हैं। उन छः ऋतुओंमें हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा यह तीन सर्दी, गर्मी आर वर्षा इन तीन तीन लक्षणोंवाली तीन ऋतुयें होती हैं। इनके अन्तरमें प्रावृट्, शरद् और वसन्त यह तीन ऋतुएँ साधारण लक्षणोंवाली होती हैं। प्रावृट् ऋतु-ग्रीष्म और वर्षाऋतुके साधारण लक्षणवाली होती है। शरदऋतु–वर्षा और सर्दीके साधारण लक्षणवाली होती है। वसन्तऋतु–सर्दी और गर्मीके लक्षणवाली होतीहै। संशोधन क्रिया करनेके लिये उन छः ऋतुओंके विधानका कथन किया है ॥ १४५ ॥

तत्र साधारणलक्षणेष्वृतुषु वमनादीनां प्रवृत्तिर्विधीयते निवृत्तिरितरेषु। साधारणलक्षणा हि मन्दशीतोष्णवर्षत्वात्सुखतमाश्च भवन्त्यविकल्पकाश्च शरीरौषधानाम्। इतरे पुनरत्यर्थशीतोष्णवर्षत्वाद्दुःखतमाश्च भवंति विकल्पाश्च शरीरौषधानाम् ॥ १४६ ॥

इन छः ऋतुओंमें साधारण लक्षणोंवाली तीन ऋतुओंमें वमनादि संशोधनक्रिया करनी चाहिये। साधारणसे विपरीत तीन ऋतुओंमें वमनादि नहीं करने चाहिये। साधारण लक्षणोंवाली ऋतुयें–अल्प शीतगुणवाली, अल्प गर्मीवाली और अल्प-

वर्षागुणवाली होनेसे सुखदायी होती हैं। इन प्रावृट् और शरद् तथा वसन्त ऋतुमें औषधियें सब कार्य सिद्ध करनेवाली होती हैं तथा शरीर भी शोधनके योग्य होते हैं। इनसे विपरीत ऋतुओंमें अधिक सर्दी, अधिक गर्मी और अधिक वर्षा होनेसे ये ऋतुयें दुःखदायक होती हैं। उस समय शरीरसंशोधन करनेके योग्य नहीं होते और औषधियें अपना यथोचित कार्य नहीं कर सकतीं ॥ १४६ ॥

शीतमें संशोधननिषेध।

तत्र हेमन्ते ह्यतिमात्रशीतोपहतत्वाच्छरीरमसुखोपपन्नं भवति। अतिशीतवाताध्मातमतिदारुणीभूतमवनद्धदोषम्। भेषजं पुनः संशोधनार्थमुष्णस्वभावमन्ते शीतोपहतत्वान्मन्दवीर्य्यत्वमापद्यते। तस्मात्तयोः संयोगे संशोधनमयोगायोपपद्यते, शरीरञ्च वातोपद्रवाय ॥ १४७ ॥

हेमन्त ऋतुमें–शीतके अत्यन्त पडनेसे शरीरको दुःख प्राप्त होता है। शीतल पवनके लगनेसे शरीर अत्यन्त रूक्ष होजाता है रोम मार्गके संकुचित होजानेसे पसीना नहीं आता और दोष अत्यन्त बन्धा हुआ होता है। उस समय उष्ण स्वभाववाली संशोधन औषधी दी जानेपर शीतसे उपहत होकर मंदवीर्य होजाती है। इसलिये उस समय शरीर और औषधीका संयोग होनेसे संशोधनका अयोग होजाता हैं और शरीरमें वायुके उपद्रव होनेलगजाते हैं ॥ १४७ ॥

ग्रीष्ममें निषेध।

ग्रीष्मे पुनर्भृशोष्णोपहतत्वाच्छरीरमसुखोपपन्नं भवति। उष्णवातातपाध्मातमतिशिथिलमत्यन्तप्रविलीनदोषं भेषजं पुनः संशोधनार्थमुष्णस्वभावमेवात्युष्णानुगमनात्तीक्ष्णतरत्वमापद्यते। तस्मात्तयोः संयोगे संशोधनमतियोगायोपपद्यते शरीरमपि पिपासोपद्रवाय ॥ १४८ ॥

ग्रीष्मऋतुमें–अत्यन्त गर्मीके पडनेसे शरीर दुःखित होजाता है। गर्म वायुके लगनेसे शरीर शिथिल होजाता है। दोष सब विलीन होजाते हैं। उस समय संशोधनकर्त्ता औषधी उष्णवीर्य होनेसे गर्मीकी सहायता पाकर और भी अधिक तीक्ष्ण होजाती है। उस समय दोषोंके अत्यन्त नर्म होनेसे और औषधका तीक्ष्ण स्वभाव होजानेसे तथा शरीरके मृदु होनेसे संशोधनका अतियोग होजाता है। शरीरमें भी पिपासा आदि उपद्रव उत्पन्न होजाते हैं ॥ १४८ ॥

वर्षामें निषेध।

वर्षासु तु मेघजालावतते गूढार्कचन्द्रतारे धाराकुले वियति भूमौ पङ्कजलपटलसंवृतायामत्यर्थोपक्लिन्नशरीरेषु भूतेषु विहतस्वभावेषु च

केवलेष्वौषधग्रामेषु तोयदानुगतमारुतसंसर्गोपहतेषु गुरुप्रवृत्तीनि वमनादीनि भवन्ति। गुरुसमुत्थानानि शरीराणि। तस्माद्वमनादीनां निवृत्तिर्विधीयते वर्षान्तेषु ऋतुषु, न चेदात्ययिकं कर्म ॥ १४९ ॥

वर्षाऋतुमें—आकाश मेघजालसे सदैव आच्छादित रहता है, सूर्य चन्द्रमा, तारागण मेघोंसे ढके रहते हैं। पृथ्वी कीचड और जलसे संवृत होती है, उस समय मनुष्योंके शरीर अत्यन्त आर्द्रतायुक्त होते हैं तथा औषधियोंके स्वभाव विहत होजाते हैं तथा वर्षाके जल और वायुसे उपहत स्वभाव होजाती है उस समय वमनादिक कर्मके करनेसे उनकी अधिक प्रवृत्ति होती है। इसलिये वर्षाऋतुमें किसी अत्यावश्यकताके विना वमन आदि कर्म नहीं करने चाहिये ॥ १४९ ॥

आत्ययिके पुनः कर्म्मणि काममृतुं विकल्प्य कृत्रिमगुणोपधानेन यथर्त्तुगुणविपरीतेन भेषज्यं संयोगसंस्कारप्रमाणविकल्पेनोपपाद्य प्रमाणवीर्य्यसमं कृत्वा ततः प्रयोजयेदुत्तमेन यत्नेनावहितः ॥ १५० ॥

यदि ऐसी ऋतुओंमें शोधन करानेकी किसीप्रकार आवश्यकता पडजाय तो युक्तिपूर्वक उस ऋतुके गुणोंके विपरीत भाव उत्पन्न कर संयोग, संस्कार और प्रमाण विकल्पसे औषध कल्पनाकर सब भावोंको समान बना सावधानीसे औषध प्रयोग करना चाहिये ॥ १५० ॥

कार्यकालनिर्णय।

आतुरावस्थास्वपि तु कार्य्याकार्य्यं प्रति कालाकालसंज्ञा। तद्यथा—अस्यामवस्थायामस्य भेषजस्य कालोऽकालः पुनरस्येति ॥ १५१ ॥

रोगीकी अवस्थामें भी कार्य, अकार्य, काल और अकालकी संज्ञा जाननी चाहिये जैसे इस अवस्थामें इस औषधका समय है अथवा नहीं है ॥ १५१ ॥

एतदपि भवत्यवस्थाविशेषेण, तस्मादातुरावस्थास्वपि हि कालाकालसंज्ञा। तस्य परीक्षा मुहुर्मुहुरातुरस्य सर्वावस्थाविशेषावेक्षणं यथावत् भेषजप्रयोगार्थम्। न ह्यतिपतितकालमप्राप्तकालं वा भेषजमुपयुज्यमानं यौगिकं भवति। कालो हि भैषज्यप्रयोगपर्य्याप्तिमभिनिर्वर्त्तयति ॥ १५२ ॥

इस प्रकार विचारपूर्वक कार्य करना अथवा न करना चाहिये इस प्रकारकी परीक्षा रोगीके अवस्थाविशेषसे होती है। इस लिये रोगीकी अवस्थामें भी समय और असमयकी संज्ञा होती है उसकी परीक्षा बारम्बार रोगीकी सम्पूर्ण अवस्थाविशेषकी

अपेक्षा करती है। जैसे औषधप्रयोगके लिये भी अवस्थाविशेष विचारनेकी आवश्यकता पडती है। जिस समय औषधका काल न हो अर्थात् औषधदेनेका समय व्यतीत होचुका हो और उस औषधीके लिये दूसरा समय कुसमय हो या औषध देनेका समय न आया हो तो औषधका प्रयोग नहीं करना चाहिये। ठीकसमयपर औषधका प्रयोग करनाही उत्तम योग कहाजाता है। काल ही औषधके योगकी परिपूर्णता करता है ॥ १५२ ॥

प्रवृत्ति।

प्रवृत्तिस्तु प्रतिकर्म्मसमारंभः। तस्य लक्षणं भिषगातुरौषधपरिचारकाणां क्रियासमायोगः ॥ १५३ ॥

प्रवृत्ति प्रत्येक कर्मके समारंभको कहते हैं। वैद्य, रोगी, औषध और परिचारक इनकी क्रियाका समायोग होना प्रवृत्तिका लक्षण है ॥ १५३ ॥

उपाय।

उपायः पुनर्भिषगादीनां सौष्ठवमभिसन्धानञ्च सम्यक्। तस्य लक्षणं भिषगादीनां यथोक्तगुणसंपद्देशकालप्रमाणसात्म्यक्रियादिभिश्च सिद्धिकारणैः सम्यगुपपादितस्यौषधस्यावचारणमिति। एवमेते दश परीक्ष्यविशेषाः पृथक् पृथक् परीक्षितव्या भवन्ति। परीक्षायास्तु खलु प्रयोजनं प्रतिपत्तिज्ञानम् ॥ १५४ ॥

वैद्यादिकोंका चिकित्साके उद्देश्यसे अनुकूल रीतिपर उपस्थित होना उपाय कहाजाता है। वैद्य आदिक चिकित्साके चारों पादोंका यथोचित गुणसम्पन्न होकर देश, काल, प्रमाण, सात्म्य और क्रिया सिद्धि आदि कारणोंसे उत्तम रीतिपर औषधका आचरण करना उपायका लक्षण होता है। इन दश प्रकारके लक्षणोंकी परीक्षा करनेका प्रयोजन प्रतिपत्तिज्ञान है ॥ १५४ ॥

प्रतिपत्ति।

प्रतिपत्तिर्नाम स यस्तु विकारः यथा प्रतिपत्तव्यस्तस्य तथानुष्ठानज्ञानम् ॥ १५५ ॥

जो विकार जिस प्रकार जिस स्थानमें प्राप्त हो उसका उसी प्रकार ठीक समझकर यत्न करनेके लिये प्रवृत्त होना प्रतिपत्ति कहाजाता है ॥ १५५ ॥

यत्र तु खलु वमनादीनां प्रवृत्तिर्यत्र च निवृत्तिस्तद्व्यासतः सिद्धिषूत्तरकालमुपदेक्ष्यते। प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणसंयोगे तु खलु गुरुला-

एवं संप्रधार्य्य सम्यगध्यवस्येदन्यतरनिष्ठायाम् । सन्ति हि व्याधयः शास्त्रेषूत्सर्गापवादैरुपक्रमं प्रति निर्दिष्टाः । तस्माद्गुरुलाघवं सम्प्रधार्य्य सम्यगध्यवस्येदित्युक्तम् ॥ १५६ ॥

जिस जिस स्थानमें वमन विरेचनका प्रयोग करना चाहिये और जिस स्थानमें नहीं करना चाहिये उन सबका वर्णन सिद्धिस्थानमें करेंगे । वमन विरेचनादिकोंकी प्रवृत्ति (प्रयोग करना) और निवृत्ति (प्रयोग न करने) के लक्षणके विषयमें गुरु और लाघवको विचारकर जिस जगह जिसकी आवश्यकता हो अर्थात् जिस स्थानमें कराने हों और जिसमें न कराने हों या उनमेंसे केवल वमन ही या केवल विरेचन ही कराना हो और उनके करानेमें लाभ है या हानि है उनको भले प्रकार विचार लेना चाहिये । क्योंकि शास्त्रमें व्याधियोंकी सामान्य चिकित्सा और विशेष चिकित्सा इन दोनों प्रकारका वर्णन कियागया है । इसलिये उनके गुरु और लाघवको विचार कर और भले प्रकार निश्चय करके तब उनमें प्रवृत्त होना चाहिये ॥ १५६ ॥

वमनद्रव्य ।

यानि तु खलु वमनादिषु भेषजद्रव्याण्युपयोगं गच्छन्ति तान्यनुव्याख्यास्यन्ते । तद्यथा—फलजीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गवकुटजकाण्डिकाकृतवेधनफलानि । जीमूतकेक्ष्वाकुकुटजकृतवेधनपत्रपुष्पाणि । आरग्वधवृक्षकमदनस्वादुकण्टकपाठापाटलाशार्ङ्गेष्टामूर्वासप्तपर्णनक्तमालपिचुमर्दपटोलसुषवीगुडूचीसोमवल्कचित्रकद्वीपिशिग्रुमूलकषायैश्च । मधुमधूककोविदारकर्बुदारनीपनिचुलाबिम्बीशणपुष्पीसदापुष्पीप्रत्यक्पुष्पीकषायैश्च । एलाहरेणुप्रियङ्गुपृथ्वीकाकुस्तुम्बुरुतगरनलदह्रीबेरतालीशोशीरकषायैश्च । इक्षुकाण्डेक्षिक्षुबालिकादर्भपोटगलकालङ्कृतकषायैश्च । सुमनःसौमनसायिनीहरिद्रादारुहरिद्रावृश्चीरपुनर्नवामहासहाक्षुद्रसहाकषायैश्च । शाल्मलिशाल्मकभद्रपर्ण्येलापर्ण्युपोदिकोद्दालकधन्वनराजादनोपचित्रागोपीशृङ्गाटिकाकपिकच्छुकषायैश्च । पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेरसर्षपफाणितक्षीरक्षारलवणोदकैश्च । यथोपलाभं यथेष्टं वाप्युपसंस्कृत्य वर्तिक्रियाचूर्णावलेहस्नेहकषायमांसरसयवागूयूषकाम्बलिकक्षीरोपधेयान्मोदकानन्यांश्च योगान्विविधाननुविधाय यथार्हं वमनार्हाय दद्यात्

विधिवद्वमनमिति कल्पसंग्रहो वमनद्रव्याणाम् । कल्पस्त्वेषां विस्तरेणोत्तरकालमुपदेक्ष्यते ॥ १५७ ॥

जो औषध द्रव्य वमन आदिकोंमें उपयोग किये जाते हैं उनका वर्णन करते हैं । जैसे-मैनफल, देवदाली, कडवीघीआ, कडवी तोरी, इन्द्रयव, काण्डिका, कृतवेधनतोरी इनके फल वमनकारक होतेहैं । देवदालीके पत्र, फूल, कडवी घीआके पत्र, फूल, कुडाके पत्र, फूल, कडवी तोरीके पत्र, फूल वमनकारक होते हैं । अमलतास, कुडाकी छाल, मैनफल, स्वादुकण्टक, पाठा, पाढ, घुंघुची (रक्तक), मुर्वा, सप्तपर्ण, करंज, नीम, पटोलपत्र, सुखवी, गिलोय इनके क्वाथ, सोमवलकल, चित्रक, एरंड, सतावर, सहांजनेकी जड, मुलैठी, महुआ, कचनार, सफेद कचनार, कदंब, निचुल, तंदूरी, शणपुष्पी, आक, अपामार्ग इन सबके क्वाथ वमनके उपयोगमें आते हैं । बडी इलायची, रेणुका, प्रियंगु, छोटी इलायची, कुस्तुम्बरी, जटामांसी, नेत्रवाला, तालीसपत्र और खस इनके क्वाथ भी वमनके उपयोगमें आते हैं । ईख, तालमखाना, रामसर, कुशा, कास, कसौंदी इन सबका रस और क्वाथ वमनमें उपयोग किया जाता है । जायफल, जावित्री, हल्दी, दारुहल्दी, दोनों पुनर्नवा, मापपर्णी, मुग्धपर्णी इनका क्वाथ वमनमें उपयोग किये जाते हैं । सेमल, रोहिषतृण, प्रसारणी, रासना, उद्दालक, धान्य, ढामणवृक्ष, खिरनी, मूसाकर्णी, सारिवा, अतीस, कौंच इनका कल्क अथवा क्वाथ वमनमें उपयोग कियाजाता है । पिप्पली, पीपलामूल, चव्य, चित्रक, अदरख, सर्सों, फाणित, दूध, क्षार और लवणयुक्त जल इनमेंसे जिस समय जो मिलसके और जिस प्रकार प्रयोग करनेसे हितकर होसके उस प्रकार इनका उपयोग करे । इनमें कोई वर्त्ति बनाकर उपयोग करनेमें काम आते हैं । कोई चूर्ण, कोई अवलेह, कोई स्नेह, कोई क्वाथ, कोई मांस रसमें, कोई यवागूमें, कोई यूषमें, कांबलिक तथा क्षीरके संयोगसे काममें आते हैं । कोई सूंघनेके पदार्थमें, कोई मोदकमें, कोई अन्य उपयोगी द्रव्यके संयोगसे वमनसंबंधी कार्योंमें प्रयोग की जाती हैं । इनमेंसे जो औषधी जिस समय जिस प्रकार जिस वमन योग्य मनुष्यको देना हो उसको विधिपूर्वक प्रयोग करे । यह वमनोपयोगी द्रव्योंका कल्प संग्रह कियागया है इसको विस्तारपूर्वक कल्पस्थानमें कथन करेंगे ॥ १५७ ॥

विरेचनके द्रव्य ।

विरेचनद्रव्याणि तु श्यामात्रिवृच्चतुरंगुलतिल्वकमहावृक्षसप्तलाशंखिनीदन्तीद्रवन्तीनां क्षीरमूलत्वक्पत्रपुष्पफलानि । यथायोगमेतैश्चैव क्षीरमूलत्वक्पत्रफलपुष्पफलैर्विकृताविकृतैः।अजगन्धाश्वगन्धाजशृङ्गीक्षीरिणीनीलिनीक्लीतककषायैश्च । प्रकीर्य्योदकीर्य्यामसूरविदला-

कम्पिल्लकविडङ्गगवाक्षीकषायैश्च।पीलुप्रियालमृद्वीकाकाश्मर्य्यपरूषकबदरदाडिमामलकहरीतकीविभीतकवृश्चीरपुनर्नवाविदारिगन्धादिकषायैश्च। शीधुसुरासौवीरकतुषोदकमैरेयमेदकमदिरामधुमधूलकधान्याम्लकुवलबदरखर्जूरकर्कन्धुभिश्च । दधि-दधिमण्डोदश्विद्भिश्च । गोमहिष्यजावीनाञ्च क्षीरमूत्रैर्यथोपलाभं यथेष्टं वाप्युपसंस्कृत्य वर्त्तिक्रियाचूर्णावलेहस्नेहकषायमांसरसयूषकाम्बलिकयवागूक्षीरोपधेयान्मोदकानन्यांश्च भक्ष्यविकारान्विविधांश्च योगानभिविधाय यथार्हं विरेचनार्हाय दद्याद्विरेचनमिति कल्पसंग्रहो विरेचनद्रव्याणाम्। कल्पस्त्वेषां विस्तरेणोपदेक्ष्यते उत्तरकालम् ॥ १५८ ॥

अब विरेचनोपयोगी औषधद्रव्योंको कथन करते हैं। जैसे--श्यामा, निशोथ, अमलतास, लोध्र, थोहर, सातला, शंखिनी, दंती, द्रवंती इनके दूध, जड, छाल, पत्र, पुष्प, फल, जैसे जिस स्थानमें उचित हों विरेचनके लिये उपयोग किये जाते हैं। तथा--अजवायन, असगंध, मेढ़ासिंगी, दूधली, नीलनी, मुलहठी इनके क्वाथ विरेचनोपयोगी होते हैं। पूतीकरंज, करंज, मसूर, अनारका छिलका, कमीला, विडंग, इन्द्रायन इनके क्वाथ विरेचनके योग्य होते हैं। पीलू, चिरौंजी, दाख, कंभारी, फालसा, बेर, अनार, आम्ले, हरड, बहेडा, दोनों पुनर्नवा, विदारीगंधा इनके कषाय विरेचनके योग्य होते हैं। सीधू, सुरा, सौवीरक, तुषोदक, मैरेय, मेदक, मदिरा, मधु, मधूलक, धान्याम्ल, पेवंदी बेर, छोटाबेर, खजूर, जंगलीबेर, दही, दधिमण्ड, घोल यह सब विरेचनके उपयोगी होते हैं। गौ, भैंस, बकरी और भेडका दूध तथा मूत्र विरेचनोपयोगी होता है। इनमेंसे जिस समय जो मिल सके और जिस प्रकार जिस स्थानमें जैसे उपयोग करना उचित हो उस प्रकार इनको बत्ती बनाकर अथवा चूर्ण या अवलेह, स्नेह, क्वाथ, मांसरस, यूष, कांबालिक, यवागू, दूध, नस्य, मोदक आदिमें तथा अन्य द्रव्यके उपयोगसे जैसे उपयोग करना उचित हो उस प्रकार योग बनाकर उचित रीतिसे विरेचन योग्य मनुष्यको देवे। यह विरेचनद्रव्योंके कल्पका संग्रह कथन कियागया।और विस्तारपूर्वक इनका वर्णन कल्पस्थानमें करेंगे ॥१५८॥

आस्थापनका वर्णन।

आस्थापनेषु तु भूयिष्ठकल्पानि स्युर्द्रव्याणि नामतो विस्तरेणोपदिश्यमानान्यपरिसंख्येयानि स्युरति बहुत्वात्। इष्टश्चानतिसंक्षेपविस्तरोपदेशस्तन्त्रे इष्टञ्च केवलं ज्ञानं तस्माद्रसत एव तान्यनुव्याख्यास्यन्ते ॥ १५९ ॥

आस्थापन द्रव्योंके अनेक नाम होते हैं। उन संपूर्ण द्रव्य नामको विस्तारसे वर्णन करें तो वह बहुत होनेसे असंख्य होजाते हैं। और शास्त्रमें अत्यन्त विस्तारसे और अतिसंक्षेपसे कथन करना इष्ट नहीं है केवल उन संपूर्ण द्रव्योंका ज्ञान होना इष्ट है। इसलिये उनके ज्ञानको रसके अनुसार वर्णन करते हैं ॥ १९९ ॥

रसानुसार आस्थापन।

रससंसर्गविकल्पविस्तरो ह्येषामपरिसंख्येयः। समवेतानां रसाना-मंशांशबलविकल्पातिबहुत्वात्। तस्माद्द्रव्याणाञ्चैकदेशमुदाहरणार्थं रसेष्वनुविभज्य रसैकैकदेशेन च नामलक्षणार्थञ्च षडास्थापनस्कन्धा रसतोऽनुविभज्य व्याख्यास्यन्ते। यत्तु षड्विधमास्थापनमाचक्षते भिषजस्तद्दुर्लभतरं संसृष्टरसभूयिष्ठत्वाद्द्रव्याणाम्। तस्मान्मधुराणि मधुरप्रायाणि मधुरप्रभावाणि मधुरप्रभावप्रायाण्यपि च मधुर-स्कन्धे मधुराण्येव कृत्वोपदेक्ष्यन्ते। तथेतराणि द्रव्याण्यपि ॥

रसोंके संसर्ग और विकलपसे अलग२वर्णन करें तो रस असंख्य होजाते हैं क्योंकि मिलेहुए रसोंके अंशांश बल और विकल्प बहुत होते हैं। इसलिये एकदेशी उदाहरणके लिये संपूर्ण द्रव्योंको छः रसोंम विभागकर रसके एक एक देशसे नाम और लक्षणोंको वर्णन करनेके लिये रसके छः आस्थापनस्कन्धोंको विभागपूर्वक वर्णन करते हैं। जो छः प्रकारका आस्थापन कथन किया है। वैद्यलोग उनको यथोचित रीतिपर नहीं जान सकते. क्योंकि, बहुतसे द्रव्य ऐसे हैं जिनमें कई एक रसोंका संसर्ग पायाजाता है। इसलिये मधुर और मधुरप्रायः तथा मधुर प्रभाव एवम् मधुर प्रभाव-प्रायः द्रव्य मधुर मान करके मधुर स्कंधमें कथन कियेजाते हैं। उसी प्रकार और द्रव्योंको भी जानना ॥

मधुरस्कन्ध।

तद्यथा–जीवकर्षभकौ जीवन्ती वीरा तामलकी काकोली क्षीरका-कोली मुद्गपर्णी माषपर्णी शालपर्णी पृश्निपर्ण्यसनपर्णी मेदा महा-मेदा कर्कटशृङ्गी शृङ्गाटिका छिन्नरुहा छत्रातिच्छत्रा श्रावणी महाश्रावणी अलम्बुषा सहदेवा विश्वदेवा शुक्ला क्षीरशुक्ला बलातिबला विदारी क्षीरविदारी क्षुद्रसहा महासहा ऋष्यगन्धाऽश्वगन्धा पयस्या वृश्चीरं पुनर्नवा बृहती कण्टकारिकैरण्डः मोरटः श्वदंष्ट्रा संहर्षा शतावरी शतपुष्पा मधूकपुष्पी यष्टिमधु मधूलिका मृद्वीका खर्जूरं

परूषकमात्मगुप्ता पुष्करबीजं कशेरुका राजकशेरुका कालङ्कतकं काश्मर्य्यं शीतपाक्योदनपाकी तालखर्जूरमस्तकमिक्षुरिक्षुवालिका दर्भः कुशः काशः शालिः गुन्द्रोत्कटकः शरमूलं राजक्षवकः ऋष्यप्रोक्ता द्वारदा भारद्वाजी वनत्रपुष्यभीरुपत्री हंसपदी काकनासा कुलिङ्गाक्षी क्षीरवल्ली कपोतवल्ली गोपवल्ली मधुवल्ली सोमवल्लीति। एषामेवंविधानामन्येषाञ्च मधुरवर्गपरिसंख्यातानामौषधद्रव्याणां छेद्यानि खण्डशश्छेदयित्वा भेद्यानि चाणुशो भेदयित्वा प्रक्षाल्य पानीयेन सुप्रक्षालितायां स्थाल्यां समवाप्य पयसा अर्द्धोदकेनाभ्यासिच्य साधयेद्दर्व्या सततमुपघट्टयन्। तदुपयुक्तभूयिष्ठेऽम्भसि गतरसेष्वौषधेषु पयसि चानुपदग्धे स्थालीमुपहृत्य परिस्रुतं पूतं पयः सुखोष्णं घृततैलवसामज्जालवणफाणितोपाहितं बस्तिं वातविकारिणे विधिज्ञो विधिवद्दद्यात्। शीतन्तु मधुसर्पिर्भ्यामुपसंसृज्य पित्तविकारिणे दद्यात्। इति मधुरस्कन्धः॥ १६०॥

अब मधुर स्कन्धका वर्णन करते हैं। जैसे जीवक, ऋषभक, जीवन्ती, शतावर, भूईआमला, काकोली, क्षीरकाकोली, माषपर्णी, मुद्गपर्णी, शालिपर्णी, पृष्णिपर्णी, सणपर्णी, मेदा, महामेदा, काकडासिंगी, सिंघाडा, गिलोय, धनिया, बडीधनियां, मुण्डी, महामुण्डी, सहदेवी, विश्वदेवा, मिश्री, खरहटी, अतिबला, विदारीकंद, वाराहीकंद, क्षुद्रसहा, महासहा, विधायरा, दोनों प्रकारकी पुनर्नवा, अश्वगंधा, दोनों कटेली, लाल और सफेद एरंड, गोखरू, वंदा, शतावरी, सौंफ, सोय, मुलहठी, गेहूं, किसमिस, छोहारा, फालसा, कौंचके बीज, कमलगट्टे, कसेरू, राजकसेरू, कालंकत, काश्मरीफल, शीतपाकी, नीले रंगकी कटसरैया, तालखजूर, खजूर, ईख, इक्षुवालिका, दर्भ, कुशा, कांस, शालिचावल, गुंद्रपटेर, सर्पता, सरमूल, सरसों, गंगेरन, पालक, वनकपास, खीरा, महाशतावरी, हंसपदी, काकजंघा, कुलिंगा, क्षीरविदारी, कपोतवल्ली, सारिवा, मधुवल्ली, सोमलता और भी अन्यान्य मधुवर्गमें कहेहुए द्रव्योंको लेकर पहिले शुद्ध जलसे धो डाले फिर टुकडे करके बारीक कूट दूधमें मिलाकर किसी पात्रमें डाल अग्निपर पकावे तथा मंदमंद आंचसे पकाताजावे। जब देखे कि औषधियोंका रस दूधमें आगया है तो उस दूधको उतारकर सुखोष्ण होनेपर उस दूधमें घी, तेल, चर्बी, मज्जा, लवण, फाणित इनमेंसे सब अथवा जो उचित हो वह मिलाकर बस्तिकर्मको जाननेवाला वैद्य वात विकारवाले मनुष्यको बस्तिकर्म करे।

यदि पित्तविकारवालेको वस्तिकर्म करना हो तो शीतल होनेपर शहद और घृत मिलाकर वस्तिकर्म करे । वस्तिकर्मके लिये उपरोक्त संपूर्ण द्रव्योंको एकही समय एकत्रित करनेकी आवश्यकता नहीं उनमेंसे जिस समय जिसको वैद्य जिस प्रकार उपयोग करना चाहे वैसे उचित रीतिपर करे । इति मधुरस्कन्धः ॥ १६० ॥

अम्लस्कन्ध ।

आम्राम्रातकलकुचकरमर्दवृक्षाम्लाम्लवेतसकुवलबदरदाडिममातुलुङ्गकण्डीरामलकनन्दीतकलालतिकाशीतदन्तशठैरावतककोषाम्रधन्वनानां फलानि । पत्राणि चाश्मन्तकचाङ्गेरीणां चतुर्विधानां चाम्लिकानां द्वयोः कोलयोर्द्वयोश्चामशुष्कयोर्द्वयोश्च शुष्काम्लिकयोर्ग्राम्यारण्ययोश्च । आसवद्रव्याणि च सुरासौवीरतुषोदकमैरेयमेदकमदिरामधुशीधुशुक्तिदधिदधिमण्डोदश्विद्धान्याम्लादीन्येषामेवंविधानाञ्चान्येषाञ्चाम्लवर्गपरिसंख्यातानामौषधद्रव्याणां छेद्यानि खण्डशश्छेदयित्वा भेद्यानि चाणुशो भेदयित्वा द्रवैः स्थितान्यवसिच्य साधयित्वोपसंस्कृत्य यथावत्तैलवसामधुमज्जालवणफाणितोपहितं सुखोष्णं वस्तिं वातविकारिणे विधिवद्दद्यात् । इत्यम्लस्कन्धः ॥ १६१ ॥

अब अम्लस्कंधका कथन करते हैं जैसे—आम, आंबाडा, बडहर, करौंदा, अम्लवेत, अम्लवेद, दोनों प्रकारके बेर, अनार, बिजौरा, कण्डीर, आमले, नन्दीतक, इमली, शीतक, जंभीरी नींबू, संतरा, कोशाम, धन्वन इनके फल और पत्र तथा असमंतक, चांगेरी, चार प्रकारके अमली, दो प्रकारके जामुन, तथा सूखीहुई अमली एवम् ग्रामके और जंगलके सब आसव द्रव्य, सुरा, सौवीर, तुषोदक, मैरेय, मेदक, मदिरा, मधु, सीधू, सुक्तीमधू, दही, दहीका मंड, दहीका तोड, कांजी अथवा अन्य अम्लवर्गमें कहेहुए द्रव्योंके टुकडेकर कूटकर, साफ जलसे धो, किसी उचित पतले पदार्थमें सिद्ध कर छान लेवे । फिर उसमें तेल, वसा, शहद, मज्जा और फाणित मिलाकर वातवाले मनुष्यके विधिपूर्वक आस्थापन वस्ति करे । इति अम्लस्कन्धः ॥ १६१ ॥

लवण स्कन्ध ।

सैन्धवसौवर्चलकालविडपाक्यानूपकूप्यबालकैलमूलकसामुद्ररोमकोद्भिदौषरपाटेयकपांशजानीति । एवं प्रकाराणि चान्यानि लवणवर्गपरिसंख्यातानि । एतानि अम्लोपहितानि उष्णोदकोपहितानि वा

स्नेहवन्ति सुखोष्णं बस्तिं वातविकारिणे विधिज्ञो विधिवद्दद्यात् । इति लवणस्कन्धः ॥ १६२ ॥

अब लवणस्कन्धको कहते हैं । जैसे–सैंधानमक, संचरनमक, कालानमक, विडनमक, तथा पाक्य, आनूप, कूप्य. बालक, एलमूलक, सामुद्र, रोमक, उद्भिद, औषर, पाटेयक, पांसुज यह सब प्रकारके लवण तथा अन्य लवण वर्गोक्त द्रव्य, कांजी अथवा गर्मजलमें मिलाकर घृत, तैलादि चिकनाईके संयोगसे सुखोष्ण बस्तिकी विधिको जाननेवाला वैद्य विधिपूर्वक वातविकारी मनुष्यको देनी चाहिये ॥ इति लवणस्कन्धः ॥ १६२ ॥

कटुकस्कन्ध ।

पिप्पलीपिप्पलीमूलहस्तिपिप्पलीचव्यचित्रकशृङ्गवेरमरिचाजमोदार्द्रकविडङ्गकुस्तुम्बुरुपीलुतेजोवत्येलाकुष्ठभल्लातकास्थिहिंगुकिलिममूलकसर्षपलशुनकरञ्जशिग्रुकमधुशिग्रुकखरपुष्पाभूस्तृणसुमखसुरसकुठेरककाण्डीरकालमालकपर्णासक्षवकफणिज्झकक्षारमूत्रपित्तानामेषामेवंविधानाञ्चान्येषां कटुकवर्गपरिसंख्यातानामौषधद्रव्याणां छेद्यानि खण्डशश्छेदयित्वा भेद्यानि चाणुशो भेदयित्वा गोमूत्रेण सह साधयित्वोपसंस्कृत्य यथावन्मधुतैललवणोपहितं सुखोष्णं बस्तिं श्लेष्मविकारिणे विधिज्ञो विधिवद्दद्यात् । इति कटुकस्कन्धः ॥ १६३ ॥

अब कटुस्कन्धको कहते हैं–पीपल, पिपलामूल, गजपीपल, चव्य, चिता, सोंठ, मिर्च, अजमोद, वायविडंग, नैपालीधनियां, अखरोट, तेजबल, इलायची, कूठ, भेलावेकी गुठली, हींग, देवदार, मूली, सरसों, लहसुन, करंज, सोहांजना, मीठा सोहांजना, वनतुलसी, गन्धतृण, सुमुखतुलसी, सुरस, कुठेरक, काण्डीर, कालमालक, पर्णास, क्षवक यह सब तुलसीकी जातियें और मरुआ, क्षार, मूत्र, पित्त एवम् अन्य कटुवर्गमें कहे द्रव्य लेकर छोटे २ टुकडेकर शुद्धजलसे धो बारीक करलेवे । फिर गोमूत्रमें पकाकर शुद्धवस्त्रद्वारा छान लेवे । सुखोष्ण रहनेपर मधु, तेल और लवण मिलाकर कफविकारी मनुष्यके आस्थापन बस्ति करे। इति कटु (चरपरा) स्कन्धः॥

तिक्तस्कन्ध ।

चन्दननलदकृतमालनक्तमालनिम्बतुम्बुरुकुटजहरिद्रादारुहरिद्रामुस्तमूर्वाकिराततिक्तककटुरोहिणीत्रायमाणाकरवीरकेबुककठिल्लकवृषमण्डूकपर्णीकर्कोटकवार्त्ताकुकर्कशकाकमाचीकारवेल्लकाकोदुम्बरिकासुष-

व्यतिविषापटोलकुणकपाठागुडूचीवेत्राग्रवेतसाविकंकतबकुलसोमवल्क-
सप्तपर्णसुमनोऽर्कावल्गुजवचातगरागुरुबालकोशीराणाम् ॥ एषामेवं-
विधानाञ्चान्येषां तिक्तवर्गपरिसंख्यातानामौषधद्रव्याणां छेद्यानि
खण्डशश्छेदयित्वा भेद्यानि चाणुशो भेदयित्वा प्रक्षाल्य पानीयेना-
भ्यासिच्य साधयित्वोपसंस्कृत्य यथावन्मधुतैललवणोपहितं सुखोष्णं
बस्तिं श्लेष्मविकारिणे विधिज्ञो विधिवद्दद्यात् । शीतन्तु मधुस-
र्पिर्भ्यामुपसंस्कृत्य पित्तविकारिणे दद्यात् । इति तिक्तस्कन्धः ॥ १६४ ॥

अब तिक्तस्कंधको कहते हैं --चन्दन, खस, अमलतास, करंजुवा, नीम, नैपाली-धनियां, कुडा, हल्दी, दारुहल्दी, नागरमोथे, मूर्वा, चिरायता, कुटकी, त्रायमाण, कनेर, केवुक, करैला, अडूसा, मण्डूकपर्णी, ककोडा, बैंगन, कमीला, मकोह, छोटा करैला, कठूमर, कालाजीरा, अतीस, पटोलपत्र, परवल, पाठ, गिलोय, वेतकी कोपल, वेतस मजनू, विकंकत, मौलसरी, सफेदकत्था, सतवन, धतूरा, आक, बावची, वच, तगर, अगर, नेत्रवाला और खस तथा तिक्तवर्गमें कहेहुए सब द्रव्योंको जलमें धोकर तथा कूटछानकर जलमें पकावे । फिर छानकर जब सुखोष्ण रहे तो सेंधा-नमक और शहद मिलाकर कफरोगीको आस्थापनबस्ति करना चाहिये । यदि पित्त-रोगीको आस्थापनबस्ति करना हो तो शीतल होनेपर शहद और घृत मिला आस्था-पनबस्ति करे ॥ इति तिक्तस्कंधः ॥ १६४ ॥

कषायस्कन्ध ।

प्रियङ्ग्वनन्ताम्रास्थ्यम्बष्ठकीकट्वङ्गलोध्रमोचरससमङ्गाधातकीपुष्प-
पद्मापद्मकेशरजम्ब्वाम्रप्लक्षवटकपीतनोदुम्बराश्वत्थभल्लातकाश्मन्त-
काशिरीषाशिंशपासोमवल्कतिन्दुकपियालबदरखदिरसप्तपर्णाश्वकर्ण-
स्यन्दनार्जुनासनारिमेदैलवालुकपरिपेलवकदम्बशल्लकीजिङ्गिनीकाश-
कशेरुकाराजकशेरुकाकट्फलवंशपद्मकाशोकशालधवसर्जभूर्जशणपु-
ष्पीशमीमाचीकवरकतुङ्गाजकर्णाश्वकर्णस्फुर्जकविभीतककुम्भीकपु-
ष्करबीजबिसमृणालतालखर्जूरतरुणीनामेषामेवंविधानाञ्चान्येषां क-
षायवर्गपरिसंख्यातानामौषधद्रव्याणां छेद्यानि खण्डशश्छेदयित्वा
भेद्यानि चाणुशो भेदयित्वा प्रक्षाल्य पानीयेन सह साधयित्वोपसं-
स्कृत्य यथावन्मधुतैललवणोपहितं सुखोष्णं बस्तिं श्लेष्मविकारिणे

दद्यादिति । शीतन्तु मधुसर्पिर्भ्यामुपसंस्कृत्य पित्तविकारिणे दद्यात्। इति कषायस्कन्धः ॥ १६५ ॥

अब कषायस्कन्धको कथन करते हैं-प्रियंगु, शारिवा, आमकी गुठली, पाटला, टाटमढंगा, लोध्र, मोचरस, मंजीठ, धावेके फूल, कमलकी केशर, भारंगी, जामुन, आमकी छाल, पाखर, कपीतन, गूलर, पीपल, भेलावेकी वृक्षकी छाल, अश्मंतक, सिरस, सीसम, सफेदकत्था, तेंदु, चिरौंजी और बेर इन सब वृक्षोंकी छाल इसी प्रकार खदिर, सतवन, तिनस, स्यंदन, अर्जुन, विजयसार, अरिमेद, एलवालु, केवटीमोथा, कदम्ब, शल्लकी, जींगन, कांस, कसेरू, राजकसेरू, कायफल, वांस, पद्माख, अशोक, शाल, धावी, भोजपत्र, खरपुष्प, जण्डीवृक्ष, माचिका, उन्नाव, अजकर्ण, अश्वकर्ण, स्फूरजत, बहेडा, कुम्भीक, कमलगट्टे, बिस (कमलकी जड), मृणाल, तालखजूर, ढिकवार इन सबको अथवा अन्य कषायवर्गमें कहेहुए औषध द्रव्योंको कूट छानकर पानीसे धोकर पानीमें थोडासा पकाकर और वस्त्रसे छानकर इसमें शहद, तेल और नमक मिलाकर कफरोगीको विधिज्ञ विधिवत् बस्ति करे। और ठण्डा करके शहद और घृत मिला पित्तज रोगीको आस्थापन बस्ति देवे। इति कषायस्कन्धः ॥ १६५ ॥

तत्र श्लोकाः-षड्वर्गाः परिसंख्याता य एते रसभेदतः ।
आस्थापनमभिप्रेत्य तान् विद्यात्सार्वयौगिकान् ॥ १६६ ॥
सर्वतो हि प्रणिहिताः सर्वरोगेषु जानता ।
सर्वान् रोगान्नियच्छन्ति येभ्य आस्थापनं हितम् ॥ १६७ ॥

रस भेदसे जो उपरोक्त छः वर्गोंका कथन किया है यह आस्थापनबस्ति कर्ममें सब प्रकार हितकारी होते हैं। यदि आस्थापनबस्तिके क्रमको जाननेवाला वैद्य जिनके लिये आस्थापनबस्ति हितकारी हो इन सार्वयौगिक द्रव्योंद्वारा बस्तिकर्म करनेसे रोगियोंके सम्पूर्ण रोगोंको नाश करदेता है ॥ १६६ ॥ १६७ ॥

येषां येषां प्रशान्त्यर्थं ये ये न परिकीर्त्तिताः ।
द्रव्यवर्गा विकाराणां तेषां ते परिकोपकाः ॥ १६८ ॥

परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि जो द्रव्य जिस २ विकारको शान्त नहीं करता उसके द्वारा आस्थापन करना विकारोंको उलटा कुपित करना है । जैसे वातप्रधान मनुष्यको रूक्ष पदार्थों द्वारा बस्तिकर्म करना हानिकारक होता है। और कफप्रधान मनुष्यको रूक्ष पदार्थों द्वारा बस्तिकर्म हितकर होता है ॥ १६८ ॥

इत्येते षडास्थापनस्कन्धा रसतोऽनुविभज्य व्याख्याताः। तेभ्यो भिषग्बुद्धिमान्परिसंख्यातमपि यद्द्रव्यमयौगिकं मन्येत तदपकर्षयेत् ।

यच्चान्यदनुक्तमपि यौगिकं वा मन्येत तद्वात्। वर्गमपि वर्गेण उपसंसृजेदेकमेकेन अनेकेन वा युक्तिं प्रमाणीकृत्य। प्रचरणमिव भिक्षुकस्य बीजमिव कर्षकस्य सूत्रं बुद्धिमतामल्पमपि अनल्पज्ञानाय भवति ॥ १६९ ॥

इस प्रकार रसभेदसे छः प्रकारके आस्थापनके स्कंधोंको कथन किया है। इन ऊपर कहेहुए छः प्रकारके स्कंधोंमें जो द्रव्य कथन किये भी हों परन्तु आस्थापनयोगमें हानिकारक समझें उनको बुद्धिमान् वैद्य निकालडाले और जो कथन नहीं भी कियेगये उनको यदि उचित समझे तो प्रयोग करे। बुद्धिपूर्वक विचार एक वर्गके द्रव्योंको यदि उचित समझे तो उनमेंसे एक अथवा अनेक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें भी मिला सकता है। जैसे भिक्षा मांगनेवालेको एक मुष्टि चावलोंकी और बगीचेके मालीको एक बीज भी उसके काममें बडा भारी लाभदायक होता है उसी प्रकार युक्ति और प्रमाणके आश्रित बुद्धिमान् वैद्यको वैद्यकका एक छोटासा सूत्र भी बडे ज्ञानको करनेवाला होता है ॥ १६९ ॥

तस्माद् बुद्धिमतामूहापोहवितर्का मन्दबुद्धेस्तु यथोक्तानुगमनमेव श्रेयः ॥ १७० ॥

इसलिये बुद्धिमान् वैद्यको विचारपूर्वक द्रव्य ग्रहण करना चाहिये। और मूर्ख वैद्य जितनी बातें सीखी हुई हैं उसके सिवाय अन्य किसी पदार्थसे कुछ लाभ नहीं उठा सकता ॥ १७० ॥

यथोक्तं हि मार्गमनुगच्छन्भिषक् संसाधयति वा कार्य्यमनतिमहत्त्वादनतिह्रस्वत्वादुदाहरणस्येति ॥ १७१ ॥

जिस प्रकार यहांपर कथन किया है यह न बहुत विस्तारसे है और न अधिक संक्षेपसे कथन किया गया है। इसको उदाहरणमात्र जानकर बुद्धिमान् वैद्य कार्यको सिद्ध करसकता है ॥ १७१ ॥

अनुवासन द्रव्य।

अतः परमनुवासनद्रव्याणि अनुव्याख्यास्यन्ते। अनुवासनन्तु स्नेह एव। स्नेहस्तु द्विविधः। स्थावरो जङ्गमात्मकश्च। तत्र स्थावरात्मकः स्नेहः तैलमतैलञ्च। तत्र तैलमेव कृत्वोपदिश्यते सर्वतस्तैलप्राधान्यात्। जङ्गमात्मकस्तु वसामज्जासर्पिरिति ॥ १७२ ॥

अब अनुवासन द्रव्योंका वर्णन करते हैं। अनुवासन स्नेह द्रव्य ही होता है। वह स्नेह दो प्रकारका है। १ स्थावर। २ जंगम। स्थावर स्नेहोंसे तिलोंका तेल अन्य सरसों आदि स्थावर द्रव्योंके तेल ग्रहण किये जाते हैं। सम्पूर्ण स्थावर स्नेहोंमें तिलोंका तेल प्रधान होनेसे सबको तैल ही कहाजाता है। वसा, मज्जा और घृतको जंगमस्नेह कहते हैं ॥ १७२ ॥

तेषां तैलवसामज्जासर्पिषां तु यथापूर्वं श्रेष्ठम्। वातश्लेष्मविकारेषु अनुवासनीयेषु यथोत्तरं पित्तविकारेषु सर्व एव वा सर्वेषु योगमायान्ति संस्कारविधिविशेषादिति ॥ १७३ ॥

वात और कफके विकारोंमें अनुवासन करनेके लिये—तैल, वसा, मज्जा और घृत इन चतुर्विध स्नेहोंमें क्रमपूर्वक परकी अपेक्षा पूर्ववाला श्रेष्ठ माना जाता है। जैसे वात और कफके विकारोंमें घृतकी अपेक्षा मज्जा, मज्जाकी अपेक्षा वसा और वसाकी अपेक्षा तैल श्रेष्ठ होता है एवम् पित्तके विकारोंमें--तैलसे वसा, वसासे मज्जा, मज्जासे घृत अनुवासन कर्म करनेके लिये श्रेष्ठ माना जाता है। अथवा संस्कार विधि विशेषसे सब दोषोंके विकारोंमें सब प्रकार स्नेह हितकारक होते हैं। जैसे—वातनाशक द्रव्योंद्वारा सिद्ध किये वातविकारमें तथा पित्तनाशक द्रव्योंद्वारा सिद्ध किये पित्तविकारोंमें एवम् कफनाशक द्रव्योंद्वारा सिद्ध किये कफविकारमें सब प्रकारसे हितकर होते हैं॥ १७३॥

शिरोविरेचनद्रव्य।

शिरोविरेचनद्रव्याणि पुनः अपामार्गपिप्पलीमरिचविडङ्गशिग्रुशिरीषकुस्तुम्बुरुबिल्वाजाज्यजमोदावार्ताकीपृथ्वीकैलाहरेणुफलानि च। सुमुखसुरसकुठेरकगण्डीरककालमालकपर्णासक्षवकफणिज्झकहरिद्राशृङ्गवेरमूलकलशुनतर्कारीसर्षपपत्राणि च। अर्कालर्ककुष्ठनागदन्तीवचाभार्ङ्गीश्वेताज्योतिष्मतीगवाक्षीगण्डीरावाक्पुष्पीवृश्चिकालीवयस्थातिविषामूलानि च। हरिद्राशृङ्गवेरमूलकलशुनकन्दाश्च लोध्रमदनसप्तपर्णनिम्बार्कपुष्पाणि च। देवदार्वगुरुसरलशल्लकीजिङ्गिन्यसनहिङ्गुनिर्य्यासाश्च तेजोवराङ्गेङ्गुदीशोभाञ्जनबृहतीकण्टकारिकात्वगिति। शिरोविरेचनं सप्तविधं फलपत्रमूलकन्दपुष्पनिर्य्यासत्वगाश्रयभेदात् ॥ १७४ ॥

अब शिरोविरेचन द्रव्योंको कथन करते हैं। जैसे—अपामार्ग, पीपल, मिर्च, वायविडंग, सोहांजना, सिरस, धनियां, बिल्वफल, कालाजीरा, अजमोद, बडी कटेरीके

फल, काश्मीरी जीरा, इलायची, रेणुका बीज और सुमुख, कुठरक, सुरस, गण्डीर, कालमालक, पर्णाश तथा क्षवक यह तुलसीकी जातियें, मरुआ, हल्दी, अदरख, मूली, लहसुन, अर्णी, सरसों इनके पत्र तथा आक, कूठ, नागदंती, वच, भारंगी, अपराजिता, मालकांगुनी, इन्द्रायण, गण्डीर, अवाक्पुष्पी, वृश्चिका, वयस्था, अतीस, इन सबके मूल और हल्दी, अदरख, मूली इनके कंद। लोध, मैनफल, सतवन, नीम और आक इनके फूल एवम् देवदारु, अगर, सरल, शल्लकी, जींगन पीतमाला और हींग इनका गोंद लेना चाहिये। इसी प्रकार चव्य, दालचीनी, गोंदनी, सोहांजना, दोनों कटेरी इनकी छाल लेना चाहिये। इस प्रकार फल, पत्र, मूल, कंद, फूल, गोंद और त्वचाके भेदसे शिरोविरेचन (नस्य) सात प्रकारके होते हैं ॥ १७४ ॥

लवणकटुतिक्तकषायाणि च इन्द्रियोपशयानि तथापराण्यनुक्तान्यपि द्रव्याणि यथायोगविहितानि शिरोविरेचनार्थमुपदिश्यन्ते इति ॥ १७५ ॥

लवण, कटु, तिक्त तथा कषायरसवाले द्रव्य और जो इन्द्रियोंको उपशय अर्थात् हितकारक हों उन द्रव्योंके प्रयोगको शिरोविरेचनके अर्थ कथन किया है ॥ १७५ ॥

अध्यायका संक्षिप्तवर्णन।

लक्षणाचार्य्यशिष्याणां परीक्षाकारणं च यत् ।
अध्येयाध्यापनविधिः सम्भाषाविधिरेव च ॥ १७६ ॥
षड्भिर्न्यूनानि पञ्चाशद्वादशाथ पदानि च ।
पदानि दश चान्यानि कारणादीनि तत्त्वतः ॥ १७७ ॥
सम्प्रश्नश्च परीक्षादेर्नवको वमनादिषु ।
भिषग्जितीये रोगाणां विमाने सम्प्रदर्शितः ॥ १७८ ॥

यहांपर अध्यायके उपसंहारमें श्लोक हैं गुरु और शिष्योंके लक्षण, परीक्षा, कारण, पढने और पढानेकी विधि, संभाषण विधि छिआलीस और बारह अर्थपद, इनके सिवाय तत्त्वसे दश प्रकारके अन्य कारणादि कथन और दश प्रकारके परीक्ष्य विषयोंमें प्रश्न, वमनादि विषयमें नौ प्रकारकी परीक्षाको रोगभिषग्जितीय अध्यायमें कथन किया गया है ॥ १७६–१७८ ॥

बहुविधमिदमुक्तमर्थजातं बहुविधवाक्यविचित्रमर्थकान्तम् ।
बहुविधशुभशब्दसन्धियुक्तं बहुविधवादनिषूदनं परेषाम् ॥ १७९ ॥

अनेक प्रकारके अर्थोंका समूह और अनेक अर्थोंवाले विचित्र वाक्य तथा अर्थ-

जात, सुन्दर शब्द, संधियुक्त अर्थ, अनेक प्रकारके वाद और प्रतिपक्षीके पक्षका खण्डनका वर्णन कियागया है ॥ १७९ ॥

इमां मतिं बहुविधहेतुसंश्रयां विजज्ञिवान्परमतवादसूदनीम् ।
निलीयते परवचनावमर्दने न शक्यते परवचनैश्च मर्दितुम् ॥ १८० ॥

जो वैद्य इन बहु प्रकारके हेतुओंसे युक्त तथा प्रतिपक्षीके मत और वादके खण्डन करनेवाली इस मतिको जान लेता है। वह प्रतिपक्षीके संपूर्ण वचनोंको मर्दन करनेको समर्थ होता है और प्रतिपक्षीके वचनोंसे अपने पक्षको कभी खण्डन होने नहीं देता ॥ १८० ॥

दोषादीनां तु भावानां सर्वेषामेव हेतुना ।
मानात्समस्तमानानि निरुक्तानि विभागशः ॥ १८१ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते विमानस्थानं समाप्तम् ॥

इस प्रकार इस विमानस्थानमें वात, पित्त कफ आदिक दोषोंका और संपूर्ण भावोंका हेतु विशेषसे तथा परिमाण विशेषसे विभागपूर्वक संपूर्ण मान (परिमाणका) कथन कियागया है ॥ १८१ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां विमानस्थाने पटियालाराज्यान्तर्गतटकसालनिवासिवैद्यपञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्यभाषाटीकायां रोगभिषग्जितीयविमानं नामाष्टमोऽध्यायः॥८॥

संहित चरक विमान, जानहि विधिवत जे भिषक ।
सदसि पावहीं मान, विजय होहि वैद्यनविषे ॥

इति विमानस्थानं समाप्तम् ॥

श्रीः ॥ 641

शारीरस्थानम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

अथातः कतिधापुरुषीयं शारीरं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम कतिधापुरुषीय शारीरकी व्याख्या करते हैं इस प्रकार भगवान् आत्रेयजी कथन करने लगे ॥

अग्निवेशके पुरुषविषयक प्रश्न।

कतिधा पुरुषो धीमन् धातुभेदेन भिद्यते ।
पुरुषः कारणं कस्मात्प्रभवः पुरुषस्य कः ॥ १ ॥
किमज्ञो ज्ञः स नित्यः किं किमनित्यो निदर्शितः ।
प्रकृतिः का विकाराः के किं लिङ्गं पुरुषस्य च ॥ २ ॥

अग्निवेश बोले कि हे धीमन्! धातुभेदसे पुरुष कितने प्रकारका होता है । पुरुषको कारण किसलिये कहाजाता हैं। पुरुषके कारण कौन हैं। पुरुष अज्ञ है अथवा ज्ञाता है। नित्य है अथवा अनित्य है। प्रकृति क्या है। विकार क्या है । पुरुषके क्या लक्षण हैं ॥ १ ॥ २ ॥

निष्क्रियश्च स्वतन्त्रश्च वशिनं सर्वगं विभुम् ।
वदन्त्यात्मानमात्मज्ञाः क्षेत्रज्ञं साक्षिणं तथा ॥ ३ ॥
निष्क्रियस्य क्रिया तस्य भगवन् ! विद्यते कथम् ।
स्वतन्त्रश्चेदनिष्टासु कथं योनिषु जायते ॥ ४ ॥
वशी यद्यसुखैः कस्माद्भावैराक्रम्यते बलात् ।
सर्वाः सर्वगतत्वाच्च वेदनाः किं न वेत्ति सः ॥ ५ ॥

आत्माके जाननेवाले पुरुष आत्माको क्रिया रहित, स्वतन्त्र, वशी, सर्वग, विभु, क्षेत्रज्ञ और साक्षी कहते हैं सो हे भगवन् ! क्रिया रहित पुरुषमें क्रिया किस प्रकार

है। यदि स्वतंत्र है तो विना इच्छासे अनिष्ट योनियोंको किसप्रकार धारण करता है। वशी पुरुष दुःखदायक भावोंमें क्यों फँसजाता है। सर्वज्ञ होनेसे सम्पूर्ण विकारोंको क्यों नहीं जानसकता ॥ ३-५ ॥

न पश्यति विभुः कस्माच्छैलकुड्यतिरस्कृतम् ।
क्षेत्रज्ञ क्षेत्रमथवा किं पूर्वमिति संशयः ॥ ६ ॥

ज्ञेयं क्षेत्रं विना पूर्वं क्षेत्रज्ञो हि न युज्यते ।
क्षेत्रञ्च यदि पूर्वं स्यात्क्षेत्रज्ञः स्यादशाश्वतः ॥ ७ ॥

यदि वह विभु है तो पर्वत और दीवार आदि उसकी दृष्टिको रोककर पदार्थको क्यों नहीं देखने देते। यदि वह क्षेत्रज्ञ है तो प्रथम क्षेत्र था, या यह पुरुष था। क्योंकि इस स्थानमें ज्ञेय विषय क्षेत्र है। सो ज्ञेय क्षेत्र-क्षेत्रज्ञसे पीछे उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि क्षेत्र प्रथम था तो क्षेत्रज्ञ नित्य नहीं हो सकता ॥ ६ ॥ ७ ॥

साक्षिभूतश्च कस्यायं कर्त्ता ह्यन्यो न विद्यते ।
स्यात्कथञ्चाविकारस्य विशेषो वेदनाकृतः ॥ ८ ॥

जब अन्य कोई कर्त्ता नहीं है तो यह साक्षी किसका है। और यदि निर्विकार है तो इस निर्विकार पुरुषको अनेक प्रकारकी पीडा कैसे होती है ॥ ८ ॥

अथ चार्त्तस्य भगवंस्तिसृणां कां चिकित्सति ।
अतीतां वेदनां वैद्यो वर्त्तमानां भविष्यतीम् ॥ ९ ॥
भविष्यन्त्या असंप्राप्तिरतीताया अनागमः।
साम्प्रतिक्या अपि स्थानं नास्त्यर्त्तेः संशयो ह्यतः ॥ १० ॥

हे भगवन् ! व्याधियोंके लक्षण क्षणक्षणमें पलटते रहते हैं और रोग तीन विभागोंमें (भूत, भविष्य, वर्तमान कालमें) विभक्त हैं। ऐसे स्थानमें रोगीकी किसी अवस्थाका निश्चय कर चिकित्सा करनी चाहिये। क्योंकि भविष्यत् व्याधि तो उस समय है ही नहीं और भूतव्याधि व्यतीत हो चुकी है वह फिर आ नहीं सकती और जो वर्तमान व्याधिहै वह क्षणक्षणमें बदलती जाती है। इसलिये इन तीनों प्रकारकी व्याधियोंमें किसको स्थिरकर चिकित्सा करनी चाहिये। यह संशय उत्पन्न होताहै ॥९॥१०॥

कारणं वेदनानां किं किमधिष्ठानमुच्यते ।
क्व चैता वेदनाः सर्वा निवृत्तिं यान्त्यशेषतः ॥ ११ ॥

हे प्रभो ! व्याधियोंका कारण क्या है। और अधिष्ठान किसको कहते है। यह सम्पूर्ण व्याधियें किस स्थानमें किस प्रकार सम्पूर्ण रूपसे निवृत्त होती हैं ॥ ११ ॥

सर्वंवित्सर्वसंन्यासी सर्वसंयोगनिःसृतः ।
एकः प्रशान्तो भूतात्मा कैर्लिङ्गैरुपलभ्यते ॥ १२ ॥

सर्वज्ञ, सम्पूर्ण भावोंसे विरक्त और सर्व संयोगवर्जित एक शान्तिपरायण जीवात्मा किन लक्षणोंसे जानाजाता है ॥ १२ ॥

वच इत्यग्निवेशस्य श्रुत्वा मतिमतां वरः ।
सर्वं यथावत्प्रोवाच प्रशान्तात्मा पुनर्वसुः ॥ १३ ॥

इस प्रकार अग्निवेशके प्रश्नोंको सुनकर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ, प्रशान्तचित्त, भगवान् पुनर्वसुजी सबको यथाविधि वर्णन करनेलगे ॥ १३ ॥

पुनर्वसुजीके पुरुषविषयक उत्तर ।

खादयश्चेतना[१] षष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः ।
चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः[२] ॥ १४ ॥

हे अग्निवेश ! यद्यपि केवल चेतनाधातुरूपही सर्व शास्त्रसंमत पुरुष है परन्तु चिकित्सा साधनके लिये पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश और चेतना इनके मिले हुए संबन्धको पुरुष कहते हैं ॥ १४ ॥

पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः ।
मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी ॥ १५ ॥

फिर वह पुरुष पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच महाभूत, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, पंचतन्मात्रा और एक मन। इनके संयोगसे चौवीसतत्त्वका कहा जाता है॥ १५॥

मनका वर्णन ।

लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव वा ।
सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षेण वर्त्तते ॥ १६ ॥
वैधृत्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात्तच्च वर्त्तते ।
अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ ॥ १७ ॥

ज्ञान होना और ज्ञानका न होना मनका लक्षण है अर्थात् एक कालमें एक वस्तुका ज्ञान होना और दूसरेका न होना, मनका लक्षण है। आत्मा, इन्द्रिय और इन्द्रियोंका विषय इनका संयोग होनेपर भी मनके सन्निकर्षके विना किसी इन्द्रियके

---

१ अत्र चेतनाशब्देन समनस्क आत्मा गृह्यते । खादिग्रहणेन चेन्द्रियाणि खादिमयान्यवरुद्धानि । २ पुरुषसंज्ञकः चेतनाधातुरूपोऽत्र कायचिकित्सायामनभिप्रेतः । परंतु आध्यात्मिक चिकित्सायान्तु अभिप्रेत एव ।

विषयका ज्ञान नहीं होता, अर्थात् आत्मा, इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ रहतेहुए भी मनके सन्निकर्षसेही ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। इन्द्रिय और अर्थके सन्निकर्ष होनेपर भी यदि मनका संयोग हो तब ज्ञान उत्पन्न होसकता है। मनके संयोग न होनेसे ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि मन इन्द्रियोंसे भिन्न कोइ अलग वस्तु है जिसका इन्द्रियोंसे संयोग होनेपर ज्ञान उत्पन्न होता है। एकत्व और अणुत्व मनके ये दो गुण हैं अर्थात् मन असंक्लिष्ट और सूक्ष्म है ॥ १६ ॥ १७ ॥

चिन्त्यं विचार्य्यमूह्यञ्च ध्येयं सङ्कल्प्यमेव च।
यत्किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम् ॥ १८ ॥

चिन्ता, विचार, तर्क, ध्यान और संकल्प तथा जाननेयोग्य जो कुछ वस्तु है सब मनका अर्थ (विषय) है ॥ १८ ॥

बुद्धिकी प्रवृत्ति।

इन्द्रियाभिग्रहः कर्म्म मनसस्स्वस्य निग्रहः।
ऊहो विचारश्च ततः परं बुद्धिः प्रवर्त्तते ॥ १९ ॥

इन्द्रियोंकी गति कराना और स्वयम् गमनशील रहना अथवा इन्द्रियोंके वेगको रोकना और अपनी अनिष्ट गतिको रोकना। यह मनके दो कर्म होते हैं। ऊहा 'तर्क' और विचार उत्पन्न होनेके अनन्तर बुद्धिकी प्रवृत्ति होती है ॥ १९ ॥

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते।
कल्प्यते मनसाप्यूर्द्धं गुणतो दोषतो यथा ॥ २० ॥

इन्द्रियें अपने अर्थको मनकी सहायतासे ही ग्रहण करती हैं। और इन्द्रियोंद्वारा अर्थज्ञान होनेके अनन्तर भी उसके गुण दोषको मनही कल्पना करता है ॥ २० ॥

जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका।
व्यवस्यते तया वक्तुं कर्त्तुं वा बुद्धिपूर्वकम् ॥ २१ ॥

फिर उस विषयमें जिस प्रकारकी निश्चयात्मिका बुद्धि होती है लोक उसको उस निश्चयात्मिका बुद्धिद्वारा कहनेको अथवा बुद्धिपूर्वक करनेको निश्चय करता है ॥ २१ ॥

---

१ चिंत्यम्-कर्तव्याकर्तव्यतया यच्चिंत्यते। विचार्य्यमुपपत्त्यनुपपत्तिभ्यां यद्विमृश्यते, ऊह्य-यत्सम्भावनया ऊह्यते। ध्येयम्-भावनाज्ञानविषयम्। संकल्प्यम्-गुणवत्तया दोषवत्तया वाऽवधारणविषयम्। २ निर्विकल्पालोचनज्ञानमूहा। हेयोपादेयतया विकल्पनं विचारः। ३ बुद्धो हि सर्व्वकरणव्यापारार्पणं भवति।

ज्ञानेन्द्रिय।

एकैकाधिकयुक्तानि खादीनामिन्द्रियाणि तु।
पञ्चकर्मानुमेयानि येभ्यो बुद्धिः प्रवर्त्तते ॥ २२ ॥

शब्दगुणवाला आकाश, शब्द और स्पर्शगुणवाला वायु, शब्द, स्पर्श और रूपगुणवाला अग्नि। शब्द, स्पर्श, रूप और रस गुणवाला जल। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गंध गुणवाली पृथ्वी होती है। इस प्रकार एकएक महाभूत एकएक गुण पूर्ववाले महाभूतको लेताजाता है। यद्यपि आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी इनके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध यह क्रमसे एकएकका एकएक गुण है परन्तु यह एकएक गुण क्रमपूर्वक दूसरेका लेते जाते हैं। इन पंचमहाभूतोंकी श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, रसन और घ्राण ये पांच इंद्रियें हैं। सुनना, छूना, देखना, स्वाद लेना और सूंघना ये इन पांचोंके कर्म हैं। इन पांच कर्मोंसे ही इनका अनुमान कियाजाता है। इन इन्द्रियों द्वारा ही बुद्धिकी प्रवृत्ति होती है ॥ २२ ॥

कर्मेन्द्रिय।

हस्तपादं गुदोपस्थं जिह्वेन्द्रियमथापि च।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव पादौ गमनकर्मणि ॥ २३ ॥
पायूपस्थौ विसर्गार्थे हस्तौ ग्रहणधारणे।
जिह्वा वागिन्द्रियं वाक् च सत्या ज्योतिस्तमोऽनृता ॥२४॥

हाथ, पांव, गुदा, गुह्य और जिह्वा ये पांच कर्मेन्द्रिय हैं। पांवोंका चलना। गुदाका मलत्याग, गुह्यका मूत्रत्याग और हाथोंका ग्रहण करना कर्म है। एवं जिह्वाका उच्चारण करना कार्य है। वह उच्चारण करना दो प्रकारका है। १ सत्य, २ असत्य। सत्य ज्योतिःस्वरूप है और असत्य तमःस्वरूप है ॥ २३ ॥ २४ ॥

पञ्चमहाभूत।

महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा।
शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ॥ २५ ॥
तेषामेको गुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे।
पूर्वः पूर्वो गुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः ॥ २६ ॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पांच महाभूत हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये इनके पांच गुण हैं। इनमें पहिलेमें एक, दूसरेमें दो, तीसरेमें तीन

---

१ ज्योतिरिव ज्योतिर्धर्म्मकर्तृत्वेन उभयलोकप्रकाशकारित्वात्।

चौथेमें चार और पांचवेंमें पांच ये गुण हैं । (इनको २२ के श्लोककी व्याख्यामें लिख चुके हैं) ॥ २५ ॥ २६ ॥

पृथ्वी आदिके गुण ।

खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम् ।
आकाशस्याप्रतीघातो दृष्टं लिङ्गं यथाक्रमम् ॥ २७ ॥
लक्षणं सर्वमेवैतत्स्पर्शनेन्द्रियगोचरः ।
स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेयः स्पर्शो हि सविपर्य्ययः ॥ २८ ॥

पृथ्वीका खर, जलका द्रव, वायुका चल और अग्निका उष्ण लक्षण होता है। इसी प्रकार आकाशका अप्रतिघात लक्षण है । यह सम्पूर्ण लक्षण स्पर्शनेन्द्रियके गोचर हैं । स्पर्शनेन्द्रियसे ही स्पर्श और स्पर्शाभावका ज्ञान होता है ॥ २७ ॥ २८ ॥

गुणादिवर्णन ।

गुणाः शरीरे गुणिनां निर्दिष्टाश्चिह्नमेव च ।
अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः ॥ २९ ॥

जिसमें गुण होते हैं उसको गुणी कहते हैं । शरीरमें गुण जो हैं वह गुणीके चिह्न हैं अर्थात् लक्षण हैं । और शब्दादिक इन्द्रियोंके विषय हैं इन्हीको अर्थ, ज्ञेय, गोचर, विषय और गुण कहते हैं ॥ २९ ॥

या यदिन्द्रियमाश्रित्य जन्तोर्बुद्धिः प्रवर्त्तते ।
याति सा तेन निर्देशं मनसा च मनोभवा ॥ ३० ॥

जिस इन्द्रियके आश्रयसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसको उस इन्द्रियकी बुद्धि कहते हैं । जो मनसे ज्ञान उत्पन्न होता है उसे मनोभवबुद्धि अथवा मानसिक ज्ञान कहते हैं ॥ ३० ॥

ज्ञानोंकी अनेकता ।

भेदात्कार्य्येन्द्रियार्थानां बह्व्यो वै बुद्धयः स्मृताः।
आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानामेकैका सन्निकर्षजा ॥ ३१ ॥
अंगुल्यंगुष्ठतलजस्तन्त्रीवीणानखोद्भवः ।
दृष्टः शब्दो यथा बुद्धिर्दृष्टा संयोगजा तथा ॥ ३२ ॥

कार्यभेदसे और इन्द्रियोंके विषयभेदसे अनेक प्रकारकी बुद्धियें प्राप्त होती हैं। आत्मा, इंद्रिय, मन और अर्थोंके संनिकर्षसे पृथक् २ बुद्धि उत्पन्न होती है । जैसे- अंगुली, अंगूठा, हथेली, तंत्री, वीणा, नख इनके संयोगसे पृथक् २ शब्द उत्पन्न

होते हैं। उसी प्रकार जैसे जैसे अर्थसे संयोग होता है वैसे वैसे संयोग भेदसे पृथक् २ बुद्धि उत्पन्न होती है ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थानां विद्याद्योगधरं परम् ।
चतुर्विंशक इत्येष राशिः पुरुषसञ्ज्ञकः ॥ ३३ ॥

बुद्धि, इन्द्रिय, मन और इनके विषयोंके योगको धारण करनेवाला चौवीस तत्त्वकी राशिवाला पुरुष कहा जाता है ॥ ३३ ॥

रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयमनन्तवान् ।
ताभ्यां निराकृताभ्यान्तु सत्त्वबुद्ध्या निवर्त्तते ॥ ३४ ॥

यह अनन्तवान् पुरुष रजोगुण और तमोगुणके संयोगसे अनादि कालसे बंधा है परन्तु अभ्यास, वैराग्य और ज्ञानद्वारा रज और तमका संयोग निवृत्त होजानेपर सत्त्वगुणका प्रकाश होनेसे शुद्ध ज्ञान होकर मोक्षको प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥

पुरुषकी प्रधानता।

अत्र कर्म्मफलञ्चात्र ज्ञानञ्चात्र प्रतिष्ठितम् ।
अत्र मोहः सुखं दुःखं जीवितं मरणं स्वतः ॥ ३५ ॥

इस पुरुषमें कर्मफल तथा ज्ञान यह दोनों प्रतिष्ठित हैं। और मोह, सुख, दुःख, जीवन और मरण यह चतुर्विंशति तत्त्वात्मक पुरुषके आश्रित हैं ॥ ३५ ॥

एवं यो वेद तत्त्वेन स वेद प्रलयोदयौ ॥ ३६ ॥

जिस पुरुषको इस प्रकार तत्त्वका ज्ञान है वह उत्पत्ति और प्रलयको जानता है॥३६

पुरुषकी कारणता।

पारम्पर्य्यं चिकित्सा च ज्ञातव्यं यच्च किञ्चन ॥ ३७ ॥
भास्तमः सत्यमनृतं वेदः कर्म्म शुभाशुभम् ।
न स्यात्कर्त्ता वेदिता च पुरुषो न भवेद्यदि ॥ ३८ ॥

यदि पुरुष ज्ञाता न होता तो लोक परम्परा, चिकित्सा, जानने योग्य विषय, तम, ज्योतिः सत्य, अनृत, वेद, कर्म, शुभ, अशुभ, कर्त्ता और ज्ञाता, यह कुछ भी न होते ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

नाश्रयो न सुखं नार्त्तिर्न गतिर्नागतिर्न वाक् ।
न विज्ञानं न शास्त्राणि न जन्म मरणं न च ॥ ३९ ॥
न बन्धो न च मोक्षः स्यात्पुरुषो न भवेद्यदि ।
कारणं पुरुषस्तस्मात्कारणज्ञैरुदाहृतः ॥ ४० ॥

एवम् आश्रय, सुख, रोग, गति, अगति, वाणी, विज्ञान, शास्त्र, जन्म, मरण, बंध और मोक्ष यह भी न होते। इसलिये कारणके जाननेवाले बुद्धिमानोंने पुरुषको कारण कहा है ॥ ३९ ॥ ४० ॥

न चेत्कारणमात्मा स्यात्खादयः स्युरहेतुकाः ।
न चैषु सम्भवेज्ज्ञानं न च तैः स्यात्प्रयोजनम् ॥ ४१ ॥

यदि आत्मा कारण न हो तो आकाश आदि अहेतुक हो जायंगे। आकाशादिकोंमें जडत्व होनेसे ज्ञान तो होताही नहीं। इसलिये उन जडोंसे चैतन्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। अथवा यों कहिये कि वह जड होनेसे चैतन्य पुरुषको अथवा जगत्को बना नहीं सकते और भोक्ता न होनेसे उनका कोई प्रयोजन भी नहीं रहसकता ॥ ४१ ॥

पुरुषकी कारणताका दृष्टान्त।

मृद्दण्डचक्रैश्च कृतं कुम्भकाराहते घटम् ।
कृतं मृत्तृणकाष्ठैश्च गृहकाराद्विना गृहम् ॥ ४२ ॥
यो वदेत्स वदेद्देहं सम्भूय करणैः कृतम् ।
विना कर्त्तारमज्ञानाद्युक्त्यागमबहिष्कृतः ।
कारणं पुरुषः सर्वैः प्रमाणैरुपलभ्यते ॥ ४३ ॥
येभ्यः प्रमेयं सर्वेभ्य आगमेभ्यः प्रतीयते ॥ ४४ ॥

जैसे—मट्टी, दंड, चक्र यह सब उपस्थित होते हुए भी घट कुम्हारके विना उत्पन्न नहीं होसकता। इसी प्रकार मट्टी, पत्थर, लकडी आदि सब सामान होनेपर भी विना बनानेवालेके घर स्वयं तैय्यार नहीं होसकता। जो मनुष्य यह कहे कि विना कुम्हारके घट उत्पन्न होसकता है और विना बनानेवालेके घर स्वयं बन सकता है। वह अज्ञानी मनुष्य युक्ति और शास्त्रसे विरुद्ध यह भी कह सकता है कि आकाशादि जड पदार्थोंने ही इस देहको रचा है। जिन सब प्रकारके शास्त्रीय प्रमाणोंसे प्रमेयकी उपलब्धि होती है, उन सबसे सिद्ध है कि कारण पुरुषही है ॥ ४२-४४ ॥

कर्तव्यपर विचार।

न ते तत्सदृशास्त्वन्ये पारम्पर्य्ये'समुत्थिताः ।
सारूप्याद्ये त एवेति निर्दिश्यन्ते नरान्नराः ॥ ४५ ॥
भावास्त्वेषां समुदयो निरीशः सत्त्वसंज्ञकः ।
कर्त्ता भोक्ता न स पुमानिति केचिद्व्यवस्थिताः ॥ ४६ ॥

तेषामन्यैः कृतस्यान्ते भावाभावैर्नवाः फलम्।
भुञ्जते सदृशाः प्राप्तं यैरात्मा नोपदिश्यते ॥ ४७ ॥

भूतात्मवादका खण्डन करते हैं—पुरुष वही नहीं रहता। बाल्यावस्थामें पुरुष और होते हैं और युवावस्थामें वही पुरुष भिन्न होजाता है, क्योंकि प्रतिक्षण भाव बदलते रहते हैं। जब हम कहते हैं कि यह वही पुरुष है तो तात्पर्य यह होता है कि परंपरासे उत्पन्न हुआ उस पुरुषके सदृश है। यह सारूप्य होनेके कारण ऐसा समझा जाता है। इन पुरुषोंकी उत्पत्तिमें आत्माका कहीं स्थान नहीं केवल प्राणिसंज्ञक निरीश (आत्मारहित) एक प्राणी है। उससे अन्य कोई आत्मारूप कर्त्ताका भोक्ता नहीं ऐसा कुछ देहात्मवादी कहते हैं। परन्तु ऐसा कहनेवालेके मतमें जो मनुष्य कार्य करता है वह कोई और ही भोगता है। यज्ञदत्तकी आंखसे देखा हुआ देवदत्तको कैसे दीख सकता है? जब बाल्यावस्थासे युवावस्थामें पुरुष भिन्न है तो बाल्यावस्थाके भाव कैसे स्मरण रह सकते हैं। वह तो पुरुषही भिन्न होगया। इन कारणोंसे अनात्मवादी भूतात्मवादियोंका मत युक्तियुक्त नहीं ॥ ४६-४७ ॥

कारणानन्यता दृष्टा कर्त्तुः कर्त्ता स एव तु।
कर्त्ता हि करणैर्युक्तः कारणं सर्वकर्मणाम् ॥ ४८ ॥
निमेषकालाद्भावानां कालः शीघ्रतरोऽत्यये।
भग्नानां च पुनर्भावः कृतं नान्यमुपैति च ॥ ४९ ॥

आत्मवादीका मत उपपन्न है क्योंकि करण तो भिन्न हो सकते हैं परन्तु कर्त्ता एक ही होता है, कर्त्ताही करणोंकी सहायतासे सर्व कर्मको करता है क्योंकि शरीरके कियेहुए कर्मोंका फल कर्त्ता अर्थात् आत्माही भोगता है। देखनेमें भी आता है कि परोपकारतादि जितने काम किये जाते हैं सबको आत्माही भोगता है। जिस शरीरसे जो कार्य कियाजाता है वह शरीर विनाशको प्राप्त होता तथा होसकता है परन्तु करनेवाला आत्मा वही रहता है। वह कर्त्ताही अपने करणोंसे युक्तहुआ सम्पूर्ण कार्योंको करता है। निमिषमात्रमें शरीरादि संपूर्ण भाव शीघ्र नष्ट होजाते हैं और उन नष्टहुए शरीर आदि भावोंका पुनर्भाव नहीं होता। जो कर्म किया जाता है उसका फल दूसरा नहीं भोगसकता वह कर्त्ताही कर्मोंके फलको भोगनेवाला है, एक शरीरके अंग आदिका टूटकर दूसरे शरीरमें संरोहण होना असंभव है। एकके कियेको दूसरा प्राप्त नहीं होता ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

मतं तत्त्वविदामेतद्यस्मात्कर्त्ता स कारणम्।
क्रियोपभोगे भूतानां नित्यः पुरुषसंज्ञकः ॥ ५० ॥

अहङ्कारः फलं कर्म देहान्तरगतिः स्मृतिः।
विद्यते सति भूतानां कारणे देहमन्तरा ॥ ५१ ॥

तत्त्वके जाननेवाले इस प्रकार कहते हैं कि जिसलिये आत्मा कर्त्ता है इसीलिये इसको कारण कहते हैं। वह कारण आत्माही मनुष्योंके कियेहुए कर्मोंको भोगनेवाला है, और नित्य है तथा उसीको पुरुष कहते हैं। अहंकार, कर्मफल, पुनर्जन्म और स्मृति तथा अन्य धर्माधर्म यह सब मनुष्योंके उस कारणरूप अन्तरात्मामेंही अवस्थित हैं देहमें नहीं ॥ ५० ॥ ५१ ॥

प्रभवो न ह्यनादित्वाद्विद्यते परमात्मनः।
पुरुषो राशिसंज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेषकर्मजः ॥ ५२ ॥

वह परमआत्मा अनादि है इसलिये उसको करनेवाला कारण कोई नहीं। परन्तु चौबीस तत्त्वकी राशिभूत जो पुरुष है वह मोह इच्छा और द्वेषजनित कर्मोंसे उत्पन्न होता है ॥ ५२ ॥

आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं तस्य प्रवर्त्तते।
करणानामवैमल्यादयोगाद्वा न वर्त्तते ॥ ५३ ॥
पश्यतोऽपि यथादर्शे संक्लिष्टे नास्ति दर्शनम्।
तद्वज्जले वा कलुषे चेतस्युपहते तथा ॥ ५४ ॥

आत्मा ज्ञानवान् है। करणोंके संयोगसे इसको ज्ञान उत्पन्न होता है। वह करण, मन, बुद्धि और ज्ञानेंद्रियोंको कहते हैं। इन करणोंके निर्मल न होनेसे तथा इनका अयोग होनेसे ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। जैसे दर्पणमें धूल जमी रहनेसे प्रतिबिंब दिखाई नहीं देता, काई आदि जमीरहनेसे जलमें कुछ दिखाई नहीं देता। उसी प्रकार मन आदि करणोंके मलयुक्त होनेसे ज्ञान उत्पन्न नहीं होता ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

करणोंके नाम और कर्म।

करणानि मनो बुद्धिर्बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च।
कर्त्तुः संयोगजं कर्म वेदना बुद्धिरेव च ॥ ५५ ॥

मन, बुद्धि और बुद्धीन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय इन सबको करण कहते हैं। कर्ताके साथ करणका संयोग होनेसे कर्म, दुःख और ज्ञान आदि उत्पन्न होते हैं ॥ ५५ ॥

नैकः प्रवर्त्तते कर्तुं भूतात्मा नाश्नुते फलम्।
संयोगाद्वर्त्तते सर्वं तमृते नास्ति किंचन ॥ ५६ ॥

न ह्येको वर्त्तते भावो वर्त्तते नाप्यहेतुकः ।
शीघ्रगत्वात्स्वभावात्तु भावो न व्यतिवर्त्तते ॥ ५७ ॥

आत्मा अकेलाही किसी कर्ममें प्रवृत्त नहीं होता और न अकेला होनेपर फल भोगता है । सबका संयोग होनेसेही सब कुछ करता है और करणादिकोंका संयोग न होनेसे कुछ नहीं करता । कोई भी भाव अकेला नहीं रहता किन्तु संयोगसे ही रह सकता है । तथा कोई भी भाव बिना हेतुके उत्पन्न नहीं होता । भाव शीघ्रगामी स्वभाववाला होनेसे अपने नित्यगक्रमका उल्लघन नहीं कर सकता ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

अनादिः पुरुषो नित्यो विपरीतस्तु हेतुजः ।
सदकारणवन्नित्यं दृष्टं हेतुमदन्यथा ॥ ५८ ॥
तदेव भावादग्राह्यं नित्यत्वान्न कुतश्चन ।
भावाज्ज्ञेयं तदव्यक्तमचिन्त्यं व्यक्तमन्यथा ॥ ५९ ॥

अनादि पुरुष नित्य है । जो किसी हेतुसे उत्पन्न होताहै वह अनित्य होताहै । और कारणरहित पदार्थ नित्य होता है । हेतुओंसे उत्पन्न हुआ अनित्य देखता है परन्तु अनित्य पदार्थ भाव (उत्पत्ति) के कारण कहीं नित्य नहीं देखा गया । इस लिये कारणके अव्यक्त होनेसे वह नित्य आत्मा अव्यक्त और अचिंत्य है । उससे अन्यथा अर्थात् राशिरूप पुरुष अनित्य और प्रगट है ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

आत्माका वर्णन ।

अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः
तस्माद्यदन्यत्तद्व्यक्तं वक्ष्यते चापरं द्वयम् ॥ ६० ॥
व्यक्तश्चेन्द्रियकश्चैव गृह्यते तद्यदिन्द्रियैः ।
अतोऽन्यत्पुनरव्यक्तं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥ ६१ ॥

आत्मा अव्यक्त, क्षेत्रज्ञ, नित्य, विभु और अव्यय है । उससे विपरीत जो है वह व्यक्त प्रकट कहाजाता है । व्यक्त पदार्थ इन्द्रियद्वारा ग्रहण किया जाता है तथा अव्यक्त अतीन्द्रिय है अर्थात् इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण किया नहीं होसकता । जो पदार्थ इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण न किया जाकर केवल लक्षणोंद्वारा जानाजाय उसको अतीन्द्रिय तथा अव्यक्त कहते हैं ॥ ६० ॥ ६१ ॥

प्रकृतियों और क्षेत्रज्ञका वर्णन ।

खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहङ्कारस्तथाष्टमः ।
भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडश ॥ ६२ ॥

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च ।
समनस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति संज्ञिताः ॥ ६३ ॥
इति क्षेत्रं समुद्दिष्टं सर्वमव्यक्तवर्जितम् ।
अव्यक्तमस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञमृषयो विदुः ॥ ६४ ॥

आकाशादि पंचतन्मात्रा (परमाणुरूप महाभूत) महत्तत्त्व, बुद्धि, मूल प्रकृति और अहंकार यह आठ भूतप्रकृति कहेजाते हैं । मन, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और पांचमहाभूत इनको सोलह विकार कहते हैं क्योंकि यह आठ प्रकृतिके कार्य हैं उनसे विकार भावको प्राप्त होकर उत्पन्न हुए हैं इसलिये उनको विकार कहते हैं । अव्यक्तको छोडकर अन्य सबको क्षेत्र कहते हैं और ऋषिलोक अव्यक्त-आत्माको इन क्षेत्रको जाननेवाले (क्षेत्रज्ञ) कहते हैं ॥ ६२-६४ ॥

पुरुषका वर्णन ।

जायते बुद्धिरव्यक्ताद् बुद्धयाहमिति मन्यते ।
परं खादीन्यहङ्कार उपादत्ते यथाक्रमम् ॥ ६५ ॥
ततः सम्पूर्णसर्वाङ्गो जातोऽभ्युदित उच्यते ।
पुरुषः प्रलये चेष्टैः पुनर्भावैर्नियुज्यते ॥ ६६ ॥
अव्यक्ताद्व्यक्ततां याति व्यक्तादव्यक्ततां पुनः ।
रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवत्परिवर्तते ॥ ६७ ॥

अव्यक्त प्रकृतिसे बुद्धि, बुद्धिसे अहंकार, अहंकारसे पंचतन्मात्रा और मन तथा इन्द्रियोंकी क्रमपूर्वक उत्पत्ति होती है। उसके उपरान्त संपूर्ण सर्वांग पुरुष राशि उत्पन्न होती है । इस चतुर्विंशति तत्त्वोंके पुतलेसे कर्माधीन अनादि कालसे मिलाहुआ चैतन्य आत्मा पुरुष कहा जाता है । यह पुरुष प्रलय समयमें इच्छित वस्तुओंसे पृथक् होजाता है फिर इसी प्रकार अव्यक्तसे व्यक्तभावको और व्यक्तसे अव्यक्तताको पुनःपुनः प्राप्त होता रहता है, यह पुरुष रजोगुण और तमोगुणसे आवेष्टित हुआ चक्रके समान घूमता रहता है ॥ ६५-६७ ॥

येषां द्वन्द्वे परासक्तिरहङ्कारपराश्च ये ।
उदयप्रलयौ तेषां न तेषां ये त्वतोऽन्यथा ॥ ६८ ॥

जिन मनुष्योंका द्वन्द्वमें परम अनुराग है अर्थात् रजोगुण और तमोगुणसे आवेष्टित होकर-द्वेष, काम, अहंकार आदिमें चित्तवृत्ति लगी रहती है वह मनुष्य वारंवार

जन्म लेते हैं और मरते हैं परन्तु इनसे विपरीत अर्थात् सतोगुणवाले मनुष्योंको ज्ञान प्राप्त होनेसे इस जन्म मरणके चक्रमें नहीं आना पडता ॥ ६८ ॥

जीवनमरणके लक्षण ।

प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसो गतिः ।
इन्द्रियान्तरसञ्चारः प्रेरणं धारणञ्च यत् ॥ ६९ ॥
देशान्तरगतिः स्वप्ने पञ्चत्वग्रहणं तथा ।
दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णा सव्येनापगमस्तथा ॥ ७० ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः ।
बुद्धिः स्मृतिरहङ्कारो लिंगानि परमात्मनः ॥ ७१ ॥
यस्मात्समुपलभ्यन्ते लिंगान्येतानि जीवतः ।
न मृतस्यात्मलिंगानि तस्मादाहुर्महर्षयः ॥ ७२ ॥
शरीरं हि गते तस्मिञ्छून्यागारमचेतनम् ।
पञ्चभूतावशेषत्वात्पञ्चत्वं गतमुच्यते ॥ ७३ ॥

श्वास लेना और छोडना, आंखका झपकना, जीवन, मनकी गति, एक इन्द्रियसे दूसरी इन्द्रियमें सञ्चार करना, इन्द्रियोंका इधर उधर प्रेरण करना, देशांतर आदिकमें गमन करना, स्वप्नमें अनेक प्रकारका ज्ञान होना, पंचभूतोंके तत्त्वोंको जानना। दक्षिण नेत्रसे देखे हुए पदार्थको वामनेत्रसे पहिचानलेना, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, चेतना, धृति, बुद्धि, स्मृति और अहंकार यह सब लक्षण जीवित मनुष्यके हैं। मृत मनुष्यमें यह लक्षण नहीं होते इसीलिये आत्माके जाननेवाले महर्षि इन सबको आत्माके लक्षण कथन करते हैं। इन लक्षणोंवाली आत्माके निकलजानेसे शरीर भयानक, चेतनारहित, शून्य घरके समान दिखाई देने लगता है। आत्माके निकल जानेपर केवल पंचभूतमात्रका पुतला पडा रहता है। इसी लिये इसको पंचत्व (मरण) को प्राप्त होगया ऐसा कहते हैं ॥ ६९–७२ ॥

आत्माको कर्तृत्व ।

अचेतनं क्रियावच्च मनश्चेतयिता परः ।
युक्तस्य मनसा तस्य निर्दिश्यन्ते विभोः क्रियाः ॥ ७४ ॥
चेतनावान्यतश्चात्मा ततः कर्त्ता निरुच्यते ।
अचेतनत्वाच्च मनः क्रियावदपि नोच्यते ॥ ७५ ॥

मन अचेतन है और क्रियावान् है आत्मा चेतन है परन्तु निष्क्रिय है। वह निष्क्रिय आत्मा जब क्रियावान् मनसे युक्त होता है तो सब क्रियाएँ होती हैं। क्योंकि आत्मा चेतनावान् है इसलिये मनकी क्रियाओंका वही कर्त्ता माना जाता है। मन अचेतन होनेसे क्रिया करता हुआ भी कर्त्ता नहीं कहा जाता ॥ ७४ ॥ ७५ ॥

यथा स्वेनात्मनः सर्वं मनः सर्वासु योनिषु।
प्राणैस्तन्त्रयते प्राणी न ह्यन्योऽन्यस्य तन्त्रकः ॥ ७६ ॥

जो जिस प्रकारका कर्म करता है वह अपनी इच्छा न होनेपर भी अपने किये-हुए कर्मके आधीन होकर सब प्रकारकी योनियोंमें प्राप्त होता है। मनुष्य अपने कर्मोंद्वाराही अपनी आत्माको अनेक प्रकारकी योनियोंमें लेजाता है इसको और कोई किसी योनिमें प्राप्त नहीं करता ॥ ७६ ॥

आत्माको वशित्व।

वशी तत्कुरुते कर्म यत्कृत्वा फलमश्नुते।
वशी चेतः समाधत्ते वशी सर्वं निरस्यति ॥ ७७ ॥

अपनी इच्छाके अनुसार प्रवृत्त होनेवाला आत्मा शुभाशुभ कर्मको करता है और उस कर्मके करनेसे शुभ और अशुभ फलोंको भोगता है। और अपने आधीनही होकर योग, समाधि आदिमें प्रवृत्त हो संपूर्ण जालको छोडकर मोक्षको प्राप्त होजाता है इसीलिये उसको वशी कहते हैं ॥ ७७ ॥

देही सर्वगतो ह्यात्मा स्वे स्वे संस्पर्शनेन्द्रिये।
सर्वाः सर्वाश्रयस्थास्तु नात्मातो वेत्ति वेदनाः ॥ ७८ ॥

देहको धारण करनेवाले आत्मा सम्पूर्ण शरीरमें गमन करनेवाला होनेसे–स्पर्श-युक्त शरीरकेही सुख दुःखको जानता है। केश, नख आदि जो स्पर्शयुक्त नहीं हैं अर्थात् मनुष्यके शरीरकी स्पर्शनेन्द्रिय जिस स्थानमें प्राप्त नहीं है उसके सुख दुःखको नहीं जानसकता ॥ ७८ ॥

आत्माके विभुत्व।

विभुत्वमत एवास्य यस्मात्सर्वगतो महान्।
मनसश्च समाधानात्पश्यत्यात्मा तिरस्कृतम् ॥ ७९ ॥
नित्यानुबन्धं मनसा देहकर्मानुपातिना।
सर्वयोनिगतं विद्यादेकयोनावपि स्थितम् ॥ ८० ॥

क्योंकि आत्मा सर्वगत है और महान् है इसलिये इसको विभु कहते हैं। यह आत्मा योग, समाधिके बलसे दीवार और पर्वतसे छिपी हुई वस्तुको भी देखसकता

है। आत्मा प्रत्येक शरीरमें देह कर्मका अनुसरण करनेवाले मन (जिससे कि इसके नित्य संबन्धहै) द्वारा उतरता है। यदि उस मनको आत्मा अपनेमें ही प्रवेश करले तो उस शरीरसे संबन्ध छूटकर एक योनिको प्राप्त हुआ भी सर्व योनियोंमें जा सकता है८०

आत्माका अनादित्व।

आदिर्नास्त्यात्मनः क्षेत्रपारम्पर्य्यमनादिकम्।

अतस्तयोरनादित्वात्किं पूर्वमिति नोच्यते ॥ ८१ ॥

आत्मा अनादि है और क्षेत्र परम्परा भी अनादि है। जब दोनों अनादि हैं फिर उनमें पहिले और पीछेका प्रश्नही नहीं होसकता ॥ ८१ ॥

आत्माका सर्वसाक्षित्व।

ज्ञः साक्षीत्युच्यते नाज्ञः साक्षी ह्यात्मा ह्यतः स्मृतः।

सर्वभावा हि सर्वेषां भूतानामात्मसाक्षिकाः ॥ ८२ ॥

आत्मा ज्ञाता होनेसे साक्षी कहा जाता है क्योंकि अज्ञ साक्षी नहीं होसकता मनुष्यके सम्पूर्ण भावोंका साक्षी आत्माही है ॥ ८२ ॥

नैकः कदाचिद्भूतात्मा लक्षणैरुपलभ्यते।

विशेषोऽनुपलभ्यस्य तस्य नैकस्य विद्यते ॥ ८३ ॥

संयोगः पुरुषस्येष्टो विशेषो वेदनाकृतः।

वेदना यत्र नियता विशेषस्तत्र तत्कृतः ॥ ८४ ॥

" स्यात्कथं वाऽविकारस्य विशेषो वेदनाकृतः " इस प्रश्नका उत्तर देते हैं कि, यदि शरीरसे भिन्न अकेली आत्मा हो तो उसका कोई लक्षण प्रतीत नहीं होता अर्थात् वह तो सर्वथा वेदनारहित है। अनुपलब्ध होनेके कारण उसकी विशेष वेदनाकी भी उपलब्धि नही होती। वेदना विशेष (सुख दुःखका अनुभव) केवल संयोग पुरुष (२४ तत्त्वका राशिपुरुष) को ही होती है। जहांपर वेदना नियत है उसका विशेष राशि पुरुषमें ही विद्यमान है निर्विकार आत्मामें नहीं ॥ ८३ ॥ ८४ ॥

अतीतरोगकी चिकित्सा।

चिकित्सति भिषक् सर्वास्त्रिकाला वेदना इति।

यया युक्त्या वदन्त्येके सा युक्तिरुपधार्य्यताम् ॥ ८५ ॥

चिकित्सक भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों प्रकारकी व्याधियोंकी चिकित्सा कर सकता है। इनकी चिकित्सा करनेकी जिस युक्तिको आचार्योंने कथन किया है उसको तुम श्रवण करो ॥ ८५ ॥

पुनरर्त्तिच्छिरसः शूलं ज्वरः स पुनरागतः।
पुनः स कालो बलवांश्छर्दिः सा पुनरागता॥ ८६॥
एभिः प्रपन्नैर्वचनैरतीतागमनं मतम्।
कालश्चायमतीतानामार्तीनां पुनरागतः॥ ८७॥
तमर्त्तिकालमुद्दिश्य भेषजं यत्प्रयुज्यते।
अतीतानां प्रशमनं वेदनानां तदुच्यते॥ ८८॥

शिरकी पीडाका एकवार शान्त होकर उसी प्रकार फिर प्रगट होजाना तथा ज्वर, खांसी और वमनका एकवार शान्त होकर फिर उसी प्रकार प्रगट होजाना अतीतागमन कहा जाता है। अतीत (भूतकालकी) व्याधियें फिर पहिलेकी समान आकर उपस्थित होजाती हैं। इसलिये उनका दौरा होनेसे प्रथम उनके अतीत-कालके लक्षणोंको विचारकर औषधीका प्रयोग करना अतीतव्याधियोंकी चिकित्सा कही जाती है। जैसे नित्य दोपहरके समय किसीके शिरमें पीडा होती हो और सायं-कालमें शान्त होजाय उस शान्तावस्थामें चिकित्सा करते समय जो पीडा व्यतीत होचुकी है उसकाही लक्ष्य रखकर औषध प्रयोग कियाजाता है। इसी प्रकार चातुर्थिकज्वर आदिमें जानना चाहिये इसको अतीतव्याधिकी चिकित्सा कहते हैं ८६-८८

भविष्यत्रोगकी चिकित्सा।

आपस्ताः पुनरागुर्मा याभिः शस्यं पुरा हतम्।
तथा प्रक्रियते सेतुः प्रतिकर्म तथाश्रयेत्॥ ८९॥
पूर्वरूपं विकाराणां दृष्ट्वा प्रादुर्भविष्यताम्।
या क्रिया क्रियते सा च वेदनां हन्त्यनागताम्॥ ९०॥

जिस जलकी बाढ़ने पहिले खेतीको नष्टकर डालाथा वह फिर आकर खेतीको नष्ट न करदेवे उसके बचावके लिये खेतकी रक्षाकारक सेतु आदि बना रखना अथवा नदीके वेगको देखकर खेतीके नाशका अनुमान करके, बाढ आनेसे पहिले रक्षाका प्रबंध करलेना, जिस प्रकार भविष्यत् हानिकी रक्षाका उपाय है उसी प्रकार विकारोंके पूर्व-रूपको देखकर उनके प्रकट होनेके पहिले क्रिया करना अनागतव्याधि अर्थात् भविष्यव्याधिकी चिकित्सा कहीजाती है॥ ८९॥९०॥

वर्तमान व्याधिकी चिकित्सा।

पारम्पर्य्यानुबन्धस्तु दुःखानां विनिवर्त्तते।
सुखहेतूपचारेण सुखञ्चापि प्रवर्त्तते॥ ९१॥

न समायान्ति वैषम्यं विषमाः समतां न च ।
हेतुभिः सदृशा नित्यं जायन्ते देहधातवः ॥ ९२ ॥

वर्तमान व्याधिकी चिकित्सामें कोई आक्षेप नहीं होसकता क्योंकि रोगका परम्परासे जो अनुबंध चलाआता है अर्थात् क्रमपूर्वक क्षणक्षणमें रोग जो कष्ट आदि देरहाहै वह चिकित्साद्वारा निवृत्त होनेसे रोगीको सुख प्राप्त होताहै और सुखके लियेही चिकित्साकी प्रवृत्ति है समधातु विषम नहीं होते और विषमधातु सम नहीं होते परन्तु देह धातुएं सदृश कारणोंसे वृद्धिको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ९१ ॥ ९२ ॥

युक्तिमेतां पुरस्कृत्य त्रिकालां वेदनां भिषक् ।
हन्तीत्युक्तं चिकित्सा सा नैष्ठिकी या विनोपधाम् ॥ ९३ ॥

वैद्य इस युक्तिका आश्रय लेकर तीनों कालकी व्याधियोंको नष्ट कर सकता है। जो चिकित्सा विना उपधा (काम लोभ मोह आदि) के कीजाएं वह सर्वथा मोक्ष देनेवाली होती है ॥ ९३ ॥

उपधा हि परो हेतुर्दुःखदुःखाश्रयप्रदः ।
त्यागः सर्वोपधानाञ्च सर्वदुःखव्यपोहकः ॥ ९४ ॥
कोषकारो यथाह्यंशूनुपादत्ते वधप्रदान् ।
उपादत्ते तथार्थेभ्यस्तृष्णामज्ञः सदातुरः ॥ ९५ ॥
यस्त्वग्निकल्पानर्थाञ्ज्ञो ज्ञात्वा तेभ्यो निवर्त्तते ।
अनारम्भादसंयोगात्तं दुःखं नोपतिष्ठते ॥ ९६ ॥

जिस चिकित्सामें किसी प्रकारका लोभ आदिक उपधा न हो वह चिकित्सा सुखदायक होती है। क्योंकि उपधा ही दुःखका कारण है। सब प्रकारकी उपधाको त्याग देनाही परमसुखका अवलंबन है। जैसे कोषकार (पट्टकीट--रेशमका कीडा) अपने सूत्रसे बंधकर आपही प्राणोंको त्यागदेतीहै वैसेही मूर्ख मनुष्य भी अतिलोभ आदिसे ग्रासित हो अपनेको आपही नष्टकर डालताहै। जो मनुष्य काम, लोभादिक विषयोंको अग्निके समान समझकर उनसे निवृत्त रहतेहैं अर्थात् विषयोंमें नहीं फंसते वह कर्मके अनारंभसे (क्योंकि जबतक पूर्व कर्मका क्षय न हो और आगेको कर्म कथन किया जाता तब तक आत्माका शरीरसे अवश्य संयोग होगा) और असंयोगसे दुःख नहीं भोगता। वह मुक्त होजाताहै ॥ ९४-९६ ॥

दुःखके हेतु।

धीधृतिस्मृतिविभ्रंशः सम्प्राप्तिः कालकर्मणाम् ।

असात्म्यार्थागमश्चेति ज्ञातव्या दुःखहेतवः ॥ ९७ ॥
विषमाभिनिवेशो यो नित्यानित्ये हिताहिते ।
ज्ञेयः स बुद्धिविभ्रंशः समं बुद्धिर्हि पश्यति ॥ ९८ ॥
विषयप्रवणं चित्तं धृतिभ्रंशान्न शक्यते ।
नियन्तुमहितादर्थाद्धृतिर्हि नियमात्मिका ॥ ९९ ॥
तत्त्वज्ञाने स्मृतिर्यस्य रजोमोहावृतात्मनः ।
भ्रश्यते स स्मृतिभ्रंशः स्मर्त्तव्यं हि स्मृतौ स्थितम् ॥ १०० ॥

बुद्धि, धृति और स्मृति इनका नष्ट होना अयोग्य काल और अयोग्य कर्मोंका संयोग होना तथा असात्म्य पदार्थोंका संयोग होना यह सब दुःखके हेतु हैं । नित्य और अनित्य, हित और अहित इनको उल्टी रीतिसे देखना अर्थात् हितको अहित जानना और अहितको हित जानना, नित्यको अनित्य, अनित्यको नित्य जानना इत्यादि सब बुद्धिका विभ्रंश कहाजाताहै । यथोचित रीतिपर जो पदार्थ जैसा हो उसको वैसाही जानना उसको सद्‌बुद्धि कहते हैं । विषयोंमें चित्तको लगाना अपनेको विषयोंसे न हटासकना धृतिभ्रंश कहाजाता है । क्योंकि धृतिही अर्थोंको नियममें लानेवाली होनेसे नियमात्मिका कही जाती है । रजोगुणसे और मोहसे आवृत हुए मनुष्यकी स्मरणशक्तिका नष्ट होजाना स्मृतिभ्रंश कहाजाता है । स्मर्त्तव्य विषयके धारण करनेवाली स्मृति होती है ॥ ९७-१०० ॥

प्रज्ञापराध ।

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत्कुरुतेऽशुभम् ।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात्सर्वदोषप्रकोपणम् ॥ १०१ ॥
उदीरणं गतिमतामुदीर्णानाञ्च निग्रहः ।
सेवनं साहसानाञ्च नारीणाञ्चातिसेवनम् ॥ १०२ ॥
कर्मकालातिपातश्च मिथ्यारम्भश्च कर्मणाम् ।
विनयाचारलोपश्च पूज्यानाञ्चाभिधर्षणम् ॥ १०३ ॥
ज्ञातानां स्वयमर्थानामहितानां निषेवणम् ।
परमौन्मादिकानाञ्च प्रत्ययानां निषेवणम् ॥ १०४ ॥
अकालादेशसञ्चारौ मैत्री संक्लिष्टकर्मभिः ।
इन्द्रियोपक्रमोक्तस्य सद्वृत्तस्य च वर्जनम् ॥ १०५ ॥

ईर्ष्यामानमदक्रोधलोभमोहमदभ्रमाः ।
तज्जं वा कर्म यत्क्लिष्टं क्लिष्टं यद्देहकर्म च ॥ १०६ ॥
यच्चान्यदीदृशं कर्म रजोमोहसमुत्थितम् ।
प्रज्ञापराधं तं शिष्टा ब्रुवते व्याधिकारणम् ॥ १०७ ॥
बुद्ध्या विषमविज्ञानं विषमञ्च प्रवर्त्तनम् ।
प्रज्ञापराधं जानीयान्मनसो गोचरं हि तत् ॥ १०८ ॥

बुद्धि, धृति और स्मृतिके नष्ट होनेसे यह मनुष्य जिन अशुभ कर्मोंको करता है उसको प्रज्ञापराध अर्थात् बुद्धिका दोष कहते हैं। और वह बुद्धिका दोष सब दोषोंको कुपित करनेवाला होता है। जैसे–काम, क्रोधादि वेगोंको न रोकना और मल मूत्रादि वेगोंको रोकलेना अयोग्य साहस करना, अति स्त्रीसंग करना, संपूर्ण कर्मोंको यथासमय न करना, कर्मोंका मिथ्यारंभ करना, विनय और आचार त्यागदेना, माता पिता गुरुजन आदिकोंका अपमान करना, जानबूझकर बुरे कर्मोंका सेवन करना, परम उन्मादकेसे कर्मोंका करना, बेसमय निंदित स्थानमें डोलना, फिरना, खोटे कर्मोंमें प्रेम रखना, इन्द्रियोपक्रमणीय अध्यायमें कहे हुए श्रेष्ठ आचरणका त्यागदेना, ईर्षा, मान, मद, क्रोध, लोभ, मोह और भ्रम उनका धारण करना और इनसे उत्पन्न होनेवाले निंदित कर्मोंका सेवन करना एवम् देहजनित और मनके सब खोटे कर्मोंका सेवन तथा इसी प्रकारके अन्य कर्म जो रजोगुण और तमोगुणसे उत्पन्न होते हैं उनका सेवन करना, भद्रपुरुष इन सब कर्मोंको प्रज्ञापराध कहते हैं। प्रज्ञापराधही व्याधियोंके उत्पन्न करनेका हेतु है। योग्य विषयको विपरीत भावसे समझना और अयोग्यको योग्य समझना इस प्रकार जो बुद्धिका दोष है उसीको प्रज्ञापराध कहते हैं। वह प्रज्ञापराध मनके आधीन है ॥१०१–१०८ ॥

कालजनित रोग।

निर्दिष्टा कालसम्प्राप्तिर्व्याधीनां हेतुसंग्रहे ।
चयप्रकोपप्रशमाः पित्तादीनां यथा पुरा ॥ १०९ ॥
मिथ्यातिहीनलिंगाश्च वर्षान्ता रोगहेतवः ।
जीर्णभुक्तप्रजीर्णान्नकालाकालस्थितिश्च या ॥ ११० ॥
पूर्वमध्यापराह्णाश्च रात्र्या यामास्त्रयश्च ये ।
येषु कालेषु नियता ये रोगास्ते च कालजाः ॥ १११ ॥
अन्येद्युष्को द्व्यहग्राही तृतीयकचतुर्थकौ ।

स्वे स्वे काले प्रवर्त्तन्ते काले ह्येषां बलागमः ॥ ११२ ॥
एते चान्ये च ये केचित्कालजा विविधा गदाः ।
अनागते चिकित्स्यास्ते बलकालौ विजानता ॥ ११३ ॥

जिस प्रकार काल सम्प्राप्ति तथा व्याधियोंके हेतु संग्रह (कियंतःशिरसीय अध्याय) में पित्त आदिकोंका चय, प्रकोप और प्रशमन पहिले कथनकर आये हैं तथा शीत आदिक वर्षापर्यन्त ऋतुओंका-मिथ्यायोग, अतियोग, हीनयोग होनेसे रोग उत्पन्न होते हैं। भोजनके जीर्ण होनेपर भोजनके समय, भोजनके पाककालमें दोषोंकी जिस प्रकार स्थिति होती है, पूर्वाह्न, मध्याह्न और अपराह्नमें इसीप्रकार रात्रिके तीनों भागोंमें और जिन कालोंमें जो रोग जिस प्रकार नियत हैं तथा जो जिस कालमें उत्पन्न होते हैं एवम् इकतरा, द्व्याहिक, तृतीयक और चातुर्थिक ज्वर जिस प्रकार अपने २ कालमें आकर स्थित होते हैं इन सबको कालजन्य व्याधियें कहते हैं। बुद्धिमान् वैद्य इन व्याधियोंके प्रगट होनेके कालसे पहिलेही चिकित्साद्वारा बल काल विचारकर उसका उपाय करे ॥ १०९-११३ ॥

स्वाभाविकरोगोंका वर्णन।

कालस्य परिणामेन जरामृत्युनिमित्तजाः ।
रोगाः स्वाभाविका दृष्टाः स्वभावो निष्प्रतिक्रियः ॥ ११४ ॥

कालके परिणामसे बुढापे और मृत्युके निमित्तसे जो रोग उत्पन्न होते हैं उनको स्वाभाविकरोग कहते हैं। स्वाभाविकरोगोंकी कोई चिकित्सा नहीं है ॥ ११४ ॥

निर्दिष्टं दैवशब्देन कर्म यत्पौर्वदैहिकम् ।
हेतुस्तदपि कालेन रोगाणामुपलभ्यते ॥ ११५ ॥

पूर्वजन्मके कियेहुए कर्मोंको दैव अथवा प्रारब्ध कहते हैं। वह दैव भी काल पाकर रोगोंका कारण प्रतीत होता है ॥ ११५ ॥

कर्मजरोगोंकी शांति।

न हि कर्म महत्किञ्चित्फलं यस्य न भुज्यते ।
क्रियाघ्नाः कर्मजा रोगाः प्रशमं यान्ति तत्क्षयात् ॥ ११६ ॥

ऐसा कोईभी सूक्ष्मसे सूक्ष्म और महान्से महान् कर्म नहीं है जिसका फल न भोगना पडता हो। वह कर्मसे उत्पन्न हुए रोग क्रिया अथवा प्रायश्चित्त करनेसे शान्त होजाते हैं ॥ ११६ ॥

श्रवणेन्द्रियका मिथ्यायोग।

अत्युग्रशब्दश्रवणाच्छ्रवणात्सर्वशो न च ।

शब्दानाञ्चातिहीनानां भवन्ति श्रवणाज्जडाः ॥ ११७ ॥
परुषोद्भीषणाशस्ताप्रियव्यसनसूचकैः ।
शब्दैः श्रवणसंयोगो मिथ्यायोगः स उच्यते ॥ ११८ ॥

अत्यन्त उग्र शब्द सुनना और बहुत कालपर्यन्त तीक्ष्ण आवाजका सुनतेरहना श्रवणेन्द्रियका अतियोग है। सर्वथा न सुनना अथवा अत्यन्त हीन शब्दोंका सुनना यह श्रवणेन्द्रियका अयोग है। कठोर शब्द, निंदित शब्द, अप्रिय शब्द और विपत्तिके याद दिलानेवाले शब्दोंका सुनना श्रवणेन्द्रियका मिथ्यायोग है। इन तीनों योगोंके संयोगसे श्रवणेन्द्रियमें जडता उत्पन्न होती है ॥ ११७ ॥ ११८ ॥

त्वगिन्द्रियका मिथ्यायोग।

असंस्पर्शोऽतिसंस्पर्शो हीनसंस्पर्श एव च ।
स्पृश्यानां संग्रहेणोक्तः स्पर्शनेन्द्रियबाधकः ॥ ११९ ॥
यो भूतविषवातानामकालेनागतश्च यः ।
स्नेहशीतोष्णसंस्पर्शो मिथ्यायोगः स उच्यते ॥ १२० ॥

किसी वस्तुका भी स्पर्श न करना, अत्यंत स्पर्श करना, बहुत हीन स्पर्श करना भूतसंस्पर्श होना, विषसंस्पर्श, तीक्ष्णवायुका संस्पर्श, बेसमयके स्नेह, शीत और उष्णका संस्पर्श इत्यादि स्पर्शनेन्द्रियके अयोग, अतियोग और मिथ्यायोग होनेसे स्पर्शशक्ति हीन होजाती है ॥ ११९ ॥ १२० ॥

दर्शनेन्द्रियका मिथ्यायोग।

रूपाणां भास्वतां दृष्टिर्विनश्यति च दर्शनात् ।
दर्शनाच्चातिसूक्ष्माणां सर्वशश्चाप्यदर्शनात् ॥ १२१ ॥
द्विष्टभैरवबीभत्सदूरातिक्लिष्टदर्शनात् ।
तामसानाञ्च रूपाणां मिथ्यासंयोग उच्यते ॥ १२२ ॥

अत्यन्त प्रकाशवान् वस्तुओंको देखना, अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थोंको देखना, सर्वथा किसी वस्तुको भी न देखना, द्वेषयुक्त, भयानक बीभत्स पदार्थोंको देखना बहुत दूरसे बडी देरतक देखना और जिसके देखनेसे कष्ट हो उसको देखना, तथा तामस रूपोंका देखना यह सब दृष्टिका मिथ्यायोग कहाजाता है ॥ १२१ ॥ १२२ ॥

रसनेन्द्रियका मिथ्यायोग।

अत्यादानमनादानमोकसात्म्यादिभिश्च यत् ।
रसानां विषमादानमल्पादानञ्च दूषणम् ॥ १२३ ॥

रसविशेषोंको अत्यन्त ग्रहण करना, अथवा कोई रस भी बिलकुल ग्रहण न करना, विपरीततासे ग्रहण करना, या अत्यन्तही हीनतासे ग्रहण करना, अत्यंत तीक्ष्णरसोंका ग्रहण करना रसनेन्द्रियका मिथ्यायोग कहाताहै। रसनेन्द्रियका मिथ्यायोग होनेसे जिह्वाकी शक्ति हीन होजाती है ॥ १२३ ॥

घ्राणेन्द्रियका मिथ्यायोग ।

अतिमृद्वतितीक्ष्णानां गन्धानामुपसेवनम् ॥ १२४ ॥
असेवनं सर्वशश्च घ्राणेन्द्रियविनाशनम् ।
पूतिभूतविषद्विष्टा गन्धा ये चाप्यनार्त्तवाः ॥ १२५ ॥
तैर्गन्धैर्घ्राणसंयोगो मिथ्यायोगः स उच्यते ॥ १२६ ॥

अति मृदु और अत्यन्त तीक्ष्ण गंधके सूंघनेसे या सर्वथा किसी गंधके न सूंघनेसे और दुर्गंध तथा विषदूषित अथवा जो बुरी प्रतीत हो उस गंधके सूंघनेसे और अकालमें प्रगटहुई गंधके सूंघनेसे घ्राणेन्द्रियका मिथ्यायोग होनेसे घ्राणशक्ति हीन होजाती है ॥ १२४-१२६ ॥

असात्म्यके लक्षण ।

इत्यसात्म्यार्थसंयोगस्त्रिविधो दोषकोपनः ।
असात्म्यमिति तद्विद्याद्यन्न याति सहात्मताम् ॥ १२७ ॥

इस प्रकार इन्द्रियोंका अयोग, अतियोग और मिथ्यायोग यह तीन प्रकारका असात्म्य संयोग होनेसे दोष कुपित होकर इन्द्रियोंको नष्ट करदेते हैं । जो पदार्थ अथवा जो विषय आत्माके साथ न मिले अर्थात् अपने स्वभावके अनुकूल न हों उसको असात्म्य कहते हैं ॥ १२७ ॥

मिथ्यातिहीनयोगेभ्यो यो व्याधिरुपजायते ।
शब्दादीनां स विज्ञेयो व्याधिरैन्द्रियको बुधैः ॥ १२८ ॥

शब्दादिक विषयोंका श्रवणादि इन्द्रियोंसे मिथ्यायोग, अतियोग और हीनयोग होनेसे जो व्याधियें उत्पन्न होती हैं उनको बुद्धिमान् लोग ऐन्द्रियकव्याधि कहते हैं॥

वेदनानामसात्म्यानामित्येते हेतवः स्मृताः ।
सुखहेतुर्मतस्त्वेकः समयोगः सुदुर्लभः ॥ १२९ ॥

इस प्रकार असात्म्य पदार्थोंका सेवन अथवा मिथ्यायोगसे सेवन व्याधि उत्पन्न करनेका कारण होता है । और विधिवत् समानयोगसे सेवन करना सुखका हेतु होता है परन्तु सम्पूर्ण पदार्थोंका समयोगसे सेवन करना भी दुर्लभ है ॥ १२९ ॥

सुखदुःखोंके प्रधानहेतु।

नेन्द्रियाणि न चैवार्थाः सुखदुःखस्य हेतवः।
हेतुस्तु सुखदुःखस्य योगो दृष्टश्चतुर्विधः॥ १३०॥
सन्तीन्द्रियाणि सन्त्यर्था योगो न च न चास्ति रुक्।
न सुखं कारणं तस्माद्योग एव चतुर्विधः॥ १३१॥

सुख और दुःखके हेतु न तो सम्पूर्ण इन्द्रिय हैं और न अर्थही (इन्द्रियोंके विषय) हैं। किन्तु चतुर्विध योगका होनाही सुखदुःखका हेतु होता है। अर्थात् तीन प्रकारके असात्म्य योगोंका होना दुःखका कारण होता है और केवल समयोगका होनाही सुखका कारण होता है। सम्पूर्ण इन्द्रिय भी हों और इन्द्रियोंके विषय भी हों परंतु पूर्वोक्त चार प्रकारका योग न होनेसे न सुख होता है और न व्याधिही होसकती है इसलिये सम्पूर्ण सुखदुःखोंका कारण यह चतुर्विध योग ही होता है॥

नात्मेन्द्रियमनोबुद्धिगोचरं कर्म वा विना।
सुखं दुःखं यथा यच्च बोद्धव्यं तत्तथोच्यते॥ १३२॥

यद्यपि सुख और दुःख आत्मा, इन्द्रिय, मन और बुद्धिके गोचर हैं परन्तु कर्मके संयोग विना वह नहीं होसकते, कर्महीं सुख और दुःखका इनके साथ संयोग कराता है। जिस प्रकार कर्म सुखदुःखके संयोगको कराता है उसका कथन करते हैं १३२

स्पर्शनेन्द्रियसंस्पर्शः स्पर्शो मानस एव च।
द्विविधः सुखदुःखानां वेदनानां प्रवर्त्तकः॥ १३३॥
इच्छाद्वेषात्मिका तृष्णा सुखदुःखात्प्रवर्त्तते।
तृष्णा च सुखदुःखानां कारणं पुनरुच्यते॥ १३४॥
उपादत्ते हि सा भावान्वेदनाश्रयसंज्ञकान्।
स्पृश्यते नानुपादानो नास्पृष्टो वेत्ति वेदनाः॥ १३५॥

जैसे–स्पर्शनेन्द्रिय संस्पर्श और मानससंस्पर्श यह दो प्रकारके संस्पर्शरूपी जो कर्म हैं यही सुखदुःखके ज्ञानके प्रवर्त्तक हैं। फिर सुखदुःखसे इच्छा द्वेषमयी तृष्णा उत्पन्न होती है। वह तृष्णाही सुखदुःखका कारण कहीजाती है क्योंकि वह तृष्णाही वेदनाश्रय भावोंको ग्रहण करती है। जिसका ग्रहण नहीं किया जाता उसका स्पर्श भी नहीं होता किसी प्रकारका भी स्पर्श न होनेसे पीडाकी उत्पत्ति नहीं होती॥

वेदनाके स्थान ।

वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः ।
केशलोमनखाग्रान्नमलद्रवगुणैर्विना ॥ १३६ ॥

मन और इन्द्रिययुक्त शरीर पीडाका अधिष्ठान है । स्पर्शेन्द्रियरहित, केश, रोम, नख, मल, मूत्र और शरीरमें होनेवाले शब्द आदिक यह कोई भी वेदनाके अधिष्ठान नहीं हैं ॥ १३६ ॥

योग और मोक्ष ।

योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्त्तनम् ।
मोक्षो निवृत्तिर्निःशेषा योगो मोक्षप्रवर्त्तकः ॥ १३७ ॥
आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात्प्रवर्त्तते ।
सुखं दुःखमनारम्भादात्मस्थे मनसि स्थिते ॥ १३८ ॥
निवर्त्तते तदुभयं वशित्वञ्चोपजायते ।
सशरीरस्य योगज्ञास्तं योगमृषयो विदुः ॥ १३९ ॥

योग और मोक्षमें किसी प्रकारके दुःखादिक भाव उत्पन्न नहीं होते । और मोक्ष तो निःशेषरूपसे दुःखकी निवृत्तिही है और योगद्वाराही मोक्षकी प्राप्ति होती है । आत्मा, इंद्रिय मन और इंद्रियोंके विषय इनका संयोग होनेसेही सुखदुःखकी प्रवृत्ति है । योगावस्थामें मन निष्क्रिय होकर आत्मामें स्थित होजाता है । इसलिये उस अवस्थामें सुखदुःखकी निवृत्ति होजाती है और वशित्व उत्पन्न होजाता है । सब इंद्रियोंको तथा मनको वशमें करलेनाही ऋषिलोग योग कथन करते हैं ॥ १३७-१३९ ॥

अष्टविध योगबल ।

आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया ।
दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम् ॥ १४० ॥
इत्यष्टविधमाख्यातं योगिनां बलमैश्वरम् ।
शुद्धसत्त्वसमाधानात्तत्सर्वमुपजायते ॥ १४१ ॥

सत्त्वगुणके प्रगट होनेसे योगियोंमें आठ प्रकारका ईश्वरीयबल आजाता है अथवा योगके प्रभावसे प्राप्त हुए ऐश्वर्य्यकृत बल आजाता है, जैसे-आवेश अर्थात् परशरीरमें प्रवेश करना अथवा चित्तको परचित्तमें प्रवेश करदेना, संपूर्ण भूत भविष्यत्‌का जानलेना, इच्छानुसार क्रिया करना, योगदृष्टिसे संपूर्ण पदार्थोंको देखलेना, दूरकी बातोंको श्रवण करलेना, पूर्वजन्मके विषयोंको अथवा अन्य सर्व भावोंको स्मरण

करलेना, दिव्य कान्तिका होना, प्रकट होना और अन्तर्धान हो जाना। यह ईश्वरीय-बल योगाभ्याससे शुद्धसत्त्वगुणके प्रगट होजानेपर उत्पन्न हो जाते हैं ॥१४०-१४१॥

मोक्षप्राप्तिके उपाय।

मोक्षो रजस्तमोऽभावाद्बलवत्कर्मसंक्षयात् ।
वियोगः कर्मसंयोगैरपुनर्भाव उच्यते ॥ १४२ ॥

रजोगुण और तमोगुणका अभाव होनेसे और योगद्वारा बलवान् कर्मके क्षय होनेसे तथा कर्मके संयोगोंसे वियोग होनेसे जो अपुनर्भाव होता है अर्थात् फिर जन्म लेनेका अभाव होजाता है उसको मोक्ष कहते हैं ॥ १४२ ॥

दुःखोंसे निवृत्तिके उपाय।

सतामुपासनं सम्यगसतां परिवर्जनम् ।
व्रतचर्य्योपवासश्च नियमाश्च पृथग्विधाः ॥१४३॥
धारणं धर्मशास्त्राणां विज्ञानं विजने रतिः ।
विषयेष्वरतिर्मोक्षे व्यवसायः परा धृतिः ॥ १४४ ॥

श्रेष्ठ पुरुषोंका सेवन, दुर्जनोंके संगका त्याग, ब्रह्मचर्यपालन, उपवास तथा अन्य नियमोंका पालन करना, धर्मका धारण करना, विज्ञान, निर्जनस्थानमें रति (प्रीति), विषयोंमें वैराग्य, मोक्षसाधनमें तत्परता, परम धैर्य्यका होना ॥ १४३ ॥ १४४ ॥

कर्मणामसमारंभः कृतानाञ्च परिक्षयः ।
नैष्कर्म्यमनहंकारः संयोगे भयदर्शनम् ॥ १४५ ॥
मनोबुद्धिसमाधानमर्थतत्त्वपरीक्षणम् ।
तत्त्वस्मृतेरुपस्थानात्सर्वमेतत्प्रवर्त्तते ॥ १४६ ॥

कर्मका अनारंभ, कियेहुए कर्मोंका क्षय, गृहादिकोंका त्याग, निरहंकार, विषयोंमें भयदर्शन, मन और बुद्धिका समाधान, अर्थतत्त्वकी परीक्षा यह सब आत्मतत्त्वकी उत्कर्षतासे उत्पन्न होते हैं ॥ १४५ ॥ १४६ ॥

स्मृतिः सत्सेवनाद्यैश्च धृत्यन्तैरुपलभ्यते ।
स्मृत्या स्वभावं भावानां स्मरन्दुःखात्प्रमुच्यते ॥ १४७ ॥

महात्मादिकोंके सेवन आदि नियमोंसे और संपूर्ण धृतिके गुणोंके उत्कर्षसे स्मृतिकी उपलब्धि होती है। उसी यौगिकस्मृतिद्वारा संपूर्ण भावोंके स्वभावका स्मरण होनेसे मनुष्य दुःखसुखसे छूट मोक्षका अधिकारी होजाता है॥ १४७ ॥

वक्ष्यन्ते कारणान्यष्टौ स्मृतिर्यैरुपजायते ।
निमित्तरूपग्रहणात्सादृश्यात्सविपर्ययात् ॥ १४८ ॥
सत्त्वानुबन्धादभ्यासाज्ज्ञानयोगात्पुनः श्रुतात् ।
दृष्टश्रुतानुभूतानां स्मरणात्स्मृतिरुच्यते ॥ १४९ ॥

जिन आठ कारणोंसे स्मृतिकी उत्पत्ति होती है उन आठ कारणोंका कथन करते हैं। जैसे—निमित्त, रूपग्रहण, सादृश्य, विपर्यय, सत्त्वानुबंध, अभ्यास, ज्ञानयोग और पुनःश्रवण करना यह स्मृतिके उत्पन्न होनेके कारण हैं। देखेहुए, सुनेहुए, अनुभव कियेहुए भूतोंको स्मरण करनेसे इसको स्मृति कहते हैं ॥ १४८ ॥ १४९ ॥

एतत्तदेकमयनं मुक्तैर्मोक्षस्य दर्शितम् ।
तत्त्वस्मृतिबलं येन गता न पुनरागताः ॥ १५० ॥
अयनं पुनराख्यातमेतद्योगस्य योगिभिः ।
संख्यातधर्मैः सांख्यैश्च मुक्तैर्मोक्षस्य चायनम् ॥ १५१ ॥

योगीजनोंने यही मोक्षसाधनका एकमात्र मार्ग दिखाया है। जो महात्मा तत्त्व-स्मृतिके बलसे मोक्षको प्राप्त हुए हैं वह फिर कभी जन्मको धारण नहीं करते। इसीको योगियोंने योगका स्थान कथन किया है और विख्यातधर्मा सांख्यवादियोंने इसीको मोक्षका मार्ग कथन किया है ॥ १५० ॥ १५१ ॥

सर्वं कारणवद्दुःखमस्वञ्चानित्यमेव च ।
न चात्माकृतकं तद्धि तत्र चोत्पद्यते स्वता ॥ १५२ ॥
यावन्नोत्पद्यते सत्या बुद्धिर्नैतदहं यया ।
नैतन्मम च विज्ञाय ज्ञः सर्वमतिवर्त्तते ॥ १५३ ॥

यह जो सम्पूर्ण भाव हैं यह सब दुःखके कारण हैं। अपना कुछ नहीं है यह सब अनित्य है। आत्मा उदासीन है इसलिये यह आत्माका कियाहुआ नहीं है। शरीरादिकोंमें ममता होना वृथाहै इत्यादिक सत्या बुद्धिकी जबतक उत्पत्ति नहीं होती तबतक अहंबुद्धि आदि नष्ट नहीं होते। जब सात्त्विकी बुद्धि उत्पन्न होनेसे यह मेरा नहीं मैं इन सबसे अलग हूं इत्यादि यथावत् विज्ञान प्राप्त होजाताहै तब यह आत्मा ज्ञानी होनेसे सम्पूर्णका त्याग कर देताहै ॥ १५२॥१५३ ॥

मोक्षका रूप ।

तस्मिंश्चरमसंन्यासे समूलाः सर्ववेदनाः ।
समज्ञा ज्ञानविज्ञानान्निवृत्तिं यान्त्यशेषतः ॥ १५४ ॥

अतः परं ब्रह्मभूतो भूतात्मा नोपलभ्यते।
निःसृतः सर्वभावेभ्यश्चिह्नं यस्य न विद्यते ॥ १५५ ॥
गतिर्ब्रह्मविदां ब्रह्म तच्चाक्षरमलक्षणम्।
ज्ञानं ब्रह्मविदाञ्चात्र नाज्ञस्तज्ज्ञातुमर्हति ॥ १५६ ॥

जब आत्मामें इस प्रकार यथावत् ज्ञान होनेसे संन्यास उत्पन्न होजाता है तब संपूर्ण कामादिकवेदना अज्ञता, ज्ञान, विज्ञान यह सब निःशेषताते निवृत्त होजाते हैं। फिर यह परब्रह्मभावको प्राप्त होकर शरीरआदिकोंको प्राप्त नहीं होता। इसप्रकार सम्पूर्ण भावोंसे मुक्त होनेपर इस पुरुषका कोई चिह्न बाकी नहीं रहता। वह ब्रह्म ब्रह्मके जाननेवालोंकी गति है अर्थात् ब्रह्मक जाननेवालेही उस अवस्थाको जान सकते हैं और प्राप्त होसकते हैं। वह अक्षर है और लक्षणरहित है। ब्रह्मज्ञानरहित मनुष्य उसको किसी प्रकार भी नहीं जान सकते ॥ १५४-१५६ ॥

अध्यायका संक्षिप्त वर्णन।

प्रश्नाः पुरुषमाश्रित्य त्रयोविंशतिरुत्तमाः।
कतिधापुरुषीयेऽस्मिन्निर्णीतास्तत्त्वदर्शिना ॥ १५७ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते कतिधापुरुषीयं शारीरं समाप्तम् ॥ १ ॥

यहां अध्यायकी पूर्त्तिमें कहते हैं कि, इस कतिधापुरुषीय अध्यायमें तत्त्वज्ञाता महर्षि आत्रेयजीने पुरुषका आश्रय लेकर तेईस प्रकारके उत्तम प्रश्नोंके उत्तररूप निर्णयको विधिपूर्वक कथन किया है ॥ १५७ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां शारीरस्थाने पटियालाराज्यांतर्गतटकसाल-निवासिवैद्यपञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्य-भाषाटीकायां कतिधापुरुषीयशारीरं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः।

अथातोऽतुल्यगोत्रीयं शारीरं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम अतुल्यगोत्रीय शारीरनामक अध्यायकी व्याख्या करते हैं इस प्रकार भगवान् आत्रेयजी कथन करनेलगे ॥

गर्भके चतुष्पादमें प्रश्न ।

अतुल्यगोत्रस्य रजःक्षयान्ते रहो विसृष्टं मिथुनीकृतस्य ।
किं स्याच्चतुष्पात्प्रभवञ्च षड्भ्यो यत्स्त्रीषु गर्भत्वमुपैति पुंसः ॥ १ ॥

जब स्त्री रजोधर्मसे शुद्ध हो लेवे अर्थात् रजोदर्शनके चार दिन उपरांत अपनेसे अन्य गोत्रवाले पुरुषके संयोगसे एकान्तस्थानमें रात्रिके समय गर्भाधान करनेसे उस ऋतुसे शुद्धहुई स्त्रीके गर्भाशयमें जो शारीरिक द्रव्य गिरता है तथा चतुष्पाद और छः रसोंसे प्रगट होनेवाला जो जो द्रव्य है अर्थात् जो चतुष्पाद गर्भ कहाजाता है और गर्भत्वको प्राप्त होता है वह क्या पदार्थ है ? ॥ १ ॥

उत्तर ।

शुक्रं तदस्य प्रवदन्ति धीरा यद्धीयते गर्भसमुद्भवाय ।
वाय्वग्निभूम्यब्गुणपादवत्तं षड्भ्यो रसेभ्यः प्रभवञ्च तस्य ॥ २ ॥

इस प्रकार अग्निवेशके प्रश्नको सुनकर भगवान् आत्रेयजी कहते हैं कि, छः रसोंका अन्तिम परिणामभूत जो वीर्य है उसको बुद्धिमान् शुक्र कहते हैं । वह पुरुषका शुक्रही स्त्रीकी योनिमें प्राप्त हो शुद्ध आर्तवसे मिलकर गर्भको प्रगट करता है क्योंकि छः रसोंसे इसकी उत्पत्ति होती है इस लिये इसकी छः रसोंसे उत्पत्ति मानते हैं । वह वायु, अग्नि, पृथ्वी और जल इनके गुणोंसे युक्त होता है इसलिये इसको चतुष्पाद कहते हैं ॥ २ ॥

गर्भके विषयमें प्रश्न ।

सम्पूर्णदेहः समये सुखञ्च गर्भः कथं केन च जायते स्त्री ।
गर्भं चिराद्विन्दति सप्रजापि भूत्वाथवा नश्यति केन गर्भः ॥ ३ ॥

(प्रश्न) वह वायु, अग्नि, पृथ्वी और जलसे युक्त हुआ गर्भ किस समय संपूर्ण देहको प्राप्त होता है ? और स्त्री किस प्रकार कैसे सुखपूर्वक प्रगट करती है । और जो स्त्रियें वन्ध्या दोषयुक्त नहीं भी हैं वह भी कभी कभी बहुत समयमें अर्थात् विलम्बसे गर्भको क्यों धारण करती हैं बहुतसी स्त्रियोंको गर्भ होकर फिर वह नष्ट क्यों होजाता है ॥ ३ ॥

---

१ अत्र वाय्वादिपादवति वक्तव्ये यद्गुणपदमधिकं विहितं, तेन प्रशस्तगुणवतामेव वाय्वादीनां विशुद्धशुक्रारम्भकत्वमिति दर्शयति । वाय्वादिषु शुक्रारम्भकेषु " पादव्यपदेशेन चतुर्ष्वेव शुक्रारम्भकत्वं " विद्यते । आकाशन्तु यद्यपि शुक्रं पाञ्चभौतिकेऽस्ति, तथापि न पुरुषशरीरान्निर्गत्य गर्भाशयं गच्छति किन्तु भूतचतुष्टयमेव क्रियावद्भवति आकाशन्तु व्यापकमेव तत्रागतेन शुक्रेण सम्बद्धं भवति । आकाशस्य गमनाभावादिह गर्भाशयगमनाभिधानप्रस्तावे शुक्रगतत्वेनानभिधानम् । अन्यत्रापि च भूतानां गमनप्रस्तावे आकाशमनभिधानत्वात् । यथा— " भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात् " इति ।

यथाक्रम उत्तर।

शुक्रासृगात्माशयकालसम्पंत्स्योपचाराश्च हितैस्तथार्थैः।
गर्भश्च काले च सुखी सुखञ्च सञ्जायते सम्परिपूर्णदेहः ॥ ४ ॥

(उत्तर) शुद्ध शुक्र और शुद्ध रक्त, आत्मा, जरायु और काल इन सबके उत्तम होनेसे तथा हितकारक पदार्थोंके सेवनसे एवम् हितकारक भावोंके होनेसे अपने समयपर संपूर्णदेह हुआ वह सुखी गर्भ सुखपूर्वक उत्पन्न होता है ॥ ४ ॥

योनिप्रदोषान्मनसोऽभितापाच्छुक्रासृगाहारविहारदोषात्।
अकालयोगाद्वलसंक्षयाच्च गर्भं चिराद्विन्दति सप्रजापि ॥ ५ ॥

योनिके दोषसे और मनके अभितापसे शुक्र और रजके दोषसे, अहित आहार विहारके सेवनसे, अकालका योग होनेसे और बलके क्षीण होनेसे इत्यादि कारणोंसे जो स्त्रियें वन्ध्या नहीं भी हैं वह भी गर्भको बहुत विलंबसे धारण करती हैं ॥ ५ ॥

मिथ्याकल्पित गर्भ।

असृङ्निरुद्धं पवनेन नार्य्या गर्भं व्यवस्यन्त्यबुधाः कदाचित्।
गर्भस्य रूपं हि करोति तस्यास्तदासृगस्रावि विवर्द्धमानम् ॥ ६ ॥
तदाग्निसूर्य्यश्रमशोकरोगैरुष्णान्नपानैरथवा प्रवृत्तम्।
दृष्ट्वासृगेकेन च गर्भमज्ञाः केचिन्नरा भूतहृतं वदन्ति ॥ ७ ॥

जब गुल्म आदिका योग होनेसे वायु स्त्रीके रजोधर्मको रोकदेता है तब बहुतसे मूर्खलोग यह समझ लेते हैं कि, यह गर्भ है और वह मासिकऋतुके स्राव न होनेसें वृद्धिको प्राप्त हो गर्भकेसे रूपोंको धारण कर लेता है। जब कभी अचानक अग्नि अथवा सूर्यके सन्तापसे वा किसी शोक या रोगसे अथवा गर्म अन्नपानके सेवनसे स्राव होने लगता है तो उस रुधिरको देखकर और शरीरमें पहिलेके समान गर्भकेसे चिह्न न पाकर कोई २ कहनेलगती है कि इस गर्भको भूतोंने नष्ट करडाला है६॥७॥

ओजोऽशनानां रजनीचराणामाहारहेतोर्न शरीरमिष्टम्।
गर्भं हरेयुर्यदि तेन मातुर्लब्धावकाशं न हरेयुरोजः ॥ ८ ॥

परन्तु यह सब विश्वास उनका मूर्खताका होता है क्योंकि भूत, प्रेत केवल ओजकोही अशन करनेवाले हैं शरीरको वह नहीं खाते यदि वह स्त्रीके शरीरमें प्रवेश होकर गर्भको नष्ट करते तो माताके ओजको पीकर उसको नष्ट क्यों न कर डालते? इस लिये यह सब उनका विश्वास मूर्खताका जानना ॥ ८ ॥

---

१ 'सम्पत्' शब्दः शुक्रादिभिः प्रत्येकमभिसम्बध्यते।

एक गर्भमें अनेक सन्तान होनेके विषयमें प्रश्न।

कन्यां सुतं वा सहितौ पृथग्वा सुतौ सुते वा तनयान्बहून् वा।
कस्मात्प्रसूते सुचिरेण गर्भमेकोभिवृद्धिश्च यमेऽभ्युपैति ॥ ९ ॥

(प्रश्न) गर्भसे कन्या किस प्रकार उत्पन्न होती है। पुत्र कैसे होता है। दो पुत्र या दो कन्या किस तरह होते हैं। अथवा कन्या और पुत्र मिलकर दो कैसे होते हैं। एकही गर्भसे बहुतसे पुत्र कैसे प्रगट होते हैं। प्रसूत होनेमें अधिक विलंब किस प्रकार होता है और एक गर्भसे यदि दो बालक उत्पन्न हों तो उनमें एक हृष्टपुष्ट और एकके कृश होनेका क्या कारण है ॥ ९ ॥

उत्तर।

रक्तेन कन्यामधिकेन पुत्रं शुक्रेण तेन द्विविधीकृतेन।
बीजेन कन्याञ्च सुतञ्च सूते यथास्वबीजान्यतराधिकेन ॥ १० ॥
शुक्राधिकं द्वैधमुपैति बीजं यस्याः सुतौ सा सहितौ प्रसूते।
रक्ताधिकं वा यदि भेदमेति द्विधा सुते सा सहिते प्रसूते ॥ ११ ॥

(उत्तर) गर्भाधानके समय स्त्रीके रक्तकी अधिकता होनेसे कन्या उत्पन्न होती है और पुरुषके शुक्रकी अधिकता होनेसे पुत्र उत्पन्न होता है। यदि वह दोनों मिलते समय गर्भाशयकी वायुसे दो विभागको प्राप्त होजांय तो उनमें एक भागमें रक्तकी अधिकता एकमें वीर्यकी अधिकता होनेसे एक कन्या और एक पुत्र उत्पन्न होता है। यदि उस समय शुक्रकी अधिकता हो फिर शुक्र और रज मिलकर दो विभाग होजांय तो दो पुत्र उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार रजकी अधिकता होनेसे दो कन्यायें उत्पन्न होती हैं॥ १० ॥ ११ ॥

भिनत्ति यावद्बहुधा प्रपन्नः शुक्रार्त्तवं वायुरतिप्रवृद्धः।
तावन्त्यपत्यानि यथाविभागं कर्मात्मकान्यस्ववशात्प्रसूते ॥ १२ ॥

यदि गर्भाशयमें अत्यन्त बढा हुआ वायु उस रज वीर्यके पांच चार विभाग बना देवे तो कर्माधीन उतने बालक गर्भसे प्रगट होते हैं ॥ १२ ॥

आहारमाप्नोति यदा न गर्भः शोषं समाप्नोति परिस्रुतिं वा।
तं स्त्री प्रसूते सुचिरेण गर्भं पुष्टो यदा वर्षगणैरपि स्यात् ॥ १३ ॥

जब गर्भको आहार नहीं मिलता या गर्भवती स्त्री अत्यन्त हानिकारक रूक्ष आदि- पदार्थोंका सेवन करती है तब गर्भ सूखजाता है अथवा गिर भी जाती है। यदि वह गर्भ सूखजाता है तो बहुत कालमें पुष्ट होता और बहुत विलंबसे उत्पन्न होता है। कभी २ उस गर्भके प्रगट होनेमें एकवर्षसेभी अधिक समय लगजाता है ॥ १३ ॥

कर्मात्मकत्वाद्विषमांशभेदाच्छुक्रासृजं वृद्धिमुपैति कुक्षौ।
एकोऽधिको न्यूनतरो द्वितीय एवं यमेऽप्यभ्यधिको विशेषः॥१४॥

कर्माधीन रज और वीर्यके बडे छोटे दो अंश होजानेसे वह दोनों भाग कुक्षिमें वृद्धिको प्राप्त होकर जब समयपर उत्पन्न होते हैं तो उनमें एक बडा और एक छोटा होता है ॥ १४ ॥

गर्भसे नपुंसकादि होनेके हेतु।

कस्माद्द्विरेताः पवनेन्द्रियो वा संस्कारवाही नरनारिषण्डः।
वक्री तथेर्ष्याभिरतिः कथं वा सञ्जायते वातिकषण्डको वा॥१५॥

(प्रश्न) द्विरेता–द्विरेता किस प्रकार होता है। पवनेन्द्रिय कैसे होता है। और संस्कारवाही किस कारणसे होता है। नरषण्ड किस कारणसे होता है। नारीषण्ड किस कारणसे होता है। वक्री कैसे होता है। ईर्षक किस प्रकार होता है। वातिकषण्ड होनेके क्या कारण हैं ॥ १५ ॥

बीजात्समांशादुपतप्तबीजात्स्त्रीपुंसलिङ्गी भवति द्विरेताः।
शुक्राशयं गर्भगतस्य हत्वा करोति वायुः पवनेन्द्रियत्वम्॥ १६ ॥
शुक्राशयद्वारविघट्टनेन संस्कारवाहं हि करोति वायुः।
मन्दाल्पबीजावबलावहर्षौ क्लीबौ च हेतुर्विकृतिद्वयस्य ॥ १७ ॥
मातुर्व्यवायप्रतिघेन वक्री स्याद्बीजदौर्बल्यतया पितुश्च।
ईर्ष्याभिभूतावपि मन्दहर्षावीर्ष्यारतेरेव वदन्ति हेतुम् ॥ १८ ॥
वाय्वग्निदोषाद् वृषणौ तु यस्य नाशं गतौ वातिकषण्डकः सः।
इत्येवमष्टौ विकृतिप्रकाराः कर्मात्मकानामुपलक्षणीयाः ॥ १९ ॥

(उत्तर) गर्भाधानके समय रज और वीर्य दोनों समांश अर्थात् बराबर होनेसे गर्भ हो जो संतान होती है उसको द्विरेता नपुंसक कहते हैं। यह स्त्री और पुरुषकेसे लक्षणवाला होता है। जब वायु गर्भके शुक्राशयको नष्ट करदेता है उससे जो बालक प्रगट होता है उसको पवनेंद्रिय (नपुंसक) कहते हैं इसको वीर्य नहीं होता। यदि वायु गर्भमें शुक्राशयके द्वारको रोकदेवे तो उस गर्भसे उत्पन्न हुए सन्तानको संस्कार वाही कहते हैं। इस पुरुषके शरीरमें वीर्यांश होते हुए भी वीर्य निकल नहीं सकता। माता पिताके अत्यन्त अल्प और दुर्बल वीर्य होनेसे तथा अप्रसन्न होकर मैथुन करनेसे जो गर्भ होता है उससे यदि पुरुषकेसे लक्षणवाला उत्पन्न हो तो नरषण्ड कहते हैं और स्त्रीके लक्षणवाला हो तो नारीषण्ड कहते हैं। स्त्री पुरुषके समान ऊपर हो और

पुरुष स्त्रीके समान नीचे हो उस अवस्थामें गर्भ रहनेसे और पुरुषका वीर्य कम होनेसे जो संतान होती है उसको वक्री कहते हैं। यदि वह पुरुष हो तो स्त्रीके लक्षण-वाला होता है और स्त्री हो तो पुरुषके लक्षणवाली होती है। गर्भाधानके समयमें मातापिताके ईर्षायुक्त तथा मन्दहर्ष होनेसे जो सन्तान होती है उसको ईर्षक कहते हैं। वायु और अग्निके दोषसे जिसके दोनों फोते नष्ट होगयेहों उसको वातिकषण्ड कहते हैं इस प्रकार अपने कर्मदोषसे यह आठ प्रकारके गर्भकी विकृतियोंसे उत्पन्न होनेवाले नपुंसक कहेजाते हैं ॥ १६–१९ ॥

गर्भस्य सद्योऽनुगतस्य कुक्षौ स्त्रीपुंनपुंसामुदरस्थितानाम्।
किं लक्षणं कारणमिष्यते किं सरूपतां येन च यात्यपत्यम् ॥ २० ॥

(प्रश्न) तत्काल हुए गर्भके क्या लक्षण होते हैं गर्भमें कन्या है अथवा पुरुष है या नपुंसक है इनके पृथक् २ जाननेके क्या लक्षण होते हैं। सब संतानोंका एकसा स्वरूप न होनेमें क्या कारण है ॥ २० ॥

सद्योगर्भके लक्षण।

निष्ठीविका गौरवमङ्गसादस्तन्द्राप्रहर्षौ हृदयव्यथा च।
तृप्तिश्च बीजग्रहणञ्च योन्या गर्भस्य सद्योऽनुगतस्य लिङ्गम्॥२१॥

(उत्तर) सद्योगृहीतगर्भाके लक्षण ये हैं जैसे–मुखसे थूकका आना, शरीर भारी होना, जांघोंका रहसा जाना, ग्लानि, तन्द्रा, अप्रहर्ष, हृदयमें व्यथा, विनाही भोजन तृप्ति, योनिका फडकना यह सब योनिद्वारा बीज ग्रहण करनेके अर्थात् तत्काल गर्भ होनेके लक्षण हैं ॥ २१ ॥

गर्भस्थबालकादिका परिचय।

सव्याङ्गचेष्टा पुरुषार्थिनी स्त्री स्त्रीस्वप्नपानाशनशीलचेष्टा।
सव्याङ्गगर्भा न च वृत्तगर्भा सव्यप्रदुग्धा स्त्रियमेव सूते ॥ २२ ॥
पुत्रन्त्वतो लिङ्गविपर्ययेण व्यामिश्रलिङ्गा प्रकृतिं तृतीयाम्।
गर्भोपपत्तौ तु मनः स्त्रिया यं जन्तुं व्रजेत्तत्सदृशं प्रसूते ॥ २३ ॥

गर्भधारण होजानेके अनन्तर जो स्त्री वामअंगसे अधिक बर्ताव करे अथवा जिसका वामअंग भारी हो जिसको पुरुषसंगकी इच्छा हो, निद्रा अधिक आतीहो खानेपीनेकी अधिक इच्छा हो, अधिक चेष्टा करतीहो, जिसके वामभागमें गर्भके लक्षण हों और गर्भ लम्बासा प्रतीत होताहो, वामस्तनमें प्रथम दूधका संचार हो उस स्त्रीके गर्भसे कन्या उत्पन्न होती है। इससे विपरीत अर्थात् दहिनाअंग भारी हो दहिने स्तनमें दूधकी प्रवृत्ति हो, दहिनी ओर गर्भस्थित प्रतीत हो इत्यादि लक्षणोंसे पुत्रवाला गर्भ

जानना चाहिये । जिस गर्भमें दोनोंके लक्षण बराबर हों उसमें नपुंसक जानना चाहिये । गर्भाधानके समय स्त्रीका मन जैसे पुरुषमें होता है वैसी स्वरूपवाली संतान उत्पन्न होती है ॥ २२ ॥ २३ ॥

गर्भस्य चत्वारि चतुर्विधानि भूतानि मातापितृसम्भवानि ।
आहारजन्यात्मकृतानि चैव सर्वस्य सर्वाणि भवन्ति देहे ॥ २४ ॥
तेषां विशेषाद्बलवन्ति यानि भवन्ति मातापितृकर्मजानि ।
तानि व्यवस्येत्सदृशत्वलिङ्गं सत्त्वं यथानूकमपि व्यवस्येत् ॥ २५ ॥

आत्मा और इन चार महाभूतोंसे गर्भ प्रगट होता है । वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी यह गर्भके चारों महाभूत मातापिताके चार महाभूतोंसेही उत्पन्न होते हैं फिर वह गर्भशरीर माताके आहारसे पुष्ट होता है । उस गर्भशरीरके स्वरूप आदि कल्पनामें उसके किये शुभाशुभ कर्मोंको ही कारण मानना चाहिये । उपरोक्त चार महाभूत संपूर्ण देहधारियोंके शरीरमें मातापिताकी सादृश्यता आदि होनेके कारण होते हैं । उन चार महाभूतोंमें पिताके अंश बलवान् होनेसे पिताके समान, माताके अंश बलवान् होनेसे माताके समान अथवा इन चारोंमें भी जो बलवान् हो उस गुणवाली संतान होतीहै इसके मनको स्वरूप चरित विशेषादि अनुकरणसे जाने ॥ २४॥२५॥

कस्मात्प्रजां स्त्री विकृतां प्रसूते हीनाधिकाङ्गीं विकलेन्द्रियाञ्च ।
देहात्कथं देहमुपैति चान्यमात्मा सदा कैरनुबध्यते च ॥ २६ ॥

(प्रश्न) विकृत संतान होनेमें क्या कारण है । हीनांग तथा अधिकांग संतान किस कारणसे प्रगट होती है, विकलेन्द्रिय संतान क्यों होती है । एक देहसे दूसरी देहमें आत्मा कैसे पहुंच सकती है । और आत्मा किन बंधनोंसे बंधीहुई दूसरे शरीरमें प्रवेश करती है ॥ २६ ॥

गर्भकी विकृतिका कारण ।

बीजात्मकर्म्माशयकालदोषैर्मातुस्तथाहारविहारदोषैः ।
कुर्वन्ति दोषा विविधानि दुष्टाः संस्थानवर्णेन्द्रियवैकृतानि ॥ २७ ॥
वर्षासु काष्ठाश्मघनाम्बुवेगास्तरोः सरित्स्रोतसि संस्थितस्य ।
यथैव कुर्य्युर्विकृतिं तथैव गर्भस्य कुक्षौ नियतस्य दोषाः ॥ २८ ॥

(उत्तर) बीजके विकारसे अथवा अपने किये हुये कर्मोंके दोषसे माताके किये अहित आहार विहारके दोषसे कुपितहुए वातादि दोष गर्भके आकार, वर्ण तथा इन्द्रियोंको बिगाड देतेहैं । फिर वह दोष शरीरके अंग और वर्ण तथा इन्द्रियोंको न्यून

अधिक, कुरूप तथा विकल कर देतेहैं। जैसे—बर्सातमें, काष्ठ, पत्थर, मेघ और जल इकट्ठे होकर नदीके किनारेके वृक्षोंको टेढे कुरूपादि कर देतेहैं उसीप्रकार दोष कुपित होकर कुक्षिमें स्थित हो गर्भको बिगाड देतेहैं ॥ २७ ॥ २८ ॥

आत्माके देहभरमें प्राप्त होनेका कारण।

भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात् ।
कर्म्मात्मकत्वान्न तु तस्य दृश्यं दिव्यं विना दर्शनमस्ति रूपम् ॥ २९ ॥
स सर्वगः सर्वशरीरभृच्च स विश्वकर्म्मा स च विश्वरूपः ।
स चेतनाधातुरतीन्द्रियश्च स नित्ययुक् सानुशयः स एव ॥ ३० ॥

प्रथम देह त्याग देनेके अनन्तर सूक्ष्मरूप चारों भूतोंके साथ संयुक्त हुआ आत्मा अपने कियेहुए कर्मोके आधीन होकर मनके वेगके समान शीघ्र गर्भमें प्राप्त होजाता है। जिस समय सूक्ष्म अंशोंसहित आत्मा गर्भमें आकर प्रवेश करता है उसको प्राणी दिव्यदृष्टिके विना नहीं देख सकता है। वह आत्माही सर्वगामी, सर्वशरीरभृत, विश्वकर्मा एवं विश्वरूप है। वही आत्मा शरीरमें चेतनारूप धातु है, अतीन्द्रिय है, शरीरसे नित्य संबंध रखनेवाला है। (मोक्ष होनेपर शरीरसे सम्बन्ध छोडदेता है) सुखदुःखको जाननेवाला है ॥ २९ ॥ ३० ॥

रसात्ममातापितृसम्भवानि भूतानि विद्याद्दश षट् च देहे ।
चत्वारि तत्रात्मनि संश्रितानि स्थितस्तथात्मा च चतुर्षु तेषु ॥ ३१ ॥

रस, आत्मा, मातापितासे प्राप्त चार भूत, दश इन्द्रिय तथा छः धातुएँ यह सब तत्त्व देहमें स्थित रहते हैं। इनमें सूक्ष्म चतुर्भूत आत्माके आश्रित हैं और आत्मा उन चतुर्भूतोंके आश्रित है। इस प्रकार इनका परस्पर मोक्षपर्यन्त नित्य संबंध रहता है ॥ ३१ ॥

भूतानि मातापितृसम्भवानि रजश्च शुक्रञ्च वदन्ति गर्भे ।
आप्याय्यते शुक्रमसृक् च भूतैर्यैस्तानि भूतानि रसोद्भवानि ॥ ३२ ॥
भूतानि चत्वारि तु कर्मजानि यान्यात्मलीनानि विशन्ति गर्भम् ।
स बीजधर्मा ह्यपरापराणि देहान्तराण्यात्मनि याति याति ॥ ३३ ॥

---

१ आकाश व्यापक होनेसे गर्भमें स्वयं सम्मिलित होता है, आकाशमें गमनशीलता न होनेसे और चारभूतोंके समान शुक्रजनक न होनेसे तथा शुक्रमें चारभूतोंके समान न जानेसे यहां आकाशको नहीं गिना गया इनमें आकाश मिलनेका क्रम चौथे अध्यायके पांचवें सूत्रमें वर्णन किया है।

गर्भमें माताका रज और पिताका वीर्य जो है इन्हीं दोनोंको माता पितासे उत्पन्न हुए चतुर्भूत कहते हैं। यह सब भूत उस रक्त शुक्रकाही पालन करते हैं। यद्यपि यह चारों भूत छः रसोंसे मातापिताके शरीरमें उत्पन्न होते हैं। परन्तु यह चतुर्भूत अपने पूर्वजन्मके किये कर्मके आधीनही होकर आत्मसंस्मृत हुए गर्भमें प्रवेश करते हैं। यह आत्मावाले चारों भूत बीजधर्मी हैं। अर्थात् जैसे बीजसे अंकुर और वृक्ष बनते रहते हैं उसी प्रकार यह भी बीजरूप चतुर्भूत एक देहसे दूसरी देहमें जाते रहते हैं॥

रूपाद्धि रूपप्रभवः प्रसिद्धः कर्म्मात्मकानां मनसो मनस्तः।
भवन्ति ये त्वाकृतिबुद्धिभेदा रजस्तमस्तत्र च कर्म्महेतुः॥ ३४॥
अतीन्द्रियैस्तैरतिसूक्ष्मरूपैरात्मा कदाचिन्न वियुक्तरूपः।
न कर्म्मणा नैव मनोमतिभ्यां न चाप्यहंकारविकारदोषैः॥ ३५॥
रजस्तमोभ्यान्तु मनोऽनुबद्धं ज्ञानं विना तत्र हि सर्वदोषाः।
गतिप्रवृत्त्योस्तु निमित्तमुक्तं मनः सदोषं बलवच्च कर्म्म॥ ३६॥

जैसे बीज अपने समानही अंकुरको उत्पन्न करनेवाला होता है। उसीप्रकार गर्भका स्वरूप भी उसके बीजके समान होता है। पूर्वजन्मके किये हुए कर्मके आधीन मनसेही गर्भका मन उत्पन्न होता है। आकृतिका भेद और बुद्धिकी विशेषता तथा कर्मादिकोंकी विशेषतामें भी रजोगुण और तमोगुण कारण होते हैं। उन अतीन्द्रिय तथा अत्यंत सूक्ष्मभूत समूहसे आत्मा कभी पृथक नहीं होसकता और वह भूतगण कर्म, मन, बुद्धि और अहंकारसे अलग नहीं होसकते। मनका रजोगुण और तमोगुणसे नित्यसंबंध है इसीलिये ज्ञानके विना अन्य इसमें संपूण दोषही दोष होते हैं। दोषयुक्त मन और बलवान् कर्म मनुष्यकी गति और प्रवृत्तिके निमित्त होते हैं॥ ३४–३६॥

रोगाः कुतः संशमनं किमेषां हर्षस्य शोकस्य च किं निमित्तम्।
शरीरसत्त्वप्रभवा विकाराः कथं न शान्ताः पुनरापतेयुः॥ ३७॥

(प्रश्न) रोग किस प्रकार कहांसे उत्पन्न होते हैं। उनका शान्तकर्त्ता उपाय क्या है। आनन्द और शोक होनेका कारण क्या है। शारीरिक तथा मानसिक संपूर्ण विकार कैसे शान्त होकर फिर उत्पन्न नहीं होते॥ ३७॥

प्रज्ञापराधो विषमास्तथार्था हेतुस्तृतीयः परिणामकालः।
सर्वामयानां त्रिविधा च शान्तिर्ज्ञानार्थकालाः समयोगयुक्ताः॥ ३८॥
धर्म्याः क्रिया हर्षनिमित्तमुक्तास्ततोऽन्यथा शोकवशं नयन्ति।

शरीरसत्त्वप्रभवास्तु दोषास्तयोरवृत्त्या न भवन्ति भूयः॥ ३९ ॥
रूपस्य सत्त्वस्य च सन्ततिर्या नोक्तस्तदादिर्न हि सोऽस्ति कश्चित्।
तयोरवृत्तिः क्रियते पराभ्यां धृतिस्मृतिभ्यां परया धिया च ॥४०॥

(उत्तर) रोग तीन प्रकारके कारणोंसे उत्पन्न होताहै जैसे प्रज्ञापराध और असात्म्य इन्द्रियार्थ संयोग तथा परिणाम काल। यह तीन रोगके उत्पत्तिके कारण हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण रोगोंकी शान्तिके भी तीनही उपाय हैं। जैसे ज्ञान सात्म्य,इन्द्रियार्थ-संयोग और कालका उचितयोग। धर्मके काम करना आनन्दके हेतु हैं। और यावन्मात्र पापकर्म दुःखके कारण हैं। शारीरिक और मानसिकरोग रजोगुण और तमोगुणकी निवृत्ति होजानेपर शरीर और मनकी निवृत्ति होकर फिर उत्पन्न नहीं होते क्योंकि शरीर और मनकी जो धारावाही संतति है वह कहांसे हुई और कब उत्पन्न हुई इस प्रकार उसका कोई आदि क्रम नहीं है। परंतु परमधृति और यौगिकस्मृति तथा बुद्धिकी विमलता होनेसे उन शारीरिक और मानसिक रोगोंकी सदाके लिये निवृत्ति होजाती है अर्थात् मोक्ष होजानेसे वह फिर कभी दुःख सुख नहीं भोगता॥३८-४०॥

दैवका लक्षण।

सत्याश्रये वा द्विविधे यथोक्ते पूर्वं गदेभ्यः प्रतिकर्म नित्यम्।
जितेन्द्रियं नानुपतन्ति रोगास्तत्कालयुक्तं यदि नास्ति दैवम्॥ ४१ ॥
दैवं पुरा यत्कृतमुच्यते तु तत्पौरुषं यत्त्विह कर्म्म दृष्टम्।
प्रवृत्तिहेतुर्विषमः स दृष्टो निवृत्तिहेतुस्तु समः स एव॥ ४२ ॥

शरीर और मन यह दो प्रकारके रोगोंके स्थान कथन किये हैं। अर्थात् सम्पूर्ण रोग शरीर और मनके आश्रय हैं। यदि मनुष्य जितेन्द्रिय और अपनेको वशमें रखता हुआ रोगोंसे प्रथमही यत्नवान् रहे अर्थात् अहितका सेवन न करे तो प्रारब्धके आधीन आवश्यक कालमें होनेवाली व्याधिके सिवाय और कोई रोग उत्पन्नही नहीं होसकता। पूर्वजन्मके कियेहुए कर्मको प्रारब्ध कहते हैं। इस जन्ममें जो पुरुषार्थ कियाजाता है उसको कर्म कहते हैं। धर्मका सेवन करना रोगोंके निवृत्त होनेका कारण है और अधर्मका सेवन रोगोंकी प्रवृत्तिका कारण है अथवा विषम संयोगसे रोगोंकी प्रवृत्ति और समसंयोगसे आरोग्यताकी प्राप्ति होती है॥ ४१ ॥ ४२ ॥

ऋतुओंके रोगोका शमन।

हैमन्तिकं दोषचयं वसन्ते प्रवाहयन् ग्रैष्मिकमभ्रकाले।
घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक् प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जातु॥ ४३ ॥

हेमन्तकालमें संचितहुए दोषोंको वसन्तकालमें शोधन कर देना चाहिये। और ग्रीष्मकालमें संचितहुए दोषोंको प्रावृट्कालमें तथा वर्षाकालके संचितहुए दोषोंको शरदृतुमें संशोधन अर्थात् वमन, विरेचनद्वारा शुद्ध करदेना चाहिये। ऐसा करनेसे ऋतुजन्य दोष उत्पन्न नहीं होते ॥ ४३ ॥

नरो हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः ॥ ४४ ॥

जो मनुष्य हित आहार और हितविहारोंका सेवन करता है तथा सम्पूर्ण कार्योंको विचार कर करता है और विषयोंमें आसक्त नहीं होता तथा दान, समता, सत्य और क्षमापरायण होता है तथा आप्तजनोंका सेवन करता है वह सदा रोगरहित रहताहै॥४४॥

मतिर्वचः कर्म्म सुखानुबन्धि सत्त्वं विधेयं विशदा च बुद्धिः।
ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे यस्यास्ति तं नानुपतन्ति रोगाः ॥ ४५ ॥

जिस मनुष्यकी मति, वचन, कर्म यह हितकारक हों और मन अपने आधीन हो, बुद्धि स्वच्छ हो, एवम् ज्ञान, तपस्या तथा योगमें चित्त लगा हुआ हो ऐसे मनुष्योंके ऊपर रोग आक्रमण नहीं कर सकते ॥ ४५ ॥

अध्यायका उपसंहार।

इहाग्निवेशस्य महार्थयुक्तं षड्त्रिंशकं प्रश्नगणं महर्षिः।
अतुल्यगोत्रे भगवान्यथावन्निर्णीतवान् ज्ञानविवर्द्धनार्थम् ॥ ४६ ॥
इति चरकसंहितायां शारीरस्थानेऽतुल्यगोत्रीयं शारीरं समाप्तम् ॥२॥

यहां अध्यायकी पूर्त्तिमें श्लोक है—कि इस अतुल्यगोत्रीय शारीराध्यायमें अग्निवेशके महान् अर्थवाले छत्तीस ३६ प्रश्नोंका निर्णय भगवान् आत्रेयजीने वैद्योंके ज्ञानकी वृद्धिके लिये कथन किया है ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां पटियालाराज्यांतर्गतटकसालनिवासिवैद्यपंचाननवैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायकृतप्रसादन्याख्यभाषाटीकायां अतुल्यगोत्रीयशारीरं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः।

अथातः खुड्डीकांगगर्भावक्रान्तिशारीरं व्याख्यास्यामः इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम खुड्डीकागर्भावक्रान्ति शारीरकी व्याख्या करते हैं इस प्रकार भगवान् आत्रेयजी कथन करनेलगे ॥१॥

गर्भकी उत्पत्ति।

पुरुषस्यानुपहतरेतसः स्त्रियाश्चाप्रदुष्टयोनिशोणितगर्भाशयाया यदा भवति संसर्गः ऋतुकाले । यदा चानयोस्तथैव युक्तयोः संसर्गे तु शुक्रशोणितसंसर्गमन्तर्गर्भाशयगतं जीवोऽवक्रामति सत्त्वसम्प्रयोगात्तदा गर्भोऽभिनिर्वर्त्तते ॥ १ ॥

अनुपहत अर्थात् पुष्ट और शुद्धवीर्यवाले पुरुषका ऋतुसे शुद्ध हुई शुद्ध योनि, शुद्ध रज और दोषरहित गर्भाशयवाली स्त्रीसे संयोग होनेसे पुरुषका वीर्य और स्त्रीका रज यह दोनों मिलकर जब गर्भाशयमें पहुंचते हैं उसी समय जीवात्मा भी मनकेद्वारा उस शुक्रशोणितके साथही गर्भाशयमें प्रवेश करजाता है फिर वह गर्भ कहाजाता है ॥ १ ॥

स सात्म्यरसोपयोगादरोगोऽभिसंवर्द्धते सम्यगुपचारैश्चोपचर्य्यमाणः । ततः प्राप्तकालः सर्वेन्द्रियोपपन्नः परिपूर्णसर्वशरीरो बलवर्णसत्त्वसंहननसम्पदुपेतः सुखेन जायते समुदायादेषां भावानाम् ॥ २ ॥

वह गर्भ माताके सात्म्यरसके सेवन करनेसे और उत्तम हितकर उपचारके आचरणसे वृद्धिको प्राप्त होजाता है। फिर इस प्रकार संपूर्ण इन्द्रियोंसे सम्पन्न सर्वांग संपूर्ण बल, वर्ण और सत्त्वयुक्त होकर गठनको प्राप्त हुआ अपने ठीकसमयपर इन सब भावोंके पूर्ण होनेसे सुखपूर्वक जन्म लेता है ॥ २ ॥

गर्भोंके भेद।

मातृजश्चायं गर्भः पितृजश्चात्मजश्च सात्म्यजश्च रसजश्चास्ति च सत्त्वसंज्ञकमौपपादिकमिति होवाच भगवानात्रेयः ॥ ३ ॥

---

१ पूर्वाध्याये शुक्रशोणिते गर्भकारणत्वेनोक्ते, नतु कृत्स्नं गर्भकारणमुक्तम् । अतःसम्पूर्णगर्भकारणाभिधानार्थं खुड्डिकां गर्भावक्रांतिरुच्यते खुड्डिकामित्यल्पाम् ।

इसके उपरान्त भगवान् आत्रेयजी कहनेलगे कि यह गर्भ मातृज है, पितृज है, आत्मज और सात्म्यज, एवम् रसज है। और सत्त्वसंज्ञक मन इसके गठनेके सम्बन्धको उत्पन्न करता है॥ ३॥

नेति भरद्वाजः। किं कारणम्। न हि माता न पिता नात्मा न सात्म्यं न पानाशनभक्ष्यलेह्योपयोगा गर्भं जनयन्ति। न च परलोकादेत्य गर्भं सत्त्वसंज्ञकमवक्रामति। यदि हि मातापितरौ गर्भं जनयेतां भूयस्यश्च स्त्रियः पुमांसश्च भूयांसः पुत्रकामाः, ते सर्वे पुत्रजन्माभिसन्धाय मैथुनधर्ममापद्यमानाः पुत्रानेव जनयेयुर्दुहितॄर्वा दुहितृकामाः। न च काश्चित् स्त्रियः केचिद्वा पुरुषा निरपत्याः स्युः। अपत्यकामाश्च न परिदेवेरन्। न चात्मात्मानं जनयति। यदि ह्यात्मात्मानं जनयेज्जातो वा जनयेदात्मानमजातो वा। तच्च उभयथाप्ययुक्तम्। न हि जातो जनयति सत्त्वात्। न चैवाजातो जनयेदसत्त्वात्। तस्मादुभयथाप्यनुपपत्तिः। तिष्ठतु तावदेतत्। यदि अयमात्मानं शक्तो जनयितुं स्यान्न तु एनमिष्टास्वेव कथं योनिषु जनयेद्वशिनमप्रतिहतगतिं कामरूपिणं तेजोबलवर्णसत्त्वसंहननसमुदितमजरमरुजनमरम्। एवंविधं हि आत्मात्मानमिच्छति। अतो वा भूयः॥ ४॥

भरद्वाज कहनेलगे कि ऐसा नहीं होता। गर्भके कारण माता, पिता, आत्मा और सात्म्य इनमेंसे कोई नहीं तथा न पान, अशन, भक्ष्य, लेह्य पदार्थही गर्भको उत्पन्न कर सकते हैं। एवम् परलोकसे आकर सत्त्वसंज्ञक मन भी गर्भको उत्पन्न नहीं करसकता। यदि मातापिताही गर्भको उत्पन्न कर सकते तो बहुतसे सन्तानकी इच्छावाले स्त्री पुरुष पुत्रकी कामनासे मैथुनधर्मको प्रवृत्त होकर बहुतसे पुत्र उत्पन्न करलेते और कन्याकी इच्छावाले कन्या उत्पन्न करलेते। और जगत्में कोई स्त्री और कोई पुरुष भी सन्तानरहित न रहता, संतानके लिये उनको व्याकुल रहनेकी आवश्यकता न पडती। आत्मा भी आत्माको उत्पन्न नहीं करसकता और न स्वयं उत्पन्न होता है। यदि आत्मा आत्माको उत्पन्न करे तो जन्म किसका हुआ। यह आत्मा आत्माको प्रगट करता है जिसका जन्म होचुका। अथवा जिस आत्माका जन्म नहीं हुआ वह आत्माको प्रगट करता है। यदि कहो कि आत्मा स्वयं अपने आपको प्रगट कर सकता है तो जो आत्मा एकवार जन्म लेचुका है वह फिर किस

प्रकार अपनेको प्रगट करसकता है अर्थात् नहीं प्रगट कर सकता और अजात आत्मा भी आत्माको प्रगट नहीं करसकता क्योंकि वह अजात है । अजात होनेसे वह अपनेको जन्म देही नहीं सकता। यदि उसमें स्वयं यह शक्ति होती तो अपनी इच्छानुसार श्रेष्ठ २ शरीरोंमें प्रवेश करता । इसलिये दोनों प्रकार होना अयुक्त है अर्थात् नहीं होसकता। यदि ऐसा होता तो सत्तावान् आत्मा वशी, अप्रतिहतगति, कामरूपी, तेजसम्पन्न और बल, वेग, वर्ण तथा सत्त्व एवं दृढतासम्पन्न होनेसे तथा अजर, अमर, रोगरहित एवं इससेभी अधिक २ उत्तम २ गुणोंकी इच्छा करताहुआ आत्माको कहीं बहुतही उत्तम शरीरोंमें प्रगट करता ॥ ४ ॥

गर्भकी असात्म्यजता।

असात्म्यजश्चायं गर्भः यदि हि सात्म्यजः स्यात्तर्हि सात्म्यसेविनामेवैकान्तेन प्रजा स्यात् । असात्म्यसेविनश्च निखिलेनानपत्याः स्युस्तच्चोभयमुभयत्रैव दृश्यते ॥ ५ ॥

सात्म्यसे भी गर्भकी उत्पत्ति नहीं होती। यदि सात्म्य पदार्थोंके सेवनसेही गर्भ उत्पन्न होता तो जो मनुष्य सात्म्य पदार्थोंका सेवन करते हैं केवल उन्हींके सन्तान हुआ करती और असात्म्य पदार्थोंके सेवन करनेवाले सम्पूर्ण मनुष्योंके वंशही न चलते अर्थात् उनकी संतानही न हुआ करती । परंतु देखनेमें ऐसा आता है कि सात्म्य पदार्थोंके सेवन करनेवालोमें भी संतान बहुतोंको नहीं होती और असात्म्य सेवन करनेवालोंको सन्तान होती है । इसलिये सात्म्यसेवनसे गर्भ उत्पन्न होता है यह कहना वृथा है ॥ ५ ॥

गर्भका रससे उत्पन्न न होना।

अरसजश्चायं गर्भः । यदि हि रसजः स्यान्न केचित्स्त्रीपुरुषेषु अनपत्याः स्युर्न हि कश्चिदस्त्येषां यो रसान्नोपयुङ्क्ते । श्रेष्ठरसोपयोगिनां चेद्गर्भा जायन्ते इत्यतोऽभिप्रेतमित्येवं सति आजोरभ्रमार्गमायूरगोक्षीरदधिघृतमधुतैलसैन्धवेक्षुरसमुद्गशालिभृतानामेव एकान्तेन प्रजा स्यात् । श्यामाकवरकोद्दालककोरदूषककन्दमूलभक्ष्याश्च निखिलेनानपत्याः स्युः । तच्चोभयमुभयत्रैव दृश्यते ॥ ६ ॥

रससे भी गर्भकी उत्पत्ति नहीं होती है । यदि रसजगर्भ होता तो भी यावन्मात्र प्राणियोंमें कोई भी संतानरहित देखनेमें नहीं आता । क्योंकि ऐसा कोई भी पुरुष और स्त्री नहीं है जो रसोंका सेवन न करता हो । यदि कहें कि उत्तम रस सेवनसे संतान होती है तो जो मनुष्य निरंतर बकरा, मेंढा, मृग और मोर आदिका मांस-

रस खाते हैं तथा गौओंका दूध, दही, घृत एवं मधु, तैल, लवण, इक्षुरस (खांड, मिसरी), मूंग, चावल आदिका उत्तम भोजन करते हैं और हृष्ट, पुष्ट शरीर हैं उन्हींको संतान होनी चाहिये थी और जो मनुष्य श्यामाक, क्षुद्र जव, कोदों, कोर्दूषक, कंद, मूल तथा अन्य रूक्ष भोजन करते हैं वह सब संतानरहित होते। परन्तु दोनों प्रकार देखनेमें नहीं आता। जो मनुष्य उत्तम रसोंका भोजन करते हैं और जो रूक्ष भोजन करते हैं इन दोनोंकाही संतानयुक्त होना और निःसंतान होना बराबर दिखाई देता है। इसलिये गर्भ रसज होता है यह भी सिद्ध नहीं होता ॥ ६ ॥

गर्भका सत्त्वयुक्त न होना।

न खलु अपि परलोकादेत्य सत्त्वं गर्भमवक्रामति । यदि त्वेनमवक्रामेन्नास्य किञ्चिदेव पौर्वदेहिकं स्यादाविदितमश्रुतमदृष्टं वा । स च किञ्चिदपि न स्मरति। तस्मादेतद् ब्रूमहे अमातृजश्चायं गर्भः। अपितृजश्चानात्मजश्चासात्म्यजश्चारसजश्च। न चास्ति सत्त्वमुपपादुकमिति होवाच भरद्वाजः ॥ ७ ॥

परलोकसे आकर सत्त्वसंज्ञक मन भी गर्भके संबंधको उत्पन्न नहीं करता। यदि वह परलोकसे आकर गर्भमें मिलजाता तो उसको पहिले देहके सम्पूर्ण व्यापार जाने सुने और देखे याद रहने चाहिये थे। परंतु वह किसीको भी स्मरण नहीं करता। इसलिये सत्त्वसंज्ञक मन भी गर्भसे सम्बन्ध नहीं रखता। इस कारणसेही हम कहते हैं कि गर्भ न मातृज है, न पितृज है, न आत्मज है, न सात्म्यज है, और न रसज है तथा सत्त्व संज्ञक मन भी उसके सम्बंधका उत्पादक नहीं है। जब इस प्रकार कुमारशिरा भरद्वाजने कहा ॥ ७ ॥

आत्रेयका मत।

नेति भगवानात्रेयः । सर्वेभ्य एभ्यो भावेभ्यः समुदितेभ्यो गर्भोऽभिनिर्वर्त्तते । मातृजश्चायं गर्भो न हि मातुर्विना गर्भोपपत्तिः स्यान्न च जन्मजरायुजानाम् । यानि खलु अस्य गर्भस्य मातृजानि यानि चास्य मातृतः सम्भवतः सम्भवन्ति तानि अनुव्याख्यास्यामः । तद्यथा—त्वक् च, लोहितञ्च, मांसञ्च, मेदश्च, नाभिश्च, हृदयञ्च, क्लोम च, यकृच्च, प्लीहा च, बुक्कौ च, बस्तिश्च, पुरीषाधानञ्चामाशयश्च, पक्वाशयश्चोत्तरगुदश्चाधरगुदश्च, क्षुद्रान्त्रञ्च, स्थूलान्त्रञ्च, वपा च, वपावहनञ्चेति मातृजानि ॥ ८ ॥

तब भगवान् आत्रेयजीने कहा कि ऐसा नहीं होता । गर्भ इन संपूर्ण भावोंके होनेसे ही प्रगट होता है । यह गर्भ मातासे भी उत्पन्न होता है क्योंकि माताके विना गर्भ उत्पन्न होही नहीं सकता और जितने जरायुज प्राणी हैं वह विना माताके जन्म लेही नहीं सकते और इस गर्भमें मातासे जो २ अवयव उत्पन्न होते हैं उनको वर्णन करते हैं । जैसे-त्वचा, रक्त, मांस, मेद, नाभि, हृदय, क्लोम, प्लीहा, यकृत्, दोनों बुक्क, वस्ती, आमाशय, मलाशय, पक्वाशय, उत्तरगुद, अधःगुद, क्षुद्रअन्तडियें, वसा, वसाके वहनस्थान, यह सब मातासे उत्पन्न होते हैं तथा इनको मातृज अवयव कहते हैं । इसलिये गर्भको मातृज कहना चाहिये ॥ ८ ॥

पितासे होनेवाले अवयव ।

पितृजश्चायं गर्भो न हि पितुर्ऋते गर्भोत्पत्तिः स्यान्न च जन्म जरायुजानाम् । यानि खलु अस्य गर्भस्य पितृजानि यानि चास्य पितृतः सम्भवतः सम्भवन्ति तानि अनुव्याख्यास्यामः । तद्यथा—केशश्मश्रुनखलोमदन्तास्थिशिरास्नायुधमन्यः शुक्रमिति पितृजानि ॥ ९ ॥

गर्भ पितृजभी है । क्योंकि पिताके विना गर्भकी उत्पत्तिही नहीं होती । विना पिताके जरायुजोंका जन्मही नहीं होसकता । अब गर्भके जो २ अंग गर्भमें पितासे उत्पन्न होते हैं उनका कथन करते हैं । जैसे केश, श्मश्रु, नख, रोम दांत, अस्थियां, शिरा और स्नायु तथा धमनियें एवम् शुक्र पितासे उत्पन्न होते हैं । इसलिये गर्भको पितृज भी कहना चाहिये ॥ ९ ॥

आत्मासे उत्पन्न हुए गर्भावयव ।

आत्मजश्चायं गर्भो, गर्भात्मा ह्यन्तरात्मा यस्तमेनं जीव इत्याचक्षते । शाश्वतमरुजमजरममरमक्षयमभेद्यमच्छेद्यमलोड्यं विश्वरूपं विश्वकर्माणमव्यक्तमनादिमनिधनमक्षरमपि । स गर्भाशयमनुप्रविश्य शुक्रशोणिताभ्यां संयोगमेत्य गर्भत्वेन जनयत्यात्मनात्मानम् । आत्मसंज्ञा हि गर्भे । तस्य पुनरात्मनो जन्मादित्वान्नोपपद्यते । तस्मादजात एवायं जातं गर्भं जनयति । जातोऽप्यजातश्च गर्भं जनयति । स चैव गर्भः कालान्तरेण बालयुवस्थविरभावानवाप्नोति ॥ १० ॥

यह गर्भ आत्मज भी है क्योंकि गर्भात्माही अन्तरात्मा और जीवके नामसे उच्चारण किया जाता है । यह अन्तरात्मा नित्य, निरोग, अजर, अमर, अक्षय, अभेद्य, अच्छेद्य, अलोड्य, विश्वरूप, विश्वकर्मा, अव्यक्त, अनादि, मृत्युरहित अक्षर कहा जाता है । यह गर्भाशयमें अनुप्रवेश कर शुक्रशोणितके साथ मिलजाता है तबही गर्भ उत्पन्न

होजाता है। आत्माही आत्माको उत्पन्न करता है। गर्भमेंही इसकी आत्मा संज्ञा होती है। यदि अजात आत्माही स्वयं अपनेको गर्भमें प्रगट न करता तो अनादि और नित्य होनेसे इसका जन्म लेना किसी प्रकार सिद्ध नहीं होसकता। इस लिये यह अजात होता हुआ भी जातगर्भको उत्पन्न करता है। और जात होकर भी अजात रहता है। वह गर्भ समय पाकर प्रगट होनेसे बाल्यावस्था यौवनावस्था और वृद्धावस्थाको प्राप्त होता है ॥ १० ॥

स यस्यां यस्यामवस्थायां वर्त्तते तस्यां तस्यां जातो भवति। या त्वस्य पुरस्कृता तस्यां जनिष्यमाणश्च। तस्मात्स एव जातश्चाजातश्च युगपद्भवति। तस्मिंश्चैतदुभयं सम्भवति जातत्वञ्चैव जनिष्यमाणत्वञ्च। स जातो जन्यते। स चैवानागतेष्ववस्थान्तरेषु अजातो जनयत्यात्मनात्मानम्। सतो ह्यवस्थानुगमनमात्रमेव हि जन्म चोच्यते तत्र तत्र वयसि तस्यां तस्यामवस्थायाम्। यथा सतामेव शुक्रशोणितजीवानां प्राक्संयोगाद्गर्भत्वं न भवति तच्च संयोगाद्भवति। यथा सतस्तस्यैव पुरुषस्य प्रागपत्यात्पितृत्वं न भवति तच्चापत्याद्भवति। तथा सतस्तस्यैव गर्भस्य तस्यां तस्यामवस्थायां जातत्वमजातत्वञ्चोच्यते ॥ ११ ॥

वह गर्भ जिस २ अवस्थामें जैसे २ रहता है उसी उसी अवस्थामें जात मानाजाता है। जो अवस्था इसकी आनेवाली है उस अवस्थाको जनिष्यमाण कहते हैं। इसलिये एककालमेंही इसमें जात और अजात दोनों धर्म रहते हैं। अतएव इसमें जातत्व और जनिष्यमाणत्व दोनोंही हैं। वह गर्भात्मा जात होकरभी अर्थात् गर्भावस्थामें उत्पन्न होकर भी गर्भको उत्पन्न करता है और वही अपनी आनेवाली अवस्थान्तरको भी उत्पन्न करता है। नित्य पदार्थका अवस्थान्तरही जन्म कहाजाता है। वह जिसाजिस अवस्थामें पहुंचता है वही उसका जन्म है। जैसे–शुक्र, शोणित और जीवके पृथक् २ रहतेहुए भी संयोग होने विना जीवत्व उत्पन्न नहीं होता। और जैसे पुत्र उत्पन्न होनेसे पहिले पिता रहतेहुए भी उसमें पितृत्वधर्म नहीं आता उसी प्रकार आत्मा भी उस उस अवस्थामें रहता हुआ जातत्व और अजातत्वको प्राप्त नहीं होता ॥ ११ ॥

न तु खलु गर्भस्य मातुर्न पितुर्नात्मनः सर्वभावेषु यथेष्टकारित्वमस्ति। ते किञ्चित्स्ववशात्कुर्वन्ति किञ्चित्कर्मवशात्कचिचैषां करणशक्ते-

र्भवति क्वचिन्न भवति । यत्र सत्त्वादिकरणसम्पत्तत्र यथाबलमेव यथेष्टकारित्वमतोऽन्यथा विपर्य्ययः । न च करणदोषादकारणमात्मा गर्भजनने सम्भवति ॥ १२ ॥

माता पिता और आत्मा इन सबमेंसे कोई एक संपूर्णभावसे गर्भको उत्पन्न करनेमें यथेष्टकारी नहीं होसकता । अर्थात् अपने आधीन होकर (अपने वशसे) माता या पिता या आत्मा अकेला कोई गर्भको प्रगट नहीं करसकता । इनमें कोई अपने वशसे गर्भमें इष्टकारी होते हैं, कोई कर्मवशसे इष्टकारी होते हैं । कहीं इनकी करण शक्ति कार्य करनेमें सामर्थ्यवान् होती है और कहीं नहीं भी होती । इसलिये जिस जगह सत्त्वादि करणशक्तिकी उत्कृष्टता होती है उस जगह यथाबल यथेष्टकारिता होजातीहै । जिस जगह सत्त्वादि करणशक्तिकी उत्कृष्टता नहीं होती वहांपर कार्यसिद्धि नहीं हासकती । करणके दोषसे आत्मा गर्भोत्पन्न करनेमें कारण नहीं होता, ऐसा नहीं अर्थात् आत्मा संपूर्णसंयोग मिलनेसे गर्भको उत्पन्न करनेमें कारण होताहै ॥ १२ ॥

दृष्टश्च चेष्टा योनिरैश्वर्य्यं मोक्षश्चात्मविद्भिरात्मायत्तम् । न ह्यन्यः सुखदुःखयोः कर्त्ता। न चान्यतो गर्भो जायते जायमानः,न च अंकुरोत्पत्तिरबीजात् ॥ १३ ॥

आत्मज्ञानी महात्मा चेष्टा, योनि,ऐश्वर्य और मोक्ष इन सबको अपने आधीन रखते हैं ऐसा देखनेमें आता है । आत्माके सिवाय सुखदुःखका और कोई कर्ता नहीं है । आत्माके सिवाय और कोई गर्भको उत्पन्न नहीं कर सकता । आत्मासे ही गर्भकी उत्पत्ति है । कारणके समानही कार्यकी उत्पत्ति देखनेमें आती है । ऐसा नहीं होता कि विना बीजके अंकुर पैदा हो ॥ १३ ॥

आत्मासे हुए भाव ।

यानि तु खलु अस्य गर्भस्यात्मजानि यानि च अस्यात्मतः सम्भवतः सम्भवन्ति तानि अनुव्याख्यास्यामः । तद्यथा—तासु तासु योनिषु उत्पत्तिः, आयुरात्मज्ञानं, मनः, इन्द्रियाणि, प्राणापानौ, प्रेरणम्, धारणम्, आकृतिस्वरवर्णविशेषाः, सुखदुःखे, इच्छाद्वेषौ, चेतना, धृतिः, बुद्धिः, स्मृतिरहंकारः, यत्नश्चेत्यात्मजानि ॥ १४ ॥

गर्भमें जो जो भाव आत्मासे उत्पन्न होते हैं उनउन आत्मजभावोंको वर्णन करतेहैं । यह आत्मा जिसजिस समय जिसजिस योनिमें जन्म धारण करता है उससमय उसी योनिमें इसका जन्म, आयु, आत्मज्ञान, मन, सम्पूर्ण इन्द्रियें, प्राण, अपान,

प्रेरणा शक्ति, धारणा, आकृति, स्वर, वर्ण, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, चेतना, धृति, बुद्धि, स्मृति, अहंकार, प्रयत्न यह सब उत्पन्न होते हैं। यह सब आत्माकेही लक्षण हैं इसलिये गर्भ आत्मज होताहै ॥ १४ ॥

सात्म्यजश्चायं गर्भः । न हि असात्म्यसेवित्वमन्तरेण स्त्रीपुरुषयोर्वन्ध्यत्वमस्ति, गर्भेषु वा अनिष्टो भावः । यावत्खलु असात्म्यसेविनां स्त्रीपुरुषाणां त्रयो दोषाः प्रकुपिताः शरीरमुपसर्पन्तो न शुक्रशोणितगर्भाशयोपघातायोपपद्यन्ते तावत्समर्था गर्भजननाय भवन्ति । सात्म्यसेविनां पुनः स्त्रीपुरुषाणामनुपहतशुक्रशोणितगर्भाशयानामृतुकाले सन्निपातितानां जीवस्यानवक्रमणाद्गर्भा न प्रादुर्भवन्ति । न हि केवलं सात्म्यज एवायं गर्भः, समुदायोऽत्र कारणमुच्यते ॥ १५ ॥

यह गर्भ सात्म्यज भी है । यदि स्त्री पुरुष असात्म्य पदार्थोंको सेवन न करें तो उनमें वन्ध्यादोष तथा गर्भमें अनिष्टभाव कभी उत्पन्न न हों । जबतक असात्म्य सेवनसे दोष कुपित होकर स्त्रीपुरुषोंके शरीरमें उपसर्पण करतेहुए और शुक्रशोणितसे मिलकर गर्भाशयमें उपघात नहीं करते तभीतक गर्भाधान होसकता है तथा असात्म्य सेवनसे दोष कुपित होजानेपर गर्भाधान नहीं होने देते । सात्म्यसेवन करनेवाले स्त्रीपुरुषोंका रज और वीर्य शुद्ध होताहुआ ऋतुकालमें मिलापद्वारा गर्भाशयमें प्रवेश करनेपर भी यदि जीवात्मा अणु प्रवेश न करे तो गर्भ नहीं रहता । केवल सात्म्य सेवनसेही गर्भ उत्पन्न होता है यह बात नहीं है । किंतु गर्भके उत्पन्न करनेवाले सम्पूर्ण भावोंमें सात्म्यसेवन भी एक कारण मानाजाता है ॥ १५ ॥

सात्म्यसे हुए गर्भके अवयव ।

यानि तु खल्वस्य गर्भस्य सात्म्यजानि यानि च अस्य सात्म्यतः सम्भवतः सम्भवन्ति, तानि अनुव्याख्यास्यामः । तद्यथा—आरोग्यमनालस्यमलोलुपत्वमिन्द्रियप्रसादः स्वरवर्णबीजसम्पत्प्रहर्षभूयस्त्वञ्चेति सात्म्यजानि ॥ १६ ॥

सात्म्यसेवनसे गर्भमें जो भाव पैदा होते हैं उनका वर्णन करते हैं । जैसे—आरोग्यता, अनालस्य, निर्लोभता, इन्द्रियोंका प्रसाद, स्वर, वर्ण और वीर्यका उत्तम होना, चित्त प्रसन्न रहना यह सब सात्म्यसेवनके फल हैं । इसलिये गर्भकी उत्पत्तिमें सात्म्यको भी कारण मानाजाता है ॥ १६ ॥

गर्भकी रसज उत्पत्ति।

रसजश्चायं गर्भः। न हि रसादृते मातुः प्राणयात्रापि स्यात् किं पुनर्गर्भजन्म, न चैवास्य सम्यगुपयुज्यमाना रसा गर्भमभिनिर्वर्त्तयन्ति। न च केवलं सम्यगुपयोगादेव रसानां गर्भाभिनिर्वृत्तिर्भवति समुदायोऽप्यत्र कारणमुच्यते ॥ १७ ॥

यह गर्भ रसज भी है। यदि रसोंका सेवन न कियाजाय तो माताके प्राण भी नहीं रहसकते और गर्भके उत्पन्न होनेको तो कहनाही क्या है। रसही उत्तमरूपसे सेवन किये जानेपर गर्भको उत्पन्न करते हैं। यद्यपि केवल रसोंकाही उत्तमरीतिसे प्रयोग कियाजाना गर्भको उत्पन्न नहीं कर सकता परन्तु गर्भके उत्पन्न करनेवाले कारणोंमें रस भी एक कारण होता है ॥ १७ ॥

गर्भके रसज अवयव।

यानि तु खल्वस्य गर्भस्य रसजानि यानि चास्य रसतः सम्भवतः सम्भवन्ति तान्यनुव्याख्यास्यामः। तद्यथा-शरीरस्याभिनिर्वृत्तिरभिवृद्धिः प्राणानुबन्धस्तृप्तिः पुष्टिरुत्साहश्चेति रसजानि ॥ १८ ॥

इस गर्भके जो जो भाव रससे उत्पन्न होते हैं उनका वर्णन करते हैं। जैसे शरीरका उत्पन्न होना और बढना, प्राणोंका अनुबन्ध तृप्ति ओर पुष्टि तथा उत्साह यह सब रससेही होते हैं। इसलिये गर्भके प्रगट होनेमें रसको भी कारण मानाजाता है॥१८॥

सत्त्वका उत्पादकत्व।

अस्ति खल्वपि सत्त्वमौपपादुकम्। यज्जीवस्पृक्शरीरेणाभिसम्बध्नाति। यस्मिन्नपगमनपुरस्कृते शीलमस्य व्यावर्त्तते। भक्तिर्विपर्य्यस्यते। सर्वेन्द्रियाण्युपतप्यन्ते। बलं हीयते। व्याधय आप्यायन्ते। यस्माद्धीनः प्राणाञ्जहाति। यदिन्द्रियाणामभिग्राहकञ्च मन इत्यभिधीयते। तत्त्रिविधमाख्यायते शुद्धं राजसं तामसञ्च इति ॥ १९ ॥

सत्त्व भी गर्भके सम्बन्धको उत्पन्न करनेवाला होता है। यही सूक्ष्मभावोंसहित आत्माका स्थूलशरीरके साथ सम्बन्ध कराता है। जब यह सत्त्व शरीरसे अलग होनेलगता है तो इसके अलग होनेसे प्रथमही शरीरका स्वभाव भी बदलजाता है। इच्छा विपरीत होजाती है, इन्द्रियें क्लेशित होजाती हैं, शरीरमेंसे बल क्षय होजाता है, रोग बढने लगते हैं। जब यह सत्त्वसंज्ञक मन शरीरको त्यागता है उसी समय प्राणोंका परित्याग होजाता है। यह सत्त्वही इन्द्रियोंका अभिग्राहक मन कहाजाता है। यह सत्त्व, रज और तमके भेदसे तीन प्रकारका होता है ॥ १९ ॥

येनास्य खलु प्रयतो भूयिष्ठं तेन द्वितीयायां जातो सम्प्रयोगो भवति । यदा तु तेनैव शुद्धेन संयुज्यते तदा जातेरतिक्रान्तायाश्च स्मरति । स्मार्त्तं हि ज्ञानमात्मनस्तस्यैव मनसोऽनुबन्धादनुवर्त्तते यस्यानुवृत्तिं पुरस्कृत्य पुरुषो जातिस्मर इत्युच्यते ॥ २० ॥

मनमें सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीनों गुणोंमेंसे जो गुण अधिक होता है उसका दूसरे जन्मतक संयोग रहता है । यदि सतोगुणके साथ संयोग होता है तो इसको पूर्वजन्मका भी स्मरण आता है । स्मार्त्तज्ञानयुक्त मनके साथ जब आत्माका संयोग होता है तब आत्माको अपने जन्मांतरका भी स्मरण आने लगता है । उस पुरुषको जातिस्मर कहते हैं। यह गुण सतोगुण प्रधान मनोंके संयोगसे होता है ॥२०॥

यानि खल्वस्य गर्भस्य सत्त्वजानि यानि च अस्य सत्त्वतः सम्भवतः सम्भवन्ति तान्यनुव्याख्यास्यामः । तद्यथा भक्तिः शीलं शौचं द्वेषः स्मृतिर्मोहस्त्यागो मात्सर्य्यं शौर्य्यं भयं क्रोधस्तन्द्रा उत्साहस्तैक्ष्ण्यं मार्दवं गाम्भीर्य्यमनवास्थितत्वमित्येवमादयश्चान्ये ते सत्त्वजा विकारा यानुत्तरकालं सत्त्वभेदमधिकृत्य उपदेक्ष्याम इति सत्त्वजानि । नानाविधानि तु खलु सत्त्वानि तानि सर्वाणि एकपुरुषे भवन्ति । न च भवन्ति एककालम्, एकं तु प्रायोऽनुवृत्त्याह । एवमयं नानाविधानामेषां गर्भकराणां भावानां समुदायादभिनिर्वर्त्तते गर्भः ॥ २१ ॥

गर्भके बीचमें सत्त्वसे उत्पन्न होनेवाले जो भाव होते है उनको वर्णन करते हैं- भक्ति, सुशीलता, शौच, द्वेष, स्मृति, मोह, त्याग, मात्सर्य, शूरता, भय, क्रोध, तंद्रा, उत्साह, क्षीणता, मृदुता, गंभीरता, चंचलता तथा अन्य भी इसी प्रकारके गुण सात्त्विक, राजस और तामस मनके भेदसे अनेक प्रकारके उत्पन्न होते हैं । इन सबको आगे वर्णन करेंगे । सत्त्वसे उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रकारके गुण होते हैं । वह सब गुण एकही मनुष्यमें पायेजाते हैं परन्तु एककालमें सतोगुण तमोगुण और रजोगुण एकही पुरुषमें नहीं होसकते । यद्यपि सब मनुष्योंमें प्रायः तीनगुणका संयोग होताही है परन्तु जिसमें जिस गुणकी अधिकता होती है उसको उसी गुणसे प्रधान माना- जाता है । (सतोगुणके केवल प्रकाश होनेसे रजोगुण और तमोगुण नष्ट होकर मोक्ष होजाता है ।) इस प्रकार गर्भकर्त्ता भावोंके समुदायसेही गर्भकी उत्पत्ति होती है ॥ २१ ॥

यथा कूटागारं नानाद्रव्यसमुदायाद्यथा वा रथो नानारथाङ्गसमुदा-
यात्तस्मादेतदवोचाम मातृजश्चायं गर्भः पितृजश्चात्मजश्च सात्म्यजश्च
रसजश्च । अस्ति सत्त्वमौपपादुकमिति होवाच भगवानात्रेयः ॥ २२ ॥

जैसे—कूटागार (घर विशेष) अनेक द्रव्योंके होनेसे बनाया जाता है और रथ अनेक अंगोंके समुदायसे बनता है उसी प्रकार गर्भभी गर्भोत्पादक संपूर्णभावोंके संबंधसेही उत्पन्न होता है इसलिये कहते हैं कि गर्भ मातृज, पितृज, आत्मज, सात्म्यज तथा रसज होता है। एवम् सत्त्वसंज्ञक मन उसके संबंधको उत्पन्न करनेवाला होता है इसप्रकार भगवान् आत्रेयजीने कथन किया है ॥ २२ ॥

भरद्वाजका प्रस्ताव।

भरद्वाज उवाच। यद्ययमेषां नानाविधानां गर्भकराणां भावानां
समुदायादभिनिर्वर्त्तते गर्भः कथमयं सन्धीयते । यदि चापि सन्धी-
यते कस्मात्समुदायप्रभवः सन् गर्भो मनुष्यविग्रहेण जायते । मनु-
ष्यश्च मनुष्यप्रभव उच्यते । तत्र चेदिष्टमेतद्यस्मान्मनुष्यो मनुष्य-
प्रभवस्तस्मान्मनुष्यविग्रहेण जायते। यथा गौर्गोप्रभवः। यथा
चाश्वोऽश्वप्रभवः, इत्येवं यदुक्तमग्रे समुदायात्मक इति तदयुक्तम् ।
यदि च मनुष्यो मनुष्यप्रभवः कस्माज्जडान्धकुब्जमूकवामनमिन्मिन-
व्यङ्गोन्मत्तकुष्ठकिलासिभ्यो जाताः पितृसदृशरूपा न भवन्ति।
अथात्रापि बुद्धिरेवं स्यात्स्वेनैवायमात्मा चक्षुषा रूपाणि वेत्ति
श्रोत्रेण शब्दान् घ्राणेन गन्धान् रसनेन रसान् स्पर्शनेन स्पर्शान् बुद्ध्या
बोद्धव्यमित्यनेन हेतुना जडादिभ्यो जाताः पितृसदृशा भवन्ति।
अत्रापि प्रतिज्ञाहानिदोषः स्यादेवमुक्ते ह्यात्मा सत्स्विन्द्रियेषु ज्ञः
स्यादसत्स्वज्ञः। यत्र चैतदुभयं सम्भवति ज्ञत्वमज्ञत्वञ्च स विकार-
प्रकृतिकश्चात्मा निर्विकारो ज्ञश्च । यदि च दर्शनादिभिरात्मा विष-
यान् वेत्ति निरिन्द्रियो दर्शनादिविरहादज्ञः स्यादज्ञत्वाच्च कारणमका-
रणत्वाच्चानात्मेति वाग्वस्तुमात्रमेतद्वचनमनर्थकं स्यादिति ॥ २३ ॥

यह सुनकर भरद्वाज कहनेलगे कि यदि अनेक प्रकारके गर्भकारक भावोंके समुदायसेही गर्भकी उत्पत्ति होती है तो यह गर्भ सबसे मिलाहुआ किसप्रकार होता है। अर्थात् यह सब भाव गर्भमें किसप्रकार मिलजाते हैं। और मिलजानेपर भी इनके

समुदायसे मनुष्यके आकारका किस प्रकार होजाता है अर्थात् वह गर्भ मनुष्यरूपमें किस प्रकार प्रगट होताहै। और इन संपूर्णभावोंसे उत्पन्नहुआ गर्भ मनुष्यसे मनुष्य हुआ कैसे कहाजाता है। यदि आप ऐसा मानते हैं कि मनुष्यसे मनुष्य प्रगट होता है यह मनुष्य विग्रहसे अर्थात् जैसे-गौसे गौ,घोडेसे घोडा, पशु जगत्में उत्पन्न होता है। इसीप्रकार मनुष्यसे मनुष्यके आकारवाला गर्भ होता है। तो जो पहिले आत्मादिक समुदायसे गर्भकी उत्पत्ति कहआयेहैं वह अयुक्त हो जायगा और मनुष्यसे मनुष्य-मनुष्यके आकारही पैदा होता है तो क्या कारण है कि माता पिता उस प्रकारके न होतेहुए भी संतान उनके आकारकी नहीं होती। जैसे-जड, अंधा,कुबडा, गूंगा, बवना, मिनमिना, व्यंग, उन्मत्त, कुष्ठी और किलास आदि रोगवाले मनुष्योंकी संतान अपने मातापिताके समान अंधी, कुबडी आदि क्यों नहीं होती। यदि इनमें भी आपका ऐसा भाव हो कि, मातापिताके किसी इन्द्रियहीन होनेसे संतानके मनुष्यत्वमें फर्क नहीं पडता आत्मा अपने नेत्रोंद्वारा रूपको देखता है, कानसे शब्द सुनता है, नासिकासे गंधको सूंघता है, जिह्वासे रसको लेता है, स्पर्शनेन्द्रियसे स्पर्शका ज्ञान करता है, बुद्धिसे बोध करता है अर्थात् जानता है इस लिये जडआदिकोंकी संतान मातापिताके समान जडत्वादि दोषोंवाली नहीं होती तो इस तरह कहनेसे भी आपके पक्षकी हानि होती है। और प्रतिज्ञाहानिका दोष आता है। क्योंकि ऐसा कहनेसे यह सिद्ध होजायगा कि इंद्रियें होनेसे आत्मज्ञानी है तथा किसी इंद्रियके नष्ट होनेसे आत्मा अज्ञ होजायगा। जिसमें ज्ञान उत्पन्न होना और ज्ञान नष्ट होना यह दो भाव आजायेंगे तो आत्मा निर्विकार न कहा जाकर विकार प्रकृति अथवा प्रकृतिका विकार सिद्ध होजायगा। क्योंकि ज्ञानी आत्माही निर्विकार होता है। यदि ऐसा कहो कि, दर्शन आदि इंद्रियोंद्वारा आत्मा विषयोंको ग्रहण करता है अर्थात् उनको इद्रियोंद्वारा जानता है तो इद्रियोंके विना दर्शनादि ज्ञान न होनेसे आत्माको अज्ञ मानना होगा। आत्मा अज्ञ सिद्ध होजानेसे कारण न माना जायगा। कारण न माना जानेसे अनात्मा सिद्ध होजायगा। फिर आपका यह जितना कथन है सब बकवासमात्र और अनर्थक सिद्ध होजायगा ॥ २३ ॥

आत्रेयजीका उत्तर।

आत्रेय उवाच। पुरस्तादेतत्प्रतिज्ञातं सत्त्वं जीवस्पृक्शरीरेणाभिसम्बध्नातीति। यस्मात्तु समुदायप्रभवः सन् गर्भो मनुष्यविग्रहेण जायते मनुष्यश्च मनुष्यप्रभव इत्युच्यते तद् वक्ष्यामः ॥ २४ ॥

यह सुनकर आत्रेय भगवान् कहने लगे कि, यह तो हम प्रथम ही कथन कर चुके हैं कि सत्त्वसंज्ञक मन-अनेक द्रव्योंके समूहरूप शरीरसे जीवका संबंध उत्पन्न कर देता है अर्थात् सत्त्व-समभावोंको आत्मासे मिलादेता है और जिस प्रकार द्रव्योंके

समूहसे बने हुए गर्भका मनुष्य देहके साथ जन्म लेता है तथा जिस प्रकार मनुष्यसे मनुष्य उत्पन्न होता है उसका वर्णन अब करते हैं ॥ २४ ॥

भूतानां चतुर्विधा योनिर्भवति जराय्वण्डस्वेदोद्भिदः । तासां खलु चतसृणामपि योनीनामेकैका योनिरपरिसंख्येयभेदा भवति भूताना-माकृतिविशेषापरिसंख्येयत्वात् । तत्र जरायुजानामण्डजानां प्राणि-नामेते गर्भकरा भावा यां यां योनिमापद्यन्ते तस्यां तस्यां योनौ तथातथारूपा भवन्ति । तद्यथा कनकरजतताम्रत्रपुसीसान्याक्षि-च्यमानानि तेषु तेषु मधूच्छिष्टबिम्बेषु । ते यदा मनुष्यबिम्बमाप-द्यन्ते तदा मनुष्यविग्रहेण जायन्ते । तस्मात्समुदायात्मकः सन् गर्भो मनुष्यविग्रहेण जायते । मनुष्यो मनुष्यप्रभव इत्युच्यते तद्योनि-त्वात् ॥ २५ ॥

सम्पूर्ण प्राणिमात्रकी जरायुज, अण्डज, स्वेदज और औद्भिद यह चार प्रकारकी योनि है इन चार प्रकारकी योनियोंके अनेक और असंख्य भेद होते हैं । क्योंकि प्राणियोंके आकार विशेषभी असंख्य होते हैं । उन चारोंमें जरायुज और अण्डज प्राणियोंके यह गर्भकारक भाव जिस जिस योनिमें प्राप्त होते हैं उसी उसी योनिके अनुरूप अपने अपने गठनको प्राप्त होतेहुए उनके अनुसार बनावटके होजाते हैं । जैसे–एक मनुष्यके अनुरूप सांचेमें सोना, चांदी, तांबा, रांगा, सीशा अथवा मोम गलाकर ढालदेनेसे मनुष्यके आकारकी प्रतिमाको प्राप्त होजाते हैं । उसी प्रकार गर्भकारक संपूर्ण भावोंका समुदाय–मनुष्य आकारके रचनेवाली योनिमें पडजानेसे मनुष्यसे मनुष्य उत्पन्न होता है क्योंकि वह मनुष्ययोनि होनेसे मनुष्यही होसकता है ॥२५॥

यच्चोक्तं यदि च मनुष्यो मनुष्यप्रभवः कस्मान्न जडादिभ्यो जाताः पितृसदृशरूपा भवन्तीति तत्र उच्यते । यस्य यस्य हि अङ्गावय-वस्य बीजे बीजभाव उपतप्तो भवति,तस्य तस्याङ्गावयवस्य विकृति-रुपजायते । न उपजायते च अनुतापात्तस्मादुभयोपपत्तिरपि अत्र सर्वस्य चात्मजानि इन्द्रियाणि तेषां भावाभावहेतुर्दैवं तस्मान्नैका-न्ततो जडादिभ्यो जाताः पितृसदृशरूपा भवन्ति ॥ २६ ॥

और यह जो आपने कहा है कि जब मनुष्यसे मनुष्य प्रगट होता है तो जडा-दिकोंकी संतान उनके समान जड, अंधी, कुबडी आदि क्यों नहीं होतीं तो उसका यह स्पष्ट उत्तर है कि बीजके संपूर्ण अंगोंमें बीजकी शक्ति है उस बीजके जो अंश,

अवयव खराब होजाते हैं संतानके भी उन्हीं अंश या अवयवोंमें विकार उत्पन्न होजाते हैं। यदि बीजमें किसीप्रकारका कोई विकार नहीं है तो उससे उत्पन्न होनेवाली संतानमें भी कोई विकार नहीं होते। क्योंकि जड आदिकोंके वीर्यमें विकार न होनेसे उस वीर्यसे उत्पन्न होनेवाली संतानमें भी कोई विकार उत्पन्न नहीं होते। उस वीर्यमेंही प्रमेहादि दोष होनेसे संतानकोभी प्रमेहादि दोष होते हैं। इससे आपके कहेहुए दोनों प्रश्नोंका उत्तर दिया जाचुका। सबकी सब इंद्रियें आत्मज होती हैं और उनके साथ पूर्वजन्मके कर्मका संबंध होता है। वह पूर्वजन्मके कर्मही इन्द्रियोंके भावाभावका कारण है। अर्थात् किसी पूर्वजन्मके पापकर्मके प्रभावसे वैसाही संयोग मिलकर इन्द्रियोंका विघात होता है पूर्वजन्मकृत कोई उस प्रकारका पापकर्म न होनेसे इन्द्रियोंमें कोई विकार नहीं होसकता। इसीलिये जडादिकोंसे उत्पन्न हुई संतानके रूप पितामाताके समान नहीं होते ॥ २६ ॥

न चात्मा सत्स्विन्द्रियेषु अज्ञोऽसत्सु वा भवत्यज्ञो, न ह्यसत्त्वः कदाचिदात्मा, सत्त्वविशेषाच्च उपलभ्यते ज्ञानविशेष इति ॥ २७ ॥

आत्मा इन्द्रियोंके होनेसे ज्ञाता और इन्द्रियोंके न होनेसे अज्ञाता नहीं होसकता क्योंकि आत्मा मनसे रहित कभी नहीं होता। इसलिये बाह्य इन्द्रियके नष्ट होनेपर भी मनयुक्त आत्माको ज्ञानकी उपलब्धी होती रहती है ॥ २७ ॥

भवति चात्र-न कर्त्तुरिन्द्रियाभावात्कार्य्यज्ञानं प्रवर्त्तते।
यैः क्रिया वर्त्तते या तु सा विना तैर्न वर्त्तते ॥ २८ ॥
जानन्नपि मृदोभावात्कुम्भकृन्न प्रवर्त्तते।
श्रूयतांश्चेदमध्यात्ममात्मज्ञानबलं महत् ॥ २९ ॥

यहां कहा है कि इन्द्रियोंका अभाव होनेसे कर्त्ताकी कार्यज्ञानमें प्रवृत्ति नहीं होती। क्योंकि जो क्रिया जिसके द्वारा होसकती है वह उसके विना हो ही नहीं सकती जैसे-कुम्हार घटके बनानेकी क्रियाको जानता हुआ भी मट्टीके विना उसके बनानेके लिये प्रवृत्त नहीं होता। सो तुम इस महत् अध्यात्मज्ञानके बलको श्रवण करो ॥ २८ ॥ २९ ॥

देहेन्द्रियाणि संक्षिप्य मनः संगृह्य चञ्चलम्।
प्रविश्याध्यात्ममात्मज्ञः स्वे ज्ञाने पर्य्यवस्थितः ॥ ३० ॥
सर्वत्र विहितज्ञानः सर्वभावान्परीक्षते।
गृहीष्व वेदमपरं भरद्वाज[1] विनिर्णयम् ॥ ३१ ॥

---

१ भरद्वाजशब्देनेह नात्रेयगुरुरुच्यते। किन्तु अन्य एव भरद्वाजगोत्रः कश्चित्।

आत्माको जाननेवाला बुद्धिमान् देह और इन्द्रियोंको वशमें करके मनकी चंचलताको रोककर अध्यात्मतत्त्वोंमें प्रवेश करके अपने ज्ञानको अर्थात् आत्मज्ञानको प्राप्त होजाता है। फिर वह सर्वज्ञ सबका पूर्णज्ञान रखते हुए अहतज्ञान द्वारा संपूर्ण भावोंकी परीक्षा करता है। हे भरद्वाज! एक और विनिर्णयको श्रवण करो३०॥३१॥

निवृत्तेन्द्रियवाक्चेष्टः सुप्तः स्वप्नगतो यदा।
विषयान्सुखदुःखे च वेत्ति नाज्ञोऽप्यतः स्मृतः॥ ३२॥
नात्मज्ञानादृते चैकं ज्ञानं किञ्चित्प्रवर्त्तते।
न ह्येको वर्त्तते भावो वर्त्तते नाप्यहेतुकः॥ ३३॥

जब मनुष्यकी इन्द्रिय तथा वाक्चेष्टा निवृत्त होजाती हैं और मनुष्य सोजाता है उस अवस्थामें भी सुखदुःखको ग्रहण करता है अर्थात् सोजानेपर इन्द्रिय आदिकोंकी चेष्टा बंद होजाती है उस समय भी यह सुखदुःखका स्वप्नावस्थामें अनुभव करता है इसलिये इसको अज्ञ नहीं कहना चाहिये। आत्मज्ञानके विना कोई भी ज्ञान स्वतंत्र नहीं है और कोई भाव विना किसी हेतुके स्वयं अकेला प्रवृत्त नहीं होता। तात्पर्य यह हुआ कि, इन्द्रिय आदि व्यापार और चंचलताको वशमें करलेनेसे मनुष्यको साक्षात्कार ज्ञानका प्रकाश होजाता है। और इन्द्रियोंके रुक जानेपर भी यह मनुष्य स्वप्नावस्थामें अनेक प्रकारके ज्ञानका अनुभव करता रहता है। इसलिये आत्मा कभी भी अज्ञानी नहीं कहा जासकता॥ ३२॥ ३३॥

तस्माज्ज्ञः प्रकृतिश्चात्मा द्रष्टा कारणमेव च।
सर्वमेतद्भरद्वाज! निर्णीतं जहि संशयम्। इति॥ ३४॥

इसलिये आत्मा ज्ञानी है। प्रकृति (निर्विकार) है द्रष्टा है और कारण (ज्ञानके प्रति) है। यह सब निर्णय होगया इस कारण भरद्वाज! तुम संशयको त्यागदो३४

अध्यायका संक्षिप्तवर्णन।

हेतुर्गर्भस्य निर्वृत्तौ वृद्धौ जन्मनि चैव यः।
पुनर्वसुमतिर्या च भरद्वाजमतिश्च या॥ ३५॥
प्रतिज्ञा प्रतिषेधश्च विशदश्चात्मनिर्णयः।
गर्भावक्रान्तिमुद्दिश्य खुड्डीकं सम्प्रकाशितम्॥ ३६॥

इति खुड्डीकागर्भावक्रांतिः शारीरः समाप्तः॥ ३॥

यहां अध्यायकी पूर्त्तिमें दो श्लोक हैं—कि इस खुड्डीकागर्भावक्रान्ति शारीर नामक अध्यायमें गर्भकी उत्पत्ति, कारण, वृद्धि और जन्म इन सबके हेतु आत्रेय भग-

वानूका मत और भरद्वाजका प्रस्ताव, प्रतिज्ञा, प्रतिबंध, स्पष्ट निर्णय यह सब विधिवत् वर्णन कियेगये हैं ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां शारीरस्थाने पटियालाराज्यान्तर्गतटकसालनिवासिवैद्यपञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्यभाषाटीकायां खुड्डीकागर्भावक्रान्तिशारीरं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः।

अथातो महतीं गर्भावक्रान्तिं शारीरं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम महती गर्भावक्रांति शारीरकी व्याख्या करते हैं इस प्रकार भगवान् आत्रेयजी कथन करनेलगे ॥

आत्रेयजीकी प्रतिज्ञा।

यतश्च गर्भः सम्भवति यस्मिंश्च गर्भसंज्ञा यद्विकारश्च गर्भो यथा चानुपूर्व्याभिनिर्वर्त्तते कुक्षौ यश्चास्य वृद्धिहेतुर्यतश्चास्यावृद्धिर्भवति यतश्च जायमानः कुक्षौ विनाशं प्राप्नोति यतश्च कात्स्र्न्येनाविनश्यन् विकृतिमापद्यते तदनुव्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

जिससे गर्भ उत्पन्न होता है, जिसलिये उसकी गर्भसंज्ञा है, जिन द्रव्योंके रूपान्तर होनेको गर्भ कहते हैं, जिस प्रकार कुक्षीमें गर्भ प्राप्त होता है, जो उसके बढनेके हेतु हैं, जिस प्रकार वह वृद्धिको प्राप्त नहीं होता, जिन कारणोंसे गर्भ उत्पन्न होकर भी कुक्षीमें ही नष्ट होजाता है, जिन कारणोंसें सम्पूर्ण नष्ट न होकर विकृत होजाता है इन सबको हम क्रमपूर्वक वर्णन करते हैं ॥ १ ॥

गर्भकी उत्पत्तिका कारण।

मातृतः पितृत आत्मतः सात्म्यतो रसतः सत्त्वत इत्येतेभ्यो भावेभ्यः समुदितेभ्यो गर्भः सम्भवति। तस्य ये येऽवयवा यतो यतः सम्भवतः सम्भवन्ति तान्विभज्य मातृजादीनवयवान्पृथक् पृथगुक्तमग्रे। शुक्रशोणितजीवसंयोगे तु खलु कुक्षिगते गर्भसंज्ञा भवति ॥ २ ॥

यह गर्भ माता, पिता, आत्मा, सात्म्य और रस तथा सत्त्व इन सब भावोंसेही उत्पन्न होता है। उस गर्भके जो २ अवयव जिस जिस प्रकार जैसे २ उत्पन्न होते

हैं उन सबके मातृज आदि अवयवोंको विभागपूर्वक अलग अलग प्रथम कथन करचुके हैं। वीर्य और रजके तथा जीवका संयोग होकर कुक्षीमें प्राप्त होनेका नामही गर्भ है॥ २॥

गर्भके वैकारिक द्रव्य।

गर्भस्तु खलु अन्तरिक्षवाय्वग्नितोयभूमिविकारश्चेतनाधिष्ठानभूतः। एवमनयैव युक्त्या पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मको गर्भश्चेतनाधात्वधिष्ठानभूतः। स ह्यस्य षष्ठो धातुरुक्तः॥ ३॥

वह गर्भ—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी और चेतनाका अधिष्ठानभूत है। इसलिये गर्भ—पञ्चमहाभूतोंके विकारोंका समुदायात्मक है और चेतनाधातुका अधिष्ठानभूत है। वह चेतनाही गर्भकी छठी धातु मानी जाती है॥ ३॥

गर्भकी आनुपूर्विक उत्पत्ति।

यथा त्वानुपूर्व्याभिनिर्वर्त्तते कुक्षौ तदनुव्याख्यास्यामः। गते पुराणे रजसि नवे च अवस्थिते पुनः शुद्धस्नातां स्त्रियमव्यापन्नयोनिशोणितगर्भाशयामृतुमतीमाचक्ष्महे। तया सह तथाभूतया यदा पुमानव्यापन्नबीजो मिश्रीभावं गच्छति तस्य हर्षोदीरितः परः शरीरधात्वात्माशुक्रभूतोऽङ्गादङ्गात् सम्भवति। स तथा हर्षभूतेनात्मनोदीरितश्च अधिष्ठितबीजधातुः पुरुषशरीरादभिनिष्पत्योचितेन हितेन पथा गर्भाशयमनुप्रविश्यार्त्तवेनाभिसंसर्गमेति। तत्र पूर्वं चेतनाधातुः सत्त्वकरणो गुणग्रहणाय प्रवर्त्तते। स हि हेतुः कारणं निमित्तमक्षरं कर्त्ता मन्ता वेदिता बोद्धा द्रष्टा धाता ब्रह्मा विश्वकर्मा विश्वरूपः पुरुषः प्रभवोऽव्ययो नित्यः गुणी ग्रहणं प्राधान्यमव्यक्तं जीवो ज्ञः प्रकुलश्चेतनावान्विभुर्भूतात्मा चेन्द्रियात्मा चान्तरात्मा चेति॥ ४॥

जिस प्रकार आनुपूर्विक क्रमसे कुक्षीमें गर्भ उत्पन्न होकर परिणत होता हुआ वृद्धिको प्राप्त होता है अब उसका वर्णन करते हैं। जब स्त्री प्राचीन रजके निवृत्त होनेसे नवीन रजोदर्शन होनेके अनन्तर शुद्धस्नान करलेती है और रजके साफ होजानेसे उसकी योनि स्रावरहित होकर गर्भाशय शुद्ध होता है। उस समय वह स्त्री गमनीया अर्थात् पुरुषके सहवासयोग्य होती है। उस स्त्रीके साथ शुद्ध वीर्यवाले

पुरुषका संयोग होकर शरीरकी सम्पूर्ण धातुओंका सारभूत वीर्य आनन्दके कारण शरीरमेंसे प्रचलित होता है। वह वीर्य आनन्दयुक्त आत्मासे उदीरित हुआ जीव-धातु पुरुषके शरीरसे निकलकर उसी रास्तेसे गर्भाशयमें प्रवेश हो शुद्ध आर्तव (मासिक ऋतुका शुद्धरज) से मिलजाता है। वह चेतनाधातु सत्त्वसंज्ञक मनरूप करणसे युक्त होकर गुण ग्रहण करनेमें प्रथम प्रवृत्त होता है। इसीलिये यह कारण, निमित्त, अक्षर, कर्त्ता, मंता, वेदिता, बोद्धा, द्रष्टा, धाता, ब्रह्मा, विश्वकर्मा, विश्वरूप, प्रभव, अव्यय, नित्य, गुणी, ग्रहणकर्त्ता, प्रधान, अव्यक्त, जीव, ज्ञाता, प्रकुल, चेतनावान्, विभु, भूतात्मा, इन्द्रियात्मा और अन्तरात्मा कहाजाता है ॥ ४ ॥

स गुणोपादानकालेऽन्तरिक्षं पूर्वतरमन्येभ्यो गुणेभ्य उपादत्ते । यथा प्रलयात्यये सिसृक्षुर्भूतान्यक्षरभूतः सत्त्वोपादानं पूर्वतरमाकाशं सृजति । ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान्धातून् वाय्वादींश्चतुरः । तथा देहग्रहणेऽपि प्रवर्त्तमानः पूर्वतरमाकाशमेवोपादत्ते । ततः क्रमेण व्यक्त-तरगुणान्धातून्वाय्वादींश्चतुरः । सर्वमपि तु खल्वेतद्गुणोपादानमणुना कालेन भवति ॥ ५ ॥

वह चेतनाधातु गुण ग्रहण करनेके समय और अन्य गुण ग्रहण करनेसे प्रथम आकाशको ग्रहण करके रहता है। जैसे–विधाता प्रलयके अनन्तर सृष्टि रचना कर-नेकी इच्छासे सत्त्वोत्पादन करनेसे प्रथम आकाशको रचता है फिर उस आका-शमें क्रमपूर्वक वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी इन व्यक्तगुणोंवाली धातुओंको रचता है। उसी प्रकार देहको ग्रहण करनेमें प्रवृत्त होनेकी इच्छावाला आत्मा पहिले आका-शको ग्रहण करता है फिर क्रमसे वायु, आदि चार व्यक्तधातुओंके गुणोंको ग्रहण करता है। यह संपूर्णही गुणोंका उपादान अर्थात् ग्रहण करना अणुकालमें ही होजाता है ॥ ५ ॥

गर्भकी पहिली अवस्था।

स सर्वगुणवान् गर्भत्वमापन्नः प्रथमे मासि संमूर्च्छितः सर्वधातुकलु-षीकृतः खेटभूतो भवति अव्यक्तविग्रहः । स च सदसद्भूताङ्गावयवः ॥६॥

वह चेतनाधातु इसप्रकार गुणोंको ग्रहण कर गर्भत्वको प्राप्त होजाता है। पहिले महीनेमें संमूर्च्छित हुआ संपूर्ण धातुओंसे कलुषित होकर कफके समान गाढासा होता है। इस अवस्थामें इसका शरीर दिखाई नहीं देता। वह प्रथम महीनेमें कलल-भूत गाढासा क्लेद अंगावयवकी सूक्ष्म सत्तासे युक्त होता है ॥ ६ ॥

द्वितीये मासि घनः सम्पद्यते पिण्डं पेश्यर्बुदं वा । तत्र घनः पुरुषः, स्त्री पेशी, अर्बुदं नपुंसकम् ॥ ७ ॥

दूसरे महीनेमें घन होकर पिंडके आकारका बनजाता है । यदि पुरुषका शरीर होना हो तो वह पिंड गोल होजाता है । और स्त्रीका हो तो लम्बी मांसपेशीसी हो जाती है । और नपुंसक होना हो तो अर्बुद (बुलबुला) के समान होता है ॥७॥

तृतीये मासि सर्वेन्द्रियाणि सर्वाङ्गावयवाश्च यौगपद्येन अभिनिर्वर्त्तन्ते॥८॥

तीसरे महीनेमें सम्पूर्ण इन्द्रियां और सर्वांगावयव एककालमें ही प्रगट होजाते हैं८

तत्रास्य केचिदङ्गावयवा मातृजादीनवयवान्विभज्य पूर्वमुक्ता यथावत् । महाभूतविकारप्रविभागेन तु इदानीमस्य तांश्चैव अङ्गावयवान् कांश्चित्पर्य्यायान्तरेण परांश्च अनुव्याख्यास्यामः ॥ ९ ॥

उन सब अंगावयवोंमें जो मातृज आदिक अंगावयव होते हैं उनको तो हम क्रमपूर्वक प्रथमही कथन करचुके हैं । अब पांचमहाभूतोंके क्रमसे आकाशादिकोंके जो जो अंग उत्पन्न होते हैं तथा अन्य भी जो अंग जिस प्रकार उत्पन्न होते हैं उनका वर्णन करते हैं ॥ ९ ॥

गर्भका आकाशात्मक अवयव।

मातृजादयोऽप्यस्य महाभूतविकारा एव । तत्रास्याकाशात्मकं शब्दः श्रोत्रं लाघवं सौक्ष्म्यं विवेकश्च ॥ १० ॥

मातृज आदिक जितने गर्भके अंग होते हैं वह सब पांचमहाभूतोंकेही विकार हैं उन पांचोंमें शब्द, श्रोत्र, लघुता, सूक्ष्मता और विभाग अथवा छिद्र यह सब आकाशके विकार होते हैं । अर्थात् आकाशसे उत्पन्न होते हैं ॥ १० ॥

गर्भका वाय्वात्मक अवयव ।

वाय्वात्मकं स्पर्शः स्पर्शनञ्च रौक्ष्यं प्रेरणं धातुव्यूहनं चेष्टाश्च शारीर्य्यः ११

स्पर्श, स्पर्शेनेंद्रिय, रूक्षता, प्रेरणा, धातुओंकी रचना और शरीरकी चेष्टा यह सब वायुके विकार हैं ॥ ११ ॥

गर्भका अग्न्यात्मक अवयव ।

अग्न्यात्मकं रूपं दर्शनं प्रकाशः पक्तिरौष्ण्यञ्च ॥ १२ ॥

रूप, चक्षुइन्द्रिय, प्रकाश, जठराग्नि और गर्मी यह सब अग्निके विकार हैं ॥१२॥

गर्भका जलात्मक अवयव ।

अबात्मकं रसो रसनं शैत्यं मार्दवः स्नेहः क्लेदश्च ॥ १३ ॥

रस, जिह्वा, शीतलता, मृदुता, चिकनाई और गीलापन यह सब जलके विकार होते हैं ॥ १३ ॥

गर्भका पृथिव्यात्मक अवयव।

पृथिव्यात्मको गन्धः घ्राणं गौरवं स्थैर्य्यं मूर्त्तिश्च ॥ १४ ॥

गन्ध, घ्राणेन्द्रिय, भारीपन, स्थिरता और मूर्त्तता यह सब पृथिव्यात्मक विकार हैं १४

एवमयं लोकसम्मतः पुरुषः। यावन्तो हि लोके भावविशेषाः तावन्तः पुरुषे, यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके, इति बुधास्त्वेवं द्रष्टु-मिच्छन्ति ॥ १५ ॥

इस प्रकार पुरुष लोक तुल्य है जितने भावविशेष लोकमे हैं वह सब पुरुषमें हैं जितने पुरुषमें हैं वह सब लोकमें है। बुद्धिमान् ऐसा विचार रखते हैं ॥ १५ ॥

एवमस्येन्द्रियाणि अङ्गावयवाश्च यौगपद्येनाभिनिर्वर्त्तन्ते। अन्यत्र तेभ्यो भावेभ्यो येऽस्य जातस्योत्तरकालं जायन्ते। तद्यथा—दन्ता व्यञ्जनानि व्यक्तीभावः तथायुक्तानि चापराणि। एषा प्रकृतिः। विकृतिः पुनरतोऽन्यथा। सन्ति खलु अस्मिन् गर्भे नित्या भावाः, सन्ति चानित्याः। तस्य य एवाङ्गावयवाः संतिष्ठन्ते त एव स्त्रीलिङ्गं पुरुषलिङ्गं नपुंसकलिङ्गं वा बिभ्रति ॥ १६ ॥

इस प्रकार सम्पूर्ण इन्द्रियां और अंगावयव एकही कालमें उत्पन्न होजाते हैं। परन्तु कुछ भाव इस प्रकारके होते हैं जो इसके जन्म लेनेके अनन्तर होते हैं। उन भावोंके सिवाय और सम्पूर्ण अंगावयव क्रमपूर्वक गर्भमेंही परिपूर्ण होजाते हैं। जो जन्म लेने उपरान्त भाव उत्पन्न होते हैं वह इस प्रकार हैं जैसे--दांत, दाढी, मूंछ आदि। इनके सिवाय अन्य भी प्राकृतिकभाव उत्पन्न होते हैं। इससे विपरीत इन्द्रियहानि आदि विकृतभाव उत्पन्न होते हैं। गर्भके बहुतसे भाव नित्य होते हैं। बहुतसे अनित्य होते हैं। जिस अंगावयवोंसे स्त्रीके लक्षण पुरुषके लक्षण और नपुंसकके लक्षण दिखाई देते हैं, वह गर्भके भाव नित्य हैं और दांत आदि भाव अनित्य होते हैं ॥ १६ ॥

कन्या आदिका विशेषभाव।

ततः स्त्रीपुरुषयोर्ये वैशेषिका भावाः प्रधानसंश्रया गुणसंश्रयाश्च तेषां यतो भूयस्त्वं ततोऽन्यतरभावः। तद्यथा—क्लैब्यं भीरुत्वमवैशारद्यं मोहोऽवस्थानमधोगुरुत्वमसंहननं शैथिल्यं मार्दवं गर्भाशयबीजभाग-

स्तथायुक्तानि चापराणि स्त्रीकराणि । अतो विपरीतानि पुरुषकराणि । उभयभागभावानि नपुंसककराणि । यस्य यत्कालमेव इन्द्रियाणि संतिष्ठन्ते तत्कालमेवास्य चेतसि वेदनानिबन्धं प्राप्नोति । तस्मात्तदाप्रभृति गर्भः स्पन्दते । प्रार्थयते च जन्मान्तरानुभूतमिह यत्किञ्चित् तद् द्वैहृदय्यमाचक्षते वृद्धाः । मातृजञ्चास्य हृदयं मातृहृदयाभिसम्बद्धं रसवाहिनीभिः संवाहिनीभिः । तस्मात्तयोस्ताभिर्भक्तिः सम्पद्यते । तच्चैव कारणमवेक्षमाणा न द्वैहृदय्यं विमानितं गर्भमिच्छन्ति कर्तुं विमाने ह्यस्य दृश्यते विनाशो विकृतिर्वा ॥ १७ ॥

गर्भमें स्त्रीपुरुषके रज और वीर्याश्रित भावोंमें स्त्रीके भावोंकी अधिकता होनेसे कन्या उत्पन्न होती है और पुरुषके भावोंकी अधिकता होनेसे पुत्र उत्पन्न होता है । एवं दोनोंके बराबर होनेसे नपुंसक सन्तान होती है । उनमें कन्याके उत्पन्न करनेवाले ये भाव होते हैं । जैसे—कातरता,भीरुता, अचतुरता, मोह, चञ्चलता, अधोगुरुता, अदृढता, शिथिलता, मृदुता और रजकी आधिक्यता आदिक भाव कन्याके उत्पन्न करनेवाले होते हैं । इससे विपरीत सब भाव जैसे शौर्यता, शुक्राधिक्यता, धैर्य, दृढता आदि पुत्र उत्पन्न करनेवाले भाव होते हैं । दोनोंके बराबर होनेसे नपुंसक सन्तान होती है । जब गर्भमें इन्द्रियें उत्पन्न होजाती हैं उसी समयसे चित्तमें पीडा आदि जाननेका संबंध उत्पन्न होजाता है । जबसे इसको गभम पीडा आदि प्रतीत होने लगती है और गर्भ फडकने लगजाता है उसी समयसे यह जन्मांतरमें होनेवाले सुख दुःखोंका अनुभव करने लगजाता है और जिस २ प्रकारकी इच्छा करता है वह इच्छा माताके हृदयमें पहुंचकर मातासेही उसी प्रकारकी इच्छाको उत्पन्न करताहै । गर्भका हृदय माताके हृदयके साथ रसवाहिनी नाडियोंद्वारा संबंध रखता है उन्ही रसवाहिनी नाडियोंके संयोगसे गर्भके हृदयकी इच्छा माताके हृदयमें पहुंचती । उन भावोंको देखकरही गर्भवती स्त्रीको दौर्हृद (दो हृदयोंवाली) कहाजाता है । जिस प्रकारकी गर्भके हृदयमें इच्छा उत्पन्न होती है माता उसी प्रकारकी इच्छाको प्रगट करती है । इस लिये बुद्धिमान् गर्भकी इच्छाका व्याघात कभी नहीं करते अर्थात् गर्भवती जिस पदार्थको चाहती है उसको वही देते हैं । दौर्हृदके समय माताके इच्छित पदार्थ न मिलनेसे गर्भमें विकार उत्पन्न होता है । अथवा गर्भनाश होजाता है ॥ १७ ॥

समानयोगक्षेमा हि माता तदा गर्भेण केषुचिदर्थेषु तस्मात्प्रियहिताभ्यां गर्भिणीं विशेषेणोपचरन्ति कुशलाः ॥ १८ ॥

माता और गर्भ यह दोनों समान योगक्षेम हैं अर्थात् माताका हित होनेसे गर्भका भी हित होताहै और माताका अहित होनेसे गर्भमें भी विकार उत्पन्न होजाता है । इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य गर्भवती स्त्रीके प्रियकर्त्ता पदार्थोंसे और हित उपचारसे इच्छा पूर्ण करते रहते हैं ॥ १८ ॥

दौर्हृदलक्षण ।

तस्या दौर्हृदय्यस्य च विज्ञानार्थं लिङ्गानि समासेन उपदेक्ष्यामः ॥ १९॥

उस स्त्रीके दौर्हृद जाननेके लिये लक्षण और उसकी रक्षाके लिये हित उपायोंका संक्षेपसे वर्णन करते हैं ॥ १९ ॥

उपचारसंबोधनं ह्यस्याज्ञाने । दोषज्ञानञ्च लिङ्गतः।तस्मादिष्टो लिङ्गोपदेशः । तद्यथा—आर्त्तवादर्शनमास्यसंस्रवणमनन्नाभिलाषश्छर्दिररोचकोऽम्लकामता च विशेषेण । श्रद्धाप्रणयनञ्चोच्चावचेषु भावेषु गुरुगात्रत्वं चक्षुषोर्ग्लानिः स्तनयोः स्तन्यमोष्ठयोः स्तनमण्डलयोश्च कार्ष्ण्यमत्यर्थं श्वयथुः पादयोरीषल्लोमराज्युद्गमो योन्याश्चाटालत्वमिति गर्भे पर्य्यागते रूपाणि भवन्ति ॥ २० ॥

क्योंकि गर्भवतीके लक्षणोंको न जाननेसे और उपचारको न जाननेसे गर्भमें अनेक प्रकारकी बाधायें होसकती हैं । इसलिये लक्षणोंसे ज्ञानकी उत्पत्तिके लिये उन लक्षणोंका वर्णन करते हैं अर्थात् गर्भवती स्त्रीके यह लक्षण होते हैं । जैसे- मासिकऋतुका न दीखना, मुखसे पानीका गिरना, अन्न अच्छा न लगना, छर्दी होना, अरुचि और खट्टे पदार्थोंकी इच्छा होना, ऊंच और नीचभावोंमें श्रद्धा होना और इच्छा होना, शरीरका भारी होना, नेत्रोंमें ग्लानि होना, स्तनोंमें दूधकी प्रवृत्ति होना, दोनों ओष्ठ और स्तनोंके मुख काले होना, पावोंपर सूजन होना, योनिका विस्तृत होना, किंचित् रोमांच होना यह सब लक्षण पूर्णगर्भवतीके होते हैं ॥ २० ॥

गर्भनाशक भाव ।

सा यद्यदिच्छेत् तत्तदस्यै दद्यादन्यत्र गर्भोपघातकरेभ्यो भावेभ्यः ॥ गर्भोपघातकरास्त्विमे भावाः । तद्यथा—सर्वमतिगुरूष्णतीक्ष्णं, दारुणाश्च चेष्टाः, इमांश्चान्यानुपदिशन्ति वृद्धाः । देवतारक्षोऽनुचरपरिरक्षणार्थं न रक्तानि वासांसि बिभृयान्न मदकराणि मद्यान्यभ्यवहरेन्न यानमधिरोहेन्न मांसमश्नीयात्सर्वेन्द्रियप्रतिकूलांश्च भावान्दूरतः परिवर्जयेत् यच्चान्यदपि किञ्चित् स्त्रियो विद्युः ॥ २१ ॥

वह गर्भवती जिन जिन पदार्थोंकी इच्छा करे उसको वही पदार्थ देने चाहियें। परन्तु जो द्रव्य गर्भको हानि पहुंचानेवाले हों वह नहीं देने चाहियें । गर्भको हानि पहुंचानेवाले यह भाव हैं। जैसे अत्यन्तभारी, तीक्ष्ण और दारुण द्रव्योंका सेवन और उलटीपुलटी चेष्टा करना । इनके सिवाय और भी भावोंको गर्भके हानिकारक कथन किया है । जैसे देवता और राक्षस तथा उनके अनुचर भी गर्भमें हानि पहुंचाते हैं। इसलिये वृद्धजनोंने कहा है कि गर्भवती स्त्रीको रक्तवस्त्र धारण नहीं करने चाहियें और मदकारक द्रव्योंका सेवन नहीं करना चाहिये तथा सवारी आदिमें चढना, अतिवेगसे चलना, मांस खाना, एवम् इन्द्रियोंके प्रतिकूल संपूर्ण भावोंको दूरसेही त्याग देना चाहिये तथा अन्य भी गर्भको हानिकारक व्यवहार जो वृद्धास्त्रियें कहें वह त्याग देना चाहिये ॥ २१ ॥

तीव्रायान्तु खलु प्रार्थनायां काममहितमप्यस्यै हितेनोपसंहितं दद्यात् प्रार्थनाविलयनार्थम् । प्रार्थनासन्धारणाद्धि वायुः कुपितोऽन्तः-शरीरमनुचरन्गर्भस्यापद्यमानस्य विनाशं वैरूप्यं वा कुर्य्यात् ॥२२॥

यदि किसी अहितकारक द्रव्यके ऊपर स्त्रीकी बहुत इच्छा चलती हो तो उसको वह द्रव्य किसी हितकारी द्रव्यके संयोगसे जिसप्रकार वह हानि न करसके दे देना चाहिये । क्योंकि गर्भवतीस्त्रीकी तीव्र इच्छाको रोकनेसे गर्भमें दोष उत्पन्न होता है और वायु कुपित होकर बिगाड देता है ॥ २२ ॥

चौथे महीनेमें गर्भके लक्षण ।

चतुर्थे मासि स्थिरत्वमापद्यते गर्भस्तस्मात्तदा गर्भिणी गुरुगात्रत्व-मधिकमापद्यते विशेषेण ॥ २३ ॥

चौथे महीनेमें वह गर्भ दृढ होजाता है इसलिये गर्भवती स्त्रीका विशेषरूपसे शरीर भी भारी होजाता है ॥ २३ ॥

पांचवें महीनेमें गर्भका लक्षण ।

पञ्चमे मासि गर्भस्य मांसशोणितोपचयो भवति अधिकमन्येभ्यो मासेभ्यस्तस्मात्तदा गर्भिणी कार्श्यमापद्यते विशेषेण ॥ २४ ॥

पांचवें महीनेमें गर्भके मांस और रक्तकी वृद्धि अन्य महीनोंसें अधिक होती है इसलिये गर्भवती स्त्रीका शरीर विशेषतासे कृश होने लगता है ॥ २४ ॥

छठे महीनेमें गर्भका लक्षण ।

षष्ठे मासि गर्भस्य बलवर्णोपचयो भवति अधिकमन्येभ्यो मासेभ्य-स्तस्मात्तदा गर्भिणी बलवर्णहानिमापद्यते विशेषेण ॥ २५ ॥

छठवें महीनेमें गर्भके बल और वर्णकी अन्य महीनोंसे अधिक वृद्धि होती है इसलिये गर्भवती स्त्रीके बल और वर्णकी हानि विशेषरूपसे होती है ॥ २५ ॥

सातवें महीनेमें गर्भके लक्षण।

सप्तमे मासि गर्भः सर्वभावैराप्यायतेऽस्याः । तस्मात्तदा गर्भिणी सर्वाकारैः क्लान्ततमा भवति ॥ २६ ॥

सातवें महीनेमें संपूर्ण भावोंसे गर्भ पुष्ट होजाता है । इसलिये गर्भिणी सब प्रकारसे क्लान्त अर्थात् व्याकुलसी रहती है ॥ २६ ॥

आठवें महीनेमें गर्भके लक्षण।

अष्टमे मासि गर्भश्च मातृतो गर्भतश्च माता रसवाहिनीभिः संवाहिनीभिर्मुहुर्मुहुरोजः परस्परत आददाति गर्भस्य सम्पूर्णत्वात् । तस्मात्तदा गर्भिणी मुहुर्मुहुः मुदायुक्ता भवति मुहुर्मुहुश्च ग्लाना । तस्मात्तदा गर्भस्य जन्म व्यापत्तिमद्भवत्योजसोऽनवस्थितत्वात्तच्चैवमभिसमीक्ष्याष्टमं मासमगण्यमित्याचक्षते कुशलाः ॥ २७ ॥

आठवें महीनेमें गर्भ मातासे और माता गर्भसे रस वहन करनेवाली नाडियोंद्वारा परस्पर ओजको ग्रहण करते हैं । और गर्भ सम्पूर्ण होता है । इसलिये गर्भवती स्त्री वारंवार आनन्दयुक्त और वारंवार ग्लानियुक्त होती जाती है । उस समय गर्भमें ओज स्थिरभावसे नहीं होता । इसीलिये बुद्धिमानोंने अष्टम महीना गण्य नहीं माना है । क्योंकि आठवें महीनेका उत्पन्न हुआ बालक जीता नहीं है ॥ २७ ॥

प्रसवका समय।

तस्मिन्नेकदिवसातिक्रान्तेऽपि नवमं मासमुपादाय प्रसवकालमित्याहुरादशमान्मासात् । एतावान् प्रसवकालः ॥ २८ ॥

आठवें महीनेके उपरान्त नवम महीनेका एक दिन व्यतीत होनेपर भी नवां महीनाही गिनाजाता है और वह प्रसवका समय मानाजाता है । नवमें मासके प्रथम दिनसे लेकर दशम महीनेके अन्ततक प्रसूतका प्राकृत (ठीक) अर्थात् योग्य समय मानाजाता है ॥ २८ ॥

वैकारिकं अतः परं कुक्षौ स्थानं गर्भस्य । एवमनयानुपूर्व्याभिनिर्वर्तते कुक्षौ ॥ २९ ॥

फिर दशवेंके उपरान्त कुक्षिमें सब दिन वैकारिक समय माना जाता है । कुक्षिमें ही इस पूर्वोक्त क्रमसे गर्भ प्रकट होता है ॥ २९ ॥

मात्रादीनान्तु खलु गर्भकराणां भावानां सम्पदस्तथा वृत्तस्य सौष्ठवान्मातृतश्चैवोपस्नेहोपस्वेदाभ्यां कालपरिणामात् स्वभावसंसिद्धेश्च कुक्षौ वृद्धिं प्राप्नोति । मात्रादीनान्तु खलु गर्भकराणां भावानां व्यापत्तिनिमित्तमस्याजन्म भवति ॥ ३० ॥

माता आदिके गर्भकारक भावोंके सम्पन्न होनेसे तथा हित आचारादिकोंके सेवनसे, उपस्नेह और उपस्वेदके योगसे तथा काल और स्वभावके प्रभावसे गर्भ कुक्षिमें वृद्धिको प्राप्त होता है । और माता आदिके भावोंकेही संपन्न न होनेसे अथवा अनाचारके होनेका गर्भका जन्म नहीं होता ॥ ३० ॥

ये त्वस्य कुक्षौ वृद्धिहेतुसमाख्याता भावास्तेषां विपर्य्ययादुदरे विनाशमापद्यतेऽथवाप्यचिरजातः स्यात् ॥ ३१ ॥

गर्भको बढानेवाले भावोंकी प्राप्ति न होनेसे गर्भ पेटमेंही नष्ट होजाता है । यदि नष्ट न हो तो बहुत विलंबसे उत्पन्न होता है ॥ ३१ ॥

यतस्तु कार्त्स्न्येनाविनश्यन्विकृतिमापद्यते तदनुव्याख्यास्यामः॥ ३२॥

जिन कारणोंसे गर्भ सर्वथा नष्ट न होकर विकारको प्राप्त होजाता है उनको कथन करते हैं ॥ ३२ ॥

दूषितरक्तजन्य विकृतावयव ।

यदा स्त्रिया दोषप्रकोपनोक्तान्यासेवमानाया दोषाः प्रकुपिताः शरीरमुपसर्पन्तः शोणितगर्भाशयौ दूषयन्ति तदा यं गर्भं लभते स्त्री । तदा गर्भस्य मातृजानामवयवानामन्यतमोऽवयवो विकृतिमापद्यते एकोऽथवानेकः ॥ ३३ ॥

जब स्त्री दोषोंके कुपित करनेवाले पदार्थोंको सेवन करती है तब उसके शरीरमें दोष कुपित होकर रक्तको और गर्भाशयको दूषित कर देते हैं । फिर जब वह गर्भको धारण करती है तो उस गर्भके मातृज अवयव अथवा अन्य अवयव एक अथवा अनेक अवयव विकृत होजाते हैं ॥ ३३ ॥

यस्य यस्य ह्यवयवस्य बीजे बीजभागे वा दोषाः प्रकोपमापद्यन्ते तं तमवयवं विकृतिराविशति ॥ ३४ ॥

गर्भके जिस २ बीजावयवको दोष दूषित करते हैं वही २ अवयव अर्थात् वही २ हिस्सा बिगड जाता है ॥ ३४ ॥

यदा ह्यस्याः शोणितगर्भाशयबीजभागः प्रदोषमापद्यते तदा वन्ध्यां जनयति। यदा पुनरस्याः शोणितगर्भाशयबीजभागावयवः प्रदोषमापद्यते तदा पूतिप्रजां जनयति ॥ ३५ ॥

जब गर्भमें दोष वीर्यके रजभाग और गर्भाशयकर्त्ता बीजके भागको दोष दूषितकर देते हैं तो इसको वन्ध्या कन्या उत्पन्न होती है। जब दोष स्त्रीके रजमें गर्भाशयके बीजभाव अवयवको दूषित कर देता है तब उस स्त्रीको दुर्गंधित संतान उत्पन्न होती है अथवा सडी गली होती है ॥ ३५ ॥

यदा त्वस्याः शोणितगर्भाशयबीजभागावयवः स्त्रीकराणाञ्च शरीरबीजभागानामेकदेशः प्रदोषमापद्यते तदा स्त्र्याकृतिभूयिष्ठामस्त्रियं वार्तां नाम जनयति तां स्त्रीव्यापदमाचक्षते ॥ ३६ ॥

जब उसके रजमें गर्भाशय बीजभागको दूषित कर स्त्रीके शरीरके एक देश भागको दूषितकर देता है तो योनिरहित स्त्रीके आकारवाली वार्ता नामकी संतान उत्पन्न होती है इस प्रकार स्त्रीके गर्भाशयमें दोष कुपित होकर गर्भको हानि पहुंचाते हैं॥ ३६

दूषित शुक्रजन्य विकृतावयव।

एवमेव पुरुषस्य बीजदोषे पितृजावयवविकृतिं विद्यात्। यदा पुनरस्य बीजे बीजभागावयवः प्रदोषमापद्यते तदा पूतिप्रजां जनयति ३७॥

इसी प्रकार पिताके बीज दोषसे पितृज अवयवोंमें विकृति होती है। जब पुरुषके बीजमें बीजभागके अवयव दूषित होजाते हैं तब दुर्गंधित, सडीहुई अथवा मरीहुई संतान उत्पन्न होती है ॥ ३७ ॥

यदा त्वस्य बीजे बीजभागावयवः पुरुषकराणाञ्च शरीरबीजभागानामेकदेशः प्रदोषमापद्यते तदा पुरुषाकृतिभूयिष्ठमपुरुषं तृणपूलिकं नाम जनयति तां पुरुषव्यापदमाचक्षते ॥ ३८ ॥

जब मनुष्यके बीजमें पुरुषकारक शरीरके बीजभागके एक देशको दोष दूषित कर देते हैं तब इस पुरुषके चिह्नरहित और वीर्यरहित पुरुषके आकारवाला तृणपूलिक नामकी सन्तान उत्पन्न होती है। इस प्रकार पुरुषके बीजावयवसे गर्भमें विकार होनेका कथन कियागया। पुरुषके बीजका जो अंश दूषित होता है सन्तानके शरीरमें उसी २ भागमें विकृति होजाती है ॥ ३८ ॥

---

१ रान्ता इति पाठान्तरम्।

एतेन मातृजानां पितृजानाञ्चावयवानां विकृतिर्व्याख्यानेन सात्म्यजानां रसजानां सत्त्वजानाञ्चावयवानां विकृतिर्व्याख्याता ॥ ३९ ॥

इस माता और पिताके बीजमें होनेवाले विकार आदिकोंका वर्णन करनेसे सात्म्यज रसज तथा सत्त्वज विकृतियोंका भी निर्देश कियागया ॥ ३९ ॥

निर्विकारः परस्त्वात्मा सर्वभूतानां निर्विशेषः सत्त्वशरीरयोस्तु विशेषाद्विशेषोपलब्धिः ॥ ४० ॥

परमात्मा निर्विकार है वह आत्मा सर्वभूतोंमें समानभावसे वर्तमान है । इसलिये उसमें किसी प्रकारकी विकृति नहीं होती । मन और शरीर सबके एक बराबर नहीं होते इसलिये उनमें दोषादिकोंकी उपलब्धि है ॥ ४० ॥

तत्र त्रयस्तु शारीरदोषा वातपित्तश्लेष्माणस्ते शरीरं दूषयन्ति॥ ४१ ॥ द्वौ पुनः सत्त्वदोषौ रजस्तमश्च । तौ सत्त्वं दूषयतस्ताभ्याञ्च सत्त्वशरीराभ्यां दुष्टाभ्यां विकृतिरुपजायते नोपजायते चाप्रदुष्टाभ्याम् ॥ ४२ ॥

वात, पित्त और कफ यह तीनों शारीरिक दोष हैं । यह दोष शारीरिक होनेसे शरीरावयवोंको अथवा शरीरको दूषित करते हैं। रज और तम यह दो मनके दोष हैं । यह दोनों मनको दूषित करते हैं । इस प्रकार शारीरिक और मानसिक भेदसे दो प्रकारके दोष होते हैं । यह दोनों प्रकारके दोष दुष्ट होनेसे शरीर और मनको विकृत करदेते हैं। और दुष्ट न होनेसे विकृत नहीं करते । तात्पर्य यह हुआ कि आत्मा तो निर्दोष है इसलिये आत्मामें कोई विकृति भी नहीं होती। परन्तु शारीरिक और मानसिक दो प्रकारके दोष होते हैं । सो शरीर और मनको दूषित करते हैं यदि उनका कोई गर्भसे सम्बन्ध होजाता है तो जिसप्रकार जिस अवयव और जिस अंशमें उनका दुष्ट होकर प्रवेश होताहै उसीको बिगाड देते हैं। यदि वह कुपित नहीं होते किंवा दुष्ट नहीं होते तो किसी प्रकारके उपद्रवको भी नहीं करते॥ ४१॥ ४२

तत्र शरीरं योनिविशेषाच्चतुर्विधमुक्तमग्रे, त्रिविधं खलु सत्त्वं शुद्धं राजसतामसमिति । तत्र शुद्धमदोषमाख्यातं, कल्याणांशत्वात् । राजसं सदोषमाख्यातं, रोषांशत्वात् । तथा तामसमपि सदोषमाख्यातं, मोहांशत्वात् ॥ ४३ ॥

शरीरकी चार प्रकारकी योनिका पहिले कथन करचुके हैं। मन तीन प्रकारका

१ जरायुज अण्डज उद्भिज स्वेदज ।

होताहै। सात्त्विक, राजस और तामस । इनमें सात्त्विक मन निर्दोष होता है। इस लिये वह कल्याण युक्त कहाजाता है। और यह मोक्षसाधनादि कार्यको करनेवाला होता है । राजसमन रोषका अंशवाला होनेसे दोषयुक्त कहाजाता है। तामसमन मोहका अंश अधिक होनेसे अतिदोषयुक्त होता है ॥ ४३ ॥

सत्त्वके अनेक भेद।

तेषान्तु त्रयाणामपि सत्त्वानामेकैकस्य भेदाग्रमपरिसंख्येयं तरतमयोगाच्छरीरयोनिविशेषेभ्यश्चान्योन्यानुविधानत्वाच्च । शरीरमपि सत्त्वमनुविधीयते सत्त्वञ्च शरीरम्, तस्मात्कतिचिच्च सत्त्वभेदाननूकसादृश्याभिनिर्देशेन निदर्शनार्थमनुव्याख्यास्यामः ॥ ४४ ॥

इन तीनों प्रकारके मनोंमें एकएकका भेद भी असंख्य होता है। क्योंकि एकएककी आधिकता और न्यूनता आदि भेदसे और शरीरयोनि विशेषसे तथा इनके परस्पर अनुसंधान विशेषसे असंख्य होजाते हैं। शरीर भी सत्त्वकेही अनुरूप होता है और सत्त्व शरीरके अनुरूप होता है। इन दोनोंके सादृश्यके अनुसार कुछ सत्त्व भेद रूप गुण चरित्रादिसे निदर्शनमात्रके लिये वर्णन करते हैं ॥ ४४ ॥

ब्राह्मका लक्षण।

तद्यथा-शुचिं सत्याभिसन्धं जितात्मानं संविभागिनं ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनशक्तिसम्पन्नं स्मृतिमन्तं कामक्रोधलोभमानमोहेर्ष्याहर्षापेतं समं सर्वभूतेषु ब्राह्मं विद्यात् ॥ ४५ ॥

जिस मनुष्यमें पवित्रता, सत्यता, जितात्मता, विचार, ज्ञान, विज्ञान, वचनशक्ति, प्रतिवचनशक्ति, स्मृति यह सब सम्पत्तियें होती हैं तथा काम, क्रोध, लोभ, मान, मोह, राग और द्वेष यह नहीं होते और सम्पूर्ण जीवमात्रमें एकसी दृष्टि रखते हैं उनको ब्राह्यमनुष्य कहते हैं ॥ ४५ ॥

आर्षका लक्षण।

इज्याध्ययनव्रतहोमब्रह्मचर्य्यमतिथिव्रतमुपशान्तमदमानरागद्वेषमोहलोभरोषं प्रतिभावचनविज्ञानोपधारणशक्तिसम्पन्नमार्षं विद्यात् ॥ ४६ ॥

जो मनुष्य--यजन, अध्ययन, व्रत, होम, ब्रह्मचर्य, अतिथिव्रतका पालन करते हैं और मद, मान, द्वेष, राग, मोह, लोभ, रोष रहित हों तथा प्रतिवचन, विज्ञान, उपधारणशक्तिसंपन्न होते हैं उनको आर्ष जानना ॥ ४६ ॥

ऐन्द्रका लक्षण।

ऐश्वर्य्यवन्तमादेयवाक्यं यज्वानं शूरमोजस्विनं तेजसोपेतमक्लिष्टकर्माणं दीर्घदर्शिनं धर्मार्थकामाभिरतमैन्द्रं विद्यात् ॥ ४७ ॥

जो मनुष्य ऐश्वर्ययुक्त हों, जिनकी आज्ञाको लोग मानतेहों, यज्ञ आदि करतेहों एवम् शूर, ओजस्वी, तेजस्वी, अनिन्दितकर्मा, दीर्घदर्शी, धर्म अर्थ और काममें प्रवृत्त हों उनको ऐन्द्र जानना ॥ ४७ ॥

यास्यके लक्षण।

लेखास्थवृत्तं प्राप्तकारिणमसंहार्य्यमुत्थानवन्तं स्मृतिमन्तमैश्वर्य्यालम्बिनं व्यपगतरागद्वेषमोहं याम्यं विद्यात् ॥ ४८ ॥

जो मनुष्य शास्त्रके माननेवाले हों, कर्तव्य अकर्तव्यको विचारकर करनेवाले हों, समयपर चूकनेवाले न हों, जिनका कार्य अप्रतिहत हो । उत्थानवान् हों, स्मृतियुक्त हों, ऐश्वर्यावलम्बी हों और राग, द्वेष तथा मोहसे रहित हों उनको याम्यशरीर कहते हैं ॥ ४८ ॥

वारुणके लक्षण।

शूरं धीरं शुचिमशुचिद्वेषिणं यज्वानमम्भोविहाररतिमक्लिष्टकर्माणं स्थानकोपप्रसादं वारुणं विद्यात् ॥ ४९ ॥

जो मनुष्य शूरवीर हों, शुद्ध हों, अपवित्रतासे द्वेष करनेवाले हों, यजन करनेवाले हों, जलमें विहार करनेवाले हों, अनिन्दितकर्मा हों, उचित समयपर क्रोध और प्रसन्नता करनेवाले हों उनको वारुणशरीर कहते हैं ॥ ४९ ॥

कौबेरका लक्षण।

स्थानमानोपभोगं परिवारसम्पन्नं सुखविहारं धर्मार्थकामनित्यं शुचिं व्यक्तकोपप्रसादं कौबेरं विद्यात् ॥ ५० ॥

जो मनुष्य यथास्थानमें मान और भोगको सेवन करनेवाले हों परिवारयुक्त हों, सुखपूर्वक विहार करनेवाले हों, धर्म, अर्थ और कामसाधनमें तत्पर हों, पवित्र हों, जिनका क्रोध और प्रसन्नता प्रगट हो उनको कौबेरशरीर जानना ॥ ५० ॥

गांधर्वका लक्षण।

प्रियनृत्यगीतवादित्रोल्लापकं श्लोकाख्यायिकेतिहासपुराणेषु कुशलं गन्धमाल्यानुलेपनवसनस्त्रीविहारकामं नित्यमनसूयकं गान्धर्वं विद्यात् ५१

जिन मनुष्योंको नाचना, गाना, बाजा बजाना और स्तुति करना यह सब प्यारा लगताहो, जो श्लोक, कहानियां, इतिहास और पुराणमें कुशल हों, गन्ध, माला, अनुलेपन, वस्त्र, स्त्री इनमें नित्य आसक्त रहतेहों, निन्दारहित हों उनको गांधर्वकाय कहते हैं ॥ ५१ ॥

ब्राह्मकी उत्कृष्टता ।

इत्येवं शुद्धस्य सत्त्वस्य सप्तविधं भेदांशं विद्यात्कल्याणांशत्वात्तत्सं-
योगात्तु ब्राह्ममत्यन्तशुद्धं व्यवस्येत् ॥ ५२ ॥

इस प्रकार सतोगुणप्रधान मनके सात भेदके अंशविशेषसे सात प्रकारके मनुष्योंका वर्णन किया है । उनमें कल्याणका अंश होनेसे यह सातों सात्विक मनुष्य कहेजाते हैं । सतोगुणका अधिक संबंध होनेसे ब्राह्यशरीर सबसे उत्तम है ॥ ५२ ॥

आसुरके लक्षण ।

शूरं चण्डमसूयकमैश्वर्यवन्तमौदरिकं रौद्रमननुक्रोशकमात्मपूजक-
मासुरं विद्यात् ॥ ५३ ॥

शूर, चण्ड, साहसी, निंदक, ऐश्वर्यवान्, पेटपालक, उग्रस्वभाववाला, निर्दयी और अपनेको पूजन करने तथा करानेवाला अर्थात् आत्मश्लाघी, आसुर मनुष्य जानना ५३

राक्षसके लक्षण ।

अमर्षिणमनुबन्धकोपच्छिद्रप्रहारिणं क्रूरमाहारातिमात्ररुचिमामिष-
प्रियतमं स्वप्नायासबहुलमीर्षुं राक्षसं विद्यात् ॥ ५४ ॥

जो मनुष्य अपने अपमानको न सह सके, जिसके शरीरमें बहुत कालतक क्रोध बनारहे, जो छिद्र पाकर प्रहार करनेवाला हो, क्रूर स्वभाव हो बहुत आहार करनेवाला हो, मांस खानेमें प्रेम रखनेवाला हो, अधिक सोनेवाला हो, अधिक परिश्रम कर सकता हो और ईर्षायुक्त हो उसको राक्षसकाय जानना ॥ ५४ ॥

पिशाचके लक्षण ।

महालसं स्त्रैणं स्त्रीरहस्काममशुचिं शुचिद्वेषिणं भीरुभीषयितारं विकृ-
तिविहाराहारशीलं पैशाचं विद्यात् ॥ ५५ ॥

जो मनुष्य अत्यन्त आलसी हो, स्त्रियोंमें बैठा रहता हो, स्त्री भोगकी इच्छावाला हो, अपवित्र हो, शुद्धतासे द्वेष रखनेवाला हो, डरनेवालेको डराता हो, विकृत आहार विहारका सेवन करनेवाला हो, उसको पैशाचकाय कहते हैं ॥ ५५ ॥

सार्पके लक्षण ।

क्रुद्धं शूरमक्रुद्धभीरुं तीक्ष्णमायासबहुलं मन्त्रसुगोचरमाहारविहार-
परं सार्पं विद्यात् ॥ ५६ ॥

जो मनुष्य क्रोधके समय शूर और अक्रोधके समय डरपोक, तीक्ष्णस्वभाववाला, अधिक परिश्रम करनेवाला, थोडा कहेको समझ जानेवाला, आहार और विहारसे युक्त हो उसको सार्पकाय कहते हैं ॥ ५६ ॥

प्रैतके लक्षण ।

आहारकाममतिदुःखशीलाचारोपचारमसूयकमसंविभागिनमतिलोलुपमकर्मशीलं प्रैतं विद्यात् ॥ ५७ ॥

जो मनुष्य अत्यन्त भोजनकी इच्छा रखता हो, जिसका स्वभाव, आचार और उपचार यह सब दुःखितसे हों एवम् निन्दक विना विचारे करनेवाला अतिलोलुप और अकर्मोंको करनेवाला हो उसको प्रेतकाय जानना ॥ ५७ ॥

शाकुनके लक्षण ।

अनुषक्तकाममजस्रमाहारविहारपरमनवस्थितममर्षिणमसञ्चयं शाकुनं विद्यात् ॥ ५८ ॥

जो मनुष्य निरन्तर इच्छावाला हो, कामनामें आसक्त हो, हरसमय अपने खाने कमानेकी चिन्तामें लगा रहता हो, अनवस्थित चित्त हो, क्रोधी हो और संचय न करता हो उसको शाकुन अर्थात् पक्षीकाय कहते हैं ॥ ५८ ॥

इत्येवं खलु राजसस्य सत्त्वस्य षड्विधं भेदांशं विद्याद्रोषांशत्वात्॥५९॥

इस प्रकार रोषांशयुक्त होनेसे राजसमनके छः भेद अंशभेदसे जानने ॥५९ ॥

पाशवके लक्षण ।

निराकरिष्णुमसमवेषमजुगुप्सितारम् । आहारविहारमैथुनपरं स्वप्नशीलं पाशवं विद्यात् ॥ ६० ॥

हरएकको तुच्छ समझनेवाला,विषमवेष धारण करनेवाला,निन्दारहित,आहार विहार और मैथुनमें आसक्त रहनेवाला एवम् अधिक सोनेवाला पाशव शरीर जानना॥६०॥

मात्स्यके लक्षण ।

भीरुमबुधमाहारलुब्धमनवस्थितमनुषक्तकामक्रोधं सरणशीलं तोयकामं मात्स्यं विद्यात् ॥ ६१ ॥

डरपोक, मूर्ख, आहारलोभी, असावधान, कामक्रोधमें आसक्त, इधर उधर फिरनेके स्वभाववाला, जलमें फिरनेकी इच्छावाला मनुष्य मत्स्यकाय जानना ॥ ६१ ॥

वानस्पत्यके लक्षण ।

अलसं केवलमभिनिविष्टमाहारे सर्वबुद्ध्यङ्गहीनं वानस्पत्यं विद्यात् ६२॥

आलसी केवल भोजनमें ही चित्त लगानेवाला, सब प्रकारसे बुद्धिहीन मनुष्य वानस्पत्यकाय जानना ॥ ६२ ॥

इत्येवं खलु तामसस्य सत्त्वस्य त्रिविधं भेदांशं विद्यान्मोहांशत्वात्॥६३॥

इस प्रकार तामस सत्त्वके विधिभेदसे और मोहांशयुक्त होनेसे तीन प्रकारके तामसी मनुष्य होते हैं ॥ ६३ ॥

इत्यपरिसंख्येयभेदानां खलु त्रयाणामपि सत्त्वानां भेदैकदेशो व्याख्यातः॥

इस प्रकार तीनों प्रकारके सत्त्वोंके अंश भेदसे असंख्य भेद होजाते हैं। इस स्थानमें केवल निदर्शन मात्र कथन किया है ॥ ६४ ॥

सत्त्वके भेदोंका संक्षिप्त वर्णन।

शुद्धस्य सत्त्वस्य सप्तविधो ब्रह्मर्षिशक्रवरुणयमकुबेरगन्धर्वसत्त्वानुकारेण। राजसस्य षड्विधो दैत्यराक्षसपिशाचसर्पप्रेतशकुनिसत्त्वानुकारेण। तामसस्य त्रिविधः पशुमत्स्यवनस्पतिसत्त्वानुकारेण। कथञ्च यथासत्त्वमुपचारः स्यादिति केवलश्चायमुद्देशः यथोद्देशमभिनिर्दिष्टो भवति। गर्भावक्रान्तिसंप्रयुक्तस्यार्थस्य विज्ञाने सामर्थ्यं गर्भकराणाञ्च भावानामनुसमाधिर्विघातश्च विघातकराणां भावानामिति ॥ ६५॥

शुद्ध सत्त्वके—ब्रह्म, ऋषि, इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर और गन्धर्व सत्त्वानुक्रमसे सत्त्वके सातभेद कथन किये हैं। रजोगुण प्रधान दैत्य, राक्षस, पिशाच, सर्प, प्रेत, पक्षी यह छः प्रकारके भेद राजसमनके कथन किये हैं। तामस सत्त्वके अनुक्रमसे पशु, मत्स्य, वनस्पति यह तीन भेद कथन किये हैं। जिस गर्भमें जिस सत्त्वके लक्षण पाये जायँ उसका उसी प्रकार पालन पोषण आदि उपचार करना चाहिये। यह उपरोक्त लक्षण यदि दौहृदकी समय गर्भवती स्त्रीमें हो तो जिस प्रकारके लक्षण हों उसको उसी प्रकारकी संतान होगी। इस स्थानमें इन तीन प्रकारके सत्त्वोंका इसी उद्देशसे वर्णन कियागया है। इस संपूर्ण विवरणके जानलेनेसे किस समय गर्भमें किस प्रकारके द्रव्योंका प्रयोग करना और गर्भमें हितकारक तथा गर्भकारण द्रव्योंका अनुयोजन एवम् गर्भविघातक कारणोंके प्रतिविधानमें योग्यता उत्पन्न होजाती है ॥

अध्यायका उपसंहार।

तत्र श्लोकाः—निमित्तमात्मा प्रकृतिर्वृद्धिः कुक्षौ क्रमेण च।
वृद्धिहेतुश्च गर्भस्य पञ्चार्थाः शुभसंज्ञिताः ॥ ६६ ॥

यहांपर श्लोक हैं कि—निमित्त, आत्मा, प्रकृति, गर्भक्रम और गर्भका कुक्षीमें क्रमपूर्वक बढना, उसके बढनेके हेतु, गर्भके उत्पन्न करनेवाले पांच शुभ अर्थ वर्णन कियेगये हैं ॥ ६६ ॥

यज्जन्मनि च यो हेतुर्विनाशे विकृतावपि।
इमांस्त्रीनशुभान्भावानाहुर्गर्भविघातकान् ॥ ६७ ॥

तथा जन्मके न होनेमें एवम् गर्भके नाश होजानेमें और विकृत होजानेमें जो हेतु हैं उन गर्भविनाशक तीन प्रकारके अशुभ हेतुओंको वर्णन कियागया ॥ ६७ ॥

शुभाशुभसमाख्यातानष्टौ भावानिमान्भिषक् ।
सर्वथा वेद यः सर्वान्स राज्ञः कर्त्तुमर्हति ॥ ६८ ॥

जो वैद्य इन शुभ और अशुभ आठभावोंको संपूर्णरूपसे जानलेता है वही राजाओंके चिकित्सा करने योग्य उत्तम वैद्य होता है ॥ ६८ ॥

अवाप्त्युपायान् गर्भस्य स एवं ज्ञातुमर्हति ।
ये च गर्भविघातोक्ता भावास्तांश्चाप्युदारधीः ॥ ६९ ॥

इति चरकसंहितायां शारीरस्थाने महती गर्भावक्रान्तिः शारीरं समाप्तम् ॥ ४ ॥

योग्य वैद्यको चाहिये कि गर्भके उत्पन्न करनेके उपाय तथा गर्भके उत्पन्न करनेवाले भाव एवम् गर्भविघातक भाव इन सबको बुद्धिपूर्वक पूर्णरूपसे जानलेवे॥६९॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां शारीरस्थाने पटियालाराज्यांतर्गतटकसालनिवासिवैद्यपंचानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्यभाषाटीकायां महती गर्भावक्रांतिः शारीरं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः ।

अथातः पुरुषविचयं शारीरं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम पुरुषविचय शारीरकी व्याख्या करते हैं, इसप्रकार भगवान् आत्रेयजी कथन करनेलगे ॥

पुरुषोऽयं लोकसम्मित इत्युवाच भगवान्पुनर्वसुरात्रेयः । यावन्तो हि मूर्त्तिमन्तो लोके भावविशेषास्तावन्तः पुरुषे। यावन्तः पुरुषे, तावन्तो लोके ॥ १ ॥

यह पुरुष लोकसंमित अर्थात् जगत्के समान है । इस प्रकार भगवान् पुनर्वसु आत्रेयजी कथन करनेलगे । यह जितने लोकमें मूर्त्तिमान् भावविशेष हैं वह सब पुरुषमें होता है और जो पुरुषमें है वह इस जगत्में पायेजाते हैं ॥ १ ॥

इत्येवंवादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच । नैतावता वाक्येनोक्तं

वाक्यार्थमवगाहामहे । भगवता बुद्ध्या भूयस्तरमतोऽनुव्याख्याय-
मानं शुश्रूषामहे ॥ २ ॥

इस प्रकार कहते हुए भगवान् आत्रेयजीसे अग्निवेश बोले कि, हे भगवन् ! इतनेही कथनसे आपके वाक्यके अर्थको नहीं जानसकते। इसलिये आप कृपाकरके इस विषयकी विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिये हमको इसके सुननेकी इच्छा है ॥ २ ॥

जगत् तथा पुरुषकी तुल्यता ।

तमुवाच भगवानात्रेयः। अपरिसंख्येया लोकावयवविशेषाः। पुरुषा-
वयवविशेषा अप्यपरीसंख्येयाः यथा यथा प्रधानञ्च तेषां यथास्थूलं
भावान्सामान्यमभिप्रेत्योदाहरिष्यामः। तानेकमना निबोध सम्यगुप-
वर्ण्यमानानग्निवेश! षड्धातवः समुदिता लोक इति शब्दं लभन्ते ।
तद्यथा— पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं ब्रह्म चाव्यक्तमित्येत एव च
षड्धातवः समुदिताः पुरुष इति शब्दं लभन्ते । तस्य पुरुषस्य
पृथ्वी मूर्त्तिरापः क्लेदस्तेजोऽभिसन्तापो वायुः प्राणो वियच्छिद्राणि
ब्रह्मान्तरात्मा ॥ ३ ॥

यह सुनकर भगवान् आत्रेयजी बोले कि, जगत्के अवयवविशेष और पुरुषके अवयवविशेष अपरिसंख्येय हैं अर्थात् गणनामें नहीं आसकते । उनमें जो २ जैसे २ प्रधान और स्थूल भाव हैं उनको सामान्यतासे उदाहरणके लिये वर्णन करते हैं। हे अग्निवेश ! उन भले प्रकार वर्णन किये हुए भावोंको एकाग्रचित्त होकर श्रवण करो। छः धातुओंसे मिलाहुआ जगत् है ऐसा सुननेमें आता है, वह छः धातुएँ इस प्रकार हैं । जैसे—पृथ्वी, जल, तेज वायु, आकाश और अव्यक्तब्रह्म इनसे सम्मिलित मूर्त्तिमान् जगत् है इसी प्रकार पुरुष भी यही छः धातुओंसे सम्मिलित है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश तथा आत्मा यह दोनों धारा बराबर देखनेमें आती हैं। जैसे मूर्त्तिमान् जगत्में यह मूर्त्तिमान् पृथ्वी देखनेमें आती है उसीप्रकार पुरुषका शरीर पृथ्वी है । जैसे जगत्में जलका प्रवाह है वैसेही पुरुषके शरीरमें क्लेदरूप जल है । जैसे जगत्में अग्नि है उसी प्रकार पुरुषमें जठराग्नि है जैसे जगत्में पूर्वपश्चिमकी वायुका गमन है वैसेही पुरुषके शरीरमें प्राण और अपानवायुआदिका गमन होता है। जैसे मूर्त्तिमान् जगत्में आकाश है ऐसे ही शरीरमें छिद्रसमूहरूपी आकाश है। जैसे मूर्त्तिमान् जगत्में जगत्का प्रकाशक ब्रह्म है उसीप्रकार शरीररूपी जगत्को प्रकाश करनेवाला आत्मा है । इस प्रकार दोनों और दोनों धारा देखनेमें बराबर आती हैं ॥ ३ ॥

यथा खलु ब्राह्मी विभूतिर्लोके तथा पुरुषेऽप्यान्तरात्मिकी विभूतिः। ब्रह्मणो विभूतिर्लोके प्रजापतिः । अन्तरात्मनो विभूतिः पुरुषे सत्त्वम्। यस्त्विन्द्रो लोके स पुरुषेऽहङ्कारः । आदित्यास्तु आदानम् । रुद्रो रोषः, सोमःप्रसादः, वसवः सुखम्, अश्विनौ कान्तिः, मरुदुत्साहः, विश्वे देवाः सर्वेन्द्रियाणि सर्वेन्द्रियार्थाश्च, तमो मोहः, ज्योतिर्ज्ञानम् । यथा लोकस्य स्वर्गादिस्तथा पुरुषस्य गर्भाधानम्, यथाकृतयुगमेवं बाल्यम् । यथा त्रेता तथा यौवनम्, यथा द्वापरस्तथा स्थाविर्य्यम्, यथा कलिरेवमातुर्य्यम्, यथा युगान्तस्तथा मरणमित्येवमनुमानेनानुक्तानामपि[1] लोकपुरुषयोरवयवविशेषाणामग्निवेश सामान्यं विद्यात् ॥ ४ ॥

जैसे जगत्में ब्राह्मीविभूति है उसी प्रकार पुरुषमें भी आत्मिकी विभूति है । जैसे जगत्में ब्रह्मकी विभूति प्रजापति है उसी प्रकार अन्तरात्माकी विभूति सत्त्व है । जगत्में जैसे इन्द्र है उसी प्रकार पुरुषमें अहंकार है जैसे जगत्में सूर्य है वैसेही पुरुषमें आदान (ग्रहणशक्ति) है । जैसे जगत्में रुद्र है वैसेही पुरुषमें क्रोध है । जैसे जगत्में चन्द्रमा है उसी प्रकार पुरुषमें प्रसन्नता है, जैसे जगत्में वसु है उसी प्रकार पुरुषमें सुख है । जैसे जगत्में अश्विनीकुमार हैं वैसे पुरुषमें कांति है । जैसे जगत्में वायुदेवता है वैसेही पुरुषमें उत्साह है । जैसे जगत्में देवता हैं उसी प्रकार पुरुषमें इन्द्रियें और इंद्रियार्थ हैं । जैसे जगत्में तम है उसी प्रकार पुरुषमें मोह है । जैसे जगत्में ज्योति है उसी प्रकार पुरुषमें ज्ञान है । जैसे जगत्में स्वर्गादि हैं वैसेही पुरुषमें रतिसुख है । जैसे जगत्में सत्ययुग है उसी प्रकार पुरुषमें बाल्यावस्था है । जैसे जगत्में त्रेतायुग है वैसेही पुरुषमें यौवनावस्था है । जैसे जगत्में द्वापर है उसी प्रकार पुरुषमें बुढापा है । जैसे जगत्में कलियुग है उसी प्रकार पुरुषमें रोगग्रस्त अवस्था है । जैसे जगत्का प्रलय होता है वैसेही पुरुषका मरण होता है । हे अग्निवेश ! यह दोनों धारा पुरुष और जगत्में बराबर देखनेमें आती हैं इनके सिवाय और भी सम्पूर्ण भावोंको इसी प्रकार जगत् और पुरुषमें समान जानलेना चाहिये॥४॥

अग्निवेशका प्रश्न ।

इत्येवं वादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच । एवमेतत्सर्वमनपवादं

---

१ अनुक्तानामित्यनेन मतिर्बृहस्पतिः कामो गन्धर्व इत्य दि ।

यथोक्तं भगवता लोकपुरुषयोः सामान्यम्, किन्तु अस्य सामान्योपदेशस्य प्रयोजनमिति ॥ ५ ॥

इस प्रकार कथन करतेहुए भगवान् आत्रेयजीसे अग्निवेश कहने लगे कि, हे भगवन् ! आपने जिस प्रकार जगत् और पुरुषकी समानताको वर्णन किया है यह सर्वथा यथार्थ है और निर्विवाद है । परन्तु इन दोनोंकी समानता वर्णन करनेसे यहां आयुर्वेदमें क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ सो कृपा कर वर्णन कीजिये ॥ ५ ॥

आत्रेयजीका उत्तर ।

भगवानुवाच । कथमग्निवेश सर्वलोकमात्मन्यात्मानञ्च सर्वलोके समनुपश्यतस्तस्यात्मबुद्धिरुत्पद्यते इति । सर्वलोकं हि आत्मनि पश्यतो भवति आत्मैव सुखदुःखयोः कर्ता नान्य इति कर्मात्मकत्वाच्च हेत्वादिभिर्युक्तः सर्वलोकोऽहमिति विदित्वा ज्ञानं पूर्वमुत्थाप्यतेऽपवर्गायेति ॥ ६ ॥

आत्रेयजी कहने लगे कि, हे अग्निवेश ! जो मनुष्य सम्पूर्ण जगत्के भावोंको अपने शरीरमें देखता है और अपने शरीरके सम्पूर्ण भावोंको जगत्में देखता है उस मनुष्यको आत्मबुद्धि उत्पन्न होजाती है, सम्पूर्ण जगत्को आत्मामें देखता हुआ आत्मा ही सुखदुःखका कर्त्ता है और कोई कर्ता नहीं है । कर्मोंके कारण तथा वक्ष्यमाण हेतुओंके कारण मैं संसारमें हूं और मैं और लोक एक ही हैं । इत्यादि बुद्धि उत्पन्न होजाती है और यही बुद्धि मोक्षके देनेवाली होती है ॥ ६ ॥

तत्र संयोगापेक्षी लोकशब्दः षड्धातुसमुदायो हि सामान्यतः सर्वलोकः तस्य हेतुरुत्पत्तिर्वृद्धिरुपप्लवो वियोगश्च । तत्र हेतुरुत्पत्तिकारणमुत्पत्तिर्जन्म, वृद्धिराप्यायनमुपप्लवो दुःखागमः, षड्धातुविभागो वियोगः । स जीवापगमः । स प्राणनिरोधः, स भङ्गः, स लोकस्वभावः ॥ ७ ॥

---

१ सर्वलोकमात्मनि पश्यत इति आत्मनोऽभेदेन पश्यतः आत्मशब्देन षड्धातुसमुदायात्मकः पुरुष इहोच्यते । यत्किञ्चिल्लोकगतं सुखदुःखजनकं तदप्यात्मस्वरूपमित्यनेन बाह्यलोकभूतमप्यात्मकृतमेव वैषयिकं नित्यदुःखानुयुक्त सुखं हेयम्, तथा निसर्गाद्धेयं दुःखञ्च पश्यन् रागद्वेषनिर्मुक्तः सन् सत्यज्ञानवान् भवति। अथ सत्यज्ञानस्यादावपवर्गानुष्ठानप्रयोजनमिति। २ कर्मवशः सन् हेत्वादिभिर्युक्तोऽयमात्मा प्रवर्तते, कर्मातत्त्वज्ञानात् प्रवृत्त्युपरमे सति कारणाभावान्नोपपद्यते। तदात्यंतिककर्मक्षयात् आत्यंतिककर्मफलाभावरूपो मोक्षो भवतीति भावः ।

इस स्थानमें लोकशब्द संयोगकी अपेक्षा करता है। सामान्यतासे छः धातुओंका समुदाय संपूर्ण लोक है। इस जगह लोकशब्दसे पुरुष और जगत् दोनोंका ग्रहण है। उस लोकके हेतु, उत्पत्ति, वृद्धि, उपप्लव और वियोग यह सब होते हैं। इस जगह हेतुशब्द उत्पत्तिमें कारण जानना। जन्मको उत्पत्ति कहते हैं। वृद्धिशब्दसे बढना और पुष्ट होना जानना। उपप्लव शब्द दुःखकी प्राप्तिका वाचकहै। छः धातुओंका पृथक् २ होजाना वियोग कहाजाता है। वह वियोग जीवापगम (जीवनत्याग), प्राणनिरोध, भंग, लोकस्वभाव नामसे उच्चारण कियाजाताहै ॥ ७ ॥

वियोगका कथन।

तस्य मूलं सर्वोपप्लुवानाञ्च प्रवृत्तिः, निवृत्तिरुपरमश्च, प्रवृत्तिर्दुःखम्, निवृत्तिः सुखमिति यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत्सत्यम्। तस्य हेतुः सर्वलोकसामान्यज्ञानमेतत्प्रयोजनं सामान्योपदेशस्येति ॥ ८ ॥

इस वियोगका मूल प्रवृत्ति ही है। प्रवृत्तिही संपूर्ण दुःखोंका मूल है और निवृत्ति संपूर्ण सुखोंका मूल है। प्रवृत्ति दुःख और निवृत्ति सुख है। इस प्रकारका जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह सत्य है। इस सत्यज्ञानके उत्पन्न होनेका कारण संपूर्णजगत् और पुरुषकी समानताका ज्ञान होनाही है। सो समानतासे जगत् और पुरुषकी तुल्यताके वर्णनका प्रयोजन कथन कर दियाहै ॥ ८ ॥

अग्निवेशका प्रश्न।

अथाग्निवेश उवाच। किंमूला भगवन् प्रवृत्तिः। निवृत्तौ च क उपाय इति ॥ ९ ॥

यह सुनकर अग्निवेश कहनेलगे कि, हे भगवन्! प्रवृत्तिका क्या कारण है और निवृत्तिका क्या उपाय है?॥ ९ ॥

प्रवृत्तिके मूलका वर्णन।

भगवानुवाच। मोहेच्छाद्वेषकर्ममूला प्रवृत्तिः। तज्जा ह्यहङ्कारसङ्गसन्देहाभिसंप्लवाभ्यवपातविप्रत्ययविशेषानुपायाः। तरुणमिव द्रुममतिविपुलशाखास्तरवोऽभिभूय पुरुषमवतत्योत्तिष्ठन्ते। यैरभिभूतो न सत्तामतिवर्त्तते ॥ ॥ १० ॥

यह सुनकर भगवान् आत्रेयजी कहनेलगे कि–मोह, इच्छा, द्वेष और कर्मही प्रवृत्तिका मूल अर्थात् कारण हैं। उस प्रवृत्तिके होनेसे अहंकार, संग, संदेह, अभिसंप्लव, अभ्यवपात, विप्रत्यय, विशेष और अनुपाय यह उपस्थित होजाते हैं। जैसे--तरुण वृक्षमें शाखा आदि निकलकर बडी २ टहनी बढकर होजाती है और वृक्ष सब टह-

नीसे व्याप्त रहता है उसीप्रकार अहंकारादि बढकर पुरुषको ढके रहते हैं। उन अहंकार आदिकोंसे व्याप्त हुआ पुरुष आत्मज्ञानको नहीं जानसकता ॥ १० ॥

अहंकारका लक्षण।

तत्रैवं जातिरूपवित्तबुद्धिशीलविद्याभिजनवयोवीर्य्यप्रभावसम्पन्नोऽहमित्यहङ्कारः ॥ ११ ॥

मैं अच्छी जातिका हूं मेरा रूप बहुत उत्तम है, एवम् मैं बुद्धि, शील, विद्या, कुल, यौवन, वीर्य और प्रभाववाला हूं इस प्रकार चित्तमें अहंभाव आनेको अहंकार कहते हैं ॥ ११ ॥

संगलक्षण।

यन्मनोवाक्कायकर्म नापवर्गाय स सङ्गः ॥ १२ ॥

मन, वाणी, देह और कर्म इनका इस प्रकार उपयोग करना जिससे मोक्षको प्राप्त न होसके उसको संग कहते हैं ॥ १२ ॥

संदेहका लक्षण।

कर्मफलमोक्षपुरुषप्रेत्यभावादयः सन्ति वा नेति संशयः ॥ १३ ॥

कर्मका फल और मोक्ष तथा आत्मा एवं पुनर्जन्म है या नहीं इस प्रकार बुद्धि होनेको संशय कहते हैं ॥ १३ ॥

अभिसंप्लवका लक्षण।

सर्वास्ववस्थास्वनन्योऽहमहं स्रष्टा स्वभावसंसिद्धोऽहमहं शरीरेन्द्रियबुद्धिस्मृतिविशेषराशिरिति ग्रहणमभिसंप्लवः ॥ १४ ॥

जो कुछ हूं सो मैंही हूं, सब अवस्थाओंमें मैं अनन्य हूं अर्थात् मेरे समान कोई नहीं मैं श्रेष्ठ हूं मैं स्वभाव सिद्धहूं, मैं शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि और स्मृति विशेषका राशि हूं ऐसी बुद्धि होनेका नाम संप्लव है ॥ १४ ॥

अभ्यवपातका लक्षण।

मम मातृपितृभ्रातृदारापत्यबन्धुमित्रभृत्यगणो गणस्य चाहमित्यभ्यवपातः ॥ १५ ॥

माता, पिता, भाई, स्त्री, संतान, बंधु, मित्र, नौकर आदि सब मेरे हैं और मैं उनका हूं इस प्रकारकी बुद्धि होनेको अभ्यवपात कहते हैं ॥ १५ ॥

विप्रत्ययका लक्षण।

कार्य्याकार्य्यहिताहितशुभाशुभेषु विपरीताभिनिवेशो विप्रत्ययः ॥ १६ ॥

कार्य और अकार्य, हित और अहित शुभ और अशुभ इन सबमें विपरीतभावसे

प्रवृत्त होना । जैसे अकार्यको कार्य हितको अहित और अहितको हित मानना आदि इस बुद्धिको विप्रत्यय कहते हैं ॥ १६ ॥

अविशेषका लक्षण ।

ज्ञाज्ञयोः प्रकृतिविकारयोः प्रवृत्तिनिवृत्त्योश्च सामान्यदर्शनमविशेषः १७

ज्ञ और अज्ञ, प्रकृति और विकार, प्रवृत्ति और निवृत्ति इन सबमें समानताही प्रतीत होना अविशेष कहलाता है ॥ १७ ॥

अनुपायका लक्षण ।

प्रोक्षणानशनाग्निहोत्रत्रिषवणाभ्युक्षणावाहनयजनयाजनयाचनसलिल-हुताशनप्रवेशनादयः समारम्भाः प्रोच्यन्ते ह्यनुपायाः ॥ १८ ॥

प्रोक्षण, उपवास, अग्निहोत्र, त्रिषवण,(त्रिकालस्नान) अभ्युक्षण, आवाहन, यजन, याजन, याचन इनका करना तथा जल वा अग्निमें प्रवेश आदि यह मोक्षलाभका अनुपाय है । अर्थात् मोक्षकी ओरसे हटकर स्वर्गादिकोंकी कामनासे प्रवृत्त होना अनुपाय कहाजाता है ॥ १८ ॥

एवमयमधीधृतिस्मृतिरहङ्काराभिनिविष्टः संसक्तसंशयोऽभिसंप्लुतबुद्धिरभ्यवपतितोऽन्यथादृष्टिर्विशेषग्राही विमार्गगतिर्निवासवृक्षः सत्त्वशरीरदोषमूलानां मूलं सर्वदुःखानां भवति ॥ १९ ॥

यह पुरुष इस प्रकार बुद्धि, धृति और स्मृतिसे रहित होकर अहंकारी, आसक्त, संशयी, प्लुतचित्तवृत्ति, अभ्यवपतित, अन्यथादृष्टि, विशेषग्राही, कुमार्गगामी होजाता है । सत्त्वदोष अर्थात् मनके दोष और शरीरके दोषसे बढेहुए दुःखरूपी वृक्षका मूल होजाता है । इस प्रकार अहंकार आदिकोंसे दुःखोंकी उत्पत्ति होती है ॥ १९ ॥

इत्येवमहंकारादिभिर्दोषैर्भ्राम्यमाणो नातिवर्त्तते प्रवृत्तिः, सा मूलमघस्य ॥ २० ॥

इस प्रकार अहंकार आदि दोषोंसे भ्रमवाला हुआ मनुष्य निवृत्त नहीं होसकता और प्रवृत्तिमें आकर स्थित होजाता है । यह प्रवृत्तिही सम्पूर्ण दुःखोंका मूल है२०॥

मोक्षसाधनका क्रम ।

निवृत्तिरपवर्गः तत्परं प्रशान्तं तदक्षरं तद्ब्रह्म स मोक्षः । तत्र मुमुक्षूणामुदयनानि व्याख्यास्यामः । तत्र लोकदोषदर्शिनो मुमुक्षोरादित एवाचार्य्याभिगमनम्, तस्योपदेशानुष्ठानम् ॥ २१ ॥

निवृत्तिही मोक्ष है, निवृत्तिही अपवर्ग और शान्ति है और अक्षर है, निवृत्तिही ब्रह्म हैं। मोक्षके इच्छावालोंके उपयोगी विषयका वर्णन करते हैं। जगत्‌में दोषदृष्टिसे

देखनेवाला मुमुक्षु अर्थात् मोक्षकी इच्छा करताहुआ गुरुके पास जाए और उसके उपदेशको श्रवण करके तदनुसार वर्ताव करे ॥ २१ ॥

अग्नेरेवोपचर्य्या, धर्मशास्त्रानुगमनं, तदर्थावबोधस्तेनावष्टम्भः, तत्र यथोक्ताः क्रियाः, सतामुपासनमसतां परिवर्जनं, न सङ्गतिर्दुर्जनेन, सत्यं, सर्वभूतहितमपरुषमनतिकाले परीक्ष्य वचनं, सर्वप्राणिषु आत्मनीवावेक्षा, सर्वासामस्मरणमसंकल्पनमप्रार्थनमनभिभाषणञ्च स्त्रीणाम्, सर्वपरिग्रहत्यागः, कौपीनं, प्रच्छादनार्थं धातुरागनिवसनं,कन्थासीवनहेतोःसूचीपिप्पलकं, शौचाधानहेतोः जलकुण्डिका, दण्डधारणं, भैक्ष्यचर्य्यार्थं पात्रं, प्राणधारणार्थमेककालमग्राम्यो यथोपपन्न एवाभ्यवहारः। श्रमापनयनार्थं शीर्णशुष्कपर्णतृणास्तरणोपधानं, ध्यानहेतोः कायनिबन्धनं, वनेषु अनिकेतवासः, तन्द्रानिद्रालस्यादिकर्मवर्जनम्,इन्द्रियार्थेषु अनुरागोपतापनिग्रहः,सुप्तस्थितगतप्रेक्षिताहारविहारप्रत्यङ्गचेष्टादिकेषु आरम्भेषु स्मृतिपूर्विका प्रवृत्तिः, सत्कारस्तुतिगर्हावमानक्षमत्वं, क्षुत्पिपासायासश्रमशीतोष्णवातवर्षासुखदुःखसंस्पर्शसहत्वं शोकदैन्यद्वेषमदमानलोभरोगर्ष्याभयक्रोधादिभिरसञ्चलनम्, अहङ्कारादिषूपसर्गसंज्ञा, लोकपुरुषयोः सर्गादिसामान्यावेक्षणम्, कार्य्यकालात्ययभयं, योगारम्भे सततमनिर्वेदः, सत्त्वोत्साहः, अपवर्गाय धीधृतिस्मृतिबलाधानं, नियमनमिन्द्रियाणां, चेतसि चेतसः, आत्मन्यात्मनश्च, धातुभेदेन शरीरावयवसंख्यानामभीक्ष्णं, सर्वं कारणवद्दुःखमस्वमनित्यमित्यभ्युपगमः। सर्वप्रवृत्तिषु दुःखसंज्ञा, सर्वसंन्यासे सुखमित्याभिनिवेशः, एष मार्गोऽपवर्गाय, अतोऽन्यथा बध्यते, इत्युदयानानि व्याख्यातानि॥ २२॥

और अग्निसेवन धर्मशास्त्रका पढना और उसके अर्थको जानना तथा धर्मशास्त्रका आश्रय लेना और जो २ उसमें क्रिया कथन की हों उनको करना । श्रेष्ठ पुरुषोंकी सेवा करना । खोटे पुरुषोंको त्याग देना, दुर्जनोंसे संगति न करना, सत्य बोलना, संपूर्ण जीवोंका हित चाहना, विनासमय विनाविचारे तथा कठोर वाक्योंको न बोलना, सब प्राणियोंका अपनी,आत्माके समान जानना, विषयोंका स्मरण न करना, विष-

योंका संकल्प तथा इच्छा न करना, स्त्रियोंसे भाषण और प्रेम न करना तथा स्त्रियोंसे सब प्रकारके संबंधोंको त्यागदेना। गुह्यस्थान ढकनेके लिये कौपीन, गेरुए कपडे, गुदडी, सूई सीनेके लिये, तुंबा (जलपात्र) शौचके लिये, दण्डधारण, दांतन, भिक्षा मांगनेका पात्र, प्राणधारणके लिये एक समय वनके कन्द मूलादिक सेवन यथाप्राप्ति भोजन, थकावट दूर करनेको ऊपरसे सूखकर गिरेहुए पत्रोंका आश्रय तथा घासका आसन। ध्यान लगानेके लिये योगपट्ट, वनवृक्षोंके नीचे निवास, तंद्रा, निद्रा और आलस्यादि कर्मोंका वर्जन, इन्द्रियोंके विषयोंसे उपताप रखना तथा इंद्रियोंको वशमें रखना, निद्रा, स्थिति, गति, दृष्टि, आहार, विहार, तथा अंगादिकोंकी चेष्टामें विचारपूर्वक प्रवृत्त होना। तथा सत्कार, स्तुति, निन्दा और अपमान आदिकोंमें प्रसन्न तथा रंज न होना। श्रम, सर्दी, गर्मी, पवन, वृष्टि, सुख और दुःखको सहन करना। शोक, दीनता, द्वेष, मद, मान, लोभ, राग, ईर्षा, भय और क्रोध आदिकोंसे चलायमान न होना। अहंकारादिकोंको उपद्रव समझकर त्याग देना। आत्मामें और लोकपुरुषमें तुल्य दृष्टिसे देखना, अपने योगादिक या समाधि आदिक किसी कालको बिगडने नहीं देना। योगके आरम्भमें सदैव प्रेम लगाये रहे। अपने मनको सदैव सात्त्विक बनाता रहे। मोक्षके लिये बुद्धि, धृति, स्मृति इनके बलको ग्रहण करे। इंद्रियोंका नियमन करे अर्थात् जीते। अथवा इन्द्रियोंको चित्तमें और चित्तको आत्मामें स्थापन करे। शरीरावयवोंको धातु भेदसे जाने। यह शरीर धातु भेदसे बनाहुआ है और निरन्तर संपूर्ण कार्य, कारण इसीसे होते हैं। यह संयोगही दुःखका कारण है। यह शरीर अनित्य है। सब प्रकारकी प्रवृत्ति दुःखको देनेवाली है और संपूर्ण सुखोंका अभिनिवेश त्यागमें है। इस प्रकारका निश्चय करे। यही मोक्षका सीधा मार्ग हैं। इससे विपरीत प्रवृत्तिमार्ग है। उससे मनुष्य दुःखसे बंधजाता है मोक्षका सुख प्राप्त करनेके लिये इन निवृत्ति मार्गोंका कथन किया है ॥ २२ ॥

भवन्ति चात्र-एतैरविमलं सत्त्वं शुद्ध्युपायैर्विशुध्यति।
मृज्यमान इवादर्शस्तैलचैलकचादिभिः ॥ २३ ॥
ग्रहाम्बुदरजोधूमनीहारैरसमावृतम्।
यथार्कमण्डलं भाति भाति सत्त्वं तथामलम् ॥ २४ ॥
ज्वलत्यात्मनि संरुद्धं तत्सत्त्वं संवृतायने।
शुद्धः स्थिरः प्रसन्नार्चिर्दीपो दीपाशये यथा ॥ २५ ॥

इन सब शुद्ध उपायोंद्वारा मन निर्मल होजाता है। जैसे-तैल, वस्त्र और बाल आदिकोंसे साफ कियाजानेपर शीशा निर्मल होजाता है तथा घर, बादल, धूल, धूम,

नीहार इनसे ढका हुआ सूर्य मण्डल प्रतीत नहीं होता। उसी प्रकार अहंकारादिकोंसे व्याप्त हुआ मन होनेपर ज्ञानका प्रकाश नहीं होता। और उन बादलादिकोंके उडजानेसे सूर्यका स्वच्छ प्रकाश दिखाई देने लगता है। उसीप्रकर अहंकार आदिकोंके चले जानेसे मन स्वच्छ होजाता है। जिस प्रकार स्थिर और प्रसन्न दीपककी ज्योति शुद्ध रीतिसे टिकाई जानेपर निर्मल टिका हुआ प्रकाश करती है उसीप्रकार शुद्धसत्त्व आत्मामें ज्ञानका प्रकाश करता है॥ २३–२५ ॥

शुद्धसत्त्वबुद्धिका कथन।

शुद्धसत्त्वस्य या शुद्धा सत्या बुद्धिः प्रवर्त्तते।
यया भिनत्त्यतिबलं महामोहमयं तमः ॥ २६ ॥

शुद्ध सत्त्वसे शुद्ध सत्य जो बुद्धि उत्पन्न होती है। जिस बुद्धिसे महामोहरूपी अतिबलवान् अंधकार दूर होजाता है ॥ २६ ॥

सर्वभावस्वभावज्ञो यया भवति निस्पृहः।
योगं यया साधयते सांख्यः सम्पद्यते यया ॥ २७ ॥
यया नोपैत्यहंकारं नोपास्ते कारणं यया।
यया नालम्बते किञ्चित्सर्वं संन्यस्यते यया ॥ २८ ॥
याति ब्रह्म यया नित्यमजरः शान्तमक्षरम्।
विद्या सिद्धिर्मतिर्मेधा प्रज्ञा ज्ञानञ्च सा मता ॥ २९ ॥

जिस बुद्धिके द्वारा मनुष्य संपूर्ण भावोंके स्वभावोंको जानताहुआ निष्क्रिय होजाता है। जिस बुद्धिके द्वारा योग साधन कियाजाता है तथा सांख्यके जाननेवाले सांख्यके ज्ञाता होते हैं। जिससे अहंकार उत्पन्न नहीं होता और दुःखसुखके कारण आकर प्राप्त नहीं होते। जिस बुद्धिके होनेसे अन्य किसी विषयकी इच्छा नहीं रहती है जिस बुद्धिसे मनुष्य संपूर्ण त्याग करता है और नित्य, अजर, शान्त, अक्षर ब्रह्मको प्राप्त होजाता है। वह बुद्धिही विद्या, सिद्धि, मति, मेधा, प्रज्ञा, ज्ञान, स्वरूप कही जाती है ॥ २७-२९ ॥

लोके विततमात्मानं लोकश्चात्मनि पश्यतः।
परावरदृशः शान्तिर्ज्ञानमूला न नश्यति ॥ ३० ॥

जो मनुष्य सम्पूर्ण जगत्में अपने आपको देखता है और अपनेमें सम्पूर्ण जगत्को देखता है और पर अवरको पहचानता है उस पुरुषकी ज्ञानमूला शान्ति कभी नष्ट नहीं होती है ॥ ३० ॥

पश्यतः सर्वभूतानि सर्वावस्थासु सर्वदा ।
ब्रह्मभूतस्य संयोगो न शुद्धस्योपपद्यते ॥ ३१ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंमें ब्रह्ममयी दृष्टिसे देखताहुआ और सम्पूर्ण अवस्था तथा सम्पूर्ण कालोंमें उस ब्रह्मभूत ज्ञानीको पुनर्जन्मके कारण उपस्थित नहीं होते हैं॥ ३१ ॥

मुक्तका लक्षण ।

नात्मनः कारणाभावाल्लिङ्गमप्युपलभ्यते ।
स सर्वकारणत्यागान्मुक्त इत्यभिधीयते ॥ ३२ ॥
विपापं विरजः शान्तं परमक्षरमव्ययम् ।
अमृतं ब्रह्मनिर्वाणं पर्य्यायैः शान्तिरुच्यते ॥ ३३ ॥

जब आत्माके कारण भावसे और कोई चिह्न प्रतीत नहीं होता तो वह सम्पूर्ण कारणोंके त्यागसे मुक्त है ऐसा कहाजाता है। विपाप, विरज, शान्त, पर, अक्षर, अव्यय, अमृत, ब्रह्म और निर्वाण यह सब शान्ति अर्थात् मोक्षके पर्यायवाचक शब्द हैं ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

एतत्तत्सौम्य विज्ञानं यज्ज्ञात्वा मुक्तसंशयाः ।
मुनयः प्रशमं जग्मुर्वीतमोहरजःस्पृहाः ॥ ३४ ॥

हे सौम्य ! इस विज्ञानके जाननेसे ही मुनीश्वर संशयरहित और मोह राग तथा स्पृहारहित हुए हैं। और मोक्षको प्राप्त हुए हैं ॥ ३४ ॥

अध्यायका उपसंहार ।

सप्रयोजनमुद्दिष्टं लोकस्य पुरुषस्य च ।
सामान्यं मूलमुत्पत्तौ निवृत्तौ मार्ग एव च ॥ ३५ ॥
शुद्धसत्त्वसमाधानं सत्या बुद्धिश्च नैष्ठिकी ।
विचये पुरुषस्योक्ता निष्ठा च परमर्षिणा ॥ ३६ ॥

इति चरकसंहितायां शारीरस्थाने पुरुषविचयं शारीरं समाप्तम् ॥ ५ ॥

यहां अध्यायके उपसंहारमें श्लोक हैं—इस पुरुषविचयशारीरनामक अध्यायमें जगत् और पुरुषकी सामान्यताका विचार तथा उसका प्रयोजन, दुःखोंकी उत्पत्तिका मूल और निवृत्तिमार्ग, शुद्ध सत्त्वका समाधान, मोक्ष प्राप्त करनेवाली सत्यबुद्धि तथा मोक्ष इन सबका महर्षि आत्रेयजीने वर्णन किया है ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां शारीरस्थाने पटियालाराज्यांतर्गतटकसाल-निवासिवैद्यपञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्य-भाषाटीकायां पुरुषविचयशारीरं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः।

अथातः शरीरविचयशारीरं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम शरीरविचय नामक शारीरकी व्याख्या करते हैं इसप्रकार भगवान् आत्रेयजी कहने लगे ॥

शरीरविचयका प्रयोजन।

शरीरविचयः शरीरोपकारार्थमिष्यते भिषग्विद्यायाम्। ज्ञात्वा हि शरीरतत्त्वं शरीरोपकारकरेषु भावेषु ज्ञानमुत्पद्यते। तस्माच्छरीरविचयं प्रशंसन्ति कुशलाः ॥ १ ॥

हे अग्निवेश! वैद्यक शास्त्रमें शरीरके उपकारके लिये शरीरविचय जानना चाहिये शरीरतत्त्वको जाननेसेही शरीरके उपकारक भावोंमें ज्ञान उत्पन्न हो सकता है। इसलिये शरीरविचयके जाननेकी विद्वान्लोग प्रशंसा करते हैं ॥ १ ॥

शरीरका वर्णन।

तत्र शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पञ्चभूतविकारसमुदायात्मकम्॥ २ ॥

शरीर चेतनाके अधिष्ठानभूत पांच महाभूतोंके विकारोंका समुदाय है ॥ २ ॥

समयोगवाहिनो यदा ह्यस्मिञ्च्छरीरे धातवो वैषम्यमापद्यन्ते तदायं क्लेशं विनाशं वा प्राप्नोति। वैषम्यगमनं पुनर्धातूनां वृद्धिह्रासगमनमकार्त्स्न्येन प्रकृत्या च ॥ ३ ॥

शरीरकी सम्पूर्ण धातुएँ समयोगवाही हैं। जब यह धातुएँ शरीरमें विषमताको प्राप्त होजाती हैं तब यह मनुष्य कष्टको पाता है अथवा विनाशको प्राप्त होजाता है। धातुओंका अपने परिमाणसे बढजाना या कम होजानाही विषमताको प्राप्त होना कहाजाता है यह निदान(कारणों)से भी होता तथा वातलादि मनुष्योंमें प्रकृतिसेही होता है॥ ३॥

यौगपद्येन तु विरोधिनां धातूनां वृद्धिह्रासौ भवतः ॥ ४ ॥

जब एक धातु वृद्धिको प्राप्त होती है तो उससे विपरीत दूसरी धातु हीनताको प्राप्त होजाती है ॥ ४ ॥

यद्धि यस्य धातोर्वृद्धिकरं तत्ततो विपरीतगुणस्य धातोः प्रत्यवायकरं सम्पद्यते। तदेव तस्माद्भेषजं सम्यगवधार्यमाणं युगपन्न्यूनाति-

रिक्तानां धातूनां साम्यकरं भवति, अधिकमपकर्षति, न्यूनमाप्याययति। एतावदेव हि भैषज्यप्रयोगे फलमिष्टं स्वस्थवृत्तानुष्ठानञ्च यावद्धातूनां साम्यं स्यात् ॥ ५ ॥

जो द्रव्य एक धातुको बढानेवाला होता है वह उससे विपरीत गुणवाली दूसरी धातुको हीन करनेवाला होता है। इसलिये वह एकही औषधी विधिवत् सेवन की हुई न्यून और अधिकहुई धातुओंको साम्यावस्थामें करदेती है क्योंकि जो धातु बढीहुई होती है उसको अपकर्षण करके घटा देती है और घटी हुईको बढा देती है। इसप्रकार औषधीका प्रयोग करनेका श्रेष्ठ फल है। और मनुष्यको स्वस्थवृत्तका अनुष्ठान करना चाहिये जिससे सम्पूर्ण धातुओंकी साम्यता बनीरहे ॥ ५ ॥

धातुसाम्यकी विधि।

स्वस्थस्यापि समधातूनां साम्यानुग्रहार्थमेव कुशला रसगुणानाहारविकारांश्च पर्य्यायेणेच्छन्ति उपयोक्तुम्। सात्म्यसमाख्यातानेकप्रकारभूयिष्ठांश्चोपयुञ्जानास्तद्विपरीतकरणलक्षणसमाख्यातचेष्टया सममिच्छन्ति कर्त्तुम् ॥ ६ ॥

स्वस्थ मनुष्योंकी भी समधातुओंकी साम्यता रखनेके लिये रस, गुण आदि आहारके विकारोंको उनके पर्यायक्रमसे निश्चय कर देना उचित समझते हैं क्योंकि एक प्रकारका रस सात्म्य होनेपर भी बहुत खायाजाय तो उससे जो धातुओंमें विषमता होनेवाली हो उसके विपरीत कार्य करनेवाले द्रव्यके उपयोगसे धातुओंमें समता रहती है और सात्म्यतामें कोई विघ्न उपस्थित नहीं होता। इसलिये अनेक प्रकारके रसोंका भोजन करते हुए उनके गुणादिकोंसे उनको धातुसात्म्य बना, सेवन करना अथवा जिसप्रकार सेवन करनेसे धातुएं सात्म्य रहें उस प्रकार साधन करना उचित है। तथा जिसके सेवनसे जो धातु अधिक होनेवाली हो उससे विपरीत द्रव्यका सेवन करना और चेष्टा करना धातुओंको सात्म्य रखता है ॥ ६ ॥

स्वस्थके धातुसाम्य रखनेका उपदेश।

देशकालात्मगुणविपरीतानां हि कर्मणामाहारविकाराणाञ्च क्रमेणोपयोगः सम्यक्। सर्वाभियोगोऽनुदीर्णानां सन्धारणमसन्धारणमुदीर्णानाञ्च गतिमतां साहसानाञ्च वर्जनम्। स्वस्थवृत्तमेतावद्धातूनां साम्यानुग्रहार्थमुपदिश्यते ॥ ७ ॥

देश, काल और आत्मगुणसे विपरीतकर्मोंका तथा आहारसमूहोंका क्रमपूर्वक उपयोग करना अर्थात् शीतदेशमें गर्म वस्तुओंका उपयोग और उष्णदेशमें शीत वस्तुओंका उपयोग करना। इसी प्रकार शीतकालमें उष्णपदार्थोंका सेवन और उष्णकालमें शीतपदार्थोंका सेवन एवम् रूक्ष प्रकृतिको स्निग्ध द्रव्योंका सेवन करना और स्निग्धको रूक्षका सेवन करना इत्यादि कर्म तथा जो वेग आये हुए हैं उनको धारण न करना और नहीं आये हुए वेगोंको धारण करना, साहसी कर्मोंको छोडदेना यह सब स्वस्थ मनुष्योंकी धातुओंको सात्म्य रखनेके लिये कथन किये गये हैं॥ ७॥

धातुओंकी वृद्धि और ह्रासका कारण।

धातवः पुनः शारीराः समानगुणैः समानगुणभूयिष्ठैर्वापि आहारविहारैरभ्यस्यमानैर्वृद्धिं प्राप्नुवन्ति। ह्रासन्तु विपरीतगुणैर्विपरीतगुणभूयिष्ठैर्वाप्याहारैरभ्यस्यमानैः॥ ८॥

शरीरकी धातुएँ अपने समान गुणवाले तथा समानगुणविशेषवाले आहारविहारोंके सेवनसे वृद्धिको प्राप्त होती हैं। और विपरीतगुणवाले तथा विपरीतप्रभाववाले आहार, विहारसे धातुएँ ह्रासको प्राप्त होती हैं॥ ८॥

धातुओंके गुण।

तत्रेमे शरीरधातुगुणाः। संख्यासामर्थ्यरूपकरास्तद्यथा—गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षमन्दतीक्ष्णस्थिरसरमृदुकठिनविशदपिच्छिलश्लक्ष्णखरसूक्ष्मस्थूलसान्द्रद्रवाः॥ ९॥

उन शारीरिक धातुओंके गुण इस प्रकार हैं और वह संख्या, सामर्थ्य और रूपके विभागसे जानने चाहिये। जैसे गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मंद, तीक्ष्ण, स्थिर, सर, मृदु, कठिन, विशद, पिच्छिल, श्लक्ष्ण, खर, सूक्ष्म, सान्द्र, स्थूल और द्रव॥ ९॥

गुरु और लघुधातुओंका वर्णन।

तेषु ये गुरवो धातवो गुरुभिराहारविकारगुणैरभ्यस्यमानैराप्याय्यन्ते, लघवश्च ह्रसन्ति। लघवस्तु लघुभिरेवाप्याय्यन्ते, गुरवश्च ह्रसन्त्येवमेव सर्वधातुगुणानां सामान्ययोगाद् वृद्धिः। विपर्ययाद्ध्रासः॥ १०॥

उनमें जो गुरु धातु हैं वह गुरुगुणवाले आहारके सेवनसे बढते हैं और लघुधातुएँ ह्रास होती हैं। इस प्रकार लघुगुणवाले द्रव्योंके सेवन करनेसे लघुधातुएँ पुष्ट

होती हैं । और गुरुधातुएँ ह्रास होती हैं । इस प्रकार सम्पूर्ण धातुओंकी समानगुण-वाले द्रव्यसे वृद्धि और विपरीत गुणवाले द्रव्योंसे ह्रास होता है ॥ १० ॥

प्रतिधातुओंकी वृद्धिका हेतु ।

तस्मान्मांसमाप्याय्यते मांसेन भूयोऽन्येभ्यः शरीरधातुभ्यः । तथा लोहितं लोहितेन, मेदो मेदसा, वसा वसया, अस्थि तरुणास्थ्ना, मज्जा मज्ज्ञा, शुक्रं शुक्रेण, गर्भस्त्वामगर्भेण ॥ ११ ॥

इसलिये और धातुओंकी अपेक्षा मांसके खानेसे मांस । रुधिरसे रुधिर । चर्बीसे चर्बी । कोमल अस्थियोंसे अस्थियें । मज्जासे मज्जा । वीर्यसे वीर्य बढता है । इसी प्रकार गर्भ–आमगर्भके अण्डे आदिके सेवनसे बढता है ॥ ११ ॥

समानकी अप्राप्तिमें उपाय ।

यत्र तु एवं लक्षणेन सामान्येन सामान्यवतामाहारविकाराणामसा-न्निध्यं स्यात् सन्निहितानां वापि अयुक्तत्वान्नोपयोगो घृणित्वा-दन्यस्माद्वा कारणात्स च धातुरभिवर्द्धयितव्यः स्यात् । तस्य ये समानगुणाः स्युः आहारविकारा असेव्याश्च तत्र समानगुणभूयि-ष्ठानामन्यप्रकृतीनामपि आहारविकाराणामुपयोगः स्यात् ॥ १२ ॥

इस स्थानमें इस सामान्य निर्देशसे संपूर्ण आहार आदिकोंका भाव जानना। शरीरके धातुओंके समानगुणवाले मांसआदि आहारसे मांस आदिकोंकाही आवश्यक कथन नहीं है किन्तु मांस आदि आहार बढानेवाले जो आहारविशेष हैं उनका प्रयो-जन है । जिनको मांस आदिकोंसे घृणा है अथवा न मिलनेसे वा अन्य किसी कार-णसे वह असेवनीय है उनको मांस आदिके बढानेवाले अन्य दूध, दाल आदि पदार्थ सेवन करने चाहिये ॥ १२ ॥

तद्यथा–शुक्रक्षये क्षीरसर्पिषोरुपयोगो मधुरस्निग्धसमाख्यातानाञ्चा-परेषामेव द्रव्याणाम् । मूत्रक्षये पुनरिक्षुरसवारुणीमण्डद्रवमधुराम्ल-लवणोपक्लेदिनाम् । पुरीषक्षये कुल्माषमाषकूष्माण्डाजमध्ययवशा-कधान्याम्लानाम् । वातक्षये कटुतिक्तकषायरूक्षलघुशीतानाञ्च । पित्तक्षयेऽम्ललवणकटुकक्षारोष्णतीक्ष्णानाम् । श्लेष्मक्षये स्निग्धगुरु-मधुरसान्द्रपिच्छिलानां द्रव्याणां कर्मापि च यद्यद्यस्य धातोर्वृद्धिकरं तत्तदनुसेव्यम् ॥ १३ ॥

वह इस प्रकार जानना। जैसे शुक्रके क्षीण होनेपर दूध, घृतका उपयोग करना, मधुर तथा चिकने एवम् अन्य वीर्यवर्द्धक पदार्थोंका सेवन करना उचित है। मूत्रक्षय होनेपर ईखका रस, वारुणी, मण्ड तथा पतले और मधुर, अम्ल, लवण, एवम् मूत्रके लानेवाले अन्य पदार्थ सेवन करने चाहिये। मलके क्षय होनेपर कुल्माष (मटर) उडद, कूष्माण्ड, बडी सेमफली, यव, शाक, धान्याम्ल सेवन करना चाहिये। वातके क्षीण होनेपर कडुवे, चरपरे, कसैले, रूक्ष, हलके तथा शीतल द्रव्य सेवन करना चाहिये। पित्तके क्षय होनेपर खट्टे, नमकीन, चरपरे, क्षार, उष्ण तथा तीक्ष्ण द्रव्योंका सेवन करना चाहिये। कफके क्षीण होनेपर स्निग्ध, भारी, मधुर, सान्द्र, पिच्छिल द्रव्योंका सेवन करना चाहिये। इसी प्रकार जो कर्म भी जिस २ धातुको बढानेवाला हो उसका सेवन करना चाहिये ॥ १३ ॥

एवमन्येषामपि शरीरधातूनां सामान्यविपर्य्ययाभ्यां वृद्धिह्रासौ यथाकालं कार्य्याविति। सर्वधातूनामेकैकशोऽतिदेशतश्च वृद्धिह्रास-कराणि व्याख्यातानि भवन्ति ॥ १४ ॥

एवम् अन्य भी जो शरीरकी धातुएँ हैं उनके समान और विपर्यय करनेवाले द्रव्योंसे धातुओंकी वृद्धि और ह्रास होता है। उन सबका धातुओंको साम्य रखनेके लिये यथासमय सेवन करना चाहिये। इस प्रकार संक्षेपसे संपूर्ण धातुओंके वृद्धि और ह्रास करनेवाले भावोंका एकएक करके वर्णन कियागया है ॥ १४ ॥

कृत्स्नशरीरपुष्टिकरास्त्विमे भावाः, कालयोगः स्वभावसिद्धिराहार-सौष्ठवमविघातश्चेति। बलवृद्धिकरास्त्विमे भावा भवन्ति, तद्यथा-बल-वत्पुरुषे देशे जन्म, बलवत्पुरुषे च काले, सुखश्च कालयोगो बीजक्षेत्र-गुणसंपच्चाहारसंपच्च शरीरसम्पच्च सात्म्यसंपच्च सत्त्वसंपच्च स्वभाव-संसिद्धिश्च यौवनञ्च कर्म च संहर्षश्चेति ॥ १५ ॥

संपूर्ण मनुष्योंके सब धातुओंको पुष्ट करनेवाले यह भाव होते हैं। जैसे-समयका उत्तमयोग, स्वभावसिद्धि, आहारकी उत्तमता, किसी प्रकारका विघात न पहुंचना यह मनुष्योंके बलके बढानेवाले भाव होते हैं। जैसे—बलवान् पुरुषसे बलवान् स्त्रीमें और बलवान् देशमें, तथा बलवान् समयमें जन्म होना। सुखकारक कालका योग, बीज और क्षेत्रकी उत्तमता, सत्त्वकी उत्तमता, व्यायाम आदि बलकारक कर्म, यौवनावस्था, अपना किया कर्म और प्रसन्नता यह सब मनुष्योंके शरीरको पुष्ट तथा बल और धातुओंकी वृद्धिके करनेवाले भाव हैं ॥ १५ ॥

आहारपरिणामकरास्तु इमे भावा भवन्ति । तद्यथा—उष्मा, वायुः, क्लेदः, स्नेहः, कालः, संयोगश्चेति ॥ १६ ॥ तत्र तु खल्वेषामुष्मादीनामाहारपरिणामकराणां भावानामिमे कर्मविशेषा भवन्ति, तद्यथा—उष्मा पचति, वायुरपकर्षति, क्लेदः शैथिल्यमापादयति, स्नेहो मार्दवं जनयति, कालः पर्य्याप्तिमभिनिर्वर्त्तयति, संयोगस्तु एषां परिणामधातुसाम्यकरः सम्पद्यते ॥ १७ ॥

आहारको पाचन करनेवाले यह भाव होते हैं। जैसे--गर्मी, वायु, क्लेद, स्नेह, काल और संयोग। इन गर्मी आदि आहारके पाचन करनेवाले भावोंके आहारके पाचन करनेमें पृथक् २ कर्म हैं। जैसे--गर्मी पचानेवाली है। वायु आकर्षण करतीहै। क्लेद आहारको शिथिल करता है। स्नेह मृदु अर्थात् आहारको नरम बनाता है। काल पर्याप्ति करता है अर्थात् ठीक समयपर उचित २ कार्योंको करता है। समयपर भोजन न होनेसे परिपाकमें भी विघ्न होता है। संयोग इन सबके परिणामसे धातुओंको साम्य करता है ॥ १६ ॥ १७ ॥

परिणामतस्त्वाहारस्य गुणाः शरीरगुणभावमापद्यन्ते यथास्वमविरुद्धाः विरुद्धाश्च विहन्युर्विहताश्च विरोधिभिः शरीरम् ॥ १८ ॥

जब आहार पाचन होजाता है तो उसके गुण शरीरके गुण भावोंमें प्राप्त होजाते हैं यदि आहार अविरुद्ध गुणवाला हो तो शरीरको पुष्ट करता है और विरोधी गुणवाला विरोधी धातुओंद्वारा क्षय होनेसे शरीरको नष्ट करदेता है ॥ १८ ॥

शरीरधातुके भेद ।

शरीरधातवस्त्वेवं द्विविधाः संग्रहेण, मलभूताः प्रसादभूताश्च । तत्र मलभूतास्ते शरीरस्य ये आबाधकराः स्युस्तद्यथा, शरीरच्छिद्रेषु उपदेहाः पृथग् जन्मानो बहिर्मुखाः परिपक्वाश्च धातवः । प्रकुपिताश्च वातपित्तश्लेष्माणो ये चान्येऽपि केचिच्छरीरे तिष्ठन्ति भावाः शरीरस्योपघातायोपपद्यन्ते सर्वांस्तान्मलान्संप्रचक्ष्महे । इतरांस्तु प्रसादे गुर्वादींश्च द्रवान्तान्गुणभेदेन रसादींश्च शुक्रान्तान् द्रव्यभेदेन ॥ १९ ॥

शारीरिक धातुएं सामान्यतासे दो प्रकारकी होती हैं। १ मलभूत २ प्रसादभूत। उनमें जो शरीरको बाधा करनेवाली हैं उनको मलभूत धातु कहते हैं। वह इस प्रकार हैं। जैसे—शरीरछिद्रोंमें भरा हुआ क्लेद और जो शरीरसे पृथक् उत्पन्न होनेवाले हों अर्थात् शरीरमें न मिलकर फोकट रूपसे अलग निकल जानेवाली हों और परि-

पाकको प्राप्त हो अपने छिद्रोंद्वारा बाहर निकल जानेवाली हों (विष्ठाआदि) इनको मल कहते हैं तथा कुपित हुए वात, पित्त, कफ और इनके सिवाय भी जो शरीरको बिगाडनेवाले भाव हैं उन सबको मलभूत धातु कहते हैं। इनके सिवाय गुरु आदि गुणसे लेकर द्रवपर्यन्त गुणभेदसे और रससे लेकर शुक्रपर्यन्त द्रवभेदसे सब धातुयें प्रसादसंज्ञक होती हैं ॥ १९ ॥

तेषां सर्वेषामेव वातपित्तश्लेष्माणो दुष्टा दूषयितारो भवन्ति दोषत्वात्। वातादीनां पुनर्धात्वन्तरे कालान्तरे प्रदुष्टानां विविधाशितपीतीयेऽध्याये विज्ञानान्युक्तानि एतावत्येव दुष्टदोषगतिर्यावत्संस्पर्शनाच्छरीरधातूनाम्। प्रकृतिभूतानान्तु खलु वातादीनां फलमारोग्यं तस्मादेषां प्रकृतिभावे प्रयतितव्यं बुद्धिमद्भिः ॥ २० ॥

उन सब धातुओंकोही दुष्ट हुए वात, पित्त, कफ दूषित करनेवाले होते हैं। दोष होनेसे वातादिकोंद्वारा जो सम्पूर्ण धातु दूषित होकर जिन २ लक्षणोंको धारण करती हैं वह सब विविधाशितपीतीयाध्यायमें विशेषरूपसे कथन करचुके हैं। दोष दुष्ट होकर शरीरकी धातुओंको संस्पर्श करतेही दूषित करदेते हैं। जब यह वातादि दोष अपनी प्रकृतिमें स्थिर रहें तो इनका फल आरोग्यता होती है। इसलिये बुद्धिमान् दोषोंको प्रकृतिस्थ रखनेमें यत्नवान् रहते हैं ॥ २० ॥

पूर्णवैद्यके लक्षण।

सर्वदा सर्वथा सर्वं शरीरं वेद यो भिषक्।
आयुर्वेदं स कार्त्स्न्येन वेद लोकसुखप्रदम् ॥ २१ ॥

जो वैद्य सब प्रकारसे सब कालमें संपूर्ण शरीरके संपूर्णभावोंको यथावत् जानता है वह लोकको सुख देनेवाले आयुर्वेदको संपूर्णरूपसे जानता है ॥ २१ ॥

तमेवमुक्तवन्तं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच। श्रुतमेतद्यदुक्तं भगवता शरीराधिकारे वचः। किन्नु खलु गर्भस्याङ्गं पूर्वमभिनिर्वर्त्तते कुक्षौ। कुतो मुखं, कथं वा चान्तर्गतस्तिष्ठति। किमाहारश्च वर्त्तयति। कथंभूतश्च निष्क्रामति। कैश्चायमाहारोपचारैर्जातस्त्वव्याधिरभिवर्द्धते। सद्यो हन्यते कैः। कथञ्चास्य देवादिप्रकोपनिमित्ता विकारा उपलभ्यन्ते। आहोस्विन्न। किञ्चास्य कालाकालमृत्योर्भावाभावयोर्भगवानध्यवस्यति। किञ्चास्य परमायुः कानि चास्य परमायुषो निमित्तानीति ॥ २२ ॥

इस प्रकार कहते हुए भगवान् आत्रेयजीसे अग्निवेश कहनेलगे कि, हे भगवन् ! शरीरसंबंधी जो विषय आपने कथन किया है वह हमने श्रवण किया। अब कृपाकर यह कथन कीजिये कि गर्भका प्रथम कौनसा अंग उत्पन्न होता है और गर्भमें बालक किस ओर मुखकरके किस प्रकार गर्भाशयके भीतर रहता है और क्या आहारकर जीता है, किस प्रकार निकलता है, कैसे आहार और उपचारके होनेसे आरोग्य रहकर वृद्धिको प्राप्त होता है, किन कारणोंसे शीघ्र नष्ट होजाता है, देव आदिकोंके कोपसे उत्पन्न हुए विकार कैसे जानेजाते हैं ? हे भगवन् ! आप इसके काल और अकालमृत्युके भाव और अभावका क्या निश्चय करते हो अर्थात् भावाभावमें कौनसी अकालमृत्यु और कौनसी कालमृत्यु होती है तथा उनके कारण क्या है, इसकी परम आयु कितनी है और उसके निमित्त क्या हैं ? ॥ २२ ॥

तमेवमुक्तवन्तमग्निवेशं भगवान् पुनर्वसुरात्रेय उवाच । पूर्वमुक्तमेतद्गर्भावक्रान्तौ यथायमभिनिर्वर्त्तते कुक्षौ । यच्चास्य यदा सन्तिष्ठतेऽङ्गजातम् । विप्रतिपत्तिवादास्त्वत्र बहुविधाः सूत्रकारिणामृषीणां सन्ति । सर्वेषां तानपि निबोध उच्यमानान् । शिरः पूर्वमभिनिर्वर्त्तते कुक्षाविति कुमारशिरा भरद्वाजः । पश्यति सर्वेन्द्रियाणां तदधिष्ठानमिति हृदयमिति काङ्कायनो बाह्लीकभिषक् चेतनाधिष्ठानत्वात् । नाभिरिति भद्रकाप्य आहारागम इति कृत्वा । पक्वगुदमिति भद्रशौनको मारुताधिष्ठानत्वात् । हस्तपादमिति बडिशस्तत्करणत्वात्पुरुषस्य । इन्द्रियाणीति जनको वैदेहस्तान्यस्य बुद्ध्यधिष्ठानानीति कृत्वा । परोक्षत्वादचिन्त्यमिति मारीचिः कश्यपः । सर्वाङ्गनिर्वृत्तिः युगपदिति धन्वन्तरिः । तदुपपन्नं सर्वाङ्गानां तुल्यकालाभिनिर्वृत्तत्वाद्धृदयप्रभृतीनां सर्वाङ्गानाम् । हृदयं ह्यस्य मूलम्, अधिष्ठानञ्च केषाञ्चिद्भावानाम् । न च तस्मात्पूर्वाभिनिर्वृत्तिरेषाम् । तस्माद्धृदयपूर्वाणां सर्वाङ्गानां तुल्यकालाभिनिर्वृत्तिः । सर्वभावा ह्यन्योन्यप्रतिबद्धास्तस्माद्यथाभूतं दर्शनम् ॥ २३ ॥

इस प्रकार अग्निवेशके कथनको सुनकर भगवान् आत्रेयजी कहनेलगे कि हे अग्निवेश ! जिस प्रकार कुक्षीमें गर्भ उत्पन्न होता है उसका वर्णन तो हम गर्भावक्रांति अध्यायमें करही चुके हैं और गर्भका जो अंग जिस समय उत्पन्न होता है यह भी

उसीस्थानमें कहचुके हैं परन्तु जिस प्रकार बहुतसे सूत्रकार ऋषियोंका इस विषयमें पृथक् २ मत है उसको श्रवण करो। कुमारशिरा भरद्वाज कहते हैं कि पहिले गर्भमें मस्तक उत्पन्न होता है। क्योंकि मस्तक संपूर्ण इन्द्रियोंका निवासस्थान है। कांकायनबाह्लीक वैद्यका मत है कि प्रथम हृदय उत्पन्न होता है। क्योंकि चेतनाशक्तिका स्थान हृदयही है भद्रकाप्य कहते हैं कि पहिले नाभि उत्पन्न होती है। क्योंकि गर्भको पालनकरनेके लिये आहार नाभिद्वाराही पहुंचता है। भद्रशौनक कहनेलगे कि पहिले पक्वाशय उत्पन्न हुआ क्योंकि शारीरिक वायुका प्रधान स्थान पक्वाशयही है। बडिश ऋषिका मत है कि पहिले हाथपैर उत्पन्न होते हैं क्योंकि हाथपैरही मनुष्यके करण अर्थात् कार्य करनेवाले हैं। विदेह देशके पति जनकका मत है कि पहिले इंद्रियें उत्पन्न होती हैं क्योंकि इन्द्रियेंही बुद्धिके अधिष्ठान हैं। मारीच कश्यप कहते हैं कि यह सब अपरोक्ष है इसके विषयमें यह जाना नहीं जाता कि कौन पहिले तथा कौन पीछे उत्पन्न होते हैं। और धन्वन्तरीजी कहते हैं कि संपूर्ण अंग एकही समयमें उत्पन्न होते हैं सो–हमारे मतमें भी हृदय प्रभृति संपूर्ण अंग एकहीसाथ उत्पन्न होते हैं। संपूर्ण अंगोंका मूल अधिष्ठान हृदय है। किसी भावकी भी हृदयसे प्रथम उत्पत्ति नहीं होती। संपूर्णभावही आपसमें परस्पर उत्पत्तिके विषयमें अपेक्षा रखते हैं। इस लिये हे अग्निवेश! सब अंगोंका हृदय पूर्वक एकही कालमें उत्पन्न होना युक्तिसिद्ध है ॥ २३ ॥

गर्भस्तु खलु मातुः पृष्ठाभिमुख ऊर्द्ध्वशिराः संकुच्याङ्गान्यास्ते जरायुवृतः कुक्षौ। व्यपगतपिपासाबुभुक्षस्तु खलु गर्भः परतन्त्रवृत्तिर्मातरमाश्रित्य वर्त्तयति उपस्नेहोपस्वेदाभ्याम्। गर्भाशये सदसद्भूताङ्गावयवः। तदन्तरं ह्यस्य लोमकूपायनैरुपस्नेहः। काश्चिन्नाभिनाडचयनैः। नाभ्यां ह्यस्य नाडी प्रसक्ता साऽपरा। सा चास्य मातुः प्रसक्ता हृदये। मातृहृदयं ह्यस्यताममरामभिसंप्लवते शिराभिः स्यन्दमानाभिः ॥ २४ ॥

गर्भ माताके पीठकी ओर मुखकरके ऊपरको शिर कियेहुए सब अंगोंको संकोच करके जरायुसे लिपटाहुआ कुक्षीमें रहता है। और यह भूख प्याससे रहित रहता है। यह गर्भ परतंत्रवृत्ति है। माताके कियेहुए आहारके उपस्वेद और उपस्नेहसे पलता है। तथा इसका–जीवन माताके आहारके आश्रय है। गर्भके अंगावयव जबतक नहीं होते तबतक माताके गर्भाशयके सूक्ष्म रूपसे उपस्नेहको प्राप्त होता रहता है। फिर रोममार्गद्वारा गर्भका उपस्नेह होता है। गर्भकी नाभिसे एक नाडी लगी हुई है जिसको अमरा अथवा अपरा कहते हैं। यही नाडी माताकी नाडियोंसे मिली हुई है। यह

गर्भकी नाभिकी नाल माताके हृदय और गर्भके हृदयसे मिलीहुई है । इस नाडीको अमरा कहते हैं । रसके स्यन्दन करनेवाली नाडियोंसे यह नाभिकी नाडी रस लेकर गर्भको पुष्ट करती रहती है ॥ २४ ॥

स तस्य रसः सर्वबलवर्णकरः सम्पद्यते च । स च सर्वरसवानाहारः स्त्रिया ह्यापन्नगर्भायास्त्रिधा रसः प्रतिपद्यते, स्वशरीरपुष्ट्ये स्तन्याय गर्भवृद्धये च । स तेनाहारेणोपस्तब्धो वर्त्तयति अन्तर्गतः ॥ २५ ॥

वही रस गर्भको सब प्रकार बल और वर्ण उत्पन्न करता है । गर्भवती स्त्री सब प्रकारके रस जो आहार करती है उसका तीन प्रकारका रस होता है । उनमेंसे एक रससे गर्भवतीके शरीरकी पुष्टि होती है दूसरे प्रकारके रस स्तनोंमें दूध प्रकट करते हैं । तीसरे प्रकारका रस अंतर्गत हो गर्भको पालन करता है ॥ २५ ॥

गर्भके बाहर आनेका वृत्तान्त ।

स चोपस्थितकाले जन्मनि प्रसूतिमारुतयोगात्परिवृत्त्याऽवाक्शिराः निष्क्रामत्यपत्यपथेन । एषा प्रकृतिर्विकृतिरतोऽन्यथा । परन्त्वत एव स्वतन्त्रवृत्तिर्भवति ॥ २६ ॥

फिर वह गर्भ पूर्ण हो सर्वांगसम्पन्न होकर जन्मके समय प्रसूत वायुके वेगसे परिवृत हो नीचेको शिर किये संतानमार्गद्वारा बाहर गिरजाता है । यह गर्भकी प्रकृति (स्वाभाविक धर्म) है । इससे अन्यथा विकृति (वैकारिक धर्म) होती है । गर्भाशयसे बाहर होकर अर्थात् जन्मलेनेके अनन्तर इस बालककी वृत्ति स्वतंत्र होजाती है॥

बालकके आहार व उपचार ।

तस्याहारोपचारौ जातिसूत्रीयोपदिष्टौ अविकारकरौ चाभिवृद्धिकरौ भवतः । ताभ्यामेव च सेविताभ्यां विषमाभ्यां जातं सद्य अपहन्यते तरुरिवाचिरव्यपरोपितो वातातपाभ्यामप्रतिष्ठितमूलः ॥ २७ ॥

गर्भका जिस प्रकार आहार और उपचार करना चाहिये उसको आगे जातिसूत्रीय नामक आठवें अध्यायमें कथन करेंगे । किस प्रकारका आहार और आचार करनेसे आहार और उपचार निर्विकार होते हुए गर्भको बढानेवाले होते हैं । उन्हीं आहार और उपचारोंके विषम होनेसे गर्भ अथवा जन्म हुआ बालक इस प्रकार नष्ट होजाता है जैसे नया लगाया हुआ छोटासा वृक्ष जिसकी जडोंको पृथ्वीने पकडा न हो वह अधिक वायुके लगनेसे और तेज धूपके पडनेसे जडसे नष्ट होजाता है २७ ॥

आप्तोपदेशादद्भुतरूपदर्शनात् समुत्थानलिङ्गचिकित्सितविशेषाच्च दोषप्रकोपानुरूपाश्च देवादिप्रकोपनिमित्ताश्च विकाराः समुपलभ्यन्ते ॥ २८ ॥

आप्त पुरुषोंके रचे हुए बालतंत्रोंके उपदेशसे और अद्भुतरूपोंके देखनेसे विचित्र रूपके अर्थात् दैवी कारण और लक्षणोंके देखनेसे, यथोचित रीतिपर निदान, लक्षण और चिकित्सासे, दोषोंके कोपसे और देवादिकोंके कोपसे उत्पन्न हुए बिकार जाने जासकते हैं ॥ २८ ॥

कालाकाल मृत्युवर्णन।

कालाकालमृत्योस्तु खलु भावाभावयोरिदमध्यवसितं नः । यः कश्चित् म्रियते सर्वः काल एव स म्रियते। न हि कालच्छिद्रमस्तीत्येके भाषन्ते । तच्च सम्यक् न ह्यच्छिद्रता सच्छिद्रता वा कालस्योपपद्यते कालः स्वलक्षणस्वभावात् ॥ २९ ॥

कालमृत्यु और अकालमृत्युके होने न होनेमें हमारा मंतव्य सुनो–कोई कहता है कि जब मनुष्य मारता है वह किसी प्रकारसे भी कभी मरे परन्तु उसका वही काल है। कोई कहता है कि काल छिद्र प्राप्त होनेसे घात पाकर आक्रमण करता है। अर्थात् मृत्युके लिये मनुष्यमें जब जो अवकाश होता है वही उसका मृत्युकाल है। परन्तु यह कथन सत्य नहीं क्योंकि कालके लिये कोई छिद्रता और अच्छिद्रता नहीं है। काल तो स्वयं स्वलक्षण सिद्ध है। उसमें कोई छिद्रता और अच्छिद्रता नहीं हो सकती ॥ २९ ॥

तथाहुरपरे यो यदा म्रियते स तस्य नियतो मृत्युकालः, स सर्वभूतानां सत्यः समक्रियत्वादिति । तदपि चान्यथार्थग्रहणम्, नहि कश्चिन्न म्रियते इति समक्रियः कालः पुनरायुषः प्रमाणमधिकृत्योच्यते ॥ ३० ॥

अन्य इस प्रकार कहते हैं कि जो जब मरता है उसका वही मृत्युकाल है। क्योंकि काल सत्य है और रागद्वेष रहित है। सबके लिये एकसी क्रिया करनेवाला है। परंतु यह भी अयथार्थ ग्रहण है कोई न मरे, ऐसा तो होता ही नहीं। इस लिये काल समक्रिय है। यह ठीक नहीं क्योंकि काल आयुके परिमाणसे लिया है। वह सबमें भिन्न है सम नहीं ॥ ३० ॥

यस्य चेष्टं यो यदा म्रियते तस्य स नियतमृत्युकाल इति तस्य सर्वे भावा यथास्वं नियतकाला भविष्यन्ति तच्च नोपपद्यते, प्रत्यक्षं ह्यकालाहारवचनकर्मणां फलमनिष्टम्।विपर्य्यये चेष्टम्। प्रत्यक्षतश्चोपलभ्यते खलु कालाकालयुक्तिस्तासु तासु अवस्थासु तं तमर्थम-

भिसमीक्ष्य । तद्यथा कालोऽयमस्य तु व्याधेराहारस्यौषधस्य प्रतिकर्मणो विसर्गस्य । अकालो वेति लोकेऽप्येतद्भवति । काले देवो वर्षत्यकाले देवो वर्षति। काले शीतमकाले शीतम् । काले तपत्यकाले तपति । काले पुष्पफलमकाले पुष्पफलमिति । तस्मादुभयमस्ति काले मृत्युरकाले च नैकान्तिकमत्र । यदि ह्यकाले मृत्युर्न स्यान्नियतकालप्रमाणमायुः सर्वं स्यात् ॥ ३१ ॥

यदि कहो कि जो जिस समय मरे उसका वही मृत्युकाल निश्चित है । तो उसके जितने भाव हैं वह सबही मृत्युके सम्बन्धमें निश्चित काल मानने पडेंगे सो ऐसा भी नहीं होसकता । क्योंकि प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि काल और अकालकी व्यवस्थामें जिस २ समय जैसे २ भले या बुरे आहारविहारादि किये जाते हैं उनका वैसाही वैसा फल होता है । जैसे इस व्याधीमें आहार अथवा औषधका यह काल है, चिकित्साका यह समय है, व्याधीका यह समय है अथवा असमय है । इसी प्रकार लोकमें भी देखा जाता है कि अपने ठीक समयपर ऋतुकालमें वर्षा होना और अकालमें वर्षा होना, शीतकालमें शीत पडना और अकालमें शीत पडना,उष्णकालमें उष्णता होनी तथा अकालमें उष्णता होनी । समयपर फूलफल आना और बेसमय फूलफल आना । इस प्रकार काल और अकाल युक्तिसिद्ध है । इसलिये दोनों हो सकते हैं। कालमें भी मृत्यु होती है और अकाल मृत्यु भी होसकती है यह दोनों एक नहीं मानी जासकती । यदि अकालमृत्यु न होती तो सबही मनुष्य आयुके निश्चित समयपर मराकरते ॥ ३१ ॥

एवं गते हिताहितज्ञानमकारणं स्यात्प्रत्यक्षानुमानोपदेशाश्चाप्रमाणानि स्युः ये प्रमाणभूताः सर्वतन्त्रेषु यैरायुष्याण्यनायुष्याणि चोपलभ्यन्ते। वाग्वस्तुमेतद्वादमृषयो मन्यन्ते नाकाले मृत्युरस्तीति ॥ ३२ ॥

यदि अकालमृत्यु न होती तो हिताहित जाननेकी कोई आवश्यकता न रहती और प्रत्यक्ष तथा अनुमान एवम् आप्तोपदेश इन तीनों प्रमाणोंकी भी प्रमाणता नहीं रहेगी। तथा ऋषियोंके शास्त्रोंमें जो आयुष्य और अनायुष्यकर्त्ता प्रयोग आदि कथन किये गये हैं वह सब बकवादमात्र होजायंगे । इस लिये कालमृत्यु और अकालमृत्यु दोनों होती हैं ऐसा निश्चय है ॥ ३२ ॥

आयुका प्रमाण ।

वर्षशतं खलु आयुषः प्रमाणमस्मिन् काले तस्य निमित्तं प्रकृतिगुणात्मसम्पत्सात्म्योपसेवनञ्चेति ॥ ३३ ॥

वह कालमृत्यु और अकालमृत्यु इस प्रकार है कि, इस समय आयुका प्रमाण १०० वर्षका है उस सौवर्षकी आयु होनेका कारण मातापिताके रज वीर्यकी उत्तमता, प्रकृतिके गुण और आत्मकृत कर्मोंका उत्तम होना, सात्म्यका सेवन है अर्थात् इन सबके उत्तम होनेसे आयु सौ वर्षकी होती है। उस सौवर्षकी आयुको भोगकर मरनेको कालमृत्यु कहते हैं। इससे विपरीत अकालमृत्यु होती है॥ ३३॥

अध्यायका उपसंहार।

शरीरं यद्यथा तच्च वर्तते क्लिष्टमामयैः।
यथा क्लेशं विनाशञ्च याति ये चास्य धातवः॥ ३४॥
वृद्धिह्रासौ तथा चैषां क्षीणानामौषधञ्च यत्।
देहवृद्धिकरा भावा बलवृद्धिकराश्च ये॥ ३५॥
परिणामकरा भावा या च तेषां पृथक् क्रिया।
मलाख्याः सम्प्रसादाख्या धातवः प्रश्न एव च॥ ३६॥
नवको निर्णयश्चास्य विधिवत्सम्प्रकाशितः।
तथा शरीरविचये शारीरे परमार्षिणा॥ ३७॥

इति श्रीमच्चरकसंहितायां शारीरस्थाने शरीरविचयः शारीरः समाप्तः॥ ६॥

यहांपर श्लोक हैं कि इस शरीरविचयशारीर अध्यायमें शरीरका रूप तथा जो गर्भ जिस प्रकार जीता है जिस प्रकार रोगोंसे क्लेशित होता है, जिस प्रकार क्लेश तथा विनाशको प्राप्त होता है और इसके सम्पूर्णधातुओंकी वृद्धि और ह्रास, क्षीणधातुओंके बढानेकी औषधी, देहवृद्धि करनेवाले भाव तथा बलवृद्धि करनेवाले भाव, भोजनके परिणाम करनेवाले भाव और उनकी भिन्न २ क्रिया मलसंज्ञक धातुयें तथा प्रसादसंज्ञक धातुयें, नौ प्रश्न, उन प्रश्नोंका निर्णय यह सब महर्षि आत्रेयजीने वर्णन किया है॥ ३४-३७॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां शारीरस्थाने पटियालाराज्यांतर्गतटकसालनिवासिवैद्यपंचाननवैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायकृतप्रसादन्याख्यभाषाटीकायां शरीरविचयशारीरं नाम षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

सप्तमोऽध्यायः।

अथातः शरीरसंख्यानाम शारीराध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥

अब हम शरीरसंख्या नामक शारीराध्यायकी व्याख्या करते हैं इस प्रकार भगवान् आत्रेयजी कथन करने लगे ॥

शरीरसंख्यामवयवशः कृत्स्नं शरीरं प्रविभज्य सर्वशरीरसंख्याप्रमाण-ज्ञानहेतोर्भगवन्तमात्रेयमग्निवेशः पप्रच्छ ॥ १ ॥

सम्पूर्ण शरीरके अवयवोंके विभागसे सम्पूर्ण शरीरके अवयवोंकी संख्याको अग्निवेश आत्रेयजीसे पूछने लगे ॥ १ ॥

तमुवाच भगवानात्रेयः। शृणु मत्तोऽग्निवेश! सर्वं शरीरमभिचक्षाणा-द्यथाप्रश्नमेकमनाः ॥ २ ॥

भगवान् आत्रेयजी कथन करनेलगे कि हे अग्निवेश ! सम्पूर्ण शरीरके अवयवोंकी व्याख्या एकाग्रचित्त होकर मुझसे यथा प्रश्न श्रवण करो ॥ २ ॥

त्वचाके भेद।

यथावच्छरीरे षट् त्वचः। तद्यथा—उदकधरा त्वग्बाह्या, द्वितीया त्वगसृग्धरा, तृतीया सिध्मकिलाससम्भवाधिष्ठाना, चतुर्थी कुष्ठस-म्भवाधिष्ठाना, पञ्चमी अलजीविद्रधीसम्भवाधिष्ठाना, षष्ठी तु यस्यां छिन्नायां ताम्यत्यन्ध इव च तमः प्रविशति यां चाप्यधिष्ठायारूंषि जायन्ते पर्वसन्धिषु कृष्णरक्तानि स्थूलमूलानि दुश्चिकित्स्यतमानीति। षट् त्वच एताः षडङ्गं शरीरमवतत्य तिष्ठन्ति ॥ ३ ॥

यथावत् शरीरमें छः त्वचा होती हैं। वह इस प्रकार हैं। जैसे—पहिली उदकधरा त्वचा अर्थात् ऊपरवाली बाहरी त्वचा, दूसरी असृग्धरा, तीसरी त्वचा सिध्म (छीम) यह किलास रोगके उत्पन्न होनेका स्थान है, चौथी त्वचामें कुष्ठ आदि रोग उत्पन्न होते हैं, पांचवी त्वचामें अलजी, विद्रधी आदि रोग उत्पन्न होते हैं, छठी त्वचा वह है जिसके फटजानेसे मनुष्यको मूर्च्छा उत्पन्न होजाती है, नेत्रोंमें अंधकार आजाता है। इसीके आश्रयसे जोडोंकी संधियोंमें काला, तथा लालवर्णके अत्यंत दुश्चिकित्स्य व्रण प्रगट होते हैं। यह त्वचा षडंग शरीरको लपेटकर रहती है ॥ ३ ॥

शरीरके अंगविभाग ।

तत्रायं शरीरस्याङ्गविभागः । तद्यथा—द्वौ बाहू, द्वे सक्थिनी, शिरोग्रीवम्, अन्तराधिरिति षडङ्गमङ्गम् ॥ ४ ॥

यह शरीर छः अंगोंमें विभक्त है । जैसे—दो बाहें और दो सक्थि (टांगें) तथा एक गर्दनसहित शिर एवम् छठा मध्यभाग ॥ ४ ॥

शरीरकी हड्डियोंकी संख्या ।

त्रीणि षष्ट्यधिकानि शतान्यस्थ्नां सह दन्तोलूखलनखैस्तद्यथा—द्वात्रिंशद्दन्तोलूखलानि, द्वात्रिंशद्दन्ताः, विंशतिर्नखाः, विंशतिः पाणिपादशलाकाः, चत्वार्य्यधिष्ठानान्यासाम्, चत्वारि पाणिपादपृष्ठानि, षष्टिरंगुल्यस्थीनि, द्वे पार्ष्ण्योः, द्वे कूर्चयोः, चत्वारः पाण्योर्मणिकाः, चत्वारः पादयोर्गुल्फाः, चत्वार्य्यरत्न्योः, चत्वारि जङ्घयोः, द्वे जानुनोः, द्वे कूर्परयोः, द्वे ऊर्वोः, द्वे बाह्वोः सांसयोः, द्वावक्षकौ, द्वे तालूनि, द्वे श्रोणिफलके, एकं भगास्थि, पुंसां मेढ्रास्थि, एकं त्रिकसंश्रितम्, एकं गुदास्थि, पृष्ठगतानि पञ्चत्रिंशत्, पञ्चदशास्थीनि ग्रीवायां, द्वे जत्रुण्येकं हन्वस्थि, द्वे हनुमूलबन्धने, द्वे ललाटे, द्वे अक्ष्णोः, द्वे गण्डयोः, नासिकायां त्रीणि घोणाख्यानि, द्वयोः पार्श्वयोः, चतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिः पञ्जरास्थीनि च पार्श्वकानि । तावन्ति चैषां स्थालिकान्यर्बुदाकाराणि तानि द्विसप्ततिर्द्वौ शंखकौ, चत्वारि शिरःकपालानि, वक्षसि सप्तदशेति त्रीणि षष्ट्यधिकानि शतान्यस्थ्नामिति ॥ ५ ॥

दांतों और उलूखलों (जिसमें दांत जडे रहते हैं) सहित सम्पूर्ण शरीरमें तीनसौ साठ ३६० हड्डियें हैं । जैसे बत्तीस ३२ दांत ३२ बत्तीस उलूखल । २० बीस नख २० बीस हाथपावोंकी शलाका । ४ चार उन शलाकाओंके अधिष्ठान । ४ चार हाथ पावोंके पृष्ठस्थान । ६० साठ अंगुलियोंकी हड्डियें । २ पार्श्वणी । दो कूर्चके अधोभाग । दोनों हाथोंकी ४ चार मानिका । दोनों पैरोंके ४ चार गुल्फ । ४ चार अरत्नी । चार जंघाकी हड्डियें । २ दो जानुकी हड्डियें । २ दो कोहनीकी हड्डियें । दो २ ऊरूकी हड्डियें । २ दो बाहुकी हड्डियें । दो २ कन्धेकी हड्डियें । दो २ दोनों जत्रुसंधियोंमें अक्षक (कीलक) । दो २ तालुकी हड्डियें । दो २ श्रोणी फलक (दोनों चूतडोंके

ऊपरकी हड्डी)। १ एक भगकी हड्डी। १ पुरुषके लिंगकी हड्डी। एक १ त्रिकस्थानकी हड्डी। १ एक गुदाकी हड्डी। ३५ पैंतीस पीठकी हड्डियें। १५ पंद्रह गर्दनकी हड्डियें। २ दो जत्रुकी हड्डियें। १ एक ठोडीकी हड्डी। २ दो ठोडीके मूलबन्धकी। दो २ ललाटकी हड्डियें। दो २ नेत्रोंकी हड्डियें। दो गण्डस्थलकी हड्डियें। ३ तीन नासिकाकी हड्डियें। २४ चौबीस दोनों पार्श्वभागकी हड्डियें। २४ चौबीस दोनोंतरफ पंजरकी हड्डियें। चौबीस ही इनके अर्बुदाकार स्थालिक। २ दोनों संखोंकी हड्डियां। ४ चार कपालकी हड्डियां। १७ सत्रह वक्षस्थलकी हड्डियां इस प्रकार सब मिलकर संपूर्ण शरीरकी हड्डियें ३६० होती हैं ॥ ५ ॥

इंद्रियें और इंद्रियोंके अधिष्ठान आदि।

पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि। तद्यथा—त्वग्जिह्वा नासिकाक्षिणी कर्णौ च॥६॥

पांच इंद्रियोंके आधिष्ठान हैं जैसे—त्वचा, जिह्वा, नासिका, आंख, कान ॥ ६ ॥

पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि। तद्यथा-स्पर्शनं रसनं घ्राणं दर्शनं श्रोत्रमिति॥ ७ ॥

पांच बुद्धि इन्द्रियें अर्थात् ज्ञान इन्द्रिय होती हैं। जैसे—स्पर्शन, रसन, घ्राण, दर्शन और श्रोत्र इन्द्रिय ॥ ७ ॥

पञ्च कर्मेन्द्रियाणि। तद्यथा—हस्तौ पादौ पायुरुपस्थो जिह्वा चेति॥८॥

पांच कर्म इंद्रिय हैं जैसे--हाथ, पांव, पायु (गुदा), उपस्थ (भग या लिंग) और जिह्वा ॥ ८ ॥

हृदयं चेतनाधिष्ठानमेकम् ॥ ९ ॥

चेतनाका अधिष्ठान हृदय है ॥ ९ ॥

१० प्राणायतन और मर्म।

दश प्राणायतनानि। तद्यथा—मूर्द्धा कण्ठो हृदयं नाभिर्गुदबस्तिरोजः शुक्रं शोणितं मांसमिति। तेषु षट् पूर्वाणि मर्मसंख्यातानि ॥ १० ॥

दश प्राणायतन हैं। जैसे मस्तक, कण्ठ, हृदय, नाभि, गुदा, बस्ती, ओज, शुक्र, रुधिर और मांस। इन दश स्थानमें प्राण रहनेसे इनको प्राणायतन अर्थात् प्राणोंके रहनेके स्थान कहते हैं। इनमें कण्ठ, मस्तक, हृदय, नाभि, गुदा, बस्ति इन छओंको मर्मस्थान भी कहते हैं ॥ १० ॥

१५ कोष्ठ।

पञ्चदश कोष्ठाङ्गानि। तद्यथा—नाभिश्च, हृदयञ्च, क्लोम च, यकृच्च, प्लीहा च, वृक्कौ च, बस्तिश्च, पुरीषाधानञ्चामाशयश्चेति, पक्वाशयश्चोत्तरगुदश्चाधरगुदश्च, क्षुद्रान्त्रञ्च, स्थूलान्त्रञ्च, वपावहनञ्चेति ॥ ११ ॥

कोष्ठांग (कोठे) पन्द्रह हैं। जैसे–नाभि, हृदय, क्लोम, यकृत्, प्लीहा, वृक्क, वस्ती, मलाशय, आमाशय, पक्वाशय, उत्तरगुद, अधोगुद, क्षुद्रांत्र, स्थूलांत्र, वपावहन ॥ ११ ॥

प्रत्यङ्गोंके नाम।

षट्पञ्चाशत्प्रत्यङ्गानि षट्सु अङ्गेषु उपनिबद्धानि यान्यपरिसंख्या-तानि पूर्वमङ्गेषु परिसंख्यायमानेषु। तान्यन्यैः पर्य्यायैरिह प्रकाश्य व्या-ख्यातानि भवन्ति। तद्यथा–द्वे जङ्घापिण्डिके, द्वे ऊरुपिण्डिके, द्वौ स्फिचौ, द्वौ वृषणौ, एकं शेफः, द्वे उखे, द्वौ वंक्षणौ, द्वौ कुकुन्दरौ, एकं बस्तिशीर्षमेकमुदरम्, द्वौ स्तनौ, द्वौ भुजौ, द्वे बाहुपिण्डिके, चिबुक-मेकम्, द्वावोष्ठौ, द्वे सृक्कण्यौ, द्वौ दन्तवेष्टकौ, एकं तालु, एका गल-शुण्डिका, द्वे उपजिह्विके, एका गोजिह्विका, द्वौ गण्डौ, द्वे कर्णश-ष्कुलिके, द्वौ कर्णपत्रकौ, द्वे अक्षिकूटे, चत्वारि अक्षिवर्त्मानि, द्वे अक्षिकनीनिके, द्वे भ्रुवौ, एकमवटु, चत्वारि पाणिपादहृदयानि। नव महान्ति छिद्राणि सप्त शिरसि द्वे चाधः ॥ १२ ॥

छप्पन ५६ प्रत्यंग (उपांग) हैं। वह पूर्व कहेहुए छः अंगोंमें बंधे हैं जिनका पहिले छः अंगोंका कथन करते समय कथन नहीं कियागया था। अब उन छप्पन अंगोंका कथन करते हैं। जैसे–२ जंघाओंकी पिंडलियें। २ ऊरुस्थलकी पिंडलियें। २ स्फिक। २ वृषण। १ लिंग। १ आमाशय। १ ग्रहणी। २ वंक्षण। २ कुकुन्दर। १ वस्तिशीर्ष। १ उदर। २ स्तन। २ भुजा। २ कुहुनियां। १ ठोंडी। २ होठ। २ सृक्कणी। २ दंतवेष्ट। १ तालु। १ गलशुण्डिक। २ उपजिह्व। १ गोजिह्विका। २ गण्डस्थल। २ कर्णशष्कुलिका। २ कर्णपत्र। २ अक्षिकूट। ४ अक्षिवर्त्म। २ अक्षिकनीनिका। २ भौंहें। १ गर्दन। २ हथेली। २ तलवे। ९ महाछिद्र। उन नवोंमें सात छिद्र गर्दनसे ऊपर और दो नीचेके भागमें ॥ १२ ॥

अदृश्य अंगोंके नाम।

एतावद् दृश्यं, शक्यमपि निर्देष्टुम्। अनिर्देश्यमतःपरं तर्क्यमेव। तद्यथा–नव स्नायुशतानि, सप्त शिराशतानि, द्वे धमनीशते, पञ्च पेशीशतानि, सप्तोत्तरं मर्मशतम्, द्वे पुनः सन्धिशते ॥ १३ ॥

यह सब अंग दृश्य अर्थात् देखनेमें आते हैं और बहुतसे ऐसे अंग भी हैं जो अदृश्य हैं वह केवल तर्कद्वाराही जाने जासकते हैं। जैसे–नौसौ ९०० स्नायु, सात

सौ ७०० शिरा। दोसौ २०० धमनियां, पांचसौ ५०० पेशियां। एकसौ सात १०७ मर्म। दोसौ २०० संधियां होती हैं ॥ १३ ॥

त्रिंशच्छतसहस्राणि नव च शतानि षट् पञ्चाशत्सहस्राणि शिराधमनीनामणुशः प्रविभज्यमानानां मुखाग्रपरिमाणम्। तावन्ति चैव केशश्मश्रुलोमानीत्येतद्यथावद्यत्संख्यातम्। त्वक् प्रभृति दृश्यम्। अतः परं तर्क्यम् ॥ १४ ॥

इन शिरा और धमनियोंके सूक्ष्म विभाग करनेसे इनके मुखाग्रभागका परिमाण अर्थात् संख्या तीस लाख छप्पन हजार नौसो ३०५६९०० होती है। उतनेही केश, श्मश्रु और रोम होते हैं। इस प्रकार इनकी यथावत् संख्याका वर्णन किया गया है। त्वचा प्रभृति जो दीखनेमें आते हैं उनको दृश्य कहते हैं तथा अन्यको तर्क्य कहते हैं॥१४

एके तदुभयमपि न विकल्पयन्ते प्रकृतिभावाच्छरीरस्य। यत्त्वञ्जलिसंख्येयं तदुपदेक्ष्यामः। तत्परं प्रमाणमभिज्ञेयम् तच्च वृद्धिह्रासयोगितर्क्यमेव। तद्यथा—दशोदकस्याञ्जलयः शरीरे स्वेनाञ्जलिप्रमाणेन। यत्तु प्रच्यवमानं पुरीषमनुबध्नाति अतियोगेन। तथा मूत्रं रुधिरमन्यांश्च शरीरधातून्। यत्तु सर्वशरीरचरं बाह्यत्वग्बिभर्त्ति। यत्तु त्वगन्तरे व्रणगतं लसीकाशब्दं लभते यच्चोष्मणानुबद्धं लोमकूपेभ्यो निष्पतत्स्वेदशब्दमवाप्नोति तदुदकं दशाञ्जलिप्रमाणम् ॥ १५॥ नवाञ्जलयः पूर्वस्याहारपरिणामधातोर्यद्रसमित्याचक्षते। अष्टौ शोणितस्य। सप्त पुरीषस्य। षट् श्लेष्मणः। पञ्च पित्तस्य। चत्वारो मूत्रस्य। त्रयो वसायाः। द्वौ मेदसः। एको मज्ज्ञः। मस्तिष्कस्य अर्द्धाञ्जलिः। शुक्रस्य तावदेव प्रमाणम्। तावदेव श्लेष्मणश्चोजस इत्येतच्छरीरतत्त्वमुक्तम् ॥ १६ ॥

कोई कहते हैं कि, अंगोंका विभाग प्रत्यक्ष और अनुमानद्वारा दोनों प्रकार नहीं होसकता। वह शरीरके स्वभावसेही है। शरीरके धातुओंका अंजली द्वारा परिमाण कथन करते हैं। वह परिमाण प्रत्येक मनुष्यकी अपनी अंजलीपर निर्भर है। अत्यंत तीक्ष्ण विरेचन देनेसे जो जल विरेचन द्वारा पुरीषसे मिलकर निकल जाता है वह दश अंजली प्रमाण होता है। तथा जो जल मूत्र द्वारा, रुधिर द्वारा निकलता है एवम् संपूर्ण शरीरमें विचरण करनेवाला, त्वचाको पालन करनेवाला; जो त्वचामें व्रण होजानेसे लसीका कहाजाता है, जो गर्मीके आनेसे रोमकूपोंद्वारा निकलता है। यह सब

दश अंजली प्रमाण जल होता है। जो आहार किया जाता है उसका परिमाण धातु, रस नौ अंजली होता है। रक्त आठ अंजली होता है। पुरीष सात अंजली होता है। कफ छः अंजली होता है। पित्त पांच अंजली होता है। मूत्र चार अंजली होता है। वसा तीन अंजली होता है। दो अंजली मेद। एक अंजली मज्जा। आधी अंजली मस्तिष्क। आधी अंजली शुक्र। आधी अंजली श्लेष्मका ओज। इस प्रकार शरीरमें अंजलियोंका प्रमाण जानना ॥ १६ ॥

पार्थिव द्रव्योंका वर्णन।

तत्र यद्विशेषतः स्थूलं स्थिरं मूर्तिमद्गुरुखरकठिनमङ्गं नखास्थिदन्त-मांसचर्मवर्चःकेशश्मश्रुनखलोमकण्डरादि तत्पार्थिवं गन्धो घ्राणञ्च॥१७॥

उन सब अंगोंमें जो विशेषकरके स्थूल, स्थिर, मूर्त्तिमान्, भारी, खर, कठोर, अंग होता है तथा दांत, नख, हड्डी, मांस, चर्म, मल, केश, श्मश्रु, रोम और कण्डरा आदि पार्थिव अंग होते हैं तथा गंध और घ्राणेन्द्रिय भी पार्थिव अर्थात् पृथ्वीके अंग हैं ॥ १७ ॥

आप्यद्रव्योंके नाम।

यद्द्रवसरमन्दस्निग्धमृदुपिच्छिलरसरुधिरवसाकफपित्तमूत्रस्वेदादि तदाप्यं रसो रसनञ्च ॥ १८ ॥

जो विशेषरूपसे द्रव, सर, मंद, स्निग्ध, मृदु, पिच्छिल, अवयव हैं तथा रस, रुधिर, वसा, कफ, पित्त, मूत्र स्वेद आदिक जलके अंग हैं। एवम् रस और रसना भी जलके अंग हैं ॥ १८ ॥

आग्नेयद्रव्योंके नाम।

यत्पित्तमुष्मा च यो या च भाः शरीरे तत्सर्वमाग्नेयं रूपं दर्शनञ्च ॥ १९

शरीरमें पित्त, उष्णता, प्रकाश, पाचनशक्ति, रूप और दर्शनेन्द्रिय यह सब आग्नेय अर्थात् अग्निके अंग हैं ॥ १९ ॥

वायवीयद्रव्योंके नाम।

यदुच्छ्वासप्रश्वासोन्मेषनिमेषाकुञ्चनप्रसारणगमनप्रेरणधारणादि तद्वा-यवीयं स्पर्शः स्पर्शनञ्च ॥ २० ॥

उच्छ्वास, निःश्वास, प्राण, अपान, उन्मेष, निमेष, आकुञ्चन, प्रसारण, गमन, प्रेरण, धारण और स्पर्श तथा स्पर्शनेन्द्रिय यह सब वायवीय अर्थात् पवनके अंग हैं २०

आन्तरिक्षद्रव्योंके नाम।

यद्विविक्तमुच्यते महान्ति चाणूनि च स्रोतांसि तदान्तरिक्षं शब्दः श्रोत्रञ्च ॥ २१ ॥

शरीरके बडे छोटे सब छिद्र, स्रोत, शब्द और श्रोत्रइन्द्रिय यह सब आकाशके अंग हैं ॥ २१ ॥

यत्प्रयोक्तृ तत्तत्प्रधानम्, बुद्धिर्मनश्चेति शरीरावयवसंख्या यथास्थूलभेदेनावयवानां निर्दिष्टा ॥ २२ ॥

जो प्रयोग करनेवाला है उसको प्रयोक्ता कहते हैं । मन और बुद्धि प्रयोक्ता हैं इसलिये प्रधान हैं । इस प्रकार शरीरके अवयवोंकी संख्याका भेद, अवयवोंका स्थूल भेद वर्णन किया गया है ॥ २२ ॥

शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेनापरिसंख्येया भवन्त्यतिबहुत्वादतिसौक्ष्म्यादतीन्द्रियत्वाच्च । तेषां संयोगविभागे वायुः परमाणूनां कारणं कर्मस्वभावश्च । तदेतच्छरीरं संख्यातमनेकावयवं दृष्टमेकत्वेन सङ्गः संख्यातम् । पृथक्त्वेनापवर्गः । तत्र प्रधानमशक्तं सर्वसत्त्वातिवृत्तौ निवर्त्तते इति ॥ २३ ॥

परमाणु भेदसे शरीरके अवयव असंख्य होते हैं. क्योंकि,वह भेद अत्यन्त अधिक अत्यन्त सूक्ष्म और अतीन्द्रिय होते हैं। उन परमाणुओंके संयोग विभागमें वायु कर्म और स्वभावही कारण होता है । इस प्रकार शरीरकी संख्याका वर्णन किया-गया । उन अनेक अवयवोंसे बनाहुआ यह शरीर एक दिखाई देता है और यह कर्माधीन मोहवश एकत्वके संगको प्राप्त हुवा है । इन सब भावोंके पृथक् २ विचारनेसे और असंगसे मोक्ष प्राप्त होता है। सम्पूर्ण अवयवोंमें यथोचित दृष्टि देनेसे ज्ञान उत्पन्न होकर सम्पूर्ण भावोंकी निवृत्ति होजाती है ॥ २३ ॥

अध्यायका उपसंहार ।

शरीरसंख्यां यो वेद सर्वावयवशो भिषक् ।
तदज्ञाननिमित्तेन स मोहेन न युज्यते ॥ २४ ॥
अमूढो मोहमूलैश्च न दोषैरभिभूयते ।
निर्दोषो निःस्पृहः शान्तः प्रशाम्यत्यपुनर्भवः ॥ २५ ॥

इति चरकसं० शारीर० शरीरसंख्यः शारीरः समाप्तः ॥ ७ ॥

यहांपर अध्यायके उपसंहारमें श्लोक हैं । जो वैद्य सम्पूर्ण अवयवोंसे शरीरकी संख्याको जान लेता है वह अज्ञाननिमित्तक मोहसे युक्त नहीं होता । वह बुद्धिमान्

मूढतारहित मोहमूलक दोषोंसे दूषित नहीं होसकता तथा निर्दोष निःस्पृह और शान्तिको प्राप्त होकर मोक्षको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥ २९ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां शारीरस्थाने पटियालाराज्यान्तर्गतटकसाल-निवासिवैद्यपञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्य-भाषाटीकायां शरीरसंख्याशारीरं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः ।

अथातो जातिसूत्रीयं शारीरं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम जातिसूत्रीय शारीरकी व्याख्या करते हैं इस प्रकार भगवान् आत्रेयजी कथन करने लगे ॥

उत्तम सन्तान होनेका उपाय ।

स्त्रीपुरुषयोरव्यापन्नशुक्रशोणितयोनिगर्भाशययोः श्रेयसीं प्रजामि-च्छतोस्तन्निर्वृत्तिकरं कर्मोपदेक्ष्यामः ॥ १ ॥

स्त्री और पुरुषका रज, वीर्य, योनि और गर्भाशय निर्दोष होनेपर उत्तम संतान उत्पन्न करनेकी इच्छावाले स्त्री-पुरुषोंको जो कर्म करना चाहिये उसका वर्णन करते हैं ॥ १ ॥

अथाप्येतौ स्त्रीपुरुषौ स्नेहस्वेदाभ्यामुपपाद्य वमनविरेचनाभ्यां संशोध्य क्रमात्प्रकृतिमापादयेत् । संशुद्धौ चास्थापनानुवासनाभ्या-मुपाचरेदुपाचरेच्च मधुरौषधसंस्कृताभ्यां घृतक्षीराभ्यां पुरुषम्, स्त्रियन्तु तैलमांसाभ्याम् ॥ २ ॥

प्रथम स्त्री और पुरुष स्नेहन स्वेदनसे शरीरको नरम बनाकर क्रमपूर्वक वमन, विरे-चन द्वारा संशोधनकर शरीरको उत्तम बनावे और दोषादिकोंसे शुद्ध शरीर होनेपर मधुर द्रव्योंसे और घृत दूधसे पुरुषको आस्थापन और अनुवासन करे । स्त्रीको तैल और मांसरससे अनुवासन करे ॥ २ ॥

स्त्रीपुरुषका कर्त्तव्य कर्म ।

ततः पुष्पात् प्रभृति त्रिरात्रमासीद्ब्रह्मचारिण्यधःशायिनी पाणि-भ्यामन्नमजर्जरपात्रे भुञ्जाना न च काञ्चिदेव मृजामापद्येत ॥ ३ ॥

इनके अनन्तर जब स्त्री ऋतुमती हो तो जिस समयसे रजोदर्शन हो उसी समयसे तीन रात्रितक ब्रह्मचर्य्यमें स्थित रहे और पृथ्वीमें शयन करे, पुराने बर्तन अथवा मट्टीके पात्रमें या हाथोंपर लेकर भोजन किया करे किसीसे स्पर्श न करे और किसी प्रकारका भी अहित कार्य न करे ॥ ३ ॥

ततश्चतुर्थेऽहन्येनामुत्साद्य सशिरस्कं स्नापयित्वा शुक्लानि वासांस्याच्छादयेत्पुरुषञ्च ॥ ४ ॥

इसके अनन्तर चौथे दिन शरीरमें तेलकी मालिशकर उबटन लगा शिरसहित स्नान करे। स्वच्छ सुन्दर वस्त्र तथा फूलमाला आदि धारण करे। और पुरुषकोभी स्नान करा गंधादि लेपन करा, श्वेत स्वच्छ वस्त्रोंको धारण करावे ॥ ४ ॥

ततः शुक्लवाससौ च स्रग्विणौ सुमनसावन्योन्यमभिकामौ संवसेतामिति ब्रूयात् ॥ ५ ॥

फिर वैद्य इन दोनों शुद्ध पवित्र वस्त्र धारण किये हुए, फूलमालासे विभूषित शुद्धमनवाले, परस्पर सहवासकी इच्छावाले स्त्री पुरुषोंसे कहे कि, तुम दोनों संतानकी कामनासे जाकर सहवास करो ॥ ५ ॥

स्त्रीसहवास करनेके दिन।

स्नानात् प्रभृति युग्मेष्वहःसु संवसेतां पुत्रकामौ, तौ चायुग्मेषु दुहितृकामौ ॥ ६ ॥

स्नानके दिनसे अर्थात् चौथेदिनके उपरान्त युग्म (६,८,१०,१२,१४) रात्रियोंमें पुत्रकी कामनासे सहवास करे। अर्थात् इन रात्रियोंमें गमन करनेसे पुत्र उत्पन्न होता है। और अयुग्म अर्थात् (५, ७, ९, ११, १३, १५,) इन रात्रियोंमें गमन करनेसे कन्या उत्पन्न होती है ॥ ६ ॥

सहवासकी विधि।

न च न्युब्जां पार्श्वगतां वा संसेवेत। न्युब्जाया वातो बलवान्, स योनिं पीडयति। पार्श्वगताया दक्षिणे पार्श्वे श्लेष्मा स च्युतः पिदधाति गर्भाशयम्। वामे पार्श्वे पित्तं तदस्यां पीडितं विदहति रक्तं शुक्रं च, तस्मादुत्ताना बीजं गृह्णीयात्। तस्या हि यथास्थानमवतिष्ठन्ते दोषाः पर्य्याप्ते चैनां शीतोदकेन परिषिञ्चेत् ॥ ७ ॥

स्त्री औंधी लेटकर अथवा वामे दहिने करवट लेकर सहवास न करे। क्योंकि औंधी होनेसे बलवान् वायु योनिको पीडित करताहै। दहिने पंसवाडे करवट लेकर

सहवास करनेसे कफ टपककर गर्भाशयको आच्छादन कर देताहै । और बायीं करवट लेकर सहवास करनेसे पीडितहुआ पित्त रज और शुक्रको दूषित कर देता है इस लिये सीधी उत्तान लेटकर पुरुषके वीर्यको ग्रहण करे। ऐसा होनेसे सम्पूर्ण दोष अपने २ स्थानोंमें स्थिर रहते हैं । गर्भ ग्रहण करनेके एक प्रहर बाद शीतलजलसे अपने नेत्रों, मुख तथा योनिको धोवे ॥ ७ ॥

गर्भधारणके अयोग्य स्त्री।

तत्रात्यशिता क्षुधिता पिपासिता भीता विमनाः शोकार्त्ता क्रुद्धा चान्यञ्च पुमांसमिच्छन्ती मैथुने चातिकामा वा नारी गर्भं न धत्ते विगुणां वा प्रजां जनयति ॥ ८ ॥

गर्भाधानमें इस प्रकारकी स्त्री निषिद्ध होती है । जिसने अधिक भोजन किया हो अथवा भूखी, तृषातुर, भयभीत, जिसका चित्त मैथुनमें न हो या अन्यप्रकारसे मन बिगडा हो, शोक अथवा क्रोधवाली, दूसरे पुरुषकी इच्छा रखनेवाली एवम् जो मैथुनसे तृप्तही न होतीहो, ऐसी स्त्रियें गर्भको धारण नहीं करतीं । अर्थात् इनको गर्भ नहीं रहता यदि रहे भी तो कुरूप और विगुण संतान उत्पन्न होती है ॥ ८ ॥

अतिबालामतिवृद्धां दीर्घरोगिणीमन्येन वा विकारेणोपसृष्टां वर्जयेत् ९॥

अत्यन्त छोटी अवस्थाकी, अत्यन्त वृद्धा, जो दीर्घ कालसे रोगपीडित हो अथवा और किसी विकारसे युक्त हो ऐसी स्त्री मैथुनमें त्याज्य है ॥ ९ ॥

पुरुषेऽप्येत एव दोषाः । अतः सर्वदोषवर्जितौ स्त्रीपुरुषौ संसृज्येयाताम् ॥ १० ॥

पुरुषमें भी यदि इसी प्रकार कोई दोष हो तो उसको भी मैथुनमें त्याज्य जानना इसलिये सम्पूर्ण दोषोंसे रहित स्त्रीपुरुषोंको संतानकी कामनासे मैथुन करना चाहिये ॥ १० ॥

स्त्रीगमनविधि।

सञ्जातहर्षौ मैथुने चानुकूलाविष्टगन्धं सास्तीर्णं सुखं शयनमुपकल्प्य मनोज्ञं हितमशनमशित्वा दक्षिणपादेन पुमान्वामपादेन स्त्री चारोहेत। तत्र मंत्रं प्रयुञ्जीत"अहिरसि आयुरसि सर्वतः प्रतिष्ठासि धाता त्वादधातु विधाता त्वादधातु ब्रह्मवर्चसा भवेदिति। ब्रह्मा बृहस्प-

तिर्विष्णुः सोमः सूर्य्यस्तथाश्विनौ। भगोऽथ मित्रावरुणौ पुत्रं वीरं दधातु मे" इत्युक्त्वा संवसेताम् ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

स्त्री और पुरुष हर्षसहित मैथुनाभिलाषी प्रीतिपूर्वक दोनों सुन्दर सुसज्जित ऐसी शय्यापर जिसमें तकिया, स्वच्छ चद्दर, तथा गद्दा बिछा हो मनको प्यारी लगनेवाली हो ऐसी शय्यापर पुरुष दाहिने पांवसे और स्त्री पहिले वामपांवसे आरोहित होवें। इन स्त्री पुरुषोंके उस दिन हित भोजन करना चाहिये। फिर उस शय्यापर दोनों बैठकर इस मन्त्रको पढे "अहिरसि आयुरसि सर्वतः प्रतिष्ठासि" आदि "पुत्रं वीरं दधातु मे" पर्यन्त। ऊपरके मूलमें लिखेहुए मंत्रको पढकर शयन करे ॥ ११-१३ ॥

उत्तम पुत्र उत्पन्न करनेकी विधि।

सा चेदेवमासीत बृहन्तमवदातं हर्य्यक्षमोजस्विनं शुचिं सत्त्वसम्पन्नं पुत्रमिच्छेयमिति। शुद्धस्नानात् प्रभृत्यस्यै मन्थमवदातं यवानां मधुसर्पिर्भ्यां संसृज्य श्वेताया गोः सरूपवत्सायाः पयसालोड्य राजते कांस्ये वा पात्रे काले काले सप्ताहं सततं प्रयच्छेत्पानाय। प्रातश्च शालियवान्नविकारान्दधिमधुसर्पिर्भिः पयोभिर्वा संसृज्य भुञ्जीत ॥ १४ ॥

यदि उस स्त्रीको गौरवर्ण, सिंहके समान पराक्रमी, तेजस्वी, पवित्र, सत्त्वसंपन्न पुत्र उत्पन्न करनेकी इच्छा हो तो ऋतुस्नानसे शुद्ध होकर यवके सत्तुओंका मंथ बना, मधु घृतयुक्तकर, सफेदरंगके बछडेवाली सफेद गौके दूधके साथ चांदी या कांसेके पात्रमें घोलकर नित्यप्रति प्रातःकाल सात रोजतक पीया करे और भोजन भी शालिचावल, यवके मैदेसे बनाहुआ पदार्थ, दही, मधु, घृत, दूध इन सबको मिलाकर खाया करे ॥ १४ ॥

तथा सायमवदातशरणशयनासनयानवसनभूषणवेषा च स्यात् ॥ १५ ॥

फिर सायंकालमें सुन्दर सुसज्जित घरमें उत्तम शय्या, आसन आदिपर आराम करे एवम् उत्तम वस्त्र, भूषण और वेषको धारण करे ॥ १५ ॥

सायं प्रातश्च शश्वत् श्वेतं महान्तं ऋषभम् आजानेयं हरिचन्दनाङ्कितं पश्येत। सौम्याभिश्चैनां कथाभिर्मनोऽनुकूलाभिरुपासीत। सौम्याकृतिवचनोपचारचेष्टांश्च स्त्रीपुरुषानितरानपि चेन्द्रियार्थानवदातान् पश्येत्। सहचर्य्यश्चैनां प्रियहिताभ्यां सततमुपचरेयुः। तथा भर्त्ता। न च मिश्रीभावमापद्येयाताम् ॥ १६ ॥

तथा सायंकाल और प्रातःकाल नित्य सफेदवर्णके बडे भारी बैलको और पीले चन्दनसे चार्चितहुए उत्तम सफेद घोडेको देखा करे। और उस स्त्रीके चित्तको सुन्दर मनोहर, पवित्र वचन, उपचार, चेष्टा आदिसे प्रसन्न रक्खे तथा पुरुषको भी ऐसाही आचरण रहना चाहिये।एवं इन दोनोंको सुन्दर दैवी वस्तुओंका दर्शन कराना चाहिये। इस स्त्रीके समीप रहनेवाली उत्तम सहचारिणी स्त्रियें उसको हित और प्रिय आचरणसे सेवा करती रहें। और इन सात दिनोंमें उस स्त्रीका पति भी उत्तम आचारोंका सेवन करे परन्तु यह दोनों आपसमें सहवास न करें ॥ १६ ॥

इत्यनेन विधिना सप्तरात्रं स्थित्वाष्टमेऽहन्याप्लुत्याद्भिः सशिरस्कं सह भर्त्रा चाहतानि वस्त्राणि आच्छादयेदवदातानि अवदाताश्च स्रजो भूषणानि बिभृयात् ॥ १७ ॥

इस विधिसे सात रात्रि व्यतीत होनेके अनन्तर आठवें दिन प्रातःकाल शिरसहित स्नानकर यह दोनों स्त्री पुरुष पवित्र सुन्दर नवीन वस्त्रोंको धारण कर उत्तम भूषण और सुन्दर फूलोंकी मालाओंको धारण करें ॥ १७ ॥

उत्तम पुत्रके लिये हवन विधि।

तत ऋत्विक्प्रागुत्तरस्यां दिशि अगारस्य प्राक्प्रवणमुदक्प्रवणं वा प्रदेशमभिसमीक्ष्य गोमयोदकाभ्यां स्थण्डिलमुपसंलिप्य प्रोक्ष्य चोदकेन वेदिमस्मिन्स्थापयेत्। तां पश्चिमेनाहतवस्त्रसञ्चये श्वेतार्षभे वाप्यजिन उपविशेद्ब्राह्मणप्रयुक्तः, राजन्यप्रयुक्तस्तु वैयाघ्रे चर्मण्यानडुहे वा, वैश्यप्रयुक्तस्तु रौरवे बास्ते वा। तत्रोपविष्टः पालाशीभिरैङ्गुदीभिरौदुम्बरीभिर्माधूकीभिर्वा समिद्भिरग्निमुपसमाधाय कुशैः परिस्तीर्य्य परिधिभिश्च परिधाय लाजैः शुक्लाभिश्च गन्धवतीभिः सुमनोभिरुपकिरेत्। तत्र प्रणीतोदपात्रं पवित्रं पूतमुपसंस्कृत्य सर्पिराज्यार्थं यथोक्तवर्णानाजानेयादीन्समन्ततः स्थापयेत् ॥ १८ ॥

फिर ऋत्विज (यज्ञ करानेवाला पुरोहित) पूर्वकी दिशामें अथवा उत्तरकी दिशामें या घरसे जिस ओर जल पूर्व या उत्तरको ढलताहो उस स्थानमें गोबरसे लीपकर वेदीको बनावे। उस वेदीको जलसे छिडककर ग्रहादिकोंको यथास्थान स्थापित करे। फिर उस स्त्रीको वेदीसे पश्चिमकी ओर शुद्ध बिछेहुए वस्त्रके ऊपर या सफेद वृषभके अजिनके ऊपर अथवा मृगछालापर बिठावे। ब्राह्मण हो तो इस विधिसे बिठावे,

क्षत्री हो तो व्याघ्रके चर्मपर, वैश्य होय तो रुरु मृगके चर्मपर अथवा बकरेके चर्मपर विठावे । फिर पलाश, इंगुदी, औदुम्बर महुआ आदिकी समिधोंसे अग्निको स्थापन करे और कुशकण्डी कर्म विधिसे कुशाको विस्तीर्ण करे । फिर वेदीकी परिधि स्थापन होनेके अनन्तर सफेद धानकी खील, सफेद सुगंधित फूलोंसे स्वस्तिवाचनपूर्वक वेदीको सुशोभित करे एवम् प्रणीतापात्र, उदकपात्र, पवित्रा, पवित्र, घृतपात्र तथा पुत्रेष्टी यज्ञविधिसे वरण आदि संपूर्ण सामग्रीको विधिवत् स्थापन करे १८

ततः पुत्रकामा पश्चिमतोऽग्निं दक्षिणतो ब्राह्मणमुपवेश्य अन्वालभेत सह भर्त्रा यथेष्टं पुत्रमाशासाना । ततः तस्या आशासानाया ऋत्विक् प्रजापतिमभिनिर्दिश्य योनौ तस्याः कामपरिपूरणार्थं काम्यामिष्टिं निर्वपेद्विष्णुर्योनिं कल्पयत्वित्यन्वयार्चा । ततश्चैवाज्येन स्थालीपाकमभिसंसार्य्य त्रिर्जुहुयात् । यथाम्नायश्चोपमन्त्रितमुदकपात्रं तस्यै दद्यात् सर्वोदकार्थान्कुरुष्वेति ॥ १९ ॥

इसके अनन्तर इस पुत्रकी कामनावाली स्त्रीको अग्निसे पश्चिमकी ओर और ब्रह्माको अग्निसे दक्षिण ओर स्थापन करे । और उस स्त्रीके भर्त्ताको यथेष्ट पुत्रके उत्पन्न होनेकी इच्छासे इसके पास बैठावे । फिर आचार्य प्रजापतिके उद्देशसे अथवा " प्रजापति " आदि मन्त्रका निर्देशकर उस स्त्रीके पतिका हाथ स्त्रीकी योनिसे स्पर्श कराकर " विष्णुर्योनिं कल्पयतु " इसको पढतेहुए पुत्रेष्टी यज्ञ करावे और घृतके साथ चरु मिलाकर स्थालीपाक बनाकर तीनवार हवन करावे । फिर वेदोक्त मन्त्रोंसे उपमंत्रित किया हुआ जलपूर्ण कलश उस स्त्रीको देवे । और यह कहे कि संपूर्ण जलके कार्य इस जलसे करना ॥ १९ ॥

यज्ञके अन्तमें कर्म ।

ततः समाप्ते कर्मणि पूर्वं दक्षिणपादमभिहरन्ती प्रदक्षिणमग्निमनुपरिक्रामेत् सह भर्त्रा। ततो ब्राह्मणान्स्वस्तिवाचयित्वा सह भर्त्राऽऽज्यशेषं प्राश्नीयात् । पूर्वं पुमान्पश्चात्स्त्री । न च उच्छिष्टमवशेषयेत् । ततस्तौ सह संवसेतामष्टरात्रम् । तथाविधपरिच्छदावेव च स्याताम् । तथेष्टपुत्रं जनयेताम् ॥ २० ॥

फिर इस कर्मके समाप्त होनेके अनन्तर पहिले दक्षिण पावोंको आगे रखती हुई अग्निकी क्रमपूर्वक प्रदक्षिणा करे । फिर ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर यज्ञसे बचेहुए घृतको और स्थालीपाक चरुको पतिसहित स्त्री भक्षण करे अर्थात् पहिले उसको

पति भक्षण करे फिर स्त्री भक्षण करे परन्तु उसमेंसे बाकी जूठा न छोडे। फिर वह इस आठवीं रात्रिमें पूर्वोक्त उत्तम शय्यापर पूर्वोक्त विधिसे सहवास करावे। इस प्रकार करनेसे इच्छानुरूप पुत्र उत्पन्न होता है ॥ २० ॥

या तु स्त्री श्यामं लोहिताक्षं व्यूढोरस्कं महाबाहुं पुत्रमाशासीत। या वा कृष्णं कृष्णमृदुदीर्घकेशं शुक्लाक्षं शुक्लदन्तं तेजस्विनमात्मवन्तम्। एष एवानयोरपि होमविधिः। किन्तु परिबर्हो वर्णवर्ज्यं स्यात् पुत्रवर्णानुरूपस्तु यथाशीरेव तयोः परिबर्होऽन्यः कार्य्यः स्यात् ॥ २१ ॥

जिस स्त्रीको लालनेत्र, श्यामवर्ण, बडे २ कन्धे, विशाल छाती और महाबाहु पुत्रके उत्पन्न करनेकी इच्छा हो अथवा कृष्णवर्ण नम्र, दीर्घ कालेकेशोंवाले श्वेत नेत्रोंवाले, श्वेत दन्तपंक्तीवाले, तेजस्वी, ज्ञानसंपन्न पुत्र उत्पन्न करनेकी इच्छा हो तो इन दोनों स्त्री पुरुषोंको उपरोक्त विधिसे यज्ञ करना चाहिये। परन्तु श्वेतवस्त्र और श्वेतचर्म आदिकोंको त्यागकर जैसा पुत्र उत्पन्न करना हो उसीके अनुरूप भोजन, परिवर्धन, होम आदि करना चाहिये ॥ २१ ॥

द्विजेभ्यः शूद्रा तु नमस्कारमेव कुर्य्याद्देवगुरुतपस्विसिद्धेभ्यश्च ॥ २२ ॥

शूद्रकी स्त्रीको वेदोक्त मंत्रोंसे यज्ञ करनेका निषेध है इस लिये वह देवता गुरु तपस्वी सिद्ध और ब्राह्मणोंको नमस्कारपूर्वक पुत्रेष्टिको करे ॥ २२ ॥

या या च यथाविधं पुत्रमाशासीत तस्यास्तस्यास्तां तां पुत्राशिषमनुनिशम्य तांस्ताञ्जनपदानां मनुष्याणामनुरूपं पुत्रमाशासीत। सा सा तेषां तेषां जनपदानामाहारविहारोपचारपरिच्छदाननुविधायस्वेति वाच्या स्यात्। इत्येतत्सर्वं पुत्राशिषां समृद्धिकरं कर्म व्याख्यातं भवति ॥ २३ ॥

जो जो स्त्री पुरुष जैसे जैसे पुत्रोंको उत्पन्न करनेकी इच्छा करतेहों उसी उसी प्रकार ब्राह्मणोंके आशीर्वादोंको श्रवण करें तथा तदनुरूप मनसे स्मरण करें और जिस २ देशके मनुष्योंके जैसे पराक्रमी पुत्रोंको उत्पन्न करना चाहे वैसे २ देश, आहार, विहार, उपचर्या, वस्त्र, शय्या आदिकोंका सेवन करे। ऐसा करनेसे उनकी इच्छानुसार संतान उत्पन्न होती है इस प्रकार इच्छानुरूप पुत्रके उत्पन्न करनेकी शिक्षा और समृद्धिका करनेवाला कर्म कथन कियाजाता है ॥ २३ ॥

न तु खलु केवलमेतदेव कर्म वर्णानां वैशेष्यकरमपि तु तेजोधातु-

रप्युदकान्तरिक्षधातुप्रायोऽवदातवर्णकरो भवति । पृथिवीवायुधातुप्रायः। कृष्णवर्णकरः समसर्वधातुप्रायः श्यामवर्णकरः॥ २४ ॥

स्त्रीकी इच्छानुरूप पुत्रका वर्ण रूप होनेमें केवल इतनाही नहीं किन्तु और भी ऐसे भाव होते हैं जो पुत्रके श्याम गौर आदि वर्णको उत्पन्न करते हैं जैसे-तेजधातु और उदकधातु तथा अंतरिक्षधातु अधिक होनेसे गौरवर्ण होता है । पृथ्वी और वायु धातु अधिक होनेसे कृष्णवर्ण होता है । सब धातुएँ समान होनेसे श्यामवर्ण होता है ॥ २४ ॥

सत्त्वभेदका कारण ।

सत्त्ववैशेष्यकराणि पुनस्तेषां तेषां प्राणिनां मातापितृसत्त्वान्यन्तर्वत्न्याः श्रुतयश्चाभीक्ष्णं स्वोपचितञ्च कर्मसत्त्वविशेषाभ्यासश्चेति॥२५॥

अब गर्भके मनके विषयमें श्रवण करो जैसे माता और पिताका गर्भाधानके समय जैसा मन होता है वैसाही संतानका भी मन होता है । तथा गर्भवती स्त्री जिस प्रकारके नित्यप्रति कथा आदि श्रवण किया करे और जिस प्रकारके कर्मोंमें चित्त लगाय रक्खे प्रायः गर्भका मन उसी प्रकारका होता है ॥ २५ ॥

यथोक्तेन विधिनोपसंस्कृतशरीरयोः स्त्रीपुरुषयोस्तु मिश्रीभावमापन्नयोः शुक्रं शोणितेन सह संयोगं समेत्याव्यापन्नमव्यापन्नेन योनावनुपहतायामप्रदुष्टे गर्भाशये गर्भमभिनिर्वर्त्तयति एकान्तेन । यथा निर्मले वाससि सुपरिकल्पते रञ्जनं समुदितगुणमुपनिपातादेव रागमभिनिर्वर्त्तयति तद्वत् । यथा वा क्षीरं दध्नाभियुतमभिषवणाद्विहाय स्वभावमापद्यते दधिभावम्, शुक्रं तद्वत् ॥ २६ ॥

पूर्वोक्त विधिसे संस्कार कियेहुए शरीरोंवाले स्त्रीपुरुषोंका जब विधिवत् आपसमें संयोग होता है तब दोषरहित पुरुषके वीर्य और स्त्रीके रजका संयोग होकर गर्भ उत्पन्न होजाता है । यदि योनिमें किसी प्रकारका विकार न हो और गर्भाशय शुद्ध हो एवम् रज वीर्य भी निर्दोष हों तो अवश्यही स्त्री गर्भको धारण कर लेती है। जैसे निर्मल वस्तुमें जिस प्रकारका रंग चढाना चाहते हो उसी प्रकारका रंग वस्तुको रंगमें डालतेही चढजाता है । उसी प्रकार शुद्ध शुक्र और रजके संयोगसे गर्भाशय झट गर्भको धारण कर लेता है । जैसे दूध दहीके साथ मिलजानेसे अपने स्वभावको छोड दहीके अनुरूप होजाता है उसी प्रकार वीर्य भी शुद्ध रजके संयोगसे गर्भाशयमें प्राप्त हो गर्भको प्रगट कर देता है ॥ २६ ॥

एवमभिनिर्वर्त्तमानस्य गर्भस्य तु स्त्रीपुरुषत्वे हेतुः पूर्वमुक्तः ॥ २७ ॥

इस प्रकार गर्भके उत्पन्न करनेमें जिस प्रकारके स्त्रीपुरुष होने चाहिये सो पहिले कथन कर चुके हैं ॥ २७ ॥

यथा हि बीजमनुपतप्तमुप्तं स्वां स्वां प्रकृतिमनुविधीयते व्रीहिर्वा व्रीहित्वं यवो वा यवत्वं तथा स्त्रीपुरुषावपि यथोक्तं हेतुविभागमनुविधीयते ॥ २८ ॥

जैसे जो २ बीज बोया जाय वह अपनी अपनी प्रकृतिके अनुरूप उत्पन्न होता है। जैसे–धानका बीज धानको उत्पन्न करता है। यवसे यव उत्पन्न होता है वैसे ही स्त्री पुरुष भी अपने हेतु विभाग (अर्थात् अधिक रक्तसे स्त्री, वीर्य्याधिक्यसे पुरुष)का ही अनुसरण करते हैं ॥ २८ ॥

तयोः कर्मणा वेदोक्तेन विवर्त्तनमुपादिश्यते प्राग्व्यक्तीभावात् प्रयुक्तेन सम्यक् ॥ २९ ॥

गर्भके व्यक्त होनेसे पहले अच्छी प्रकार वेदविहित कर्मके प्रयोगसे गर्भके स्त्रीमें पुंस्त्व और पुंस्त्वमें स्त्रीत्वका परिवर्त्तन होना संभव है ॥ २९ ॥

कर्मणां हि देशकालसम्पदुपेतानां नियतमिष्टफलत्वम्। तथेतरेषामितरत्वम्। तस्मादापन्नगर्भां स्त्रियमभिसमीक्ष्य प्राग्व्यक्तीभावाद्गर्भस्य पुंसवनमस्यै दद्यात् ॥ ३० ॥

जो कर्म जैसे देश, जैसे समयमें जैसी सामग्रीसे विधिवत् किया जाता है उसका वैसा फल होताहै इसलिये जो कर्म उत्तम रीतिसे उत्तम सामग्रीद्वारा उत्तम समयपर कियाजाता है उसका उत्तम फल प्राप्त होता है तथा इसके विपरीत करनेसे उसका अनिष्ट फल प्राप्त होता है। अतएव गर्भवती स्त्रीको (दूसरे महीनेमें) गर्भके व्यक्त होनेसे पहले पुंसवन कर्म करना चाहिये ॥ ३० ॥

पुंसवनविधि।

गोष्ठे जातस्य न्यग्रोधस्य प्रागुत्तराभ्यां शाखाभ्यां शुङ्गेऽनुपहते आदाय द्वाभ्यां धान्यमाषाभ्यां सम्पदुपेताभ्यां गौरसर्षपाभ्यां वा सह दध्नि प्रक्षिप्य पुष्ये ऋक्षे पिबेत् ॥ ३१ ॥

गौओंके विश्राम करनेकी जगहके वटवृक्षोंका जो टहना पूर्व और उत्तरकी ओर हो उसमेंसे निर्दोष उत्तम दो शृंग (अंकुर या कली) तोडलावे और दो स्वच्छ मोटे

चावल तथा दो उडद उन दोनों अंकुरोंमें मिलाकर अथवा दो सफेद सरसोंके दाने मिलाकर दहीमें मिलाकर वह गर्भवती स्त्री पुष्यनक्षत्रमें पीवे ॥ ३१ ॥

तथैव अपराजीवकर्षभकापामार्गसहचरकल्कांश्च युगपदेकैकशो यथेष्टं वाप्युपसंस्कृत्य पयसा ॥ ३२ ॥ कुडयकीटकं मत्स्यकञ्चोदकाञ्जलौ प्रक्षिप्य पुष्येण पिबेत् ॥ ३३ ॥

अथवा जीवक, ऋषभक, सफेद अपामार्ग, सफेद सहचर इन सबका कल्क बना अथवा इनमेंसे किसी एकका कल्क बनाकर गौके दूधके संग पुष्यनक्षत्रमें पान करे। अथवा कुडयकीट (दीवारमें होनेवाला धन्वी कीट विशेष) उसको अथवा छोटीसी मछलीको पुष्यनक्षत्रमें एक अंजली जलके साथ पीवे ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

तथा कनकमयान् राजतानायसांश्च पुरुषकानग्निवर्णाननुप्रमाणान् दध्नि पयसि उदकाञ्जलौ वा प्रक्षिप्य पिबेदनवशेषतः पुष्येण ॥ ३४ ॥

अथवा सुवर्ण, चांदी या लोहेको उत्तम भस्म लेकर अपने अग्निवर्णके समान सूक्ष्म मात्रासे दही अथवा दूध या एक अंजली जलके साथ पुष्यनक्षत्रमें पीवे। (वाग्भटने लिखा है कि, सोने चांदी अथवा लोहेका एक छोटासा पुरुष बना उसको अग्निमें तपा एक अंजली जलमें अथवा दूध या दहीमें बुझाकर उस जल वा दूध दहीको पीवे) ॥ ३४ ॥

पुष्योद्धृतलक्ष्मणामूलस्य पयसा पुत्रकामोऽस्य दक्षिणे नासापुटे कन्याकामस्य वामनासापुटे सिञ्चेत् । एवं श्वेतकण्टकार्या रससिञ्च-नेन पुत्रावाप्तिः । पुष्येणैव च पिष्टस्य पच्यमानस्योष्माणमुपघ्राय तस्यैव च पिष्टस्योदकसंसृष्टस्य रसं देहलीमुपनिधाय दक्षिणे नासापुटे स्वयमासिञ्चेत्पिचुना ॥ ३५ ॥ इति पुंसवनानि ॥ यच्चान्यदपि ब्राह्मणा ब्रूयुराप्ता वा पुंसवनमिष्टं तच्चानुष्ठेयम् ॥ ३६ ॥

अथवा पुष्यनक्षत्रमें उखाडीहुई लक्ष्मणाकी जडको दूधमें घोटकर पुत्रकी इच्छा-वाली स्त्री नाकके दहिनेनथने और कन्याकी कामनावाली बायें नथने द्वारा पीवे या नस्यके प्रकारसे टपकावे । इसी प्रकार रविवार पुष्यमें उखाडीहुई सफेद कटेलीका रस भी पुत्रको देनेवाला होता है । लक्ष्मणाकी पुष्य नक्षत्रमें उखाडी हुई जडको दूधमें पीसकर उसके रसको वा दूधमें पकाकर उसकी भांफको सूर्यके सामने प्रातः-काल खडे हो नासिकाद्वारा सूंघे अथवा केवल लक्ष्मणाको पीस उसका रस निकाल पूर्वको मुख कर अपने दक्षिण नथनेमें घरकी देहलीपर खडे होकर अपने हाथसेही

टपकावे। यह सब कर्म अथवा अन्य पुंसवन कर्म ब्राह्मणोंके और आप्त पुरुषोंके आज्ञानुसार अनुष्ठान करने चाहियें ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

गर्भस्थापन औषध।

अत ऊर्द्ध्वं गर्भस्थापनानि व्याख्यास्यामः ॥ ३७ ॥

अब गर्भके स्थापन करनेकी विधिको कथन करते हैं ॥ ३७ ॥

ऐन्द्री ब्राह्मी शतवीर्य्या सहस्रवीर्य्या अमोघा अव्यथा शिवा बला अरिष्टा वाटचपुष्पी विष्वक्सेना कान्ता च। आसामोषधीनां शिरसा दक्षिणेन पाणिना धारणमेताभिश्चैव सिद्धस्य पयसः सर्पिषो वा पानमेताभिश्चैव पुष्ये पुष्ये स्नानम्, सदा चैताभिः समालभेत ॥ ३८ ॥ तथा सर्वासां जीवनीयोक्तानामोषधीनां सदोपयोगस्तैस्तैरुपयोगविधिभिरिति गर्भस्थापनानि व्याख्यातानि भवन्ति ॥ ३९ ॥

इन्द्रायण, ब्राह्मी, सफेद दूब, काली दूब, अमोघा, अव्यथा(गेंदा),हरड, बला, नीम, कुटकी, गंगेरण, प्रियंगु, शतावर इन औषधोंमेंसे किसी एक औषधीको पुष्यनक्षत्रमें उखाडकर उसके स्वरसको दक्षिण हाथसे दहिनी नासामें टपकावे और शिरको दहिनी और दहिने हाथसे धारणकर रक्खे तथा इन्हीं सब औषधियोंके साथ सिद्ध कियेहुए दूध और घृतको पान करे। एवम् इन्हींसे औटाये जलसे हरएक पुष्य नक्षत्रमें स्नान कियाकरे इनके उपयोगसे गर्भस्थापन होताहै। अथवा जीवनीयगणकी सम्पूर्ण औषधोंके उपयोगसे सिद्ध किये दूध, घृत आदिक और पूर्वोक्त विधानसे पुष्यनक्षत्रमें सब उपयोग करनेसे गर्भस्थापन होता है ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

गर्भनाशक भाव।

गर्भोपघातकरास्त्विमे भावा भवन्ति। तद्यथा—उत्कटविषमस्थानकठिनासनसेविन्या वातमूत्रपुरीषवेगानुपरुन्धत्या दारुणानुचितव्यायामसेविन्यास्तीक्ष्णोष्णातिमात्रसेविन्याः प्रमिताशनसेविन्या गर्भो म्रियतेऽन्तःकुक्षेरकाले वा स्रंसते, शोषी वा भवति ॥ ४० ॥

गर्भके उपघात करनेवाले यह भाव हैं। जैसे—गर्भवती स्त्रीका उत्कट रीतिसे बैठना अथवा ऊंचेनीचे तथा विषमस्थानमें फिरना, कठिन आसन आदिसे बैठना, वात, मूत्र और पुरीषके वेगको रोकना, दारुण और अनुचित परिश्रम आदि करना, तीक्ष्ण तथा उष्ण द्रव्योंका अधिक सेवन करना, बहुत भूखे रहना इत्यादि कारणोंसे गर्भ कुक्षिमेंही मरजाता है अथवा स्राव होजाता है या सूखजाता है ॥ ४० ॥

तथाभिघातप्रपीडनैः श्वभ्रकूपप्रपातदेशावलोकनैर्वाभीक्ष्णं मातुः प्रपतत्यकाले गर्भः। तथातिमात्रसंक्षोभिभिर्यानैरप्रियातिमात्रश्रवणैर्वा। प्रततोत्तानशायिन्याः पुनर्गर्भस्य नाभ्याश्रया नाडी कण्ठमनुवेष्टयति ४१॥

इस प्रकार चोट आदि लगनेसे, किसी प्रकारसे गर्भके दवजानेसे तथा अत्यंत भयंकर, गढे, कूप, पहाडके विकट गिरेहुए किनारोंका देखना आदि भयकारक स्थानोंको देखनेसे भी गर्भपात होजाता है। अथवा गर्भवतीके शरीरमें किसी प्रकार अत्यन्त हलचल होजानेसे वा किसी विकट सवारीपर चढनेसे एवं अत्यन्त भयंकर और बहुत ऊंचा शब्द सुननेसे भयंकर अप्रिय शब्दके सुननेसे भी अकालमें गर्भपात होजाता है। और सदैव सीधी उत्तान पडी रहनेसे गर्भकी नाभिसे आश्रित नाडी गर्भके कण्ठमें लिपट जाती है। इस लिये गर्भका उपघात होता है ॥ ४१ ॥

विवृतशायिनी नक्तञ्चारिणी चोन्मत्तं जनयत्यपस्मारिणं पुनः कलिकलहाचारशीला। व्यवायशीला दुर्वपुषमह्रीकं स्त्रैणं वा। शोकनित्या भीतमपचितमल्पायुषं वा। अभिध्यात्री परोपतापिनमीर्ष्युं स्त्रैणं वा। स्तेना त्वायासबहुलमतिद्रोहिणमकर्मशीलं वा। अमर्षिणी चण्डमौपाधिकमसूयकं वा। स्वप्ननित्या तन्द्रालुमबुधमल्पाग्निं वा। मद्यनित्या पिपासालुमनवस्थितचित्तं वा। गोधामांसप्रिया शर्करिणमश्मरिणं शनैर्मेहिनं वा। वराहमांसप्रिया रक्ताक्षं क्रथनमनतिपरुषरोमाणं वा। मत्स्यमांसनित्या चिरनिमिषं स्तब्धाक्षं वा। मधुरनित्या प्रमेहिणं मूकमतिस्थूलं वा। अम्लनित्या रक्तपित्तिनं त्वगक्षिरोगिणं वा। लवणनित्या शीघ्रवलीपलितं खालित्यरोगिणं वा। कटुकनित्या दुर्बलमल्पशुक्रमनपत्यं वा। तिक्तनित्या शोषिणमबलमपचितं वा। कषायनित्या श्यावमानाहिनमुदावर्त्तिनं वा॥ ४२ ॥

यदि गर्भवती स्त्री नग्न होकर सोया करे अथवा इधर उधर अधिक फिरे तो उसके गर्भसे उन्मत्त (पगली) संतान होती है। गर्भवती स्त्री यदि अधिक कलह और उपद्रव करनेवाली हो तो मृगीरोगवाली संतान होती है। यदि गर्भवती स्त्री अधिक मैथुन करे तो विकल और निर्लज्ज अथवा स्त्रैण (स्त्रियोंकेसे कृत्यवाली) संतान उत्पन्न होती है। यदि गर्भवती निरन्तर शोकसे व्याकुल रहाकरे तो उसकी संतान भयातुर, क्षीण और अल्पायु होती है। यदि गर्भके समय स्त्री परधनके लेनेकी इच्छा

रखती हो तो उसकी सन्तान परायी सम्पत्तिको देखकर जलनेवाली और ईर्ष्यायुक्त तथा स्त्रैण सन्तान होती है। चोरी करनेवालीकी आलसी, अतिद्रोही, कुकर्मी सन्तान होती है। गर्भवती स्त्री, अत्यन्त क्रोध किया करे तो उसकी सन्तान अत्यन्त क्रोधी, छली और चुगलखोर उत्पन्न होती है। अत्यन्त सोनेवाली गर्भवती स्त्रीकी सन्तान निद्रालु, आलसी, मूर्ख, मन्दाग्निवाली उत्पन्न होती है। यदि गर्भवती स्त्री मद्य पीये तो तृषार्त और विकलचित्त संतान होती है। जो स्त्री गोधाका मांस खाय उसके गर्भसे शर्करा, पथरी और शनैर्मेहवाली सन्तान उत्पन्न होती है। वराहका मांस खानेवाली गर्भवतीके गर्भसे लालनेत्रोंवाला और हत्यारा तथा कठोर रोमोंवाला पुत्र उत्पन्न होता है। मछली खानेवाली गर्भवतीकी संतान बहुत देरमें पलक झपकनेवाली तथा टेढे नेत्रोंवाली होती है। गर्भवतीके अत्यन्त मीठा खानेसे प्रमेही, गूंगी और अधिक स्थूल सन्तान उत्पन्न होती है। गर्भवतीके अधिक खट्टा खानेसे रक्त-पित्तरोगवाली, त्वचाके रोग तथा नेत्ररोगवाली सन्तान उत्पन्न होती है। गर्भवतीके अत्यन्त लवणरस सेवनसे अकालमें सफेद वाल होजानेवाली, सलवटवाली तथा गंजी सन्तान उत्पन्न होती है। गर्भवतीके चरपरे रसके अत्यन्त सेवनसे दुर्बल अल्पशुक्र तथा अनपत्य सन्तान उत्पन्न होती है। गर्भवतीके अत्यन्त कडुआ रस सेवनसे सूखेहुए शरीरवाली अथवा शोथरोगी, निर्बल और कृश सन्तान उत्पन्न होती है। गर्भवतीके अत्यन्त कषायरस सेवनसे काले वर्णकी अफारारोगवाली और उदावर्त्त-रोगवाली सन्तान उत्पन्न होती है॥ ४२ ॥

यद्यच्च यस्य यस्य व्याधेर्निदानमुक्तं तत्तदासेवमानान्तर्वत्नी तद्विकार-बहुलमपत्यं जनयाति ॥ ४३ ॥

गर्भवती स्त्री जो २ द्रव्य जिन २ रोगोंके उत्पन्न करनेके कारण कहे गये हैं उनके अधिक सेवनसे उन २ रोगोंसे ग्रसित सन्तान उत्पन्न करती है॥ ४३ ॥

पितृजास्तु शुक्रदोषा मातृजैरपचारैर्व्याख्याता इति गर्भोपघातकरा भावा व्याख्याताः ॥ ४४ ॥

पिताके जो शुक्र दोष हैं माताके अपचारोंसे उनका भी निर्देश जान लेना। इस प्रकार गर्भ उपघातकारक भावोंका वर्णन कियागया ॥ ४४ ॥

गार्भिणीकी उपचारविधि।

तस्मादहितानाहारविहारान्प्रजासम्पदमिच्छन्ती स्त्री विशेषेण वर्जयेत् साध्वाचारा चात्मानमुपचरेद्धिताभ्यामाहारविहाराभ्याम् ॥ ४५ ॥

इस लिये सन्तानके हितकी इच्छा करतीहुई गर्भवती स्त्री अहित आहार विहारोंको त्याग देवे तथा श्रेष्ठ आचार और हित आहार विहारसे शरीरकी रक्षा करती रहे॥

व्याधींश्चास्या मृदुमधुरशिशिरसुखसुकुमारप्रायैरौषधाहारोपचारैरुपचरेत्। न चास्या वमनविरेचनशिरोविरेचनानि प्रयोजयेन्न रक्तमवसेचयेत्। सर्वकालञ्च नास्थापनमनुवासनं वा कुर्य्यादन्यत्रात्ययिकाद्व्याधेः। अष्टमं मासमुपादाय वमनादिसाध्येषु पुनर्विकारेषु आत्ययिकेषु मृदुभिर्वमनादिभिर्वोपचारः स्यात्॥ ४६॥

यदि गर्भवती स्त्रीको किसी प्रकारका रोग उत्पन्न होजाय तो वैद्यको चाहिये कि, नरम, मधुर, शीतल, सुखदायक और सुकुमार औषधियोंसे विधिवत् चिकित्सा करे और गर्भवतीको वमन, विरेचन, शिरोविरेचन तथा रक्तमोक्षण कभी न करावे। और गर्भकी सब अवस्थामें आस्थापन वस्ति तथा अनुवासन वस्ति भी न करावे। यदि कोई शीघ्र प्राणनाशक व्याधि उपस्थित न हो जब गर्भके आठवें महीनेमें प्राप्त होनेपर यदि कोई ऐसा विकार हो कि जिसमें वमनादिकोंके विना प्राणही न बच सकते हों तो युक्तिपूर्वक बहुत नम्र और हितकारी औषधियोंद्वारा नरम वमनादि उपचार करें॥ ४६॥

गर्भिणीके उपचारमें मुख्य कर्म।

पूर्णमिव तैलपात्रमसंक्षोभ्यान्तर्वत्नी भवत्युपचर्य्या॥ ४७॥

जिस प्रकार तैलसे मुखपर्यन्त पूर्ण भराहुआ पात्र इधर उधर उठाने धरनेमें उसके गिरनेका भय रहता है उसी प्रकार थोडी भी असावधानी और अहित उपचार होनेसे गर्भके गिरनेका भय रहता है॥ ४७॥

सा चेदपचाराद् द्वयोस्त्रिषु मासेषु पुष्पं पश्येन्नास्या गर्भः स्थास्यतीति विद्यात्। अजातसारा हि तस्मिन्काले भवन्ति गर्भाः॥ ४८॥

यदि किसी कुपथ्यके करनेसे गर्भवतीको दूसरे या तीसरे महीनेमें मासिकऋतुके समान रक्तस्राव होने लगे तो उसको वह गर्भ नहीं रहसकता क्योंकि इस कालतक गर्भ साररहित होता है। इस लिये कुपथ्य आदिसे शीघ्र स्राव होजाता है॥ ४८॥

सा चेच्चतुष्प्रभृतिषु मासेषु क्रोधशोकासूयेर्ष्याभयत्रासव्यवायव्यायामसंक्षोभसन्धारणविषमाशनशयनस्थानक्षुत्पिपासातियोगात्कदाहाराद्वा पुष्पं पश्येत्तस्या गर्भस्थापनविधिमुपदेक्ष्यामः॥ ४९॥

यदि गर्भवती स्त्री चौथे आदि महीनोंमें क्रोध, शोक अथवा असूया, ईर्षा, भय, त्रास, मैथुन, परिश्रम, संक्षोभ, वेगावरोध, विषमाशन और विषमरीतिसे शयन तथा विषमभावसे विषम स्थानोंमें रहे एवं अधिक भूख प्यासके समय अधिक भोजन

करे अथवा भूखी रहे या दुष्ट आहार व्यवहार करे तो इनसे उसके गर्भके पतन होनेका भय है। इसलिये गर्भवती स्त्रीको हित आहार और हित आचार एवं शुद्ध प्रसन्न मन रहना चाहिये। यदि ऐसे कार्योंसे गर्भका पात या स्राव होनेलगे तो उसमें जो उपाय करने चाहिये उनका वर्णन करते हैं ॥ ४९ ॥

गर्भकी रक्षाविधि।

पुष्पदर्शनादेवैनां ब्रूयात्। शयनं तावन्मृदुसुखशिशिरास्तरणसंस्तीर्णमीषदवनतशिरस्कं प्रतिपद्यस्वेति। ततो यष्टिमधुकसर्पिर्भ्यां परमशिशिरवारिणि संस्थिताभ्यां पिचुमाप्लाव्योपस्थसमीपे स्थापयेत् तस्याः। तथा शतधौतसहस्रधौताभ्यां सर्पिर्भ्यामधोनाभेः सर्वतः प्रदिह्यात्। गव्येन चैनां पयसा सुशीतेन मधुकाम्बुना वा न्यग्रोधादिकषायेण वा परिषेचयेदधो नाभेः। उदकं वा सुशीतमवगाहयेत् क्षीरिणां कषायद्रुमाणाञ्च स्वरसपरिपीतानि चेलानि ग्राहयेत्।न्यग्रोधादिसिद्धयोर्वा क्षीरसर्पिषोः पिचुं ग्राहयेदतश्चैवाक्षमात्रं प्राशयेत् प्राशयेद्वा केवलञ्च क्षीरसर्पिः ॥ ५० ॥

जिस समय गर्भवतीकी योनिसे रजस्राव होने लगे उसको उसी समय कहे कि तूं नरम सुखकारी शीतल बिछी हुई शय्यापर मस्तकको कुछ नीचाकर लेटजा। इसके अनन्तर मुलहठी और घृतको मिलाकर शीतल पानीके संयोगसे शीतलकर एक रुईका फोहा बना किसी नरमवस्त्रसे भिगोकर और लपेटकर उस फोहेको स्त्रीकी योनिमें रखदे। तथा एकसौ वार या हजारवार धोयेहुए मक्खनको नाभिसे नीचे शीतल २ लेप कर देवे। और शीतल गौका दूध अथवा मुलहठीका क्राथ या न्यग्रोधादिगणका क्राथ शीतलकरके उससे मंदमंद तरडे नाभिके नीचे देवे। अथवा शीतल जलकीही धारा डाले। अथवा वड आदि क्षीरी वृक्षोंके कषाय और कसैले रसवाले वृक्षोंके स्वरसमें छोटासा नम्रवस्त्रका टुकडा भिगो योनिमें रक्खे अथवा वड आदिके क्राथसे सिद्धकिये दूध या घृतमें भिगोयाहुआ फोहा योनिमें रक्खे और इस घृत और दूधमेंसे दो तोला पीनेको भी दे देवे। अथवा इन औषधियोंसे सिद्ध किये घृत और दूध पिलावे ॥ ५० ॥

पद्मोत्पलकुमुदकिञ्जल्कांश्चास्यै समधुशर्कराँल्लेहार्थं दद्यात्। शृङ्गाटकपुष्करबीजकशेरुकान्भक्षणार्थम्। गन्धप्रियंगवसितोत्पलशालूकोदुम्बरशलाटुन्यग्रोधशुङ्गानि वा पाययेदेनामाजेन पयसा ॥ ५१ ॥

कमल और कमोदनीकी केशर अथवा फूलही शहद और मिसरीके साथ पीस-कर चटावे। और सिंघाडे, कमलगट्टे तथा कसेरू ये खानेके लिये देवे अथवा गंध-प्रियंगु, नीलोफर, कमलकी जड, गुल्डके कच्चे फल, वडके अंकुर इनको बकरीके दूधमें घोटकर पिलावे ॥ ५१ ॥

पयसा चैनां बलातिबलाशालियष्टिकेक्षुमूलकाकोलीशृतेन समधुश-र्करं रक्तशालीनामोदनं मृदु सुरभि शीतं भोजयेत्। लावकपिञ्जलकुर-ङ्गशम्बरशशहरिणैणकालपुच्छकरसेन वा घृतसलिलसिद्धेन सुख-शिशिरोपवातदेशस्थां भोजयेत् ॥ ५२ ॥

अथवा बला, अतिबला, शालीचावल, साठीके चावल, ईखकी जड, काकोली इन सबसे सिद्धकिये दूधमें मिसरी मिला सेवन करावे। तथा शालिचावलोंको नर्मसे पका-कर शीतल होनेपर उनमें शहद, मिसरी और दूध मिला भोजन करनेको देवे। अथवा लवा, कपिंजल, कुरंग, सांभर, शशा, हरिण, कालपुच्छक इनके मांसरसको घृत और जलसे सिद्ध कर सुशीतल हवाके स्थानमें उस रसके संग भातका भोजन करावे ॥ ५२ ॥

तथा क्रोधशोकायासव्यवायव्यायामतश्चाभिरक्षेत् । सौम्याभिश्चैनां कथाभिर्मनोऽनुकूलाभिरुपासीत। तथास्या गर्भस्तिष्ठति ॥ ५३ ॥

और ऐसी अवस्थामें उस गर्भवती स्त्रीको क्रोध, शोक, परिश्रम, मैथुन, देहका हिलाना आदि कर्म नहीं करना चाहिये। तथा सुन्दर पवित्र मनके हरनेवाली बातोंसे उस गर्भवती स्त्रीके चित्तको प्रसन्न रखना चाहिये। इन उपायोंके करनेसे गर्भ अपने स्थानमें टिका रहता है ॥ ५३ ॥

आमगर्भमें पुष्पदर्शन।

यस्याः पुनरामान्वयात्पुष्पदर्शनं स्यात् प्रायस्तस्यास्तद्गर्भबाधकं भवति विरुद्धोपक्रमत्वात्तयोः ॥ ५४ ॥

जिस गर्भवतीके आमदोषसे रज दिखाईदेने लगजाय उस समय उसकी चिकि-त्सामें विरोधी औषधियोंका उपयोग होनेसे प्रायः गर्भको हानि होती है। परन्तु विधिवत् समयानुकूल उस समय भी उपचार करना चाहिये ॥ ५४ ॥

उपविष्टक लक्षण।

यस्याः पुनरुष्णतीक्ष्णोपयोगाद्गर्भिण्या महति संजातसारे गर्भे पुष्पद-र्शनं स्यादन्यो वा योनिप्रस्रावः तस्या गर्भो वृद्धिं न प्राप्नोति निःस्रु-

तत्वात्। स कालान्तरमवतिष्ठतेऽतिमात्रं तमुपविष्टकमित्याचक्षते केचित् ॥ ५५ ॥

जब गर्भवती स्त्रीके उष्ण तीक्ष्ण पदार्थोंके सेवनसे मासिकऋतु अथवा अन्य प्रकारसे योनिस्राव होजाय तो उसके होनेसे जातसार गर्भ भी अर्थात् चौथे महीनेका गर्भ भी बढनेसे बंद होजाताहै और अपूर्ण रहता है इसलिये वह बहुतकाल पेटमेंही रहता है। यदि यह बहुत रोजतक पेटमेंही रहे तो इस गर्भको कोई आचार्य उपविष्टक कहते हैं ॥ ५५ ॥

नागोदरगर्भके लक्षण।

उपवासव्रतकर्मपरायाः पुनः कदाहारायाः स्नेहद्वेषिण्या वातप्रकोपनोक्तान्यासेवमानाया गर्भो न वृद्धिं प्राप्नोति परिशुष्कत्वात्। स चापि कालान्तरमवतिष्ठतेऽतिमात्रं स्पन्दनश्च भवति। तं तु नागोदरमित्याचक्षते ॥ ५६ ॥

उपवास, व्रत, कर्मपरायण स्त्री जब रूक्ष आदि आहारको करती है और चिकनाई नहीं खाती और वायुके कुपित करनेवाले रूक्ष पदार्थोंको सेवन करती है तो कुपितहुआ वायु गर्भको बढने नहीं देता तथा सुखा देता है। वह सूखाहुआ गर्भ भी बहुतकालतक पेटमें स्थिर रहता है और अधिक फडकता है। इस गर्भको नागोदर कहते हैं ॥ ५६ ॥

नार्य्योस्तयोरुभयोरपि चिकित्सितविशेषमुपदेक्ष्यामः ॥ ५७ ॥

अब नागोदर और उपविष्टक गर्भवाली स्त्रियोंकी चिकित्साको कथन करते हैं ५७

उक्तगर्भमें चिकित्सा।

भौतिकजीवनीयबृंहणीयमधुरवातहरसिद्धानां सर्पिषामुपयोगः। नागोदरे तु योनिव्यापन्निर्दिष्टं पयसामामगर्भाणाञ्च गर्भवृद्धिकराणाञ्च सम्भोजनमेतैरेव सिद्धैश्च घृतादिभिः सुबुभुक्षायामभीक्ष्णं यानवाहनापमार्जनावजृम्भणैरुपपादनमिति ॥ ५८ ॥

उपविष्टक गर्भ होनेपर भौतिक अर्थात् गर्भमें पार्थिव आदि गुण बढानेवाले द्रव्य अथवा भूतहर लाक्षादि द्रव्य और जीवनीयगण तथा बृंहणीयगण, मधुरगण और वातहरगणोंसे सिद्धकिया घृत पिलाना चाहिये। नागोदर होजानेपर योनिव्यापत् चिकित्सामें कहे फलघृतादि तथा जिन द्रव्योंसे स्निग्ध होकर वह प्रगट होजाय अर्थात् उस बालकका जन्म होजाय वैसी क्रिया करनी चाहिये। और गर्भके बढानेवाले द्रव्योंसे सिद्ध कियेहुए दूध तथा घृत हमेशा भूखके समय देने चाहिये। तथा

इस नागोदर गर्भवाली स्त्रीको सदैव पालकी आदि सवारीमें बैठाना, स्नान कराना, उत्तम बातोंका सुनाना हितकर होता है । (जो गर्भ वातकारक कारणोंसे रूक्ष होकर बहुत कालतक अर्थात् ग्यारहवें या बारहवें महीनेतक प्रगट न हो उसको नागोदर कहते हैं) ॥ ५८ ॥

प्रसुप्तगर्भमें चिकित्सा ।

यस्याः पुनर्गर्भः प्रसुप्तो न स्पन्दते तां श्येनमत्स्यगवयतित्तिरताम्रचूडशिखिनामन्यतमस्य सर्पिष्मता रसेन माषयूषेण वा प्रभूतसर्पिषा मूलकयूषेण वा रक्तशालीनामोदनं मृदुमधुरशीतं भोजयेत् । तैलाभ्यङ्गेनास्याश्चाभीक्ष्णमुदरवंक्षणोरुकटिपार्श्वपृष्ठप्रदेशानीषदुष्णेनोपाचरेत्॥

जिस स्त्रीका गर्भ सोयाहुआसा स्थिर रहे और फडके नहीं उस स्त्रीको सिकरा, मछली, रोझ, तीतर, मुर्गा और मोरके मांसरसको घृतयुक्त कर पिलावे अथवा उडदके यूषको घृतयुक्त करके या सलजमका यूष अधिक घीके संयोगसे पिलावे अथवा लाल शालिचावलोंको मिसरीके साथ वा अन्य मधुर शीतल द्रव्योंके साथ भोजनके लिये देवे । तथा किसी उत्तम उष्ण तेलद्वारा पेट, वंक्षण, पसली और पीठको सदैव नरमहाथसे मालिश कराया करे ॥ ५९ ॥

उदावर्त्तरुद्धगर्भवतीकी चिकित्सा ।

यस्याः पुनरुदावर्त्तविबन्धः स्यादष्टमे मासे न चानुवासनसाध्यं मन्येत ततस्तस्यास्तद्विकारप्रशमनमुपकल्पयेन्निरूहम् । उदावर्तो ह्युपेक्षितः गर्भं सगर्भां गर्भिणीं वा निपातयेत् ॥ ६० ॥

यदि आठवें महीनेमें स्त्रीको उदावर्त्तरोगसे बंध पडजाय और वह अनुवासनबस्ति द्वारा शान्ति होता न दिखाई दे तो निरूहण बस्ति द्वारा विधिवत् चिकित्साकर्म करे क्योंकि उस समय उदावर्त्तकी चिकित्सा न करनेसे वह उदावर्त्तरोग गर्भको अथवा गर्भसहित गर्भवती स्त्रीको भी नष्ट कर डालता है ॥ ६० ॥

तत्र वीरणशालिषष्टिककुशकाशेक्षुबालिकावेतसपरिव्याधमूलानां भूतीकानन्ताकाश्मर्य्यपरूषकमधुकमृद्वीकानाञ्च पयसार्द्धोदकेनोद्गमय्य रसं प्रियालविभीतकमज्जातिलकल्कसम्प्रयुक्तमीषल्लवणमनत्युष्णं निरूहं दद्यात् ॥ ६१ ॥

ऐसे समयमें वीरणतृण, शालि, और षष्टिकचावल, कुशा, कांस, इक्षुबालिका, वेतस, ब्यूंस इन सबकी जड लेकर अथवा अजवायन, सारिवा, कुम्हार वृक्ष, फालसा,

मुलहठी,मुनक्का इन सबको बराबरके जलयुक्त दूधमें पकावे फिर उस दूधमें चिरौंजी, बहेडेकी मज्जा, तिलोंका कल्क और बहुत थोडा सेंधानमक मिला इससे कोष्ण निरूहण बस्ति देवे ॥ ६१ ॥

व्यपगतविबन्धाञ्चैनां सुखसलिलपरिषिक्ताङ्गीं स्थैर्य्यकरमविदाहिनमाहारं भुक्तवतीं सायं मधुरकासिद्धेन तैलेनानुवासयेत् । न्युब्जान्त्वेनामास्थापनानुवासनाभ्यामुपचरेत् ॥ ६२ ॥

जब विबंध खुलजाय तो उस गर्भवती स्त्रीको सुखोष्ण गर्म जलसे परिसेचन कर शान्तिदायक तथा अविदाही आहारको देवे । और सायंकालके समय मधुरगणसे सिद्ध कियेहुए तैलद्वारा अनुवासन कर्म करे । तथा उस गर्भवतीको जब अनुवासन और आस्थापन करे तो औंधे (मूंधे) लेटाकर करे । क्योंकि अन्य पुरुषोंके समान सीधी लेटाकर आस्थापनकर्म करनेसे गर्भ हिलजाता है ॥ ६२ ॥

मृतगर्भका लक्षण ।

यस्याः पुनरतिमात्रदोषोपचयाद्वा तीक्ष्णोष्णातिमात्रसेवनाद्वा वातमूत्रपुरीषवेगधारणैर्वा विषमाशनशयनस्थानसंपीडनैर्वा क्रोधशोकेर्ष्यासूयाभयत्रासादिभिर्वा परैः कर्मभिरन्तःकुक्षौ गर्भो म्रियते । तस्याः स्तिमितस्तब्धमुदरमाततं शीतमश्मान्तर्गतमिव भवत्यस्पन्दनो गर्भः । शूलमधिकमुपजायते । न चाव्यः प्रादुर्भवन्ति । योनिर्न प्रस्रवत्यक्षिणी चास्याः स्रस्ते भवतः । ताम्यति व्यथते भ्रमते श्वसित्यरतिबहुला च भवति । न चास्या वेगप्रादुर्भावो वा यथावदुपलभ्यते इत्येवंलक्षणां स्त्रियं मृतगर्भेयमिति विद्यात् ॥ ६३ ॥

गर्भवतीके शरीरमें दोषोंका अत्यन्त सञ्चय होनेसे अथवा अत्यन्त तीक्ष्ण और गरम द्रव्योंके सेवनसे तथा अधोवात और मलमूत्रके आये वेगोंको रोकनेसे एवम् विषमरीतिपर भोजन, शयन और उठने बैठने आदिसे ऊंचे नीचे पांव रखनेसे या किसी प्रकार गर्भके संपीडन होनेसे अथवा अत्यन्त क्रोध, शोक, भय, ईर्षा, असूया और त्रास आदिसे या अन्य किसी दुष्ट कर्मके योगसे गर्भ कुक्षिमेंही मरजाता है । उसके ये लक्षण हैं । पेट–स्तिमित, स्तब्ध और विस्तृतसा होजाय और शीतल पडजाय तथा ऐसा प्रतीत हो कि पेटमें पत्थरसा रक्खा है, गर्भ फडके नहीं, अत्यंत दर्द हो, पीडा अत्यन्त हो पर प्रसूतकालसी न हो, योनिसे पानीका स्राव न हो, दोनों नेत्र शिथिल होजाय, गर्भवती स्त्री ग्रस्तसी होजाय, शरीरमें अत्यन्त व्यथा हो, भ्रांति

हो, श्वास अधिक चलनेलगे, व्याकुलता अत्यन्त बढजाय, मलमूत्र आदि वेगके उपस्थित होनेपर भी यथावत् न आसके । इन लक्षणोंसे गर्भवतीके गर्भमें बालककी मृत्यु होगई है ऐसा जानना ॥ ६३ ॥

मृतगर्भमें उपाय ।

तस्य गर्भशल्यस्य जरायुप्रपातने कर्म संशमनमित्याहुरेके । मन्त्रादिकमथर्ववेदविहितमित्येके । परिदृष्टकर्मणा शल्यहर्त्रा हरणमित्येके ॥ ६४ ॥

ऐसे समय किसी २ आचार्यका मत है कि, औषधों द्वारा वा अन्य प्रकार जरायुको निकालदेनाही उत्तम उपाय है क्योंकि जरायुके साथही मराहुआ गर्भभी बाहर आजाता है । कोई आचार्य कहते हैं कि अथर्ववेदके मन्त्रोंद्वारा मार्जन करनेसे मराहुआ गर्भ निकलजाता है । कोई आचार्य कहते हैं कि जो वैद्य शस्त्रकर्ममें दृष्टकर्मा हो उससे शस्त्रद्वारा जिस प्रकार निकल सके मृतगर्भको शीघ्र निकाल देना चाहिये ६४

व्यपगतगर्भशल्यां तु स्त्रियमामगर्भां सुराशीध्वरिष्टमधुमदिरासवानामन्यतममग्रे सामर्थ्यतः पाययेत् गर्भकोष्ठविशुद्ध्यर्थमर्त्तिविस्मरणार्थं प्रहर्षणार्थञ्च ॥ ६५ ॥

जब उस स्त्रीका मराहुआ गर्भ निकलजाय तो उसको उसी समय सुरा, सीधु, अरिष्ट, मधुनामक मद्य, मदिरा और आसव सामर्थ्यानुसार पिला देवे । उस समय नशेवाली मद्यके पिलादेनेसे उसके गर्भ कोष्ठकी शुद्धि होती है और स्त्री दुःखको भूलजाती है और उसको आनन्द उत्पन्न होजाता है ॥ ६५ ॥

अतः परं बृंहणैर्बलानुरक्षिभिः स्नेहसम्प्रयुक्तैर्यवाग्वादिभिर्विलेप्यादिभिर्वा तत्कालयोगिभिराहारैरुपाचरेद्दोषधातुक्लेदविशोषणमात्रं तत्कालम् ॥ ६६ ॥

इसके उपरान्त उस स्त्रीको बृंहण बलकी रक्षा करनेवाली स्नेहयुक्त यवागू पिलाना चाहिये । फिर यथाक्रम विलेपी अथवा उस समय जो उचित हो उस रस या आहारका सेवन कराना चाहिये । जबतक उस स्त्रीके शरीरमें दोष और धातुओंके क्लेद उत्पन्न न होजांय तबतक स्निग्ध हलके और बलकारक आहारोंसे उसकी रक्षा करनी चाहिये ॥ ६६ ॥

अतः परं स्नेहपानैर्बस्तिभिराहारविधिभिश्च दीपनीयजीवनीयबृंहणीयमधुरवातहरसमाख्यातैरुपचारैरुपाचरेत् ॥ ६७ ॥

इसके उपरान्त स्नेहपानद्वारा एवं स्नेहनबस्तिद्वारा तथा दीपनीय, जीवनीय, बृंहणीय और मधुर तथा वातनाशक आहार द्वारा उपचार करना चाहिये ॥ ६७ ॥

परिपक्वगर्भशल्यायाः पुनर्विमुक्तगर्भशल्यायास्तदहरेव स्नेहोपचारः स्यात् ॥ ६८ ॥

यदि गर्भ पूरे दिनोंका पूर्णांग होकर मरे तो उस गर्भके निकालनेके अनन्तर उसी दिन स्नेहद्रव्योंसे उपचार करना चाहिये ॥ ६८ ॥

परमतो निर्विकारमाप्यायमानस्य गर्भस्य मासे मासे कर्मोपदेक्ष्यामः ६९॥

अब इसके उपरान्त जिस प्रकार गर्भ निर्विकार होकर वृद्धिको प्राप्त हो उस प्रकार प्रथम महीनेसे लेकर महीने २ जो कर्म करना चाहिये उनका उपदेश करते हैं॥६९॥

गर्भकी मासपरत्वरक्षणविधि ।

प्रथमे मासे शङ्किता चेद्गर्भमापन्ना क्षीरमनुपस्कृतं मात्रावच्छीतं काले पिबेत्सात्म्यञ्च भोजनं सायं प्रातश्च भुञ्जीत ॥ ७० ॥

प्रथम महीनेमें जब स्त्रीको यह प्रतीत होजाय कि, गर्भ रहगया तो विना औषधीसे केवल दूधमात्र, शीतल उचित मात्रासे पीयाकरे । और प्रातः तथा सायंकाल दोनों समय सात्म्य भोजनको कियाकरे ॥ ७० ॥

द्वितीये मासे क्षीरमेव च मधुरौषधसिद्धम् । तृतीये मासे क्षीरं मधुसर्पिर्भ्यामुपसंसृज्य । चतुर्थे मासे तु क्षीरनवनीतमक्षमात्रमश्नीयात् । पञ्चमे मासे क्षीरसर्पिः । षष्ठे मासे क्षीरसर्पिर्मधुरौषधसिद्धम्, तदेव सप्तमे मासे ॥ ७१ ॥

दूसरे महीनेमें मधुरगणकी औषधियोंसे सिद्ध कियाहुआ दूध पीना चाहिये । तीसरे महीनेमें शहद और घृतयुक्त दूध पीना चाहिये । चौथे महीनेमें ताजे दूधमें एक तोला ताजा मक्खन मिला पीना चाहिये । पांचवे महीनेमें घी और दूध मिला पीना चाहिये । छठवें महीनेमें मधुर आदि गणसे सिद्धकिये दूधमें घी मिला पीना चाहिये। और सातवें महीनेमें भी यही करना चाहिये ॥ ७१ ॥

सप्तममासमें अन्य उपचार ।

तत्र गर्भस्य केशा जायमाना मातुर्विदाहं जनयन्तीति स्त्रियो भाषन्ते तन्नेति भगवानात्रेयः । किन्तु गर्भोत्पीडनाद्वातपित्तश्लेष्माण उरः प्राप्य विदहन्ति, ततः कण्डूरुपजायते । कण्डूमूला च किक्काशा-

वाग्निर्भवति । तत्र कोलोदकेन नवनीतस्य मधुरौषधसिद्धस्य पाणितलमात्रं कालेऽस्यै दद्यात् । चन्दनमृणालकल्कैश्चास्याः स्तनोदरं विमृद्नीयात् । शिरीषधातकीसर्षपमधुकचूर्णैः कुटजार्जकबीजमुस्तहरिद्राकल्कैर्वा निम्बकोलसुरसमञ्जिष्ठाकल्कैर्वा । पृषद्धरिणशशरुधिरयुतया त्रिफलया वा । करवीरकपत्रसिद्धेन वा तैलेनाभ्यङ्गः। परिषेकः पुनर्मालतीमधुकसिद्धेनाम्भसा । जातकण्डूश्च कण्डूयनं वर्जयेत्त्वग्भेदनवैरूप्यपरिहारार्थम् । अशक्यायां तु कण्ड्वामुन्मर्दनोद्धर्षणाभ्यां परिहारः स्यात् । मधुरमाहारजातं वातहरमल्पमल्पस्नेहलवणमल्पोदकानुपानञ्च भुञ्जीत ॥ ७२ ॥

स्त्रियें कहा करती हैं कि, सातवें महीनेमें गर्भमें बालकको केश उत्पन्न हो जाते हैं उसके कारण माताके कुक्षिमें दाह उत्पन्न हुआ करती है । परन्तु भगवान् आत्रेयजी कहते हैं कि ऐसा नहीं होता । उस समय गर्भके उत्पीडन होनेसे वात, पित्त, कफ वक्षस्थलमें प्राप्त हो दाहको उत्पन्न करते हैं । इसीलिये उस समय खाजसी भी प्रतीत होती है । और उस खाजके होतेही पेटके त्वचाको फाडदेनेवाली किक्कस (खाजकी अधिकतासे त्वचाका फटना) उत्पन्न होती है । उस समय इस स्त्रीको बेरके क्काथमें मधुरगणकी औषधियोंको सिद्धकर उन औषधियोंसे सिद्ध कियाहुआ मक्खन दो तोला मात्र समयसमयपर खिलाया करे । चंदन और कमलके कल्कको उस स्त्रीके स्तनों तथा पेटपर मालिश करना चाहिये । अथवा सिरसका छिलका, धावेके फूल, सरसों और मुलहठीके चूर्णसे सिद्ध किया तैल या कुडा, वनतुलसीके बीज, नागरमोथा और हल्दीके कल्कसे सिद्ध कियाहुआ तैल अथवा नीम, बेर, तुलसी और मंजीठके कल्कसे सिद्ध किया तैल अथवा पृषतहारिण या खरगोशके रुधिरयुक्त त्रिफलेके कल्कसे या कनेरके पत्तोंसे सिद्ध कियेहुए तेलकी स्तनों और पेटपर मालिश करावे यदि स्तनोंमें खुजली होय तो उनको खुजलाना नहीं चाहिये । मालतीके फूल और मुलहठीके क्काथसे स्तनोंको धो डालना चाहिये । उस समय खुजलानेसे पेटकी चमडी फट जाती है तथा त्वचा बिगड जाती है । यदि उस समय खुजलीको सह न सके तो मर्दन और त्वचाको हाथसे घिसे । परन्तु नाखूनोंसे खाज न करे । उस समय मधुर तथा वातनाशक आहारको थोडी चिकनाई मिला खाया करे और नमक बहुत थोडा खावे । तथा जल भी थोडा २ पीया करे ॥ ७२ ॥

आठवें मासमें गर्भरक्षण विधि।

अष्टमे तु मासे क्षीरयवागूं सर्पिष्मतीं काले काले पिबेत् । तन्नेति

भद्रकाप्यः, पैङ्गल्यावाधो ह्यस्या गर्भमागच्छेदिति। अस्त्वत्र पैङ्ग-ल्यावाध इत्याह भगवान्पुनर्वसुरात्रेयः । न ह्येतदकार्य्यमेवं कुर्वती ह्यारोग्यबलवर्णस्वरसंहननसम्पदुपेतं ज्ञातीनामपि श्रेष्ठमपत्यं जनयति ७३

आठवें महीनेमें दूधमें सिद्ध की हुई यवागूको घृतयुक्त कर समय समयपर पीया करे। इस विषयमें भद्रकाप्य ऋषि कहनेलगे। यदि गर्भवती स्त्री इस प्रकार पथ्य सेवन करने लगेगी तो उसकी संतान पंगुला (पिङ्गलनेत्रवाली) होगी। यह सुनकर भगवान् पुनर्वसु आत्रेयजी कहनेलगे कि ऐसा नहीं होता बल्कि इस प्रकार पथ्य-सेवन करनेसे संतान आरोग्य, बलवर्णयुक्त, स्वरयुक्त, दृढ अंगोंवाली तथा अपने अन्य भाइयोंमें भी श्रेष्ठ संतान उत्पन्न होती है ॥ ७३ ॥

नवममासके गर्भकी रक्षणविधि।

नवमे तु खलु एनां मासे मधुरौषधसिद्धेन तैलेनानुवासयेत्। अत-श्चास्यास्तैलं पिचुमिश्रं योनौ प्रणयेद्गर्भस्थानमार्गस्नेहनार्थम् ॥ ७४ ॥

नवम महीनेमें मधुर द्रव्योंसे सिद्धकिये तैलद्वारा इस स्त्रीको अनुवासन करना चाहिये और गर्भमार्गको चिकना करनेके लिये इस तैलका फोहा योनिमें रखना चाहिये ॥ ७४ ॥

यदिदं कर्म प्रथममासमुपादायोपादिष्टमानवमान्मासात्। तेन गर्भिण्याः गर्भसमये गर्भधारणे कुक्षिकटिपार्श्वपृष्ठं मृदूभवति। वातश्चानुलोमः सम्पद्यते। मूत्रपुरीषे च प्रकृतिभूते सुखेन मार्गमनुपद्यते। चर्मनखानि च मार्दवमुपयान्ति। बलवर्णौ चोपचीयेते। पुत्रं चेष्टसम्पदुपेतं सुखिनं सुखेनैषा कालेन प्रजायत इति ॥ ७५ ॥

इस प्रकार प्रथम महीनेसे लेकर नवम महीनेपर्यन्त जो इस क्रियाका वर्णन किया है इसके करनेसे गर्भवती स्त्रीके कूख, कमर, पसली और पीठ यह नरम रहती हैं। तथा धारण किया गर्भ सुखपूर्वक पुष्ट होता है। एवं वायुका अनुलोम होता है। मल मूत्रका त्याग ठीक समयपर उचित रीतिसे होजाता है। नख और त्वचा नरम रहती है। बल वर्णकी वृद्धि होती है। और उत्तम सुन्दर शरीरवाले, बलयुक्त पुत्रको सुख-पूर्वक ठीकसमयपर प्रसव करती है ॥ ७५ ॥

सूतिकागारकी विधि।

प्राक्चैवास्या नवमान्मासात्सूतिकागारं कारयेदपहृतास्थिशर्करा-कपालं देशं प्रशस्तरूपरसगन्धायां भूमौ प्राग्द्वारमुदग्द्वारं वा ॥ ७६ ॥

गर्भको नवम महीना प्रवेश होनेसे प्रथमही सूतिकागार (प्रसूतिस्थान) बनाना चाहिये । वह ऐसी उत्तम भूमिमें हो जिसमें हड्डी, कंकड, ठिकरे आदि न हों तथा रूप, रस, गन्धयुक्त पवित्र भमि हो उस भूमिमें पूर्व या उत्तरको द्वार रखकर प्रसवके लिये घर बनवावे ॥ ७६ ॥

तत्र बैल्वानां काष्ठानां तिन्दुकैङ्गुदानां भल्लातकानां वारुणानां खदिराणां वा । यानि चान्यान्यपि ब्राह्मणाः शंसेयुरथर्ववेदविदस्तेषाञ्च । वसनालेपनाच्छादनापिधानसम्पदुपेतम् । वास्तुविद्याहृदययोगेनाग्निसलिलोलूखलवर्चःस्थानस्नानभूमिमहानसमृतुसुखञ्च ॥ ७७ ॥

उस स्थानमें बिल्व, तेंदु, गोंदनी, भिलावा, वर्णवृक्ष और खैरकी लकडियें तथा अथर्ववेदको जाननेवाला ब्राह्मण जिनको कहे उन सब प्रकारकी लकडियोंको मंगावे । तथा वस्त्र, आलेपन तथा बिछानेके कपडे और ओढनेके कपडे आदि वस्तुओंको उस घरमें रक्खे और जिन २ पदार्थोंकी गर्भवती इच्छा करे अथवा उसके लिये उचित हों उनउनको समयके अनुसार जिस ऋतुमें जैसे द्रव्योंकी आवश्यकता हो वैसे २ द्रव्य, अग्नि, जल, ओखली, मल मूत्रके त्यागनेका स्थान, स्नान करनेका स्थान, भोजन बनानेका स्थान इन सबको जिस ऋतुमें जिस प्रकार उचित हो गृहनिर्माणविद्यासे बनावे ॥ ७७ ॥

सूतिकागृहका सामान ।

तत्र सर्पिस्तैलमधुसैन्धवसौवर्चलकाललवणविडङ्गगुडकुष्ठकिलिमनागरपिप्पलीमूलहस्तिपिप्पलीमण्डूकपर्ण्येलालाङ्गलीवचाचव्यचित्रकचिरबिल्वहिंगुसर्षपलशुनकणकणिकानीपातसीबल्वजभूर्जाः कुलत्थमैरेयसुरासवाः सन्निहिताः स्युः ॥ ७८ ॥

उस घरमें घी, तेल, शहद, सेंधानमक, संचरनमक, कालानमक, वायविडंग, गुड, कुडा, देवदार, सोंठ, पिपलामूल, गजपीपल, मण्डूकपर्णी, इलायची, लांगुलीकंद, वच, चीता, चव्य, लताकरंज, हींग, सरसों, लहसुन, कनकवृक्ष, गेहूं, कदम्ब, अलसी, पेठा, भोजपत्र, कुलथी, मैरेय, सुरा और आसव इन सबको संग्रहकरके यथास्थान रक्खे ॥ ७८ ॥

तथाश्मानौ द्वौ, द्वे चण्डमुसले, द्वे उलूखले, खरो वृषभश्च, द्वौ च तीक्ष्णौ सूचीपिप्पलकौ सौवर्णराजतौ, शस्त्राणि च तीक्ष्णायसानि, द्वौ च बिल्वमयौ पर्य्यङ्कौ, तेन्दुकैङ्गुदानि च काष्ठानि अग्निसन्धु-

क्षणानि, स्त्रियश्च बह्वयो बहुशः प्रजाताः सौहार्दयुक्ताः सततमनुरक्ताः प्रदक्षिणाचाराः प्रतिपत्तिकुशलाः प्रकृतिवत्सलास्त्यक्तविषादाः क्लेशसहिष्णवोऽभिमताः, ब्राह्मणाश्चाथर्ववेदविदः, यच्चान्यदपि तत्र समर्थं मन्येत। यच्च ब्राह्मणा ब्रूयुः स्त्रियश्च वृद्धास्तत्कार्य्यम् ॥७९॥

तथा दो पत्थर, दो मूसल, दो ऊखल, एक गधा, एक बैल, दो तीक्ष्ण सूइयें, सुवर्ण चांदीकी धागेकी गोली, लोहेके तीक्ष्ण शस्त्र, सोना, चांदी, बिल्वकी लकडीकी बनी चारपाई, तेंदु और इंगुदीकी लकडियें आगजलानेके लिये। जिन स्त्रियोंने अनेकवार प्रसव कराया हो ऐसी हितके रखनेवाली जो गर्भवतीसे अत्यन्त प्रेम रखती हों ऐसी स्त्रियें रखनी चाहिये परन्तु वह स्त्रियें बच्चा पैदा करानेमें अत्यन्त चतुर, चित्तकी बातको समझनेवाली, विषादरहित और स्वभावसे ही दयालु कष्टके सहन करनेवाली होनी चाहिये। तथा अथर्ववेदके जाननेवाले ब्राह्मण तथा अन्य भी जो २ वस्तुयें आवश्यक प्रतीत हों और जिन वस्तुओंको वह ब्राह्मण कहे सबको उपस्थित करना चाहिये। जिस २ बातको वृद्धस्त्रियें और वह अथर्ववेदी ब्राह्मण कहें सो उस स्थानमें रखना चाहिये तथा उसी प्रकार करना चाहिये ॥ ७९ ॥

ततः प्रवृत्ते नवमे मासि पुण्येऽहनि प्रशस्तनक्षत्रयोगमुपगते भगवति शशिनि कल्याणे करणे मैत्रे मुहूर्ते शान्तिं हुत्वा गोब्राह्मणमग्निमुदकञ्चादौ प्रवेश्य गोभ्यस्तृणोदकं मधुलाजांश्च प्रदाय ब्राह्मणेभ्योऽक्षतान् सुमनसो नान्दीमुखानि च फलानीष्टानि दत्त्वा उदकपूर्वमासनस्थेभ्योऽभिवाद्य पुनराचम्य स्वस्तिवाचयेत्। ततः पुण्याहशब्देन गोब्राह्मणमन्वावर्त्तमाना प्रविशेत्सूतिकागारम्। तत्रस्था च प्रसवकालं प्रतीक्षेत ॥ ८० ॥

फिर नवम महीना प्रवेश होतेही उत्तम दिन, नक्षत्र चन्द्रमा और शुभ करण तथा मैत्र मुहूर्त्तमें शान्तिकर्म कर गौ, ब्राह्मण, अग्नि और जलके भरेहुए कलशको पहिले प्रवेश कर गौओंको घास जल और शहद तथा धानकी खील दे। फिर ब्राह्मणोंको चावल और फूल देकर नान्दीमुखके योग्य उत्तम फलोंको देकर उत्तम या पूर्वमें आसनोंपर बिठाकर प्रणाम करे। और उनके चरणादि प्रक्षालनकर फिर आचमन करे तदनन्तर स्वस्तिवाचन और पुण्याहवाचनपूर्वक गौ ब्राह्मणोंको आगे कर सूतिका स्थानमें प्रवेश करे। फिर उसी स्थानमें रहतीहुई प्रसवकालकी प्रतीक्षा करे ॥८०॥

प्रसवकालके चिह्न ।

तस्यास्तु खलु इमानि लिङ्गानि प्रजननकालमभितो भवन्ति । तद्यथा-क्लमो गात्राणाम्, ग्लानिराननस्य, अक्ष्णोः शैथिल्यम्, विमुक्तबंधनत्वमिव वक्षसः, कुक्षेरवस्रंसनम्, अधोगुरुत्वम्, वंक्षणबस्तिकटिपार्श्वपृष्ठनिस्तोदः, योनेः प्रस्रवणमनन्नाभिलाषश्चेति । ततोऽनन्तरमावीनां प्रादुर्भावः प्रसेकश्च गर्भोदकस्य ॥ ८१ ॥

प्रसवकालके समय स्त्रीके ये लक्षण होते हैं । जैसे क्लम, अंगोंमे ग्लानि, मुख और नेत्रोंकी शिथिलता, वक्षस्थलके बन्धन खुलगयेसे प्रतीत होना, कुक्षिका नीचेकी ओर जाना, नीचेका भाग भारी प्रतीत होना, बस्ति, वंक्षण, कमर, पसवाडे और पीठमें चमकके साथ पीडा होना, योनिका स्राव होना, अन्नमें रुचि न होना उसके अनन्तर गर्भकी पीडाओंका प्रादुर्भाव होना और गर्भका जल निकलने लगना॥८१॥

प्रसववेदनामें कर्त्तव्यकर्म ।

आवीप्रादुर्भावे तु भूमौ शयनं विदध्यान्मृद्वास्तरणोपपन्नम् । तदध्यासीनां तां ततः समन्ततः परिवार्य्य यथोक्तगुणाः स्त्रियः पर्य्युपासीरन्नाश्वासयन्त्यो वाग्भिर्ग्राहिणीभिरुपदिष्टवदर्थाभिधायिनीभिः ॥ ८२ ॥

प्रसवकी पीडा उत्पन्न होनेपर उस स्त्रीको पृथ्वीपर नरम बिछीहुई शय्यापर लेटजाना चाहिये और योग्य गुणोंवाली जिनका पहिले वर्णन किया जा चुका है उन सब स्त्रियोंको उसके चारों ओर बैठकर मीठे २ वाक्योंसे धैर्य देतेहुए उसके चित्तको शान्त करते रहना चाहिये ॥ ८२ ॥

सा चेदावीभिः संक्लिश्यमाना न प्रजायेताथैनां ब्रूयादुत्तिष्ठ मुसलमन्यतरश्च गृह्णीष्व । अनेनैतदुलूखलं धान्यपूर्णं मुहुर्मुहुरभिजहि । मुहुर्मुहुरवजृम्भस्व । चंक्रमस्व चान्तरान्तरा । इत्येवमुपदिशन्त्येके॥८३॥

कोई कहते हैं कि, यदि वह गर्भवती प्रसववेदनासे पीडित होतेहुए भी प्रसव न करे तो उसको कहना चाहिये कि तू उठकर बैठजा और दो मूसल या एक मूसल लेकर ऊखलीमें भरेहुई धानोंको कूट और बारबार हाथपावोंको हिला बारबार जंभाई ले इधरउधर फिर ॥ ८३ ॥

आत्रेयजीका मत ।

तन्नेत्याह भगवानात्रेयः । दारुणव्यायामवर्जनं हि गर्भिण्याः सततमुपदिश्यते । विशेषतश्च प्रजननकाले । प्रचलितसर्वधातुदोषायाः

सुकुमार्य्यां नार्य्यां मुसलव्यायामसमीरितो वायुरन्तरं लब्ध्वा प्राणान् हिंस्यात्, दुष्प्रतीकारतमा हि तस्मिन्काले विशेषेण भवति गर्भिणी। तस्मान्मुसलग्रहणं परिहार्य्यमृषयो मन्यन्ते जृम्भणं चंक्रमणञ्च पुनरनुष्ठेयमिति ॥ ८४ ॥

इसपर भगवान् आत्रेयजी कहनेलगे कि, ऐसा कभी नहीं करना चाहिये। गर्भवती स्त्रीको दारुण परिश्रम करना किसी कालमें भी उचित नहीं है और विशेषकर प्रसवकालमें तो सब धातु और वातादि दोष शीघ्रही प्रचलित होजाते हैं। यदि सुकुमार स्त्री ऊखलमें धान कूटने लगेगी तो इस परिश्रमसे कुपित हुआ वायु छिद्रको प्राप्त हो प्राणोंको नष्टकर देता है और वह समय भी ऐसा होता है कि, चिकित्सा करनेमें बडी भारी कठिनाई पडती है। उस समय किसी प्रकारका उपद्रव होजानेसे उसकी शान्ति नहीं होती। इसलिये ऋषिलोग मूसल लेकर धान कूटना उचित नहीं समझते किन्तु जँभाई लेना और इधर उधर टहलना यह क्रम अच्छा प्रतीत होता है॥

प्रसवकालमें औषध।

अथास्यै दद्यात् कुष्ठैलालाङ्गलिकीवचाचित्रकचिरबिल्वचूर्णमुपघ्रातुं सा तन्मुहुर्मुहुरुपाजिघ्रेत्। तथा भूर्जपत्रधूमम्, शिंशपासारधूमम्, तस्याश्चान्तरान्तरा कटिपार्श्वपृष्ठसक्थिदेशानीषदुष्णेन तैलेनाभ्यज्यानुसुखमवमृद्नीयादित्यनेन तु कर्मणा गर्भोऽवाक् प्रतिपाद्यते। स यदा जानीयाद्विमुच्य हृदयमुदरमस्यास्त्वाविशति, बस्तिशिरोऽवगृह्णाति, त्वरयन्ति एनामाव्यः, परिवर्त्तते अस्या अवाग्गर्भ इत्यस्यामवस्थायां पर्य्यङ्कमेनामारोप्य प्रवाहितमुपक्रमेत कर्णे चास्या मन्त्रमिममनुकूला स्त्री जपेत् ॥ ८५ ॥

ऐसे समय गर्भवती स्त्रीको कूठ, इलायची, लांगुलीकन्द, वच, चित्रक और कंजेका चूर्ण कर वारंवार सुंघाना चाहिये। तथा भोजपत्रकी और शीशमकी गोंदकी धूनी थोडे थोडे देरके बाद योनिमें देनी चाहिये। तथा कमर, दोनों पसवाडे, पीठ और नितम्ब आदि स्थानोंको सुखोष्ण तैल लगाकर धीरे २ मालिश करना चाहिये। ऐसा करनेसे गर्भकी नीचेकी ओर प्रवृत्ति होजाती है। जब ऐसा प्रतीत हो कि गर्भ हृदयकी ओरसे पेटमें आय गया है और योनिद्वारमें पहुंचनाही चाहता है और प्रसवकी वेदना अत्यंत शीघ्र शीघ्र होने लगती है तब जानना कि,इसका गर्भ अधोमुख होकर

बाहर आनाही चाहता है तो इसको शय्यापर बिठाकर कहे कि तू अब भीतरसे गर्भको बाहर ढकेलनेका यत्न कर और इधर उधरसे मालिशपूर्वक नरम हाथसे उस गर्भके बाहर निकालनेका यत्न कराना चाहिये। जब देखे कि, अब बालक प्रगट होनेहीवाला है तो योग्य स्त्री उसके कानमें यह मंत्र पढे ॥ ८५ ॥

प्रसवकालका मन्त्र।

" क्षितिर्जलं वियत्तेजो वायुर्विष्णुः प्रजापतिः।
सगर्भां त्वां सदा पान्तु वैशल्यञ्च दिशन्तु ते ॥ ८६ ॥
प्रसूष्व त्वमविक्लिष्टमाविक्लिष्टा शुभानने !।
कार्तिकेयद्युतिं पुत्रं कार्त्तिकेयाभिरक्षितम् ॥" इति ॥ ८७ ॥

८६ और ८७ का श्लोक मन्त्र है। इस मंत्रका यह अर्थ है। हे गर्भवती स्त्री! पृथ्वी, जल, आकाश, तेज, वायु, विष्णु और प्रजापति यह तुम्हारी सदा रक्षा करे। और तुम्हारे गर्भमें किसी प्रकारका उपद्रव न होने देवें। हे शुभानने! तू क्लेशरहित पुत्रको उत्पन्न कर तथा स्वामी कार्तिकके समान कान्तिवाला और स्वामीकार्त्तिकसे अभिरक्षित पुत्रको प्रगट कर ॥ ८६ ॥ ८७ ॥

ताश्चैनां यथोक्तगुणाः स्त्रियोऽनुशिष्युः। अनागतावीर्मा प्रवाहिष्ठाः या ह्यनागतावीः प्रवाहयते व्यर्थमेवास्यास्तत्कर्म भवति। प्रजा चास्या विकृतिमापन्ना च श्वासकासशोषप्लीहप्रसक्ता वा भवति यथा हि क्षवथूद्गारवातमूत्रपुरीषवेगान्प्रयतमानोऽप्यप्राप्तकालान्न लभते कृच्छ्रेण वाप्यवाप्नोति तथानागतकालं गर्भमपि प्रवाहमाणा। यथा चैषामेव क्षवथ्वादीनां सन्धारणमुपघातायोपपद्यते तथा प्राप्तकालस्य गर्भस्याप्रवहणमिति। सा यथानिर्देशं कुरुष्वेति वक्तव्या स्यात्। तथा च कुर्वती शनैः शनैः पूर्वं प्रवाहेत ततोऽनन्तरं बलवत्तरमिति तस्याञ्च प्रवाहमाणायां स्त्रियः शब्दं कुर्य्युः प्रजाताप्रजाता धन्यं धन्यं पुत्रमिति तथास्या हर्षेणाप्यायन्ते प्राणाः ॥ ८८ ॥

यदि उस समय बालक प्रगट न हो तो यथोक्त गुणसंपन्न स्त्रियें इस गर्भवती स्त्रीको कहें कि, यदि इस समय तुम्हारे प्रसवकी पीडा न होती हो तो अधिक जोर लगाकर ढकेलनेमें यत्न मत कर। क्योंकि प्रसव वेदनाके विनाही जो स्त्री गर्भको ढकेलनेके लिये यत्न करती है तो वह इसका यत्न व्यर्थही जाता है। और इसकी सन्तान भी विकृतिको प्राप्त होजाती है। अथवा उस स्त्रीका सन्तान श्वास, खांसी,

राजयक्ष्मा और प्लीहा रोग होता है। जैसे—छींक, डकार, वात, मूत्र, पुरीष इनका वेग यत्न करनेपर भी विना समय नहीं होसकता अर्थात् विना समय पेटको कितनाही दबा दिया जाय परन्तु कभी मल, मूत्र नहीं आता उसी प्रकार विना प्रसवके समय उपस्थित होनेके कितनेही जोरसे प्रसव होनेका यत्न कियाजाय परन्तु वह अपने समयके विना प्रगट नहीं होता, वैसेही आयेहुए छींक आदि वेगोंको रोकनेसे जिस प्रकार रोगादि उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार प्रसवकाल प्राप्त होनेपर उसको निकालनेका यत्न न करनेसे भयंकर परिणाम होता है। समीपवाली स्त्रियोंको गर्भवतीसे कहना चाहिये कि, जिसतरह हम कहें उसीप्रकार तुम करना। और उस गर्भवतीको भी उनकी आज्ञानुसार करना चाहिये। फिर प्रसव वेदना उपस्थित होनेपर उसको धीरे २ बालक बाहरको ढकेलना चाहिये। जब बालक प्रकट होतेहुए उसके शरीरमें बालकके प्रगट होनेकी योनिमें पीडा होनेसे व्याकुलता उत्पन्न होनेलगे तो उस समय उसकी समीपवाली सब स्त्रियें कहें कि, धन्य है धन्य है लडका पैदा हुआ है। लडका पैदा हुआ है। ऐसा कहनेसे उस स्त्रीके शरीरमें हर्ष उत्पन्न होकर प्राण प्रफुल्लित होजाते हैं॥ ८८॥

प्रसवके उपरांत कर्म।

यदा च प्रजाता स्यात्तदैनामवेक्षेत काचिदस्या अमरा प्रपन्ना न वेति। तस्याश्चेदमरा न प्रपन्ना स्यादथैनामन्यतमा स्त्री दक्षिणेन पाणिना नाभेरुपरिष्टाद्बलवन्निपीड्य सव्येन पाणिना पृष्ठत उपसंगृह्य सुनिर्धूतं निर्धुनुयात्। अथास्याः पादपार्ष्ण्या श्रोणीमाकोटयेदस्याः स्फिचावुपसंगृह्य सुपीडितं पीडयेत्। अथास्या बालवेण्या कण्ठतालू परिमृशेत्॥ ८९॥

बालकका जन्म होनेके अनन्तर देखे कि अमरा अर्थात् जेर निकल गई है कि नहीं। यदि अमरा न निकली हो तो एक स्त्री प्रसूताकी नाभिके ऊपर दहिना हाथ रखकर उससे नाभिको दबावे और बायें हाथसे पीठको बलपूर्वक दबावे और हिलावे फिर पांवकी एडियोंको नाभिके समीप लेजाकर उसके दोनों नितम्बोंको अच्छी तरहसे पीडन करे। फिर उसकी वेणीको (गूंथको) मुखमें प्रवेशकरके कंठ और तालुपर फेरे॥ ८९॥

भूर्जपत्रकाचमणिसर्पनिर्मोकैश्चास्या योनिं धूपयेत्। कुष्ठतालीसकल्कं बल्वजयूषे मैरेयसुरामण्डे वा कौलत्थे वा मण्डूकपर्णीपिप्पलीक्काथे वा संप्लाव्य पाययेदेनाम्॥ ९०॥

फिर भोजपत्र, कांच, मणि और सांपके कांचुलीकी इसकी योनिमें धूनी देवे तथा बल्वज बूटीके जडका क्वाथ, मैरेय मद्य, सुरामण्ड, कुल्थीका यूष अथवा पीपलके क्वाथके साथ कुष्ठ और तालीशपत्रके कल्कको मिलाकर पीनेके लिये देवे॥९०॥

अमरा निकालनेकी विधि।

तथा सूक्ष्मैलां किलिमकुष्ठनागरविडङ्गकालविडचव्यपिप्पलीचित्रकोपकुञ्चिकाकल्कं खरस्य वृषभस्य वा जरतो दक्षिणं कर्णमुत्कृत्य दृषदि जर्जरीकृत्य बल्वजयूषादीनामन्यतममस्मिन्प्रक्षिप्य मुहूर्त्तस्थितमुद्धृत्य तदाप्लावनं पाययेदेनाम् ॥ ९१ ॥

तथा छोटी इलायची, देवदारु, कूट, सोंठ, वायविडंग, विडनमक, चव्य, पीपल, चित्रक और कालाजीरा इनके कल्कको बल्वजतृणके क्वाथ आदिमें मिलाकर पिलावे। और वृद्ध खर तथा वृषभके दक्षिण कर्णको जरासा काटकर पत्थरके ऊपर जरजरी बना बल्वज आदि क्वाथमें दो घडी भिगो रक्खे फिर वह क्वाथ छानकर इस प्रसूता स्त्रीको पिलाना चाहिये ॥ ९१ ॥

शतपुष्पाकुष्ठमदनहिङ्गुसिद्धस्य चैनां तैलस्य पिचुं ग्राहयेत्। अतश्चैवानुवासयेत्, एतैरेव चाप्लावनैः फलजीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गवकुटजकृतवेधनहस्तिपर्ण्युपहितैरास्थापयेत् ॥ ९२ ॥

फिर सौंफ, कूट, मैनफल, हींग इनसे सिद्ध किया तिलोंके तैलका फोहा प्रसूताकी योनिमें रक्खे। इसके उपरांत मैनफल, नागरमोथा, कड्डवी तुंबी, कुडा, कडवी तोरी और हस्तिपर्णी इन सबके कल्कको उपरोक्त बल्वज आदिके क्वाथमें मिला आस्थापन बस्ति करे ॥ ९२ ॥

तदास्थापनमस्या हि सह वातमूत्रपुरीषैर्निर्हरत्यमरामासक्तां वायोरनुलोमगमनात्। अमरां हि वातमूत्रपुरीषाण्यन्यानि चान्तर्बहिर्मुखानि सृजन्ति ॥ ९३ ॥

उस आस्थापन बस्तिके करनेसे वायु अनुलोम होकर वात, मूत्र और मल साफ और वायुका अनुलोमन होनेसे साथही अमरा भी निकल जातीहै। आस्थापन द्वारा पुरीष आदिकोंके बहिर्मुख होनेसे अमरा (आंवल) भी बाहर निकल आतीहै ॥९३

कुमारके कर्म।

तस्यां तु खल्वमरायाः प्रपतनार्थे खल्वेवमेव कर्मणि क्रियमाणे जात-

मात्रस्यैव कुमारस्य कार्य्याण्येतानि कर्माणि भवन्ति। तद्यथा-अश्मनोः संघट्टनं कर्णयोर्मूले, शीतोदकेनोष्णोदकेन वा मुखपरिषेकः। तथा स क्लेशविहतान्प्राणान्पुनर्लभेत। कृष्णकपालिकाशूर्पेण चैनमभिनिष्पुष्णीयाद्यद्येष्ट स्याद्यावत्प्राणानां प्रत्यागमनात्तत्तत् सर्वमेव कुर्य्युः॥ ९४॥

यह सब कर्म तो अमरा (आंवल) गिरानेके लिये किये जाते हैं। अब बालकके संबंधमें जो कर्म करने चाहियें उनको वर्णन करतेहैं। जैसे-जब बालक उत्पन्न हो तो उस बालकके कानके समीप दो पत्थरोंको बजाना और शीतल अथवा गरम जलसे धीरे धीरे मुखको धोना और मुखपर छींटे देना जिससे प्रसवसमयके कष्टसे उत्पन्न हुई मूर्च्छा दूर होकर बालकके प्राण प्रफुल्लित हों अर्थात् शरीरमें फिर आजांय फिर एक काले बडे शरावसे अथवा छाजसे इस बालकको धीरे धीरे हवा करे तथा बालककी मूर्च्छा दूर करनेके लिये और उनके शरीरमें प्राणोंका आगमन होनेके लिये जो जो उपाय उचित हों करने चाहिये॥ ९४॥

ततः प्रत्यागतप्राणं प्रकृतिभूतमभिसमीक्ष्य स्नानोदकग्रहणाभ्यामुपपादयेत्। अथास्य ताल्वोष्ठकण्ठजिह्वाप्रमार्जनमारभेत अङ्गुल्या-सुपरिलिखितनखया सुप्रक्षालितोपधानकार्पासपिचुमत्या। प्रथमं प्रमार्जितस्यास्य चास्यशिरस्तालु कार्पासपिचुना स्नेहगर्भेण प्रतिच्छादयेत्। ततोऽस्यानन्तरं कार्य्यं सैन्धवोपहितेन सर्पिषा प्रच्छर्दनम्॥ ९५॥

जब बालक होशमें आकर रोनेलगे और स्वस्थवृत्ति होजाय फिर उसको स्नान करावे तथा हाथ आदिसे स्वच्छ करे। उसके उपरान्त कोई स्त्री हाथकी अंगुलीको साफकरके उस अंगुलीका नख उत्तमतासे कटाहोना चाहिये फिर उस अंगुलीपर उत्तम साफ धुनीहुई रुईके फोहेको लपेट उस बालकके तालू, होंठ और कण्ठको साफ करे। फिर रुईके फोहेको तैलमें भिगोकर बालकके तालुवेपर रक्खे। फिर इसके उपरान्त सेंधानमक और घीसे बालकको वमन करावे॥ ९५॥

नालुवाछेदन विधि।

नाड्यास्तस्याः कल्पनविधिमुपदेक्ष्यामः। नाभिबन्धनात्प्रभृति हित्वाष्टाङ्गुलमभिज्ञानं कृत्वा छेदनावकाशस्य द्वयोरन्तरयोः शनैर्गृहीत्वा

तीक्ष्णेन रौक्मराजतायसानां छेदनानामन्यतमेनोर्द्धधारेण छेदयेत् । तामग्रे सूत्रेणोपनिबध्य कण्ठे चास्य शिथिलमवसृजेत् ॥ ९६ ॥

अब बालककी नाल काटनेकी विधि कथन करतेहैं । नाभिसे आठ अंगुल लम्बी छोडकर जिस स्थानपरसे काटनी हो उसके दोनों ओर ऊपर और नीचेसे धागेके साथ बांधदेना चाहिये । फिर उन दोनों बंधनोंके बीचमेंसे सोना, चांदी अथवा लोहेकी तीक्ष्ण (पैनी) धारवाली छुरीसे नालको काटदेना चाहिये । फिर जो नाल नाभिसे आठ अंगुल लगी हुई है उसको सूतके डोरेसे बांधकर बालकके गलेमें इस प्रकार ढीली बांध देनी चाहिये जिससे वह खिंचे नहीं और डोरा भी ऐसी युक्तिसे और नरम बांधना चाहिये कि, जिससे उस बालकके नरम शरीरमें कहीं अपना असर न दिखावे ॥ ९६ ॥

नाभिपाकका यत्न ।

तस्य चेन्नाभिः पच्येत्तां लोध्रमधुकप्रियङ्गुदारुहरिद्राकल्कसिद्धेन तैलेनाभ्यज्यात् । एषामेव तैलौषधानां चूर्णेनावचूर्णयेदेष नाडीकल्पनविधिरुक्तः सम्यक् ॥ ९७ ॥

यदि बालककी नाभि पकजाय तो पठानी लोध, मुलहठी, प्रियंगु, हल्दी और दारुहल्दी इनके कल्कद्वारा सिद्ध कियाहुआ तैल उस नाभिपर लगाना चाहिये । अथवा इन उपरोक्त औषधियोंके बारीक चूर्णको तैलमें मिलाकर नाभिपर लगादेना चाहिये । इस प्रकार नालवाकल्पनविधि कथन की गई है ॥ ९७ ॥

असम्यक्कल्पने हि नाड्या आयामव्यायामोत्तुण्डितपिण्डालिकाविनामिकाविजृम्भिकाबाधेभ्यो भयम् ॥ ९८ ॥ तत्राविदाहिभिर्वातपित्तप्रशमनैरभ्यङ्गोत्सादनपरिषेकैः सर्पिर्भिश्चोपक्रमेत गुरुलाघवमभिसमीक्ष्य कुमारस्य ॥ ९९ ॥

यदि नालवेका उत्तमप्रकारसे छेदन न कियाजायगा तो उस बालकको आयामक, व्यायाम, उत्तुण्डिका, पिण्डालिका, विमानिका और विजृम्भिका नामक व्याधियोंके उस नाभीमें उत्पन्न होनेका भय है ॥ इनके उत्पन्न होनेपर इन व्याधियोंकी तथा बालककी लघुता, गुरुता आदि देखकर अविदाही वातपित्तनाशक, उत्सादन और परिषेकों द्वारा तथा सिद्ध घृतद्वारा चिकित्सा करनी चाहिये । (इसकी विशेष चिकित्सास्थान १३ वें अध्यायमें देखना) ॥ ९८ ॥ ९९ ॥

जातकर्मविधि।

प्रागतो जातकर्म कार्य्यम् । ततो मधुसर्पिषी मन्त्रोपमन्त्रिते यथान्यायं प्राशितुमस्मै दद्यात् । स्तनमत ऊर्द्ध्वमनेनैव विधिना दक्षिणं पातुं पुरस्तात्प्रयच्छेत् । अथातः शीर्षतः स्थापयेदुदकुम्भं मन्त्रोपमन्त्रितम् ॥ १०० ॥

प्रथम बालकका जातकर्म करना चाहिये। वेदोक्त मन्त्रोंद्वारा मंत्रित कियाहुआ घृत और मधु विषमभाग मिलाकर बालकको चटाना चाहिये। इसके उपरान्त इसी विधिसे पहिले दाहिना स्तन पीनेके लिये देना चाहिये। फिर उसके सिरके समीप मंत्रोंसे मन्त्रित किया जलका कलश रखना चाहिये ॥ १०० ॥

रक्षाविधि।

अथास्य रक्षां विदध्यात्,आदानीखदिरकर्कन्धूपीलुपरूषकशाखाभिरस्या गृहं भिषक्समन्ततः परिवारयेत् । सर्वतश्च सूतिकागारस्य सर्षपातसीतण्डुलकणिकाः प्रकिरेत् । तथा तण्डुलबलिमङ्गलहोमः सततमुभयकालं क्रियंते प्राङ्नामकर्मणः, द्वारे च मुसलमनु तिरश्चीनं न्यस्तं कुर्य्यात् । वचाकुष्ठक्षौमकहिंगुसर्षपातसीलशुनकणकणिकानां रक्षोघ्नसमाख्यातानाञ्च औषधीनां पोट्टलिकां बद्ध्वा सूतिकागारस्योत्तरदेहल्यामासृजेत् । तथा सूतिकायाः कण्ठे सपुत्रायाः। स्थाल्युदककुम्भपर्य्यङ्केष्वपि । तथैव च द्वयोर्द्वारपक्षयोः । सकणकुम्भकेन्धनाग्निस्तिन्दुककाष्ठेन्धनश्चाग्निः सूतिकागारस्याभ्यन्तरतो नित्यं स्यात् । स्त्रियश्चैनां यथोक्तगुणाः सुहृदश्चानु जागृयुर्दशाहं द्वादशाहं वा। अनुपरतप्रदानमङ्गालाशीःस्तुतिगीतवादित्रमन्नपानविशदमनुरक्तप्रहृष्टजनसम्पूर्णं तद्वेश्म कार्य्यम् । ब्राह्मणश्चाथर्ववेदवित् सततमुभयकालं शान्तिं जुहुयात्स्वस्त्ययनार्थं सुकुमारस्य तथा सूतिकायाः । इत्येतद्रक्षाविधानमुक्तम् ॥ १०१ ॥

इसके उपरान्त इस बालककी रक्षा करे। उस रक्षाविधिका वर्णन करते हैं। जैसे-आदानी (घोषक), खैर, बेर, पीलु, फालसा इन सब वृक्षोंकी शाखाओंको घरके

चारों ओर लटका देवे। और उस प्रसूतघरमें सफेद सरसों, अलसी और चावलोंके दाने बखेरदेवे। प्रातःकाल और सायंकाल दोनों समय चावलोंका बलिदान और मंगलकर्म, हवन आदि नित्यप्रति करना चाहिये। तथा नामकरण संस्कार होनेसे प्रथम द्वारमें एक लोहेका मूसल टेढाकर रखदेना चाहिये और वच, कूट, अजवायन, हींग, सफेद सरसों, अलसी,लहसुन, चावल इनसबकी पोटली बांधकर तथा भूतादि-नाशक औषधियोंकी पोटली बांधकर प्रसूतघरके उत्तरके द्वारकी देहलीपर रख देना चाहिये। या चौकटमें बांधकर लटका देना चाहिये। इसी प्रकार इन भूतनाशक द्रव्योंकी छोटी २ पोटली बना प्रसूता स्त्री और बालकके गलेसे बांधदेना चाहिये। एवं प्रसू-ताके भोजनकरनेके पात्रमें और जल पीनेके घटमें तथा चारपाईमें और दोनों ओरके किवाडोंमें भी बांधना चाहिये। इस प्रसूताके घरमें सरसों आदिके कणके, चावल, जलका घडा, लकडियें, अग्नि, तेंदुकी लकडीसे प्रज्वलित हुई अग्नि सदैव रखनी चाहिये। और यथोक्तगुणसंपन्न तथा इससे स्नेह रखनेवाली स्त्रियें और सुहृद्गण इसकी सब प्रकारसे सेवामें सावधानीसे लगे रहें। इस प्रकार दश बारह दिन व्यतीत करना चाहिये। इसके अनन्तर भी दान देना, मंगलकर्म, आशीर्वाद लेना, वेदध्वनि, गीत और बाजे आदि शुभकर्मोंको करतेरहना चाहिये। अथर्ववेदके जाननेवाले ब्राह्मण दोनों समय इस बालककी रक्षाके लिये और प्रसूताकी रक्षाके लिये दोनों समय कल्याणकारी शान्तिपाठ और होमादिक किया करें। इस प्रकार रक्षावि-धिका कथन कियागया ॥ १०१ ॥

प्रसूतिकाका आहारविहार वर्णन।

सूतिकां तु खलु बुभुक्षितां विदित्वा स्नेहं पाययेत्प्रथमं परमया शक्त्या सर्पिस्तैलं वसां मज्जानं वा सात्म्यीभावमभिसमीक्ष्य भिषक् पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेरचूर्णसहितम्। स्नेहं पीतवत्याश्च सर्पिस्तैलाभ्यामभ्यज्य वेष्टयेदुदरं महता वाससा। तथा तस्या न वायुरुदरे विकृतिमुत्पादयत्यनवकाशत्वात्। जीर्णे तु स्नेहे पिप्पल्या-दिभिरेव सिद्धां यवागूं सुस्निग्धां द्रवां मात्रशः पाययेत्।उभयकालञ्चो-ष्णोदकेन परिषेचयेत्प्राक्स्नेहयवागूपानाभ्याम्। एवं पञ्चरात्रं सप्त-रात्रञ्चानुपाल्य ततः क्रमेणाप्ययेत्। स्वस्थवृत्तमेतत्सूतिकायाः॥१०२॥

प्रसूता स्त्रीको जिस समय क्षुधा लगे तो उसको उसकी सामर्थ्यानुसार उत्तम मात्रासे स्नेहपान करावे। और उसका सात्म्य विचार करके जिस देशमें उसके लिये जो

हितकारी हो सो घृत तैल अथवा वसा या मज्जा पान करावे । तथा पीपल, पीपलामूल, चव्य चित्रक और सोंठ इनका चूर्ण मिलाकर स्नेहपान कराना चाहिये । और उस स्त्रीके पेटपर घृत और तैल दोनों मिलाकर चोपड देवे । इसके उपरान्त पेटपर कोई लम्बा कपडा लपेट देवे । ऐसा करनेसे उसके पेटमें वायु प्रवेश होकर अवकाश न मिलनेसे विकार नहीं करसकता । जब स्नेहपान किया हुआ जीर्ण होजाय फिर पीपल, पिपलामूल, चव्य, चित्रक और सोंठ यह मिलाकर सिद्ध कीहुई चिकनी यवागू पतलीसी बनाकर मात्रानुसार दोनों समय पीनेको देवे। स्नेह और यवागू पान करनेके पहिलेही प्रसूता स्त्रीको गर्मजलसे परिषेक करादेना चाहिये । फिर पांच या सात रात्रिपर्यन्त इसी नियमको पालन करे और फिर क्रमसे इसको पुष्ट करताजाय । यह प्रसूताके स्वास्थ्य अर्थात् तन्दुरुस्त अवस्थाके क्रमका वर्णन किया है ॥ १०२ ॥

प्रसूताका रोगावस्थामें उपाय ।

तस्यास्तु खलु यो व्याधिरुत्पद्यते स कृच्छ्रसाध्यो भवत्यसाध्यो वा । गर्भवृद्धिक्षयितशिथिलसर्वशरीरधातुत्वात् । प्रवाहणवेदनाक्लेदनरक्तनिःसृतिविशेषशून्यशरीरत्वाच्च। तस्मात्तां यथोक्तेन विधिनोपचरेद्भौतिकजीवनीयबृंहणीयमधुरवातहरसिद्धैरभ्यङ्गोत्सादनपरिषेकावगाहनान्नपानविधिभिर्विशेषतश्चोपचरेद्विशेषतो हि शून्यशरीराः स्त्रियः प्रजाता भवन्ति ॥ १०३ ॥

यदि प्रसूता स्त्रीको किसी प्रकारकी व्याधि उत्पन्न होजाय तो वह व्याधि कष्टसाध्य अथवा असाध्य होजाती है । क्योंकि उस समय गर्भके बढनेके कारण स्त्रीका शरीर और संपूर्ण धातुएँ क्षीण और शिथिल होती हैं और प्रसवके समय प्रसूतकी पीडा और शरीरसे क्लेद और रक्तके निकलजानेसे शरीर और भी विशेषरूपसे शून्य होजाता है । इसलिये सावधान होकर प्रसूतके समय पूर्वोक्त विधिका पालन करे । और विशेषकर भूतनाशकगण, जीवनीयगण, बृंहणीयगण और वातनाशक द्रव्योंसे सिद्धकिये तैलकी मालिश, उत्सादन, परिषेचन, अवगाहन और अन्नपानोंका उपयोग करे । क्योंकि प्रसव होनेसे स्त्रियोंका शरीर विशेषरूपसे शून्य(खाली) होता है॥

बालक होनेपर दशमदिनकी विधि ।

दशम्यां निश्यतीतायां सपुत्रा स्त्री सर्वगन्धौषधैर्गौरसर्षपलोध्रैश्च स्नाता लघ्वहतवस्त्रं परिधाय पवित्रेष्टलघुविचित्रभूषणवती संस्पृश्य मङ्ग-

लान्युचितामर्च्चयित्वा च देवतां शिखिनः शुक्लवाससो व्यङ्गाश्च ब्राह्मणान् स्वस्तिवाचयित्वा कुमारमहतेन शुचिवाससाच्छादयेत् प्राक्शिरसमुदक्शिरसं वा संवेश्य । देवतापूर्वं द्विजातिभ्यः प्रणमतीत्युक्त्वा कुमारस्य पिता द्वे नामनी कारयेत् नाक्षत्रिकं नामाभिप्रायिकञ्च । तत्राभिप्रायिकं नाम घोषवदाद्यन्तस्थान्तमूष्मान्तञ्च वृद्धं त्रिपुरुषान्तरमनवप्रतिष्ठितम् । नाक्षत्रिकं तु नक्षत्रदेवतासंयुक्तं कृतं द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा ॥ १०४ ॥

दशरात्रि व्यतीत होनेके अनन्तर ग्यारहवें दिन प्रसूता स्त्री और उस बालकका सर्वौषधी तथा सर्वगन्ध, सफेद सरसों और पठानी लोध इन सबका कल्क शरीरमें लगा फिर उष्णजलसे स्नान करावे। तदनंतर स्वच्छ, हल्के और नये वस्त्रोंको धारण करके मंगलद्रव्योंका स्पर्श करावे । और इष्टदेवताओंका पूजन करावे । फिर शिखासूत्र धारणकिये श्वेत वस्त्रोंवाले सर्वांगसंपन्न योग्य ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन करावे तथा उस बालकको निर्मल कोमल नवीन सफेद वस्त्र धारण करावे । फिर उस बालकको पूर्व अथवा उत्तरकी ओर मुख कर लेटादेवे । फिर उस बालकका पिता प्रथम देवता और ब्राह्मणोंको प्रणाम करके उस लडकेके नक्षत्र संबंधी और अपना इच्छित दो नाम रक्खे । उनमें बोलनेका अर्थात् अपनी इच्छानुसार जो नाम रक्खा जाय उस नामके आदि और अन्तमें क्रमसे घोषवान् और अन्तस्थ अक्षर होने चाहिये। अथवा अन्तमें ऊष्मा अक्षर होना चाहिये। पुत्रका नाम रखते समय अपने पिता पितामह आदि तीन पीढीके नाम बचाकर और अपने गुरु आदिका नाम बचा और कोई नाम रखना चाहिये। वह नाम भी वर्तमान समयका कल्पना किया न होना चाहिये किन्तु पुराने समयके देवता या ऋषियोंकासा नाम होना चाहिये। तथा नाक्षत्रिक अर्थात् जन्म-नक्षत्रके चरणगत अक्षरसे जो नाम रक्खाजाय वह दो अक्षरोंवाला अथवा चार अक्षरोंवाला होना चाहिये ॥ १०४ ॥

कृते च नामकर्मणि कुमारं परीक्षितुमुपक्रमेदायुषः प्रमाणज्ञानहेतोः। तत्रेमानि आयुष्मतां कुमाराणां लक्षणानि भवन्ति । तद्यथा—एकैकजा मृदवोऽल्पाः स्निग्धाः सुबद्धमूलाः कृष्णाः केशाः प्रशस्यन्ते । स्थिरा बहला त्वक्, प्रकृत्याकृतिसुसम्पन्नमीषत्प्रमाणातिरिक्तमनुरूपमातपत्रोपमं शिरः प्रशस्यते । व्यूढं दृढं समं सुश्लिष्टशंखसन्ध्यर्द्ध-

व्यञ्जनमुपचितं बलिनमर्द्धचन्द्राकृतिललाटम्। महलौ विपुलसमपीठौ समौ नीचौ वृद्धौ पृष्ठतोऽवनतौ सुश्लिष्टकर्णपुटकौ महाच्छिद्रौ कर्णौ, ईषत्प्रलम्बिन्यावसङ्गते समे संहते महत्यौ भ्रुवौ। समे समाहितदर्शने व्यक्तभागविभागे बलवति तेजसोपपन्ने स्वाङ्गोपाङ्गे चक्षुषी। ऋज्वी महोच्छ्वासा वंशसम्पन्नेषदवनताग्रा नासिका। महदृजुसुनिविष्टदन्तमास्यम्, आयामविस्तरोपपन्ना श्लक्ष्णा तन्वी प्रकृतियुक्ता पाटलवर्णा जिह्वा। श्लक्ष्णं युक्तोपचयमूष्मोपपन्नं रक्तं तालु, महानदीनः स्निग्धोऽनुनादी गम्भीरसमुत्थो धीरः स्वरः। नातिस्थूलौ नातिकृशौ विस्तारोपपन्नावास्यप्रच्छादनौ रक्तावोष्ठौ। महत्यौ हनू। वृत्ता नातिमहती ग्रीवा। व्यूढमुपचितमुरो, दृढं जत्रु, पृष्ठवंशश्च। विकृष्टान्तरौ स्तनौ, अंसपातिनी स्थिरे पार्श्वे, वृत्तपरिपूर्णायतौ बाहू, सक्थिनी, अंगुलयश्च। महदुपचितं पाणिपादम्। स्थिरा वृत्ताः स्निग्धास्ताम्रास्तुङ्गाः कूर्माकाराः करजाः। प्रदक्षिणावर्त्ता सोत्सङ्गा च नाभिः। उरस्त्रिभागहीना समा समुपचितमांसा कटी। वृत्तौ स्थिरोपचितमांसौ नात्युन्नतौ नात्यवनतौ स्फिचौ। अनुपूर्वं वृत्तौ उपचययुक्तावूरू। नात्युपचिते नात्यपचिते एणीपदे प्रगूढशिरास्थिसन्धी जंघे। नात्युपचितौ नात्यपचितौ गुल्फौ। पूर्वोपदिष्टगुणौ पादौ कूर्माकारौ। प्रकृतियुक्तानि वातमूत्रपुरीषगुह्यानि। तथा स्वप्नजागरणायासस्मितरुदितस्तनग्रहणानि। यच्च किञ्चिदन्यदपि अनुक्तमस्ति तदपि सर्वं प्रकृतिसम्पन्नमिष्टं विपरीतं पुनरनिष्टमिति दीर्घायुर्लक्षणानि ॥ १०५ ॥

नामकरण करनेके अनन्तर उस बालककी आयुका प्रमाण जाननेके लिये उसकी परीक्षा करे। उनमें दीर्घजीवी अर्थात् दीर्घायु होनेवाले बालकोंके यह लक्षण होते हैं। जैसे सिरके बाल अलग २ नरम, चिकने, थोडे काले और दृढ, बद्धमूल, अच्छे होते हैं। त्वचा स्थिर और पुष्ट उत्तम होती है। शिर स्वभावसेही सुन्दर आकारका प्रमाणसे किंचित् बडा, सुन्दर लक्षणोंवाला, अनुरूप तथा छत्रके समान उत्तम

होता है। ललाट विशाल, दृढ, सुडौल, सुन्दर, उत्तम कनपटियोंकी संधियुक्त, कुछ ऊंचा और कुछ ढलाहुआसा उत्तम आकारवाला उपचित, बलियुक्त और अर्ध-चन्द्रके समान आकारवाला होना श्रेष्ठ होता है। दोनों कान पुष्ट, कानोंके पीछेका भाग विपुल और सुडौल तथा दोनों कान ऊंचे नीचे समान और पीछेको नवे हुएसे दोनों कर्णपुट सुश्लिष्ट तथा कानोंके छिद्र अर्थात् कोकरू बडे होना श्रेष्ठ मानेजाते हैं। भौंहें लंबी परस्पर मिलीहुई एकसी घनकी और बडी २ होना उत्तम होता है। दोनों नेत्र एकसे देखनेवाले, सुडौल, अलग २ सीधे, तेजयुक्त, पलक आदि सुन्दर उपांगयुक्त उत्तम होते हैं। नाक सुडौल, लम्बी श्वासयुक्त, लम्बे बांसवाली, कुछ कुछ आगेको झुकीहुई उत्तम होती है। मुख बडा, सुडौल,सुन्दर जिसके दोनों ओर सुन्दरतायुक्त हों तथा दंतपंक्ति सुन्दरतायुक्त हो वह मुख उत्तम होता है। जिह्वा लम्बी, चिकनी, पतली, सुडौल, गुलाबी रंगकी और अपने गुणोंसे संपन्न उत्तम होती है। तालु मसृण, पुष्ट, ऊंचा तथा लालवर्णका उत्तम होता है। स्वर बडा, दीनता-रहित, चिकना, प्रतिध्वनियुक्त, गंभीर तथा धीर उत्तम होता है। होठ न बहुत मोठे न अधिक पतले, विस्तारयुक्त, मुखको ढकेहुए और लालवर्णके उत्तम होते हैं। ठोडी गोल अधिक लम्बी न होना उत्तम होता है। गर्दन दृढ और थोडी लम्बी उत्तम होती है। दोनों कंधे, व्यूढ और दृढ तथा ऊंचे उत्तम होते हैं। हंसुली दृढ और छातीमें मिलीहुई उत्तम होती है। पीठका बांस मांसमें छिपा हुआ उत्तम होता है। स्तनोंके बीचका भाग फैलाहुआ चौडा अच्छा होता है। दोनों पार्श्व दोनों कंधोंकी ओर ढलेहुए और दृढ उत्तम होते हैं। दोनों बाहु, नितम्ब और अंगुलियें लम्बी गोल, परिपूर्ण और दृढ होना उत्तम है। हाथ और पांव-पुष्ट, दृढ और लम्बे उत्तम होते हैं। नख चिकने, ताम्रवर्ण, ऊंचे कछुएकी पीठके समान, सुडौल उत्तम होते हैं। नाभि-दक्षिणावर्त्त और बीचमेंसे गहरी किनारेसे ऊंची उत्तम होती है। नाभि और उरस्थलके बीचमें चौथा भाग प्रमाणसे सुडौल और पुष्ट कमर उत्तम होती है। दोनों नितम्ब गोल, दृढ मांससे पुष्ट न अति ऊंचे और न अधिक नीचे उत्तम होते हैं, दोनों ऊरुस्थल गोल, पुष्ट और मोटे उत्तम होते हैं। दोनों जानु गोल और पुष्ट उत्तम होती हैं। दोनों जांघ-हिरणीके पैरके समान और पुष्ट छिपी हुई हड्डियोंवाली जिनमें कोई नाडी दिखाई न देती हो और उनकी संधियें भी छिपी हों ऐसी उत्तम होती हैं। दोनों गुल्फ न बहु पुष्ट और न अधिक कृश उत्तम होते हैं। दोनों पांव पूर्वोक्त लक्षणवाले कछुएकी पीठके समान सुडौल उत्तम होते हैं। इनके सिवाय वायु, मूत्र, मल, गुह्यावयव, निद्रा, जागरण आदि अन्य प्रकृत्यनुसार व्यवहार तथा हास्य और रोदन तथा स्तनोंका पीना स्वाभाविक ठीक होने उत्तम होते हैं। यह लक्षण दीर्घायु कुमारके होते हैं इससे विपरीत लक्षण अल्पायु बालकोंके होते हैं। इस प्रकार दीर्घजीवी बालकोंके लक्षण कथन किये गये ॥ १०९ ॥

धात्रीपरीक्षा ।

अतो धात्रीपरीक्षामुपदेक्ष्यामः ॥ १०६ ॥

अब धात्रीकी परीक्षाका वर्णन करते हैं ॥ १०६ ॥

अथ ब्रूयाद्धात्रीमानयेति । समानवर्णां यौवनस्थां निभृतामनातुरामव्यङ्गामव्यसनामविरूपामजुगुप्सितां देशजातीयामक्षुद्रामक्षुद्रकर्मिणीं कुले जातां वत्सलामरोगजीवद्वत्सां पुंवत्सां दोग्ध्रीमप्रमत्तामशायिनीमनुच्चारशायिनीमनन्त्यावशायिनीं कुशलोपचारां शुचिमशुचिद्वेषिणीं स्तन्यसम्पदुपेतामिति ॥ १०७ ॥

इसके अनन्तर एक मनुष्यको कहे कि धात्री (धाय) को लावो । वह धात्री अपने समान वर्णकी हो, युवा हो, अयोग्य न हो, रोगरहित हो, सर्वांगसंपन्न हो, कुरूप और कुचरित्र न हो, निंदनीय न हो, अपने देशकी हो, नीच न हो, उत्तम स्वभाव व कर्मवाली हो, अच्छे कुलकी हो, बालकको प्यार करनेवाली हो, जिसको अपने बच्चे जीते हों अर्थात् मृतवत्सा न हो और लडकेवाली हो, जिसके स्तनोंमें बहुतसा दूध हो, असावधान न हो, बहुत सोनेवाली न हो तथा मूत्रपुरीषादिमें सोनेवाली न हो, जातिसे पतित न हो, चतुर उपचार करनेवाली हो, पवित्र हो, अपवित्रतासे द्वेष रखतीहो, जिसका दूध उत्तम हो ऐसे गुणोंवाली धात्री उत्तम होतीहै॥ १०७॥

उत्तम स्तनके लक्षण ।

तत्रेयं स्तनसम्पन्नात्यूर्द्ध्वौ नातिलम्बौ अनतिकृशौ अनतिपीनौ युक्तपिप्पलकौ सुखप्रपानौ चेति स्तनसम्पत् ॥ १०८ ॥

स्तनोंके यह लक्षण उत्तम होते हैं । अर्थात् धायके स्तन ऐसे होने चाहिये । अधिक ऊँचे, अधिक लम्बे, अधिक कृश और अधिक मोटे न हों । अनुरूप लक्षणवाले खुबसूरत पीपलके पत्तेके समान पीछेसे चौडे और आगेसे नोंकीले जिनमेंसे बालक सुखपूर्वक दूध पी सके ऐसे उत्तम होते हैं ॥ १०८ ॥

उत्तम दूधके लक्षण ।

स्तन्यसम्पत्तु प्रकृतिवर्णगन्धरसस्पर्शमुदपात्रे च दुह्यमानं दुग्धमुदकं व्येति प्रकृतिभूतत्वात्तत्पुष्टिकरमारोग्यकरञ्चेति स्तन्यसम्पदतोऽन्यथा व्यापन्नं ज्ञेयम् ॥ १०९ ॥

अब दूधके लक्षणोंका वर्णन करतेहैं-स्तनोंका दूध वर्ण, गंध, रस और स्पर्शमें स्वाभाविक गुणोंवाला होना चाहिये । स्वाभाविक गुणके ये लक्षण हैं कि, जो दूध जलके पात्रमें डालनेसे जलके साथही मिलजाय वही दूध पुष्टिकारक, आरोग्य रखने-वाला तथा उत्तम होता है।इन लक्षणोंसे विपरीत लक्षणोंवाला दूध दूषित जानना १०९

वातदूषित दूध ।

तस्य विशेषाः । श्यावारुणवर्णं कषायानुरसं विशदमनतिलक्ष्यगन्धं रूक्षं द्रवं फेनिलं लघु अतृप्तिकरं कर्षणं वातविकाराणां कर्तृ वातो-पसृष्टं क्षीरमभिज्ञेयम् ॥ ११० ॥

दूषित दूधके ये लक्षण हैं-जो दूध काले या लालवर्णका हो, कसैले रसयुक्त हो, जिसमेंसे कुछ २ गन्ध आती हो, जो अत्यंत रूखा हो, चंचल तथा झागयुक्त हो, जिसके पीनेसे तृप्ति न होती हो, बहुत हल्का हो, जिसके पीनेसे बालक कृश होजाय तथा वायुके विकारोंको उत्पन्न करता हो वह वातदूषित दूध जानना ॥ ११० ॥

पित्तदूषित दूध ।

कृष्णनीलपीतताम्रावभासं तिक्ताम्लकटुकानुरसं कुणपरुधिरगन्धि भृशोष्णं पित्तविकाराणां कर्तृ पित्तोपसृष्टं क्षीरमभिज्ञेयम् ॥ १११ ॥

जो दूध कृष्ण तथा नीलवर्णका अथवा पीले या तांबेके वर्णका हो और उस दूधका कडुआ, खट्टा, अथवा चरपरा अनुरस हो, मुर्देकीसी गन्ध आती हो, अथवा रुधिरकीसी गंध हो और अत्यन्त गरम हो एवम् पित्तके रोगोंको उत्पन्न करनेवाला हो उसको पित्तदूषित जानना ॥ १११ ॥

कफदूषित दूध ।

अत्यर्थशुक्लमतिमाधुर्य्योपपन्नं लवणानुरसं घृततैलवसामज्जगन्धि पिच्छिलं तन्तुमदुदकपात्रेऽवसीदति श्लेष्मविकाराणां कर्तृ श्लेष्मोप-सृष्टं क्षीरमभिज्ञेयम् ॥ ११२ ॥

जो दूध अत्यन्त श्वेतवर्ण हो, अधिक मीठा हो, लवण अनुरसयुक्त हो, घृत, तैल, वसा, मज्जाकीसी गन्धवाला हो,गाढा हो, तारयुक्त हो, जलमें डालनेसे डूब जाता हो एवम् कफरोगोंको उत्पन्न करनेवाला हो उसको कफदूषित जानना ॥ ११२ ॥

तेषां तु त्रयाणामपि क्षीरदोषाणां प्रकृतिविशेषमभिसमीक्ष्य यथास्वं

यथादोषञ्च वमनविरेचनास्थापनानुवासनानि विभज्य कृतानि प्रशमनाय भवन्ति ॥ ११३ ॥

उन तीनों प्रकारके दूषित दूधोंको शुद्ध करनेके लिये धायको वमन, विरेचन और आस्थापन तथा अनुवासन कर्म यथायोग्य रीतिपर दोषानुसार विभागपूर्वक करना चाहिये ॥ ११३ ॥

धात्रीके खानेपीनेकी विधि।

पानाशनविधिस्तु दुष्टक्षीराया यवगोधूमशालिषष्टिकमुद्गहरेणुककुलत्थसुरासौवीरकतुषोदकमैरेयमेदकलशुनकरञ्जप्रायः स्यात् ॥ ११४ ॥

उस दूषित दूधवाली धायको खानेपीनेके लिये प्रायः यव, गेहूं, उत्तम शालिचावल, साठीचावल, मूंग, हरेणु, कुल्थी, सुरा, सौवीर, मैरेय, तुषोदक, मेदक, लहसुन और करंज आदि द्रव्योंको देना चाहिये ॥ ११४ ॥

क्षीरदोषविशेषांश्चावेक्ष्यावेक्ष्य तत्तद्विधानं कार्य्यं स्यात् ॥ ११५ ॥

क्षीर (दूध) के दोषोंको विशेषरूपसे विचारकर और उनमें वातादि दोषोंकी पृथक् २ परीक्षा कर चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ११५ ॥

दुग्धशोधक उपाय।

पाठामहौषधसुरदारुमुस्तमूर्वागुडूचीवत्सकफलकिराततिक्तकटुरोहिणीशारिवाकषायाणाञ्च पानं प्रशस्यते। तथान्येषां तिक्तकषायकटुमधुराणां द्रव्याणां प्रयोगः। इति क्षीरशोधनान्युक्तानि भवन्ति ॥ क्षीरविकारविशेषानभिसमीक्ष्य मात्राकालञ्चेति क्षीरविशोधनानि ११६ ॥

धात्रीके दूधको शुद्ध करनेके लिये पाठा, सोंठ, देवदारु, नागरमोथा, मूर्वा, गिलोय, इन्द्रयव, चिरायता, कुटकी और सारिवाका क्वाथ बना पिलाना चाहिये। तथा दोषोंके अनुसार विचारपूर्वक कडुवे, कसैले, चरपरे तथा मधुर द्रव्योंका प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार क्षीरके शोधनके उपाय कहेगये। और क्षीरके विकारोंको पृथक् पृथक् विचार कर मात्रा तथा कालका ध्यान रखकर उचित रीतिसे उचित द्रव्योंद्वारा शोधन करना चाहिये। यह दूध शोधनकी विधि कहीगई ॥ ११६ ॥

दुग्धोत्पादक विधि।

क्षीरजननानि तु मद्यानि सीधुवर्ज्यानि। ग्राम्यानूपौदकानि च शाकधान्यमांसानि। द्रवमधुराम्लभूयिष्ठाश्चाहाराः। क्षीरिण्यश्चौषधयः।

क्षीरपानञ्चानायासश्चेति । वीरणषष्टिशालिकेक्षुबालिकादर्भकुशकाश- गुन्द्रोत्कटमूलकषायाणाञ्च पानमिति क्षीरजननान्युक्तानि ॥ ११७॥

स्तन्य अर्थात् स्तनोंमें दूध बढानेवाले यह द्रव्य हैं । जैसे-शीधुमद्यके सिवाय अन्य सब प्रकारके मद्य, ग्राम्य और अनूप तथा जलमें होनेवाले शाक धान्य और मांस, पतले पदार्थ, मधुर और खटमीठे द्रव्य, गुलड आदि क्षीरीगण, दूधका पीना, परिश्रम न करना, वीरणतृण, साठीचावल, इक्षुबालिका, दर्भ, कुशा, काश, गुन्द्रपटेर और उत्कट इन सबकी जडोंका क्काथ बना मिसरी मिला पीना स्तनोंमें दूधको बढाता है ॥ ११७ ॥

शुद्धदूधवालीका कर्त्तव्य कर्म ।

धात्री तु यदा स्वादुबहुलशुद्धदुग्धा स्यात्तदा स्नातानुलिप्ता शुक्लवस्त्रं परिधायैन्द्रीं ब्राह्मीं शतवीर्य्यां सहस्रवीर्य्याममोघामव्यथां शिवाम- रिष्टां वाट्यपुष्पीं विष्वक्सेनकान्तामिति बिभ्रत्यौषधीः कुमारं प्राङ्- मुखं प्रथमं दक्षिणं स्तनं पाययेदिति धात्रीकर्म ॥ ११८ ॥

जब देखे कि, धायका दूध स्वादिष्ठ, बहुत और शुद्ध होगया है तब इस धायको स्नान कराकर चन्दनादिसे सुशोभित करा स्वच्छ निर्मल वस्त्र पहिना इन्द्रायण, ब्राह्मी, सफेद और हरी दूब, पाढ, हरड, आमले, नीम, बला, प्रियंगु रेंडुका इन सब औष- धियोंको एक धागेमें मालाके समान बांध गलेमें धारण करे फिर पूर्वकी ओर मुखकर बालकको पहिले दहिना स्तन पान करावे ॥ ११८ ॥

कुमारागारविधि ।

अतोऽनन्तरं कुमारागारविधिमनुव्याख्यास्यामः । वास्तुविद्याकुशलः प्रशस्तं रम्यमतमस्कं निवातं प्रवातैकदेशं दृढमपगतश्वापदपशुदंष्ट्रि- मूषिकपतङ्गं सुसंविभक्तसलिलोलूखलमूत्रवर्चःस्थानस्नानभूमिमहान- समृतुसुखं यथर्तुशयनास्तरणसम्पन्नं कुर्य्यात् तथा सुविहितरक्षाविधा- नबलिमङ्गलहोमप्रायश्चित्तं शुचिवृद्धवैद्यानुरक्तजनसम्पूर्णम् । इति कुमारागारविधिः ॥ ११९ ॥

इसके उपरान्त अब बालकके रहनेका स्थान बनानेकी विधिका कथन करते हैं- उत्तम वास्तुविद्याको जाननेवाला चतुर पुरुष उत्तम इधर उधर फिरने योग्य अन्ध-

कार रहित, जिस स्थानमें अधिक वायु न आती हो तथा एक ओर सुंदर पवन आती भी हो ऐसा दृढ अर्थात् पक्का मकान बनावे। जिस मकानमें कुत्ते, काटनेवाले पशु, अन्य दांतोंवाले जानवर तथा हिंसक जीव, मच्छर, मूषक, पतंग आदि न आसके। और उस घरमें विधिपूर्वक यथास्थान जल, ऊखल मलमूत्र त्यागनेका स्थान, स्नान करनेका स्थान भोजन बनानेका स्थान यथाऋतु शयन करने और बैठनेके लिये तथा बिछाने और ओढनेके लिये सुखदायी वस्त्र एवं इस घरमें संपूर्ण रक्षाके विधान, बलिदान, मंगल कर्म, होम और प्रायश्चित्तकी सामग्री तथा पवित्र, वृद्धवैद्य और बालकसे प्रीति रखनेवाले मनुष्य रहने चाहिये । इस प्रकार कुमारागारकी विधि वर्णन कीगई ॥ ११९ ॥

शयनास्तरणप्रावरणानि कुमारस्य मृदुलघुशुचिसुगन्धीनि स्युः ।
स्वेदमलजन्तुमन्ति मूत्रपुरीषोपसृष्टानि च वर्ज्यानि स्युः ॥ १२० ॥

बालकके सोनेकी शय्या और बिछोनेके वस्त्र और ओढनेके वस्त्र हलके, सुन्दर, नरम पवित्र और सुगंधित होने चाहिये । उनमें पसीना, मल, मूत्र, जीव, विष्ठा आदि किसी समय भी न रहना चाहिये ॥ १२० ॥

असति सम्भवेऽन्येषां तान्येव च सुप्रक्षालितोपधानानि सुधूपितानि
सुशुद्धशुष्काण्युपयोगं गच्छेयुः ॥ १२१ ॥

यदि बारबार नये और स्वच्छ वस्त्र प्राप्त न करसकें तो उन्हीं वस्त्रोंको उत्तम रीतिसे धोकर स्वच्छ करे और अच्छीतरह सुखा शुद्ध सूखे होनेपर सुगंधित धूप आदि दे उन्हींका वर्ताव करे। अर्थात् पहिले बदल दिया करे और दूसरे धुलेहुओंको उपयोग किया करे॥ १२१ ॥

वस्त्रोंमे धूप देनेवाली औषधी ।

धूपनानि पुनर्वाससां शयनास्तरणप्रावरणानाञ्च यवसर्षपातसीहिङ्गु-
गुग्गुलुवचाचोरकवयस्थागोलोमीजटिलापलङ्कषाऽशोकरोहिणीसर्प-
निर्मोकाणि घृते संपृक्तानि स्युः ॥ १२२ ॥

धूपनद्रव्य अर्थात् बालकोंके वस्त्रोंको धुनी देनेके यह द्रव्य हैं । जैसे—यव, सरसों, अलसी, हींग, गूगल, वच, गठीवन, हरड, बालछड, जटामांसी, लाख, अशोक, कुटकी और सांपकी कांचुली इन सबके बारीक चूर्णको घृतमें मिला बालकके वस्त्र, शय्या आदि सबको धुनी देनी चाहिये ॥ १२२ ॥

कुमारकी अन्यरक्षा विधि।

मणयश्च धारणीयाः कुमारस्य। खड्गरुरुगवयवृषभाणां जीवतामेव दक्षिणेभ्यो विषाणेभ्योऽग्राणि गृहीतानि स्युः। मन्त्राद्याश्चौषधयो जीवकर्षभकौ च यान्यपि अन्यानि ब्राह्मणाः प्रशंसेयुः ॥ १२३ ॥

इस बालकको मणि धारण कराना चाहिये। और गैंडा, रुरु, गज, अथवा रोझ या वृषभ इन जीतेहुओंमेंसे किसीका दहिनी सींगका अग्रभाग या इन सबके ही दहिनी सींगका अग्रभाग और मंत्रादिकोंसे अभिमंत्रित औषधियें, जीवक, ऋषभक, अन्य वच, सीप आदि जिन द्रव्योंको ब्राह्मण अच्छा कहते हों वह सब इस बालकको धारण कराना चाहिये ॥ १२३ ॥

बालकके खिलौने।

क्रीडनकानि खल्वस्य तु विचित्राणि घोषवन्त्यभिरामाणि अगुरूण्यतीक्ष्णाग्राणि अनास्यप्रवेशीनि अप्राणहराणि अवित्रासनानि स्युः ॥

इस बालकके खेलनेके लिये चित्र विचित्र शब्द करनेवाले अर्थात् बजनेवाले सुन्दर खिलौने रखने चाहिये। वह खिलौने हलके, जिनके हाथ पावोंपर गिरजानेसें चोट न लगे तथा आगेसे पैनें न हों एवं मुखमें न चुभजांय, ऐसे तीक्ष्ण न हों जो बालकके प्राणोंको लेलें या कष्ट देवें। इस प्रकारके हलके खिलौने होने चाहिये१२४

न हि अस्य वित्रासनं साधु। तस्मात्तस्मिन्रुदत्यभुञ्जाने वा अन्यत्र विधेयतामगच्छति राक्षसपिशाचपूतनाद्यानां नामान्याह्वयता कुमारस्य वित्रासनार्थं नामग्रहणं न कार्य्यं स्यात् ॥ १२५ ॥

बालकका कभी भी डराना नहीं चाहिये। यदि बालक रोता हो और खाता न हो वा अन्य उपद्रव करता हो तो भी उसको भयभीत नहीं करना चाहिये और उसको डरानेके लिये किसी राक्षस, पिशाच, पूतना आदिका नामतक नहीं लेना चाहिये। तथा उस बालकको डरानेके लिये वह देख। भूत आया इत्यादि शब्द कभी भी नहीं कहना चाहिये ॥ १२५ ॥

कुमारके रोगोंका उपचार।

यदि तु आतुर्य्यं किञ्चित्कुमारमागच्छेत्तत्प्रकृतिनिमित्तपूर्वरूपलिङ्गोपशयविशेषैस्तत्त्वतोऽनुबुध्य सर्वविशेषानातुरौषधदेशकालाश्रयानवेक्षमाणश्चिकित्सितुमारभेतैनं मधुरमृदुलघुसुरभिशीतसङ्करं कर्म प्रवर्त्तयन्। एवं सात्म्या हि कुमारा भवन्ति। तथा ते शर्म लभन्ते

अचिराय । अरोगे तु अरोगवृत्तमातिष्ठेद्देशकालात्मगुणविपर्य्ययेण वर्त्तमानः ॥ १२६ ॥

यदि बालकको किसी प्रकारकी व्याधि उत्पन्न होजाय तो उस रोगकी प्रकृति, निमित्त, पूर्वरूप, रूप, उपशयके भेदसे रोगके तत्त्वको निश्चय करके फिर रोगी औषधी, देश, काल और आश्रय इनको विशेषरूपसे विचारकर मधुर, नरम, लघु सुगंधित तथा शीतल द्रव्ययुक्त कर विधिपूर्वक चिकित्सा करे। इस प्रकारकी चिकित्सा करना बालकोंको सात्म्य होती है। और इस प्रकारकी चिकित्सासे बालकको शीघ्र आराम होजाता है। जब बालक स्वस्थ हो तो देश, काल और शारीरिक स्वभाव देखकर उनसे विपरीत गुण करनेवाली जैसे शीतकालमें उष्ण, उष्णमें शीतलक्रिया करनी चाहिये ॥ १२६ ॥

क्रमेणासात्म्यानि परिवर्ज्योपयुञ्जानः सर्वाणि अहितानि वर्जयंस्तथा बलवर्णशरीरायुषां सम्पदमवाप्नोतीति ॥ १२७ ॥

असात्म्यद्रव्य तथा अहितकर्त्ता सब पदार्थोंका बालकसे क्रमपूर्वक त्याग करादेना चाहिये। ऐसा करनेसे बालकके बल, वर्ण, शरीर और आयुकी वृद्धि होती है १२७

एवमेनं कुमारमायौवनप्राप्तेर्धर्मार्थकुशलागमनाच्चानुपालयेदिति पुत्राशिषां समृद्धिकरं कर्म व्याख्यातम्। तदाचरन्यथोक्तैर्विधिभिः पूजां यथेष्टं लभतेऽनसूयक इति ॥ १२८ ॥

जबतक यह बालक युवा न होजाय तबतक इस बालकको धर्म और अर्थकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये इस विधिसे पालन करना चाहिये। बालकके हित और शुभकी इच्छाके लिये तथा समृद्धिके करनेवाले यह कर्म कहेगये हैं। जो मनुष्य निन्दा द्वेष आदिको त्यागकर इस कथन कीहुई विधिका पालन करते हैं वह अपनी इच्छानुरूप प्रतिष्ठाको प्राप्त होते हैं ॥ १२८ ॥

अध्यायका उपसंहार।

पुत्राशिषां कर्मसमृद्धिकारकं यदुक्तमेतन्महदर्थसंहितम्।
तदाचरञ्ज्ञो विधिभिर्यथातथं पूजां यथेष्टं लभतेऽनसूयकः॥१२९॥
शरीरं चिन्त्यते सर्वं दैवमानुषसम्पदा।
सर्वभावैर्यतस्तस्माच्छारीरं स्थानमुच्यते ॥ १३० ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदसंहितायां शारीरस्थानं समाप्तम् ॥

अब अध्यायके उपसंहारमें दो श्लोक हैं कि, पुत्रके हितके लिये और पुत्रकी समृद्धिके करनेवाला जो यह महान् अर्थका संग्रह कथन किया है इस विधिको ईर्षा, द्वेष तथा निन्दारहित ज्ञानी वैद्यके करनेसे अपनी इच्छानुरूप प्रतिष्ठाको प्राप्त होता है। शरीरको लक्ष्य रखकर दैवी और मानुषी संपत्तिका संपूर्णभावोंसे इस स्थानमें ही सब प्रकारसे चिन्तन कियागया है इस लिये इस स्थानको शारीरस्थान कहते हैं ॥१३०॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां शारीरस्थाने पटियालाराज्यांतर्गतटकसाल-निवासिवैद्यपञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्य-भाषाटीकायां जातिसूत्रीयशारीरं नामाऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

शारीरिक निर्देशसा, मनुज सृष्टि विज्ञान ॥
संख्या नाडी मर्मयुत, यथा शरीर विधान ॥ १ ॥
आतमजगत् अध्यात्म यह, द्विविध विश्व सामान ॥
साधन मोक्ष शरीर सब, कथन कियो भगवान ॥ २ ॥
चरकरचित शुभतंत्रमें, भयो चतुर्थस्थान ॥
सो प्रसादनीयुत कियो, रामप्रसाद सुजान ॥ ३ ॥

॥ समाप्तमिदं शारीरस्थानम् ॥



॥ श्रीः ॥

इन्द्रियस्थानम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

अथातो वर्णस्वरीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम वर्णस्वरीय इन्द्रियकी व्याख्या करते हैं इस प्रकार भगवान् आत्रेयजी कथन करनेलगे ॥ शारीरस्थानमें चिकित्साका अधिकरण शारीर कथन कर अब चिकित्सास्थानसे पहिले रोगीकी साध्यासाध्य अवस्थाका वर्णन करते हैं । क्योंकि असाध्यरोगकी चिकित्सा करनेसे यशआदिकी हानि होकर क्रिया निष्फल होती है इसलिये पहिले साध्यासाध्य विज्ञानके लिये इन्द्रियस्थानका वर्णन करते हैं ।

आयुके प्रमाण जाननेकी रीति ।

इह खलु वर्णश्च स्वरश्च गन्धश्च रसश्च स्पर्शश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च घ्राणञ्च रसनञ्च स्पर्शनञ्च सत्त्वञ्च भक्तिश्च शौचञ्च शीलञ्चाचारश्च स्मृति-

---

१ इन्द्रियस्थानप्रतिपाद्यं कृत्स्नं विषयमाह इह इन्द्रियस्थाने, ' खलु ' शब्दो वाक्यालंकारे इह यद्यपीन्द्रियाण्येव विषयवर्णादिग्राहकतया अग्रे वक्तुं युज्यते, तथापि तेषामतीन्द्रियत्वेन न तदाश्रयरिष्टानां व्यक्तत्वम्, तेन प्रव्यक्तानि वर्णादीन्येवेति प्रव्यक्तरिष्टाधिकरणान्यग्रेऽभिधीयन्ते, वर्णादिष्वपि च यथा व्यक्तत्वम् तथा पूर्वनिपातः, मेघादिशब्दस्तु यद्यपि वर्णादपि व्यक्तस्तथापि शब्दविशेष एवेह चात्मादिसम्पाद्यः , स्वरशब्दाभिधेयो रिष्टाधिकरणत्वेनाभिमतः, स च वर्णा-पेक्षयाऽव्यक्त एव, इहेत्यादावसमासेन प्रत्येकमपि वर्णादीनां रिष्टाधिकरणत्वं दर्शयति, समासे हि समुदायस्य रिष्टाधिकरणकतया परीक्षितव्यत्वं शङ्केत, वर्णशब्देन च वर्णसहचारिताश्चक्षुर्ग्राह्या रौक्षादयोपि गृह्यन्ते, अतएव वर्णप्रस्ताव एव वक्ष्यति । यत्– ' वर्णग्रहणेन ग्लानिहर्षरौक्षस्नेहा व्याख्याता ' इति, स्वरादिग्रहणेन च स्वराद्यभावोऽपि गृह्यते, तेन अंगुलिपर्व्वशब्दाभावगन्धा-भावादयो रिष्टान्यवरुध्यन्ते, स्पर्शग्रहणेन च स्पर्शोपलभ्यकाठिन्याद्यवरोधः, सत्त्वं मनः, सत्त्व-विकृतेरुदाहरणम् । यथा,–" औत्सुक्यं भजते सत्त्वं चेतोभिराविशत्यपि" इत्यादि, भक्तिरि-च्छा, शीलं सहजवृत्तम्, आचारः शास्त्रशिक्षाकृतो व्यवहारः। भक्त्यादयो यद्यपि सत्त्वविका-रत्वेन सत्त्वग्रहणेनैव लभ्यन्ते, यदुक्तम्– " भक्तिः शीलं शौचं द्वेषः स्मृतिर्मोहस्त्यागो मात्सर्य भयं क्रोधस्तन्द्रोत्साहस्तैक्ष्ण्यं मार्दवं गाम्भीर्य्यमनवस्थितत्वमित्येवमादयः सत्त्वविकाराः" इति । तथापि भक्त्यादीनामपि पृथगरिष्टाधिकरणत्वेन इह पृथक्करणम्, निद्रादौर्बल्यात्तन्द्रेति

श्चाकृतिश्च बलञ्च ग्लानिश्च तन्द्रा चारम्भश्च गौरवञ्च लाघवञ्च आहारश्च विहारश्चाहारपरिणामश्चोपायश्चापायश्च व्याधिश्च व्याधिपूर्वरूपञ्च वेदनाश्चोपद्रवाश्च छाया च प्रतिच्छाया च स्वप्नदर्शनञ्च दूताधिकारश्च पथि चौत्पातिकञ्चातुरकुले भावावस्थान्तराणि च भेषजसंवृत्तिश्च भेषजविकारयुक्तिश्चेति परीक्ष्याणि प्रत्यक्षानुमानोपदेशैरायुषः प्रमाणविशेषं जिज्ञासमानेन भिषजा ॥ १ ॥

वैद्यको रोगीके वर्ण,स्वर, गंध, स्पर्श, नेत्र, कान, नासिका, जिह्वा, त्वचा, सत्त्व, इच्छा, शौच, शील, आचार, स्मृति, आकृति, बल, ग्लानि, तंद्रा, कर्म, शरीरकी

—"तन्द्रा" शब्देन निद्रोच्यते, अत्र च रिष्टमुक्तम्। यथा "निद्रा नित्या भवति न वा" इति, आरम्भ इति। अरिष्टव्याध्युत्पादारम्भः,यदुक्तम्,—"श्वयथुर्यस्य कुक्षिस्थो हस्तपादं तु धावति" इत्यादि। गौरवे रिष्टं यथा—"निष्ठ्यूतञ्च पुरीषञ्च रेतश्चाम्भसि मज्जति" इत्यादि। लाघवे रिष्टं—गुरूणामंगानां लाघवं ज्ञेयम्। गुणारिष्टं यथा—"गुणाः शरीरदेशानां शीतोष्णमृदुदारुणाः। विपर्य्यासेन लक्ष्यन्ते स्थानेष्वन्येषु तद्विधाः" इति। आहारारिष्टं यथा—"आहारमुपयुञ्जानो भिषजा सूपकल्पितम्" इत्यादि। आहारपरिणामारिष्टं यथा—"दुर्बलो बहु भुङ्क्ते प्रागभुक्त्वान्नमनातुरः। अल्पमूत्रपुरीषश्च" इति। उपाय उपगमनं व्याधिमेलक इत्यर्थः। यदुक्तम्—"सहसा ज्वरसन्तापस्तृष्णा मूर्च्छा बलक्षयः। विश्लेषणं च सन्धीनाम्" इति। व्याध्यपगमनमपायः यदुक्तम्—"यं नरं सहसा रोगा दुर्बलं परिमुञ्चति" इत्यादि। व्याधिश्चेति व्याधिरेव रिष्टं यथा "वाताष्ठीला सुसंवृत्ता दारुणा हृदि तिष्ठति" इति। छाया भौतिकी पञ्चरूपा, प्रतिच्छाया तु देहच्छायावत् नेत्रकुमारिकापि प्रतिच्छायारूपापि गृहीतव्या, अयं च छायादिभेदः पन्नरूपीयेन्द्रिये दर्शयितव्यः। आतुरकुले च भावावस्थारिष्टं यथा—"अग्निपूर्णानि पात्राणि भिन्नानि विशिखानि च। भिषङ्मुमूर्षतां वेश्म प्रविशन्नेव पश्यति" इत्यादि। भेषजसंवृत्तौ रिष्टं यथा—"यमुद्दिश्यातुरं वैद्यः सम्वर्तयितुमौषधम्। यतमानो न शक्नोति दुर्लभं तस्य जीवितम्" भेषजस्य विकारेण समं या युक्तिः तत्र रिष्टं यथा—"विज्ञातं बहुशः सिद्धं विधिवच्चावचारितम्। न सिध्यत्यौषधं यस्य तस्य नास्ति चिकित्सितम्।" शेषे बहुरिष्टोदाहरणमुक्तम्, इति समाप्तौ, प्रत्यक्षपूर्वकत्वात् सर्वप्रमाणानामिहादौ प्रत्यक्षं कृतम्। यद्यपि वर्णादयः आयुर्लक्षणप्रतिपादिता दीर्घायुःप्रमाणजिज्ञासायामेव परीक्ष्यन्ते, तथापीह प्रकरणे आयुःप्रमाणा विशेषज्ञानार्थमेव परीक्षणीयाः, अत उक्तम्—'प्रमाणविशेषं जिज्ञासमानेन' इति। पुरुषमनाश्रयाणि दूताद्याश्रयाणि रिष्टानि। युक्तितश्चेत्यनुमानत इत्यर्थः। अत्र युक्तेरपि रिष्टत्वावधारणे क्षमत्वात्, प्रत्यक्षं हि दूतादीनां स्वरूपमात्रं गृह्णाति, रिष्टन्तु दूतादीनामागमादेव ज्ञायते। पुरुषाश्रयिवर्णादिगतरिष्टग्रहणे तु प्रत्यक्षमपि तत्तदरिष्टविशेषग्रहणे तद्विशेषण व्याप्रियत इति मत्वा तत् प्रतिषिद्धम्, अनुमानन्तु रिष्टत्वेन प्रतिपादितमनिमित्तत्वादिति धर्म्मविचारे व्याप्रियते, एवं सर्वत्र, प्रकृतिश्चेति विकृतिज्ञानहेतुतया प्रकृतौ रिष्टज्ञाने व्याप्रियते, यत्प्रकृतिज्ञानाधीनं विकृतिज्ञानं भवति, परीक्षा त्वत्राधिकृता प्रसिद्धैः प्रत्यक्षादिभिरेव ज्ञेया।

गौरवता और लाघवता, आहार, विहार, आहारका परिणाम, रोगकी शान्तिका उपाय, अपाय, व्याधि, व्याधिके पूर्वरूप, वेदना, उपद्रव, छाया, प्रतिच्छाया, स्वप्न देखना, दूतकी योग्यता, रोगीको देखनेके लिये जातेहुए रास्तेमें औत्पादिक भाव, रोगीके घरवालोंकी अवस्था विशेष, तथा अन्य अवस्था, औषधीके गुण विशेष, औषधीके दोष, रोगमें किस प्रकारसे किस औषधका प्रयोग करना इन सबको रोगीके जीवन, मरण तथा आयु विशेषके प्रमाण जाननेकी इच्छा करनेवाले वैद्यको योग्य है कि, प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तोपदेशके द्वारा परीक्षा करे ॥ १ ॥

परीक्ष्यवस्तुओंके भेद।

तत्र तु खलु एषां परीक्ष्याणां कानिचित्पुरुषमनाश्रितानि कानिचिच्च पुरुषसंश्रयाणि। तत्र यानि पुरुषमनाश्रितानि तानि उपदेशतो युक्तितश्च परीक्षेत। पुरुषसंश्रयाणि पुनः प्रकृतितश्च विकृतितश्च ॥ २ ॥

इन सब प्रकारकी परीक्षाओंमें बहुतसी परीक्षा तो पुरुषके आश्रय होती हैं और बहुतसी ऐसी हैं जो पुरुषाश्रित नहीं हैं। उनमें जो पुरुषाश्रित नहीं हैं उनकी उपदेश और युक्ति अर्थात् अनुमान और आप्तोपदेशके द्वारा परीक्षा करनी चाहिये। एवम् जो पुरुषाश्रित हैं उनकी प्रकृति और विकृतिद्वारा परीक्षा करनी चाहिये ॥ २ ॥

प्रकृतिवर्णन।

तत्र प्रकृतिर्जातिप्रसक्ता कुलप्रसक्ता च देशानुपातिनी च कालानुपातिनी च वयोऽनुपातिनी च प्रत्यात्मनियता चेति। एतावज्जातिकुलदेशकालवयःप्रत्यात्मनियता हि तेषां तेषां पुरुषाणां ते ते भावविशेषा भवन्ति ॥ ३ ॥

प्रकृति (स्वभाव) की परीक्षा इतने प्रकारकी होती है। जैसे-जातिगत प्रकृति, कुलगत प्रकृति देशके अनुरूप प्रकृति, तथा समयानुरूप प्रकृति और प्रतिपुरुषमें उसकी आत्मानियत प्रकृति इसप्रकार पुरुषकी जाति, कुल, देश, काल, अवस्था और शरीरभेदसे प्रकृति अर्थात् स्वभाव प्रत्येक पुरुषका उसके अनुरूप होता है सो इन भेदोंसे और पुरुषभेदसे मनुष्योंमें भाव विशेष होते हैं। इन सब भावोंका अपने अपने ठीक स्वभावमें रहना प्रकृति कहाजाता है ॥ ३ ॥

विकृतिका वर्णन।

विकृतिः पुनर्लक्षणनिमित्ता च लक्ष्यनिमित्ता च निमित्तानुरूपा च। तत्र लक्षणनिमित्ता नाम सा यस्याः शरीरे लक्षणान्येव हेतुभूतानि

भवन्ति । लक्षणानि हि कानिचिच्छरीरोपनिबद्धानि भवन्ति । यानि हि तस्मिंस्तस्मिंस्तत्राधिष्ठानमासाद्य तां तां विकृतिमुत्पादयन्ति ॥ ४ ॥

विकृति तीन प्रकारकी होती है । जैसे—लक्षणनिमित्ता विकृति, लक्ष्यानिमित्ता विकृति और निमित्तानुरूपा विकृति । शरीरकी आरोग्यताके हेतुभूत जो लक्षण होते हैं उनके विकृत होजानेसे वह विकृतिके निमित्त मानेजाते हैं । उनको लक्षणनिमित्ता विकृति कहते हैं । क्योंकि कोइ २ लक्षणही इसप्रकार शरीरसे बंधेहुए हैं । समय समय-पर प्रगट होकर जिस २ समयमें जिस २ प्रकारसे शरीरमें वह लक्षण होते हैं उस उस प्रकारकी विकृति (विकार) को उत्पन्न करते हैं ॥ ४ ॥

लक्ष्यनिमित्ता तु सा यस्या उपलभ्यते निमित्तं यथोक्तं निदानेषु ॥ ५ ॥

रोगका निदान कथन करनेके समय लक्ष्यनिमित्ता विकृतिका कथन करचुके हैं अर्थात् रोगोंके निमित्तरूप वातादिकोंकी विकृतिको लक्ष्यनिमित्ता विकृति कहते हैं॥५॥

निमित्तानुरूपाके लक्षण ।

निमित्तानुरूपा तु निमित्तार्थानुकारिणी या तामनिमित्तां निमित्त-मायुषः प्रमाणज्ञानस्येच्छन्ति भिषजो भूयश्चायुषः क्षयनिमित्तां प्रेतलिङ्गानुरूपां यामायुषोऽन्तर्गतस्य ज्ञानार्थमुपदिशन्ति धीराः ॥ ६ ॥

निमित्तकी अर्थानुरूपा विकृतिको निमित्तानुरूपा विकृति कहते हैं अर्थात् विनाही कारणके स्वभावादिकोंमें विकृति होजाना निमित्तानुरूपा विकृति कहीजाती है । इसी विकृतिको वैद्यलोग अनिमित्त होनेसे आयुकी परीक्षाका निमित्त मानते हैं । बुद्धि-मान् इसी विकृतिको आयुके क्षयका निमित्त और प्रेतत्वका चिह्न मानते हैं । तथा गतायु मनुष्यकी आयुनाशके ज्ञानके लिये इसी विकृतिको कथन करते हैं ॥ ६ ॥

याममधिकृत्य पुरुषसंश्रयाणि मुमूर्षतां लक्षणानि उपदेक्ष्यामः । इत्युद्देशः । तद्विस्तरेणानुव्याख्यास्यामः ॥ ७ ॥

इस विकृतिके आश्रयसेही मरनेवाले पुरुषके लक्षणोंका उपदेश करेंगे । यह उद्देश है । पुरुषके जिन लक्षणोंको देखकर उसके मरनेका ज्ञान होसकता है उन्हीं विकृति आदिकोंको विशेषरूपसे वर्णन करते हैं ॥ ७ ॥

प्रकृतिवर्ण ।

तत्रादित एव वर्णाधिकारस्तद्यथा-कृष्णः कृष्णश्यामः श्यामावदा-तोवदातश्च, इति प्रकृतिवर्णाः शरीरस्य ॥ ८ ॥

उनमें पहिले वर्णकी प्रकृति और विकृतिका वर्णन करते हैं । जैसे—कृष्णवर्ण,

कृष्ण श्यामवर्ण, श्याम गौरवर्ण और गौरवर्ण यह शरीरके प्रकृतिवर्ण अर्थात् स्वाभाविक वर्ण होते हैं ॥ ८ ॥

यांश्चापरानुपेक्षमाणो विद्यादनूक्तोऽन्यथा वापि निर्दिश्यमानांस्तज्ज्ञैः ९

इनके सिवाय और भी जो शरीरके वर्ण (रंग) होते हैं वह सब इन ऊपर कहे हुए वर्णोंकी न्यूनाधिक्यतासे और वर्णविशेषको जानलेना चाहिये। वर्णके जाननेवाले बुद्धिमान् इस प्रकार उपदेश करते हैं ॥ ९ ॥

वैकारिकवर्ण

नीलश्यामताम्रहरितशुक्लाश्च वर्णाः शरीरस्य वैकारिका भवन्ति। यांश्चापरानुपेक्षमाणो विद्यात्प्राग्विकृतानभूत्वोत्पन्नानिति प्रकृतिविकृतिवर्णा भवन्त्युक्ताः शरीरस्य ॥ १० ॥

नील, श्याम, ताम्र, हरित और सफद, यह शरीरके विकृति वर्ण हैं। इनके सिवाय और भी जैसे कि जो वर्ण पहिले देखा न हो अथवा पहिलेसे दूसरे प्रकारका होजाय उसको भी विकृतवर्ण कहते हैं। बुद्धिमानोंका पहिले शरीरको प्रकृतिवर्ण और विकृत वर्णकी परीक्षा करनी चाहिय। इस प्रकार शरीरके वर्णकी प्रकृति और विकृति वर्णन कीगई है ॥ १० ॥

वर्णजन्य अरिष्टलक्षण।

तत्र प्रकृतिवर्णोऽर्द्धशरीरे विकृतिवर्णोऽर्द्धशरीरे द्वावपि वर्णौ नर्य्यादाविभक्तौ दृष्ट्वा यद्येवं सव्यदक्षिणविभागेन यद्येवं पूर्वपश्चिमविभागेन यद्युत्तराधरविभागेन यद्यन्तर्बहिर्विभागेन आतुरस्यारिष्टमिति विद्यात् ॥ ११ ॥

यदि प्रकृतिवर्णवाले मनुष्यके शरीरमें वामभाग अथवा दक्षिण भाग या आगे पीछे दोनों ओर या केवल पीछे तथा केवल आगे या किसी अंगमें स्वाभाविक और किसी अंगमें वैकारिक वर्ण दिखाई देवे तो उस रोगीको अरिष्ट लक्षण जानना॥११॥

एवमेव वर्णभेदो मुखेऽप्यन्यतो वर्त्तमानो मरणाय भवति ॥ १२ ॥

यदि रोगीके मुखका वर्ण पहिलेसे बिलकुल बदलजाय अथवा और प्रकार स्वाभाविक वर्ण एकदम पलटजाय तो यह मृत्युका चिह्न जानना ॥ १२ ॥

वर्णभेदेन ग्लानिहर्षरौक्ष्यस्नेहा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

वर्णभेदसे ग्लानि, हर्ष, रूक्षता और स्नेह इन सबका निर्देश कियागया है ॥ १३ ॥

तथा पिप्लुवव्यङ्गतिलकालकपिडकानामन्यतमस्याननेजन्मातुरस्यैवमेव अप्रशस्तं विद्यात् ॥ १४ ॥

तथा प्लव (लहसन) व्यंग, तिल, कालक, पिडका इनका बेसमय एकाएक रोगीके मुखपर प्रगट होजाना रोगीके लिये अशुभ कहाजाता है ॥ १४ ॥

नखनयनवदनमूत्रपुरीषहस्तपादौष्ठादिष्वपि च वैकारिकोक्तानां वर्णानामन्यतमस्य प्रादुर्भावो हीनबलवर्णेन्द्रियेषु लक्षणमायुषः क्षयस्य भवति। यच्चान्यदपि किञ्चिद्वर्णवैकृतमभूतपूर्वं सहसोत्पद्येतानिमित्तमेव हीयमानस्यातुरस्य तच्चारिष्टम्। इति वर्णाधिकारः ॥ १५ ॥

रोगीके नख, नेत्र, मुख, मूत्र, मल और हाथ पैरोंके वर्ण एकाएक विकृत होजायँ तथा स्वाभाविक नष्ट होकर और प्रकारके वैकारिक वर्ण उत्पन्न होजायँ अथवा बल, वर्ण और इन्द्रियोंमें एकाएक हीनता उत्पन्न होजाय तो यह रोगीके आयुनाशक चिह्न जानने चाहिये, इनके सिवाय भी और जो कभी पहिले न देखाहो उस प्रकारके वर्ण विकारका एकाएक उत्पन्न होजाना भी रोगीकी मृत्युका चिह्न होता है। इस प्रकार अरिष्टकारक वर्णाधिकारका वर्णन कियागया ॥ १५ ॥

स्वराधिकारः।

स्वराधिकारस्तु हंसक्रौञ्चनेमिदुन्दुभिकलविङ्ककाककपोतझर्झरानुकराः प्रकृतिस्वराः। यांश्चापरानुपेक्षमाणोऽपि विद्यादनूक्तोऽन्यथा वापि निर्दिश्यमानांस्तज्ज्ञैः ॥ १६ ॥

अब स्वराधिकार वर्णन करते हैं। हंस, बगुला, चकवा, नगारा, चिडा, कौआ कबूतर और झींगुर इनके समान स्वर होनेसे प्रकृतिस्वर अर्थात् स्वाभाविक स्वर है इनके सिवाय जिनका कथन यहांपर नहीं किया गया है उनको भी जिसप्रकार स्वरके जाननेवालोंने कथन कियाहो उस . प्रकारसे जानलेना चाहिये। यह स्वाभाविक स्वर वर्णन कियागया ॥ १६ ॥

वैकृतिकस्वरका लक्षण।

एडकग्रस्ताव्यक्तगद्गदक्षामदीनानुकीर्णास्तु आतुराणां स्वरा वैकारिकाः। यांश्चापरानुपेक्षमाणोऽपि विद्यात्प्राग्विकृतानभूत्वोत्पन्नान्, इति प्रकृतिविकृतिस्वरा व्याख्याताः ॥ १७ ॥

यदि रोगियोंका स्वर मेढेके समान अथवा जो समझा न जाय इस प्रकारका या गद्गद स्वर अथवा शान्त और हीनशब्द या फटाहुआ हो तो वैकारिकस्वर जानना।

इसके सिवाय जो पहिले श्रवण न किया हो इस प्रकारका अभूतपूर्व स्वर भी वैकारिक होता है। यह स्वरोंकी प्रकृति और विकृतिका वर्णन कियागया ॥ १७ ॥

आसन्नमृत्युरोगीका लक्षण।

तत्र प्रकृतिवैकारिकाणां स्वराणामाश्वभिनिर्वृत्तिः स्वरानेकत्वमेकस्य चानेकत्वमप्रशस्तमिति स्वराधिकारः। इति वर्णस्वराधिकारौ यथावदुक्तौ मुमूर्षतां लक्षणज्ञानार्थमिति ॥ १८ ॥

रोगियोंके स्वरका एकाएकी बदलजाना और अनेक प्रकारका स्वर होना तथा अनेक प्रकारसे फटाहुआसा होजाना यह रोगियोंके अरिष्टका चिह्न है। इस प्रकार मरनेवाले रोगियोंके स्वर और वर्णका उनके मृत्युज्ञानके लिये वर्णन किया ॥ १८ ॥

तत्र श्लोकाः—यस्य वैकारिको वर्णः शरीर उपजायते।
अर्द्धे वा यदि वा कृत्स्नेऽनिमित्तं न च नास्ति सः ॥ १९ ॥

जिस मनुष्यके शरीरमें आधेमें संपूर्णमें वा एकाएकी वैकारिक वर्ण प्रगट होजाय वह मनुष्य अवश्य मृत्युको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

नीलं वा यदि वा श्यावं ताम्रं वा यदि वाऽरुणम्।
मुखार्द्धमन्यथा वर्णो मुखार्द्धेऽरिष्टमुच्यते ॥ २० ॥

यदि रोगीके आधेमुखका वर्ण नीला, श्याम, ताम्रवर्ण या लालवर्ण होजाय और आधा अन्य वर्णका हो तो यह आरिष्टकारक लक्षण होते हैं ॥ २० ॥

स्नेहो मुखार्द्धे सुव्यक्तो रौक्ष्यमर्द्धमुखे भृशम्।
ग्लानिरर्द्धे तथा हर्षो मुखार्द्धे प्रेतलक्षणम् ॥ २१ ॥

आधा मुख चिकना हो अर्थात् तेलसे भिगाहुआसा प्रतीत होताहो तथा आधा मुख बिलकुल रूक्ष हो तथा आधे चेहरेमें ग्लानि और आधेमें हर्ष प्रतीत होता हो तो यह रोगीकी मृत्यु होनेके लक्षण हैं ॥ २१ ॥

तिलका पिप्लवो व्यङ्गा राजयश्च पृथग्विधाः।
आतुरस्याशु जायन्ते मुखे प्राणान्मुमुक्षतः ॥ २२ ॥

जिस रोगीके मुखपर एकाएकी तिल पिप्लव (लहसुन), व्यंग, (झाई) तथा अनेक प्रकारकी रेखा आदि विचित्ररूपसे प्रगट होजाय तो उसके मरणख्यापक लक्षण जानना ॥ २२ ॥

पुष्पाणि नखदन्तेषु पङ्को वा दन्तसंस्थितः।
चूर्णको वापि दन्तेषु लक्षणं मरणस्य तत् ॥ २३ ॥

जिस रोगीके नख और दांतोंपर रंगबिरंगे फूलसे पडजायँ अथवा दांतोंपर बहुत गाढी मैल जमजाय एवं दांतोंमें चूर्णसा लगा हुआ प्रतीत हो तो उस रोगीके मरणके लक्षण जानना ॥ २३ ॥

ओष्ठयोः पादयोः पाण्योरक्ष्णोर्मूत्रपुरीषयोः।
नखेष्वपि च वैवर्ण्यमेतत्क्षीणबलेऽन्तकृत् ॥ २४ ॥

जिस रोगीके दोनों होठ, दोनों पाँव, हाथ, नेत्र, मूत्र, पुरीष और नख इन सबमें एकाएकी विवर्णता उत्पन्न होजाय और वह रोगी क्षीणबल हो तो उसकी मृत्युके लक्षण जानना ॥ २४ ॥

यस्य नीलावुभावोष्ठौ पक्कजाम्बवसन्निभौ ।
मुमूर्षुरिति तं विद्यान्नरो धीरो गतायुषम् ॥ २५ ॥

जिस रोगीके दोनों होठ नीले या पकीहुई जामुनके समान होजायँ तो उस रोगीको बुद्धिमान् मनुष्य गतायु जाने ॥ २५ ॥

एको वा यदि वानेको यस्य वैकारिकः स्वरः ।
सहसोत्पद्यते जन्तोर्हीयमानस्य नास्ति सः ॥ २६ ॥

जिस रोगीका एकाएकी स्वर बदल जाय अथवा अनेक प्रकारका वैकारिक होजाय उस नष्ट आयु रोगीको नहीं है ऐसा जानना ॥ २६ ॥

यच्चान्यदपि किञ्चित्स्याद्वैकृतं स्वरवर्णयोः।
बलमांसविहीनस्य तत्सर्वं मरणोदयम् ॥ २७ ॥

बल और मांसहीन रोगीके स्वर और वर्णमें अन्य किसी प्रकारकी विकृति होना भी उसके मरणका चिह्न जानना ॥ २७ ॥

इति वर्णस्वरावुक्तौ लक्षणार्थं मुमूर्षताम्।
यस्तु सम्यग्विजानाति नायुर्ज्ञाने स मुह्यति ॥ २८ ॥

इति चरकसंहितायामिन्द्रियस्थाने वर्णस्वरीयमिन्द्रियम् ॥ १ ॥

इस प्रकार मरणाभिमुख मनुष्योंके लक्षणोंको जाननेके लिये वर्ण और स्वरका कथन किया है। जो वैद्य इनके ज्ञानको भले प्रकार जानता है वह आयुके जाननेमें मोहको प्राप्त नहीं होता ॥ २८ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां इन्द्रियस्थाने पटियालाराज्यांतर्गतटकसालनिवासिवैद्यपंचाननवैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायकृतप्रसादन्याख्यभाषाटीकायां वर्णस्वरीयमिन्द्रियं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः ।

अथातो पुष्पितमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम पुष्पित इन्द्रियकी व्याख्या करते हैं इस प्रकार भगवान् आत्रेयजी कथन करनेलगे ॥

पुष्पं यथा पूर्वरूपं फलस्येह भविष्यतः ।
तथा लिङ्गमरिष्टाख्यं पूर्वरूपं मरिष्यतः ॥ १ ॥

जैसे–जगत्में होनेवाले फलका पूर्वरूप फूल देखाजाता है वैसेही मरनेवाले मनुष्यका पूर्वरूप अरिष्टनामक लक्षण भी है ॥ १ ॥

अप्येवन्तु भवेत्पुष्पं फलेनाननुबन्धि यत् ।
फलञ्चापि भवेत्किञ्चिद्यस्य पुष्पं न पूर्वजम् ॥ २ ॥

---

१ ननु पुष्पफलव्यभिचारमपि शिष्यो गृह्णीयादिति तन्निरासार्थमाह–फलेनाननुबन्धीति । यथा वतसपुष्पम्, यस्य पुष्पं न पूर्वजमपि शाखादेव फलम्, जातस्येति सम्पूर्णस्य; किञ्चिदुदिते ह्यरिष्टेऽसम्पूर्णे नावश्यं मृत्युः, अन्ये तु जातस्य नियतस्येति वर्णयन्ति । द्विविधं हि रिष्टं नियतश्चानियतं च । तत्र नियतम्, " मृतमेव तमात्रेयो व्याचक्षे च पुनर्वसुः"इत्यादि । अनियतं यथा–"संशयप्राप्तमात्रेयो मन्यते तस्य जीवितम्। अरोगः संशयं मत्वा कश्चिदेव प्रमुच्यते" इति । तथा नियतारिष्टाभिप्रायेणैव सुश्रुतेऽप्युक्तम्–" ध्रुवं त्वरिष्टे मरणं ब्राह्मणैस्तत् किलामलैः । रसायनतपोजप्यतत्परैर्वा निवार्य्यते " एतच्चान्ये न मन्यन्ते, आचार्य्येण रिष्टमरणयोरव्यभिचारस्य महता प्रयत्नेन दर्शितत्वात् । " संशयप्राप्तम् " इति वचनं मरणप्रतिपादकमेवाचार्य्येण भङ्गयन्तरेणोक्तम् । यथाऽऽचार्य्यस्यारिष्टार्थस्तथा तद्ग्रन्थ एव व्याख्यास्यामः । यत्तु रसायनादिसाध्यत्वं रिष्टस्य तदनुमतमेव रसायनमहेश्वरप्रसादादयो हि सर्वलोकमर्य्यादामपि हन्तुं क्षमाः । तेन, तद्व्यभिचारमपेक्ष्य ग्रन्थः क्रियते । महेश्वरो हि भस्मीभूतं कामं पुनर्जीवयति स्म, तपसा च रामेण मृतोपि विश्वपुत्रः पुनर्जीवित इत्याद्यनुकरणीयम् । अन्ये तु कालमृत्यावेव रिष्टपूर्वकं मरणं भवति इति वर्णयन्ति वदन्ति च " यद्यकालमृत्यौ रिष्टं भवति, तदा वर्णितं मृत्युपदं रिष्टम् तत् विफलं स्यात् यन कालमृत्युरुचिताचरणेपि परं मृत्युर्भवति, तत्र रिष्टे जाते यद्युचिता क्रिया क्रियते तदा मृत्युर्भवितुमर्हति, तेन कालगतमेव रिष्टम्" । इति तच्च न, अविशेषेण कालाकालमरणे रिष्टसद्भावनियमात्, अकालमृत्यौ च कालमृत्यौ च यदैव क्रियापथमतिक्रान्तोऽपचारजनितो व्याधिर्भवति, तदैव परं रिष्टं भवति, अतएवोक्तम् " क्षणेनैव रिष्टाः प्रादुर्भवन्ति " इति । यश्चैनं न स्वीकरोति, तस्य नियतायुषोऽपचारजन्यव्याधेरसाध्यता कदापि न स्यात्, येन यथापचारजा दोषा अतिशयप्रमादादसाध्यव्याधिजनका भवन्ति तथा मरणपूर्वरिष्टजनका अपि भवन्ति ॥

न त्वरिष्टस्य जातस्य नाशोऽस्ति मरणादृते ।
मरणञ्चापि तन्नास्ति यन्नारिष्टपुरःसरम् ॥ ३ ॥

यद्यपि इस प्रकारके भी बहुतसे फूल होते हैं जिनसे फलकी उत्पत्ति नहीं होती और ऐसे फल भी बहुतसे हैं जिनके फूल नहीं होते परन्तु ऐसा कोई अरिष्ट नहीं होता जो मृत्युको उत्पन्न करता हो और ऐसी मृत्यु भी नहीं होती जिससे पहिले अरिष्ट न होता हो ॥ २ ॥ ३ ॥

मिथ्या दृष्टमरिष्टाभमनरिष्टमजानता ।
अरिष्टञ्चाप्यसम्बुद्धमेतत्प्रज्ञापराधजम् ॥ ४ ॥

प्रायः बहुत स्थानोंमें अरिष्टके न जाननेवाले मनुष्य विनाही अरिष्टके लक्षणोंसे अरिष्ट मानलेते हैं । और बहुतसी जगह अरिष्टके लक्षण होतेहुए भी अपनी बुद्धिके दोषसे अरिष्टको नहीं समझते ॥ ४ ॥

ज्ञानसम्बोधनार्थन्तु लिङ्गैर्मरणपूर्वकैः ।
पुष्पितानुपदेक्ष्यामो नरान्बहुविधाञ्छृणु ॥ ५ ॥

ऐसे बुद्धिहीन वैद्योंकी बुद्धिको चैतन्य करनेके लिये मृत्युसे प्रथम होनेवाले मरणख्यापक[1] पुष्पितनामक चिह्नोंको कथन करते हैं उन अनेक प्रकारके लक्षणोंको श्रवण करो । (निश्चय नियत मरणके वतलानेवाले लक्षणको अरिष्ट कहते हैं) ॥ ५ ॥

पुष्पितके लक्षण ।

नानापुष्पोपमो गन्धो यस्य वाति दिवानिशम् ।
पुष्पितस्य वनस्येव नानाद्रुमलतावतः ॥ ६ ॥
तमाहुः पुष्पितं धीरा नरं मरणलक्षणैः ।
स वै संवत्सराद्देहं जहातीति विनिश्चयः ॥ ७ ॥

जिस शरीरमें अनेक प्रकारके पुष्पित वनके समान अनेक वृक्ष, लताके फूलोंके समान सुगंध दिनरात बराबर आनेलगे उस मनुष्यको बुद्धिमान् मनुष्य मरणके लक्षणोंसे पुष्पित समझे और वह मनुष्य एकवर्षके अन्दर निश्चयही देहको त्याग कर देता है ॥ ६ ॥ ७ ॥

एवमेकैकशः पुष्पैर्यस्य गन्धः समो भवेत् ।
इष्टैर्वा यदि वानिष्टैः स च पुष्पित उच्यते ॥ ८ ॥

---

१ मरणख्यापक चिह्न ।

समासेनाशुभान्गन्धानेकत्वेनाथवा पुमान् ।
आजिघ्रेद्यस्य गात्रेषु तं विद्यात्पुष्पितं भिषक् ॥ ९ ॥
आप्लुतानाप्लुते काये यस्य गन्धाः शुभाशुभाः ।
व्यत्यासेनानिमित्ताः स्युः स च पुष्पित उच्यते ॥ १० ॥

जिस मनुष्यके शरीरमें किसी एकएक फूलकी गन्ध आतीहो वह गंध सुगंधित हो अथवा दुर्गंधित हो परन्तु उसको पुष्पित कहते हैं। अथवा जिस मनुष्यके शरीरमें एक अथवा अनेक प्रकारकी अशुभ गंध आतीहो उसको भी वैद्य पुष्पित जाने। अथवा जिस मनुष्यके स्नान न करनेपर अथवा स्नान करनेपर भी विनाही कारण अशुभ गंध आतीहो उसको भी पुष्पित कहते हैं ॥ ८–१० ॥

तद्यथा चन्दनं कुष्ठं तगरागुरुणी मधु ।
माल्यं मूत्रपुरीषे वा मृतानि कुणपानि वा ॥ ११ ॥
ये चान्ये विविधात्मानो गन्धा विविधयोनयः ।
तेऽप्यनेनानुमानेन विज्ञेया विकृतिं गताः ॥ १२ ॥
इदञ्चाप्यतिदेशार्थं लक्षणं गन्धसंश्रयम् ।
वक्ष्यामो यदभिज्ञाय भिषङ् मरणमादिशेत् ॥ १३ ॥

जिसके शरीरमें चंदन, कूट, तगर, अगर, शहद, माला, मूत्र, मल और मुर्देकीसी तथा अनेक प्रकारकी अनेक कारणोंवाली गंधें आतीहों वह मनुष्य भी विकृतिको प्राप्तहुआ जानलेना चाहिये। इस प्रकार अनुमान द्वारा गंध ज्ञानसे मरणके लक्षण जाननेके लिये यह निर्देश किया गया है और भी गंधाश्रित लक्षणोंको कथन करते हैं जिनको जानकर वैद्य मनुष्यके मृत्युका कथन कर सकता है ॥ ११–१३ ॥

गन्धका ज्ञान।

वियोनिर्विदुरो यस्य गन्धो गात्रेषु दृश्यते ।
इष्टो वा यदि वानिष्टो न स जीवति तां समाम् ॥ १४ ॥

जिस मनुष्यकी देहमें विनाही कारण पशु पक्षियोंकीसी सुगंधि अथवा दुर्गंधि आनेलगे वह मनुष्य उसी वर्षमें मृत्युको प्राप्त होजाता है ॥ १४ ॥

एतावद्गन्धविज्ञानं रसज्ञानमतः परम् ।
आतुराणां शरीरेषु वक्ष्यामो विधिपूर्वकम् ॥ १५ ॥

इस प्रकार गंधके विज्ञानको वर्णन करचुके, अब इससे आग रसके ज्ञानको कथन करते हैं, जिस प्रकार रोगियोंके शरीरमें विधिपूर्वक रस जानना चाहिये ॥ १९ ॥

रसज्ञान।

यो रसः प्रकृतिस्थानां नराणां देहसम्भवः ।
स एषां चरमे काले विकारान्भजते द्वयम् ॥ १६ ॥

जो रस प्रकृतिस्थ मनुष्योंकी देहमें उत्पन्न होता है वह मरनेके समय दो प्रकारकी विकृतिको धारण करता है ॥ १६ ॥

कश्चिदेवास्य वैरस्यमत्यर्थमुपपद्यते ।
स्वादुत्वमपरश्चापि विपुलं भजते रसः ॥ १७ ॥

कोई रस तो अत्यंतही विरसताको प्राप्त होजाता है और कोई अत्यंत भारी स्वादुताको प्राप्त होजाता है। यह मरणके समय रसके दो भेद होते हैं ॥ १७ ॥

तमनेनानुमानेन विद्याद्विकृतिमागतम् ।
मनुष्यो हि मनुष्यस्य कथं रसमवाप्नुयात् ॥ १८ ॥

मनुष्य मनुष्यके शरीरके रसको किस प्रकार जान सकता है सो कहते हैं कि शरीरके विकृतहुए रसको इस प्रकार अनुमानसे जाने कि मनुष्यकें मरणासन्न होनेसे जब शरीरका रस विकृत होजाता है अर्थात् बहुत बदजायका होजाता है ॥ १८ ॥

विरसताका ज्ञान।

मक्षिकाश्चैव यूकाश्च दंशाश्च मशकैः सह ।
विरसादपसर्पन्ति जन्तोः कायान्मुमूर्षतः ॥ १९ ॥

तो उसके शरीरपर मक्खी, जूआँ, दंश, मच्छर आदि कोई भी स्पर्श नहीं करते अर्थात् अलग होजाते हैं ॥ १९ ॥

मधुरताका ज्ञान।

अत्यर्थरसिकं कायं कालपक्वस्य मक्षिकाः ।
अपि स्नातानुलिप्तस्य भृशमायान्ति सर्वशः ॥ २० ॥

तथा जिसके शरीरमें कालके परिपाकसे अर्थात मरणासन्न समयमें रस अत्यंत सुस्वादु होजाता है तो वह मनुष्य यदि स्नान आदि करे और चंदनका लेपन करनेसे शुद्ध भी हो तो भी उसके शरीरपर चारों ओरसे बहुतही मक्खियें, मच्छर, आ आकर पडते हैं ॥ २० ॥

तत्र श्लोकः—यान्येतानि मयोक्तानि लिङ्गानि रसगन्धयोः।

पुष्पितस्य नरस्यैतैः फलं मरणमादिशेत् ॥ २१ ॥

इति चरकसंहितायां इन्द्रियस्थाने पुष्पितमिन्द्रियं समाप्तम् ॥ २ ॥

यहांपर श्लोक है—कि जो वैद्य इन हमारे कहेहुए रस और गन्धके लक्षणोंसे पुष्पित (मरणासन्न) मनुष्यके लक्षणोंको जानलेता है वह मृत्युके लक्षणोंको कथन कर सकता है ॥ २१ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां इन्द्रियस्थाने पटियालाराज्यांतर्गतटकसालनिवासिवैद्यपंचानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्य-भाषाटीकायां पुष्पितमिन्द्रियं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः।

अथातः परिमर्षणीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः।

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम परिमर्षणीय इन्द्रियाध्यायकी व्याख्या करते हैं इस प्रकार भगवान् आत्रेयजी कथन करनेलगे ॥

वर्णे स्वरे च गन्धे च रसे चोक्तं पृथक् पृथक्।

लिङ्गं मुमूर्षतां सम्यक् स्पर्शेष्वपि निबोधत ॥ १ ॥

हे अग्निवेश ! वर्ण, स्वर और गंध तथा रसविज्ञानसे मरणासन्न मनुष्योंके लक्षण कथन किये गये हैं।अब स्पर्शसे भी मरनेवाले मनुष्योंके लक्षणोंको श्रवण करो ॥१॥

स्पर्शप्राधान्येन आतुरस्यायुषः प्रमाणविशेषं जिज्ञासुः प्रकृतिस्थेन पाणिना केवलमस्य शरीरं स्पृशेत्। परिमर्षयेद्वान्येन ॥ २ ॥

रोगीको स्पर्शद्वारा उसकी आयुका विशेषरूपसे प्रमाण जाना जासकता है इसलिये रोगीकी आयु जाननेकी इच्छावाला रोगरहित मनुष्यके हाथसे केवल इसके शरीरका स्पर्श करावे अथवा स्वयं करे ॥ २ ॥

स्पर्शके लक्षण।

परिमृषता तु खलु आतुरशरीरमिमे भावास्तत्रावबोद्धव्याः। तद्यथा-सततं स्पन्दनानां शरीरोद्देशानां स्तम्भः। नित्योष्मणां शीतीभावः। मृदूनां दारुणत्वम्। श्लक्ष्णानां खरत्वम्। सतामसद्भावः। सन्धीनां

स्रंसभ्रंशच्यवनानि । मांसशोणितयोर्वीतीभावः । दारुणत्वम् । स्वेदानुबन्धः । स्तम्भो वा । यच्चान्यदपि किञ्चिद्दृशविकृतमनिमित्तं स्यादिति लक्षणं स्पृश्यानां भावानाम् ॥ ३ ॥

स्पर्श करनेवाले मनुष्यको स्पर्शद्वारा रोगीके यह भाव जानने चाहिये । जैसे-जो शरीरके अंग निरंतर फडकनेवाले हों उनका स्थिर होकर स्तंभ होजाना । जो अंग नित्य गरम रहनेवाले हैं उनका शीत होजाना । जो नरम हों उनका कठिन होजाना। जो चिकने हों उनका खरदरे होजाना । जिसका जिस स्थानमें होना उचित हो उनका उस स्थानमें न रहना । संधियोंका ढीला पडजाना या बिगडजाना तथा नष्ट होजाना । मांस और रक्तका देहसे हीन होजाना । शरीरका कठिन होजाना । पसीना अधिक आना अथवा बिल्कुल न आना । शरीरका स्तंभ होजाना । इनके सिवाय विनाही कारण एकाएकी स्पृश्य भावोंके जो लक्षण उत्पन्न हों उनको भी जान लेना चाहिये। इन स्पर्शजनित लक्षणोंसे रोगीको कालग्रस्त जानना चाहिये ॥ ३ ॥

विस्तारपूर्वक स्पर्शका लक्षण ।

तद्व्यासतोऽनुव्याख्यास्यामः । तस्य चेत्परिदृश्यमानं पृथक्त्वेन पादजङ्घोरुस्फिग्उदरपार्श्वपृष्ठेषिकापाणिग्रीवाताल्वोष्ठललाटं स्विन्नं शीतं प्रस्तब्धं दारुणं वीतमांसशोणितं वा स्यात्परासुरयं पुरुषो न चिरात् कालं मरिष्यतीति विद्यात् ॥ ४ ॥

उन्हीं स्पृश्य भावोंको विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं । यदि उस रोगीके संपूर्ण दृश्यमान अंगोंको एक एक कर देखाजाय पांव, जंघा, घुटना, पार्श्वभाग, कुल्हे, गुदा, उदर, पीठका बांस, हाथ, गर्दन, तालु, होठ और ललाट यह शीतल, पसीनेयुक्त, स्तब्ध, कठोर, मांस और रक्तरहित होजायँ तो इस गतायु मनुष्यको तत्काल मरजानेवाला जानना चाहिये ॥ ४॥

तस्य चेत्परिमृश्यमानानि पृथक्त्वेन गुल्फजानुवंक्षणगुदवृषणमेढ्रनाभ्यंसस्तनमणिकहनुस्पर्शुकानासिकाकर्णाक्षिभ्रूशंखादीनि स्रस्तानि व्यस्तानि च्युतानि स्थानेभ्यः स्युः परासुरयं पुरुषो न चिरात्कालं मरिष्यतीति विद्यात् ॥ ५ ॥

यदि रोगीके यह अंग पृथक् २ देखे जायँ जैसे गुल्फ, घुटने, वंक्षण, गुदा, अंडकोष, लिंग, नाभि, कंधे, स्तन, दोनों हाथोंके पहुँचे, ठोढी, पसली, नाक, कान, नेत्र, भौंह

और कनपटी आदि अंग अलग २ अपने स्थानसे छूटजायँ और हटजायँ तो उस मनुष्यको गतायु अर्थात् शीघ्र मरनेवाला जानना चाहिये ॥ ५ ॥

तथास्योच्छ्वासमन्यादन्तपक्ष्मचक्षुःकेशलोमोदरनखाङ्गुलीरालक्षयेत् । तस्य चेदुच्छ्वासोऽतिदीर्घः अतिह्रस्वो वा स्यात्परासुरिति विद्यात् । तस्य चेन्मन्ये परिदृश्यमाने न स्पन्देयातां परासुरिति विद्यात् । तस्य चेद्दन्ताः प्रतिकीर्णाः श्वेतजातशर्कराः स्युः परासुरिति विद्यात् । तस्य चेत्पक्ष्माणि जटाबद्धानि स्युः परासुरिति विद्यात् । तस्य चेच्चक्षुषी प्रकृतिहीने विकृतियुक्ते अभ्युत्पिण्डिते आतप्रविष्टे अतिजिह्मे अतिविषमे अतिप्रस्रुते अतिविमुक्तबन्धने सततोन्मेषिते सततनिमेषिते निमेषोन्मेषातिप्रवृत्ते विभ्रान्तदृष्टिके विपरीतदृष्टिके हीनदृष्टिके व्यस्तदृष्टिके नकुलान्धे कपोतान्धे अलातवर्ण कृष्णनील-पीतश्यावताम्रहरितहारिद्रशुक्लवैकारिकाणां वर्णानामन्यतमेनाभि-संप्लुते वा स्यातां परासुरिति विद्यात् ॥ ६ ॥

तथा रोगीके उच्छ्वास, ठोडी, दांत, पलकें, नेत्र, केश, लोम, उदर, नख और अंगुली इनकी भी परीक्षा करनी चाहिये । यदि रोगीका उच्छ्वास अत्यंत लंबा या बहुतही ह्रस्व चलनेलगे तो रोगीको प्राणरहित होनेवाला जानना चाहिये । जिस रोगीकी दोनों तरफसे ठोडीकी नाडें फडकनेलगें और ठोडी हिलनेलगे उस रोगीको भी गतायु जानना चाहिये । जिस रोगीके दांत अधिक मैले विखरे हुए और सफेद शर्करायुक्त हों उसको भी शीघ्र मृत्युग्रस्त होनेवाला जानना चाहिये । जिस रोगीकी पलकें जटाके समान बंधजायँ वह भी गतायु होता है । जिस रोगीके नेत्र अपने स्वभावसे हीन होकर विकृत होजायँ अत्यंत बाहर निकल आवें अथवा अधिक भीत-रको बढजायँ या टेढे होजायँ या एक बडा एक छोटा होजाय अथवा एक बंद होजाय एक खुला रहे एवम् अत्यंत पानी बहना, बहुत ही शिथिल होजाना, बिलकुल बंद होजाना या खुलेही रहना या थोडी २ देरमें खुलना या बंद होवें अथवा फटेसे होजायँ या भयानक रीतिसे देखे या दृष्टिहीन होजायँ या अपूर्वदृष्टि होजायँ, दिनमें सब वस्तुएं साधारण देखना अथवा सब वस्तुयें काली देखना अंगारके समान काले, नीले, पीले, श्याम, ताम्रवर्ण, हरे, हल्दीके रंगके या सफेद इन सब वर्णोंमेंसे अत्यन्त विकृत होकर किसी वर्णका होना यह सब लक्षण गतायु मनुष्यके हैं ॥ ६ ॥

केशपरीक्षा ।

अथास्य केशलोमान्यायच्छेत् । तस्य चेत्केशलोमान्यायम्यमानानि प्रलुच्येरन्न चेद्वेदयेत्परासुरिति विद्यात् ॥ ७ ॥

रोगी मनुष्यके केश और रोमोंकी भी परीक्षा करनी चाहिये । जिस रोगीके केश या रोम खींचनेसे उखडजायं और उस रोगीको किंचित् पीडा भी प्रतीत न हो उसको गतायु जानना ॥ ७ ॥

उदरपरीक्षा ।

तस्य चेदुदरे शिराः प्रदृश्येरन्, श्यावताम्रनीलहारिद्रशुक्ला वा स्युः परासुरिति विद्यात् ॥ ८ ॥

जिस रोगीके पेटपर काली, लाल, पीत और श्वेत नसें दीखनेलगें उसको भी गतप्राण जानना चाहिये ॥ ८ ॥

नखपरीक्षा ।

तस्य चेन्नखा वीतमांसशोणिताः पक्वजाम्बववर्णाः स्युः परासुरिति विद्यात् ॥ ९ ॥

जिस रोगीके नख मांसरहित तथा रुधिररहित होजायं और पकेहुए जामुनके समान काले वर्णके होजायँ उसको भी गतप्राण जानना चाहिये ॥ ९ ॥

अंगुलीपरीक्षा ।

अथास्याङ्गुलीरायच्छेत्तस्य चेदङ्गुलय आयम्यमाना न चेत्स्फुटेयुः परासुरिति विद्यात् ॥ १० ॥

इसके उपरांत इसकी अंगुलियोंकी भी परीक्षा करनी चाहिये। यदि रोगीकी अंगुलियें खींचनेसे शब्द नहीं करें तो उस रोगीको भी मरणासन्न जानना चाहिये ॥ १० ॥

भवति चात्र—एतान्स्पृश्यान्बहून्भावान्यः स्पृशन्नावबुध्यते ।
आतुरे न स सम्मोहमायुर्ज्ञानस्य गच्छति ॥ ११ ॥

इति चरकसंहितायामिन्द्रियस्थाने परिमर्षणीयमिन्द्रियं समाप्तम् ॥ ३ ॥

यहांपर अध्यायके उपसंहारमें श्लोक है—जो वैद्य इन अनेक प्रकारके स्पृश्यभावोंको स्पर्शद्वारा जानलेता है वह रोगीके आयुर्ज्ञानमें मोहको प्राप्त नहीं होता ॥ ११ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीता०इन्द्रियस्थाने पटियालाराज्यान्तर्गतटकसालनेवास-वैद्यपञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्य-भाषाटीकायां परिमर्षणीयमिन्द्रियं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः ।

अथात इन्द्रियानीकमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम इंद्रियानीक इंद्रियकी व्याख्या करते हैं इस प्रकार भगवान् आत्रेयजी कथन करनेलगे ॥

इन्द्रियाणि यथा जन्तोः परीक्षेत विशेषवित् ।
ज्ञातुमिच्छन्भिषङ्मानमायुषस्तन्निबोध मे ॥ १ ॥

हे अग्निवेश ! बुद्धिमान् वैद्यका आयुका प्रमाण जाननेकी इच्छासे जिस प्रकार मनुष्यके इंद्रियोंकी परीक्षा करना चाहिये सो तुम श्रवण करो ॥ १ ॥

अनुमानात्परीक्षेत दर्शनादीनि तत्त्वतः ।
अद्धा हिं विदितं ज्ञानमिन्द्रियाणामतीन्द्रियम् ॥ २ ॥
अथवा विकृतं यस्य ज्ञामामिन्द्रियसम्भवम् ।
आलक्ष्येतानिमित्तेन लक्षणं मरणस्य तत् ॥ ३ ॥

मनुष्यकी दर्शनादिक संपूर्ण इंद्रियोंके तत्त्वको अनुमानद्वारा परीक्षा करनी चाहिये। जिसको अकस्मात् अतीन्द्रिय ज्ञान इन्द्रियोंद्वारा साक्षात् होनेलगे । अथवा जिस मनुष्यके इन्द्रियोंका ज्ञान विनाकारणही सहसा विकृत होजाय तो यह लक्षण मृत्युका पूर्वरूप है ॥ २ ॥ ३ ॥

इत्युक्तं लक्षणं सर्वमिन्द्रियेष्वशुभोदयम् ।
तदेव तु पुनर्भूयो विस्तरेण निबोधत ॥ ४ ॥

इस प्रकार संक्षेपसे सब इन्द्रियोंमें होनेवाले अशुभ लक्षण कथन कियेगये हैं । अब उनको ही विस्तारसे वर्णन करते हैं ॥ ४ ॥

नेत्रइन्द्रियद्वारा परीक्षा ।

घनीभूतमिवाकाशमाकाशमिव मेदिनीम् ।
विगीतं ह्युभयं ह्येतत्पश्यन्मरणमृच्छति ॥ ५ ॥

जिस मनुष्यको आकाश पृथ्वीके समान घनीभूत (कठोर) दिखाई देवे और पृथ्वी आकाशके समान खाली दिखाई देनेलगे इस प्रकार विपरीतभाव दोनोंमें प्रतीत हो तो वह मनुष्य मृत्युको प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

यस्य दर्शनमायाति मारुतोऽम्बरगोचरः ।
अग्निर्नो याति वा दीप्तस्तस्यायुः क्षयमादिशेत् ॥ ६ ॥

जिस रोगीको आकाशमें विचरनेवाली वायु मूर्तिमान् दिखाई देनेलगे अथवा प्रज्वलित अग्नि दिखाई न देवे उसकी शीघ्र मृत्यु होजाती है ॥ ६ ॥

जले सुविमले जालमजालावतते तथा ।
स्थिरे गच्छति वा दृष्ट्वा जीवितात्परिमुच्यते ॥ ७ ॥

जिस रोगीको निर्मल जलमें जिसमें जाल न पडा हो उसमें जाल प्रतीत हो और जो स्थिरजलको चंचल समझे वह मनुष्य मृत्युको प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

जाग्रत्पश्यति यः प्रेतान् रक्षांसि विविधानि च ।
अन्यद्वाप्यद्भुतं किंचिन्न स जीवितुमर्हति ॥ ८ ॥

जिस रोगीको जाग्रत् अवस्थामेंही अनेक प्रकारके प्रेत और राक्षस दिखाई देने अथवा अन्य इसी प्रकार अद्भुत सामान प्रतीत होनेलगें वह जीता नहीं रहसकता अर्थात् मृत्युको प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

योऽग्निं प्रकृतिवर्णस्थं नीलं पश्यति निष्प्रभम् ।
कृष्णं वा यदि वा शुक्लं निशां वसति सप्तमीम् ॥ ९ ॥

जो रोगी अपने ठीक स्वभाव और वर्णमें स्थित अग्निको नीले रंग और कांतिरहित अथवा कृष्ण या श्वेत देखे वह आठदिनके बीचमें मृत्युको प्राप्त होता है ९ ॥

मरीचीनसतो मेघान्मेघान्वाप्यसतोऽम्बरे ।
विद्युतो वा विना मेघैः पश्यन्मरणमृच्छति ॥ १० ॥

जिस रोगीको विना प्रकाशके आकाशमें प्रकाश प्रतीत होता हो अथवा विनाही बादलोंके आकाश मेघाच्छन्न प्रतीत होता हो अथवा विनाही मेघोंके बिजली चमकती दिखाई देती हो वह अवश्य मृत्युको प्राप्त होता है ॥ १० ॥

मृण्मयीमिव यः पात्रीं कृष्णाम्बरसमावृताम् ।
आदित्यमीक्षते शुद्धं चन्द्रं वा न स जीवति ॥ ११ ॥

जिस रोगीको स्वच्छ सूर्य अथवा चन्द्रमा काले कपडेसे लिपटाहुआ या मट्टीके पात्रके समान दिखाई देवे वह मृत्युको प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

अपर्वणि यदा पश्येत्सूर्य्याचन्द्रमसोर्ग्रहम् ।
अव्याधितो व्याधितो वा तदन्तं तस्य जीवनम् ॥ १२ ॥

जिस मनुष्यको पर्वके विनाही सूर्य और चन्द्रमाका ग्रहण दिखाई देता हो वह रोगी हो अथवा निरोगी हो अवश्य मृत्युको प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

नक्तं सूर्य्यमहश्चन्द्रमनग्नौ धूमसुत्थितम् ।
अग्निं वा निष्प्रभं रात्रौ दृष्ट्वा मरणमृच्छति ॥ १३ ॥

जिस मनुष्यको रात्रिमें सूर्य और दिनमें चंद्रमाका प्रकाश दिखाई देताहो और अग्निके विना ही धुआँ उठता दिखाई देता हो अथवा रात्रिके समय प्रकाशमान अग्नि भी प्रभारहित दिखाई देती हो वह मृत्युको प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

प्रभावतः प्रभाहीनान्निष्प्रभावान्प्रभावतः ।
नरा विलिङ्गान्पश्यन्ति भावान्प्राणाज्जिहासवः ॥ १४ ॥

जिस मनुष्यको प्रकाशमान वस्तुयें निस्तेज प्रतीत होतीहों और प्रकाश रहित प्रकाशमान दिखाई देती हों, इसी प्रकार अन्य द्रव्योंमें भी विपरीत लक्षणोंको देखे उस मनुष्यकी अवश्य मृत्यु होती है ॥ १४ ॥

व्याकृतानि विवर्णानि विसंख्योपगतानि च ।
विनिमित्तानि पश्यन्ति रूपाण्यायुःक्षये नराः ॥ १५ ॥

जिस रोगीकी आयु नष्ट होगयीहों वह संपूर्ण वस्तुओंको विकृतिरूपसे विकृत-वर्णवाली और विपरीत संख्यावाली तथा कारणसे विपरीत ही देखता है ॥ १५ ॥

यश्च पश्यत्यदृश्यान्वै दृश्यान्यश्च न पश्यति ।
तावुभौ पश्यतः क्षिप्रं यमक्षयमसंशयम् ॥ १६ ॥

जो मनुष्य अदृश्य वस्तुओंको देखे और जो दृश्योंको भी न देख यह दोनो निश्चय मृत्युको प्राप्त होते हैं ॥ १६ ॥

कर्णेन्द्रियद्वारा परीक्षा।

अशब्दस्य च यः श्रोता शब्दान्यश्च न बुध्यते ।
द्वावप्येतौ यथा प्रेतौ तथा ज्ञेयौ विजानता ॥ १७ ॥

जब रोगी शब्दोंको श्रवण न करे और जो विना ही शब्द होनेके शब्दोंको सुने यह दोनों मृत्युके मुखमें पडे जानना चाहिये ॥ १७ ॥

संवृत्त्याङ्गुलिभिः कर्णौ ज्वालाशब्दं य आतुरः ।
न शृणोति गतासुं तं बुद्धिमान्परिवर्जयेत् ॥ १८ ॥

जो रोगी अपने दोनों कानोंको अंगुलियोंसे दबाकर बन्द कर लेनेपर साँय साँय

सुनाई पडनेवाला अनाहत शब्द जो होता है उसको न सुनसके उसकी अवश्य मृत्यु होती है। बुद्धिमान् वैद्य ऐसे रोगियोंको मृतप्राय समझकर त्याग देवे ॥ १८ ॥

नासिकाद्वारा परीक्षा।

विपर्य्ययेण यो विद्याद्गन्धानां साध्वसाधुताम्।
न वातान्सर्वशो विद्यात्तं विद्याद्विगतायुषम् ॥ १९ ॥

जो रोगी उत्तम सुगंधिको दुर्गंध और दुर्गंधको उत्तम सुगंध प्रतीत करे अथवा बिल्कुल गंधज्ञानरहित होजाय उसको गतायु जानना चाहिये ॥ ॥ १९ ॥

त्वचाद्वारा परीक्षा।

यो रसान्न विजानाति न वा जानाति तत्त्वतः।
मुखपाकादृते पक्कं तमाहुः कुशला नरम् ॥ २० ॥

जिस रोगीको विना किसी मुखके विकारके किसी प्रकारके भी मीठे, खट्टे रसका ज्ञान न हो अथवा रसके तत्त्वको न जानसके उस मनुष्यको मरणासन्न जानना चाहिये॥

उष्णाञ्छीतान्खराञ्छ्लक्ष्णान्मृदूनपि च दारुणान्।
स्पर्शान्स्पृष्ट्वा ततोऽन्यत्वं मुमूर्षुस्तेषु मन्यते ॥ २१ ॥

जो मनुष्य उष्ण द्रव्योंको शीतल, खरदरे द्रव्योंको चिकने, नरम द्रव्योंको कठोर इनके सिवाय अन्य भी स्पृश्य वस्तुओंको स्पर्श कर विपरीत प्रतीत करे उसको भी मरनेवाला जानना चाहिये ॥ २१ ॥

अन्तरेण तपस्तीव्रं योगं वा विधिपूर्वकम्।
इन्द्रियैरधिकं पश्यन्पञ्चत्वमधिगच्छति ॥ २२ ॥

जो मनुष्य तीव्र तपस्याके विना अथवा विधिवत् योगसाधन विना अतीन्द्रिय विषयोंको जानने लगजाय अथवा इन्द्रियोंसे देखने लगजाय वह मृत्युको प्राप्त होताहै॥

इन्द्रियाणामृते दृष्टेरिन्द्रियार्थान्न पश्यति।
विपर्य्ययेण यो विद्यात्तं विद्याद्विगतायुषम् ॥ २३ ॥

जो मनुष्य दृष्टिके विना अन्य इंद्रियोंके शब्दादि ज्ञानको न जानसके परन्तु दृष्टिद्वारा अन्य इन्द्रियोंके विषयोंको भी जानने लगजाय अथवा संपूर्ण इन्द्रियोंके ज्ञानको विपरीत भावसे जाने वह मृत्युको प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

स्वस्थाः प्रज्ञाविपर्य्यासैरिन्द्रियार्थेषु वैकृतम्।
पश्यन्ति येऽसद्धहुशस्तेषां मरणमादिशेत् ॥ २४ ॥

यदि स्वस्थ मनुष्य भी बुद्धिके विपरीत भावसे संपूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको विपरीत देखे एवम् अच्छेको बुरा और बुरेको अच्छा प्रतीत करे वह भी मरणासन्न जानना चाहिये ॥ २४ ॥

तत्र श्लोकः-एतदिन्द्रियविज्ञानं यः पश्यति यथा तथा ।
मरणं जीवितं चैतत्स भिषक् ज्ञातुमर्हति ॥ २५ ॥

इति चरकसंहितायामिन्द्रियस्थाने इन्द्रियानीकमिन्द्रियं समाप्तम् ॥ ४ ॥

यहां अध्यायके उपसंहारमें एक श्लोक है--कि जो वैद्य इस इन्द्रियविज्ञानको यथोचितरीतिपर ठीक परीक्षा करना जानता है वही वैद्य मनुष्यके जीवन आर मरणको जान सकता है ॥ २५ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां इन्द्रियस्थाने पटियालाराज्यान्तर्गतटकसाल-निवासिवैद्यपञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्य-भाषाटीकायामिन्द्रियानीकमिन्द्रियं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः।

अथातः पूर्वरूपीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रयः ॥

अब हम पूर्वरूपीय इन्द्रियकी व्याख्या करते हैं इस प्रकार भगवान् आत्रेयजी कथन करनेलगे ॥

पूर्वरूपाण्यसाध्यानां विकाराणां पृथक् पृथक् ।
भिन्नाभिन्नानि वक्ष्यामो भिषजां ज्ञानवृद्धये ॥ १ ॥

वैद्यजनोंके ज्ञानवृद्धिके लिये पृथक् २ रोगोंके असाध्य पूर्वरूपोंको अलग २ करके वर्णन करते हैं ॥ १ ॥

पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया ।
यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युर्ज्वरपुरःसरः ॥ २ ॥

यदि ज्वरके संपर्ण पूर्वरूप बलवान् होकर अधिकतासे जिस रोगीका आश्रय लेवे तो उस रोगीके शरीरमें ज्वरको आगेकर मृत्यु प्रवेश करती है ॥ २ ॥

अन्यस्यापि च रोगस्य पूर्वरूपाणि यं नरम् ।
विशन्त्येतेन कल्पेन तस्यापि मरणं ध्रुवम् ॥ ३ ॥

अन्य रोगोंमें भी यदि किसी रोगके संपूर्ण पूर्वरूप बलवान् होकर अधिकरूपसे जिस मनुष्यके शरीरमें प्रवेश करते हैं तो उसकी अवश्य मृत्यु होजाती है ॥ ३ ॥

पूर्वरूपैकदेशांस्तु वक्ष्यामोऽन्यान् सुदारुणान् ।
ये रोगाननुबध्नन्ति मृत्युर्यैरनुबध्यते ॥ ४ ॥

अब अन्य रोगोंम भी जो दारुण पूर्वरूपोंका एकदेश होनेसे ही रोग मनुष्यकी मृत्यु कर देते हैं उन पूर्वरूपोंका वर्णन करते हैं ॥ ४ ॥

भिन्न २ मृत्युकारक रोग।

बलञ्च हीयते यस्य प्रतिश्यायश्च वर्द्धते ।
तस्य नारीप्रसक्तस्य शोषोऽन्तायोपजायते ॥ ५ ॥

जिस मनुष्यका बल क्षीण होगया हो और प्रतिश्याय बहुत जोरसे बढाहुआ हो वह मनुष्य यदि स्त्रीसंगमें आसक्त रहे तो उस मनुष्यको शोषरोग अवश्य नष्ट करदेता है ॥ ५ ॥

श्वभिरुष्ट्रैः खरैर्वापि याति यो दक्षिणां दिशम् ।
स्वप्ने यक्ष्माणमासाद्य जीवितं स विमुञ्चति ॥ ६ ॥

जो मनुष्य स्वप्नमें कुत्ता, ऊंट वा गधेके ऊपर चढकर दक्षिणकी ओर गमन करे उस मनुष्यको राजयक्ष्मा रोग प्रवेश कर उसके जीवनको नष्ट करदेता है ॥ ६ ॥

प्रेतैः सह पिबेन्मद्यं स्वप्ने यः कृष्यते शुना ।
स घोरं ज्वरमासाद्य न जीवेन्न च मुज्यते ॥ ७ ॥

जो मनुष्य स्वप्नमें प्रेतों (मरेहुए) के साथ मिलकर मद्यको पीता है अथवा जिसको स्वप्नमें कुत्ते घसीटते हैं उस मनुष्यको घोर ज्वर उत्पन्न होकर नष्ट करदेता है७

लाक्षारक्ताम्बराभं यः पश्यत्यम्बरमन्तिकात् ।
स रक्तपित्तमासाद्य तेनैवान्ताय नीयते ॥ ८ ॥

जिस मनुष्यको अपने समीपका आकाश लाखके रंगसे रंगाहुआसा प्रतीत होवे उस मनुष्यको रक्तपित्त रोग होकर शीघ्र यमलोकको लेजाता है ॥ ८ ॥

रक्तस्रग्रक्तसर्वाङ्गो रक्तवासा मुहुर्हसन् ।
यः स्वप्ने ह्रियते नार्य्या स रक्तं प्राप्य सीदति ॥ ९ ॥

जिस मनुष्यको स्वप्नमें लाल वस्त्र, लालफूलोंकी ला पहिनेहुए सम्पूर्ण लाल अंगोंवाली स्त्री वारंवार हंसतीहुई आकर हरण करती है, उसको रक्तपित्त रोग होकर मृत्युको प्राप्त करदेता है ॥ ९ ॥

शूलाटोपान्त्रकूजाश्च दौर्बल्यं चातिमात्रया।
नखादिषु च वैवर्ण्यं गुल्मेनान्तकरो ग्रहः॥ १०॥

जिस मनुष्यको अत्यन्त शूल, अफारा, आंतोंका कूजन, दुर्बलता यह अधिक होजाय और नखादिकोंमें विवर्णता होजाय उस मनुष्यकी गुल्मरोगद्वारा मृत्यु होजाती है॥ १०॥

लता कण्टकिनी यस्य दारुणा हृदि जायते।
स्वप्ने गुल्मस्तमन्ताय क्रूरा विशति मानवम्॥ ११॥

जिस मनुष्यको स्वप्नमें अत्यन्त कांटोंसे युक्त बेल अपने गलेमें पडीहुई छातीपर लटकती दिखाई दे उसकी गुल्मरोगसे मृत्यु होजाती है॥ ११॥

कायेऽल्पमपि संस्पृष्टं सुभृशं यस्य दीर्य्यते।
क्षतानि च न रोहन्ति कुष्ठैर्मृत्युर्हिनस्ति तम्॥ १२॥

जिस मनुष्यके शरीरमें थोडासा स्पर्श करनेसे भी शरीर फटजाय और जो शरीरमें घाव उत्पन्न हों वह हटे नहीं तो उस मनुष्यकी कुष्ठरोगसे मृत्यु होजाती है॥१२॥

नग्नस्याज्यावसिक्तस्य जुह्वतोऽग्निमनर्चिषम्।
पद्मान्युरसि जायन्ते स्वप्ने कुष्ठैर्मरिष्यतः॥ १३॥

जो मनुष्य स्वप्नमें नग्न होकर सम्पूर्ण देहमें घी लगा ज्वालारहित अग्निमें हवन करे अथवा अपने छातीमें कमल उत्पन्न देखे तो उस मनुष्यकी कुष्ठरोगसे मृत्यु होती है॥ १३॥

स्नातानुलिप्तगात्रेऽपि यस्मिन्गृध्नन्ति मक्षिकाः।
स प्रमेहेण संस्पर्शं प्राप्य तेनैव हन्यते॥ १४॥

जिस मनुष्यके शरीरपर स्नानकर चन्दन आदि लगा लेनेपर भी बहुतसी मक्खियें आकर बैठें उस मनुष्यकी प्रमेह रोगसे मृत्यु होती है॥ १४॥

स्नेहं बहुविधं स्वप्ने चण्डालैः सह यः पिबेत्।
बुध्यते स प्रमेहेण स्पृश्यतेऽन्ताय मानवः॥ १५॥

जो मनुष्य स्वप्नमें चाण्डालोंके साथ मिलकर अनेक प्रकारके घृत, तेल आदिकोंका पान करता है उसकी प्रमेह रोगसे मृत्यु होती है॥ १५॥

ध्यानायासा तथोद्वेगो मोहश्चास्थानसम्भवः।
अरतिर्बलहानिश्च मृत्युरुन्मादपूर्वकः॥ १६॥

जिस मनुष्यको ध्यान, थकावट, घबराहट, भ्रम, उद्वेग और मोह तथा चित्तका न लगना यह सब एकही कालमें उत्पन्न होजायँ उसकी उन्माद रोगसे मृत्यु होती है॥

आहारद्वेषिणं पश्यँल्लुप्तचित्तमुदर्दितम् ।
विद्याद्धीरो मुमूर्षुं तमुन्मादेनातिपातिना ॥ १७ ॥

जिस मनुष्यको भोजनके सब पदार्थ बुरे प्रतीत होते हों और ज्ञान जातारहे, उदर्द रोग हो उस मनुष्यको बुद्धिमान् उन्माद रोगसे मृत्यु होनेवाला जाने ॥ १७ ॥

क्रोधनं त्रासबहुलं सकृत्प्रहसिताननम् ।
मूर्च्छापिपासाबहुलं हन्त्युन्मादः शरीरिणम् ॥ १८ ॥

जिस मनुष्यको अत्यन्त क्रोध, त्रास और हास्य ये एककालमें ही प्रगट होजायँ तथा बारबार मूर्च्छा और प्यासकी अधिकता हो उसकी उन्मादरोगसे मृत्यु होती है ॥ १८ ॥

नृत्यन् रक्षोगणैः सार्द्धं यः स्वप्नेऽम्भसि सीदति ।
स प्राप्य भृशमुन्मादं याति लोकमतः परम् ॥ १९ ॥

जो मनुष्य स्वप्नमें राक्षसोंके साथ नाच करताहुआ जलमें डूबजाय वह उन्माद रोगसे ग्रसित होकर परलोकको प्राप्त होजाता है ॥ १९ ॥

असत्तमः पश्यति यः शृणोत्यप्यसतः स्वरान् ।
बहून्बहुविधाञ्जाग्रत्सोऽपस्मारेण बध्यते ॥ २० ॥

जिस मनुष्यको विना अंधकारके अंधकार प्रतीत होता हो और विना ही किसी-प्रकारकी आवाजसे अनेक प्रकारके गायनके स्वरोंको श्रवण करे वह मनुष्य मृगीरो-गसे मृत्युको प्राप्त होता है ॥ २० ॥

मत्तं नृत्यन्तमाविध्य प्रेतो हरति यं नरम् ।
स्वप्ने हरति तं मृत्युरपस्मारपुरःसरः ॥ २१ ॥

जो मनुष्य स्वप्नमें अपनेको उन्मत्त होकर नाचताहुआ देखे और उस नाचती हुई अवस्थामें उसको प्रेत उठाकर लेजावे । ऐसा स्वप्न आनेवाले मनुष्यको अपस्मार (मृगी) रोगको आगेकर मृत्यु प्रवेश करता है ॥ २१ ॥

स्तभ्येते प्रतिबुद्धस्य हनुमन्ये तथाक्षिणी ।
यस्य तं बहिरायामो गृहीत्वा हन्त्यसंशयम् ॥ २२ ॥

जिस मनुष्यके ठोडी, गर्दन और दोनों नेत्र अकडजायँ उसको बहिरायाम नामक वातव्याधि प्राप्त होकर नष्ट करदेती है ॥ २२ ॥

शष्कुलीरप्यपूपान्वै स्वप्ने खादति यो नरः ।
स चेत्तादृक् छर्दयति प्रतिबुद्धो न जीवति ॥ २३ ॥

जो मनुष्य स्वप्नमें पूडियें और पूवोंको खाता है और जागकर उन्हींके समान वमन कर देता है वह मृत्युको प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

एतानि पूर्वरूपाणि यः सम्यगवबुद्ध्यते ।
स एषामनुबन्धञ्च फलञ्च ज्ञातुमर्हति ॥ २४ ॥

इन सब प्रकारके पूर्वरूपोंको जो वैद्य भले प्रकार जानता है वह ही इस अनुबंधके फलको जानता है । अर्थात् मनुष्यकी रोगोंद्वारा मृत्युको कहसकता है ॥२४॥

य इमांश्चापरान्स्वप्नान्दारुणानुपलक्षयेत् ।
व्याधितानां विनाशाय क्लेशाय महतेऽपि वा ॥ २५ ॥

जो मनुष्य इन आगे कहे दारुण स्वप्नोंको देखता है वह यदि रुग्णावस्थामें देखे तो अवश्य मृत्यु होती है और यदि स्वस्थावस्थामें देखे तो महान् कष्ट उपस्थित होता है ॥ २५ ॥

यस्योत्तमाङ्गे जायन्ते वंशगुल्मलतादयः ।
वयांसि च विलीयन्ते स्वप्ने मौण्ड्यमियाच्च यः ॥ २६ ॥
गृध्रोलूकश्वकाकाद्यैः स्वप्ने यः परिवार्य्यते ।
रक्षःप्रेतपिशाचस्त्रीचण्डालद्रविडान्ध्रकैः ॥ २७ ॥
वंशवेत्रलतापाशतृणकण्टकसंकटे ।
प्रमुह्यति हि यः स्वप्ने यो गच्छन् प्रपतत्यपि ॥ २८ ॥

जिस मनुष्यके स्वप्नमें शिरपर बांस, गुल्म, बेलें आदि प्रकट होजायँ और कौआ आदि पक्षी मुख आदि किसी अंगमें छिपजावें अथवा स्वप्नमें जिसका शिर मुण्डन कियाजावे अथवा गीध, उल्लू, कुत्ते, काग, राक्षस, प्रेत, पिशाच, स्त्रियें, चाण्डाल और दैत्य आदि चारों तरफसे घेरे हुए हों अथवा बांस, वेत, लता, फांसी, तृण, कांटे आदिके संकटमें फंसजाय और उन्हींमें फंसकर बेहोश हो गिरजाय तो यदि यह स्वप्न रोगीको आवे तो उसकी मृत्यु होय और स्वस्थ अवस्थामें आवे तो वह महान् संकटमें पडे ॥ २६–२८ ॥

भूमौ पांशूपधानायां वल्मीके वाथ भस्मनि ।
श्मशानायतने श्वभ्रे स्वप्ने यः प्रपतत्यपि ॥ २९ ॥

कलुषेऽम्भसि पङ्के च कूपे वा तमसावृते ।
स्वप्ने मज्जति शीघ्रेण स्रोतसा ह्रियते च यः ॥ ३० ॥
स्नेहपानं तथाऽभ्यङ्गः स्वप्ने बन्धपराजयौ ।
हिरण्यलाभः कलहः प्रच्छर्दनविरेचने ॥ ३१ ॥
उपानद्युगनाशश्च प्रपातः पांशुचर्मणोः ।
हर्षः स्वप्ने प्रकुपितैः पितृभिश्चापि भर्त्सनम् ॥ ३२ ॥
दन्तचन्द्रार्कनक्षत्रदेवतादीपचक्षुषाम् ।
पतनं वा विनाशो वा स्वप्ने भेदो नगस्य वा ॥ ३३ ॥

जो मनुष्य स्वप्नमें धूलियुक्त पृथ्वीमें अथवा सांपकी बाँबीमें या भस्ममें या श्मशानमें या गढेमें गिरजाय अथवा मलिन जलमें, कीचडमें, कुएमें, या अन्धकारमें डूबजाता है या नदीके प्रवाहमें बहजाता है अथवा स्नेहपान या अपने शरीरपर तैल मर्दन करता है या बन्धनमें फँसजाय अथवा शत्रुओंसे हारजाय या जिसको स्वप्नमें सुवर्ण मिले या कलह हो वमन अथवा विरेचन हो अथवा दोनों जूते नष्ट होकर शरीरपर बालू और चमडेकी स्वप्नमें वृष्टि हो स्वप्नमें हँसना और कुपित हुए पितरोंसे ताडित होना या स्वप्नमें दांत, चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र, देवता, दीपक और नेत्रोंका गिरजाना देखे या नष्ट होते देखे एवं पर्वतका फटना देखे तो वह यदि रोगी हो तो मृत्युको प्राप्त होता है और आरोग्य हा तो संकटमें पडता है ॥ २९-३३ ॥

रक्तपुष्पं वनं भूमिं पापकर्मालयं चिताम् ।
गुहान्धकारसम्बाधं स्वप्ने यः प्रविशत्यपि ॥ ३४ ॥
रक्तमाली हसन्नुच्चैर्दिग्वासा दक्षिणां दिशम् ।
दारुणामटवीं स्वप्ने कपियुक्तः प्रयाति वा ॥ ३५ ॥
कषायिणामसौम्यानां नग्नानां दण्डधारिणाम् ।
कृष्णानां रक्तनेत्राणां स्वप्ने नेच्छन्ति दर्शनम् ॥ ३६ ॥
कृष्णा पापा निराचारा दीर्घकेशनखस्तनी ।
विरागमाल्यवसना स्वप्ने कालनिशा मता ॥ ३७ ॥
इत्यन्ये दारुणाः स्वप्ना रोगी यैर्याति पञ्चताम् ।
अरोगः संशयं गत्वा कश्चिदेव विमुच्यते ॥ ३८ ॥

जो मनुष्य स्वप्नमें लाल फूलोंके वनमें तथा पापकर्म होतेहुए स्थानमें, अंधकार-युक्त गुफामें प्रवेश करता है अथवा लाल फूलोंका हार धारण किये हुए हंसता २ दक्षिण दिशामें या बन्दरके ऊपर चढकर घोर जंगलमें प्रवेश करता है अथवा भगूएं वस्त्र पहिने विकराल रूपवाले नग्न, हाथोंमें डण्डे लियेहुए कृष्णवर्ण और लाल नेत्रों-वाले दूतोंको स्वप्नमें देखकर डरता है अथवा कालेवर्णकी पापाचारिणी लम्बे बालों-वाली तथा लम्बे नख और स्तनोंवाली मलिन माला और मलिन वस्त्रोंवाली काली निशाचरीको देखता है अथवा अन्य इसी प्रकारके दारुण स्वप्नोंको देखता है तो वह यदि रोगी हो तो मृत्युको प्राप्त होता है और निरोगी मनुष्यभी ऐसे स्वप्नोंको देख महान् कष्टको प्राप्त होता है और कोई ही बचता है ॥ ३४-३८ ॥

मनोवहानां पूर्णत्वाद्दोषैरतिबलैस्त्रिभिः ।
स्रोतसां दारुणान्स्वप्नान्काले पश्यति दारुणे ॥ ३९ ॥
नातिप्रसुप्तः पुरुषः सफलानफलानपि ।
इन्द्रियेशेन मनसा स्वप्नान्पश्यत्यनेकधा ॥ ४० ॥

जब वातादि तीनों दोष बलवान् होकर मनकी वहन करनेवाली नाडियोंमें प्राप्त होजाते हैं तब उस समयमें वह मनुष्य शुभ और अशुभ स्वप्नोंको देखताहै । जिस समय मनुष्य अधिक निद्रामें नहीं होता उस समय इन्द्रियोंके पति मनके द्वारा अनेक प्रकारके स्वप्नोंको देखता है वह स्वप्न कोई सफल होते हैं कोई निष्फल होते हैं ४०॥

स्वप्नके भेद ।

दृष्टं श्रुतानुभूतञ्च प्रार्थितं कल्पितं तथा ।
भाविकं दोषजञ्चैव स्वप्नं सप्तविधं विदुः ॥ ४१ ॥

सुनेहुए, देखेहुए, अनुभव कियेहुए,इच्छा कियेहुए, कल्पना किये हुए, भावी फलके करनेवाले और तीनों दोषोंसे होनेवाले इन भेदोंसे स्वप्न सात प्रकारके होते हैं ॥४१॥

तत्र पञ्चविधं पूर्वमफलं भिषगादिशेत् ।
दिवास्वप्नमतिह्रस्वमतिदीर्घञ्च बुद्धिमान् ॥ ४२ ॥

इनमें पहिले पांच प्रकारके स्वप्नोंको वैद्य निष्फल कथन करे । अथवा जो स्वप्न दिनमें देखागया या बहुत छोटासा हो या बहुत लम्बा हो उसको भी बुद्धिमान् निष्फल जाने ॥ ४२ ॥

दृष्टः प्रथमरात्रे यः स्वप्नः सोऽल्पफलो भवेत् ।
न स्वपेद्यः पुनर्दृष्ट्वा स सद्यः स्यान्महाफलः ॥ ४३ ॥

जो स्वप्न रात्रिके प्रथम प्रहरमें दिखाई देता है वह अल्प फलको करनेवाला होता है जिस स्वप्नको देखकर मनुष्यको फिर निद्रा न आवे वह स्वप्न महाफलको देनेवाला होता है ॥ ४३ ॥

अकल्याणमपि स्वप्नं द्रष्टा तत्रैव यः पुनः।
पश्येत्सौम्यं शुभाकारं तस्य विद्याच्छुभं फलम् ॥ ४४ ॥

यदि प्रथम अशुभ स्वप्नको देखकर फिर उसी समय शुभ स्वप्नको देखे तो उसका शुभही फल होता है ॥ ४४ ॥

तत्र श्लोकः—पूर्वरूपाण्यथ स्वप्नान् य इमान्वेत्ति दारुणान्।
न स मोहादसाध्येषु कर्माण्यारभते भिषक् ॥ ४५ ॥

इति चरकसंहितायामिन्द्रियस्थाने पूर्वरूपीयमिन्द्रियं समाप्तम् ॥५॥

जो वैद्य इन संपूर्ण पूर्वरूपोंको तथा इन दारुण स्वप्नोंको भले प्रकार जानता है वह असाध्यरोगोंमें मोहके वश चिकित्सा करनेके लिये नहीं फँसता ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां इन्द्रियस्थाने पं०रामप्रसादवैद्य-
विरचितप्रसादन्याख्यभाषाटीकायां पूर्वरूपीयमिन्द्रियं नाम
पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः।

अथातः कतमानिशरीरीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥

अब हम कतमानिशरीरीय इन्द्रियाध्यायकी व्याख्या करते हैं इस प्रकार भगवान आत्रेयजी कथन करनेलगे ॥

कतमानि शरीराणि व्याधिमन्ति महामुने।
यानि वैद्यः परिहरेद्येषु कर्म न सिध्यति ॥ १ ॥

अग्निवेश कहनेलगे कि, हे महामुने ! कितने प्रकारकी व्याधियोंवाले रोगियोंके शरीर ऐसे होते हैं जिनको वैद्य त्याग देवे और जिनमें चिकित्सा की हुई सफल नही होती ॥ १ ॥

इत्यात्रेयोऽग्निवेशेन प्रश्नं पृष्टः सुदुर्वचम्।
आचचक्षे यथा तस्मै भगवंस्तान्निबोध मे ॥ २ ॥

इस प्रकार यह गहन विषय अग्निवेशके पूंछनेपर भगवान् आत्रेयजीने जिस प्रकार अग्निवेशके प्रति वर्णन किया उसको श्रवण करो ॥ २ ॥

त्याज्यरोगीके लक्षण।

यस्य वै भाषमाणस्य रुजात्यूर्ध्वमुरो भृशम्।
अन्नञ्च च्यवते भुक्तं स्थितञ्चापि न जीर्य्यति ॥ ३ ॥
बलञ्च हीयते यस्य तृष्णा चाभिप्रवर्द्धते।
जायते हृदि शूलञ्च तं भिषक् परिवर्जयेत् ॥ ४ ॥

जिस रोगीके बोलने समय छातीके ऊपरके भागमें अत्यंत पीडा हो और भोजन कियाहुआ उसी समय निकलजाया करे अर्थात् उदरमें ठहर नहीं सके यदि ठहरे भी तो पचे नहीं और जिसका प्रतिदिन बल क्षीण होताजाय तथा प्यास बढती चली-जाय हृदयमें शूल हो उसको वैद्य त्याग देवे ॥ ३ ॥ ४ ॥

हिक्का गम्भीरजा यस्य शोणितञ्चातिसार्य्यते।
न तस्मै भेषजं दद्यात् स्मरन्नात्रेयशासनम् ॥ ५ ॥

जिस रोगीको गंभीरनामक हिचकी आनेलगे और अत्यंत रुधिर निकलता हो उसको आत्रेयजीकी आज्ञाका स्मरण करताहुआ कोई औषध न देवे ॥ ५ ॥

आनाहश्चातिसारश्च यमेतौ दुर्बलं नरम्।
व्याधितं विशतो रोगौ दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ ६ ॥

जो रोगी अत्यंत दुर्बल होजाय और उस क्षीण अवस्थामें अफारा और अतिसार भी आकर प्रवेश होजायँ तो उस रोगीके जीवनको दुर्लभ जानना चाहिये। अर्थात् उसकी अवश्य मृत्यु होजायगी ॥ ६ ॥

आनाहश्चैव तृष्णा च यमेतौ दुर्बलं नरम्।
विशतो विजहत्येनं प्राणानतिचिरान्नरम् ॥ ७ ॥

जिस रोगीको अफारा और तृष्णा यह दोनों अत्यंत बढजायँ और वह रोगी अधिक दिनोंसे बीमार होनेके कारण अत्यंत दुर्बल हो तो यह रोग उस मनुष्यके प्राणोंको थोडे ही समयमें नष्ट कर डालते हैं ॥ ७ ॥

ज्वरः पौर्वाह्णिको यस्य शुष्कः कासश्च दारुणः।
ज्वरो यस्यापराह्णे तु श्लेष्मकासश्च दारुणः।
बलमांसविहीनस्य यथा प्रेतस्तथैव सः ॥ ८ ॥

जिस मनुष्यको प्रातःकालमें ज्वर चढजायाकरे और साथ ही साथ दारुण सूखी खांसी भी होजाय और इस ज्वर तथा खांसीसे बल और मांस क्षीण होजायँ तो उस मनुष्यकी मृत्यु होनेवाली है ऐसा जानना । अथवा अपराह्णमें नित्य ज्वर उत्पन्न होता हो और कफकी खांसी अत्यंत दारुण हो तथा इसी ज्वर, खांसीसे बल और मांस क्षीण होजायँ तो वह रोगी भी अवश्य मृत्युको प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

यस्य मूत्रं पुरीषञ्च ग्रथितं सम्प्रवर्तते ।
निरुष्मिणो जठरिणः श्वसनो न स जीवति ॥ ९ ॥

जिस रोगीका मल और मूत्र गांठदार निकले और शरीरमें गर्मी बिल्कुल न रहे तथा उदररोग हो और श्वासका रोग हो वह रोगी अवश्य मृत्युको प्राप्त होता है ९

श्वयथुर्यस्य कुक्षिस्थो हस्तपादं विसर्पति ।
ज्ञातिसंघं स संक्लिश्य तेन रोगेण हन्यते ॥ १० ॥

जिस रोगीके कुक्षि (कोख) से आरम्भ होकर संपूर्ण हाथपावोंपर सूजन पहुँचजाय वह सूजन उसके जातिसमूहको कष्ट देता रोगीको नष्ट करडालता है ॥ १० ॥

श्वयथुर्यस्य पादस्थस्तथा स्रस्ते च पिण्डिके ।
सीदतश्चाप्युभे जङ्घे तं भिषक् परिवर्जयेत् ॥ ११ ॥

जिस रोगीके पैरोंमें सूजन उत्पन्न होजाय और दोनों पिण्डलियें शिथिल पडजायँ तथा दोनों जंघा हिल न सकें उस रोगीको वैद्य त्याग देवे ॥ ११ ॥

शूनहस्तं शूनपादं शूनगुह्योदरं नरम् ।
हीनवर्णबलाहारमौषधैर्नोपपादयेत् ॥ १२ ॥

जिस रोगीके हाथपांव सूख जायँ तथा गुह्यस्थान और उदरपर सूजन होजाय, वर्ण और बल तथा आहार हीन होजाय उस रोगीको औषधोंद्वारा चिकित्सा नहीं करनी चाहिये क्योंकि वह अवश्य मरजानेवाला है ॥ १२ ॥

उरोयुक्तो बहुश्लेष्मा नीलः पीतः सलोहितः ।
सततं च्यवते यस्य दूरात्तं परिवर्जयेत् ॥ १३ ॥

जिस पुराने रोगीकी छातीमेंसे नीलवर्ण और पीला तथा लालीयुक्त बहुतसा बलगम आता हो तो उस रोगीको दूरसेही त्याग देवे ॥ १३ ॥

हृष्टरोमा सान्द्रमूत्रः शूनः कासज्वरार्दितः ।
क्षीणमांसो नरो दूराद्वर्ज्यो वैद्येन जानता ॥ १४ ॥

जिस रोगीके रोम खडे हों, मूत्र आंत्रसहित आता हो, शरीरपर सूजन हो तथा खांसी और ज्वरसे पीडित हो, मांस क्षीण होगया हो उसका ज्ञानी वैद्य दूरसे ही त्याग देवे ॥ १४ ॥

त्रयः प्रकुपिता यस्य दोषाः कोष्ठेऽभिलक्षिताः।
कृशस्य बलहीनस्य नास्ति तस्य चिकित्सितम् ॥ १५ ॥

जिस बलहीन दुर्बल रोगीके कोष्ठमें वातादि तीनों दोष कुपित होकर प्राप्त होजायँ उस रोगीकी कोई चिकित्सा नहीं है अर्थात् वह अवश्य मरेगा ॥ १५ ॥

ज्वरातिसारौ शोफान्ते श्वयथुर्वा तयोः क्षये।
दुर्बलस्य विशेषेण नरस्यान्ताय जायते ॥ १६ ॥

जिस मनुष्यको ज्वर और अतिसारके अन्तमें सूजन उत्पन्न होजाय अथवा सूजनके अन्तमें ज्वर और अतिसार उत्पन्न होजायँ और वह मनुष्य विशेषरूपसे बलहीन हो तो उसकी अवश्य मृत्यु होती है ॥ १६ ॥

पाण्डूदरः कृशोऽत्यर्थं तृष्णयाभिपरिप्लुतः।
डम्बरी कुपितोच्छ्वासः प्रत्याख्येयो विजानता ॥ १७ ॥

जो रोगी पांडुरोग सहित उदररोगसे पीडित हो और अत्यन्त कृश तथा तृषासे व्याकुल हो, दोनों नेत्र जिसके बैठजावें और वेगसे श्वास चलनेलगे तो उस रोगीको प्रत्याख्येय जानना अर्थात् यह नहीं बचेगा इस प्रकार कहदेने योग्य जानना ॥ १७ ॥

हनुमन्याग्रहस्तृष्णा बलह्रासोऽतिमात्रया।
प्राणाश्चोरसि वर्त्तन्ते यस्य तं परिवर्जयेत् ॥ १८ ॥

जिस रोगीकी ठोडी और मन्या यह दोनों अकड गई हों, प्यासकी अधिकता हो बल अत्यन्त क्षीण होगया हो और प्राण केवल छातीमें आगये हों उस रोगीको त्यागदेना चाहिये ॥ १८ ॥

ताम्यत्यायच्छते शर्म न किञ्चिदपि विन्दति।
क्षीणमांसबलाहारो मुमूर्षुरचिरान्नरः ॥ १९ ॥

जो रोगी अत्यन्त व्याकुल होगया हो और उसको किसी प्रकारभी शान्ति प्राप्त न होती हो, ज्ञान एकदम नष्ट होगया हो एवं मांस बल और आहार क्षीण होगये हों उसको थोडे ही समयमें मरनेवाला जानना चाहिये ॥ १९ ॥

विरुद्धयोनयो यस्य विरुद्धोपक्रमा भृशम्।
वर्द्धन्ते दारुणा रोगाः शीघ्रं शीघ्रं स हन्यते ॥ २० ॥

सब रोग परस्पर विरोधी कारणोंके उत्पन्न होनेसे तथा विरोधी चिकित्सा होनेसे शीघ्र २ वृद्धिको प्राप्त होकर मनुष्यको मारडालते हैं ॥ २० ॥

बलं विज्ञानमारोग्यं ग्रहणी मांसशोणितम्।
एतानि यस्य क्षीयन्ते क्षिप्रं क्षिप्रं स हन्यते ॥ २१ ॥

जिस मनुष्यका बल, ज्ञान, आरोग्य, ग्रहणी, मांस और रक्त यह क्षीण होगये हों वह रोगी शीघ्र मृत्युको प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

विकारा यस्य वर्द्धन्ते प्रकृतिः परिहीयते।
सहसा सहसा तस्य मृत्युर्हरति जीवितम् ॥ २२ ॥

जिस रोगीके शरीरमें विकार बढते चलेजायँ और स्वाभाविक प्रकृति नष्ट होतीचलीजाय उस रोगीके जीवितको मृत्यु शीघ्र हरलेती है ॥ २२ ॥

तत्र श्लोकः–इत्येतानि शरीराणि व्याधिमन्ति विवर्जयेत्।
न ह्येषु धीराः पश्यन्ति सिद्धिं काञ्चिदुपक्रमात् ॥ २३ ॥

इति चरकसंहितायामिन्द्रियस्थाने कतमानिशरीरीयमिन्द्रियं समाप्तम् ॥ ६ ॥

अब अध्यायके उपसंहारमें एक श्लोक है इस प्रकार ऊपर कहे लक्षणोंवाले रोगियोंको त्यागदेना चाहिये क्योंकि इस प्रकारके रोगियोंकी किसी प्रकार चिकित्सा करनेमें बुद्धिमान् सिद्धिको नहीं देखते ॥ २३ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां इन्द्रियस्थाने पटियालाराज्यान्तर्गतटकसालनिवासिवैद्यपञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्यभाषाटीकायां कतमानिशरीरीयामिन्द्रियं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः।

अथातः पन्नरूपीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम पन्नरूपीय इन्द्रियनामक अध्यायकी व्याख्या करते हैं इस प्रकार भगवान् आत्रेयजी कथन करनेलगे ॥

दृष्ट्यां यस्य विजानीयात्पन्नरूपां कुमारिकाम्।
प्रतिच्छायामयीमक्ष्णोर्नैनमिच्छेच्चिकित्सितुम् ॥ १ ॥

जिस रोगीकी छाया विकृतिरूप दिखाई दे अथवा दिखाई न देवे या उस रोगीको अपनी छाया न दिखाई देती हो या वह किसीकी छाया न देखसकता हो तो वैद्य उसकी चिकित्सा करनेमें यत्नवान् न होवे ॥ १ ॥

ज्योत्स्नायामातपे दीपे सलिलादर्शयोरपि ।
अङ्गेषु विकृता यस्य छाया प्रेतस्तथैव सः ॥ २ ॥

जिसको चंद्रमाकी चांदनी, धूप, दीपक इनके आगे खडे होनेसे अपनी छाया विकृतांग दिखाई देती हो अथवा जल या शीशेमें अपने प्रतिबिम्बको विकृतांग देखे तो वह मनुष्य अवश्य मृत्युको प्राप्त होता है ॥ २ ॥

छिन्ना भिन्नाकुला छाया हीना वाप्याधिकापि वा।
नष्टा तन्वी द्विधा छाया विशिरा विस्तृता च या ॥ ३ ॥
एताश्चान्याश्च याः काश्चित्प्रतिच्छाया विगर्हिताः।
सर्वा मुमूर्षतां ज्ञेया न चेल्लक्ष्यनिमित्तजाः॥ ४ ॥

जिस मनुष्यकी छाया, छिन्न, भिन्न, व्याकुल, हीन, अधिक, नष्ट, बारीक, दो भागोंमें कटीहुई, मस्तकरहित और बडे विस्तार पूर्वक दिखाई देती हो इनके सिवाय अन्य निंदित प्रकारकी या छिद्रयुक्त दिखाई देती हो वह छाया भी यदि किसी पवन आदि निमित्तसे, या ऊंचे नीचे स्थान आदि किसी कारणसे विकृत नहीं है तो अवश्य मृत्यु होनेवाले मनुष्यकी जाननी ॥ ३ ॥ ४ ॥

संस्थानेन प्रमाणेन वर्णेन प्रभया तथा ।
छाया विवर्त्तते यस्य स्वप्नेऽपि प्रेत एव सः ॥ ५ ॥

जिस मनुष्यकी आकृति, वर्ण, प्रमाण, कांति आदिसे छाया विकृत हुई स्वप्नमें भी दिखाई दे वह अवश्य मृत्युको प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

छायाके भेद।

संस्थानमाकृतिर्ज्ञेया सुषमा विषमा च या ।
मध्यमल्पं महच्चोक्तं प्रमाणं त्रिविधं नृणाम् ॥ ६ ॥
प्रतिप्रमाणसंस्थाना जलादर्शातपादिषु ।
छाया या सा प्रतिच्छाया या च वर्णप्रभाश्रया ॥ ७ ॥

स्थान आकृतिको कहते हैं वह आकृति सुषमा (सुन्दरता) और विषमा इन दो भेदोंसे दो प्रकारकी होती है और मनुष्योंका प्रमाण अल्प, मध्य और बृहत्‌के भेदसे तीन प्रकारका होता है। प्रत्येक मनुष्यके अपने प्रमाण और आकृतिके अनुसार

जल दर्पण और धूप आदिमें जो छाया पडती है उसीको छाया कहते हैं। छायामें वर्ण और प्रभा रहनेसे उसको प्रतिच्छाया तथा कांति कहते हैं ॥ ६ ॥ ७ ॥

पञ्चभूतात्मकछायाका लक्षण।

खादीनां पञ्च पञ्चानां छाया विविधलक्षणाः।
नाभसी निर्मला नीला सस्नेहा सप्रभेव च ॥ ८ ॥

आकाशादि पांच महाभूतोंकी अनेक प्रकारके लक्षणोंवाली छाया होती है उनमें नीलवर्णकी और निर्मल तथा चिकनी और कांतियुक्त छाया आकाशीय होती है॥८॥

रूक्षा श्यावारुणा या तु वायवी सा हतप्रभा।
विशुद्धरक्ता त्वाग्नेयी दीप्ताभा दर्शनप्रिया ॥ ९ ॥

रूक्ष, काली, लाल, प्रभारहित छाया वायवीय होती है। विशुद्ध, लालवर्णकी, कांतियुक्त, देखनेमें प्रिय इन लक्षणोंवाली आग्नेयी छाया होती है ॥ ९ ॥

शुद्धवैदूर्य्यविमला सुस्निग्धा चाम्भसी मता।
स्थिरा स्निग्धा घना श्लक्ष्णा श्यामा श्वेता च पार्थिवी ॥ १० ॥

स्वच्छ, वैदूर्यमणिके समान निर्मल और चिकनी जलकी छाया होती है। स्थिर, चिकनी, घनी, श्लक्ष्णा, श्याम और श्वेत पार्थिवी छाया होती है ॥ १० ॥

वायवी गर्हिता त्वासां चतस्रः स्युः शुभोदयाः।
वायवी तु विनाशाय क्लेशाय महतेऽपि वा ॥ ११ ॥

इन सब छायाओंमें वायवीय छाया निन्दनीय होती है। और चार प्रकारकी छाया सुखदायक होती हैं। वायवीय छाया तो मृत्युको करनेवाली अथवा महाकष्ट देनेवाली होती है ॥ ११ ॥

तैजसी प्रभाका वर्णन।

स्यात्तैजसी प्रभा सर्वा सा तु सप्तविधा स्मृता।
रक्ता पीता सिता श्यावा हरिता पाण्डुराऽसिता ॥ १२ ॥

सब प्रकारकी प्रभा तैजसी होती है और उस प्रभाके सात भेद हैं। जैसे-लाल, पीली, सफेद, श्याम, हरित, पाण्डुर और काली ॥ १२ ॥

तासां याः स्युर्विकासिन्यः स्निग्धाश्च विपुलाश्च याः।
ताः शुभा रूक्षमलिनाः संक्षिप्ताश्चाशुभोदयाः ॥ १३ ॥

उनमें जो प्रभा विकाशवाली, चिकनी और विपुल होती है वह तीन प्रकारकी प्रभा शुभ होती है। और रूक्ष, मलिन, संक्षिप्त यह तीन प्रकारकी अशुभ होती है ॥१३॥

वर्णमाक्रामति च्छाया भास्तु वर्णप्रकाशिनी ।
आसन्ना लक्ष्यते छाया भाः प्रकृष्टा प्रकाशते ॥ १४ ॥

छाया वर्णको छिपा लेती है अथवा यों कहिये कि, वर्णरहित प्रतिविम्बको छाया कहते हैं। और वर्ण प्रकाशयुक्त प्रतिविम्बको प्रभा कहते हैं। छाया समीपके मनुष्यकी दिखाई देती है और प्रभा दूरके मनुष्यकी भी दिखाई देती है ॥ १४ ॥

नाच्छायो नाप्रभः कश्चिद्विशेषाश्चिह्नयन्ति तु ।
नृणां शुभाशुभोत्पत्तिं काले छायाः प्रभाश्रिताः ॥ १५ ॥

किसी मनुष्यकी भी प्रभा और छाया विशेषरूपसे विकृत नहीं होती न कभी किसी मनुष्यको छायामें किसी प्रकारकी विशेषता देखनेमें आती है परन्तु जब किसी प्रकारका शुभ अथवा अशुभ होनेवाला होता है तब ही छाया और प्रभामें किसीप्रकारके विशेष लक्षण दिखाई पडते हैं ॥ १५ ॥

कामलाक्ष्णोर्मुखं पूर्णं गण्डयोर्मुक्तमांसता ।
सन्त्रासश्चोष्णगात्रत्वं यस्य तं परिवर्जयेत् ॥ १६ ॥

जिस रोगीके दोनों नेत्र कामलारोगसे पीले पडगये हों, मुख बहुत भारी होगया हो और दोनों कपोल मांससे फुले हुएसे होगये हों, अंगोंमें त्रास तथा उष्णता अधिक हो उस रोगीको त्याग देना चाहिये ॥ १६ ॥

उत्थाप्यमानः शयनात्प्रमोहं याति यो नरः ।
मुहुर्मुहुर्न सप्ताहं स जीवति विकत्थनः ॥ १७ ॥

जो मनुष्य शय्यासे उठायाहुआ झट बेहोश होजाय और बारम्बार इसीप्रकार हो तथा प्रलाप अर्थात् अंटसंट बकता हो वह मनुष्य सात दिनकी आयुवाला होता है अर्थात् सातरोजमें मरजाता है ॥ १७ ॥

संसृष्टा व्याधयो यस्य प्रतिलोमानुलोमगाः ।
व्यापन्ना ग्रहणी प्रायः सोऽर्द्धमासं न जीवति ॥ १८ ॥

जिसके शरीरमें प्रतिलोमगामी अर्थात् उलटी चलनेवाली और अनुलोमगामी अर्थात् सीधी चलनेवाली दोनों प्रकारकी व्याधियें आपसमें मिलजावें और जिसकी ग्रहणी दोषोंसे युक्त हो वह मनुष्य प्रायः पंद्रह दिनमें मरजाताहै ॥ १८ ॥

उपद्रुतस्य रोगेण कर्षितस्याल्पमश्नतः ।
बहु मूत्रपुरीषं स्याद्यस्य तं परिवर्जयेत् ॥ १९ ॥

जो रोगी रोगोंसे ग्रसाहुआ हो, जिसका शरीर कृश होगया हो तथा भोजन बहुत ही थोडा करता हो और मल मूत्र बहुत अधिक आता हो उस रोगीको त्यागदेन चाहिये ॥ १९ ॥

दुर्बलो बहु भुङ्क्ते यः प्राग्भुक्तादन्नमातुरः ।
अल्पमूत्रपुरीषश्च यथा प्रेतस्तथैव सः ॥ २० ॥

जो रोगी दुर्बल हो और उस रोगग्रस्त दुर्बल अवस्थामें यदि रोगी पहिलेसे भी अर्थात् अपनी स्वस्थ अवस्थासे भी बहुत अधिक खानेलगे और मलमूत्र भी बहुत कम त्याग करे तो उसको प्रेत (मरेहुए) के समान जानना चाहिये ॥ २० ॥

वर्द्धिष्णुगुणसम्पन्नमन्नमश्नाति यो नरः ।
शश्वच्च बलवर्णाभ्यां हीयते न स जीवति ॥ २१ ॥

जो मनुष्य पुष्टिकारक पदार्थोंको भोजन करताहुआ भी प्रतिदिन बल, वर्णसे हीन होता चलाजाय वह मृत्युको प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

प्रकूजति प्रश्वसिति शिथिलश्चातिसार्य्यते ।
बलहीनः पिपासार्त्तः शुष्कास्यो न स जीवति ॥ २२ ॥

जिस रोगीका कण्ठ गूंजे और श्वास अधिक आवे, शरीर शिथिल होजाय तथा अतिसार हो, बलहीन हो, प्यास अधिक लगे, मुख सूखजाय वह मनुष्य अवश्य मृत्युको प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

ह्रस्वश्च यः प्रश्वसिति व्याविद्धं स्पन्दते च यः ।
मृतमेव तमात्रेयो व्याचचक्षे पुनर्वसुः ॥ २३ ॥

जिसका श्वास अत्यंत हीन होजाय और विंधे हुएकी समान खडकने लगे भगवान् पुनर्वसुजी कहते हैं कि उस मनुष्यको मराहुआ ही समझना चाहिये ॥ २३ ॥

ऊर्द्ध्वश्च यः प्रश्वसिति श्लेष्मणा चाभिभूयते ।
हीनवर्णबलाहारो यो नरो न स जीवति ॥ २४ ॥

जिस मनुष्यका ऊर्ध्वश्वास जल्दी जल्दी चले और कफ अधिक बोलनेलगे, बल, वर्ण और आहार हीन होगये हों वह मनुष्य मृत्युको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

ऊर्द्ध्वाग्रे नयने यस्य मन्ये चानतकम्पने ।
बलहीनः पिपासार्त्तः शुष्कास्यो न स जीवति ॥ २५ ॥

जिस रोगीके नेत्रोंके अग्रभाग ऊपरको होगये हों और ठोडीकी दोनों संधियें

नीचेको होकर कांपने लगे, बलसे हीन हो, प्याससे व्याकुल हो और मुख सूखजाय तो वह मृत्युको प्राप्त होता है ॥ २५ ॥

यस्य गण्डावुपचितौ ज्वरकासौ च दारुणौ ।
शूली प्रद्वेष्टि चाप्यन्नं तस्मिन्कर्म न सिद्ध्यति ॥ २६ ॥

जिस रोगीके दोनों गण्डस्थल (गडवाले) फूलजायँ, ज्वर और खांसी अत्यंत दारुण हो, छातीमें शूल तथा अन्नसे द्वेष हो तो उस रोगीकी चिकित्सा करना वृथा है ॥ २६ ॥

व्यावृत्तमूर्द्धजिह्वाक्षो भ्रुवौ यस्य च विच्युते ।
कण्टकैश्चाचिता जिह्वा यथा प्रेतस्तथैव सः ॥ २७ ॥

जिस रोगीके मस्तक, जीभ और दोनों भौंहें टेढी अथवा ऊपरको उल्टीसी होगई हों तथा जीभके ऊपर बहुत कांटेसे होगयेहों उसको मरेहुएके समान जानना॥२७॥

शेफश्चात्यर्थमुत्सिक्तं निःसृतौ वृषणा भृशम्
अतश्चैव विपर्यासो विकृत्या प्रेतलक्षणम् ॥ २८ ॥

जिस मनुष्यका लिंग पीछेको हटगया हो और दोनों फोते लटक आये हों अथवा इससे विपरीत होगये हों या स्वभावसे विपरीत होगये हों यह मरनेवाले मनुष्यके लक्षण जानना ॥ २८ ॥

निचितं यस्य मांसं स्यात्त्वगस्थि चैव दृश्यते
क्षीणस्यानश्नतस्तस्य मासमायुः परं भवेत् ॥ २९ ॥

जिस मनुष्यके शरीरमें मांस बिलकुल क्षीण होगया हो,केवल त्वचा और अस्थि-मात्र दिखाई देते हों तथा वह आहार न करता हो इस प्रकारके क्षीण मनुष्यकी एक महीनेकी परमआयु समझना चाहिये ॥ २९ ॥

तत्र श्लोकः—इदं लिङ्गमरिष्टाख्यमनेकमभिजज्ञिवान् ।
आयुर्वेदविदित्याख्यां लभते कुशलो नरः ॥ ३० ॥

इति चरकसंहितायामिन्द्रियस्थाने पन्नरूपीयमिन्द्रियं सनाप्तम् ॥७॥

अब अध्यायके उपसंहारमें एक श्लोक है कि, जो वैद्य इन अरिष्टनामक अनेक प्रकारके लक्षणोंको भलेप्रकार जानता है उसी कुशल पुरुषको आयुर्वेदका जानने-वाला कहना चाहिये ॥ ३० ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां इन्द्रियस्थाने पटियालाराज्यान्तर्गतटकसाल-निवासिवैद्यपञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्य-भाषाटीकायां पन्नरूपीयमिन्द्रियं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः।

अथातोऽवाक्शिरसीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥

अब हम अवाक्शिरसीय नामक इन्द्रियाध्यायकी व्याख्या करते हैं इस प्रकार भगवान् आत्रेयजी कथन करनेलगे॥

अवाक्शिरा वा जिह्मा वा यस्य वा विशिरा भवेत्।
जन्तो रूपप्रतिच्छाया नैनमिच्छेच्चिकित्सितुम्॥ १॥

जो मनुष्य अपनी छायाका नीचेको शिर देखे अथवा टेढा देखे या विना शिरके देखे उस मनुष्यकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिये॥ १॥

जटीभूतानि पक्ष्माणि दृष्टिश्चापि निगृह्यते।
यस्य जन्तोर्न तं धीरो भेषजेनोपपादयेत्॥ २॥

जिस मनुष्यकी पलकें जटाओंके समान बँधजायँ और दृष्टि जातीरहे उस मनुष्यकी बुद्धिमान् वैद्य चिकित्सा न करे॥ २॥

यस्य शूनानि वर्त्मानि न समायान्ति शुष्यतः।
चक्षुषी चोपदह्येते यथा प्रेतस्तथैव सः॥ ३॥

जिस रोगीकी दोनों पलकें सूज जावें और दोनों पलकें आपसमें न मिलसकें नेत्रोंमें अत्यंत दाह होता हो और वह पलकें सूखनेमें न आवें वह रोगी भी मृत्युके वश जानना॥ ३॥

भ्रुवोर्वा यदि वा मूर्ध्नि सीमन्तावर्त्तकान्बहून्।
अपूर्वानकृतान् व्यक्तान् दृष्ट्वा मरणमादिशेत्॥ ४॥
त्र्यहमेतेन जीवन्ति लक्षणेनातुरा नराः।
अरोगाणां पुनस्त्वेतत्षड्रात्रं परमुच्यते॥ ५॥

जिस रोगीकी दोनों भौंहें या मस्तकमें अपूर्व जटासी होजायँ तो इन अपूर्व विकृत किसीकी बनाई प्रगट भंवरियोंको देखकर रोगीकी मृत्यु जानलेना चाहिये। यदि यह लक्षण रोगी मनुष्यके हों तो वह तीन दिनमें मरजाता है और रोगरहितके होजायँ तो वह छः दिनमें मरजाता है॥ ४॥ ५॥

आयम्योत्पाटितान्केशान्यो नरो नावबुध्यते।
अनातुरो वा रोगी वा षड्रात्रं नातिवर्त्तते ॥ ६ ॥

जिस मनुष्यके बालोंको खींचकर उखाड दियाजाय और वह उसके किसी प्रकारके दुःखको प्रतीत न करसके तो यदि वह रोगी हो तो तीन दिनमें और रोगरहित हो तो छः दिनमें मृत्युके वश होजाता है ॥ ६ ॥

यस्य केशा निरभ्यङ्गा दृश्यन्तेऽभ्यक्तसन्निभाः।
उपरुद्धायुषं ज्ञात्वा तं धीरः परिवर्जयेत् ॥ ७ ॥

जिस मनुष्यके केश बिनाही तलके लगाये तेलसे भिगे हुएसे प्रतीत हों तो उस रोगीको गतायु समझकर धीर वैद्य त्याग देवे ॥ ७ ॥

ग्लायतो नासिकावंशः पृथुत्वं यस्य गच्छति।
अशूनः शूनसङ्काशः प्रत्याख्येयः स जानता ॥ ८ ॥

जिस रोगी मनुष्यके नाकका बांस मोटा होजाय और सूजनके बिनाही सूजा हुआसा दिखाई दे और वह पुराना रोगी तथा कृश शरीर हो तो उसको मरनेवाला जानना चाहिये ॥ ८ ॥

अत्यर्थं विवृता यस्य यस्य चात्यर्थसंवृता।
जिह्वा वा परिशुष्का वा नासिका न स जीवति ॥ ९ ॥

जिस रोगीकी जीभ अधिक बाहर निकल आवे अथवा अधिक भीतर चली जाय तथा नाक सूखजाय उस रोगीकी अवश्य मत्यु होतीहै ॥ ९ ॥

मुखं शब्दस्रवावोष्ठौ शुक्लश्यावातिलोहितौ।
विकृतौ यस्य वा नीलौ न स रोगाद्विमुच्यते ॥ १० ॥

जिस मनुष्यके मुखसे अबध्य शब्द निकलें अथवा मुख, कान, दोनों होंठ यह काले या अत्यंत लाल, नीले एवं विकृत होजायँ वह रोगी मत्युको प्राप्त होताहै १०

अस्थिश्वेता द्विजा यस्य पुष्पिताः पङ्कसंवृताः।
विकृत्या न स रोगं तं विहायारोग्यमश्नुते ॥ ११ ॥

जिस रोगीके दांत विकृत होजायँ और श्वेत तथा फुलडीयुक्त, हड्डियोंके बुरादेयुक्त एवं कीचडयुक्त होजायँ वह मनुष्य कभी रोगोंसे मुक्त नहीं होता अर्थात् मरजाताहै ॥ ११ ॥

स्तब्धा निश्चेतना गुर्वी कण्टकोपचिता भृशम्।
श्यावा शुष्काथवा शूना प्रेतजिह्वा विसर्पिणी ॥ १२ ॥

जिस रोगीकी जीभ टेढी, बाहरको निकली हुई, चैतन्यता रहित, भारी, काँटेयुक्त काली, सूखी या सूजीहुई हो वह अवश्य मृत्युको प्राप्त होताहै ॥ १२ ॥

दीर्घमुच्छ्वस्य यो ह्रस्वं नरो निःश्वस्य ताम्यति।
उपरुद्धायुषं ज्ञात्वा तं धीरः परिवर्जयेत् ॥ १३ ॥

जिस मनुष्यका श्वास लम्बा लम्बा आता हुआ क्रमसे धीरे धीरे अत्यंत हीन होजाय और वह मनुष्य वेहोश होजाय उसको गतायु जानकर त्यागदेना चाहिये ॥ १३ ॥

हस्तौ पादौ च मन्ये च तालु चैवातिशीतलम्।
भवत्यायुःक्षये क्रूरमथवापि भवेन्मृदु ॥ १४ ॥

जिस रोगीके हाथ, पांव, मन्या और तालु यह सब अत्यंत शीतल अथवा क्रूर या बहुत नरम पडजाय उस रोगीका आयु क्षीण हुआ जानना ॥ १४ ॥

घट्टयञ्जानुना जानु पादावुद्यम्य पातयन्।
योऽपास्यति मुहुर्वक्त्रमातुरो न स जीवति ॥ १५ ॥

जो रोगी अपनी दोनों जंघाओंको कटकट बजावे और पांवको उठा २ जमीन-पर फेंके और अपने मुखको वारवार फिरावे वह रोगी अवश्य मृत्युको प्राप्त होताहै॥

दन्तैश्छिन्दन्नखाग्राणि नखैश्छिन्दन् शिरोरुहान्।
काष्ठेन भूमिं विलिखन्न रोगात्परिमुच्यते ॥ १६ ॥

जो रोगी दांतोंसे अपने नखोंको काटे और नखोंसे अपने शिरके बालोंको उखाडे एवं लकडीसे जमीनको खुरेदे वह रोगी अवश्य मृत्युको प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

दन्तान् खादति यो जाग्रदसाम्ना विरुदन् हसन्।
विजानाति न चेद् दुःखं न स रोगाद्विमुच्यते ॥ १७ ॥

जो रोगी अपनी जाग्रत्अवस्थामें दांतोंको पीसे और ऊंचे स्वरसे रोवे तथा हँसे और अपने शरीरके किसीप्रकारके दुःखोंका होश न हो वह रोगी रोगसे नहीं बच-सकता अर्थात् मृत्युको प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

मुहुर्हसन् मुहुः क्ष्वेडन् शय्यां पादेन हन्ति यः।
उच्चैश्छिद्राणि विमृशन्नातुरो न स जीवति ॥ १८ ॥

जो रोगी बारवार हंसे और चीख मारे, पैरोंसे अपनी शय्याको खराब करे तथा

अपने हाथोंसे नाक कान आंख आदि छिद्रोंको मर्दन करे या छूता जाय उसको मरणासन्न जानना चाहिये ॥ १८ ॥

यैर्विन्दति पुरा भावैः समेतैः परमां रतिम् ।
तैरेवारममाणस्य ग्लास्नोर्मरणमादिशेत् ॥ १९ ॥

जो भाव रोगीको अपनी रोगावस्थासे पहिले उत्तम प्रतीत होते हों, जो २ वस्तुएँ अत्यन्त प्रिय हों वह सब जिस रोगीको बुरी और ग्लानिकारक प्रतीत होनेलगें उसकी अवश्य मृत्यु होती है ॥ १९ ॥

न बिभर्ति शिरो ग्रीवा न पृष्ठं भारमात्मनः ।
न हनू पिण्डमास्यस्थमातुरस्य मुमूर्षतः ॥ २० ॥

जिस रोगीकी गर्दन शिरके भारको न संभाल सके और पीठ शरीरके भारको न संभाल सके और ठोडी मुखके भारको न सँभालसके वह रोगी अवश्य मृत्युको प्राप्त होता है ॥ २० ॥

सहसा ज्वरसन्तापस्तृष्णा मूर्च्छा बलक्षयः ।
विश्लेषणञ्च सन्धीनां मुमूर्षोरुपजायते ॥ २१ ॥

जिस रोगीको एकाएकी ज्वर, सन्ताप, प्यास, मूर्च्छा, बलकी क्षीणता, सन्धियोंका ढीला हो जाना यह सब लक्षण होजायँ उसकी मृत्यु होती है ॥ २१ ॥

गोसर्गे वदनाद्यस्य स्वेदः प्रच्यवते भृशम् ।
लेपज्वरोपतप्तस्य दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ २२ ॥

जिस प्रलेपकज्वरवाले रोगीके मुखसे प्रातःकाल गौओंको छोडनेके समय अत्यन्त पसीना टपकने लगे और वह प्रलेपक ज्वरसे पीडित हो तो उसको जीता रहना कठिन है ॥ २२ ॥

नोपैति कण्ठमाहारो जिह्वा कण्ठमुपैति च ।
आयुष्यन्तं गते जन्तोर्बलञ्च परिहीयते ॥ २३ ॥

जिस रोगीकी जीभ कण्ठमें चलीगई हो, बल क्षीण होगया हो और आहार कण्ठसे नीचे न जा सकता हो उस रोगीकी आयुको नष्ट जानना चाहिये ॥ २३ ॥

शिरो विक्षिपते कृच्छ्रान्मुञ्चयित्वा प्रपाणिकौ ।
ललाटप्रस्रुतस्वेदो मुमूर्षुः श्लथबन्धनः ॥ २४ ॥

जो रोगी बडी कठिनतासे अपने दोनों हाथोंको शिरके ऊपर रखकर शिरको

चडे कष्टसे इधर उधर हिलासके और उसके मस्तकसे अत्यन्त पसीना निकलने लगे, शरीरके बन्धन ढीले पडजायँ तो उस रोगीको मृत्युवश जानना ॥ २४ ॥

तत्र श्लोकः—इमानि लिङ्गानि नरेषु बुद्धिमान्विभावयेतावहितो मुहुर्मुहुः ।
क्षणेन भूत्वा ह्यपयान्ति कानिचिन्न चाफलं लिङ्गमिहास्ति किञ्चन॥ २५

इति चरकसंहितायामिन्द्रियस्थानेऽवाक्शिरसीय-
मिन्द्रियम् समाप्तम् ॥ ८ ॥

अब अध्यायके उपसंहारमें एक श्लोक है-बुद्धिमान् वैद्य मनुष्योंमें इन लक्षणोंको देखकर बारबार अपने अनुभवको सावधानीसे पुष्ट करता जाय क्योंकि बहुतसे ऐसेभी लक्षण होते हैं जो थोडेसे काल रहकर फिर नष्ट होजाते हैं । और कोई लक्षण ऐसे होते हैं जो निष्फल नहीं जाते अर्थात् अवश्य मृत्युके करनेवाले होते हैं । इसलिये सावधानीसे परीक्षा करतेहुए अपने अनुभवको पुष्ट कर लेना चाहिये ॥ २५ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां इन्द्रियस्थाने पटियालाराज्यांतर्गतटकसाल-
निवासिवैद्यपंचानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्य-
भाषाटीकायां अवाक्शिरसीयमिन्द्रियं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः ।

अथातो यस्यश्यावनिमित्तीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम यस्यश्यावनिमित्तीय इन्द्रियाध्यायकी व्याख्या करते हैं इस प्रकार भगवान् आत्रेयजी कथन करनेलगे ॥

यस्य श्यावे परिध्वस्ते हरिते चापि दर्शने ।
आपन्नो व्याधिरन्ताय ज्ञेयस्तस्य विजानता ॥ १ ॥

जिस रोगीके दोनों नेत्र श्याम अथवा हरे और टेढे अथवा शिथिल होजायँ बुद्धिमान् वैद्य उसकी व्याधिको उसके नाशके लिये उपस्थित जाने ॥ १ ॥

निःसंज्ञः परिशुष्कास्यः संविद्धो व्याधिभिश्च यः ।
उपरुद्धायुषं ज्ञात्वा तं धीरः परिवर्जयेत् ॥ २ ॥

जिस रोगीकी संज्ञा (होश) नष्ट होजाय, मुख सूखजाय और व्याधियोंसे अत्यंत संविद्ध हो उस रोगीको गतायु समझलेना चाहिये ॥ २ ॥

हरिताश्च शिरा यस्य लोमकूपाश्च संवृताः।
सोऽम्लाभिलाषी पुरुषः पित्तान्मरणमश्नुते ॥ ३ ॥

जिस रोगीकी सब नसें हरी होगई हों और संपूर्ण रोममार्ग बन्द होगये हों और खटाई खानेकी इच्छा रखता हो वह मनुष्य पित्तरोगसे मृत्युको प्राप्त होता है ॥३॥

शरीरान्ताश्च शोभन्ते शरीरश्चोपशुष्यति ।
बलञ्च हीयते यस्य राजयक्ष्मा हिनस्ति तम् ॥ ४ ॥

जिस रोगीके शरीरके सब अंग शोभायुक्त प्रतीत हों और शरीर सूखा हो तथा उस मनुष्यका बल नष्ट होगया हो वह राजयक्ष्मावाला रोगी अवश्य मृत्युको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

अंसाभितापो हिक्का च छर्दनं शोणितस्य च ।
आनाहः पार्श्वशूलश्च भवत्यन्ताय शोषिणः ॥ ५ ॥

जिस शोषरोगीके दोनों पार्श्वभागोंमें शूल होता हो तथा अफारा, हिचकी, रुधिरकी छार्दि और कन्धोंमें पीडा होती हो वह अवश्य मृत्युको प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

वातव्याधिरपस्मारी कुष्ठी शोफी तथोदरी ।
गुल्मी च मधुमेही च राजयक्ष्मी च यो नरः ॥ ६ ॥
अचिकित्स्या भवन्त्येते बलमांसक्षये सति ।
अन्येष्वपि विकारेषु तान् भिषक् परिवर्जयेत् ॥ ७ ॥

वातव्याधि, अपस्मार, कुष्ठ, सूजन, उदर, गुल्म, मधुमेह और राजयक्ष्मा इन रोगोंमेंसे किसी एक रोगवालेका बल और मांस क्षीण होजायँ तो वह चिकित्साके योग्य नहीं रहता। इसी प्रकार अन्य विकारोंमें भी बल और मांसके क्षीण होजानेपर प्रायः रोग असाध्य होजाते हैं ॥ ६ ॥ ७ ॥

विरेचनहतानाहो यस्तृष्णानुगतो नरः ।
विरिक्तः पुनराध्माति यथा प्रेतस्तथैव सः ॥ ८ ॥

जिस रोगीको विरेचन होनेके अनन्तर अफारा दूर होनेपर अधिक प्यास लगे अथवा विरेचन होनेके पीछे फिर अफारा उत्पन्न होजाय वह रोगी अवश्य मृत्युको प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

पेयं पातुं न शक्नोति कण्ठस्य च मुखस्य च ।
उरसश्च विबद्धत्वाद्यो नरो न स जीवति ॥ ९ ॥

जिस रोगीका कण्ठ, मुख और छाती यह बिल्कुल रुकजायँ और वह जल, दूध आदि पतले पदार्थोंको भी न पीसके उसकी अवश्य मृत्यु होती है ॥ ९ ॥

स्वरस्य दुर्बलीभावं हानिश्च बलवर्णयोः।
रोगवृद्धिमयुक्त्या च दृष्ट्वा मरणमादिशेत् ॥ १० ॥

जिस रोगीका स्वर हीन होजाय, बल और वर्ण नष्ट होजायँ और रोगकी वृद्धि होती चलीजाय उसको विनाही किसी परीक्षाके मरनेवाला जानना चाहिये ॥ १० ॥

ऊर्द्ध्वश्वासं गतोष्माणं शूलोपहतवंक्षणम् ।
शर्म चानधिगच्छन्तं बुद्धिमान्परिवर्जयेत् ॥ ११ ॥

जिस रोगीके ऊर्ध्वश्वास चलनेलगे शरीर शीतल पडजाय, दोनों वंक्षणोंमें अत्यंत शूल होनेलगे और किसी प्रकार भी शान्तिको प्राप्त न हो ऐसे रोगीको बुद्धिमान् त्याग देवे ॥ ११ ॥

अपस्वरं भाषमाणं प्राप्तं मरणमात्मनः ।
श्रोतारश्चाप्यशब्दस्य दूरतः परिवर्जयेत् ॥ १२ ॥

जो रोगी अनेक प्रकारके विनाहुए शब्दोंको सुनें और अपने मुखसे आप ही अपनी मृत्युको हतस्वरसे होनेवाली कथन करता हो उस रोगीको त्याग देना चाहिये॥१२॥

यं नरं सहसा रोगो दुर्बलं परिमुञ्चति ।
संशयप्राप्तमात्रेयो जीवितं तस्य मन्यते ॥ १३ ॥
अथ चेज्ज्ञातयस्तस्य याचेरन्प्राणिपाततः।
रसेनाद्यादिति ब्रूयन्नास्मै दद्याद्विशोधनम् ॥ १४ ॥
मासेन चेन्न दृश्येत विशेषस्तस्य शोभनः ।
रसैश्चान्यैर्बहुविधैर्दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ १५ ॥

जिस अत्यंत दुर्बल रोगीको झट एकसाथ रोग छोडकर अलग होजाय उसका जीवन संशययुक्त ही जानना चाहिये। यदि ऐसे समय रोगीके घरवाले वैद्यसे अधिक प्रार्थना करें कि, इसकी चिकित्सा कीजिये तो उनको कहै कि इसको मांसरस या विधिवत् बनायाहुआ यवोंका रस पीनेको दो परंतु ऐसे मनुष्यको विशोधन नहीं देना चाहिये। यदि उस रोगीको अनेक प्रकारके रस आदिकोंके सेवनसे एक महीने भी कुछ फायदा प्रतीत न हो तो उसको जीवन दुर्लभ समझकर त्याग देवे ॥१३–१५॥

निष्ठ्यूतञ्च पुरीषञ्च रेतश्चाम्भसि मज्जति ।
यस्य तस्यायुषः प्राप्तमन्तमाहुर्मनीषिणः ॥ १६ ॥

जिस रोगीका थूक, पुरीष और वीर्य जलमें डूबजाय बुद्धिमान् उस रोगीका अंत आयाहुआ कथन करते हैं ॥ १६ ॥

निष्ठ्यूते यस्य दृश्यन्ते वर्णा बहुविधाः पृथक् ।
तच्च सीदत्यपः प्राप्य न स जीवितुमर्हति ॥ १७ ॥

जिस रोगीका थूक अलग २ अनेक वर्णोंवाला दिखाई दे और जलमें डालनेसे डूबजाये वह रोगी अवश्य मृत्युको प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

पित्तमुष्मानुगं यस्य शंखौ प्राप्य विमूर्च्छति ।
स रोगः शंखको नाम्ना त्रिरात्राद्धन्ति जीवितम् ॥ १८ ॥

जिसके पित्त ऊष्माको लेकर दोनों कनपटियोंमें प्राप्त होकर विमूर्च्छित होजाय उसको शंखके रोग कहते हैं । (इस रोगमें कनपटियें अत्यंत चटकती हैं और उनमें अत्यंत दारुण शूल उत्पन्न होजाता है) इससे रोगी तीन दिनमें मरजाता है ॥१८॥

सफेनं रुधिरं यस्य मुहुरास्यात्प्रमुच्यते ।
शूलैश्च तुद्यते कुक्षिः प्रत्याख्येयः स तादृशः ॥ १९ ॥

जिस रोगीके मुखसे झाग मिलाहुआ रक्त वारंवार गिरे और उस रोगीकी कूखमें अत्यंत शूल होता हो उस रोगीको मरजानेवाला जानना चाहिये ॥ १९ ॥

बलमांसक्षयस्तीव्रो रोगवृद्धिररोचकः ।
यस्यातुरस्य लक्ष्यन्ते त्रीनहान्न स जीवति ॥ २० ॥

जिस रोगीका बल और मांस क्षीण होगया हो और रोग सहसा बढकर तीव्र होजाय तथा अरुचि हो वह रोगी तीन दिनमें मरजाता है ॥ २० ॥

तत्र श्लोकौ—विज्ञानानि मनुष्याणां मरणे प्रत्युपस्थिते ।
भवन्त्येतानि सम्पश्येदन्यान्येवंविधानि च ॥ २१ ॥
तानि सर्वाणि लक्ष्यन्ते न तु सर्वाणि मानवम् ।
विशन्ति विनशिष्यन्तं तस्माद्बाध्यानि सर्वशः ॥ २२ ॥

इति चरकसंहितायामिन्द्रियस्थाने यस्यश्यावनिमित्तीय
मिन्द्रियं समाप्तम् ॥ ९ ॥

यहां अध्यायके उपसंहारमें दो श्लोक हैं—जब मनुष्योंका मरणसमय आजाता है उस समय ऐसे २ लक्षण उत्पन्न होते हैं तथा इसी प्रकारके और भी लक्षण उत्पन्न होते हैं सो वैद्यको चाहिये कि इन मरणख्यापक सब प्रकारके लक्षणोंको विज्ञान-

पूर्वक सावधानीसे देखा करे। सब लक्षण एक ही मनुष्यमें नहा होसकते इसलिये अनेक मरणासन्न मनुष्योंमें सब प्रकारके लक्षणोंको सावधानीसे देखना चाहिये॥२२॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां इन्द्रियस्थाने पटियालाराज्यान्तर्गतटकसाल-निवासिवैद्यपञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्य-भाषाटीकायां यस्यश्यावनिमित्तीयं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः।

अथातः सद्योमरणीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥

अब हम सद्योमरणीय इन्द्रियाध्यायकी व्याख्या करते हैं इस प्रकार भगवान् आत्रेयजी कथन करनेलगे॥

सद्यस्तितिक्षतः प्राणान् लक्षणानि पृथक् पृथक्।
अग्निवेश ! प्रवक्ष्यामि संस्पृष्टो यैर्न जीवति॥ १ ॥

हे अग्निवेश ! जिन लक्षणोंके स्पर्शमात्रसे ही मनुष्यकी शीघ्र मृत्यु होजाती है उन प्राणोंके नष्ट करनेवाले लक्षणोंको हम अलग २ वर्णन करते हैं॥ १॥

वाताष्ठीलाः सुसंवृत्तास्तिष्ठन्ति दारुणा हृदि।
तृष्णयाभिपरीतस्य सद्यो मुष्णाति जीवितम्॥ २ ॥

जिस मनुष्यके शरीरमें वाताष्ठीला रोग बढकर हृदयमें दारुणभावसे स्थित होजाय तथा उसको अधिक प्यास लगनेलगे तो वह रोगी शीघ्र मरजाता है॥ २॥

पिण्डिके शिथिलीकृत्य जिह्मीकृत्य च नासिकाम्।
वायुः शरीरे विचरन् सद्यो मुष्णाति जीवितम्॥ ३ ॥

जिस रोगीके शरीरमें वायु दोनों पिण्डलियोंको शिथिल करके नाकको टेढा बना देवे तथा शरीरमें विचरण करनेलगजाय वह रोगी शीघ्र मृत्युको प्राप्त होता है॥३॥

भ्रुवौ यस्य च्युते स्थानादन्तर्दाहश्च दारुणः।
तस्य हिक्काकरो रोगस्सद्यो मुष्णाति जीवितम्॥ ४ ॥

जिस रोगीकी दोनों भौंहें अपने स्थानसे हटजाय शरीरमें अत्यंत दारुण अन्तर्दाह हो और हिचकी अधिक आनेलगे वह रोगी शीघ्र मरजाता है॥४॥

क्षीणशोणितमांसस्य वायुरूर्द्ध्वगतिश्चरन् ।
उभे मन्ये समे यस्य सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ५ ॥

जिस रोगीके रक्त और मांस क्षीण होगये हों तथा वायु ऊर्ध्वगतिसे चलनेलगे और दोनों मन्या (ठोडीकी दोनों ओरकी नाडियें) अकडजायँ वह मनुष्य शीघ्र मृत्युको प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

अन्तरेण गुदं गच्छन्नाभिञ्च सहसानिलः ।
कृशस्य वंक्षणौ गृह्णन्सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ६ ॥

यदि क्षीण रोगीके शरीरमें वायु गुदासे नाभिमें होतीहुई दोनों वंक्षणोंको ग्रहण करे अर्थात् गुदामेंसे वायु उठकर नाभिमें प्रवेश करतीहुई दोनों वंक्षणों (बक्खी) में दारुण पीडाको उत्पन्न करे तो वह मनुष्य शीघ्र मरजाता है ॥ ६ ॥

वितत्य पर्शुकाग्राणि गृहीत्वोरश्च मारुतः ।
स्तिमितस्यायताक्षस्य सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ७ ॥

जिस रोगीके दोनों पांसुओंका अग्रभाग वायुसे फैलजाय तथा उसकी छातीको वायु रुककर अत्यन्त पीडा उत्पन्न करे उस पीडासे रोगीका संपूर्ण शरीर गीला होजाय और आंखें बडी २ खुलजायँ तो उस रोगीका शीघ्र मरण होता है ॥ ७ ॥

हृदयञ्च गुदञ्चोभे गृहीत्वा मारुतो बली ।
दुर्बलस्य विशेषेण सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ८ ॥

यदि दुर्बल रोगीके हृदयको और गुदाको रोककर बलवान् वायु अत्यंत पीडा उत्पन्न करे तो वह रोगी शीघ्र अपने जीवनको त्यागदेता है ॥ ८ ॥

वंक्षणौ च गुदञ्चोभे गृहीत्वा मारुतो बली ।
श्वासं सञ्जनयञ्जन्तोः सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ९ ॥

यदि बलवान् वायु दोनों वंक्षण और उत्तरगुद तथा अधोगुदको रोककर उनमें अत्यन्त पीडा करताहुआ श्वासको उत्पन्नकर देवे तो रोगीके प्राणोंको शीघ्र नष्टकर देता है ॥ ९ ॥

नाभिं बस्तिशिरो मूत्रं पुरीषञ्चापि मारुतः ।
विबध्य जनयञ्छूलं सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ १० ॥

यदि बलवान् वायु मनुष्यके नाभि, बस्ति, शिर, मूत्र और पुरीषको रोककर दारुण शूलको उत्पन्न करदेवे तो मनुष्यका जीवन शीघ्र नष्ट होजाता है ॥ १० ॥

भिद्येते वंक्षणौ यस्य वातशूलैः समन्ततः ।
भिन्नं पुरीषं तृष्णा च सद्यः प्राणाञ्जहाति सः ॥ ११ ॥

जिस रोगीके दोनों वंक्षणों जांघोंकी सन्धियोंमें वायुके शूलोंसे सर्वतः अत्यन्त भेदन (काटनेकीसी पीडा) होती हो तथा साथही दस्तोंका लगना और दारुण प्यास भी हो वह मनुष्य शीघ्र अपने जीवनको त्याग देता है ॥ ११ ॥

आप्लुतं मारुतेनेह शरीरं यस्य केवलम् ।
भिन्नं पुरीषं तृष्णा च सद्यो जह्यात्स जीवितम् ॥ १२ ॥

जिस मनुष्यका शरीर केवल वायुके वेगसेही पसीनेसे भीग जाय और साथमें दस्तोंका वेग तथा प्यास भी हो वह शीघ्र अपने जीवनको त्याग देता है ॥ १२ ॥

शरीरं शोफितं यस्य वातशोफेन देहिनः ।
भिन्नं पुरीषं तृष्णा च सद्यो जह्यात्स जीवितम् ॥ १३ ॥

जिस मनुष्यका शरीर वायुकी सूजनसे सूजाहुआ हो और उसको दस्त तथा प्यासकी भी अधिकता होजाय तो वह मनुष्य शीघ्र ही मृत्युको प्राप्त होता है॥१३॥

आमाशयसमुत्थाना यस्य स्यात्परिकर्तिका ।
तृष्णा गुदग्रहश्चोग्रः सद्यो जह्यात्स जीवितम् ॥ १४ ॥

जिस मनुष्यके आमाशयमें मांस काटनेकी सी पीडा हो और अधिक प्यास तथा गुदामें उग्र पीडा भी साथमें प्रगट होजाय वह मनुष्य शीघ्र ही मरजाता है ॥ १४॥

पक्काशयमधिष्ठाय हत्वा संज्ञाञ्च मारुतः ।
कण्ठे घुर्घुरकं कृत्वा सद्यो हरति जीवितम् ॥ १५ ॥

जिस मनुष्यके पक्काशयमें बलवान् वायु प्रविष्ट होकर संज्ञाको नष्ट कर देता है अर्थात् बेहोश करदेता है और कण्ठमें घुरघुर शब्द करने लगता है वह मनुष्य शीघ्र मृत्युको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

दन्ताः कर्दमचूर्णाभा मुखं चूर्णकसन्निभम् ।
शिप्रायन्ते च गात्राणि लिङ्गं सद्यो मरिष्यतः ॥ १६ ॥

जिस रोगीके दांतोंपर कीचडसा लगा हो और सफेद चूनासा बुरका प्रतीत होता हो तथा मुख भी चूनेके समान सफेत होगया हो तथा सब अंग पसीनेसे युक्त हों और शिथिल होजायँ उसे शीघ्र मरनेवाला जानना ॥ १६ ॥

तृष्णाश्वासशिरोरोगमोहदौर्बल्यकूजनैः ।
स्पृष्टः प्राणाञ्जहात्याशु शकृद्भेदेन चातुरः ॥ १७ ॥

यदि दुर्बल रोगीको प्यास, श्वास, शिरोरोग, मोह, क्षीणता, कण्ठका कूजन एकसाथ होजायँ तथा दस्त लगने लगे वह रोगी शीघ्र अपने प्राणोंको त्याग देताहै ॥१७

तत्र श्लोकः—एतानि खलु लिङ्गानि यः सम्यगवबुध्यते ।
स जीवितञ्च मर्त्यानां मरणञ्चावबुध्यते ॥ १८ ॥
इति चरकसंहितायामिन्द्रियस्थाने सद्योमरणीय-
मिन्द्रियं समाप्तम् ॥ १० ॥

यहां अध्यायके उपसंहारमें एक श्लोक है—जो वैद्य इन संपूर्ण लक्षणोंको भले प्रकार जानताहै वह मनुष्योंके जीवन और मरणको भी अच्छीतरह जानलेताहै॥१८॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां इन्द्रियस्थाने पटियालाराज्यांतर्गतटकसाल-निवासिवैद्यपंचानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्य-भाषाटीकायां सद्योमरणीयमिन्द्रियं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः।

अथातोऽणुज्योतीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥

अब हम अणुज्योतीय इन्द्रियनामक अध्यायकी व्याख्या करतेहैं इसप्रकार भगवान् आत्रेयजी कहनेलगे ॥

अणुज्योतिरनेकाग्रो दुश्छायो दुर्मनाः सदा ।
रतिं न लभते याति परलोकं समान्तरे ॥ १ ॥

जिस मनुष्यकी ज्योति (कान्ति) क्षीण होजाय, चित्तमें अनेक प्रकारके संकल्प विकल्प उत्पन्न हों, शरीरकी छाया हीन लक्षणोंवाली होजाय, मन खिन्नसा रहे, किसी समय किसी वस्तुमें भी प्रीति न हो वह मनुष्य एक वर्षके भीतर परलोककी यात्रा करताहै ॥ १ ॥

बलिं बलिभुजो यस्य प्रणीतं नोपभुञ्जते ।
लोकान्तरगतः पिण्डं भुङ्क्ते संवत्सरेण सः ॥ २ ॥

जिस मनुष्यके हाथकी दी हुई बलि काग, कुत्ते आदि न खाते हों वह मनुष्य एक वर्षके भीतरही परलोकमें प्राप्त हो प्रेतत्वके पिंडको ग्रहण करताहै ॥ २ ॥

सप्तर्षीणां समीपस्थां यो न पश्यत्यरुन्धतीम् ।
संवत्सरान्ते जन्तुः स सम्पश्यति महत्तमः ॥ ३ ॥

जो मनुष्य सामने आये हुए सप्तऋषियों (तुलालग्नमें उदय होनेवाले साततारों) को और अरुंधतीको नहीं देखसकता वह मनुष्य एक वर्षके भीतरही यमलोकका दर्शन करता है ॥ ३ ॥

विकृत्या विनिमित्तं यः शोभासुपचयं धनम् ।
प्राप्नोत्यतो वा विभ्रंशं समान्तं न स जीवति ॥ ४ ॥

जिस मनुष्यके शोभा, स्वभाव, पुष्टि, धन, विनाही कारणसे एकाएक अपने स्वभावको छोडकर बदलजायँ अर्थात् विकृत होजायँ वह मनुष्य एक वर्षके भीतर मृत्युको प्राप्त होजाताहै ॥ ४ ॥

भक्तिः शीलं स्मृतिस्त्यागो बुद्धिर्बलमहेतुकम् ।
षडेतानि निवर्त्तन्ते षड्भिर्मासैर्मरिष्यतः ॥ ५ ॥

जिस मनुष्यके भक्ति, शील (स्वभाव), स्मृति, त्याग, बुद्धि और बल यह विनाही कारणसे बदलजायँ उस मनुष्यकी छः महीनेके भीतर मृत्यु होतीहै ॥ ५ ॥

धमनीनामपूर्वाणां जालमत्यर्थशोभनम् ।
ललाटे दृश्यते यस्य षण्मासान्न स जीवति ॥ ६ ॥

जिस मनुष्यके ललाटपर अपूर्व और सुन्दर नसोंका जाल दिखाई देने लगताहै वह मनुष्य छः महीनेमें मृत्युको प्राप्त होताहै ॥ ६ ॥

लेखाभिश्चन्द्रवक्राभिर्ललाटमुपचीयते ।
यस्य तस्यायुषः षड्भिर्मासैरन्तं समादिशेत् ॥ ७ ॥

जिस मनुष्यके मस्तकमें चन्द्रमाके समान एक ऊंची रेखासी उठ खडी हो वह मनुष्य छः महीनेमें मरजाताहै ॥ ७ ॥

शरीरकम्पः संमोहो गतिर्वचनमेव च ।
मत्तस्यैवोपलक्ष्यन्ते यस्य मासं न जीवति ॥ ८ ॥

जिस मनुष्यका शरीर कांपने लगजाय और बेहोशी उत्पन्न होजाय तथा चलने और बोलनेकी गति बिगडजाय वह मनुष्य एक महीनेमें मृत्युको प्राप्त होताहै॥८॥

रेतोमूत्रपुरीषाणि यस्य मज्जन्ति चाम्भसि ।
स मासात्स्वजनद्वेष्टा मृत्युवारिणि मज्जति ॥ ९ ॥

जिस मनुष्यका वीर्य, मूत्र और मल जलमें डूबजाता है और अपने मित्रोंको भी द्वेषभावसे देखने लगता है वह मनुष्य एक महीनेमें मृत्युको प्राप्त होजाता है ॥ ९ ॥

हस्तपादं मुखञ्चोभौ विशेषाद्यस्य शुष्यतः।
शूयेते वा विना देहात्स च मासं न जीवति ॥ १० ॥

जिस मनुष्यके हाथ, पांव, मुख यह विशेषकर सूखजायँ अथवा इनमें सूजन उत्पन्न होजाय परन्तु वह सूजन देहमें न हो वह मनुष्य एक महीनेमें मृत्युको प्राप्त होजाता है ॥ १० ॥

ललाटे मूर्ध्नि बस्तौ वा नीला यस्य प्रकाशते।
राजी बालेन्दुकुटिला न स जीवितुमर्हति ॥ ११ ॥

जिस मनुष्यके ललाट और मूर्धा (शिर) तथा बस्तिमें बालचंद्रमाके समान नीले रंगकी और टेढी रेखा उत्पन्न होजाय वह मनुष्य अवश्य मृत्युको प्राप्त होताहै ११

प्रवालगुटिकाभासा यस्य गात्रे मसूरिकाः।
उत्पाद्याशु विनश्यन्ति न चिरात्स विनश्यति ॥ १२ ॥

जिस मनुष्यके शरीरमें मूंगके वर्णवाली गोल मसूरिका (शीतल) बहुतसी निकल आवें और वह जल्दी सूखें नहीं तो वह रोगी अवश्य मृत्युको प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

ग्रीवावमर्दो बलवाञ्जिह्वाश्वयथुरेव च।
ब्रध्नास्यगलपाकश्च यस्य पक्वं तमादिशेत् ॥ १३ ॥

जिस मनुष्यकी गर्दनमें अत्यंत पीडा होती हो तथा जीभ सूजजाय बधें निकल आवें गला पकजाय वह मनुष्य अवश्यही शरीरके अंतको प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

संभ्रमोऽतिप्रलापोऽतिभेदोऽस्थ्नामतिदारुणः।
कालपाशपरीतस्य त्रयमेतत्प्रवर्तते ॥ १४ ॥

जो रोगी कालरूपी फांसीसे बंधजाता है उसको भ्रम, प्रलाप, और हड्डियोंका टूटना यह तीनोंही अति दारुणरूपसे प्रगट होजाते हैं ॥ १४ ॥

प्रमुह्य लुञ्चयेत्केशान्परान्गृह्णात्यतीव च।
नरः स्वस्थवदाहारमबलः कालचोदितः ॥ १५ ॥

जो मनुष्य बेहोशीको प्राप्त होकर अपने केशोंको उखाडता है तथा अन्य मनुष्योंसे लिपट जाता है एवं रुग्णावस्थामें भी रोगरहित मनुष्योंके समान बहुत भोजन कर-है वह क्षीण मनुष्य अवश्य मृत्युको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

समीपे चक्षुषोः कृत्वा मृगयेताङ्गुलीयकम्।
स्मयतेऽपि च कालान्ध ऊर्द्ध्वाक्षोऽनिमिषेक्षणः॥ १६॥
शयनाद्वसनादङ्गात्काष्ठात्कुड्याद्यथापि वा।
असन्मृगयते किञ्चित्स मुह्यन्कालचोदितः॥ १७॥

जो रोगी अपने हाथोंकी अंगुलियोंको नेत्रोंके समीप लेजाकर उनको बारबार देखे और विस्मितके समान ऊपरको नेत्र करके किसी विचित्र अवस्थाको देखे तथा पलक न झपके अथवा अपनी शय्यामें वा अंगोंमें अथवा किसी काष्ठ या दीवार आदिमें जैसे किसी खोयी हुई वस्तुको ढूंढा करते हैं इस तरह बारबार टटोले और बेहोश होजाय वह मनुष्य कालका प्रेरा हुआ जानना चाहिये॥ १६॥ १७॥

अहास्यहसनो मुह्यन्प्रलेढि दशनच्छदौ।
शीतपादकरोच्छ्वासो यो नरो न स जीवति॥ १८॥

जो रोगी विना ही कारण हंसे, विना ही किसी कारणके बेहोश होजाय तथा अपने दांतोंको और होठोंको जीभसे चाटे, जिसके हाथ और पांव ठण्डे हों तथा जो दीर्घश्वास लेता हो वह मनुष्य अवश्य मृत्युको प्राप्त होताहै॥ १८॥

आह्वयन्तं समीपस्थं स्वजनं जनमेव वा।
महामोहावृतमनाः पश्यन्नपि न पश्यति॥ १९॥

जो रोगी अपने समीप बैठेहुए बांधवोंको भी अमुक कहां हैं अमुक कहां हैं इस प्रकार बुलावे और मनके महामोहावृत होनेके कारण देखता हुआ भी न देखे अथवा अपने पास बैठे हुए बांधवोंको भी न देखकर महामोहसे व्याकुल हो और बारंबार बुलावे वह अवश्य मृत्युको प्राप्त होता है॥ १९॥

अयोगमतियोगं वा शरीरे मतिमान्भिषक्।
खादीनां युगपद्दृष्ट्वा भेषजं नावचारयेत्॥ २०॥

जिस रोगीके शरीरमें पांचभौतिक पदार्थोंको हीन देखे अथवा अत्यंत बडे देखे उसकी चिकित्सा न करे॥ २०॥

अतिप्रवृद्ध्या रोगाणां मनसश्च बलक्षयात्।
वासमुत्सृजति क्षिप्रं शरीरी देहसंज्ञकम्॥ २१॥

रोगोंके अत्यन्त बढकर बलवान् होनेसे, मन और बलके क्षीण होजानेसे जीव देहरूपी घरको छोडकर शीघ्र बाहर होजाता है॥ २१॥

वर्णस्वरावाग्निबलं वागिन्द्रियमनोबलम् ।
हीयतेऽसुक्षये निद्रा नित्या भवति वा न वा ॥ २२ ॥

जब मनुष्यके वर्ण, स्वर, अग्नि, बल, वाणी, इन्द्रिय और मन इनका बल क्षीण होजाता है तब वह मनुष्य या तो अधिक सोता ही रहता है अथवा जागताही रहता है तब इस मनुष्यके प्राण शीघ्र नष्ट होजाते हैं ॥ २२ ॥

भिषग्भेषजपानान्नगुरुमित्रद्विषश्च ये ।
वशगाः सर्व एवैते बोद्धव्याः समवर्त्तिनः ॥ २३ ॥

जो मनुष्य-वैद्य, औषधि, अन्न, पान, माता, पिता आदि गुरुजन और मित्र आदिकोंसे द्वेष करने लगते हैं कालवश हुए इस प्रकारके मनुष्य एक वर्षके भीतर मृत्युको प्राप्त होजाते हैं ॥ २३ ॥

एतेषु रोगः क्रमते भेषजं प्रतिहन्यते ।
नैषामन्नानि भुञ्जीत न चोदकमपि स्पृशेत् ॥ २४ ॥

इस प्रकार असाध्य रोगियोंको औषध नहीं देना चाहिये और न इनके अन्न और जलका स्पर्श करना चाहिये ॥ २४ ॥

पादाः समेताश्चत्वारः सम्पन्नाः साधकैर्गुणैः ।
व्यर्था गतायुषो द्रव्याद्विना नास्ति गणोदयः ॥ २५ ॥

यदि एकत्रित औषध, वैद्य, परिचारक, रोगी यह सब चिकित्साके चारों पाद साधकगुणोंसे सम्पन्न भी हों तो भी आयुरहित मनुष्यकी चिकित्सा करना वृथा है। जैसे-औषधके विना गुण नहीं रह सकता उसी प्रकार आयुके विना चिकित्सा भी निष्फल है ॥ २५ ॥

परीक्ष्यमायुर्भिषजा नीरुजस्यातुरस्य च ।
आयुर्वेदफलं कृत्स्नमायुर्ज्ञे ह्यनुवर्त्तते ॥ २६ ॥

वैद्यको चाहिये कि रोगी तथा नीरोग मनुष्यके आयुकी परीक्षा करके ही चिकित्सा करे। क्योंकि सम्पूर्ण आयुर्वेदका फल आयुके जाननेवालेको ही मिलता है। इसलिये रोगीका देह तथा आयुकी परीक्षा कर चिकित्सामें प्रवृत्त होना चाहिये ॥ २६ ॥

तत्र श्लोकः-क्रियापथमतिक्रान्ताः केवलं देहमाप्लुताः ।
चिह्नं कुर्वन्ति यद्दोषास्तदरिष्टं निरुच्यते ॥ २७ ॥

इति चरकसंहितायामिन्द्रियस्थानेऽणुज्योतीयमिन्द्रियं समाप्तम् ॥ ११ ॥

यहां अध्यायके उपसंहारमें श्लोक है-कि वातादि दोष क्रियामार्गसे अतिक्रान्त हों अर्थात् चिकित्साद्वारा सिद्ध होनेवाले न रहकर केवल शरीरमें प्राप्त होकर जिन लक्षणोंको करते हैं उनको अरिष्ट कहते हैं । अर्थात् अवश्य मृत्यु करनेवाले लक्षणोंको अरिष्ट कहते हैं ॥ २७ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां इन्द्रियस्थाने पटियालाराज्यांतर्गतटकसालनिवासिवैद्यपंचाननवैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायकृतप्रसादन्याख्यभाषाटीकायां अणुज्योतीयमिन्द्रियं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः ।

अथातो गोमयचूर्णीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।

अब हम गोमयचूर्णीय नामक इन्द्रियाध्यायकी व्याख्या करते हैं इस प्रकार भगवान् आत्रेयजी कथन करने लगे ॥

यस्य गोमयचूर्णाभं चूर्णं मूर्द्धनि जायते ।
सस्नेहं भ्रश्यते चैव मासान्तं तस्य जीवितम् ॥ १ ॥

जिस रोगीके मस्तकमें गोबरके चूर्णके समान (चूर्णसा) उत्पन्न होजाय तथा वह चूर्ण चिकनाई युक्त होकर झडे तो उस रोगीका जीवन एक महीनेके भीतर नष्ट होजाता है ॥ १ ॥

निर्घर्षन्निव यः पादौ च्युतांसः परिधावति ।
विकृत्या न स लोकेऽस्मिंश्चिरं वसति मानवः ॥ २ ॥

जिस रोगीको अपने दोनों पांव आपसमें घिसतेहुएसे भागते प्रतीत होते हों और दोनों कन्धे या छातीके अंश ढीले पडकर गिरेहुएसे प्रतीत हों वह मनुष्य इस विकृतिसे मनुष्यलोकमें अधिक नहीं रह सकता ॥ २ ॥

यस्य स्नातानुलिप्तस्य पूर्वं शुष्यत्युरो भृशम् ।
आर्द्रेषु सर्वगात्रेषु सोऽर्द्धमासं न जीवति ॥ ३ ॥

जिस मनुष्यके स्नान करनेपर अथवा चन्दनादि लेपन करनेपर सम्पूर्ण अंग गीले रहतेहुए भी छाती झटपट सूखजाय वह मनुष्य पन्द्रह दिनके भीतरमें मृत्युको प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

यमुद्दिश्यातुरं वैद्यः संवर्त्तयितुमौषधम् ।
यतमानो न शक्नोति दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ ४ ॥

जिस रोगीकी योग्य वैद्योंसे अनेक प्रकार चिकित्सा कराई जानेपर भी औषधियें अपना कुछ गुण न करसकें उस मनुष्यका जीवन दुर्लभ ही जानना चाहिये॥ ४ ॥

विज्ञातं बहुशः सिद्धं विधिवच्चावचारितम् ।
न सिध्यत्यौषधं यस्य नास्ति तस्य चिकित्सितम् ॥ ५ ॥

जिन औषधियोंका अनेक रोगियोंपर अनेक प्रकारसे अनुभव करचुके हैं और वह तत्काल फल दिखानेवाली हों उन औषधियोंसे योग्य वैद्य विधिपूर्वक अनेक प्रकारसे जिसकी चिकित्सा करे उनसे भी उनको किञ्चित् लाभ न पहुँचे तो उस रोगीकी चिकित्साही नहीं है ॥ ५ ॥

आहारमुपयुञ्जानो भिषजा सूपकल्पितम् ।
यः फलं तस्य नाप्नोति दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ ६ ॥

जिस रोगीको वैद्यकशास्त्रके अनुसार विधिवत् पथ्य आहार दियाजावे और उस पथ्यका कुछ भी फल न होकर विपरीत गुण उत्पन्न होवे उस रोगीका जीवन दुर्लभ जानना चाहिये ॥ ६ ॥

दूतपरीक्षा।

दूताधिकारे वक्ष्यामो लक्षणानि मुमूर्षताम् ।
यानि दृष्ट्वा भिषक् प्राज्ञः प्रत्याख्येयादसंशयम् ॥ ७ ॥

अब दूतपरीक्षा वर्णन करते हैं-इस दूताधिकारमें मरनेवाले रोगियोंके लक्षणोंको दूतको देखनेसेही जानकर रोगीको प्रत्याख्येय (चिकित्सा न करनेयोग्य) कह सकता है ॥ ७ ॥

मुक्तकेशेऽथवा नग्ने रुदत्यप्रयतेऽथवा ।
भिषगभ्यागतं दृष्ट्वा दूतं मरणमादिशेत् ॥ ८ ॥

यदि दूत शिरके बालोंको छोडायेहुए, नंगेशिर, अथवा नंगा हाथसे अपने मुखपर पवन करताहुआ, अपवित्र अवस्थामें वैद्यको बुलाने आवे तो उसको देखकर रोगी मरजावेगा ऐसा समझ लेवे ॥ ८ ॥

सुप्ते भिषजि ये दूताश्छिन्दन्त्यपि च भिन्दति ।
आगच्छन्ति भिषक् तेषां न भर्त्तारमनुव्रजेत् ॥ ९ ॥

यदि वैद्य सो रहा हो, अथवा कुछ काट रहा हो या कुछ छेदन कर रहा हो उस समय जो दूत वैद्यको बुलाने आवे तो उसके मालिककी चिकित्सा करने नहीं जाना चाहिये ॥ ९ ॥

जुहृत्यग्निं तथा पिण्डं पितृभ्यो निर्वपत्यपि।
वैद्ये दूता य आयान्ति ते घ्नन्ति प्रजिघांसवः ॥ १० ॥

जब वैद्य अग्निमें हवन कररहा हो अथवा पितरोंके अर्पण श्राद्ध कररहा हो तो ऐसे समय यदि रोगीका दूत बुलाने आवे तो जानलेना चाहिये कि यह दूत रोगीके प्राणोंका नाशक हैं ॥ १० ॥

कथयत्यप्रशस्तानि चिन्तयत्यथवा पुनः।
वैद्ये दूता मनुष्याणामागच्छन्ति मुमूर्षताम् ॥ ११ ॥

यदि वैद्य किसी प्रकारकी अशुभ बातें कररहा हो अथवा किसी प्रकारकी रस्तामें मग्न हो तो उस समय जो किसी रोगीका दूत आवे तो वह दूत रोगीके मृत्युका पूर्वरूप जानना ॥ ११ ॥

मृतदग्धविनष्टानि भजति व्याहरत्यपि।
अप्रशस्तानि चान्यानि वैद्ये दूता मुमूर्षताम् ॥ १२ ॥

जब वैद्य किसी मरी अथवा जली या नष्ट हुई वस्तुके विषयमें शोचता हो अथवा उसी विषयमें कुछ कार्य करता हो या अन्य किसी निंदित कर्मकी बातचीत कररहा हो उस समय रोगीका दूत वैद्यको बुलाने आवे तो वह रोगीके मृत्युका कारण होता है ॥ १२ ॥

विकारसामान्यगुणे देशे कालेऽथवा भिषक्।
दूतमभ्यागतं दृष्ट्वा नातुरं तमुपाचरेत् ॥ १३ ॥

अथवा रोगके समान गुणवाले देश कालमें अर्थात् जिस प्रकृतिका रोगी हो उस रोगको बढानेवालाही देश और काल हो तो ऐसे समयमें यदि रोगीका दूत वैद्यको बुलाने आवे तो वैद्यको उस समय उसकी चिकित्सा करनेके लिये नहीं जाना चाहिये ॥ १३ ॥

दीनभीतद्रुतत्रस्तां मलिनामसतीं स्त्रियम्।
त्रीन्व्याकृतांश्च षण्डांश्च दूतान्विद्यान्मुमूर्षताम् ॥ १४ ॥

यदि वैद्यको बुलाने रजस्वला अथवा व्यभिचारिणी, मलिन, दीन, भयभीत स्त्री अथवा तीन स्त्रियें मिलकर या जल्दी २ भागीहुई स्त्रियें बुलाने आवें अथवा बुला-

नेके लिये तीन दूत इकट्टे होजायं, या विकृत अंगवाला दूत हो अथवा नपुंसक दूत बुलाने आवे तो वैसे दूतोंको देखकर रोगीकी मृत्यु जानना चाहिये ॥ १४ ॥

अङ्गव्यसनिनं दूतं लिङ्गिनं व्याधितं तथा ।
संप्रेक्ष्य चोग्रकर्माणं न वैद्यो गन्तुमर्हति ॥ १५ ॥

यादि वैद्यको बुलानेके लिये अंगहीन अथवा कोई संन्यास आदिका चिह्न धारण-किये या रोगी अथवा किसी विकट कर्मको करनेवाला रोगीका दूत आवे तो ऐसे दूतको देखकर वैद्यको चिकित्सा करनेके लिये जाना उचित नहीं ॥ १५ ॥

आतुरार्थमनुप्राप्तं खरोष्ट्रमथ वाहनम् ।
दूतं दृष्ट्वा भिषग्विद्यादातुरस्य पराभवम् ॥ १६ ॥

यदि दूत वैद्यको बुलानेके लिये गधा, ऊंट आदि निंदित सवारियोंपर चढकर आवे तो ऐसे दूतको देखकर वैद्य रोगीके मरणको जान लेवे ॥ १६ ॥

पलालबुषमांसास्थिकेशलोमनखद्विजान् ।
मार्जनी मुसलं शूर्पमुपानच्चर्मविच्युते ॥ १७ ॥
तृणकाष्ठतुषाङ्गारं स्पृशन्तो लोष्टमश्म च ।
तत्पूर्वदर्शने दूता व्याहरन्ति मुमूर्षताम् ॥ १८ ॥

जब रोगीका दूत वैद्यको बुलाने आवे और वह आतेही पहिले पराली, तुष, मांस, हड्डी, केश, लोम, नख, दांत, झाड, मूसल, सूप (छाज), जूता अथवा जूतेका टूटाहुआ चमडा, घास, लकडी, किसी प्रकारके अन्नका छिलका या अंगार, मिट्टीका डला अथवा पत्थरका स्पर्श करे या इनके ऊपर हाथ रक्खे तो ऐसे दूतको देख-तेही रोगीका मरण जान लेना चाहिये ॥ १७ ॥ १८ ॥

यस्मिंश्च दूते ब्रुवति वाक्यमातुरसंश्रयम् ।
पश्येन्निमित्तमशुभं तञ्च नानुव्रजेद्भिषक् ॥ १९ ॥

यादि वैद्य दूतसे रोगीके संबन्धमें बातचीत करते हुए अशुभ शकुनोंको देखे तो उस दूतके साथमें नहीं जाना चाहिये ॥ १९ ॥

यथा व्यसनिनं प्रेतं प्रेतालङ्कारमेव वा ।
भिन्नं दग्धं विनष्टं वा तद्वादीनि वचांसि वा ॥ २० ॥
रसो वा कटुकस्तीव्रो गन्धो वा कौणपो महान् ।
स्पर्शो वा विपुलः क्रूरो यद्वान्यदशुभं भवेत् ॥ २१ ॥

तत्पूर्वमभितो वाक्यं वाक्यकालेऽथवा पुनः।
दूतानां व्याहृतं श्रुत्वा धीरो मरणमादिशेत् ॥ २२ ॥

जब दूत वैद्यके पास बुलानेके लिये आवे और वैद्यसे रोगीके संबंधमें कुछ बातचीत करना चाहे तो उसी समय वैद्यके समीप बात करनेसे प्रथमही किसी व्यसन अथवा प्रेतकी बात चलपडे अथवा कटेहुए, जलेहुए या किसी नष्ट हुएके विषयकी बात चलपडे। अथवा कडुए और तीव्ररस तथा मुर्देकी दुर्गंध या किसी दुष्ट और क्रूर वस्तुका स्पर्श होजाय या अन्य किसी प्रकारका अशुभ हो अथवा कोई सर्प बिच्छू आदि क्रूर जानवर दिखाई दे जायँ तो यह अशुभ शकुन दूतके आनेके समय या दूतसे बातचीत करनेसे प्रथम अथवा दूतसे बोलते समय वा दूतकी बात सुननेके अनन्तर हो जाय तो बुद्धिमान् रोगीके मरणको कथन करे अर्थात् ऐसी अवस्थामें रोगीको मरनेवाला जानकर दूतके साथ न जावे ॥ २०-२२ ॥

इति दूताधिकारोऽयमुक्तः कृत्स्नो मुमूर्षताम्।
पथ्यातुरकुलानाञ्च वक्ष्याम्यौत्पातिकं पुनः ॥ २३ ॥

इस प्रकार मरनेवाले रोगियोंके विषयमें सम्पूर्ण रूपसे दूताधिकार वर्णन करदिया गया है। अब मरनेवाले रोगीको देखनेके लिये जाते हुए मार्गमें होनेवाले तथा रोगीके घरमें होनेवाले अशुभ उत्पातोंका वर्णन करतेहैं ॥ २३ ॥

अशुभशकुन।

अवक्षुतमथोत्क्रुष्टं स्खलनं पतनं तथा।
आक्रोशः संप्रहारो वा प्रतिषेधो विगर्हणम् ॥ २४ ॥
वस्त्रोष्णीषोत्तरासङ्गच्छत्रोपानद्युगाश्रयम्।
व्यसनं दर्शनञ्चापि मृतव्यसनिनं तथा ॥ २५

जब वैद्य रोगीको देखनेके लिये चले तो रास्तेमें सामनेसे छींक होना अथवा अशुभ किलकारीका सुनना या पांवका स्खलन होना अथवा ठोकर खाकर गिरजाना या चिंघाड वा गालीका सुनना या चोट लगना या चलतेहुए कोई रोके अथवा आगेसे कोई ताडना करे या कोई मनुष्य आगेसे कपडा, पगडी, चद्दर, छतरी, जूता, आदि मृतशय्याका सामान लिये मिले अथवा इनमेंसे किसी एक वस्तुको भी लेकर मिले या रास्तेमें किसी प्रकारके व्यसनका दर्शन हो अथवा किसी मरेहुए मनुष्यका रोदन आदि सुनाई पडे या लाश दिखाई देवे तो रोगीको देखनेके लिये नहीं जाना चाहिये ॥ २४ ॥ २५ ॥

चैत्यध्वजपताकानां चूर्णानां पतनानि च।
हतानिष्टप्रवादाश्च दर्शनं भस्मपांसुभिः ॥ २६ ॥
पथच्छेदो बिडालेन शुना सर्पेण वा पुनः।
मृगद्विजानां क्रूराणां गिरो दीप्तां दिशं प्रति ॥ २७ ॥
शयनासनयानानामुत्तानानां प्रदर्शनम्।
इत्येतान्यप्रशस्तानि सर्वाण्याहुर्मनीषिणः ॥ २८ ॥

अथवा बौद्धोंका मन्दिर या देवस्थान, देववृक्ष या ध्वजा, पताका वा चूना रास्तेमें गिराहुआ हो या गिरताहुआ दिखाईदे किसीकी मारनेकी अथवा अन्य प्रकारकी अनिष्ट आवाज सुनाईदे वा रास्तेमें राख या धूल उडती हो या बिल्ली, कुत्ता अथवा सांप वैद्यके आगे रास्ता काटकर निकलजावे या मृग अथवा पक्षियोंका सूर्यके सन्मुख क्रूर शब्द करना अथवा शय्या, आसन, यान रास्तेमें उलटे पडे देखना इत्यादि सब प्रकारके अशुभोंको बुद्धिमान् वैद्य रोगीको देखनेके लिये जाते समय अशुभ शकुन कहते हैं ॥ २६-२८ ॥

एतानि पथि वैद्येन पश्यतातुरवर्त्मनि।
शृण्वता च न गन्तव्यं तदागारं विपश्चिता ॥ २९ ॥

वैद्य मार्गमें इस प्रकारके अशुभ शकुनोंको देखकर अथवा अशुभ शब्दोंको सुनकर रोगीके घरको न जावे ॥ २९ ॥

इत्यौत्पातिकमाख्यातं पथि वैद्यविगर्हितम्।
इमामपि च बुध्येत गृहावस्थां मुमूर्षताम् ॥ ३० ॥

इस प्रकार रोगीको देखने जाते हुए मार्गमें होनेवाले अशुभ उत्पातोंका वर्णन कर दियागया है। अब रोगीके घर पहुंचनेपर जो मरनेवालेके उत्पात होते हैं उनको भी श्रवण करो ॥ ३० ॥

प्रवेशे पूर्णकुम्भाग्निमृद्बीजफलसर्पिषाम्।
वृषब्राह्मणरत्नानां देवतानां विनिर्गतिम् ॥ ३१ ॥
अग्निपूर्णानि पात्राणि भिन्नानि विशिखानि च।
भिषङ् मुमूर्षतां वेश्म प्रविशन्नेव पश्यति ॥ ३२ ॥

जब वैद्य रोगीके घरमें प्रवेश करे उस समय रोगीके घरसे जलका भरा कलश अग्नि, मृत्तिका, फल, बीज, घृत, बैल, ब्राह्मण, रत्न और देवता आदिको बाहर

निकलते देखे तथा उसके घरके पात्रोंको अग्निसे भरेहुए, फूटेहुए, विना गलेके देखे तो समझे कि इस रोगीका मरण होनेवाला है ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

छिन्नभिन्नविदग्धानि भग्नानि मृदितानि च ।
दुर्बलानि च सेवन्ते मुमूर्षोर्वेश्मिका जनाः ॥ ३३ ॥

अथवा रोगीके घरके मनुष्य–छिन्न, भिन्न (फूटे टूटे), जले हुए, फटे हुए, मलिन, और दुर्बल वस्त्र आदि अशुभ द्रव्योंको धारण किये बैठे हों एवं अशुभ शब्दोंका करते हों तो रोगीका मृत्यु समीप जानना ॥ ३३ ॥

शयनं वसनं यानं गमनं भोजनं रुतम् ।
श्रूयतेऽमङ्गलं यस्य नास्ति तस्य चिकित्सितम् ॥ ३४ ॥

जिस रोगीकी शय्या बिछाते समय, वस्त्र पहिनाते समय अथवा बैठते, उठते, चलते, फिरते, भोजनकरते समय रोनेकी अथवा अशुभ आवाज आती हो उस रोगीकी कोई चिकित्सा नहीं है ॥ ३४ ॥

शयनं वसनं यानमन्यद्वापि परिच्छदम् ।
प्रेतवद्यस्य कुर्वन्ति सुहृदः प्रेत एव सः ॥ ३५ ॥

जिस रोगीके सुहृद्गण सोना, बैठना, उठना, वस्त्र पहिनाना, वा अन्य सब कर्म मरे हुएके समान करते हों उसको मराही जानना चाहिये ॥ ३५ ॥

अन्नं व्यापद्यतेऽत्यर्थं ज्योतिश्चैवोपशाम्यति ।
निवाते सेन्धनं यस्य तस्य नास्ति चिकित्सितम् ॥ ३६ ॥

जिस रोगीके लिये पथ्य आदि बनाते हुए किसी न किसी प्रकारका अशुभ उपद्रव होजाय जिससे पथ्य बननेमें कोई विघ्न होजाय तथा विनाही पवनके लगे लकडी आदि रहते हुए भी अग्नि बुझजाय अथवा तेल बत्ती रहते हुए भी बिनाही कारण दीपक बुझजाय उस रोगीकी चिकित्सा नहीं है अर्थात् वह मरजानेवाला है ॥ ३६ ॥

आतुरस्य गृहे यस्य भिद्यन्ते वा पतन्ति वा ।
अतिमात्रममत्राणि दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ ३७ ॥

जब वैद्य रोगीके घरमें पहुंचे तब यदि किसी बर्तन आदिका फूटना अथवा मट्टी, पत्थर बरसना आदि अत्यंत अमंगल उत्पात हों तो उस रोगीका बचना दुर्लभ जाने॥

भवति चात्र–यद्द्वादशभिरध्यायैर्व्यासतः परिकीर्त्तितम् ।
मुमूर्षतां मनुष्याणां लक्षणं जीवितान्तकृत् ॥ ३८ ॥

तत्समासेन वक्ष्यामि पर्य्यायान्तरमाश्रितम् ।
पर्य्यायवचनं ह्यर्थविज्ञानायोपपद्यते ॥ ३९ ॥

अब यहां कहते हैं कि, मरणासन्न मनुष्योंके जीवनका अंत करनेवाले जो लक्षण इन बारह अध्यायोंमें विस्तारपूर्वक कथन करचुके हैं उनको स्थानकी समाप्तिमें पर्याय-भेदसे संक्षेप रूपमें वर्णन करते हैं। क्योंकि पर्यायद्वारा दूसरीबार कहाजानेसे पढने-वालोंको अर्थविज्ञानका सहज उपाय होजाता है ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

इत्यर्थं पुनरेवेयं विवक्षा नो विधीयते ।
तस्मिन्नेवाधिकरणे यत्पूर्वमभिदर्शितम् ॥ ४० ॥

जिस विषयको हम पहिलेही इस इन्द्रियस्थानमें वर्णन करचुके हैं उसी विषयको फिर वर्णन करते हैं ॥ ४० ॥

वसतां चरमे काले शरीरेषु शरीरिणाम् ।
अत्युग्राणां विनाशाय देहेभ्यः प्रविवत्सताम् ॥ ४१ ॥
इष्टांस्तितिक्षतां प्राणान्कान्तं वासं जिहासताम् ।
तन्त्रयन्त्रेषु भिन्नेषु तमोऽन्त्यं प्रविविक्षताम् ॥ ४२ ॥
विनाशायेह रूपाणि यान्यवस्थान्तराणि च ।
भवन्ति तानि वक्ष्यामि यथोद्देशं यथागमम् ॥ ४३ ॥

शरीरमें रहते हुए शरीरियोंके अन्तकालके समय शरीरके नष्ट करनेके लिये जो अत्यंत उग्र विकृतियां उत्पन्न होती हैं और देहरूपी यंत्रमें छिन्नभिन्नता उत्पन्न होकर प्राणोंको त्यागनेवाले और शरीररूपी घरको छोडकर प्रस्थान करनेवाले, अपने प्रिय-शरीरको छोड देनेवाले, कालके मुखमें पडनेवाले, प्राणोंको त्यागनेवाले, प्राणियोंके शरीरमें वा इन्द्रियोंमें अथवा अन्य शरीर संबंधी तन्त्रोंमें शरीरके विनाशके लिये जो रूपांतर उत्पन्न होते हैं उन सबको शास्त्रानुसार यथा उद्देश वर्णन करते हैं॥४१–४३॥

प्राणाः समुपतप्यन्ते विज्ञानमुपरुध्यते ।
वमन्ति बलमङ्गानि चेष्टा व्युपरमन्ति च ॥ ४४ ॥
इन्द्रियाणि विनश्यन्ति खिलीभूतेव चेतना ।
औत्सुक्यं भजते सत्त्वं चेतो भीराविशत्यपि ॥ ४५ ॥

स्मृतिस्त्यजति मेधा च ह्रीश्रियौ चापसर्पतः।
उपप्लवन्ते पाप्मान ओजस्तेजश्च नश्यति ॥ ४६ ॥

जैसे—प्राणोंको उपताप हो, ज्ञान नष्ट होजाय, अंग बलहीन होजायँ, संपूर्ण चेष्टा जातीरहे, इन्द्रियें नष्ट होजायँ, चैतन्यता जाती रहे, मन व्याकुल होजाय, चित्त भयातुर होजाय, स्मृति जाती रहे तथा मेधा, कांति, लज्जा यह सब नष्ट होजायँ उपद्रवरूपी पापोंका प्रवेश हो, ओज और तेज सब नष्ट होजायँ यह सब यमलोक जानेवाले मनुष्योंके लक्षण होते हैं ॥ ४४–४६ ॥

शीलं व्यावर्त्ततेऽत्यर्थं भक्तिश्च परिसर्पते।
विक्रियन्ते प्रतिच्छायाश्छायाश्च विकृतिं गताः ॥ ४७ ॥
शुक्रं प्रच्यवते स्थानादुन्मार्गं भजतेऽनिलः।
क्षयं मांसानि गच्छन्ति गच्छत्यसृगुपक्षयम् ॥ ४८ ॥
ऊष्माणः प्रलयं यान्ति विश्लेषं यान्ति सन्धयः।
गन्धा विकृततां यान्ति भेदं वर्णस्वरौ तथा ॥ ४९ ॥
वैरस्यं भजते कायः कायश्छिद्रं विशुध्यति।
धूमः सञ्जायते मूर्ध्नि दारुणाख्यश्च चूर्णकः ॥ ५० ॥

स्वभाव अत्यंत विगडजाय, भक्ति जातीरहे, छाया और प्रतिच्छायामें विकारयुक्त लक्षण होनेलगें अथवा स्थानसे वीर्य गिरता हो,वायु अपने स्थानोंको छोड उलट मार्गोंसे गमन करने लगजाय, मांस क्षीण होजाय, रक्त नष्ट होजाय, शरीरकी गरमी शान्त होजाय, सम्पूर्ण संधियें ढीली पडजायँ, गंधमें विकृति होजाय,वर्ण और स्वर बिगडजायँ, शरीर विरस होजाय, सम्पूर्ण शरीरमें छिद्रोंकी उत्पत्ति होजाय अथवा शरीरके छिद्र सूखजायँ, मस्तकसे धुआंसा निकले और मस्तकपर गोबरके चूर्णके समान दारुण चूर्णसा उत्पन्न होजाय यह सब शरीर त्याग करनेवाले रोगियोंके लक्षण हैं ॥ ४७-५० ॥

सततस्पन्दना देशाः शरीरे येऽभिलक्षिताः।
ते स्तम्भानुगताः सर्वे न चलन्ति कथञ्चन ॥ ५१ ॥
गुणाः शरीरदेशानां शीतोष्णमृदुदारुणाः।
विपर्य्यासेन वर्त्तन्ते स्थानेष्वन्येषु तद्विधाः ॥ ५२ ॥

नखेषु जायते पुष्पं पङ्को दन्तेषु जायते।
जटाः पक्ष्मसु जायन्ते सीमन्ताश्चापि मूर्द्धनि ॥ ५३ ॥
भेषजानि न संवृत्तिं प्राप्नुवन्ति तथारुचिम्।
यानि चाप्युपपद्यन्ते तेषां वीर्य्यं न सिध्यति ॥ ५४ ॥
नान्यप्रकृतयः क्रूरा विकारा विविधौषधाः ॥ ५५ ॥

शरीरके कई भागोंमें फडकन उत्पन्न होजाय अथवा शरीरके कई स्थान सोयेहुएसे सुन्न रहजायँ, हृदयकी गति अथवा धमनीकी गति बन्द होजाय, या देहके सब अंगोंका स्तम्भ होकर हिलने चलनेसे बन्द होजायँ, शरीरके सब अंगोंकी शीतलता, गरमी, नरमाई, कठोरपन यह सब विपरीत भावको प्राप्त होजायँ, अपने २ स्थानोंके गुणोंको छोड देवें। दूसरे अंगोंमें अन्य प्रकारके गुण उत्पन्न होजायँ, नखोंपर फुलडियेंसी पडजायँ, दांतोंपर कीचसा जमजाय, पलकोंकी जटैंसी बन्धजायँ, शिरके केशोंमें अपूर्व भौरियेंसी पडजायँ,जिन औषधियोंको लेनेजाय वह न मिलें अथवा अपना गुण न करें या उनके अनुरूप क्रिया न होसके तथा जो औषधियोंके द्वारा साध्य न हों ऐसे अनेक प्रकारके उपद्रव होजायँ। अथवा जिनमें अनेक प्रकारकी अलभ्य औषधियोंकी आवश्यकता पडे इस प्रकारके भयंकर और विरोधी विकार उत्पन्न होजायँ तो ऐसे लक्षणवाले रोगी प्रायः अवश्यही कालके मुखमें पडनेवाले होते हैं ॥ ५१-५५ ॥

क्षिप्रं समभिवर्त्तन्ते प्रतिहत्य बलौजसी।
शब्दः स्पर्शो रसो रूपं गन्धश्चेष्टा विचिन्तितम् ॥ ५६ ॥
उत्पद्यन्तेऽशुभान्येव प्रतिकर्मप्रवृत्तिषु।
दृश्यन्ते दारुणाः स्वमा दौरात्म्यमुपजायते ॥ ५७ ॥
प्रेष्याः प्रतीपतां यान्ति प्रेताकृतिरुदीर्य्यते।
प्रकृतिर्हीयतेऽत्यर्थं विकृतिश्चाभिवर्द्धते ॥ ५८ ॥

रोगीके शब्द,स्पर्श, रस, रूप, गन्ध और चेष्टा तथा अपकर्म यह सब अपनी २ शीघ्र गतिसे प्रवृत्त होजायँ जिससे रोगीका बल और ओज नष्ट होजाय। चिकित्सा करनेके लिये प्रवृत्त होनेके समय अनेक प्रकारके अशुभ उपद्रव उत्पन्न होजायँ तथा खोटे दारुण स्वप्न दिखाई देनेलगें। और रोगी सबसे विनाही कारण द्वेष करनेलगे तथा प्रेष्य (नौकर चाकर) सब प्रतिकूल होजायँ, रोगीके सब लक्षण मरेहुएके

समान होजायँ, शरीरके सब स्वभाव विगडजायँ, वैकारिक स्वभाव उत्पन्न होजायँ। यह सब मृत्युके ग्रास होनेवाले रोगियोंके लक्षण होते हैं ॥ ५६–५८ ॥

कृत्स्नमौत्पातिकं घोरमरिष्टमुपलक्ष्यते ।
इत्येतानि मनुष्याणां भवन्ति विनाशिष्यताम् ॥ ५९ ॥

तथा संपूर्ण लक्षण घोर उत्पातकेसे होने लग जायँ। यह संपूर्ण लक्षण विनाशको प्राप्त होनेवाले मनुष्यके होते हैं ॥ ५९ ॥

लक्षणानि यथोद्देशं यान्युक्तानि यथागमम् ।
मरणायेह रूपाणि पश्यतापि भिषग्विदा ॥ ६० ॥
अपृष्टेन न वक्तव्यं मरणं प्रत्युपस्थितम् ।
पृष्टेनापि न वक्तव्यं तत्र यत्रोपघातकम् ॥ ६१ ॥
आतुरस्य भवेद्दुःखमथवान्यस्य कस्यचित् ।
अब्रुवं मरणं यस्य नैनमिच्छेच्चिकित्सितुम् ।
यस्य पश्येद्विनाशाय लिङ्गानि कुशलो भिषक् ॥ ६२ ॥

यह संपूर्ण लक्षण शास्त्रानुकूल और अपने उद्देश्यके अनुसार कथन करदियेगये हैं। इन मरणख्यापक रूपोंको देखतेहुए भी विना पूछे वैद्यको किसीके पास नहीं कहना चाहिये। और पूछनेपर भी यह अवश्य मरजायगा इस प्रकार नहीं कहना चाहिये और खासकर जिस जगह रोगी और रोगीके घरवाले हों उस स्थानमें तो कहनाही नहीं चाहिये क्योंकि ऐसा खोटा शब्द कहनेसे रोगीको अत्यन्त दुःख होता है और उसके घरवालोंमें भी व्याकुलता उत्पन्न होजाती है। जब वैद्य किसीको मरनेके लक्षणोंवाला देखे तो कहे कि इस समय हम इसकी चिकित्सा नहीं करसकते परन्तु यह कभी न कहे कि, यह मरजायगा क्योंकि यदि दैवयोगसे वह बचजाय तो वैद्यको बडीभारी हानि पहुंचती है इसलिये कुशलवैद्य अपने मुखसे रोगीके पास या रोगियोंके संबन्धियोंके पास उसके मरणकी बात न कहे ॥ ६०–६२ ॥

साध्यरोगीके लक्षण।

लिङ्गेभ्यो मरणाख्येभ्यो विपरीतानि पश्यता ।
लिङ्गान्यारोग्यमागन्तुर्वक्तव्यं भिषजा ध्रुवम् ॥ ६३ ॥
दूतैरौत्पातिकैर्भावैः पथ्यातुरकुलाश्रयैः ।
आतुराचारशीलेष्टद्रव्यसम्पत्तिलक्षणैः ॥ ६४ ॥

जिस रोगीके कोई लक्षण उपरोक्त लक्षणोंमेंसे न हों अर्थात् ऊपर कहेहुए सब अशुभ लक्षणोंसे विपरीत शुभ लक्षण दिखाई देते हों तथा अन्य किसी प्रकारके उत्पात न होते हों एवं दूतसम्बन्धी वा मार्गसम्बन्धी, कुलसम्बन्धी पथ्यसम्बन्धी किसी प्रकारके अशुभ लक्षण न हों तथा रोगीके आचार, स्वभाव, इन्द्रियादि द्रष्टव्य विषय और शारीरिक सम्पत्ति इन सबके शुभ लक्षण हों तो वह रोगी अवश्य निरोग होजाता है ऐसा वैद्यको कहना चाहिये ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

स्वाचारं हृष्टमव्यङ्गं यशस्यं शुक्लवाससम् ।
असुण्डमजटं दूतं जातिवेशक्रियासमम् ॥ ६५ ॥
अनुष्ट्रखरयानस्थमसन्ध्यास्वग्रहेषु च ।
अदारुणेषु नक्षत्रेष्वनुग्रेषु ध्रुवेषु च ॥ ६६ ॥
विना चतुर्थीं नवमीं विना रिक्तां चतुर्दशीम् ।
मध्याह्नश्चार्द्धरात्रश्च भूकम्पं राहुदर्शनम् ॥ ६७ ॥

यदि दूत शुद्ध आचारवाला, प्रसन्न, सर्वांगसम्पन्न, यशस्वी, श्वेत वस्त्रोंको धारण किये, न शिर मुण्डा और न जटोंवाला, अपनी जातिके अनुकूल वेष और क्रियावाला हो तथा गधे, ऊँट आदि सवारियोंपर न चढा हो, संध्याके समय अथवा क्रूर समयमें न आया हो, खोटे नक्षत्रमें, उग्रनक्षत्रोंमें ध्रुवसंज्ञक नक्षत्रोंमें (ज्येष्ठा, मूल, आदि उग्रनक्षत्र एवं उत्तराभाद्रपद, उत्तराषाढा आदि नक्षत्रोंके उदयमें) न आया हो तथा चतुर्थी नवमी, चतुर्दशी इन रिक्ता तिथियोंमें मध्याह्नके समय अथवा आधीरात्रिमें जब भूकम्प होरहा हो उस समय तथा ग्रहणकालमें न आया हो तो वह दूत शुभ जानना ॥ ६५–६७ ॥

विना देशमशस्तञ्चाशस्तौत्पातिकलक्षणम् ।
दूतं प्रशस्तमव्यग्रं निर्दिशेदागतं भिषक् ॥ ६८ ॥

तथा बेसमय, निन्दितस्थानमें और निन्दित वस्तुओंको विना छुए, उत्पातके लक्षणोंके विना शुभ समयमें शुभदेशमें शुद्ध चित्तवाला दूत यदि वैद्यको बुलाने आवे तो उत्तम जानना चाहिये ॥ ६८ ॥

दध्यक्षतद्विजातीनां वृषभाणां नृपस्य च ।
रत्नानां पूर्णकुम्भानां सितस्य तुरगस्य च ॥ ६९ ॥
सुरध्वजपताकानां फलानां याचकस्य च ।

कन्यानां वर्द्धमानानां बद्धस्यैकपशोस्तथा ॥ ७० ॥
पृथिव्या उद्धृतायाश्च वह्नेः प्रज्वलितस्य च।
मोदकानां सुमनसां शुक्लानां चन्दनस्य च ॥ ७१ ॥
मनोज्ञस्यान्नपानस्य पूर्णस्य शकटस्य च।
नृभिर्धेन्वा सवत्साया वडवायाः स्त्रियास्तथा ॥ ७२ ॥

रोगीके घरको जातेसमय वैद्यको दही, अक्षत, ब्राह्मण, बैल, राजा, रत्न, जलभरे घट, सफेद घोडा, आगे मिलें अथवा इन्द्रधनुष, ध्वजा, पताका, हल, याचक, बढनेवाली कन्या, बंधाहुआ पशु, खुदीहुई भूमि, प्रज्वलित अग्नि, मोदक, सफेदफूल, सफेद चंदन मनोज्ञ अन्नपान और मनुष्योंसे भराहुआ शकट (छकडा) बछडेवाली गौओंको आगेकिये मनुष्य, बच्चेवाली घोडी, लडकेको गोदमें लिये स्त्री इन सबका आगे मिलना रोगीकी आरोग्यताके लिये शुभ होताहै ॥ ६९-७२ ॥

जीवञ्जीवकसिद्धार्थसारसप्रियवादिनाम्।
हंसानां शतपत्राणां चाषाणां शिखिनां तथा ॥ ७३ ॥
मत्स्याजद्विजशंखानां प्रियंगूनां घृतस्य च।
रोचिष्कादर्शसिद्धानां रोचनायाश्च दर्शनम् ॥ ७४ ॥

तथा जीवन्तीशाक, जीवक, सफेद सरसों अथवा सारस पक्षी, चकोर, चातक, हंस, शतपत्र (खुठकबडहिया) पक्षी, या गुलाबके फूल अथवा शतपत्री (कमल), नीलकण्ठ, मोर, मछली, बकरी, श्वेतवस्त्रोंको धारणाकिये ब्राह्मण, शंख, प्रियंगु, घृत नमक, दर्पण, सिद्ध, गोरोचन इनका दर्शन होना रोगीको आरोग्य करनेवाला शुभ लक्षण जानना ॥ ७३ ॥ ७४ ॥

गन्धः सुरभिवर्णश्च सुशुक्लो मधुरो रसः।
मृगपक्षिमनुष्याणां प्रशस्ताश्च गिरः शुभाः ॥ ७५ ॥
छत्रध्वजपताकानामुत्क्षेपणमभिप्लुतिः।
भेरीमृदङ्गशंखानां शब्दाः पुण्याहनिस्वनाः ॥ ७६ ॥
वेदाध्ययनशब्दाश्च सुखो वायुः प्रदक्षिणः ॥
पथि वेश्मप्रवेशे तु विद्यादारोग्यलक्षणम् ॥ ७७ ॥

सुगंधित पदार्थ, सुन्दर वर्णवाले श्वेत पदार्थ, मीठे रस, मृग, पक्षी और मनुष्योंकी

शुभवाणी, छत्र, ध्वजा और पताकाका ऊपरको उठाना, भेरी और मृदंग आदिका शब्द, शंखध्वनि, पुण्याहवाचन आदिका मधुरस्वर, वेदाध्ययनका शब्द, सुन्दर सुखदायी दहिनी ओरका पवन यह सब शकुन वैद्यको रोगीके घरको जातेहुए या रोगीके घरमें प्रवेश करते हुए होना रोगीकी आरोग्यताका लक्षण जानना चाहिये७७

मङ्गलाचारसम्पन्नः सातुरो वैश्मिको जनः ।
श्रद्दधानोऽनुकूलश्च प्रभूतद्रव्यसंग्रहः ॥ ७८ ॥
धनैश्वर्य्यसुखावाप्तिरिष्टलाभः सुखेन च ।
द्रव्याणां तत्र योग्यानां योजना सिद्धिरेव च ॥ ७९ ॥

रोगीके घरमें सम्पूर्ण मनुष्य मंगलाचारसे संपन्न हों और सब श्रद्धावान् हों और अनुकूल हों तथा चिकित्साके उपयोगी सब द्रव्य विधिवत् संग्रह किये हों और रोगी भी शुभगुणसंपन्न हो एवं धन, ऐश्वर्य, सुख इनसे संपन्न हो और जिस वस्तुकी उस जगह इच्छा की जाय वह सुखपूर्वक झट प्राप्त होसकती हो ऐसे स्थानमें वैद्य योग्य औषधियोंके द्वारा चिकित्सा करे तो शीघ्र सिद्धिको प्राप्त होता है७८॥७९

गृहप्रासादशैलानां नागानां वृषभस्य च ।
हयानां पुरुषाणाञ्च स्वप्ने समधिरोहणम् ॥ ८० ॥
सोमार्काग्निद्विजातीनां गवां नृणां यशस्विनाम् ।
अर्णवानां प्रतरणं वृद्धिः सम्बाधानिःसृतिः ॥ ८१ ॥

जो रोगी स्वप्नमें घर, महल, पर्वत, हाथी, बैल अथवा घोडेके ऊपर चढे तथा चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण और गौको देखे एवं यशस्वी पुरुषोंसे मिलाप करे । समुद्रको तैरकर पार हो किसी बडे भारी संकटमेंसे छूटे तो अवश्य आरोग्यताको प्राप्त होता है ॥ ८० ॥ ८१ ॥

स्वप्ने देवैः सपितृभिः प्रसन्नैश्चाभिभाषणम् ।
दर्शनं शुक्लवस्त्राणां ह्रदस्य विमलस्य च ॥ ८२ ॥
मांसमत्स्यविषामेध्यच्छत्रादर्शपरिग्रहः ।
स्वप्ने सुमनसाञ्चैव शुक्लानां दर्शनं शुभम् ॥ ८३ ॥

एवं स्वप्नमें देवता और पितरगणोंको प्रसन्न देखना और प्रसन्नतापूर्वक भाषण सुनना, सफेद वस्त्रोंका देखना, निर्मल तालावका देखना, मांस, मछली, विष और

अपवित्र वस्तुओंको तथा छत्री और दर्पणको ग्रहण करना, सफेद फूलोंको देखना यह स्वप्न रोगीके लिये शुभकारक होते हैं ॥ ८२ ॥ ८३ ॥

अश्वगोरथयानञ्च यानं पूर्वोत्तरेण च।
रोदनं पतितोत्थानं द्विषताञ्चावमर्दनम् ॥ ८४ ॥

इसी प्रकार घोडा, गौ और रथमें चढना तथा उनपर चढकर पूर्व या उत्तरकी दिशामें जाना, रोना और शत्रुको जीतना यह सब स्वप्न शुभकारक होते हैं॥ ८४ ॥

रोगमुक्त लक्षण।

सत्त्वलक्षणसंयोगो भक्तिर्वैद्यद्विजातिषु।
साध्यत्वं न च निर्वेदस्तदारोग्यस्य लक्षणम् ॥ ८५ ॥

अब रोग मुक्तके लक्षणोंको कहते हैं--मन प्रसन्न होना, शरीरमें चैतन्यता प्रतीत होना, वैद्य और ब्राह्मणोंमें भक्ति होना, रोगमें साध्यता उत्पन्न होकर शरीरमें किसी प्रकारकी पीडा या ग्लानि न होना यह आरोग्यताके लक्षण हैं। अर्थात् जब मनुष्य रोगसे छूटकर आरोग्य होजाता है तब उसके यह लक्षण होते हैं॥ ८५ ॥

आरोग्याद्बलमायुश्च सुखञ्च लभते महत्।
इष्टांश्चाप्यपरान्भावान्पुरुषः शुभलक्षणः ॥ ८६ ॥

आरोग्य होनेसे मनुष्य बल आयु तथा महान् सुखके लाभको प्राप्त होता है। तथा अन्य भी उत्तम २ भावोंको वह शुभलक्षण पुरुष प्राप्त होता है ॥ ८६ ॥

तत्र श्लोकः--उक्तं गोमयचूर्णीये मरणारोग्यलक्षणम्।
दूतस्वप्नातुरोत्पातयुक्तिसिद्ध्यपाश्रयम् ॥ ८७ ॥

यहां अध्यायके उपसंहारमें एक श्लोक है कि, इस गोमयचूर्णीय नामक अध्यायमें रोगीके मरनेके और आरोग्यताके लक्षणोंका कथन किया है तथा दूत और स्वप्न और उत्पात तथा वैद्यकी सिद्धिके आश्रित लक्षणोंका कथन कियागया है ॥ ८७ ॥

भवति चात्र--इतीदमुक्तं प्रकृतं यथातथा तदन्ववेक्ष्यं सततं भिषग्विदा।
तथा हि सिद्धिश्च यशश्च शाश्वतं ससिद्धकर्मा लभते धनानि च ८८

इति चरकसंहितायामिन्द्रियस्थानं समाप्तम् ॥

यहां यह श्लोक है कि, इस इन्द्रियस्थानमें जो संपूर्ण तत्त्व जिस प्रकार मनुष्यकी प्रकृति और विकृतिके विषयमें वर्णन कियागया है। वैद्यलोगोंको यह सब जिस २

प्रकार वर्णन कियागया है उसको जानकर इन संपूर्ण लक्षणोंको देखना चाहिये। इस प्रकार करनेसे वैद्यको सिद्धि और स्वच्छ यश तथा धनकी प्राप्ति होती है और वह सिद्धकर्मा होजाता है ॥ ८८ ॥

इति श्रीमहर्षिचरकप्रणीतायुर्वेदीयसंहितायां इन्द्रियस्थाने पटियालाराज्यांतर्गतटकसाल-निवासिवैद्यपञ्चानन वैद्यरत्न पं० रामप्रसादवैद्योपाध्यायविरचितप्रसादन्याख्य-भाषाटीकायां गोमयचूर्णीयमिन्द्रियं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

मनुजनके जीवन मरण, विषयक पूरण ज्ञान ॥
जानाचाहैं भिषक् जो, पढलें इन्द्रिय स्थान ॥ १ ॥
द्वादश अध्यायन विषे, ऋषिजन वाक्य विचार ॥
सो प्रसादनीयुत भयो, तिलकित भलेप्रकार ॥ २ ॥
वैद्यजननको चाहिये, राखैं नित निज ध्यान ॥
ऋषिप्रणीत इस तंत्रमें, पूरण पंचमस्थान ॥ ३ ॥

॥ इतीन्द्रियस्थानं पञ्चमम् ॥



खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन, बम्बई